मुद्रा, विनिमय तथा अधिकोषण

Money, Exchange & Banking

(चतुर्थ संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण १९६८)

लेखक

एस. आर. रतन बी० कॉम० (आनर्स) बरमिंघम)
भूतपूर्व उपाचार्य, विक्रमजीत सिंह सनातन धर्म कालेज, कानपुर
एवं
आर्थिक सलाहकार, यू० पी० चैम्बर ऑव कामर्स

तथा

पी. एल. गोलवलकर, एम० ए०, बी० कॉम०
अध्यक्ष वाणिज्य विभाग, महाराजा कॉलेज, छतरपुर (मध्य प्रदेश)

रामप्रसाद एण्ड संस : आगरा

प्रस्तुत संस्करण के लिए

अनेक विश्वविद्यालयों के विद्वान प्राध्यापकों एवं विद्यार्थियों ने जिस सहृदयता से इस पुस्तक को अपनाया है उसके लिए मैं उन सबका आभारी हूँ। पुस्तक को अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में स्थान मिलना ही पुस्तक की उपयोगिता का परिचायक है। इसी लोकप्रियता के कारण यह नवीन आवृत्ति पुनः प्रस्तुत हो रही है।

प्रस्तुत संस्करण का पूर्णतः संशोधित किया गया है तथा यथासम्भव नवीन आवश्यक आँकड़ों का समावेश भी किया गया है। विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को पूर्णरूपेण ध्यान रखते हुए विवेचन अति सरल भाषा में किया गया है जिससे पुस्तक की लोकप्रियता में वृद्धि होगी ऐसा विश्वास है।

विश्वास है कि पिछले संस्करणों की भाँति ही प्रस्तुत संस्करण अपनी लोकप्रियता का परिचय देने में सफल होगा। पुस्तक के सुधार के लिए जो भी सुझाव आयेंगे, उनका सधन्यवाद स्वागत होगा।

—पी एल गोलवल्कर

द्वितीय आवृत्ति के लिए प्रस्तावना

इस पुस्तक की द्वितीय आवृत्ति आज निकल रही है यह वास्तव में हमारे लिए हर्ष की बात है क्योंकि नवीन पुस्तक होने के नाते इसकी इतनी शीघ्र द्वितीयावृत्ति निकलेगी ऐसी आशा नहीं थी। अल्पावकाश में ही इसकी द्वितीयावृत्ति निकल रही है इससे यह स्पष्ट है कि पुस्तक का स्वागत विद्यार्थियों एवं अध्यापकों ने खुले दिल से किया है जिससे लेखकों को प्रोत्साहन मिला है।

विद्यार्थियों की ओर से हमारे पास कुछ पत्र आये, कुछ अध्यापकों ने भी हम से प्रत्यक्ष कहा कि 'भाषा जरा कठिन है इसको सरल बनाया जाय'। इस बात के लिए हम उन सबके आभारी हैं कि उन्होंने हमें व्यावहारिक सुझाव दिया। उस सुझाव के अनुसार हमने पुस्तक की भाषा को यथासम्भव सरल बनाने एवं व्यावहारिक हिन्दी शब्दों का समावेश करने का प्रयत्न किया है।

हिन्दी भाषा को समृद्ध बनाने के लिए हमको शुद्धतम हिन्दी लिखनी चाहिए और इस कार्य मे अध्यापक ही प्रत्यक्ष कार्य कर सकते है, जिन्हे देश के भावी लेखकों का, नेताओ का और विद्वानों का निर्माण करना है। शुरू मे कठिनाइयाँ तो हर काम मे आती ही है, उनको दूर कर यदि हम आगे बढते हैं तभी तो हमे सफलता मिल सकती है। अत आरम्भ मे यह कठिनाई हिन्दी के विषय मे भी रहेगी ही, क्योकि पारिभाषिक शब्दो का अभाव है जो आज नये मालूम होते है। परन्तु धीरे-धीरे उनका प्रयोग हम उसी प्रकार करेगे जैसे कि आज अँग्रेजी का करते है।

इस पुस्तक को अद्यावत बनाने के लिए आज तक जितनी भी नवीन घटनाएँ हुई हैं तथा चलन एव अधिकोषण परिस्थिति मे जो भी परिवर्तन हुए है उनका समावेश किया गया है जिससे विद्यार्थियो को किसी विषय विशेष का अभाव प्रतीत न हो। इसमे रुपये का अवमूल्यन एव पुनर्मूल्यन, अधिकोष दर मे रिजर्व बैंक द्वारा परिवर्तन एव उसका प्रभाव, देश की मन्दी आदि नवीन समस्याओ का विवेचन किया गया है।

इस सम्बन्ध मे हम अपने मित्र प्रो० चादुरकर, कॉमर्स कालेज, वर्धा के अत्यन्त आभारी है जिन्होने हमे व्यावहारिक सूचनाएँ दी एव पत्र-द्वारा सहायता दी। पुस्तक के संशोधन के लिए एव इसको अद्यावत बनाने के लिए सम्पूर्ण टिप्पणियाँ बनाने का काम सौ० आशा गोलवलकर ने ही किया है, जो एक महत्वपूर्ण कार्य था। अत हम उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट किये बिना नही रह सकते।

अन्त मे श्री० हरिहरनाथ जी अग्रवाल ने जिस सहृदयता एव रुचि से द्वितीय आवृत्ति के प्रकाशन मे कार्य किया है उसके लिए वे भी धन्यवाद के पात्र है।

हमे पूर्ण विश्वास है कि बी० कॉम०, बी० ए० तथा इन्टरमीजिएट विद्यार्थियो की ओर से इस पुस्तक का स्वागत अच्छा ही होगा, जो लेखकों के लिए एक हर्ष की बात होगी।

मकरसक्रान्त,
१४ जनवरी, १९५३

एस० आर० रतन
पी० एल० गोलवलकर

दो शब्द

भारतीय स्वातन्त्र्योदय के साथ इस बात का महत्व प्रस्थापित होने लगा है कि विश्वविद्यालयीन शिक्षा अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी अथवा प्रान्तीय भाषाओं के माध्यम से दी जानी चाहिए। क्योंकि शनै-शनै यह अनुभव होने लगा था कि यदि शिक्षा का माध्यम हिन्दी अथवा प्रान्तीय भाषाएँ रहे तो विद्यार्थीगण विषय का भलीभाँति समझ सकते हैं तथा उनकी ग्रहण-शक्ति भी बढ़ती है। यहाँ लार्ड विलियम बेंटिक के सुधारों का उल्लेख करना अनिवार्य है क्योंकि उसने अपने सुधारों द्वारा प्रान्तीय भाषाओं को कार्यालयीन भाषा (official language) का रूप दिया। उस समय शिक्षा का माध्यम प्रान्तीय भाषाओं को बनाना सम्भव था परन्तु भारतीय वैधानिकों एवं शिक्षाविदों ने इस विषय में कोई विचार ही नहीं किया। माध्यमिक विद्यालयों में भी उस समय अंग्रेजी ही शिक्षा का माध्यम थी। प्रान्तीय भाषा को माध्यम बनाने का श्रेय डेक्कन ऐज्यूकेशनल सोसाइटी को है, जिसने १६२२-२४ में अपने सतारा तथा पूना के विद्यालयों में कुछ विषयों की शिक्षा मराठी में देना प्रारम्भ किया। इसी प्रकार विश्वविद्यालयीन शिक्षा में हिन्दी तथा मराठी को माध्यम बनाने का श्रेय गोविन्दराम सेक्सरिया वाणिज्य महाविद्यालय, वर्धा को प्राप्त है।

नागपुर तथा बनारस के विश्वविद्यालयों ने सर्वप्रथम हिन्दी को शिक्षा का माध्यम अनिवार्य रूप से घोषित किया। उनका अनुकरण कुछ अंशों में अन्य विश्वविद्यालयों में भी हो रहा है। आगरा विश्वविद्यालय, अजमेर बोर्ड तथा यू० पी० बोर्ड ने भी विद्यार्थियों के लिए हिन्दी या अंग्रेजी में उत्तर लिखना ऐच्छिक बना दिया है। किन्तु शिक्षा का माध्यम हिन्दी होने पर हम पाठ्य-पुस्तकों का अभाव प्रतीत होने लगता है जिसकी पूर्ति के लिए हिन्दी में विभिन्न विषयों पर ग्रन्थ निर्माण होने की अतीव व शीघ्र आवश्यकता है। इस दिशा में नागपुर, पटना तथा बनारस के विश्वविद्यालय प्रयत्न कर रहे हैं।

हिन्दी में इस विषय पर पुस्तक लिखकर इसके अभाव की पूर्ति करने का विचार बहुत दिनों से था और सरस्वती देवी की कृपा से यह कार्य आज पूर्ण हो रहा है।

यह पुस्तक विशेषत इण्टरमीजिएट के विद्यार्थियो के पाठ्यक्रम को ध्यान मे रखकर लिखी गई है तथा बी० ए० व बी० कॉम० के पाठ्यक्रम का भी समावेश इसमे किया गया है । आशा है उन्हे भी यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी तथा विद्यार्थी समुदाय इसका सहृदयता से स्वागत करेगा ।

पुस्तक की भाषा को, जहाँ तक सम्भव हो सका, सरल एव सुबोध बनाने का प्रयत्न किया गया है । यथासम्भव पारिभाषिक शब्द डॉ० रघुवीर के शब्द कोशो (प्रकाशक—गोविंदराम सेक्सरिया अर्थ-साहित्य प्रकाशन, वर्धा) से लिये गये हैं तथा सुगमता लाने के लिए उनके अग्रेजी प्रतिशब्द साथ ही साथ कोष्ठको मे दे दिये है ।

इस विषय के अध्ययन एव अध्यापन कार्य मे जो कठिनाइयाँ अनुभव होती है उन्हे भी दूर करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु इसमे हमे कहाँ तक सफलता मिली है, यह तो पाठक, अध्यापक एव विद्यार्थीगण ही बता सकेंगे ।

इस पुस्तक को लिखते समय हमे इस विषय की अनेक अग्रेजी पुस्तको की सहायता लेनी पडी है जिनका यथास्थान नाम-निर्देश किया गया है । उन सब पुस्तको के लेखको एव प्रकाशको के हम ऋणी हैं और आभारी भी ।

जिन महानुभावो ने हमे इस कार्य मे समय-समय पर सहायता प्रदान की है तथा प्रोत्साहित किया है उनके हम विशेष रूप से ऋणी हैं। इनमे विक्टोरिया कालेज, ग्वालियर के वाणिज्य विभाग के प्रमुख श्री सी० एम० पालविया तथा प्रोफेसर वाघ के नाम विशेषत उल्लेखनीय है । इनके अतिरिक्त सौ० आशा गोलवलकर ने भी हमे इस कार्य को पूरा करने म जो सहायता दी है उसके लिए हम उनके ऋणी हैं। पुस्तक के प्रकाशन कार्य मे जिस तत्परता से, प्रेमपूर्ण भावना एव आत्मीयता से सर्वश्री रामप्रसाद एण्ड सन्स के सचालक श्री हरिहरनाथ अग्रवाल ने कार्य किया है उसके लिए वे भी धन्यवाद के पात्र हैं ।

इस पुस्तक की रचना-पद्धति, पारिभाषिक शब्द आदि मे सशोधन एव सुधार के विषय मे जो भी सुझाव दिये जायेंगे उनका हम सधन्यवाद स्वागत करेंगे ।

९ दिसम्बर, १९५०

एस० आर० रत्न
पी० एल० गोलवलकर

विषयानुक्रम

भाग १

द्वितीय भाग

(मुद्रा विनिमय एवं अधिकोषण)

अध्याय १

विषय प्रवेश

विनिमय की आवश्यकता (Necessity of Exchange)

आधुनिक विश्व में प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरे पर निर्भर रहता है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुओं का निर्माण नहीं कर सकता। अत प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति विनिमय (exchange) द्वारा ही करनी पड़ती है। अत आज हम यह देखते है कि वस्तुएँ उत्पादक से उपभोक्ता तक पहुँचने के लिए कई कड़ियाँ होती हैं जिनको एक सूत्र में लाने के लिए विनिमय ही एक-मात्र साधन होता है। कारण एक मनुष्य अपनी वस्तु किसी भी दूसरे व्यक्ति को बिना किसी प्रतिफल (consideration) के अथवा बदले में कुछ लिये बिना नहीं देता। इसी कारण आजकल किसी भी समाज में विनिमय की अत्यन्त आवश्यकता होती है। इतना ही नहीं अपितु विनिमय के अभाव में न तो उत्पादन इतना सुगम हो सकता है और न प्रत्येक व्यक्ति इतनी सुगमता से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति ही कर सकता है। विनिमय के अस्तित्व के कारण ही श्रम विभाजन एवं बड़े परिमाण में उत्पादन सम्भव हो सका है। अत आधुनिक अर्थ व्यवस्था में विनिमय का प्रमुख स्थान है। यह विनिमय वर्तमान समय में मुद्रा के माध्यम के द्वारा होता है।

विनिमय क्या है ?

विनिमय वस्तु अथवा सम्पत्ति की अदला-बदली की उस क्रिया को कहते हैं जिसमें स्वेच्छा से सम्पत्ति का हस्तान्तरण अथवा लेन देन एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के हाथ होता है। अर्थात् एक मनुष्य जब अपनी इच्छा से एक वस्तु देकर उसके बदले में दूसरी वस्तु—रुपया पैसा अथवा अन्य कोई सम्पत्ति—लेता है तब उसे हम विनिमय कहते है।

यह विनिमय दो प्रकार से होता है —

१ वस्तु-विनिमय (Barter System) इसमें एक मनुष्य अपने पास की अतिरिक्त वस्तु के साथ दूसरे व्यक्ति से अपनी आवश्यक वस्तु बदलता है।

इसकी व्याख्या है . "तुलनात्मक अतिरिक्त वस्तु के साथ तुलनात्मक आवश्यक वस्तु का आदान-प्रदान।" उदाहरणार्थ, अपने पास का अतिरिक्त कपड़ा देकर अपने लिए आवश्यक गेहूँ लेना।

२. **अप्रत्यक्ष विनिमय अथवा मुद्रा साध्य विनिमय** (Indirect Exchange) विनिमय की अथवा अदला बदली की इस पद्धति को क्रय-विक्रय विनिमय (exchange through sale and purchase) भी कहते है। इस प्रकार के विनिमय मे वस्तुओ के बदले मे वस्तुओ की अदला बदली प्रत्यक्ष न होते हुए मुद्रा के माध्यम से होती है। इसलिए इस पद्धति को मुद्रा साध्य अथवा अप्रत्यक्ष विनिमय भी कहते है। इसमे मुद्रा के माध्यम से पहले अपनी अतिरिक्त वस्तुएँ अथवा सेवाएँ बेचकर उसके बदले मे मुद्रा ली जाती है और फिर उसी मुद्रा से अपने लिए आवश्यक वस्तु खरीदी जा सकती है। चूंकि इसमे एक वस्तु दूसरी वस्तु के साथ बिना किसी माध्यम के नही बदली जा सकती, इसे अप्रत्यक्ष विनिमय कहते हैं। जिस वस्तु के माध्यम से हम अपनी अतिरिक्त वस्तुओ का विक्रय एवं आवश्यक वस्तुओ का क्रय करते है उसे विनिमय-माध्यम अथवा मुद्रा कहते है।

वस्तु-विनिमय अथवा प्रत्यक्ष विनिमय (Barter) क्या है ?

समाज की प्रारम्भिक अर्थ-व्यवस्था मे मनुष्य की आवश्यकताएँ कम थी एवं श्रम-विभाजन भी नही था। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता की वस्तुओ का निर्माण स्वयं करता था। उस समय विनिमय की आवश्यकता नही हुई। किन्तु क्रमश समाज की आर्थिक उन्नति के साथ अल्प परिमाण मे श्रम-विभाजन का प्रारम्भ हुआ। उस समय विनिमय की आवश्यकता हुई। वस्तु-विनिमय से उनका कार्य सुगमता से हो सकता था।

वस्तु-विनिमय कब सम्भव हो सकता है ?

वस्तु-विनिमय सम्भव होने के लिए आवश्यकताओ का दोहरा सगम होना आवश्यक है। अर्थात् दो ऐसे व्यक्ति हो जिनके पास ऐसी वस्तुएँ है जो कि एक-दूसरे को देना चाहते है तथा वे एक-दूसरे की वस्तुओ को लेना चाहते हैं। अर्थात् दोनो व्यक्तियो के पास अपनी वस्तुओ की अधिकता है, तथा एक को दूसरे की वस्तु की आवश्यकता भी है। जब तक ऐसे दो व्यक्ति नही मिले तब तक विनिमय की कोई सम्भावना नही हो सकती।

दूसरे, वस्तु-विनिमय समाज की पिछडी हुई अवस्था मे ही सम्भव है क्योकि समाज की पिछडी हुई अवस्था मे मानवी आवश्यकताएँ कम होती है।

इसलिए समाज की पिछड़ी हुई आर्थिक अवस्था वस्तु विनिमय की दूसरी शर्त है।

तीसरे, वस्तु विनिमय की सफलता के लिए बाजारों का क्षेत्र सीमित होना चाहिए जहाँ आवश्यकता की वस्तुएँ मिलती हों। यदि बाजारों का क्षेत्र बड़ा होगा तो मनुष्य को यह सम्भव नहीं होगा कि वह अपनी आवश्यकता की वस्तु लेने के लिए काफी दूर दूर तक अपनी अतिरिक्त वस्तु ले जा सके।

अत वस्तु विनिमय केवल तीन ही परिस्थितियों में सफलता एवं अच्छी तरह से कार्य कर सकता है १ आवश्यकताओं का दुहरा संगम, २ समाज की पिछड़ी हुई आर्थिक अवस्था एव मानवी आवश्यकताओं की कमी तथा ३ बाजारों का सीमित क्षेत्र।

जैसे जैसे इन परिस्थितियों में विशेषत दूसरी एव तीसरी में, उन्नति होती गई वैसे-वैसे वस्तु विनिमय में कठिनाइयाँ होने लगी। फिर भी प्रारम्भिक अर्थ-व्यवस्था में वस्तु विनिमय ही से आवश्यकताओं की पूर्ति होती रही। किन्तु क्रमश सामाजिक एव आर्थिक विकास के साथ मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ी, श्रम विभाजन में परिवर्तन हुआ एव उत्पादन की वृद्धि हुई, जिसके कारण आदान प्रदान के लिए वस्तुओं की सख्या में वृद्धि हुई और बाजारों का विकास हुआ। इससे वस्तु विनिमय में अनेक कठिनाइयाँ प्रतीत होने लगी और विनिमय के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता प्रतीत हुई।

वस्तु विनिमय की कठिनाइयाँ

१ आवश्यकताओं के दोहरे संगम का अभाव (Lack of Double Coincidence of Wants) *यह हम ऊपर बता चुके हैं कि वस्तु विनिमय सम्भव होने के लिए दो व्यक्तियों की आवश्यकताओं एव वस्तुओं की अधिकता का दोहरा संगम होना चाहिए अन्यथा वस्तु विनिमय नहीं हो सकता।* परन्तु कोई भी दो व्यक्ति अथवा कोई भी दो वस्तुओं के होने से काम नहीं चलेगा। ये दोनों व्यक्ति तथा दोनों वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिए कि जो वस्तु एक व्यक्ति के पास अधिक है उसे दूसरा व्यक्ति लेना चाहता है। पहले व्यक्ति के पास जो वस्तु अधिक है वह दूसरे व्यक्ति की आवश्यकता है एव दूसरे व्यक्ति की अधिक वस्तु पहले व्यक्ति की आवश्यकता है। ऐसी स्थिति को आवश्यकताओं का दोहरा संगम कहते हैं। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति के पास कपड़ा अधिकता में है तथा वह गेहूँ चाहता है, अत उसे ऐसे व्यक्ति की खोज करनी पड़ेगी जो कपड़ा चाहता है तथा जिसके पास गेहूँ है और उसके बदले में कपड़ा

लेने को तैयार है। ऐसा दूसरा व्यक्ति मिलने पर ही वस्तु-विनिमय होगा। अत ऐसे दो व्यक्ति, जिनकी आवश्यकताएँ एव अधिकताएँ परस्पर पूरक हैं, एक समय एव एक ही जगह मिलना चाहिए, जो बहुधा कठिन है। यह पहली बाधा वस्तु-विनिमय मे उपस्थित होती है।

२. **सर्वमान्य परस्पर मूल्यमापक का अभाव** (Lack of a Common Measure of Value) यदि ऐसे दो व्यक्ति मिल गए जो एक-दूसरे से अपनी वस्तुएँ बदलना चाहते हैं, फिर भी उन दोनो को उनकी वस्तुओ का परस्पर मूल्य निश्चित होकर वह मूल्य एक-दूसरे को मान्य होना चाहिए। जब तक यह नहीं होता तब तक उन दोनो मे अदला बदली नही हो सकती। जैसे एक गज कपडे के बदले मे एक सेर गेहूँ एक व्यक्ति लेना चाहता है परन्तु दूसरा व्यक्ति एक गज कपडे के बदले केवल आधा सेर गेहूँ देना चाहता है, तो फिर उनमे वस्तुओ की अदला-बदली नही हो सकती, क्योंकि वस्तु-विनिमय मे भिन्न-भिन्न वस्तुओ का सर्वमान्य परस्पर मूल्य निश्चित करने का कोई भी साधन नही होता, अपितु, प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार अपनी-अपनी वस्तुओ का मूल्य आकता है। अत भिन्न भिन्न वस्तुओ के सर्वमान्य परस्पर मूल्यमापक का अभाव, व्यक्ति के पास एक दूसरी अडचन के रूप म वस्तु-विनिमय मे उपस्थित होता है।

३. **विभाजन की कठिनाई** (Lack of Divisibility) यदि एक व्यक्ति के पास एक गाय या घोडा है और वह इसके बदले मे गेहूँ, कपडा तथा दूध लेना चाहता है, तो ऐसा मनुष्य मिलना कठिन है जिसके पास ये तीनो वस्तुएँ हो और एक वस्तु के बदले मे गाय या घोडा भी नही दिया जा सकता। मान लीजिए कि गेहूँ वाला, कपडे वाला तथा दूध वाला, गाय या घोडे के बदले मे अपनी वस्तु देने के लिए तैयार है और इनका मूल्य भी निश्चित हो गया है। फिर भी गाय या घोडे को तीन टुकडो मे नही बाँटा जा सकता क्योंकि ऐसा करने से गाय या घोडे की उपयोगिता तथा मूल्य म कमी आ जाएगी। अत ऐसी दशा मे वस्तु-विनिमय नहीं हो सकता। इस प्रकार वस्तु के मूल्य अथवा उपयोगिता मे कमी आए बिना विभाजन की कठिनाई वस्तु-विनिमय की तीसरी बाधा है।

इन तीन कठिनाइयो के कारण ही विनिमय क्षेत्र सकुचित रहता है तथा आर्थिक उन्नति मे बाधा आती है। इसको दूर करने के लिए मनुष्य को किसी न किसी सर्वमान्य माध्यम को, जिसे हम मुद्रा कहते हैं, स्वीकार करना पडा जिससे ये कठिनाइयाँ दूर होकर वर्तमान आर्थिक विकास सम्भव हो सका है।

इस सम्बन्ध मे एक आक्षेप यह किया जा सकता है कि आज भी विभिन्न देशो के बीच वस्तु विनिमय होता है जैसे हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बीच म पट सन लेकर हम कोयला देते हैं। यहाँ पर एक बात ध्यान म रखनी होगी कि इन दोनो ही वस्तुओ की कीमतें पाकिस्तानी एव भारतीय रुपया म निश्चित करली जाती हैं जिसके आधार पर ही यह विनिमय होता है प्रारम्भिक वस्तु विनिमय की भाँति नही। अर्थात् वर्तमान वस्तु विनिमय का आधार मुद्रा है, जिससे वास्तव म वह मुद्रामाध्य विनिमय ही होता है। इस माध्यम म पहले तो व्यक्ति अपनी अधिक वस्तुओ को बेचकर मुद्रा ले लेता है और फिर उसके बदले म अपनी आवश्यकता की वस्तुओ को खरीद कर उसकी पूर्ति करता है। इससे विनिमय मे भी सुगमता होती है।

मुद्रा के आविष्कार से हमको पहिले किसी चीज को बेचकर बाद म अपनी आवश्यक वस्तु खरीदनी पडती है यह बात निर्विवाद है। मुद्रा से विनिमय जितना सुविधाजनक हो गया है उतना पहिले कभी न था। इतना ही नही अपितु मुद्रा के कारण ही आज उत्पादक से उपभोक्ता तक माल सुगमता से पहुँच सकता है। मुद्रा से हम किसी भी व्यक्ति को छोटी मात्रा म भुगतान कर सकते है क्योकि मुद्रा का विभाजन छोटे से छोटे भाग म भी हो सकता है जैसे रुपये का विभाजन १०० नये पैसा म। इसी से उत्पादक एव उपभोक्ता के बीच अनेक कडिया होते हुए भी क्रय विक्रय सरल हो गया है। इस प्रकार पहिले की अपेक्षा विनिमय की क्रिया आज अधिक सुगम एव सुविधाजनक हो गई है।

साराश

विनिमय के दो प्रकार वस्तु विनिमय एव मुद्रासाध्य विनिमय (क्रय-विक्रय से)।

वस्तु विनिमय अतिरिक्त वस्तु का आवश्यक वस्तु से लेन-देन।

वस्तु विनिमय की परिस्थिति १ आवश्यकताओं का दोहरा सयोग, २ सीमित बाजार क्षेत्र, ३ समाज की पिछडी अवस्था।

वस्तु विनिमय की कठिनाइया १ आवश्यकताओ के दोहरे सयोग का अभाव, २ मूल्यमापक का अभाव, ३ विभाजन की कठिनाई।

इसलिए मुद्रा का आविष्कार।

अध्याय २

मुद्रा का उद्गम तथा कार्य

मुद्रा का उद्गम तथा इतिहास

मुद्रा माध्यम के रूप म कब से प्रयोग मे आई, यह बताना तो असम्भव है, किन्तु यह निश्चित है कि हजारो वर्ष पूव मुद्रा का चलन था जो वैदिक कालीन 'निष्क, शतमान, 'सुवर्ण', 'पाद' आदि मुद्रा के नामो से स्पष्ट है। प्राचीन काल मे प्रारम्भ मे किसी प्रकार का अनाज, पशु, चमडा, कौडियाँ आदि वस्तुएँ भी मुद्रा के रूप मे उपयोग मे आती थी इसकी साक्षी इतिहास देता है, क्योकि भारतीय इतिहास मे 'पशुधन' का बार-बार उल्लेख आता है। ग्रीक इतिहास मे भी 'पशु' का मुद्रा के रूप मे उपयोग होता था। यह 'Pecunia' (धन) शब्द से स्पष्ट है क्योकि इस शब्द की उत्पत्ति 'Pecus' शब्द से हुई जिसका अर्थ है 'पशु'। इससे यह स्पष्ट है कि पशु आदि ही प्राचीन काल मे विनिमय-माध्यम थे किन्तु इन सब प्रकार के माध्यमो मे समाज की आर्थिक उन्नति के साथ-साथ कुछ ऐसी कठिनाइयाँ सामने आई जिनके कारण ही आज माध्यम के रूप मे अथवा मूल्यमापक के रूप मे सोना या चादी का उपयोग होना प्रारम्भ हुआ। यह क्यो हुआ, इसका उल्लेख हम आगे करेंगे।

मुद्रा की परिभाषा

मुद्रा का अर्थ है 'चिह्न', अर्थात् किसी भी वस्तु पर यदि कोई ऐसा चिह्न बना दिया जाय जो सर्वमान्य हो, तो हम उसे 'मुद्रा' कहेंगे। ऐसी मुद्रा को प्रत्येक व्यक्ति विनिमय के लेन-देन मे स्वीकार करेगा, चाहे वह मुद्रा किसी भी वस्तु पर क्यो न हो। भिन्न भिन्न अर्थशास्त्रियो ने इसकी परिभाषा भिन्न भिन्न प्रकार से की है। जब कभी एक से अधिक अर्थशास्त्री एकत्र होते हैं तो उनका एकमत होना प्राय असम्भव होता है और हरएक अपना दृष्टिकोण सामने रखता है। किन्तु हम यह प्रत्यक्ष अनुभव से कह सकते है कि मुद्रा वह वस्तु है "जो बिना किसी प्रकार की हिचकिचाहट के सवग्राह्य हो, विनिमय माध्यम का कार्य करती हो तथा जिसको देने से हम पूर्णतया ऋणमुक्त हो सकते हो,"

चाहे ऐसी वस्तु कोई भी क्यों न हो। प्रो० एली का कथन है कि "मुद्रा शब्द का प्रयोग वहीं तक सीमित है जहाँ तक उसका हस्तान्तरण बिना किसी रुकावट के विनिमय माध्यम के रूप मे तथा अन्तिम ऋणशोधन के रूप मे सर्वग्राह्य हो।"[1] रॉबर्टसन के अनुसार "कोई भी वस्तु जो माल के भुगतान मे अथवा अन्य प्रकार के व्यापारिक ऋणशोधन मे सर्वत्र स्वीकृत हो, वही मुद्रा है।"[2] प्रो० सेलिगमेन के शब्दो मे "मुद्रा वह वस्तु है जिसमे सर्वग्राह्यता है।"[3] प्रो० ग्रालफ्रेड मार्शल के अनुसार "ऐसी सब वस्तुएँ जो बिना किसी सन्देह अथवा विशेष जाँच के सेवाग्रो, वस्तुग्रो के क्रय एव खर्चों के भुगतान के साधन की तरह चलन मे हो, वही मुद्रा है।"[4] श्री क्राउथर के शब्दो मे "कोई वस्तु जो विनिमय के साधन के रूप मे सामान्यत सर्वग्राह्य हो तथा उसी समय मूल्यमापन एव मूल्य-सचय का कार्य करती हो, मुद्रा है।"[5]

इन सब परिभाषाग्रो को देखन से यह स्पष्ट होता है कि मुद्रा विनिमय के माध्यम, मूल्यमापन तथा मूल्य-सचय का कार्य करने वाली सर्वग्राह्य वस्तु होनी चाहिए, ग्रौर *सर्वग्राह्य वस्तु वही हो सकती है जिसका मूल्य एव प्रचार सब देशो मे हो।* ग्रत ऐसी मुद्रा केवल मूल्यवान धातु ग्रर्थात् सोने व चाँदी की ही हो सकती है। किन्तु ग्राधुनिक ग्रर्थ व्यवस्था मे पत्र मुद्रा या कागज के नोट भी चलन मे रहते हैं ग्रौर किसी देश की पत्र मुद्रा उस देश मे ही सर्वग्राह्य होती है। ग्रत इन सब परिभाषाग्रो से अधिक उपयुक्त कान की परिभाषा है। उनके शब्दो मे "मुद्रा क्रय शक्ति है—कोई भी वस्तु जिससे ग्रन्य वस्तुएँ खरीदी जा सके।"[6] इसके अन्तर्गत ऐसे सब साधन ग्रा जाते है जो विनिमय का कार्य

---

[1] The use of the term money is restricted to those instruments of general acceptability, which pass freely from hand to hand as a medium of exchange and are generally received in discharge of *final debts as money*

[2] *Anything which is widely accepted in payment for goods or* in discharge of other kinds of business obligations

[3] Money *is one thing that possesses general acceptability*

[4] All *those things which are generally current* without doubt or special enquiry as a means of purchasing commodities and services and of defraying expenses

[5] Anything that is generally acceptable as a means of exchange and at the same time acts as a measure and as a store of value

[6] Money is Purchasing Power—something which buys things

करते हैं , उदाहरणार्थ धातु-मुद्रा, पत्र-मुद्रा, चैक, हुण्डी आदि । किन्तु "हमारी मुद्रा की विचारधारा मे से चैक तथा हुण्डियो को हमे बहिष्कृत करना पड़ेगा"[1], ऐसा भी उन्होने कहा है । हार्टले विदर्स के शब्दो मे "मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य करती है,"[2] अर्थात् मुद्रा के कार्य करने वाली जितनी भी वस्तुएँ हैं वे मुद्रा हैं । उपर्युक्त परिभाषाओ के होते हुए भी ऐसी एक भी सरल परिभाषा नही है जिससे मुद्रा का सम्पूर्ण रूप प्रकट हो सके । अत हमारी दृष्टि से मुद्रा वह वस्तु है जो मूल्यमापन तथा मूल्य सचय का कार्य करते हुए सबसे आवश्यक कार्य विनिमय-माध्यम का करे । इसी प्रकार की परिभाषा वॉकर ने भी की है—"जो वस्तु सम्पूर्ण ऋणशोधन के लिए एक दूसरे के प्रति बिना किसी सन्देह के अनिर्बन्ध रीति से हस्तान्तरित होती है तथा जो देने वाले व्यक्ति की साख के सोच विचार के बिना निस्सन्देह स्वीकृत होती है, ऐसी किसी भी वस्तु को हम मुद्रा कह सकते हैं ।" इस परिभाषा के अन्तर्गत चैक, हुण्डियाँ आदि नही आते क्योकि उनको बिना साख की जाँच किए अथवा बिना उस व्यक्ति की जानकारी के कोई भी व्यक्ति सम्पूर्ण ऋणशोधन म अथवा माल के भुगतान मे स्वीकृत नही करता । अत प्रतिनिधिक चलन, जैसे चैक आदि मे अनिर्बन्ध सर्वग्राह्यता नही होती, किन्तु विनिमय के सब प्रकार के लेन देन म अथवा भुगतान मे **अनिर्बन्ध सर्वग्राह्यता, मुद्रा का विशेष लक्षण है ।** आजकल यह सर्वग्राह्यता कानून द्वारा घोषित की जाती है इसलिए हम उसे विधिग्राह्य (legal tender) कहते है, और जो मुद्रा किसी राष्ट्र विशेष मे विधिग्राह्य होती है वही उस देश का चलन होता है ।

मुद्रा के कार्य (Functions of Money)

उपरोक्त परिभाषाओ को देखने से यह मालूम होता है कि मुद्रा का काय केवल **विनिमय-माध्यम** है क्योकि इन सभी परिभाषाओ मे विशेषत मुद्रा के विनिमय माध्यम एव सर्वग्राह्यता पर ही जोर दिया गया है । परन्तु मुद्रा केवल विनिमय माध्यम का कार्य ही न करते हुए और भी अनेक कार्य करती है जिनको समझे बिना हमे मुद्रा के स्वरूप की पूर्ण कल्पना नही हो सकती । मुद्रा के सम्पूर्ण कार्यो को हम तीन भागो मे विभाजित कर सकते हैं —

(क) प्राथमिक कार्य (Primary Functions)

---

[1] It is most expedient to exclude Bills of Exchange as well as Cheques from our conception of money

[2] Money is what money does

(ख) गौण कार्य (Secondary Functions)

(ग) आकस्मिक कार्य (Contingent Functions)

(अ) **प्रायमिक कार्य**—मुद्रा के प्रायमिक कार्य वे हैं जो मुद्रा द्वारा सदैव तथा किसी भी समाज में अबाधित रूप से किए जाते हों। ये कार्य दो है —

१ **विनिमय-माध्यम**—मुद्रा में सर्वग्राह्यता होने के कारण वह विनिमय में सुगमता लाती है। सब प्रकार की वस्तुओं के मूल्य मुद्रा-माध्यम में प्रकट होने के कारण वस्तु विनिमय की कठिनाइयों को भी वह दूर करती है। मुद्रा के द्वारा पहले हम अपनी सेवाओं अथवा अतिरिक्त उत्पादन को बेचकर मुद्रा पर अधिकार प्राप्त करते हैं। फिर उसी मुद्रा से हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य वस्तुओं अथवा सेवाओं को खरीदते हैं। अत वही मुद्रा सर्वग्राह्य हो सकती है एवं सर्वमान्य रूप से चलन में आ सकती है जो इस प्रायमिक तथा अत्यावश्यक कार्य को करे। मुद्रा की हम इसलिए आवश्यकता है कि वह हमें दूसरी वस्तुओं पर अधिकार दिलाती है—वह हमारी क्रयशक्ति है।

२ **मूल्यमान या मूल्यमापन का साधन**—प्रत्येक वस्तु के नापने के लिए हम किसी न किसी मापक की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार दूरी नापने के लिए गज, वजन नापने के लिए पौण्ड, मन, सेर छटाँक आदि हैं, उसी प्रकार मुद्रा मूल्यमापन का कार्य करती है। इसी कारण सब वस्तुओं का मूल्य मुद्रा में ही प्रकट किया जाता है। मुद्रा के इस कार्य द्वारा वस्तुओं के परस्पर मूल्यों की तुलना करने तथा उनके मूल्य निश्चित करने में सुगमता होती है। इस प्रकार वस्तु विनिमय में मूल्यमापन के अभाव की जो कठिनाई थी वह भी दूर हो जाती है तथा विनिमय का कार्य अधिक सुगम हो जाता है। यह मुद्रा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है जो वह समाज की किसी भी आर्थिक अवस्था में करती है।

(ख) **गौण कार्य**—प्रायमिक कार्य समाज की प्रायमिक आर्थिक अवस्था में मुद्रा द्वारा पूर्ण किए जाते हैं परन्तु समाज की आर्थिक उन्नति के साथ ही मुद्रा के गौण कार्य दिखाई देते हैं। इन कार्यों की उत्पत्ति भी मुद्रा के प्राथमिक कार्यों से ही होती है अत इनको गौण कार्य कहा जाता है। ये कार्य है —

१ **मूल्य-सचय** (Store of Value)—मुद्रा मूल्यों को सचय करने में सहायक होती है। मुद्रा के मूल्य का अर्थ है मुद्रा की क्रय शक्ति। इसलिए बनहम (Benham) ने मुद्रा को तरल सम्पत्ति कहा है।

प्रत्येक व्यक्ति जितने रुपये मासिक कमाता है उन्हे वह उसी महीने मे खर्च नही करना चाहता, बल्कि कुछ रुपये वह बचाता है जिससे समय पर उनका उपयोग हो सके। जो वह उसी मास मे खर्च करता है वह उसका 'वर्तमान-कालीन उपभोग' है और जो वह बचाता है वह भविष्य के उपयोग के लिए होने के कारण उसे 'भविष्यकालीन उपभोग' कहेगे। यह प्रवृत्ति प्रत्येक मनुष्य की होती है कि वह कुछ सकट के लिए बचाए अर्थात् मूल्य का सग्रह करे। वस्तुओ का सग्रह सम्भव नही होता क्योकि वे शीघ्र-नाशवान् होती है अत भविष्य की उपभोग्य वस्तुओ का सग्रह करने का साधन प्रत्येक व्यक्ति चाहता है और मुद्रा के मूल्य मे स्थिरता एव मुद्रा क्रय-शक्ति होने से हम मुद्रा के रूप मे सग्रह कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त, मुद्रा का सग्रह अपने पास न करते हुए यदि हम बैंक मे उसे जमा रखे तो उसी रकम से उत्पादन मे भी वृद्धि हो सकती है।

२. **स्थगित देयमान** (Standard for Deferred Payments)—भविष्य-कालीन लेन-देनो के भुगतान का कार्य भी मुद्रा ही करती है। आधुनिक व्यापारिक लेन-देन मे साख का बहुत महत्त्व है। हम प्रत्येक वस्तु के बदले मे उसी समय भुगतान नही करते, अपितु भविष्य मे भुगतान करते है इसीलिए ऐसे देय को स्थगित देय कहा जाता है। ऐसे स्थगित देय के व्यवहार आजकल बहुत अधिक परिमाण मे होते हैं। इसका एकमात्र कारण यह है कि मुद्रा के मूल्य मे स्थिरता रहती है तथा वस्तुओ के मूल्य भी मुद्रा मे व्यक्त किए जाते हैं। इस कारण आज १०० रुपये मे खरीद हुए माल का भुगतान हम एक वर्ष बाद १०० रुपये देकर ही कर सकते है। यह मुद्रा का चौथा कार्य है। मुद्रा के मूल्य मे स्थिरता होने के कारण मुद्रा यह कार्य जितनी सुगमता से कर सकती है उतनी सुगमता से यह कार्य अन्य वस्तुओ द्वारा नही किया जा सकता है।

३. **मूल्य हस्तान्तरण**—मुद्रा तरल सपत्ति होने के कारण आसानी से एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान को किसी भी समय भेजी जा सकती है। इसी वजह से आजकल साधारणत अधिकतर काम उधार ही से चल जाता है। इस प्रकार मुद्रा मूल्य हस्तातरण का कार्य भी करती है।

(ग) आकस्मिक कार्य—प्रो० किनले के अनुसार मुद्रा चार आकस्मिक कार्य और करती है जो केवल आज की अर्थ-व्यवस्था मे होते हैं, प्राथमिक अवस्था मे नही होते थे और न यही कहा जा सकता है कि आगामी अर्थ-व्यवस्था मे वे कार्य होगे ही। ये कार्य निम्न है —

१. **मुद्रा साख के आधार का कार्य करती है**[1]—आज के समाज मे प्रतीक-पत्रो अथवा साख-पत्रो (जैसे चैक, हुण्डी आदि) का उपयोग मुद्रा की तरह ही होता है क्योकि प्रतीक-पत्रो का अधिकार हमको उनके निर्देशित मूल्य की मुद्राओ पर अधिकार देता है। बैंक जो पत्र-मुद्रा चलन मे लाते हैं उनकी साख रखने के लिए अपने कोष (reserve) मे कुछ न कुछ मुद्रा अवश्य रखते हैं जिससे ऐसे प्रतीक-पत्रो के बदले मे वह मुद्रा दे सकें। इससे यह स्पष्ट है कि मुद्रा के अभाव मे प्रतीक-पत्रो का चलन नही हो सकता था और न साख की ही इतनी वृद्धि हो सकती थी जितनी आज हम देखते है। इस प्रकार मुद्रा साख के आधार का कार्य करती है। साख के विकास एव उपयोग के कारण पूंजी को गति (mobility) भी मिलती है अर्थात् पूंजी एक स्थान से दूसरे स्थान मे स्थानीय आवश्यकताओ के अनुसार भेजी जा सकती है। पूंजी की इस गतिशीलता के कारण देश का आर्थिक एव औद्योगिक विकास होने मे सहायता मिलती है। इतना ही नही अपितु मुद्रा के कारण पूंजी की गतिशीलता केवल देश के भीतर ही सीमित न रहते हुए वह देश के बाहर भी भेजी जा सकती है अथवा विदेशो मे मँगाई जा सकती है।

२ **मुद्रा उद्योगो की सयुक्त आय के वितरण का कार्य करती है**[2]—मुद्रा मूल्यमापक होने के कारण प्रत्येक वस्तु का मूल्य मुद्रा म निश्चित किया जाता है तब उसे मुद्रा मे ही व्यक्त करते हैं। उद्योगो मे अनेक व्यक्ति मिलकर कुछ उत्पादन करते हैं तथा इस उत्पादन मे भूमि, पूंजी एव सगठन का भी कुछ हिस्सा होता है। मुद्रा के अभाव मे इन इकाइयो को उनकी सेवाओ का मूल्य देना इतना सुगम नही था जितना कि आज है और न पहले इतने बडे पैमाने पर उत्पादन करने वाले कारखान ही थ। किन्तु आज उत्पादन का मूल्य मुद्रा मे निश्चित होने के कारण मुद्रा मे ही श्रमिको की तथा पूजी आदि की सेवाओ का मूल्य उन्हे दिया जा सकता है।

३ **उपभोक्ता को समसीमान्त उपयोगिता प्राप्त कराने मे मुद्रा सहायक होती है**[3]—प्रत्येक वस्तु मे मिलने वाली उपयोगिता की तुलना हम उस पर खर्च होने वाली मुद्रा मे कर सकते है इसलिए मनुष्य हमेशा अपना खर्च इस प्रकार मे करता है जिससे उसको कम व्यय मे अधिकाधिक उपयोगिता मिले।

---

[1] Money forms a basis of credit.

[2] It functions as distributor of joint products

[3] It helps to attain equi marginal utility to the consumers.

४. मुद्रा सब प्रकार की सम्पत्ति तथा पूँजी को एक सामान्य मूल्य देता है[1]—पूंजी अथवा सम्पत्ति को एक सरल रूप मे—मुद्रा के रूप मे—रख सकते है जिसके द्वारा हम अपनी आवश्यक वस्तुओं को किसी भी समय खरीद सकते हैं। दूसरे शब्दो मे मुद्रा सब प्रकार की पूँजी को तरल (liquid) रूप देती है। प्रत्येक समय मे कुछ न कुछ ऐसी पूँजी अवश्य होती है जिसे हम कही न कही लगाना चाहते है। यह पूंजी का विनियोग इसीलिए जल्दी एव सुगमता से होता है क्योकि वह मुद्रा मे रखी जा सकती है, जो गतिशील है। दूसरे, मुद्रा एक ऐसी वस्तु है जो सर्वमान्य है, जिसे लेने मे कोई भी मना नही करता। मुद्रा की इसी विशेषता को प्रो० कीन्स ने तरलता-अधिमान (liquidity preference) कहा है जो आजकल मुद्रा का एक आवश्यक गुण माना गया है।

किन्तु उपर्युक्त कार्यों को करने के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा के मूल्य मे स्थिरता हो तथा उसमे जनता का विश्वास रहे तथा लेन-देन मे भी किसी प्रकार की हिचकिचाहट न हो।

मुद्रा का स्वरूप (Nature of Money)

विनिमय एव मुद्रा के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि हम अपनी सेवाएँ तथा वस्तुएँ दूसरे व्यक्तियो की सेवाओ तथा वस्तुओ के साथ बदलते है किन्तु यह हमारा साध्य नही है। क्योकि ये सेवाएँ अथवा वस्तुएँ हम अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए—उपभोग के लिए—चाहते है, अत ये हमारे साधन है। अब वही वस्तुएँ अथवा सेवाएँ हम मुद्रा के माध्यम से खरीद अथवा बेच सकते है, फिर भी मुद्रा हम अपने पास रखने के लिए नही चाहते बल्कि इसलिए चाहते है कि उसमे क्रय-शक्ति है—उसको देने से हम आवश्यक वस्तुओ पर अधिकार प्राप्त करते है। मुद्रा साधन रूप है और वस्तुओं का क्रय एव उनका उपभोग साध्य है। हमारे पास यदि मुद्रा—क्रय-शक्ति—है तो हम किसी भी समय किसी भी वस्तु पर अधिकार प्राप्त कर सकते है। क्राउथर के शब्दो मे 'मुद्रा वस्तु-सग्रह के अधिकार का प्रमाण-पत्र है जो समाज के द्वारा मान्य किया जाएगा।'[2] क्रय शक्ति का मुद्रा मे होना अथवा मुद्रा के अस्तित्व से किसी भी वस्तु पर अधिकार मिलना मुद्रा का वास्तविक स्वरूप है।

---

[1] It gives a generic value to capital (*Money* by Kinlay, p 65)

[2] It is a certificate that the claims a man has upon the stock of goods will be honoured

इसलिए मनुष्य मुद्रा-प्राप्ति के लिए अविरत प्रयत्नशील है। साथ ही मुद्रा मूल्यमान का कार्य करती है, इसलिए मुद्रा के द्वारा हम अन्य वस्तुओं के मूल्यों की तुलना करते है। इस कारण भी प्रत्येक व्यक्ति ऐसी मूल्यमापक वस्तु सदैव अपने पास रखना चाहता है, अर्थात् मूल्यमापकता तथा क्रयशक्ति, यह मुद्रा का सत्य एव वास्तविक स्वरूप है।

मुद्रा का महत्व

आज के आर्थिक समाज म मुद्रा का महत्व बहुत अधिक है क्योंकि उससे होने वाले लाभ भी बहुत है। मुद्रा के अस्तित्व के कारण ही वस्तु विनिमय की कठिनाइयाँ दूर हुई तथा वर्तमान आर्थिक सङ्गठन सम्भव हुआ क्योंकि आजकल बाजारो म माल बिकेगा, इस सम्भावना से ही उत्पादन किया जाता है, उसी प्रकार हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति भी पहले की तरह प्रत्यक्ष विनिमय से न होते हुए कई रुकावटो के बाद होती है। मुद्रा के कारण तथा विनिमय पद्धति मे सुधार होने से ही बडे-बडे कारखाने तथा बडे पैमाने पर उत्पादन सम्भव हो सका है तथा उद्योगो म श्रम विभाजन के तत्व का भी अवलम्बन हो सका है। आजकल के कारखाना के लिए आवश्यक भिन्न-भिन्न घटको (factors of production) का एकीकरण मुद्रा से ही सम्भव हुआ है। वर्तमान समय मे बैंक, बीमा आदि बडी-बडी व्यापारिक सस्थाओ की बाढ का एकमात्र कारण मुद्रा ही है। इसके अतिरिक्त बडे-बडे कारखानो के लिए जो बडी मात्रा म पूँजी लगी है उसम भी मुद्रा के अस्तित्व से ही गति-सामर्थ्य आया क्योंकि बैंक मुद्रा को—पूँजी को—दूसरी जगह जहाँ पर वह अच्छी तरह से उपयोग मे आ सके, विनियोग करते हैं। आज जो बाजारो का इतना विस्तार हुआ है एव अन्तरराष्ट्रीय बाजारो की उन्नति हुई है वह केवल मुद्रा के अस्तित्व के कारण ही सम्भव हो सकी है। इतना ही नही, बल्कि प्रत्येक मनुष्य, समाज एव देश को अन्य व्यक्तियो, समाजो एव देशो पर अपनी आवश्यकताओ के लिए निर्भर रहना पडता है, इस कारण राष्ट्रीय एकीकरण तथा अन्तरराष्ट्रीय मेल-जोल बढा। मुद्रा के अस्तित्व से स्पर्धा तथा अनुबन्ध (contract) ने रूढियो को हटा दिया और मनुष्य को आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र बनाया। अर्थात्, मार्शल के शब्दो म, "मुद्रा अर्थशास्त्र की गति का केन्द्र है।"[1]

---

[1] Money is the pivot around which economic science clusters

मुद्रा के दोष

इतना सब लाभ होते हुए भी मुद्रा म कुछ दोष अवश्य है। अखिल विश्व आर्थिक कार्यो क लिए मुद्रा पर निभर हान से उसके मूल्य के थाडे-से भी उतार चढाव से समाज पर भयकर परिणाम होता है। मुद्रा का मूल्य पूर्णत स्थायी नही है, उमम थोडा-बहुत परिवतन होता रहता है। आज की दोषपूर्ण वितरण पद्धति, बाजारो की तेजी व मन्दी, तथा व्यापारिक अनैतिकता, ये सब मुद्रा के ही दोष है। किन्तु इससे यह सिद्ध नही होता कि मुद्रा एक बुरी वस्तु है। जहाँ इससे इतने लाभ है वहा इसम कतिपय दोष भी हैं जो अन्तरराष्ट्रीय ढग पर सुसचालित मुद्रा मान पद्धति के अवलम्ब से दूर किये जा सकते है।

साराश

परिभाषा भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी गई हैं अत एक निश्चित परिभाषा दे सकना अत्यन्त कठिन है। मुद्रा 'चिह्न' को कहते हैं, चिह्न किसी भी वस्तु पर लगाकर उसे सर्वमान्य बनाया जा सकता है। "मुद्रा वह वस्तु है जो मूल्य सचय का कार्य करते हुए सबसे आवश्यक कार्य विनिमय के माध्यम का करे।"

कार्य मुद्रा के कार्य तीन भागो मे विभाजित हैं. १ प्राथमिक कार्य—(क) विनिमय का माध्यम, (ख) मूल्य-मापन। २ गौण कार्य—(क) मूल्य-सचय, (ख) स्थगित देयमान, (ग) मूल्य हस्तान्तरण। ३ आकस्मिक कार्य—ये कार्य केवल आज की अर्थ-व्यवस्था मे सम्पन्न होते हैं—(क) साख का आधार, (ख) सयुक्त आय का वितरण, (ग) उपभोक्ता को समसीमान्त उपयोगिता प्राप्त कराने मे सहायक, (घ) सब प्रकार की सम्पत्ति तथा पूँजी को सामान्य मूल्य प्रदान करना।

मुद्रा का स्वरूप मुद्रा साध्य नहीं साधन मात्र है। क्रय-शक्ति अर्थात् मुद्रा के अस्तित्व से किसी भी वस्तु पर अधिकार प्राप्त होता है।

मुद्रा का महत्त्व आर्थिक विकास, बडी मात्रा मे उत्पादन, अन्तरराष्ट्रीय बाजार मुद्रा के अस्तित्व के कारण ही सम्भव हो सका।

मुद्रा के दोष सदोष वितरण पद्धति, व्यापारिक तेजी-मन्दी, व्यापारिक अनैतिकता।

अध्याय ३

मुद्रा-वस्तु के गुण-धर्म अथवा विशेषताएँ

हमने पहले अध्याय मे देखा कि प्रारम्भिक अवस्था मे अभी तक अनेक वस्तुएं मुद्रा के रूप मे आई, लेकिन सभी सब वस्तुएँ मुद्रा के प्राथमिक कार्य ही करने मे समर्थ थी। अन्त मे हमारे सामने सर्वमान्य मुद्रा-वस्तु के रूप मे सोना तथा चांदी का उपयोग होने लगा तथा आज भी होता है। अत यह जानना आवश्यक है कि मुद्रा-वस्तु मे कौन-कौन गुण धर्म होना आवश्यक है जिससे कि वह सर्वमान्य हो तथा मुद्रा के कार्यों को भली-भांति पूर्ण कर सके। यदि हम मुद्रा के कार्यों का विचार करें तो कौन-कौन गुण-धर्म मुद्रा-वस्तु मे होना आवश्यक है, यह हम अच्छी तरह समझ सकते हैं। इसका विवरण नीचे दिया है —

१	*विनिमय माध्यम*	*सर्वमान्यता, वहनीयता, विभाज्यता तथा एकरूपता।*
२	*मूल्यमान*	*मूल्य, विभाज्यता, एकरूपता तथा सुपरिचयता।*
३	*मूल्य-सचय*	*मूल्य स्थिरता* (stability in value), *अविनाशता* (durability)।
४	*स्थगित देयमान*	*मूल्य स्थिरता।*

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि मुद्रा-वस्तु मे १ सर्वमान्यता (general acceptability), २ मूल्य (value), ३ वहनीयता (portability), ४ एकरूपता (homogeneity), ५ सुपरिचयता (cognisibility), ६ मूल्य स्थिरता (stability in value), ७ विभाज्यता (divisibility) तथा ८ अविनाशिता (durability) ये आठ विशेषताएँ होनी चाहिएँ।

प्राचीन काल म जिन वस्तुओ ने विनिमय-माध्यम का कार्य किया उनमे उपर्युक्त विशेषताओं में से किसी न किसी का अभाव होने के कारण ही उनके बदले सोना और चाँदी मुद्रा-वस्तु के रूप मे विराजमान हुए।

१. सर्वमान्यता कोई भी वस्तु लेन-देन में बिना किसी शर्त के स्वीकृत हो इसके लिए यह आवश्यक है कि उस वस्तु मे मूल्य हो। सोना और चाँदी मे

उनकी कमी होने के कारण तथा उनकी दुर्लभता के कारण मूल्य है। गहने तथा कला के काम मे भी ये धातुएँ उपयोग मे आती है इसीलिए इनमे सर्वमान्यता है तथा आन्तरिक मूल्य भी है। उपयोगिता का गुण भी मुद्रा-वस्तु मे होना चाहिए। वैसे तो मुद्रा विधिग्राह्य कर देने से उसमे सर्वमान्यता की विशेषता आ जाती है, किन्तु केवल उसी देश मे जहाँ पर कि वह प्रचलित है। परन्तु किसी भी वस्तु की सभी देशो मे अनिर्बन्ध ग्राह्यता तभी होगी जब उसमे उपयोगिता एव आन्तरिक मूल्य होगा।

२. **मूल्य** मुद्रा-वस्तु मे बाहरी मूल्य के साथ साथ आन्तरिक मूल्य भी होना चाहिए तभी ऐसी मुद्रा बिना किसी जाँच या सन्देह के सर्वमान्य एव सर्वग्राह्य होती है।

३. **वहनीयता** अर्थात् एक जगह से दूसरी जगह ले जाने मे सुगमता मुद्रा को एक जगह से दूसरी जगह हमको भेजना पडता है तथा मूल्य का हस्तान्तरण करना पडता है। ऐसे समय वह मुद्रा-वस्तु ऐसी होनी चाहिए जिसमे कम आकार मे तथा कम वजन मे अधिक मूल्य मिले। उदाहरणार्थ, गेहूँ अथवा पशु का जब मुद्रा के रूप मे उपयोग होता था तब उनको एक जगह से दूसरी जगह ले जाने मे कठिनाई पडती थी किन्तु अब सोना एक ऐसी वस्तु है जिसके छोटे-से टुकडे मे ही अधिक मूल्य रहता है। यह विशेषता सबसे अधिक पत्र-मुद्रा मे है, परन्तु उसमे आन्तरिक मूल्य एव उपयोगिता न होने के कारण वह बिना किसी प्रकार की हिचकिचाहट के स्वीकार नही होगी।

४. **एकरूपता अथवा समरूपता** मुद्रा-वस्तु मे समरूपता होनी चाहिए अर्थात् वह वस्तु ऐसी हो जिसके समान वजन अथवा समान आकार के यदि अनेक टुकडे कर दिये जाएँ तो उनका मूल्य एक ही हो। इसी प्रकार ऐसे टुकडो को एक ठोस टुकडे मे परिवर्तित करने से वस्तु मे एकरूपता रहे एव मूल्य मे भी कमी न आए।

५. **सुपरिचयता** अर्थात् वह वस्तु बिना किसी कठिनाई के पहिचानी जा सके तथा उसमे धोखे की सम्भावना कम हो।

६ **मूल्य स्थिरता** मुद्रा-वस्तु मे मूल्य-स्थायित्व होना आवश्यक है जिससे वह मुद्रा के मूल्य सचय तथा स्थगित देयमान आदि कार्यो को कर सके, क्योकि अगर मूल्यो मे सदैव उतार चढाव रहेगा तो ऐसी वस्तु का कोई भी व्यक्ति सग्रह नही करेगा क्योकि उसमे हानि की सम्भावना रहती है। इसी प्रकार स्थगित देयमान का कार्य भी वह मुद्रा-वस्तु नही कर सकेगी क्योकि मूल्यो के

उतार-चढाव के कारण देनदार अथवा लेनदार किसी न किसी को हानि होती ही है। अत मुद्रा-वस्तु मे मूल्य-स्थायित्व होना चाहिए।

७ **विभाज्यता** अर्थात् मूल्य अथवा उपयोगिता म किसी प्रकार की हानि न होते हुए उस वस्तु का विभाजन सम्भव होना चाहिए जिससे कि थोडी रकम के लेन-देन के उपयोग मे भी वह वस्तु आ सके।

८. **अविनाशिता** मुद्रा-वस्तु म अविनाशिता होना इसलिए आवश्यक है कि उसमे अधिक समय तक चलन म रहने से घिसावट (wear and tear) अधिक न हो। उसी प्रकार यदि उसको एक स्थान पर कई वर्षों तक रख भी दिया जाए तो भी उसके मूल्य म हानि न हो। इसी गुण से उस वस्तु मे मूल्य-स्थायित्व भी रहता है तथा वह मूल्य सचय एव स्थगित देयमान का काय भी कर सकती है।

इन विशेषताओ के अतिरिक्त मुद्रा-वस्तु मे शीघ्र-द्रवता एव शीघ्र-घनता के गुण भी होने चाहिए जिससे सिक्के बनाने मे सुगमता हो तथा द्रवीकरण (गलने) अथवा घनीकरण (ठोस होने) से उसके मूल्य एव उपयोगिता मे किसी प्रकार की कमी न हो क्योकि सिक्के ढालने के लिए यह आवश्यक होता है कि जिस धातु के सिक्के बनाए जाएँ वह धातु आसानी से गलाई जा सके तथा ठोस भी शीघ्र हो।

उपर्युक्त गुणो का एक साथ अस्तित्व हम केवल सोना एव चाँदी मे ही पाते है इसीलिए सभी देशो मे मुद्रा-वस्तु के रूप म इनका प्रचार एव उपयोग हुआ।

साराश

मुद्रा के कार्यों के अनुसार मुद्रा-वस्तु मे निम्न गुण होने चाहिए —

१ विनिमय माध्यम सर्वमान्यता, वहनीयता, विभाज्यता तथा एकरूपता।

२ मूल्य मान मूल्य, विभाज्यता, एकरूपता तथा सुपरिचयता।

३ मूल्य सचय मूल्य स्थिरता तथा अविनाशिता।

४ स्थगित देयमान मूल्य स्थिरता।

अत जिस पदार्थ की मुद्रा बनाई जाए उसमे निम्न गुण होने चाहिए :—

१ सर्वमान्यता, २ मूल्य, ३ वहनीयता, ४ एकरूपता, ५ सुपरिचयता, ६ मूल्य स्थिरता, ७ विभाज्यता, ८ अविनाशिता।

अध्याय ४

मुद्रा का वर्गीकरण एवं तत्सम्बन्धी शब्द-प्रयोग

मुद्रा का वर्गीकरण अर्थशास्त्रियों ने भिन्न भिन्न प्रकार से किया है, परन्तु हमको व्यावहारिक जगत् मे विशेषत दो प्रकार की मुद्राएँ मिलती हैं —

१ धातु-मुद्रा (metallic money) तथा

२ पत्र मुद्रा (paper money)

धातु मुद्रा वह है जिसम किसी न किसी धातु के सिक्के चलन म रहते हैं तथा बैंक-पत्र-मुद्रा वह है जो किसी विशेष अधिकृत व्यक्ति अथवा सरकार द्वारा कागज पर अपने विशेष चिह्न लगाकर व्यवहार में लाई जाती है।

धातु-मुद्रा भी दो प्रकार की होती है —प्रधान, प्रमाणित अथवा सर्वांग-मुद्रा (standard money) तथा गौण, सांकेतिक अथवा प्रतीक-मुद्रा (token money)।

प्रधान मुद्रा

प्रधान मुद्रा उस धातु की बनाई जाती है जो किसी भी देश में कायदे से विनिमय-माध्यम तथा मूल्यमान के लिए निश्चित की जाती है। ऐसी मुद्रा सोने या चाँदी की होती है। इस मुद्रा के सिक्के किसी विशिष्ट एव निश्चित वजन के, निश्चित मूल्यमापक तथा निश्चित शुद्धता वाले बनाए जाते है जो देश के टकण विधान (Coinage Act) के द्वारा निश्चित किया जाता है। इस मुद्रा के प्रधान लक्षण निम्नलिखित हैं —

१ मूल्यमापक एव विनिमय माध्यम—ये सिक्के देश के प्रधान सिक्कों के रूप में चलने रहते है तथा इन्ही सिक्कों मे किसी भी वस्तु का अथवा अन्य सिक्को का मूल्य आँका जाता है। अत प्रधान सिक्के देश मे मूल्यमापन एव विनिमय माध्यम का कार्य करते है।

२ टंकण स्वातन्त्र्य (Free Coinage)—इसम प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार, उसके बदले उतने ही वजन एव मूल्य की धातु देकर, सिक्कों का टकसाल से टकण करा सकता है। इसमे सरकार की ओर से किसी भी

प्रकार का प्रतिबन्ध अथवा रुकावट नहीं होती। ऐसे टंकण के लिए सरकार उस व्यक्ति से टंकण शुल्क (charge for coinage) लेती है अथवा नहीं भी लेती। इस अवस्था में सिक्कों की कमी नहीं आती क्योंकि यदि सिक्कों की कमी हो तो जनता अपने स्वर्ण को टकसाल से सिक्कों में बदल लेती है।

३. आन्तरिक एवं बाहरी मूल्य में समानता (Equality in the Face Value and Intrinsic Value)—टंकण विधान के अनुसार सिक्के का बाहरी मूल्य तथा उसमें होने वाली शुद्ध धातु की मात्रा को निश्चित किया जाता है। प्रधान सिक्के के आन्तरिक मूल्य तथा बाहरी मूल्य में समानता होनी चाहिए—जैसे, भारतीय रुपये का बाहरी मूल्य १०० नये पैसे है तो उसमें १०० नये पैसे मूल्य की ही चाँदी होनी चाहिए अर्थात् आन्तरिक मूल्य १०० नये पैसे ही होना चाहिए।

४. असीमित विधिग्राह्यता (Unlimited Legal Tender)—उपर्युक्त दो विशेषताओं के कारण तथा यह मुद्रा देश की प्रधान मुद्रा होने के कारण किसी भी व्यक्ति को यह असीमित मात्रा में कानूनन स्वीकार करनी पड़ती है। इसे असीमित विधिग्राह्यता कहते हैं। बड़े-बड़े लेन-देन के व्यवहार प्रधान मुद्रा में ही होते हैं।

गौण मुद्रा

प्रधान मुद्रा के विपरीत लक्षण प्रतीक अथवा गौण मुद्रा में पाए जाते हैं। गौण मुद्रा केवल अल्प परिमाण के व्यवहारों के भुगतान के लिए चलाई जाती है जिससे कि वह प्रधान मुद्रा के लिए *सहायक रहे। यह सिक्का प्रायः हल्की* अथवा गौण धातु का बनाया जाता है, जैसे, ताँबा, निकेल आदि। दूसरे, कोई भी व्यक्ति इसका टंकण नहीं करा सकता अर्थात् यह केवल देश की सरकार द्वारा ही ढलवाया जाता है। तीसरे, इसका बाहरी मूल्य इसके आन्तरिक अथवा धातु मूल्य से अधिक होता है। चौथे, ऐसे सिक्कों को लेन देन में सीमित मात्रा में ही दिया जाता है, जैसे, इंगलैण्ड में शिलिंग ४० की संख्या तक विधिग्राह्य है तथा भारत में नये पैसे केवल १० रुपए तक *विधिग्राह्य हैं। इस प्रकार गौण,* प्रतीक अथवा सांकेतिक मुद्रा के निम्न चार लक्षण हैं —

१ प्रतिबन्धित टंकण (restricted coinage)

२ आन्तरिक मूल्य से बाहरी मूल्य में अधिकता (more face value than intrinsic value)

३. सीमित विधिग्राह्यता (limited legal tender)
४. हल्की अथवा कम मूल्य की धातु का उपयोग ।

क्या भारतीय रुपया प्रधान सिक्का है ?

भारतीय सिक्का रुपया शुरू से आज तक प्रधान सिक्का माना जाता है किन्तु प्रधान सिक्के की सब विशेषताएँ इसमे नही है अर्थात् न आन्तरिक एव बाहरी मूल्य मे समानता है और न टंकण-स्वातन्त्र्य ही है। यह टंकण-स्वातन्त्र्य सन् १८९३ तक भारतीय रुपये मे था किन्तु १८९३ से वह छीन लिया गया। यह असीमित विधिग्राह्य अवश्य है। साराश, इसमे केवल असीमित विधिग्राह्यता ही प्रधान सिक्के का लक्षण है, अन्य दो लक्षण—प्रतिबन्धित टंकण तथा बाहरी मूल्य की धातु मूल्य से अधिकता—प्रतीक अथवा गौण मुद्रा के हैं अत यह भारत की कानूनन प्रधान मुद्रा होते हुए भी सर्वांग पूर्ण प्रधान मुद्रा नही कही जा सकती।

मुद्रा की उत्क्रान्ति

सोने व चाँदी का मुद्रा-वस्तु के रूप मे जब सर्वप्रथम उपयोग आरम्भ हुआ उस समय ये टुकडो मे ही प्रयोग मे आते थे और लेने वालो को इनकी शुद्धता तथा वजन की तौल एव जाँच करनी पडती थी। अत बाजार मे व्यापारियों को सोने चाँदी की जाँच तथा वजन करने के लिए आवश्यक वस्तुएँ साथ रखनी पडती थी। इस कठिनाई को हटाने के लिए जगत् सेठ जैसे कुछ प्रतिष्ठित सर्राफो एव साहूकारो ने, जिनकी साख का जनता को विश्वास था, सोने-चाँदी पर अपनी मुद्रा अथवा विशेष चिह्न लगाना प्रारम्भ किया जिससे उनकी शुद्धता मे मिलावट न की जा सके। फिर भी वजन तो करना ही पडता था। इस प्रकार के चलन को "भारक-चलन" (currency by weight) कहते है। इस वजन करने की कठिनाई को दूर करने की दृष्टि से धातु के एक निश्चित वजन के टुकडे लेकर उन पर मुद्रा अंकित की जाने लगी जिससे न उनकी तौल की और न जाँच की आवश्यकता रहे। फिर भी, इनमे से किनारे काटकर वजन की कमी कर ली जाती थी, अत तौलने की आवश्यकता कभी कभी प्रतीत होती थी। इसके बाद क्रमश सिक्के बनने लगे जिनमे धोखे व जालसाजी की सम्भावना कम थी। तभी से गिने जाने वाली मुद्रा का प्रादुर्भाव हुआ। आज का सिक्का गोल, समान वजन का, निश्चित धातु-मात्रा का एव किटकिटीदार किनारे का है जिससे उसमे धोखे या जालसाजी की बहुत कम सम्भावना है। फिर भी जाली सिक्के आज भी बनते ही है। परन्तु वे आसानी से पहिचाने जा सकते हैं।

मुद्रा-टंकण सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द

सिक्का बनाने का कार्य सरकार अथवा सरकार द्वारा नियुक्त किसी संस्था का होता है। सिक्का अथवा मुद्रा धातु के उस टुकड़े को कहते हैं जिसका वजन एवं शुद्धता उस पर लगी हुई मुद्रा अथवा मुहर द्वारा प्रमाणित की जाती है।[1] जहाँ ये सिक्के बनते हैं उसे **टङ्कशाला** या **टकसाल** (mint) तथा सिक्का बनाने की क्रिया को **टङ्कण** (coinage) कहते हैं। यह टंकण तीन प्रकार का होता है —

टङ्कण स्वातन्त्र्य (Free Coinage) —जिसमें कोई भी व्यक्ति टङ्कशाला में धातु ले जाकर सिक्के में परिवर्तित करा सकता है। यह टङ्कण नि शुल्क अथवा सशुल्क होता है। जब टङ्कण के लिए जनता से किसी भी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता तब हम उसे नि शुल्क टङ्कण कहते हैं। जब यह शुल्क सिक्का बनाने में जो खर्च होता है उसी के बराबर लिया जाता है, तो उसे **टङ्कण शुल्क** (brassage) कहते है। इसके अतिरिक्त सरकार कभी-कभी मुद्रा-टङ्कण से लाभ उठाना चाहती है। उस समय वह शुल्क रूप में वास्तविक रूप से अधिक रकम वसूल करती है, जिसे **मुद्रा-टङ्कण लाभ** (seigniorage) कहते हैं। मुद्रा टङ्कण लाभ दो प्रकार से लिया जाता है—एक तो उतनी कीमत की धातु सिक्के में से निकाल कर अन्य धातु की मिलावट करके, तथा सिक्का बनाते समय ही यह लाभ वसूल करके। इस प्रकार का टङ्कण लाभ सांकेतिक अथवा प्रतीक मुद्रा में सबसे अधिक होता है। उदाहरणार्थ, १९४३ के पूर्व रुपये में १६५ ग्रेन चाँदी तथा १५ ग्रेन अन्य धातु थी, उसमें चाँदी का मूल्य केवल ९ आने २½ पाई था किन्तु रुपये का बाहरी मूल्य १६ आने होने से उस पर सरकार ६ आने ९½ पाई प्रति रुपया टङ्कण लाभ लेती थी।

प्रतिबन्धित टङ्कण (Restricted Coinage) में सिक्के ढालने का एकाधिकार केवल सरकार तक ही सीमित रहता है, अन्य कोई व्यक्ति टङ्कशाला में धातु देकर सिक्का में परिवर्तित नहीं करा सकता, अर्थात् जनता के लिए टङ्कशाला खुली नहीं रहती।

विधिग्राह्यता—जिन सिक्कों को कानून के द्वारा स्वीकार करने के लिए सरकार बाध्य करती है उन्हें विधिग्राह्य कहते हैं। यह विधिग्राह्यता यदि असीमित मात्रा में हो तो उसे **असीमित विधिग्राह्य** तथा सीमित मात्रा में हो

[1] Jevons

तो उसे **सीमित विधिग्राह्य** कहते है। ऐसे सिक्को को जनता चाहे या न चाहे उसे उन्हे स्वीकार करना ही पडेगा।

अवक्षयरण (Debasement)—जब कानून मे हेर-फेर किए बिना किसी भी सिक्के की प्रमाणित धातु को अधिकृत रूप से कम किया जाता है तब उसे अवक्षयण कहते है। उदाहरणार्थ, कानून के अनुसार रुपये मे १६५ ग्रेन चाँदी तथा १५ ग्रेन अन्य धातु होनी चाहिए, परन्तु जब विधान मे बिना किसी परिवर्तन के चाँदी का अश १६५ ग्रेन से १५५ ग्रेन तथा अन्य धातु का अश १५ ग्रेन से २५ ग्रेन कर दिया जाता है तब उसे हम अवक्षयण कहेगे।

इसी प्रकार यदि कानून द्वारा निश्चित धातु का सिक्का चलन मे हो और उसके बाहरी मूल्य को पहले की अपेक्षा बढा दिया जाए तो भी उसे अवक्षयण कहते है। उदाहरणार्थ, रुपये के चाँदी के भाग मे किसी प्रकार की कमी न करते हुए यदि उसका मूल्य १०० नये पैसे मे १२० नये पैसे घोषित किया जाए तो वह भी अवक्षयण होगा।

अवमूल्यन (Devaluation)—अवमूल्यन किसी भी समय मुद्रा के विदेशी विनिमय मूल्य मे कमी करने की क्रिया को कहते हैं। उदाहरणार्थ, रुपये की क्रयशक्ति का अर्थ हम दो प्रकार से लेते है—एक तो वह देश मे कितनी वस्तुएँ अथवा सेवाएँ खरीदता है तथा दूसरे वह देश के बाहर कितनी वस्तुएँ अथवा सेवाएँ खरीदता है। देश के बाहर अथवा विदेशो मे रुपया सर्वग्राह्य न होने से हम रुपये से पहले विदेशी मुद्राएँ खरीदेंगे और फिर उन विदेशी मुद्राओ से हम उस देश की वस्तुएँ खरीद सकेंगे, अर्थात् रुपये की देश के भीतर जो क्रयशक्ति है उस क्रयशक्ति मे किसी प्रकार की कमी न करते हुए जब उसका विदेशी विनिमय मूल्य कम किया जाए तब हम उसे रुपये का अवमूल्यन कहते है। जैसे भारतीय रुपया १८ सितम्बर १९४९ के पहिले ३०.५ सेण्ट (अमरीकी मुद्रा) अथवा ०.२६८६०१ ग्राम सोना खरीदता था उसके बदले मे १८ सितम्बर से उसका मूल्य २१ सेण्ट अथवा ०.१८६६२१ ग्राम सोना कर दिया गया। रुपये की इस विदेशी क्रयशक्ति की कमी को हम अवमूल्यन कहते है।

मुद्रा-टङ्कण का हेतु

अभी हमने मुद्रा-टङ्कण सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द देखे, किन्तु मुद्रा-टङ्कण का असली कारण क्या है यह भी हमको समझ लेना चाहिए। मुद्रा-टङ्कण का अधिकार एक अधिकृत सस्था अथवा सरकार के हाथो मे होने से सिक्को मे एकरूपता रहती है। और ये सब सिक्के किसी एक विशिष्ट धातु, वजन

तथा चिह्नों के होने के कारण उनमे सुपरिचयता होती है। साथ ही ऐसे सिक्कों मे धोखे अथवा जालसाजी की सम्भावना भी कम होती है। अत सिक्कों मे एकरूपता व सुपरिचयता लाना तथा धोखे की सम्भावना दूर करना, यही मुद्रा-टङ्कण के मूल हेतु हैं।

सारांश

मुद्रा के दो प्रकार होते हैं—१. धातु मुद्रा, २ पत्र मुद्रा। किसी धातु की बनी मुद्रा धातु मुद्रा और किसी अधिकृत व्यक्ति अथवा सरकार द्वारा कागज पर चिह्न लगाकर व्यवहार मे लाई गई मुद्रा पत्र मुद्रा होती है। धातु मुद्रा दो प्रकार की होती है—१ प्रमाणित अथवा प्रधान, २ प्रतीक अथवा गौण।

प्रमाणित मुद्रा के ४ लक्षण होते हैं—

१ आन्तरिक एवं बाहरी मूल्य मे समानता; २. टंकण स्वातन्त्र्य; ३. असीमित विधिग्राह्यता; ४. मूल्यमापक एव विनिमय माध्यम दोनो कार्य करना अर्थात् देश की प्रधान मुद्रा।

प्रतीक मुद्रा के ४ लक्षण —

१. आन्तरिक मूल्य से बाहरी मूल्य की अधिकता; २. प्रतिबंधित टंकण; ३. सीमित विधिग्राह्यता, ४. हल्की अथवा कम मूल्य की धातु।

भारतीय रुपये मे केवल असीमित विधिग्राह्यता होने के कारण वह कानूनन प्रधान मुद्रा होते हुए भी सर्वांग पूर्ण प्रधान मुद्रा नहीं कही जा सकती।

मुद्रा की उत्क्रान्ति पहले मुद्रा का सोने और चाँदी के टुकडो के रूप मे प्रयोग। अतः उन्हे तौलने और शुद्धता की जाँच करने की आवश्यकता। इस कमी को दूर करने के लिए प्रतिष्ठित सर्राफो ने चिह्न अंकित करना प्रारम्भ किया। फिर भी वजन करने की आवश्यकता। अत निश्चित वजन के टुकड़ो पर चिह्न अंकित किया जाने लगा। अब किनारे काटकर वजन कम किया जाने लगा। अत. वजन करने की आवश्यकता दूर न हुई इसलिए किनारा किटकिटीदार बनाया जाने लगा। इस प्रकार धीरे-धीरे गोल, समान वजन, निश्चित धातु मात्रा और किटकिटीदार किनारे की मुद्रा का चलन हुआ।

टंकण धातु से मुद्रा बनाने की विधि को कहते हैं। दो प्रकार का होता है—१. स्वतन्त्र; २. प्रतिबन्धित।

स्वतन्त्र जनता को अपनी धातु मुद्रा मे परिवर्तन कराने की स्वतन्त्रता। यह भी दो प्रकार का होता है—नि:शुल्क और सशुल्क।

जब मुद्रण कार्य के लिए कोई शुल्क नहीं लिया जाता तब मुद्रण नि शुल्क होता है और शुल्क लिए जाने पर सशुल्क होता है।

शुल्क भी दो प्रकार का होता है—१ टकण शुल्क, २ मुद्रा-टकण लाभ।

प्रतिबन्धित जनता को अपनी धातु मुद्रा मे परिवर्तित कराने की स्वतन्त्रता नहीं होती। मुद्रण का कार्य सरकार अपने हाथ मे रखती है।

विधिग्राह्यता जिस मुद्रा को स्वीकार करने के लिए वैधानिक बाध्यता होती है उसे विधिग्राह्य कहते हैं। जब विधिग्राह्यता एक निश्चित सीमा तक रखी जाती है उसे सीमित विधिग्राह्य कहते हैं और कोई सीमा न होने पर असीमित विधिग्राह्य कहते हैं।

मुद्रा-टकण का हेतु मुद्रा मे सुपरिचयता लाना तथा उसे जालसाजी से दूर रखने का प्रयत्न करना।

अध्याय ५

पत्र-मुद्रा

पत्र-मुद्रा क्या है ?

पत्र-मुद्रा कागज पर किसी सरकार अथवा अधिकृत संस्था (जैसे रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया) के विशेष चिह्नों द्वारा, माँगने पर निश्चित संख्या में प्रधान मुद्रा देने का लिखित वायदा है, जैसे १० रुपये का नोट—इसमें रिजर्व बैंक यह वायदा करती है कि उसे भुनाने पर यहाँ के १० प्रधान सिक्के अर्थात् रुपये, वह देगी। पत्र-मुद्रा का चलन मूल्यवान धातुओं की घिसावट से होने वाली हानि को बचाने के लिए तथा पत्र-मुद्रा की सुरक्षितता, सुवाह्यता आदि लाभों के कारण हुआ। इस प्रकार बचाया हुआ सोना-चाँदी अन्य देशों में विनियोग के काम में तथा कला-कौशल के कामों में लाया जाता है। इसके अतिरिक्त पत्र-मुद्रा सरकार को सबसे अधिक लाभप्रद है क्योंकि जब उसकी साख में जनता का विश्वास उठ जाता है तथा ऋणपत्र नहीं खरीदे जाते उस समय पत्र-मुद्रा के प्रसार के द्वारा वह अपने खर्च पूरे कर सकती है। वास्तव में पत्र-मुद्रा प्रतीक मुद्रा है।

पत्र-मुद्रा का उगम

पत्र-मुद्रा की कल्पना, हम जैसा सामान्यत सोचते हैं, नई न होते हुए पुरानी ही है। प्राचीन काल में कागज का शोध न होने के कारण चमडा, पेड की छाल अथवा भोजपत्र का प्रयोग मुद्रा के रूप में इसी हेतु किया जाता था कि बहुमूल्य धातुओं की घिसावट से होने वाली हानि में बचत हो। पत्र-मुद्रा का उपयोग सर्वप्रथम चीन में ९वी शताब्दी के लगभग होने लगा और फिर वहाँ से उसका प्रसार अन्य देशों में हुआ।[1] आधुनिक विश्व में पत्र-मुद्रा का उपयोग विशेष रूप से १७वी शताब्दी में होने लगा और १८वी शताब्दी में उसका प्रसार लगभग सभी देशों में हो गया। इसी शताब्दी में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का उपयोग भी उन देशों में होने लगा जिन देशों में परिवर्तनीय पत्र-

[1] *Money* by Kinlay, p. 329

मुद्रा का चलन था।[1] भारत म पत्र मुद्रा का उपयोग सर्वप्रथम १९वी शताब्दी म आरम्भ हुआ जबकि बैंक ऑव बगाल को १८०६ म पत्र मुद्रा चलाने का अधिकार मिला।

पत्र-मुद्रा के प्रकार

पत्र-मुद्रा सम्बन्धी तालिका

पत्र-मुद्रा-चलन

प्रकार	१ प्रतिनिधि	२ परिवतनीय	३ अपरिवर्तनीय
निधि	सम्पूर्ण धातु निधि	धातु निधि तथा प्रतीक निधि	किसी भी प्रकार का निधि नही
गुण दोष	१ धातु की वचत नही होती, अत मितव्ययता की कमी	१ प्रतीक निधि के बराबर धातु की बचत अत मितव्ययता	१ धातु की बचत
	२ लोच की कमी	२ लोच	२ मितव्ययता
	३ सुरक्षा एव परिवर्तनशीलता	३ सुरक्षा एव परिवर्तनशीलता	३ लोच
			४ चलन मे अधिक होने की सभावना
			५ सुरक्षा एव परिवर्तनशीलता की कमी

पत्र-मुद्रा तीन प्रकार की होती है —प्रतिनिधि, परिवर्तनीय तथा अपरिवतनीय।

प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा—जैसा कि नाम मे स्पष्ट है, इस प्रकार की पत्र-मुद्रा, कितने मूल्य का सोना चाँदी बैंक के निधि मे एकत्रित है अथवा उस देश के खजाने मे है, यह बताती है तथा उसका प्रतिनिधित्व करती है। उदाहरणार्थ,

1 *Principles of Economics* by Taussig, p 305

१,००,००० रुपये की प्रतिनिधि मुद्रा का चलन यह बताएगा कि हमारे बैंक मे, जिसने पत्र मुद्रा को प्रसारित किया, अथवा राष्ट्रीय खजाने मे १,००,००० रुपये का सोना या चाँदी है। इस प्रकार की प्रतिनिधि मुद्रा के अच्छे उदाहरण हैं—अमरीकी स्वर्ण तथा रजत प्रमाणपत्र (American gold and silver certificates) जिनके बदले मे उतनी ही रकम का सोना या चाँदी अमरीकी खजाने मे रखा जाता था। धातु मुद्रा से इनके उपयोग मे सुविधा रहती है। प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा सरकार अथवा बैंक द्वारा चलाई जा सकती है।

परिवर्तनीय पत्र-मुद्रा—*यह वह मुद्रा है जिसको हम किसी भी समय* प्रधान सिक्कों मे बदल सकते हैं अर्थात् इस प्रकार की मुद्रा मे इसको चलाने वाली संस्था यह आश्वासन देती है कि उस कागजी मुद्रा के बदले मे, किसी भी समय माँग पर प्रधान मुद्रा दे दी जाएगी। इस आश्वासन के कारण ही ऐसी मुद्रा मे जनता का विश्वास होता है तथा वह उस देश मे सर्वग्राह्य होती है।

उदाहरणार्थ भारत मे ५), १०) एव १००) का नोट, जिस पर विधि-ग्राह्य प्रमाणित मुद्रा देने का आश्वासन I promise to pay the bearer on demand a sum of Rupees इन शब्दो मे रिजर्व बैंक द्वारा दिया जाता है। यदि देश की पत्र-मुद्रा विधिग्राह्य मुद्रा मे परिवर्तनशील न होते हुए अन्य किसी चीज मे, जैसे गेहूँ, चावल, जमीन आदि मे परिवर्तनशील है तो उस पत्र-मुद्रा को परिवर्तनीय पत्र मुद्रा नही कहा जा सकता। क्योकि मुद्रा शास्त्र मे 'परिवर्तनीय' शब्द का अर्थ केवल विधिग्राह्य प्रधान मुद्रा की परिवर्तनशीलता तक ही सीमित है।[1] इस प्रकार की पत्र-मुद्रा बैंक अथवा सरकार द्वारा चलाई जाती है।

ऐसी पत्र मुद्रा चलन के परिवर्तन के लिए उसके वास्तविक मूल्य के बराबर धातु नहीं रखी जाती बल्कि वह कम होती है। वास्तव मे इस प्रकार की पत्र मुद्रा मे निधि (reserve) तो उसके बाहरी मूल्य के बराबर ही रखा जाता है, किन्तु कुछ धातु मे रखा जाता है तथा शेष किसी प्रकार के विनियोगो (securities) मे। जो निधि धातु मे रखी जाती है उसे **धातु-निधि** (metallic reserve) अथवा रक्षित भाग तथा जो विनियोगो मे रखी जाती है उसे **प्रतीक**

---

[1] The word 'Convertible' is restricted in Monetary Science to redeemability in legal tender standard money, and in that alone'—*Money* by Kinlay, p 331

निधि अथवा अरक्षित भाग (uncovered portion or fiduciary portion) कहते हैं। उदाहरणार्थ, किसी देश मे १०० रुपये मूल्य की पत्र मुद्रा चलन मे है। उसके लिए बैंक ने ३० रुपये का सोना निधि मे रखा है तथा ७० रुपये के विनियोग-पत्र (securities) हैं, तो ३० रुपये वाले भाग को धातु निधि तथा ७० रुपये वाले भाग को प्रतीक निधि कहेंगे। धातु निधि की मात्रा प्रत्येक देश की जनता की आदत पर निर्भर रहती है। यदि पत्र-मुद्रा का परिवर्तन अधिक मात्रा मे किया जाता है तब धातु निधि अधिक अनुपात मे रखना पडेगा।

अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा—इस प्रकार की पत्र-मुद्रा के बदले मे किसी प्रकार के सिक्के अथवा धातु देने के लिए सरकार कानूनन बाध्य नही होती। इसका चलन केवल सरकार की साख मे जनता का विश्वास होने के कारण अथवा सरकारी फर्मान के द्वारा होता है। इस प्रकार का चलन तभी होता है जब सरकार को पत्र मुद्रा की अधिक आवश्यकता होती है, जैसे युद्धकाल मे। इस प्रकार की पत्र-मुद्रा का उदाहरण भारतीय १ रु० की पत्र मुद्रा है। जनता का विश्वास कायम रखने के लिए यह आवश्यक है कि चलन इस प्रकार नियन्त्रित हो जिसमे माँग से अधिक उसका चलन न हो अन्यथा उससे भयकर परिणाम होते हैं। इसका विवेचन हम आगे करेंगे। इसीलिए गाइड ने कहा है कि "यह (अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा) न तो किसी का प्रतिनिधित्व करती है, न किसी (वस्तु) पर अधिकार ही देती है।"[1] इस प्रकार की मुद्रा जनता की सम्मति के बिना लगाए हुए कर के रूप मे अथवा जबरदस्ती लिए हुए ऋण के रूप मे होने से सामान्यत अविश्वसनीय होती है। फिर भी जनता को मुद्रा के रूप मे अथवा विनिमय माध्यम के लिए दूसरी वस्तु न होने के कारण अथवा सरकारी आदेश के कारण उसको ग्रहण करना ही पडता है। अपरच जिस काम के लिए उन्हे मुद्रा चाहिए वह काम अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा से पूर्ण होने के कारण उन्हे भी इसके विरुद्ध किसी प्रकार का आक्षेप नही रहता।

पत्र-मुद्रा से लाभ

आजकल सामान्यत सब देशो मे परिवर्तनीय पत्र-मुद्रा चलन मे है क्योकि इस पद्धति से सोने-चाँदी की बचत तथा मुद्रा की पूर्ति मे लोच रहती है। इसी प्रकार धातु-मुद्रा मे परिवर्तन का आश्वासन होने से सुरक्षितता तथा इसके मूल्य मे स्थायित्व भी रखा जा सकता है, अत प्रतिनिधि तथा अपरिवर्तनीय पत्र-

---

1 Conventional Paper Money represents nothing and confers a claim to nothing.

मुद्रा से परिवर्तनीय पत्र-मुद्रा श्रेष्ठतर है। पत्र-मुद्रा से होने वाले लाभ नीचे दिए है :—

१. **बहुमूल्य धातुओ की बचत**—इसमे बहुमूल्य धातुओं—सोना-चांदी की बचत होती है क्योंकि धातु-मुद्रा के स्थान पर पत्र मुद्रा चलन मे होने से घिसावट से होने वाली हानि नही होती। इतना ही नही बल्कि इस तरह से चलन से बचाई गई धातु अन्य कला-कौशल के कामो मे अथवा औद्योगिक विकास के कामो मे लगाई जा सकती है। इसीलिए एडम स्मिथ ने पत्र-मुद्रा की तुलना हवा मे उडने वाले रेल के डिब्बे मे की है, जिससे सामान ले जाने का काम तो होता ही है और साथ मे नीचे की जमीन मे खेती भी की जा सकती है।

२. **मितव्ययता**—धातु-मुद्रा ढालने के लिए जो आवश्यक श्रम, पूंजी आदि लगते हैं उनका किसी दूसरे जन-उपयोगी उद्योगो मे लगाकर उत्पादन मे वृद्धि की जा सकती है तथा चलन से बचाई गई मूल्यवान् धातुओ को देश मे उद्योगो की वृद्धि के लिए तथा विदेशों मे आवश्यक वस्तुएँ खरीदने के लिए उपयोग मे लाया जा सकता है अथवा उनका विदेशों मे विनियोग कर अधिक आय कमाई जा सकती है।

३. **वहनीयता**—पत्र-मुद्रा वजन मे हलकी होने के कारण उसका उपयोग करने मे अधिक सुविधा होती है। उसी प्रकार बडी-बडी रकमों का भुगतान करने मे भी अधिक सुविधा रहती है। उदाहरणार्थ, १०० रु० का नोट और १ रु० का नोट। इन दोनों के वजन मे कोई अन्तर नही होता और इनको साथ मे ले जाना भी सुगम होता है परन्तु वही १०० रु० की धातु-मुद्रा भारी होती है। दूसरे इस प्रकार की मुद्रा स्थानान्तरण के लिए सस्ती भी होती है क्योकि डाकखाने से बीमे द्वारा कम कीमत मे भेजी जा सकती है जो कि सिक्का मे सम्भव नही होता। उसी प्रकार गिनती करने मे भी सुगमता होती है।

४ **लेन-देन मे सुगमता**—यदि आपके पास हजार रुपय के नोट है तो किसी को इसका ज्ञान भी नही हो सकता किन्तु सिक्का मे अथवा धातु-मुद्रा मे ऐसा नही होता जिससे दूसरे लोगो को ईर्ष्या होती है तथा जीवन का भी सकट रहता है।

५ **निर्माण करने मे कम व्यय**—इसके बनाने के लिए थोडे से व्यक्ति तथा एक मुद्रण-मशीन की तथा कागज की आवश्यकता होती है। अत धातु-मुद्रा की अपेक्षा इस प्रकार की मुद्रा बनाने मे सुगमता एव मितव्ययता है। इस प्रकार श्रम एव पूंजी जो सिक्का ढलाई मे लगती है उसमे बचत होकर इसका निर्माण-व्यय कम होता है।

६. **लोच**—इसका चलन माँग के अनुसार कम या अधिक किया जा सकता है जो धातु-मुद्रा चलन मे सम्भव नही होता। कारण यह है कि मुद्रा-धातु—सोना, चाँदी—का उत्पादन सीमित होना है परन्तु इसमे ऐसा नही है। पत्र-मुद्रा के सकुचन तथा प्रसार की यह क्रिया शीघ्र गति से होती है क्योकि इसको बनाने मे केवल कागज की आवश्यकता होती है।

७. **सरकार को लाभ**—सरकार को आवश्यकता के समय कुछ निश्चित ब्याज पर ऋण लेना पडता है परन्तु जब सरकार की साख गिर जाती है अथवा जनता का विश्वास सरकार मे उठ जाता है तब उसे जनता से रुपया उधार लेना सम्भव नही होता, अथवा सरकार को रुपया उधार लेने के लिए अधिक ब्याज का प्रलोभन देना पडता है। ऐसे समय मे सरकार पत्र-मुद्रा का चलन बढाकर अपनी इस आवश्यकता की पूर्ति कर सकती है। अधिक ब्याज की दर पर यदि सरकार ऋण लेती है तो ब्याज का सन्तुलन नही रहता जिसके लिए सरकार को अधिक कर लगाने की आवश्यकता होती है। परन्तु ऐसे समय मे सरकार अधिक कर लगाकर जनता का रोष अपने ऊपर लेने की अपेक्षा पत्र-मुद्रा चलन बढाकर आय व्यय बजट का सन्तुलन कर सकती है। इस प्रकार पत्र-मुद्रा चलन से सरकार को भी लाभ होते है, किन्तु देश एव जनहित की दृष्टि से सरकार को पत्र-मुद्रा पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है जिससे उसके चलनाधिक्य से होने वाली हानि न हो।

पत्र-मुद्रा के दोष

प्रत्येक वस्तु मे यदि गुण है तो दोष भी है। यह तो हम बता चुके है कि इसका मूल्य सरकार की अथवा जो अधिकोष इसे चलाता है उसकी साख पर निर्भर रहता है। इसका मूल्य कानून से निश्चित किया जाता है एव सर्वमान्य होता है। अत राष्ट्रीय सकट काल मे इसमे जनता का अविश्वास हो जाता है तथा कीमतें भी बढने लगती है। सरकार भी अपने खर्चों को पूरा करने के लिए माँग की चिन्ता न करते हुए नोटो का चलन बढाती जाती है जिससे मुनाफाखोरो की बन पडती है तथा व्यापारीवर्ग मे अनैतिकता का बोलबाला होता है। इसके मुख्य दोष निम्नलिखित है —

१. **पत्र-मुद्रा राष्ट्रीय मुद्रा है**—जिस देश की सरकार इसको प्रचलित करती है उसी देश की सीमा म इसका चलन होता है। विदेशी इसको भुगतान मे स्वीकार नही करते, वे केवल मूल्यवान् धातु-मुद्रा ही स्वीकार करते है। अत यह अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा न है और न हो ही सकती है।

२ **धातु-मुद्रा की अपेक्षा पत्र-मुद्रा में मूल्य स्थिरता की कमी है**—पत्र-मुद्रा का चलन सरकारी नीति पर निर्भर होता है तथा अधिक प्रसार होने से इसके मूल्य कम होते हैं एवं वस्तुएँ महँगी होती हैं, जिससे सामाजिक तथा आर्थिक हानि होती है। इस प्रकार की सम्भावना धातु मुद्रा में नहीं होती क्योंकि मुद्रा धातुओं का उत्पादन सीमित है। अतः मुद्रा प्रसार की सम्भावना के कारण इसके मूल्य स्थाई नहीं रहते अपितु बदलते रहते हैं।

३ **पत्र-मुद्रा शीघ्र नष्टवान है**—तेल या पानी से भीग जाने पर नोट खराब हो जाते हैं, उनके ऊपर का अङ्क (note number) मिट जाता है जिससे उनका मूल्य कागज के टुकड़े से अधिक नहीं रहता अर्थात् नहीं के बराबर हो जाता है।

४ **चलनाधिक्य का भय**—पत्र मुद्रा में चलनाधिक्य का भय सदैव बना रहता है। पत्र मुद्रा के चलन में यह आवश्यक नहीं होता कि पूरे चलन के बराबर धातु कोष में रखा जाए। इसलिए सरकार अथवा नोट चलाने वाली संस्था कठिनाई के समय पत्र मुद्रा का चलन बढ़ा सकती है जिससे कीमतें बढ़ जाती हैं और देश की जनता को हानि उठानी पड़ती है और कभी-कभी तो यह चलन इतना अधिक हो जाता है कि उसका मूल्य नहीं के बराबर हो जाता है और जनता उसे लेने से इनकार कर देती है।

५ **पत्र मुद्रा**—वास्तविक मुद्रा न होते हुए इसका मूल्य केवल सरकार की अथवा पत्र मुद्रा चलाने वाली संस्था की साख के ऊपर निर्भर रहता है।

अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा चलन से होने वाली हानियाँ

अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा चलन में सदैव आवश्यकता से अधिक प्रसार होने की सम्भावना रहती है विशेषतः सङ्कट-काल तथा युद्ध-काल में। अधिक प्रसार के कारण पत्र मुद्रा का मूल्य वस्तुओं के रूप में गिर जाता है अर्थात् उसी रकम से कम वस्तुएँ खरीदी जाती हैं तथा मुद्रा स्फीति (inflation) के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं जिस से धातु मुद्रा का—जो पत्र मुद्रा से स्थिति में अच्छी होती है—सचय करने का प्रत्येक व्यक्ति प्रयत्न करता है। इस प्रकार सचित की हुई धातु मुद्रा या तो भूमिगत होती है या गलाई जाती है या विदेशी लनदारों के भुगतान के लिए उपयोग में लाई जाती है। वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाने से स्थायी आय वाले लोगों को लेनदारों को तथा उपभोक्ताओं को हानि होती है। इसी प्रकार विदेशी व्यापार में भी बाधा आती है। वस्तुओं की कीमत बढ़ने से आयात अधिक होता है और निर्यात कम होता है। किन्तु यह

तभी होता है जब ऐसी अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा उससे विचलित हुई धातु-मुद्रा से अधिक परिमाण मे चलन मे आती है।

अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा के चलनाधिक्य के लक्षण

१ **धातु-मुद्रा का विचलन** (Displacement or Disappearance of Standard Metallic Money)—इस मुद्रा का माँग से अधिक प्रसार होते ही वस्तुओ की कीमतें बढने लगती है। अर्थात् पत्र मुद्रा का मूल्य धातु मुद्रा के मूल्य से कम हो जाता है। कारण यह है कि जनता का विश्वास पत्र मुद्रा से उठ जाता है। इसलिए, जैसा कि ऊपर बताया गया है, धातु-मुद्रा का सचय होने लगता है और धातु मुद्रा का विचलन होकर केवल पत्र मुद्रा ही चलन मे रहती है।

२ **स्वर्ण पर प्रव्याजि** (Premium on Gold)—धातु-मुद्रा और पत्र-मुद्रा के मूल्यो मे अन्तर पडते ही समाज पत्र-मुद्रा के बदले में धातु मुद्रा लेना चाहता है, इस कारण तुलनात्मक दृष्टि से धातु मुद्रा का मूल्य पत्र मुद्रा से बढ जाता है। उदाहरणार्थ, १०० रु० के नोट के बदले में केवल ९० चाँदी के रुपये दिए जाना (इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे देश मे द्वितीय महायुद्ध का है)। इसका अर्थ यह है कि धातु मुद्रा अर्थात् स्वर्ण पर प्रव्याजि देनी पडती है, और जो लोग विदेशो में भेजने के लिए सोना चाहते हैं उनको १०० रु० के सोने के बदले मे १०० रु० से कुछ अधिक रुपये के नोट देने पडते हैं, क्योंकि विदेशियों का भुगतान स्वर्ण मे ही करना पडता है।

३ **विनिमय-दर मे वृद्धि** (Rise in the Rate of Foreign Exchange)—जब स्वर्ण पर प्रव्याजि लगने लगती है तब विदेशी विनिमय की दर में भी वृद्धि होती है। जिस दर पर विदेशी हुण्डियाँ बिकती हैं, उसे विनिमय की दर कहते हैं। इन हुण्डियो का भुगतान धातु मुद्रा म करना पडता है—अर्थात् आम तौर से सोने मे। इसका स्पष्ट अर्थ है कि स्वर्ण पर प्रव्याजि लगते ही विदेशी विनिमय दर म वृद्धि होती है, जिससे आयात करने वाले व्यापारी को कम लाभ होता है और निर्यात म होने वाला लाभ कम हो जाता है। परिणामस्वरूप विदेशी व्यापार विस्थापित हो जाता है और आयात की हुई वस्तुओ की कीमत बढ जाती है।

४ **कीमतो मे वृद्धि** (Rise in Prices)—विनिमय दर म वृद्धि होने से आयात वस्तुओ के मूल्य मे तो वृद्धि होती ही है किन्तु अन्य वस्तुओ के मूल्यो मे भी वृद्धि होती है जैसा कि हम ऊपर (१) मे स्पष्ट कर चुके है।

किन्तु यह तभी होता है जब मुद्रा-प्रसार विस्थापित धातु-मुद्रा के परिमाण से अधिक परिमाण में हो।

५. पत्र-मुद्रा के मूल्य में कमी (Depreciation of Paper Money)—धातु-मुद्रा के विचलन के साथ ही पत्र-मुद्रा के मूल्य में कमी आती है। जैसे-जैसे अधिकाधिक मात्रा में धातु मुद्राओं का विचलन होता है, पत्र-मुद्रा का मूल्य गिरता जाता है और एक समय ऐसा आता है जब जनता अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा को लेने से इनकार कर देती है। इस प्रकार देश में पत्र-मुद्रा के मूल्य की गिरावट से समाज उसे लेने से भी इनकार कर देता है।

पत्र-मुद्रा कौन सचालित करे ?

पत्र-मुद्रा का सचालन बैंक के द्वारा किया जाय या सरकार के द्वारा ? यह प्रश्न प्रारम्भ से ही विवादग्रस्त रहा है, तथा इसका सचालन देश में केवल एक ही बैंक करे अथवा अनेक बैंक करें, यह भी एक समस्या है। यहाँ पर हम पत्र-मुद्रा-सचालन सरकार के अधिकार में हो अथवा बैंकों के, इसका विवेचन करेंगे। इन दोनों पक्षों में सदा वाद-विवाद होता रहा है। एक वर्ग सरकार की ओर से पत्र-मुद्रा के सचालन का समर्थक है तथा दूसरा वर्ग बैंकों के द्वारा सचालन हो, इस मत का समर्थक है।

सरकारी सचालन के पक्ष में तर्क

जो वर्ग सरकारी नोट के सचालन का समर्थन करता है उसका कहना है कि—

(१) सरकारी पत्र-मुद्रा के चलन में अधिक सुरक्षितता होती है, क्योंकि उसकी परिवर्तनशीलता तथा जनता का विश्वास कायम रखने के लिए देश की सब सम्पत्ति निधि के रूप में रहती है।

(२) सरकार पत्र-मुद्रा का चलन अधिक परिमाण में नहीं करेगी क्योंकि परिवर्तनशीलता रखने के लिए उसका प्रत्येक कार्य बहुत सोच विचार के बाद ही किया जाएगा।

(३) पत्र-मुद्रा चलन से होने वाला लाभ सरकारी खज़ाने में रहेगा जिसका उपयोग सामाजिक हितों में ही होगा, जो हिस्सेदारों के बैंक से सम्भव नहीं है।

(४) चूँकि देश के लेन-देन एवं मुद्रा की व्यवस्था प्राचीन काल से ही सरकार करती आई है इसलिए पत्र-मुद्रा-सचालन का अधिकार भी उसी को होना चाहिए।

सरकारी सचालन के विपक्ष मे तर्क

(१) इसके विपरीत दूसरे वर्ग का कथन है कि पत्र मुद्रा-सचालन यदि सरकार के हाथ म रहे तो उसम लाभ नही रहेगा क्योकि सरकारी कार्य ढिलाई से और बहुत सोच विचार के उपरान्त किया जाता है। अत मुद्रा की आर्थिक आवश्यकता होते ही उसकी पूर्ति नही हो सकती।

(२) सरकार की भी अपनी आर्थिक आवश्यकताएँ होती है, अत ऐसे *समय मे सरकार जनहित का ध्यान न रखते हुए एव अधिक मुद्रा की माँग न* होते हुए भी, पत्र-मुद्रा प्रसार कर देगी जिससे व्यापारी वर्ग एव देश के हितो को हानि पहुँचेगी।

(३) सरकार का देश के व्यापारी वर्ग से किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही रहता। अत किसी समय मुद्रा की कितनी आवश्यकता है यह वह ठीक प्रकार स नही जान सकती। इसका समुचित ज्ञान तो केवल बैंको को ही होता है। अब रहा केवल पत्र मुद्रा चलन स होने वाले लाभ का प्रश्न, सो इसके लिए यह उपाय है कि कुछ निश्चित मात्रा मे लाभाश वितरण के बाद जो लाभ शेष रहे वह सरकारी खजाने म जाना चाहिए।

अत इन दोषो को देखते हुए पत्र मुद्रा-सचालन का काम बैंको द्वारा ही होना चाहिए जिससे पत्र मुद्रा मे लोच रहे। अर्थात् उसका प्रसार एव सकुचन माँग के अनुसार रहे जो केवल बैंक ही कर सकता है। इसके अतिरिक्त बैंको का साख मुद्रा के ऊपर नियन्त्रण होने से वे पत्र मुद्रा का प्रसार एव सकोच आवश्यकता के अनुसार कर सकते है, जो सरकार के लिए सम्भव नही होता। बैंक का व्यापारी वर्ग से दैनिक सम्बन्ध रहता है तथा नकद रकम के लेन-देन से वह मुद्रा की आवश्यकता का ठीक अन्दाज लगा सकता है। जहाँ तक सुरक्षा एव परिवर्तनशीलता का प्रश्न है, इसके लिए सरकार बैंक को पत्र-मुद्रा-चलन का कुछ भाग सोना या चाँदी म रखने को कानून द्वारा बाध्य करे। इस प्रकार यदि पत्र मुद्रा का सचालन बैंक द्वारा होगा तो उसम सुरक्षा, परिवर्तनशीलता, लोच तथा एकरूपता रहेगी। इसके अतिरिक्त बैंक की सरकार की तरह निजी आर्थिक आवश्यकताएँ न होने मे पत्र मुद्रा प्रसार की सम्भावना भी न रहेगी।

एक अथवा अनेक बैंको द्वारा पत्र-मुद्रा-सचालन—अब यह प्रश्न उठता है कि पत्र मुद्रा का प्रसार एव सचालन एक बैंक द्वारा हो अथवा अनेक बैंको द्वारा। ब्रिटन के इतिहास से अथवा भारत के इतिहास से (जब प्रेसीडेन्सी

बैंकों द्वारा पत्र-मुद्रा-सचालन होता था) स्पष्ट है कि उसमें अनेक दोष थे। पहिले तो भिन्न भिन्न बैंकों द्वारा सचालित मुद्राएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की थी जिससे समानता न होने से खरी या खोटी मुद्रा पहिचानी जा सकती थी। दूसरे, जिस बैंक की मुद्रा ज्यादा माँगी जाती है इस सम्बन्ध में बैंकों में प्रतिस्पर्धा होती है जो जनहित की दृष्टि से हानिकारक है। तीसरे, पत्र-चलन निधि प्रत्येक बैंक को अपने पास रखनी पड़ती है जिससे निधि के लिए अधिक मुद्रा की आवश्यकता पड़ती है अर्थात् इसमें मितव्ययता नहीं होती और न इनका राष्ट्रीय सकट काल में शीघ्र एकत्रीकरण ही हो सकता है। चौथे, भिन्न-भिन्न बैंकों द्वारा मुद्रा सचालन के नियन्त्रण एव निरीक्षण में भी सुगमता नहीं होती क्योंकि भिन्न भिन्न बैंकों की भिन्न-भिन्न सचालन नीति होती है।

अत इन सब त्रुटियो को दूर करने की दृष्टि से पत्र मुद्रा-सचालन का अधिकार देश के केन्द्रीय बैंक को होना चाहिए, जिससे निम्नलिखित लाभ होते हैं—(१) पत्र-मुद्रा-सचालन में सुगमता, (२) पत्र-मुद्रा में एकरूपता रहती है जिससे जालसाजी का भय न रहते हुए खरी खोटी मुद्रा पहिचानी जा सकती है, (३) पत्र मुद्रा चलन का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक को प्राप्त होने के कारण वह लाभ प्रेरित नहीं होती, (४) पत्र-चलन निधि *एक ही स्थान पर* रहने के कारण उसमें मितव्ययता रहती है तथा वह सकट काल में उपयोगी हो सकती है, (५) पत्र-चलन की नीति एक ही बैंक के अधिकार में होने के कारण उसका *नियन्त्रण एव परीक्षण भी सुगम होता है*। ऐसे पत्र-मुद्रा-चलन को सरकार की मान्यता भी प्राप्त होती है जिससे जनता का विश्वास अडिग रहता है। इन सब बातों को देखते हुए केन्द्रीय बैंक को ही पत्र-मुद्रा-सचालन का एकाधिकार मिलना चाहिए।

पत्र-मुद्रा-चलन के सिद्धान्त

पत्र-मुद्रा-चलन की दो प्रणालियाँ दो सिद्धान्तो के अनुसार हैं। ये सिद्धान्त विभिन्न दलों द्वारा प्रकट किए गए है—पहिला चलित-मुद्रा सिद्धान्त (currency principle) तथा दूसरा बैंकिंग सिद्धान्त (banking principle)।

चलित-मुद्रा सिद्धान्त के समर्थकों का कथन है कि पत्र-मुद्रा-चलन को पूर्णत सुरक्षित करने के लिए पत्र-मुद्रा-चलन के मूल्य के बराबर ही धातु निधि रखी जानी चाहिए। इस प्रकार पत्र-मुद्रा-चलन का प्रसार एव सकोच धातु निधि की कमी अथवा अधिकता पर निर्भर रहना चाहिए क्योंकि पत्र-मुद्रा-चलन का मूल हेतु धातु-मुद्रा को विचलित करके मूल्यवान धातुओं की

घिसावट की बचत करने का है। इस तत्व के अनुसार मुद्रा-चलन मे लोच नही रहती अर्थात् पत्र-मुद्रा चलन व्यापारिक आवश्यकतानुसार घटाया या बढाया नही जा सकता बल्कि उसका प्रसार या सकोच धातु निधि की कमी या अधिकता पर निर्भर रहेगा। दूसरे, इस पद्धति मे सोने या चाँदी की बचत नही हो सकती है, किन्तु चलनाधिक्य से सुरक्षा तथा परिवर्तनशीलता रहती है। साराश, इसमे मितव्ययिता तथा लोच का अभाव, ये दोष एव चलनाधिक्य से सुरक्षा तथा परिवर्तनशीलता, ये गुण है।

बैंकिंग सिद्धान्त के समर्थकों का कथन है कि विनिमय-माध्यम का कार्य अच्छे प्रकार से होने के लिए मुद्रा का आवश्यकतानुसार प्रसार तथा सकोच होना आवश्यक है, अर्थात् चलन मे लोच होना चाहिए। अत इस लोच के लिए आवश्यक है कि बैंक, मुद्रा का कितना चलन रहे इस सम्बन्ध मे स्वतन्त्र हो। किन्तु ऐसी परिस्थिति मे पत्र-मुद्रा म परिवर्तनशीलता तथा सुव्यवस्थितता एव सुरक्षा के हेतु बैंकिंग पद्धति का अवलम्बन भी होना आवश्यक है क्योकि लोच रखने का कार्य जनता तथा व्यापारी वर्ग के सम्पर्क मे रहने के कारण बैंक ही अच्छी तरह कर सकता है। इस प्रणाली मे चलनाधिक्य का भय नही रहता तथा धातु मुद्रा के सब गुण इसमे रहते हैं एव इसके उपयोग मे वहनीयता, सुगमता और बनाने मे सस्तापन रहता है।

इन दोनो प्रणालियो मे गुण दोष तो है ही क्योकि चलित-मुद्रा-तत्व प्रणाली मे लोच का अभाव रहता है तो दूसरी प्रणाली मे सुरक्षा कम होती है एव चलनाधिक्य का भय रहता है। अत पत्र-मुद्रा-चलन की अच्छी पद्धति वही है जिसमे इन दोनो का सगम हो, जिससे सुरक्षा तथा परिवर्तनशीलता के साथ पत्र-चलन मे लोच हो। अत बैंकिंग तत्व प्रणाली मे धातु निधि अथवा अन्य साधनो का नियोजन करके सुरक्षा का गुण लाया जा सकता है।

अब हम पत्र-मुद्रा-चलन की विभिन्न पद्धतियाँ कौन-कौनसी हैं तथा उनमे सुव्यवस्था कैसे लाई जाती है, यह देखेंगे।

पत्र-मुद्रा नियमन (Regulation) की पद्धति

पत्र-मुद्रा-चलन की विधियो का अध्ययन करने के पूर्व पत्र-मुद्रा-चलन मे कौनसी विशेषताएँ अथवा कौनसे तत्व होने चाहिए यह हम देखलें। पत्र-मुद्रा-चलन प्रणाली वही अच्छी समझी जाती है जिसमे नीचे दिये हुए गुण होते हैं —

१. लोच (elasticity), २ मितव्ययता (economy), ३. परिवर्तन-

शीलता (convertability), तथा ३ अधिक चलनाधिक्य से बचाव अथवा सुरक्षा (security against over-issue)।

किसी भी देश की मुद्रा मे लोच होना आवश्यक है जिससे वह माँग के अनुसार बढाई या घटाई जा सके। पत्र-मुद्रा का मुख्य हेतु मूल्यवान मुद्रा-धातु सोना चाँदी की बचत करके उसे अन्य उपयोग मे लाना है। इसलिए पत्र-मुद्रा-चलन वही अच्छा है जिसमे कम से कम मात्रा मे सोने या चाँदी की आवश्यकता पडे। अत उसमे मितव्ययिता (economy) का गुण होना चाहिए। इसका मतलब यह नहीं कि पत्र-मुद्रा परिवर्तनीय न हो क्योंकि यदि माँगने पर उसके बदले मे धातु-मुद्रा या सोना चाँदी नही दिया जाता तो उसमे जनता विश्वास खो बैठती है, इसलिए पत्र-मुद्रा-चलन मे परिवर्तनशीलता भी होनी चाहिए। अत इस परिवर्तनशीलता को रखने के लिए पत्र-मुद्रा सचालक को कुछ न कुछ सोना या चाँदी अपने निधि मे रखना पडता है जिस पर सरकारी नियन्त्रण एव निरीक्षण रहता है। पत्र-मुद्रा-चलन का दोष उसके चलनाधिक्य मे है, यह हम ऊपर बता चुके हैं। इस चलनाधिक्य मे समाज को तथा व्यापारी वर्ग को अनेक हानियाँ होती हैं अत ममता की दृष्टि से इसमे बचने के उपाय भी होने चाहिए।

इस चलनाधिक्य से बचने के लिए तथा पत्र मुद्रा की परिवर्तनशीलता कायम रखने के लिए सरकार धातु निधि को कानून द्वारा नियन्त्रित करती है अथवा पत्र-मुद्रा-चलन का अधिकतम आँकडा निश्चित कर देती है, जिससे अधिक पत्र-मुद्रा का चलन नही बढाया जा सकता। परन्तु ऐसी दशा मे सरकार बैंक को सकटकाल मे अतिरिक्त पत्र-मुद्रा चलाने का अधिकार दे देती है। ऐसी सकटकालीन पत्र-मुद्रा (emergency currency) केवल व्यापारिक विपत्रो के आधार पर चलाई जाती है। इस प्रकार का अधिकार भारत मे इम्पीरियल बैंक को था जब वह अधिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए १२ करोड रुपय का पत्र-चलन कर सकता था। ये आँकडे कालमान तथा परिस्थिति के अनुसार बदले जाते है। पत्र मुद्रा चलन निधि रखने की भी विभिन्न पद्धतियाँ हैं।

पत्र-चलन की विभिन्न विधियाँ

१. निश्चित अधिकतम पत्र-चलन पद्धति (Fixed Maximum Note Issue)—इस पद्धति मे कानून से पत्र-मुद्रा की अधिकतम मात्रा निश्चित कर दी जाती है जिससे अधिक पत्र-मुद्रा का चलन नही हो सकता। इसमे धातु निधि

(metallic reserve) का पत्र-मुद्रा-चलन से कोई सम्बन्ध नहीं होता। धातु निधि को बढ़ा भी दिया जाए फिर भी निश्चित मात्रा से अधिक पत्र-मुद्रा का चलन कानून से नहीं किया जा सकता, जब तक परिवर्तन न हो। सामान्यत यह पत्र-चलन की अधिकतम संख्या का आँकड़ा अवश्य पत्र-मुद्रा की संख्या से अधिक ही निश्चित किया जाता है। यह अधिकतम आँकड़ा समय-समय पर देश की व्यापारिक एवं आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार बदला जाता है। इस प्रकार पत्र-मुद्रा-चलन पद्धति इङ्गलैण्ड में १९३९ में थी। इस पद्धति में पत्र-मुद्रा-चलन में लोच नहीं रहती क्योंकि अधिकतम मात्रा आवश्यकता पड़ने पर तत्काल नहीं बढ़ाई जा सकती। दूसरे, यह अधिकतम मात्रा किसी भी समय विधान परिषद् द्वारा बढ़ाई जा सकने के कारण मुद्रा-प्रसार की अधिकता की सम्भावना बनी रहती है, जिससे मुद्रा-स्फीति का भय बना रहता है। इसमें एक लाभ यह अवश्य है कि अधिकोष अथवा सचालक आवश्यकता के समय पत्र-मुद्रा निधि का उपयोग करने में स्वतन्त्र रहता है, जिससे किसी भी समय मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए इस निधि का उपयोग किया जा सकता है। पत्र-मुद्रा के कानूनी नियन्त्रण के लिए यह पद्धति सबसे अच्छी मानी गई है।[1]

२. **साधारण निधि पद्धति** (Simple Deposit Method)—इसमें पत्र-मुद्रा-चलन के मूल्य के बराबर सोने या चाँदी में धातु निधि रखना आवश्यक है अर्थात् इस प्रकार की पत्र-मुद्रा प्रतिनिधि होती है। इस पद्धति में लोच तथा मितव्ययता का अभाव रहता है। इसमें सुरक्षा तथा परिवर्तन-शीलता, ये लाभ भी है, किन्तु यह पद्धति कहीं भी उपयोग में नहीं है।

३ **न्यूनतम निधि पद्धति** (Minimum Reserve Method)—इस पद्धति में निधि में कितना सोना या चाँदी कम से कम होना चाहिए यह विधान द्वारा निश्चित किया जाता है। इससे कम निधि नहीं हो सकती, चाहे पत्र-मुद्रा कितनी ही मात्रा में चलन में क्यों न रहे। इस पद्धति में लोच, मितव्ययता तथा परिवर्तनशीलता, ये गुण है। इस पद्धति में सबसे बड़ा खतरा यह है कि यदि जनता को जरा भी सन्देह हो जाए कि अब पत्र-मुद्रा का परिवर्तन नहीं हो सकता तो पत्र-मुद्रा के परिवर्तन की माँग बढ़ जाएगी जिसे बैंक पूर्ण न कर सकेगा। फलत निधि रखने का जो हेतु है वह हेतु सफल नहीं होगा।

1 *A Treatise on Money* by Keynes

अत. व्यावहारिक दृष्टि से यह पद्धति उपयोगी नही है।[1] भारत में १९५८ से यह पद्धति चालू की गई है।

४. निश्चित प्रतीक पत्र-मुद्रा-चलन पद्धति (Fixed Fiduciary Note-issue)—इस पद्धति के अनुसार धातु निधि न रखते हुए एक निश्चित मात्रा मे पत्र-मुद्रा का चलन हो सकता है परन्तु उसमे अधिक चलन होने पर बराबरी से सोना या चाँदी धातु निधि में रखना अनिवार्य है। इसका अवलम्ब इङ्गलैण्ड मे बैंक चार्टर एक्ट १८८४ के अनुसार हुआ था। उस समय प्रतीक पत्र-मुद्रा की अधिकतम सख्या १४ मिलियन पौंड थी। १९३९ के पहिले यह अधिकतम मर्यादा २७५ मिलियन पौंड थी जो १९३९ के करेंसी एव बैंक नोट एक्ट द्वारा ६३० मिलियन पौंड कर दी गई तथा क्रमश बढ़ते-बढ़ते यह आँकडा २३ अगस्त १९४४ मे १२०० मिलियन पौंड हो गया था। इङ्गलैण्ड मे यह आँकडा सन् १९२८ में २६० मिलियन पौंड था। इसका मतलब यह नही कि धातु निधि इस पद्धति म नहीं रखी जाती किन्तु धातु निधि जितने मूल्य की होती है उतना पत्र मुद्रा-प्रसार तो बैंक कर ही सकता है। मर्यादा केवल उस पत्र मुद्रा-चलन के लिए है जो अरक्षित है अथवा जिसके लिए धातु निधि नही है। प्रतीक पत्र-मुद्रा के बदले मे बैंक ऑव इग्लैण्ड को प्रतिभूतियाँ, विनियोग पत्र आदि निधि मे रखने पडते है। इसी पत्र-मुद्रा का चलन निश्चित मर्यादा से बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि जितने मूल्य की पत्र-मुद्रा की वृद्धि चलन मे हो उतने ही मूल्य मे धातु निधि म वृद्धि की जानी चाहिए। इसलिए इस पद्धति म न तो मितव्ययिता होती है और न लोच रहती है। दूसरे, सोना-चाँदी निधि मे कम हो जाने पर उतने मूल्य की पत्र-मुद्रा का सकुचन करना आवश्यक हो जाता है चाहे माँग अधिक चलन के लिए क्यो न हो। अत इस पद्धति की कार्यप्रणाली म सुगमता का भी अभाव है। इन दोषों का निवारण तभी हो सकता है जब निधिविहीन अथवा अरक्षित पत्र-मुद्रा-चलन की मर्यादा का आकडा बहुत अधिक हो। इस पद्धति म यह लाभ अवश्य है कि पत्र-चलन म सुरक्षितता रहती है और चलनाधिक्य का भय नही रहता। यह पद्धति तीसरी पद्धति से अधिक अच्छी होती है क्योंकि इसम कुल पत्र-चलन का अश स्वर्ण मे निधि के रूप मे रखना पडता है। इसीलिए इस पद्धति को आंशिक निधि पद्धति (partial deposit method) कहते है।

५. आनुपातिक निधि पद्धति (Proportional Reserve

---

[1] *Money* by Kinlay, p 3762.

Method)—इस पद्धति के अनुसार पत्र-मुद्रा-चलन तथा धातु निधि का अनुपात निश्चित कर दिया जाता है, अर्थात् पत्र-चलन का कितना प्रतिशत धातु निधि बैंक में होनी चाहिए। यह निधि सरकार की अनुमति से कम या अधिक की जा सकती है। इसको अमेरिका, इङ्गलैण्ड, भारत आदि देशों में अपनाया गया है। शेष पत्र-मुद्रा-चलन का भाग उतने ही मूल्यों के विनियोगों (gilt-edged securities or investments) द्वारा सुरक्षित किया जाता है जिसको प्रतीक अथवा अरक्षित भाग कहते हैं। इस पद्धति में लोच, मितव्ययिता तथा चलनाधिक्य से सुरक्षा एवं परिवर्तनशीलता भी रहती है। इसीलिए इस पद्धति का अवलम्बन सब देशों में है। प्रो० कीन्स के मतानुसार इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें निश्चित मूल्य का सोना-चाँदी व्यर्थ ही निधि में रखा जाता है जो पत्र-मुद्रा परिवर्तन के लिए भी विशेष आवश्यक नहीं होता।

६ आनुपातिक न्यूनतम स्वर्ण-निधि पद्धति (Percentage Method with Minimum Gold Reserve)—यह पद्धति उपरोक्त पाँचवीं पद्धति का संशोधित रूप है जो आजकल अनेक देशों में उपयोग में है। इस पद्धति के अनुसार आनुपातिक निधि का कुछ अंश स्वर्ण तथा चाँदी में देश के भीतर रखा जाता है तथा शेष भाग दूसरे देश के साख पत्रों में अथवा विदेशी बैंकों की हुण्डियों में रखा जाता है। स्वर्ण एवं चाँदी का जो भाग देश में रखा जाता है उसकी राशि निश्चित होती है जिसमें किसी भी समय कमी नहीं आनी चाहिए। इस पद्धति में सोने या चाँदी में बचत होती है एवं पाँचवीं पद्धति के भी लाभ प्राप्त होते हैं। भारत में १९५८ तक यही पद्धति थी।

मुद्रा-चलन पद्धति वही अच्छी होती है जिसमें लोच, मितव्ययिता, परिवर्तनशीलता तथा चलनाधिक्य से सुरक्षा हो। सबसे अच्छी पद्धति तो यह है कि देश के केन्द्रीय बैंक के हाथ में इसका चलन सौंप दिया जाए तथा चलन की कमी या अधिकता तथा धातु निधि का नियोजन वह अपनी इच्छानुसार करे। हाँ, जनता की सुरक्षा तथा परिवर्तनशीलता की दृष्टि से सरकार उस बैंक पर दो मर्यादाएँ लगादे—एक तो न्यूनतम धातु निधि कितनी रखी जाए, तथा दूसरे, अधिक से अधिक कितने मूल्य की पत्र-मुद्रा का चलन हो। इन दोनों मर्यादाओं में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किये जाएँ क्योंकि किसी भी पद्धति का अवलम्बन उस देश की जनता की प्रकृति, सोना या चाँदी की उपलब्धता तथा मुद्रा बाजार (money market) की परिस्थिति पर निर्भर रहता है।

उपर्युक्त पद्धतियों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि पहली, दूसरी तथा

चौथी पद्धति चलित-मुद्रा तत्व पर आधारित है तथा तीसरी, पाँचवी एव छठी पद्धति बैंकिंग तत्व पर आधारित है।

मुद्रा का विकास

इस अध्याय मे तथा पिछले अध्यायो मे हमने मुद्रा का किस प्रकार विकास हुआ इसका सूक्ष्म अध्ययन किया, जिसका साराश नीचे दिया जाता है —

१ प्रारम्भिक अवस्था मे विनिमय की आवश्यकता नही थी, किन्तु जब आवश्यकता प्रतीत होने लगी उस समय वस्तु विनिमय से काम होने लगा।

२ वस्तु-विनिमय की कठिनाइया दूर करने के लिए माध्यम का उपयोग होने लगा जिसे हम मुद्रा कह सकते हैं। क्रमश विभिन्न वस्तुएँ मुद्रा के रूप मे उपयोग मे आई और कुछ न कुछ कठिनाई के कारण उनका स्थान धातु अर्थात् सोने एव चाँदी की मुद्रा ने ग्रहण किया।

३ धातु-मुद्रा-सचालन कार्य में सुरक्षितता लाने के लिए सरकार का प्रवेश हुआ तथा आगे चलकर पत्र-मुद्रा तथा बैंक-मुद्रा का आवश्यकतानुसार निर्माण एव विकास हुआ जिससे मुद्रा मे लोच आई।

४ सरकार के हस्तक्षेप के उपरान्त क्रमश अधिकाधिक सुरक्षा लाने की दृष्टि से मुद्रा-सचालन का कार्य पूर्ण निरीक्षण एव नियन्त्रण मे होने लगा।

मुद्रा-विकास की य चार सीढियाँ (stages) हैं।

साराश

पत्र-मुद्रा—कागज पर किसी सरकार अथवा अधिकृत सस्था के विशेष चिह्नो द्वारा माँग पर निश्चित सख्या मे प्रधान मुद्रा देने का वायदा है।

पत्र-मुद्रा का उद्गम—कागज का सशोधन होने के पहले बहुमूल्य धातु की बचत करने के हेतु पेड की छाल, चमडे इत्यादि का मुद्रा के लिए उपयोग। सर्वप्रथम ६वीं शताब्दी के लगभग चीन मे पत्र-मुद्रा का उपयोग विशेष रूप से १७वी शताब्दी के प्रारम्भ मे विश्व मे पत्र-मुद्रा का उपयोग होने लगा। १८वीं शताब्दी मे लगभग सभी देशो मे प्रसार। भारत मे सर्वप्रथम सन् १८०६ मे पत्र-मुद्रा का उपयोग।

पत्र-मुद्रा के प्रकार—१ प्रतिनिधि; २ परिवर्तनीय; ३. अपरिवर्तनीय।

प्रतिनिधि—जो धातु-मुद्रा का प्रतिनिधित्व करे अर्थात् जितने मूल्य की पत्र-मुद्रा-चलन मे हो उसके पूर्ण मूल्य के बराबर धातु निधि मे रखी जाए।

परिवर्तनीय—सम्पूर्ण मूल्य के बराबर धातु निधि न रखकर कुछ मूल्य के

बराबर प्रतीक निधि रखी जाए। मांग करने पर धातु-मुद्रा में परिवर्तन किया जाता है। किन्तु परिवर्तन की मांग एक साथ न होने के कारण पूर्ण मूल्य के बराबर धातु निधि न रखने पर भी परिवर्तन सम्भव।

अपरिवर्तनीय—इस पत्र-मुद्रा के बदले प्रधान मुद्रा देने का वायदा नहीं होता। किसी प्रकार की निधि भी नहीं रखी जाती।

पत्र मुद्रा से लाभ—१ बहुमूल्य धातुओं की बचत, २ मितव्ययिता, ३ वहनीयता, ४ लेन-देन की सुगमता, ५ निर्माण करने में कम व्यय, ६ लोच, ७ सरकार को लाभ।

दोष—१ राष्ट्रीय मुद्रा अतः विदेशी भुगतान में अस्वीकार्य, २ मूल्य स्थिरता का अभाव, ३ पत्र-मुद्रा के गलने, फटने, तेल में गिरने से मूल्य नाश होता है, ४ चलनाधिक्य का भय, ५ मूल्य सरकार अथवा चलनाधिकारी की साख पर निर्भर।

अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा के चलनाधिक्य के लक्षण—१ धातु-मुद्रा का विचलन, २ स्वर्ण पर प्रव्याजि, ३ विनिमय दर में वृद्धि, ४ कीमतों में वृद्धि, ५ पत्र-मुद्रा का अपमूल्यन।

पत्र-मुद्रा-सचालन कौन करे—यह प्रश्न विवादग्रस्त है। सचालक दो हो सकते हैं—१ सरकार, २ बैंक।

सरकार द्वारा सचालन के पक्ष में तर्क—१. अधिक सुरक्षितता, २. चलन उचित प्रमाण में होगा, ३ पत्र चलन से होने वाला लाभ सरकारी खजाने में जमा होगा जिसका उपयोग जनहित में हो सकेगा, ४ पुरातन काल से सरकार ही मुद्रा चलन करती आई है।

सरकार के विपक्ष में तर्क—१ ढिलाई, २ अपनी आर्थिक आवश्यकतानुसार मुद्रा निर्गमन, ३ सरकार का देश के व्यापारी वर्ग से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं।

चलन के सिद्धान्त—सिद्धान्त दो हैं—१ बैंकिंग सिद्धान्त, २ चलित मुद्रा सिद्धान्त।

बैंकिंग के पहिले सिद्धान्त के अनुसार धातु निधि रखने में बैंक स्वतंत्र होती हैं। दूसरे के अनुसार पत्र चलन केवल उतने ही मूल्य का हो सकता है जितनी धातु कोष में रखी जाए। इन दोनों पद्धतियों का समेोग ही अच्छी पत्र चलन पद्धति के लिए आवश्यक है जिसमें उसमें परिवर्तनशीलता, सुरक्षा, मितव्ययता तथा लोच रहे।

पत्र-मुद्रा नियमन की पद्धतियाँ—ये निम्न हैं :—

१. निश्चित अधिकतम पत्र-चलन पद्धति
२. साधारण निधि पद्धति
३. न्यूनतम निधि पद्धति
४. निश्चित प्रतीक पत्र-चलन पद्धति
५. आनुपातिक निधि पद्धति
६. आनुपातिक न्यूनतम स्वर्ण निधि पद्धति ।

अध्याय ६

मुद्रा का मूल्य तथा मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त

मुद्रा का मूल्य (Value of Money)

जिस प्रकार गेहूँ के मूल्य मे हम यह समझते है कि गेहूँ के बदले म दूसरी वस्तु कितनी मिल सकती है, उसी प्रकार मुद्रा के मूल्य से यही तात्पर्य है कि विनिमय मे हम एक मुद्रा देकर कितनी वस्तुओ पर अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। अर्थात् मुद्रा का मूल्य उसकी क्रयशक्ति है, जो हमेशा स्थिर नहीं रहती, अपितु बदलती रहती है। उदाहरणार्थ, कभी हम १ रुपये के ४ सेर गेहूँ लेते थे किन्तु आज हम दो सेर लेते है अर्थात् मुद्रा की क्रयशक्ति घट गई है या मुद्रा का मूल्य कम हो गया है। दूसरे शब्दो मे हम यह कह सकते है कि जब मुद्रा का मूल्य गिरता है उस समय वस्तुओ की कीमत बढती है और जब मुद्रा का मूल्य बढता है उस समय वस्तुओ की कीमत घटती है। मुद्रा के मूल्य की कमी अथवा बढती का माप वस्तुओ की कीमतो के उतार चढाव से किया जाता है और यह इसीलिए सम्भव है कि मुद्रा विनिमय माध्यम का काय करती है तथा वस्तुओ की कीमत मुद्रा मे प्रकट की जाती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मुद्रा के मूल्य तथा वस्तुओ की कीमतो का परस्पर विरोधी सम्बन्ध है।

मुद्रा के मूल्य मे घट बढ होने का कारण क्या है, तथा किन बातो पर मुद्रा का मूल्य निभर रहता है, यह प्रश्न हमारे सामने आता है। मुद्रा के मूल्य मे कमी अथवा बढती का कारण मुद्रा की माँग तथा उसकी पूर्ति है। मुद्रा का मूल्य भी अन्य वस्तुओ की तरह उसकी माँग तथा नियम पर निभर रहता है। उदाहरणाथ किसी देश म उत्पादन स्थिर है तथा मुद्रा का परिमाण (quantity) अधिक है तो इससे यह स्पष्ट है कि जनता के पास क्रयशक्ति अधिक है और वस्तुए कम जिसका परिणाम यह होगा कि उसी वस्तु को खरीदने के लिए लोग अधिक कीमत देन लगगे। इस दशा मे मुद्रा का मूल्य गिर जाएगा या वस्तुओ की कीमत चढ जाएँगी। ठीक इसी प्रकार यदि उत्पादन स्थिर है और मुद्रा का परिमाण घटा दिया जाता है तो मुद्रा का मूल्य बढ जाएगा तथा

वस्तुओ की कीमतें घट जाएँगी। इस प्रकार मुद्रा का मूल्य मुद्रा के परिमाण तथा माँग पर निर्भर रहता है। यह मुद्रा का मूल्य ठीक उसी अनुपात म कम या अधिक हाता है जिस मात्रा म मुद्रा म वृद्धि अथवा कमी की जाए। उदाहरणार्थ, मुद्रा की सख्या एक समय १०० रुपये है तथा उस मुद्रा के द्वारा विनिमय होने वाली वस्तुओ की सख्या ५० है तो उपयुक्त सिद्धान्त के अनुसार एक वस्तु की कीमत २ रुपये होगी। किन्तु यदि वस्तुओ का परिमाण अथवा उत्पादन स्थिर रहता है और मुद्रा का परिमाण १०० रुपये स २०० रुपय कर दिया जाता है तो प्रत्येक वस्तु की कीमत २०० रु०—५०=४ रु० होगी अर्थात् मुद्रा का मूल्य कम होगा और वस्तुओ की कीमतें बढ जाएँगी। इसके विपरीत यदि मुद्रा का परिमाण १०० रुपये से घटकर ५० रुपय हो जाता है तो प्रत्येक वस्तु की कीमत ५० रु०—५०=१ रु० हो जाएगी अर्थात् वस्तुओ की कीमतें कम होगी और मुद्रा का मूल्य अथवा मुद्रा की क्रयशक्ति बढ जाएगी। अत यह स्पष्ट है कि मुद्रा के परिमाण म जिस अनुपात म कमी या बढती की जाएगी, उसी अनुपात म मुद्रा का मूल्य अधिक अथवा कम होगा तथा वस्तुओ की कीमतें कम या अधिक होगी। मुद्रा परिमाण का उसके मूल्य अथवा क्रयशक्ति से विरोधी सम्बन्ध है तथा वस्तुओ की कीमतो से सीधा अथवा प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। किन्तु यह तभी होगा जब कि उत्पादन मे अथवा विनिमय की वस्तुओ मे किसी प्रकार की कमी या अधिकता न हो। इसी को मुद्रा परिमाण सिद्धान्त (*quantity theory of money*) कहते हैं।

मुद्रा की माँग तथा पूर्ति

हमने ऊपर बताया कि मुद्रा की क्रयशक्ति भी उसकी माँग तथा पूर्ति पर निर्भर है। किन्तु यह माग कैसे होती है तथा उसकी पूर्ति कौन एव कैसे करता है, अब हम यह देखेंगे।

मुद्रा की माँग—प्रत्येक व्यक्ति का अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए क्रयशक्ति अथवा मुद्रा की आवश्यकता होती है और किसी समाज अथवा देश मे किसी एक समय म विनिमय की निश्चित मात्रा मे वस्तुएँ होती हैं। अत इन वस्तुओ के विनिमय के लिए कितनी मुद्रा की आवश्यकता होगी, इस पर मुद्रा की माँग निर्भर है। अर्थात् किसी निश्चित अवधि मे कितनी वस्तुएँ अथवा सेवाएँ विनिमय के लिए बाजार मे उपलब्ध हैं, इस पर मुद्रा की माँग निर्भर रहेगी।

मुद्रा की पूर्ति—मुद्रा की पूर्ति, जो मुद्रा चलन मे है उससे प्रकट होती है।

और चूंकि मुद्रा एक दिन में कई बार विनिमय में हस्तान्तरित होती है अत मुद्रा की पूर्ति किसी समय में मुद्रा परिमाण-गति अथवा भ्रमण-गति से हम जान सकते हैं। उदाहरणार्थ, किसी समय चलन में १०० रुपये हैं तो मुद्रा-चलन १०० है। अब मान लीजिए ये रुपये प्रतिदिन १० बार हस्तान्तरित होते हैं तो १०० रुपया में से प्रत्येक रुपया १० रुपयों का काम करता है। (इस हस्तान्तरण की क्रिया को मुद्रा की गति अथवा भ्रमण-गति कहते है।) अत १०० रुपये के द्वारा १०० × १० = १००० रुपये के विनिमय का कार्य होता है अत उस समय मुद्रा का कुल परिमाण १००० रुपये है अथवा मुद्रा की पूर्ति १००० है। मुद्रा की पूर्ति देश में सरकार द्वारा की जाती है तथा उसकी भ्रमण-गति पर निर्भर रहती है।

मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त

मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त के अनुसार, स्थिर दशा में अथवा अन्य बातें समान रहते हुए, मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन होने से उसी अनुपात में मुद्रा के मूल्य में विरोधी तथा वस्तुओं की कीमतों में उसी अनुपात में प्रत्यक्ष अथवा सीधा परिवर्तन होता है।[1] इसका तात्पर्य यह है कि मुद्रा-परिमाण को यदि दुगुना कर दिया जाए तो मुद्रा की क्रयशक्ति आधी हो जाएगी तथा वस्तुओं की कीमतें दुगुनी हो जाएँगी। उसी प्रकार मुद्रा का परिमाण आधा कर दिया जाए तो मुद्रा की क्रयशक्ति दुगुनी हो जाएगी तथा वस्तुओं की कीमतें आधी हो जाएँगी। किन्तु यह तभी सम्भव है जब अन्य परिस्थिति स्थिर रहे और उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन न हो। परन्तु यह आज के परिवर्तनशील समाज में सम्भव नहीं है, अत इस सिद्धान्त को पूर्णत लागू करने के लिए कुछ सुधारों की आवश्यकता है। इस सिद्धान्त के सरल रूप का समीकरण नीचे दिया है:—

$$\text{कीमत} = \frac{\text{मुद्रा-परिमाण}}{\text{व्यापार अथवा उत्पादन}} \qquad [\, P = \frac{M}{T} \text{ or } PT = M \,]$$

अथवा वस्तुओं की कीमतें × उत्पादन = मुद्रा-परिमाण।

हमने ऊपर बताया है कि परिस्थिति में परिवर्तन नहीं होना चाहिए। अत वह कौनसी परिस्थिति है अथवा किस अवस्था में यह सिद्धान्त सत्य होगा? वह परिस्थिति निम्नलिखित है —

1 Other things being equal, with every change in the supply of money, value of money varies inversely proportionately and the price-level varies directly proportionately

१. उपयोग में केवल धातु-मुद्रा ही है, साख का उपयोग नहीं होता तथा प्रत्येक मुद्रा विनिमय के अतिरिक्त अन्य किसी काम में नहीं लाई जाती।

२ मुद्रा केवल विनिमय के कार्य में ही उपयोग में आती है तथा उसका सचय आदि नहीं होता।

३. मुद्रा की गति अथवा भ्रमण-गति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता।

४ वस्तु-विनिमय प्रचार में नहीं है अथवा प्रत्यक्ष विनिमय द्वारा वस्तुएँ न खरीदी जाती है और न बेची जाती है।

५ उत्पादन-परिमाण मे किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता।

६ जनता का उपभोग, जनसख्या का परिमाण आदि जिनसे व्यापार प्रभावित होता है, इनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता।

किन्तु उपर्युक्त बात, जिन्हें हम स्थिर मानते हैं, परिवर्तनशील है तथा वास्तव मे विनिमय के लिए केवल धातु-मुद्रा का ही उपयोग न होते हुए बैंको द्वारा चलाई हुई पत्र मुद्रा तथा साख का भी उपयोग होता है। उसी प्रकार एक मुद्रा से एक ही विनिमय कार्य न होते हुए अनेक विनिमय कार्य होते हैं। इस अनेक विनिमय कार्य होने को हम मुद्रा की गति (velocity of money) अथवा मुद्रा की भ्रमण-गति कहेंगे। इस गति में भी परिवर्तन होता रहता है तथा उसी प्रकार उत्पादन भी स्थिर नहीं रहता और वस्तु-विनिमय के द्वारा विनिमय का हमेशा थोडा-बहुत क्रय-विक्रय होता है। अत इन सब चीजों के लिए छूट देना आवश्यक है जिससे कि इस सिद्धान्त की सत्यता आज की परिस्थिति मे भी प्रमाणित हो सके। इसलिए हमको वस्तुओं के विनिमय का वेग, धातु-मुद्रा की भ्रमण-गति, साख-पत्रों का उपयोग एवम् भ्रमण-गति तथा वस्तु-विनिमय, इनके लिए छूट देनी पडेगी। अत इस अवस्था मे इस सिद्धान्त को हम निम्नलिखित परिभाषा मे व्यक्त करेंगे —वस्तुओं की कीमतों का स्तर मुद्रा परिमाण एवम् गति के समान अनुपात से तथा विनिमय-साध्य वस्तुओं के विरुद्ध अनुपात से बदलता है, अथवा मुद्रा के परिमाण एवम् भ्रमण-गति के साथ कीमतों का सीधा सम्बन्ध होता है तथा मुद्रा के मूल्य के साथ विरोधी सम्बन्ध होता है। अर्थात् मुद्रा-परिमाण मे अथवा उसकी भ्रमण-गति मे वृद्धि होने से वस्तुओं की कीमतें बढ जाएँगी तथा मुद्रा का मूल्य अथवा क्रय-शक्ति घट जाएगी। उसी प्रकार मुद्रा-परिमाण अथवा उसकी भ्रमण-गति में कमी आने से उसी अनुपात मे वस्तुओं की कीमतें गिर जाएँगी तथा मुद्रा की

क्रयशक्ति बढ जाएगी । इस सशोधित सिद्धान्त का समीकरण इस प्रकार होगा – मुद्रा × गति-सामर्थ्य + साख मुद्रा × गति-सामर्थ्य = व्यापार (उत्पादन) × कीमतें

$$M\ V + M'\ V' = P\ T$$

अथवा

$$\text{कीमत} = \frac{\text{मुद्रा} \times \text{गति सामर्थ्य} + \text{साख मुद्रा} \times \text{गति सामर्थ्य}}{\text{व्यापार (उत्पादन)}}$$

$$\text{or } P = \frac{M\ V + M'\ V'}{T}$$

मुद्रा मूल्य की विशेषता

इस प्रकार मुद्रा के परिमाण के परिवर्तन के साथ उसी अनुपात मे कीमतो के स्तरो मे परिवर्तन होने का मुख्य कारण यह है कि अन्य वस्तुओ की अपेक्षा मुद्रा मे यह विशेषता है कि अन्य वस्तुओ की कीमतें उसकी पूर्ति के परिमाण के अनुपात मे नही बदलती क्योकि अन्य वस्तुएँ उपभोग के लिए होती है तथा उनकी माँग मे लोच होती है । किन्तु मुद्रा की माँग विनिमय कार्य पर निर्भर है, जो उत्पादन मे परिवर्तन हुए बिना नही बदलती अत किसी विशिष्ट परिस्थिति मे मुद्रा की माँग की लोच समानुपात होती है ।

दूसरे, मुद्रा की एक और विशेषता है जो अन्य वस्तुओ मे नही होती । वह यह कि अन्य वस्तुओ की उपयोगिता उनकी उपलब्ध मात्रा पर निर्भर होती है । परन्तु मुद्रा की उपयोगिता उसकी राशि पर निर्भर नही रहती क्योकि मुद्रा मे यदि क्रयशक्ति न हो तो वह हमारे लिए किसी काम की नही । इसलिए मुद्रा की उपयोगिता उसकी क्रयशक्ति पर निर्भर रहती है न कि उसके परिमाण पर । उदाहरणार्थ यदि देश के कुल गेहूँ का आधा गेहूँ खराब हो जाए अथवा जला दिया जाए तो देश की सम्पूर्ण उपयोगिता मे हानि होगी क्योकि गेहूँ की उपलब्ध मात्रा घट जाएगी । इसके विपरीत यदि आधी पत्रमुद्रा जला दी जाए तो हमारे उपभोग के साधन उतने ही रहते है जिससे हमारी उपयोगिता का किसी प्रकार से नाश नही होता । उदाहरणार्थ यदि मेरे पास सिनेमा का टिकट है और वह जल जाता है तो इसका मतलब यह नही होता कि मै अब सिनेमा नही देख सकूँगा क्योकि सिनेमा घर तो है ही । केवल मुझे दूसरा टिकट लेना पडेगा । परन्तु यदि सिनेमा घर ही जल जाए तो मेरे पास टिकट होते हुए भी वह बेकार हो जाता है । इसी प्रकार मुद्रा की उपयोगिता मुद्रा मे न होते हुए उसकी क्रयशक्ति मे होती है । कुछ मुद्रा जल जाने से समाज की किसी प्रकार

मे हानि नही होती। हाँ केवल मुद्रा की पूर्ति कम हो जाएगी जिससे वस्तुओ की कीमते गिर जाएँगी।

मुद्रा परिमाण सिद्धान्त के साध्य (Propositions)

मुद्रा की उपरोक्त विशेषताओ के कारण ही मुद्रा की पूर्ति म किसी भी प्रकार का परिवर्तन होने से वस्तुओ की कीमतो मे उसी दिशा मे आनुपातिक परिवर्तन होता है तथा मुद्रा के मूल्य मे विपरीत दिशा मे आनुपातिक परिवर्तन होता है। अर्थात् वस्तुओ का मूल्यस्तर (P) इस सिद्धान्त के समीकरण के अन्य घटको का कार्य अथवा परिणाम है, कारण नही।[1] इस मूल्यस्तर मे परिवर्तन लाने वाले कारण निम्नलिखित हैं —

(१) चलन मे होने वाली धातु-मुद्रा (M)
(२) चलन मे होने वाली साख-मुद्रा एव पत्र-मुद्रा (M′)
(३) धातु-मुद्रा की गति (V)
(४) पत्र एव साख-मुद्रा की गति (V′)
(५) व्यापार (T)

प्रो० फिशर के अनुसार सक्रमण काल के अतिरिक्त सामान्यत मूल्यस्तर, समीकरण के अन्य घटको (factors) के साथ बदलना चाहिए। इसलिए प्रो० फिशर ने निम्नलिखित साध्यों को आधार माना है —

(i) किसी भी समय यदि मुद्रा (M) का परिमाण बढा दिया जाए तो उसी अनुपात मे साख-मुद्रा (M′) जो कि अधिकोषो द्वारा निर्माण की जाती है वह भी बढ जाएगी, क्योंकि अधिकोष द्वारा साखनिर्माण उनके पास जो जनता की जमा राशि होती है उस पर निर्भर रहेगा। जमाराशि और साख का कुछ न कुछ अनुपात निश्चित रहता है। इसलिए यदि मुद्रा की राशि बढा दी जाती है तो उसी अनुपात मे साख-मुद्रा (M′) मे भी वृद्धि होगी। इन दोनो के बढने से मूल्यस्तर म भी उसी अनुपात मे वृद्धि हो जाएगी तथा उसके विपरीत अनुपात मे मुद्रा के मूल्य कम होगे।

(ii) किसी भी देश मे मुद्रा के परिमाण मे यदि वृद्धि होती है तो उसका प्रभाव उसी धातु-मान पर आधारित अन्य देशो पर भी होता है, क्योकि जैसे ही मूल्यस्तर अथवा मुद्रा के मूल्य एव धातु मूल्य मे अन्तर निर्माण होगा वैसे ही धातु-मुद्रा या तो गलाई जाएगी या विदेशो मे भेजी जाएगी।

[1] *Purchasing Power of Money*—Fisher, pp. 181-182

इसके फलस्वरूप जागतिक मूल्यस्तर मे वृद्धि होगी अर्थात् एक देश के मुद्रा-परिमाण मे वृद्धि होने से अन्य देशो के मूल्यस्तर भी बढेंगे—यदि ऐसे देश अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे हैं।

(iii) इसी प्रकार धातुमुद्रा (M) की अपेक्षा यदि साखमुद्रा (M′) के अनुपात मे वृद्धि होती है तो उससे भी धातुमुद्रा का विचलन होकर जागतिक मूल्यस्तर बढेंगे।

(iv) धातुमुद्रा (M) मे अथवा साखमुद्रा (M′) के परिमाण मे वृद्धि होने से *उनकी गति बढेगी ही ऐसा आवश्यक नहीं है, क्योंकि मुद्रा की* एव साखमुद्रा की गतिशीलता (V+V′) मुद्रा की पूर्ति पर निर्भर न रहते हुए स्वतन्त्र है एव अन्य कारणो पर निर्भर है। ये अन्य कारण जिनसे मुद्रा तथा साखमुद्रा की गतिशीलता बढती है बाहरी कारण हैं। जैसे —

(१) समाज के व्यक्तियों की आदतें :—

(क) बचत अथवा भूमिगत धन रखने के विषय मे

(ख) साख-व्यवहारो (book-credit) के विषय मे तथा

(ग) चैकों के उपयोग के विषय मे

(२) समाज मे भुगतान करने की पद्धतियाँ :—

(क) राशि के लेन-देन की तीव्रता (frequency)

(ख) राशि के लेन-देन की नियमितता (regularity)

(ग) लेन-देन की राशि एव समय का सम्बन्ध

(३) सामान्य कारण :—

(क) जनसख्या का घनत्व

(ख) *यातायात साधनो की शीघ्रवाहकता*

फिर भी यदि मुद्रा एव साखमुद्रा की गति (V×V′) *मे वृद्धि होती* है तो मूल्यस्तर भी बढेंगे।

(v) व्यापार (T) की कमी अथवा अधिकता भी मुद्रा के परिमाण पर निर्भर न रहते हुए अन्य बाहरी कारणो पर निर्भर रहती है। जिन कारणो पर व्यापार (T) का विस्तार अथवा कमी निर्भर रहती है, उन कारणो का समावेश हमारे सिद्धान्त के समीकरण मे नही आता। ये कारण अनेक है एव तात्त्विक हैं।[1]

---

1 *Purchasing Power of Money*—Fisher, pp 74-75, 181-182

(१) उत्पादकों को प्रभावित करने वाली परिस्थिति :—

(क) नैसर्गिक साधनों के सम्बन्ध में भौगोलिक अन्तर।

(ख) उत्पादन-कला का ज्ञान।

(ग) श्रम-विभाजन।

(घ) पूँजी का सचय।

(२) उपभोक्ताओं को प्रभावित करने वाली परिस्थिति :—

मानवी इच्छाओं का विकास एव भिन्नता।

(३) उत्पादक एव उपभोक्ताओ से सम्बन्ध : –

(क) यातायात की सुविधाएँ।

(ख) व्यापार की पारस्परिक स्वतन्त्रता।

(ग) मौद्रिक एव बैंकिंग पद्धति की विशेषताएँ।

(घ) व्यापारिक विश्वास (confidence)।

इन कारणों के प्रभाव से व्यापार का विकास होता है। यदि मुद्रा की पूर्ति (M, M') एव मुद्रा की गति (V, V') मे भी उसी अनुपात से वृद्धि नही होती तो व्यापारिक विकास के अनुपात मे मूल्यस्तर गिरेंगे। परन्तु व्यापारिक विकास के साथ मुद्रा की गतिशीलता तथा मुद्रा के साथ रहने वाला साखमुद्रा का अनुपात भी बढता है जिससे व्यापारिक विकास से मूल्यस्तर मे होने वाली कमी नही आने पाती अथवा उनमे गिरावट कम आती है।[1]

(vi) उपरोक्त कारणो के अतिरिक्त अन्य अनेक ऐसे स्वतन्त्र कारण होते हैं जिनसे मुद्रा परिमाण सिद्धान्त के समीकरण के पाँचो घटक (i.e. M,M', V,Y',T) प्रभावित होकर उनसे मूल्यस्तर भी प्रभावित होते है। ऐसे बाहरी कारणों मे दूसरे देशो के मूल्यस्तर का उसी प्रकार, अन्य देशो के युद्ध का प्रभाव महत्वपूर्ण है जिससे किसी भी देश के मूल्यस्तर मे परिवर्तन होते हैं।

सक्रमण काल मे यह सिद्धान्त लागू नही होगा यह सम्भव है क्योंकि उस समय मुद्रा से साखमुद्रा का अनुपात बहुत अधिक हो जाता है जो सामान्यत दीर्घकालीन अवधि मे एव साधारण परिस्थिति मे नही होता। सक्रमण काल मे विशेषत मूल्यस्तर मे पहिले वृद्धि होती है क्योंकि जनता की ओर से वस्तुओं की माँग बढ जाती है और व्यापारी अधिक लाभ कमाने की दृष्टि से

[1] *Purchasing Power of Money*—Fisher, p. 182

वस्तुओ की कीमतें बढा देते है। बढता हुआ लाभ देखकर उद्योगपति अपने-अपने उद्योगो का विकास करते है जिसके लिए उनको अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। इस पूँजी को वे अधिकोषो से लेते है। मूल्य-स्तर जिस अनुपात मे बढता है उस अनुपात मे ब्याज दरो का समायोजन (adjustment) नही होने पाता। यह क्रिया जब लागू हो जाती है तब मूल्य बढते जाते है और मुद्रा के परिमाण मे साख-मुद्रा का साधारण अनुपात बढता जाता है, जिससे मुद्रा की गति भी बढ जाती है और व्यापारिक क्षेत्र भी। इस प्रकार यह व्यापार-चक्र (trade cycle) आरम्भ हो जाता है और तब तक चलता रहता है जब तक कि ब्याज दरो का समायोजन मूल्य-स्तर से नही होता। जैसे ही यह समायोजन हो जाता है व्यापार-चक्र पूर्ण होकर साधारण काल आ जाता है। केवल ऐसे समय मे ही मुद्रा के परिवर्तन के साथ मूल्यस्तर मे अनुपातिक परिवर्तन नही होते। परन्तु इसके बाद मुद्रा के परिमाण मे किसी भी प्रकार का परिवर्तन मूल्य-स्तर को उसी दिशा एव अनुपात मे परिवर्तित करेगा। साराश मे अन्य बाते समान रहते हुए मुद्रा के परिमाण मे किसी भी प्रकार के परिवर्तन से मूल्य-स्तर उसी दिशा मे एव उसी अनुपात मे बदलेंगे तथा मुद्रा का मूल्य विपरीत दिशा मे एव उसी अनुपात मे बदलेगा।

सिद्धान्त की आलोचना

(१) इस सिद्धान्त के विरुद्ध अर्थशास्त्रियो ने अनेक आक्षेप किये हैं। सबसे पहला आक्षेप यह है कि इस सिद्धान्त मे कोई विशेषता नही है बल्कि यह माँग एव पूर्ति नियम के विवेचन का सरल ढग है। किन्तु ऐसा नही है क्योकि इसमे मुद्रा के परिमाण मे कमी या अधिकता होने से क्या परिणाम होते है, इसका विवेचन है जिससे हम कीमतो पर, मुद्रा-परिमाण मे परिवर्तन करके, नियन्त्रण कर सकते है।

(२) यह सिद्धान्त माँग एव पूर्ति नियम पर आधारित स्वयसिद्ध सत्य है जिसको बहुत महत्त्व दिया गया है। किन्तु स्वयसिद्ध सत्य होने के अतिरिक्त इस सिद्धान्त के द्वारा कीमतो का समायोजन करने मे इससे प्रत्यक्ष सहायता मिलती है अत यह सिद्धान्त उपयोगी है, जिसका अध्ययन मुद्रा एव बैंक के ठीक अध्ययन के लिए आवश्यक है।

(३) यह सिद्धान्त काल्पनिक एवम् अपूर्ण है क्योकि इसमे हम किसी भी समय मुद्रा-चलन के परिमाण का ठीक-ठीक आँकडा नही मालूम कर सकते जो केवल अनुमान पर निर्भर है। इतना ही नही, अपितु जिन बातो को हम

स्थिर मानते हैं वे वास्तविक सृष्टि में कभी स्थिर नहीं रहती अत उनका ठीक नाप नहीं किया जा सकता। अर्थात् यह सिद्धान्त केवल स्थिर समाज में ही लागू हो सकता है, परिवर्तनशील समाज मे नही।

(४) यह आक्षेप प्रो० कीन्स का है। उनका कथन है कि आजकल विनिमय के व्यवहार अधिकतर साख-पत्रों द्वारा होते है जिनका धातुनिधि से बहुत कम सम्बन्ध रहता है और मुद्रा द्वारा होने वाले अधिकाश व्यवहार औद्योगिक, व्यापारिक अथवा आर्थिक (financial) होते हैं तथा बहुत कम विनिमय इस प्रकार का होता है जिसे हम 'व्यापार (T) शब्द प्रयोग के द्वारा समीकरण मे दिखाते हैं। अत मुद्रा-परिमाण-समीकरण द्वारा मुद्रा की क्रयशक्ति का माप न होते हुए रोक व्यवहार का मान (cash transaction standard) होता है।

(५) मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त, कीमतों के स्तर म किस प्रकार परिवर्तन होता है यह नही बताता और न इसी का स्पष्टीकरण करता है कि व्यापार-चक्र (trade cycles) म मुद्रा के परिमाण म परिवर्तन न होते हुए भी कीमतें क्यो गिरती हैं अथवा क्यो चढ़ती हैं।

(६) इस सिद्धान्त मे मुद्रा की माँग की अपेक्षा पूर्ति पर ही अधिक जोर दिया गया है जिसका प्रभाव कीमतो अथवा क्रयशक्ति पर होता ही है। किन्तु हम देख चुके हैं कि किसी विशिष्ट परिस्थिति म मुद्रा की माँग की लोच समानुपात होती है—अर्थात मुद्रा की माग न घटती है न बढ़ती है। किन्तु मुद्रा की पूर्ति केवल सरकारी चलन पर निर्भर न रहते हुए उस पर सोने या चाँदी के अधिक उत्पादन का अथवा नई खानो की खोज (discovery) का प्रभाव पड़ता है इसलिए पूर्ति पर ही अधिक जोर दिया गया है।

(७) किसी विशिष्ट देश की कीमतो की तेजी अथवा मन्दी के कारणो का विवेचन इस सिद्धान्त द्वारा नही हो सकता तथा उसके लिए अन्य देशो की कीमतो का सन्दर्भ लेना आवश्यक है।

किन्तु इन सब आक्षेपो के होते हुए भी मौद्रिक जगत म इस सिद्धान्त की मान्यता स्वीकृत की गई है। प्रो० फिशर ने अपनी डॉलर स्थायित्व-मान-योजना (compensated dollar scheme) म इस सिद्धान्त की कितनी सहायता हुई यह सिद्ध किया है। प्रा० कीन्स भी यह मानते हैं कि संख्यात्मक जाच के लिए मुद्रा परिमाण सिद्धान्त के समीकरण की सहायता से अधिक उन्नति की जा सकती है क्योकि समीकरण म दिया हुआ MV (मुद्रा × भ्रमण-गति) अधिकोषो की भुगतान से साम्य रखता है, तथा M (मुद्रा)

अधिकोषो मे जो रकम जमा की जाती है, उससे ममता रखती है । इन दोनो के आँकडे आजकल उपलब्ध है तथा मुद्रा के आँकडो से उसकी भ्रमण-गति V' भी निकाली जा सकती है । अत मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त मे कुछ सत्य का अश होने से यह महत्त्वपूर्ण है क्योकि यह सिद्धान्त भी अर्थशास्त्र के अन्य नियमो की भाँति ही, किसी विशिष्ट परिस्थिति मे कौनसी प्रवृत्ति कार्य करेगी, यह स्पष्ट करता है ।

केम्ब्रिज का मुद्रा परिमाण समीकरण

केम्ब्रिज समीकरण मुद्रा परिमाण सिद्धान्त का नवीन रूप है जिसे मार्शल, पीगू, कैनन, रॉबर्टसन आदि अर्थशास्त्रियो ने प्रतिपादित किया । यह समीकरण निम्न है —

$$P = \frac{M}{KR}$$

जिसमे P=सामान्य मूल्यस्तर,
M=मुद्रा की इकाइयो की सख्या,
R=समाज की आय,
K=समाज की कुल आय का वह अनुपात जिसे मुद्रा के रूप में जनता रखती है ।

फिशर के मुद्रा परिमाण सिद्धान्त के समीकरण तथा केम्ब्रिज समीकरण मे महत्त्वपूण अन्तर यह हे कि फिशर के समीकरण मे मुद्रा की माँग से तात्पर्य समस्त विनिमय व्यवहारो के लिए आवश्यक मुद्रा के परिमाण से है जबकि केम्ब्रिज समीकरण के अनुसार मुद्रा की माँग म केवल वह मुद्रा का परिमाण है जो जनता अपने पास नकद-कोष म भावी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सग्रह करती है ।

केम्ब्रिज समीकरण म K का स्थान महत्त्वपूर्ण है जो वास्तविक आय का वह अनुपात है जिसे मुद्रा के रूप मे व्यक्ति, समाज अथवा सस्था अपने पास रखती है । उदाहरणार्थ एक श्रमिक जो २ रु० दैनिक पाता है वह, मान लीजिए कि, सप्ताह के अन्त म अपने पास २ रु० रखना चाहता है । इस उदाहरण मे K मालूम करने के लिए सबसे पहिले यह मालूम करना होगा कि वह प्रतिदिन औसत कितना रुपया अपने पास रखता है । यह निम्न रीति से मालूम होगा —

$$\frac{१२)+१०)+८)+६)+४)+२)\text{ रु०}}{६\text{ दिन}} = \frac{४२\text{ रु०}}{६\text{ दिन}} = ७ \text{ रुपये औसत दैनिक}$$

इससे यह स्पष्ट है होता है कि वह औसत रूप से दैनिक ७ रुपये पास रखेगा। उसकी सप्ताह की आय १४ रु० है (७ दिन × २ रु०)। अत $K = \frac{७}{१४}$ या $\frac{१}{२}$। यह K सदैव समान नही रहेगा अपितु कम अधिक होता रहेगा।

केम्ब्रिज समीकरण के आधारभूत सिद्धान्त—इस सिद्धान्त का व्यवहारिक पक्ष जानने के पूर्व इसके आधारभूत सिद्धान्तो को देखना आवश्यक है जो निम्न हैं —

(१) **मुद्रा की मांग**—सर्वप्रथम इस सिद्धान्त म मुद्रा की मांग का जानना आवश्यक है। फिशर के मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त म मुद्रा की मांग से तात्पर्य कुछ विनिमय व्यवहारो के मौद्रिक मूल्य से है। किन्तु केम्ब्रिज समीकरण म मुद्रा की मांग से तात्पर्य मुद्रा के उस भाग से है जो कोई व्यक्ति, सस्था या समाज अपने पास भविष्यकालीन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए बचाकर रखता है। साधारणत यह देखा जाता है कि मनुष्य की आय सीमित होती है किन्तु व्यय असीमित होते हैं। उसे निश्चित आय से भिन्न-भिन्न व्यय करने पडते है। सम्भव है कि एक मनुष्य की आय १०० रु० हो फिर भी वह अपने पास कुछ राशि भविष्यकालीन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए बचाकर रखना चाहता है। मान लीजिए इस हेतु वह २० रु० बचाता है तो भविष्यकालीन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उसकी नगद मांग २० रुपये होगा। ठीक इसी प्रकार उत्पादक भी कच्चा माल खरीदने, मजदूरी का भुगतान करने तथा अन्य दैनिक व्ययो के लिए अपने पास नगद कोष रखेगा।

प्रोफेसर कॅनन के अनुसार "जिस प्रकार मकान की वास्तविक मांग मकान मे रहने वालो से होती है न कि मकान के क्रेता और विक्रेताओ से, ठीक उसी प्रकार मुद्रा की वास्तविक मांग वह भाग है जो व्यक्ति, समाज एव सस्था अपना व्यय चलाने के लिए अपने पास नगद कोष म रखते हैं।

(२) **तरलता पूर्वाधिकार (Liquidity Preference)**—प्रत्येक व्यक्ति स्वभावत तरलता पसन्द करता है। इसलिए वह अपने पास मुद्रा अथवा ऐसी अन्य वस्तुएँ रखता है जिनमे तरलता हो अर्थात् जो सरलता से रोकड मे बदली जा सके। जैसे एक व्यक्ति मकान खरीदता है, दूसरा अश, प्रतिभूतियाँ आदि तथा तीसरा बैंक म रुपया जमा करता है। इन तीनो व्यक्तियो का हेतु एक ही है कि आवश्यकता के समय इनसे उनकी पूर्ति की जा सके। केम्ब्रिज

समीकरण मे इस बात पर बल दिया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति, सस्था या समाज नगद कोष रखता है। अत तरलता पूर्वाधिकार से मुद्रा की माँग प्रभावित होती है।

(३) **मुद्रा की चलनगति का माग पर प्रभाव**—मुद्रा की चलनगति का प्रभाव भी मुद्रा की माँग पर होता है। यदि देशवासियो मे तरलता पूर्वाधिकार की प्रवृत्ति होगी तो रुपये की चलनगति कम होगी क्योकि वे उसे अपने पास सदैव नगद कोष के रूप मे रखेंगे। इसके विपरीत यदि देशवासियो मे तरलता पूर्वाधिकार की प्रवृत्ति कम होगी तो मुद्रा की चलनगति अधिक होगी।

(४) **नगद कोष को प्रभावित करने वाली बातें**—एक व्यक्ति, सस्था या समाज को कितना नगद कोष रखना चाहिए यह तरलता पूर्वाधिकार से ज्ञात नही हो सकता क्योकि इस कोष को प्रभावित करने वाले निम्न घटक होते है —

(अ) **देश की जनसख्या**—यदि देश की जनसख्या अधिक होगी तो नगद कोष की राशि भी अधिक होगी क्योकि प्रत्येक व्यक्ति अपने पास कुछ न कुछ नगद कोष रखना चाहेगा।

(आ) **धन का वितरण**—देश मे यदि धन का वितरण समानता से हो रहा है तो प्रत्येक व्यक्ति समानता से नगद कोष रखेगा। अन्यथा नगद कोष की राशि मे भी असमानता रहेगी।

(इ) **आय प्राप्त होने का समय**—आय प्राप्त होने का समय जितना कम होगा उतनी ही नगद कोष की राशि कम होगी और जितना अधिक समय लगेगा उतनी ही नगद कोष की राशि अधिक होगी। उदाहरणार्थ यदि साप्ताहिक अवधि म आय मिलती है तो नगद कोष की राशि कम होगी, मासिक अवधि म अधिक और वार्षिक अवधि मे अत्यधिक नगद कोष रखना होगा।

(ई) **साख पत्रो का उपयोग**—जिस समाज अथवा देश मे साख पत्रो का उपयोग होता है वहाँ नगद कोष की कम आवश्यकता होती है, अन्यथा अधिक नगद कोष रखने की आवश्यकता होती है।

(उ) **समाज की आर्थिक अवस्था**—समाज की आर्थिक अवनति अथवा उन्नति से भी नगद कोष की राशि प्रभावित होती है। जैसे भारतीय समाज की तुलना मे आर्थिक दृष्टि म अमरीकी समाज अधिक उन्नत होने से अमरीकी व्यक्ति को भारतीय व्यक्ति की अपेक्षा अधिक नगद कोष रखना होगा, क्योकि

वहाँ की सामाजिक एवं अन्य आवश्यकताएँ भारतीय व्यक्ति की अपेक्षा अधिक होंगी।

(ऊ) वस्तुओं की कीमतें—वस्तुओं की कीमतों का भी नगद कोष पर प्रभाव होता है। यदि कीमतें अधिक होंगी तो अधिक नगद कोष रखना होगा क्योंकि उतनी ही आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिक धन की आवश्यकता होगी। इसके विपरीत अवस्था में कम नगद कोष रखना होगा।

समीकरण का व्यवहारिक रूप

$$P = \frac{M}{KR}$$

इस समीकरण के अनुसार M=KR और प्रति इकाई मुद्रा का मूल्य $\frac{KR}{M}$ होगा क्योंकि मुद्रा के मूल्य तथा वस्तु के मूल्य में विपरीत अनुपात में परिवर्तन होता है जैसा कि फिशर के समीकरण से स्पष्ट है। अतः P (सामान्य मूल्य-स्तर) बराबर होगा $\frac{M}{KR}$ के। उदाहरणार्थ, श्रमिक के उदाहरण में हमने देखा कि K बराबर $\frac{1}{2}$ के है, R बराबर १००० मन गेहूँ और M बराबर ५००० रुपये के है। इस स्थिति में

$$\text{सामान्य मूल्य-स्तर अथवा } P = \frac{५००० \text{ (M)}}{\text{(R) } १००० \times \text{(K) } \frac{1}{2}}$$

$$\text{अथवा } P = \frac{५०००}{५००} = १० \text{ रु० प्रति मन}$$

इस समीकरण से यह स्पष्ट होता है कि मुद्रा का उपयोग वस्तुओं को तत्काल खरीदने के लिए ही नहीं अपितु नगद कोष के रूप में भविष्यकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी किया जाता है क्योंकि देशवासी भविष्य-कालीन आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए नगद कोष रखते है।

फिशर के मुद्रा परिमाण सिद्धान्त समीकरण तथा कैम्ब्रिज समीकरण में थोड़ा सा अन्तर है। फिशर ने मुद्रा की माग से तात्पर्य कुल विनिमय-व्यवहारों के मूल्य से लिया है तो कैम्ब्रिज समीकरण में **नगद कोष** से लिया है। दूसरे, फिशर के समीकरण में दीर्घकालीन अवधि की ओर सकेत है तो कैम्ब्रिज समीकरण में **अल्पकालीन अवधि** अथवा **क्षण विशेष** की ओर सकेत है। इन अन्तरों के होते हुए भी दोनों समीकरणों में बहुतायत में समानता है। जहाँ तक दोनों समीकरणों के लक्ष्यों का सम्बन्ध है वे समान है किन्तु उनकी पूर्ति की विधि में किंचित् अन्तर है।

कीन्स का मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त

प्रो० कीन्स ने केम्ब्रिज समीकरण मे थोडा सा सशोधन कर उसे नए रूप मे प्रस्तुत किया है अत इसे मुद्रा-परिमाण का कीनीसन सिद्धान्त भी कहते है। कीन्स का निम्न समीकरण है —

$$n = p\,(k + rk')$$

जिसमे n=चलन की मात्रा,

p=उपभोग की एक इकाई का मूल्य,

k=उपभोग की इकाइयाँ जिनके लिए जनता क्रयशक्ति सचित कर अपने पास रखती है,

r=बैंक मे जनता के जो निक्षप होते है उनके भुगतान के लिए बैंक जो नगद कोष अपने पास रखते है उसका कुल निक्षेपो से अनुपात,

k'=उपभोग की इकाइयाँ जिनके लिए साख-मुद्रा मे सचय किया जाता है।

कीन्स के समीकरण मे यह बताया गया है कि जनता भविष्यकालीन आवश्यकताओ की सन्तुष्टि के लिए अपने पास **नगद कोष** जमा करती है। इसको कीन्स ने k की सज्ञा दी है। इसी प्रकार उपभोग की वस्तुओ को कीन्स ने उपभोग की इकाइयाँ (consumption units) कहा है। उक्त नगद कोष के सिवा जनता बैंक मे भी कुछ मुद्रा इसी उद्देश्य से जमा करती है जिसे कीन्स ने k' कहा है। इसका तात्पर्य है कि जनता अपने पास तथा बैंक मे कुछ कोष जमा करती है जिससे वह अपनी भविष्यकालीन आवश्यकताओ की पूर्ति कर सके। बैंक मे जनता जो रुपया जमा करती है उसे बैंक अपने पास न रखते हुए विनियोजित करते हैं। किन्तु निक्षेपकर्ताओ की माँग का भुगतान करने के लिए बैंक अपने पास नगद कोष (रोकड निधि) रखते हैं और जिस अनुपात मे बैंक यह नगद कोष रखता है वह समीकरण मे r है।

अत कीन्स के अनुसार n मे परिवर्तन होने से k, k' तथा r प्रभावित होते है। *किन्तु साधारण परिस्थितियो म k, k' तथा r मे परिवर्तन नही होते।* अर्थात् n या मुद्रा मे वृद्धि या कमी होने से k, k तथा r मे परिवर्तन होगे।

कीन्स ने अपने समीकरण में साख मुद्रा को महत्त्वपूण स्थान दिया है। उनके अनुसार जनता बैंक म रुपया जमा करती है और आवश्यकता के समय उसे चैक या अन्य साख पत्रो से निकालती है। इसलिए साख मुद्रा को मुद्रा-

परिमाण सिद्धान्त मे उचित स्थान मिलना चाहिए, क्योंकि कीन्स के अनुसार वर्तमान आर्थिक विश्व के अधिकाश व्यवहार साख-मुद्रा से किए जाते हैं न कि वास्तविक मुद्रा से।

इस समीकरण का प्रमुख दोष यह है कि k तथा k' को निश्चित रूप से मालूम नही किया जा सकता। फिशर व कीन्स के समीकरणो मे भी थोडा सा ही अन्तर है। फिशर ने मुद्रा की माँग मे सभी विनिमय व्यवहारो की मौद्रिक राशि का समावेश किया है जबकि कीन्स समीकरण म केवल उसी धनराशि का समावेश है जो जनता भविष्यकालीन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अपने पास या बैंक म जमा करती है। दूसरे, फिशर के समीकरण म दीर्घकालीन अवधि पर अधिक बल दिया गया है तो कीन्स के समीकरण म अल्पकालीन अवधि पर।

साराश

मुद्रा का मूल्य उसकी क्रयशक्ति है। यदि कीमतें बढती हैं तो मुद्रा का मूल्य कम होता है और कीमतें गिरती हैं तो मुद्रा का मूल्य बढता है। मुद्रा का मूल्य अन्य वस्तुओ की भाँति उसकी माँग एव पूर्ति पर निर्भर रहता है।

मुद्रा की माँग किसी समाज मे वस्तुओ के विनिमय के लिए जितनी मुद्रा की आवश्यकता होगी उसे मुद्रा की माँग कहेगे।

मुद्रा की पूर्ति जो मुद्रा (पत्र मुद्रा एव धातु मुद्रा) चलन मे होती है उसे मुद्रा की पूर्ति कहते हैं। परन्तु एक मुद्रा यदि १० बार लेन-देन मे आती है तो वह १० मुद्रा का कार्य करती है। अर्थात् मुद्रा की पूर्ति वास्तविक मुद्रा को उसकी चलनगति से गुणा करके मालूम होती है।

मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त के अनुसार अन्य बातें समान रहते हुए मुद्रा के परिमाण मे परिवर्तन होते ही मुद्रा के मूल्य में विरोधी दिशा में तथा वस्तुओ की कीमतों मे उसी दिशा मे अनुपातिक परिवर्तन होग।

अन्य बातें जो समान रहनी चाहिए —

१ उपयोग मे केवल धातु-मुद्रा हो।
२ मुद्रा केवल विनिमय कार्यों के लिए प्रयुक्त होती हो।
३ मुद्रा की गति मे परिवर्तन न हो।
४ वस्तु विनिमय न होता हो।
५ उत्पादन स्थिर रहे।

६. जनता की संख्या, उपभोग की आदतें आदि स्थिर रहे।

७. साख का उपयोग न होता हो।

परन्तु आज के परिवर्तनशील समाज मे न तो यह सम्भव है और साथ ही बैंक निर्मित साख का उपयोग भी होता है अतः मुद्रा परिमाण सिद्धान्त में हमको साख एव साख की गति का समावेश भी करना होगा।

समीकरण · प्रारम्भिक दशा मे सिद्धान्त का समीकरण होगा :

$$PT=MV \text{ अथवा } P=\frac{MV}{T}$$

साख का समावेश करने के बाद

$$PT=MV+M'V' \text{ अथवा } P=\frac{MV+M'V'}{T}$$

मुद्रा के लिए अलग से सिद्धान्त होने का प्रमुख कारण मुद्रा की विशेषता है। अन्य वस्तुओ की उपयोगिता उनकी कितनी मात्रा उपलब्ध है इस बात पर निर्भर होती है पर मुद्रा की उपयोगिता मुद्रा मे न रहते हुए उसकी क्रय-शक्ति पर निर्भर रहती है। दूसरे, मुद्रा की माँग विनिमय कार्य पर निर्भर है जो उत्पादन आदि मे परिवर्तन हुए बिना नहीं बदलती। अर्थात् मुद्रा की माँग की लोच समानुपात (unity) रहती है।

सिद्धान्त की मान्यताएँ

कीमतें समीकरण की अन्य बातो के परिणाम हैं, कारण नहीं। अर्थात् इनमे चलन मे रहने वाली धातु-मुद्रा एव साख-मुद्रा, इनकी गति तथा व्यापार के परिवर्तन के कारण हेरफेर होता है। इसलिए सिद्धान्त की निम्न मान्यताएँ है :—

(१) धातु-मुद्रा मे परिवर्तन के साथ साख मुद्रा में भी निश्चित अनुपात में परिवर्तन होगा।

(२) एक देश की धातु मुद्रा की वृद्धि का परिणाम समान प्रमाप वाले अन्य देशो पर भी होता है।

(३) धातु-मुद्रा की अपेक्षा साख-मुद्रा अधिक अनुपात में बढने पर धातु मुद्रा का विस्थापन होगा और विश्व के मूल्यस्तर बढेंगे।

(४) धातु-मुद्रा या साख मुद्रा की वृद्धि से उनकी गति में वृद्धि होगी, यह आवश्यक नहीं है। गति में वृद्धि लाने वाले अन्य कारण हैं।

(५) व्यापार में परिवर्तन मुद्रा परिमाण पर निर्भर न रहते हुए अन्य बाहरी कारणो पर निर्भर रहते हैं।

आलोचना

१ मांग एव पूर्ति के नियम का सरल विवेचन है।

२ मांग एव पूर्ति के नियम पर आधारित स्वयसिद्ध सत्य है।

३ यह काल्पनिक एव अपूर्ण है क्योकि मुद्रा एव साख के सही-सही आंकडे नहीं मालूम हो सकते।

४ कीन्स के अनुसार आजकल अधिकाश विनिमय-व्यवहार साखपत्रों द्वारा होते हैं जिनका धानु निधि से बहुत कम सम्बन्ध है। अत यह सिद्धान्त मुद्रा की क्रयशक्ति का नाप होते हुए रोकड-व्यवहार का प्रमाप बताता है।

५ सिद्धान्त मे मुद्रा की मांग की अपेक्षा पूर्ति पक्ष पर ही अधिक जोर दिया गया है।

६ तेजी-मदी के समय कीमतो के उतार चढाव के कारणो को बताने में यह सिद्धान्त बेकार है।

इन आलोचनाओं के होते हुए भी मूल्यस्तर को ठीक करने के लिए यह सिद्धान्त वास्तविक व्यवहार में अधिक उपयोगी है।

अध्याय ७

मूल्य निर्देशांक

मुद्रा का मूल्य उसकी क्रयशक्ति है, यह हम अभी देख चुके हैं। जहाँ तक मुद्रा से हम वस्तुएँ खरीदते एव बेचते हैं वहाँ तक मुद्रा का मूल्य एव वस्तुओ की कीमतो के साथ सम्बन्ध होता है, यह सम्बन्ध हमने पिछले अध्याय मे देखा। साराश मे उसी मुद्रा से यदि पहिले की अपेक्षा कम वस्तुएँ खरीदी जाती है तो हम यह कहेगे कि मुद्रा की क्रयशक्ति कम हो गई है। इसके विपरीत यदि उसी मुद्रा से हम पहिले की अपेक्षा अधिक वस्तुएँ खरीद सकते हैं तो हम यह कहेगे कि मुद्रा की क्रयशक्ति बढ गई है। साधारण बोलचाल की भाषा मे हम कहते है कि वस्तुओ की कीमतें बढ गई है या घट गई हैं। दूसरे शब्दो मे हम यह कह सकते है कि "कीमतें मुद्रा का मूल्य तथा अन्य वस्तुओं के बीच का अनुपात है जिसे किसी भी एक पक्ष मे परिवर्तन करने से—मुद्रा के पक्ष मे अथवा वस्तुओ के पक्ष मे—बदला जा सकता है।" अर्थात् मुद्रा का मूल्य एव वस्तुओ की कीमतो का विरोधी सम्बन्ध होता है। जब मुद्रा-मूल्य घटता है तो कीमते बढती है और जब मुद्रा-मूल्य बढता है तो कीमतें घटती है।

मूल्य निर्देशाक (Index Numbers) क्या है ?

हम यह तो देखते ही है कि किसी भी समय वस्तुओ के मूल्य न तो एक साथ बढते है और न एक साथ घटते ही है। कुछ वस्तुओ की कीमते घटती है और कुछ वस्तुओ की कीमते बढती है, परन्तु यदि कीमतो का औसत निकाला जाए तो उसमे या तो गिरती हुई प्रवृत्ति या बढती हुई प्रवृत्ति दिखाई देगी। इस औसत के उतार-चढाव से ही हम मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनो का अनुमान लगा सकते है। मुद्रा के मूल्य-परिवर्तनो को नापने की कोई भी ठीक-ठीक एव निश्चित विधि नही है, परन्तु हम कीमतो के उतार-चढाव से ही मुद्रा के मूल्य-परिवर्तनो को आँक सकते है। मूल्य-स्तर मे किस परिमाण मे परिवर्तन हो रहा है इसका साधारण अनुमान एक पद्धति द्वारा लगाया जाता है जिसे **साकेतिक संख्याएँ** अथवा **निर्देशांक** कहते है।

निर्देशाक निकालने की पद्धति के अनुसार हम किसी पूर्वकाल के मूल्य-स्तरो की तुलना उत्तरकाल के मूल्य-स्तरो से करते हैं, जिसमें भिन्न-भिन्न वस्तुओ के समूह बनाकर उनके विभिन्न काल के मूल्यों की तुलना की जाती है। अत यदि हम एक समय के मूल्यो की तुलना दूसरे किसी समय के मूल्यों के साथ करें तो हमको यह दिखाई देगा कि ऐसी अवस्था में भी मूल्यो का सामान्य स्तर एक ही दिशा म होगा, अर्थात् कीमतो के सामान्य स्तर मे या तो चढाव होगा या उतार। इस मूल्य-स्तर के चढाव-उतार को नापने की क्रिया को ही हम मूल्य निर्देशाक कहते है। यह केवल कीमतो का औसत रख किस दशा मे है यह सकेत करता है अथवा केवल उनकी प्रवृत्ति बताता है न कि विभिन्न वस्तुओ की कीमतो मे होने वाले पृथक परिवर्तन। इसलिए यह मूल्य-स्तर का केवल साकेतिक उत्तर है, सही उत्तर अथवा वास्तविक उत्तर नही। इसी कारण निर्देशाको को साकेतिक सख्याएँ भी कहा जाता है।

मूल्य निर्देशाक बनाने की विधियाँ

मूल्य निर्देशाक बनाने की दो प्रमुख विधियाँ है —

(क) सामान्य निर्देशाक (general index numbers)

(ख) भारशील निर्देशाक (weighted index numbers)

सामान्य निर्देशाक—*सामान्य निर्देशाक बनाने के लिए हमे किस वर्ष की* कीमतो की तुलना करना है, यह निश्चय करना होगा। यह वर्ष, जिसको आधार वर्ष (base year) कहते हैं, ऐसा हो जिसमें वस्तु-मूल्यो मे अधिक चढाव-उतार न हुए हो, न कोई ऐसी घटनाएँ घटी हो जिससे कि आर्थिक स्थिति पर गहरा प्रभाव पडा हो। इस वर्ष को निश्चित करने के उपरान्त निर्देशाक मे किन किन वस्तुओं के मूल्यो का समावेश हो यह निश्चित करना होगा। अगर हम जीवन-स्तर-मान निर्देशाक (cost of living index) बना रहे हैं तो उसम ऐसी ही वस्तुओ का समावेश करना होगा जो हमारे जीवन से सम्बन्धित हो—अर्थात् ये वस्तुएँ निर्देशाक के उद्देश्य पर निर्भर रहेगी। उस प्रकार मूल्य थोक हो अथवा फुटकर यह भी निर्देशाक के हेतु पर निर्भर रहेगा। यह सब निश्चय कर लेन के बाद हम आधार-वर्ष की विभिन्न वस्तुओ के मूल्यो को १०० मे परिणित करेंगे और इस प्रकार की परिणिति के उपरान्त उनके योग को वस्तुओं की सख्या से भाग देंगे। जो भागफल आएगा वह आधार वर्ष का निर्देशाक होगा। इसी प्रकार *जिस वर्ष के मूल्यों की तुलना कर रहे हैं* उसको भी आधार वर्ष के मूल्यो की तुलना मे १०० मे परिणित करके उनके

योग को वस्तुओ की सख्या से भाग देंगे । इससे जो भागफल आएगा वह उस वर्ष का निर्देशाक होगा । अब दोनो निर्देशाको की तुलना से हम यह समझ जाएँगे कि मूल्यो के सामान्य स्तर मे किस प्रतिशत म चढाव या उतार हुआ है । उदाहरणार्थ मान लीजिए कि १६३६ तथा १६४८ के मूल्य स्तरो की तुलना करनी है और १६३६ म दूध, शक्कर, चाय तथा कोयले की कीमत क्रमश ४ आने सेर ३ आने सेर, १ रु० पौड तथा १ आने सेर है और १६४८ मे इन्ही वस्तुओ के मूल्य क्रमश १ रु० सेर, ७½ आने सेर, २ रु० पौंड तथा ३ आने सेर हैं तो इनके निर्देशाक निम्न प्रकार होगे —

वस्तुएँ*	मूल्य-स्तर १६३६		मूल्य-स्तर १६४८	
	वास्तविक मूल्य	निर्देशाक	वास्तविक मूल्य	निर्देशाक
१ दूध	४ आने सेर	१००	१ रु० सेर	४००
२ शकर	३ आने सेर	१००	७½ आने सेर	२५०
३ चाय	१ रु० पौंड	१००	२ रु० पौड	२००
४ कोयला	१ आने सेर	१००	३ आने सेर	३००
योग		४००		११५०
		—४		—४
मूल्य-स्तर निर्देशाक		१००		२८७½

यदि दोनो वर्षों की प्रत्येक वस्तु के मूल्य की हम तुलना करे तो दूध की कीमत ४ गुनी, शकर की २½ गुनी, चाय की दुगुनी तथा कोयले की तिगुनी हो गई है, यह स्पष्ट हो जाता है । अत १६३६ के १०० की तुलना मे इनके निर्देशाक क्रमश १००×४, १००×२½, १००×२ तथा १००×३ अथवा ४००, २५० २०० तथा ३०० होगे और योग ११५० होगा । १६३६ मे कुल योग ४०० था तो १६४८ मे ११५० है । इनको ४ से विभाजित करने के बाद

* वस्तुएँ तथा उनके मूल्य काल्पनिक हैं ।

मूल्य-स्तर निर्देशाक क्रमश १०० और २८७⅔ आते हैं। अर्थात् १९३९ की अपेक्षा मूल्य-स्तर बढ गया है तथा यह वृद्धि १८७⅔ प्रतिशत है। दूसरे शब्दो मे मुद्रा का मूल्य १८७⅔% कम हो गया है।

भारशील निर्देशाक—यह निर्देशाक बनाने की दूसरी पद्धति है जिसके अनुसार वस्तुओ के महत्त्व के अनुसार उनको कुछ भार दिया जाता है। जिस कार्य के लिए निर्देशाक तैयार किये जाते है उनमे सब वस्तुओ का महत्त्व एकसा न होते हुए, कुछ वस्तुओ का महत्त्व अधिक एवम् कुछ का कम होता है। इसलिए *प्रत्यक्ष उपयोग के लिए भारशील निर्देशाक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एव विश्वसनीय* माने जाते है। जिन वस्तुओ को अधिक महत्त्व दिया जाता है उनकी कीमतो मे परिवर्तन होने से जीवनमान मे भी परिवर्तन होने की सम्भावना रहती है क्योकि आय का अधिक भाग उन पर खर्च होता है। किन्तु जो वस्तुएँ कम महत्त्वपूर्ण होती हैं उन पर कम खर्च होता है तथा उनकी कीमतो मे परिवर्तन होने से जीवनमान मे परिवर्तन होने की सम्भावना कम होती है। प्रत्येक वस्तु को यह भार उसी परिमाण मे दिया जाना चाहिए जितना उपभोग मे उसका वास्तव मे महत्त्व है। अब हम पहले उदाहरण को ही भारशील निर्देशाङ्क मे परिवर्तन करेंगे।

मान लीजिए[1] कि दूध, शक्कर, चाय तथा कोयले का क्रमश ४, ३, २ और १ महत्त्व की दृष्टि से भार है। १९३९ की कीमतो को हम पूर्ववत् १०० मे परिणित करके, उनको उनके भार से गुणा करेंगे। फिर जो योग आयगा उसका औसत वस्तुओ के कुल भार से विभाजित करके निकालेंगे। यही औसत १९३९ का भारशील निर्देशाक होगा। इसी प्रकार १९४८ के मूल्यो को भी हम १९३९ के मूल्यों की तुलना करते हुए १०० मे परिणित करेंगे तथा उन कीमतो को उनके भार से गुणा करके वस्तुओ के कुल भार से विभाजित करेंगे। भागफल हमारा औसत होगा जो १९४८ के मूल्यो का भारशील निर्देशाक होगा।

अब दोनो निर्देशाङ्को की तुलना मे हमको यह मालूम हो जायगा कि कितने प्रतिशत मूल्य-स्तर में वृद्धि या कमी हुई है। उदाहरणार्थ, पहले उदाहरण को ही हम भारशील निर्देशाक मे परिणित करेंगे जिससे दोनों पद्धतियो का भेद स्पष्ट हो जायगा।

---

[1] यह उदाहरण काल्पनिक है।

वस्तुएँ	१९३९ का मूल्य स्तर			१९४८ का मूल्य-स्तर		
	वास्तविक मूल्य	भार	भारशील मूल्य	वास्तविक मूल्य	आधार वर्ष मे तुलनात्मक मूल्य	भारशील परिवर्तित मूल्य
दूध	४ आने सेर	४	४००	१ रु० सेर	४००	×४ =१६००
शक्कर	३ आने सेर	३	३००	७½ आ० सेर	२५०	×३=७५०
चाय	१ रु० पौंड	२	२००	२ रु० पौंड	२००	×२=४००
कोयला	१ आने सेर	१	१००	३ आने सेर	३००	×१=३००
योग		१०	१०००			३०५०
			—१०			—१०
निर्देशांक	(औसत)		१००			३०५

उपर्युक्त भारशील निर्देशांको मे यह स्पष्ट होता है कि १९३९ तथा १९४८ के निर्देशांक १०० तथा ३०५ है। अत तुलनात्मक दृष्टि से १९४८ के मूल्य स्तर मे २०५ प्रतिशत वृद्धि हुई है। दूसरे शब्दो मे मुद्रा का मूल्य २०५ प्रतिशत कम हो गया है।

यदि हम दोनो पद्धतियो के निर्देशांको की तुलना करे तो सामान्य निर्देशांक और भारशील निर्देशांक से प्रदर्शित मूल्य-वृद्धि मे बहुत अधिक अन्तर है जिसकी सम्भावना का कारण यह हो सकता है कि हमने वस्तुओ को जो भार दिया है वह उनके वास्तविक उपभोग के महत्त्व मे अधिक हो। अत भारशील निर्देशांक कम विश्वसनीय होते है, किन्तु सामान्य निर्देशांको से हम वस्तु स्थिति का ठीक अनुमान लगा सकते है। परन्तु इनको तैयार करने मे वस्तुओ का चुनाव ठीक होना तथा उनकी कीमत ठीक प्रकार ली जाना आवश्यक है। सामान्य निर्देशांक बनाते समय यदि अधिक सख्या मे वस्तुओ का समावेश किया जाय तो सामान्य निर्देशांक अधिक विश्वसनीय हो सकते है।

निर्देशांक बनाते समय ध्यान मे रखने योग्य सूचनाएँ

१. आधार-वर्ष का चुनाव—सबसे पहिले आधार वर्ष का चुनाव बहुत सावधानी से करना चाहिए। यह वर्ष ऐसा होना चाहिए जिसमे ऐसी कोई भी

घटना न घटी हो जिसके कारण वस्तु-मूल्यों में अधिक अन्तर पड़े क्योंकि उस अवस्था में निर्देशांक तैयार करने का मूल हेतु —अर्थात् मुद्रा की क्रयशक्ति पर क्या प्रभाव हुआ, यह जानना – सफल नहीं हो सकता। दूसरे, ऐसे वर्ष के मूल्य-स्तर उस आकस्मिक घटना से प्रभावित होने के कारण मूल्य-स्तर का भी ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता। फिर भी आधार-वर्ष कौनसा लिया जाय यह निर्देशांक बनाने के उद्देश्य पर निर्भर है। उदाहरणार्थ, युद्ध के पहिले तथा युद्ध के बाद के मूल्य-स्तर की तुलना करने के लिए युद्ध-पूर्व वर्ष १९३९ लेना ही लाभकर होगा।

२. वस्तुओं का चुनाव —निर्देशांक में किन वस्तुओं का समावेश किया जाए, इसमें भी सावधानी की आवश्यकता है। यह वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिए जिससे निर्देशांक बनाने का हमारा उद्देश्य सफल हो सके। उदाहरणार्थ, यदि श्रमिकों के जीवन स्तर के अन्तर को हम जानना चाहते हैं तो वस्तुएँ ऐसी हों जो अधिकतर श्रमिकों के उपभोग में आती हों और सामान्य जनता का जीवन-स्तर जानना हो तो सर्व-साधारण के उपभोग की वस्तुओं को ही निर्देशांक बनाने के लिए लेना होगा। ये वस्तुएँ देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार भिन्न होंगी। अधिक से अधिक वस्तुओं का समावेश निर्देशांक बनाते समय करना चाहिए जिससे विश्वसनीय परिणाम पर पहुँच सकें। इस कार्य में विभिन्न वस्तुओं के सामाजिक एवं आर्थिक महत्त्व को भी ध्यान में रखना होगा क्योंकि सभी वस्तुओं का महत्त्व समान नहीं होता।

३. वस्तुओं की कीमतें—वस्तुओं की कीमतों का समावेश करते समय भी सावधानी रखनी चाहिए। वस्तुओं की कीमतें थोक हो अथवा फुटकर यह बात निर्देशांक बनाने के उद्देश्य पर निर्भर रहेगी। यदि जीवन-स्तर मालूम करना है तो फुटकर मूल्य लेना होगा। इसके विपरीत, यदि निर्देशांक अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की जानकारी के लिए हो तो अन्तरराष्ट्रीय मूल्य तथा विदेशी व्यापार में आनेवाली वस्तुओं को ही लेना पड़ेगा। इसके साथ ही, वस्तुओं के मूल्य सही हैं, यह देखना भी आवश्यक है।

४. वस्तुओं की संख्या—निर्देशांक विश्वसनीय होने के लिए यह भी आवश्यक है कि वस्तुओं की संख्या अधिक हो। जितनी ही वस्तुओं की संख्या अधिक होगी उतनी प्रामाणिकता निर्देशांकों की बढ़ेगी। वस्तुओं की संख्या कितनी हो इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता अपितु वस्तुओं की संख्या साधारणतः निर्देशांक के हेतु पर निर्भर रहेगी। भारत-सरकार के आर्थिक सलाहकार के मत से २३ संख्या पर्याप्त है।

५. मूल्य के अनुपातों का औसत—मूल्य के अनुपातों का औसत भी बहुत ही सावधानी से निकालना चाहिए, जिससे उसमें किसी प्रकार की भूल न हो जाय। औसत निकालने की भिन्न-भिन्न विधियाँ हैं जिस सम्बन्ध में अभी तक एक मत नहीं हुआ है। परन्तु सामान्यतः अङ्कगणित औसत से ही काम लिया जाता है और यह पद्धति सरल भी है।

निर्देशांक बनाने की कठिनाइयाँ

इतनी सब सावधानी रखते हुए भी निर्देशांक मुद्रा के मूल्य-परिवर्तन को अथवा वस्तुओं के मूल्य-स्तर को सही-सही दिग्दर्शित नहीं करते क्योंकि वे केवल मूल्य-स्तर का मध्यम मान (average mean) बताते हैं तथा मुद्रा के प्रसार अथवा सकोच से होने वाले परिणामों को नहीं बता सकते। किन्तु मुद्रा के मूल्य-परिवर्तन का हम अनुमान लगा सकते हैं। अतः रॉबर्टसन के शब्दों में *"तात्पर्य यह कि मुद्रा के मूल्य-परिवर्तनों का ठीक से माप लेना न सैद्धान्तिक दृष्टि से और न प्रत्यक्ष व्यवहार में ही सम्भव है। हाँ, मुद्रा-मूल्य में परिवर्तन होता है और यदि पर्याप्त सावधानी रखी गई तो प्रत्यक्ष उपयोग के लिए उसका माप ठीक रीति से लिया जा सकता है।"*[1]

निर्देशांकों के बनाने में वास्तव में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं जिनकी वजह से हमारा निर्देशांकों की सहायता से निकाला हुआ परिणाम गलत हो सकता है। इसलिए मार्शल ने कहा है कि "क्रयशक्ति का पूर्णतः सही माप लेना असम्भव ही नहीं किन्तु विचारणीय भी नहीं है।"[2] ये कठिनाइयाँ निम्नलिखित हैं —

१. आधार-वर्ष का चुनाव अत्यन्त कठिन होता है—आधार-वर्ष का चुनाव ही निर्देशांकों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि यदि गलती से भी कोई ऐसा वर्ष चुन लिया जाय जिसमें कोई विशेष घटनाएँ न होते हुए भी मूल्य-स्तर या तो अधिक ऊँचे रहे हों या अधिक कम रहे हों तो उससे हमारा निकाला हुआ निर्देशांक कभी भी सही नहीं होगा। इस कठिनाई को दूर करने के लिए विदेशों में सामान्यतः ५ वर्षों के मूल्य-स्तर का औसत लेकर उसे आधार वर्ष मानते हैं—उदाहरणार्थ, इकॉनॉमिस्ट के निर्देशांक जो १९४५-१९५० की औसत कीमतों को आधार मानते हैं।

२. वस्तुओं के चुनाव में कठिनाई—वस्तुएँ चुनने में कठिनाई इसलिए

---

1. *Money* by Robertson, p 27
2. "A perfectly exact measure of purchasing power is not only unattainable but even unthinkable."—*Marshall.*

प्रतीत होती है क्योकि मानवी आवश्यकताएँ स्थिर अथवा एकसी न रहते हुए उनमे समयानुसार परिवर्तन होता रहता है अथवा अनेक चीजो के लिए माँग भी नही रहती। उदाहरणार्थ, आजकल नेकटाई की माँग पहिले की तुलना म कम हो गई है, इसके विपरीत खद्दर के कपडे की माँग बढ गई है क्योकि प्रत्येक व्यक्ति खद्दर पहिन कर नेता बनने अथवा कहलाने का इच्छुक है।

३ कीमतों सम्बन्धी कठिनाई—प्रत्येक वस्तु की कीमत प्राप्त करना भी इतना सुलभ नही होता। दूसरे, निर्देशाक बनाते समय उनकी थोक कीमतें ली जायँ अथवा फुटकर। इसके साथ ही फुटकर कीमतो एव थोक कीमतो म परिवर्तन भी कभी एक साथ नही होते। थोक कीमत कम हो सकती हैं परन्तु फुटकर कीमतें वही रह सकती है। इसके अलावा कुछ खाद्यान्न वस्तुओ को छोडकर अन्य वस्तुओ के थोक भाव भी विश्वसनीय रूप स नहीं जाने जा सकते क्योकि सभी वस्तुओ के थोक भाव प्रकाशित नही होते है। फिर जिस वस्तु के थोक भाव मालूम भी हो वह किस प्रकार की है इसके विषय मे हमको कुछ भी नही मालूम होता।

४ व्यवहारिक कठिनाई—उपर्युक्त कठिनाइयो के अतिरिक्त औसत निकालने की कठिनाई रहती ही है कि कौनसी पद्धति का उपयोग किया जाय। मान लीजिए कि औसत निकाल भी लिया जाय, तब भी हम निर्देशाको का विभिन्न देशो की मुद्रा का मूल्य जानने के लिए उपयोग नहीं कर सकते, क्योकि विभिन्न देशो की सभ्यता, संस्कृति एव आर्थिक स्तर म भिन्नता होती है। हाँ, हम औसत अनुमान लगा सकते हैं कि मुद्रा-मूल्य गिर रहा है अथवा नही। इसीलिए निर्देशाको का मूल्य नापने का एक औसत साधन माना जाता है परन्तु सही साधन नही।

निर्देशाक बनाने से लाभ

निर्देशाक वस्तुओ की कीमतो का अथवा मुद्रा के मूल्य का औसत स्तर किस ओर जा रहा यह बताते हुए भी अर्थशास्त्रियो, व्यापारियो एव शासन के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। निर्देशाक से होने वाले लाभ निम्नलिखित है :—

१ निर्देशाको के द्वारा हम क्रयशक्ति के परिवर्तन को जान सकते हैं। ये परिवर्तन अर्थशास्त्र के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं क्योकि इनसे किसी भी देश के जीवन-स्तर के परिवर्तनो को जाना जा सकता है।

२ क्रयशक्ति परिवर्तन से भिन्न भिन्न समय म तथा भिन्न भिन्न देशो मे जनता की आय तथा श्रमिको के वेतन म क्या अन्तर पडता है, इसकी जानकारी

प्राप्त होती है तथा निर्देशाको के द्वारा वेतन-स्तर मे समायोजन (adjustment) करना सम्भव होता है।

३ मुद्रा-सकोच अथवा मुद्रा-प्रसार के कारण क्रयशक्ति पर क्या एव कितना प्रभाव पडता है, इसको आँका जाता है।

४ दीर्घकालीन ऋणो के भुगतान मे समता लाने के लिए निर्देशाक अधिक उपयोगी हैं क्योकि इनके द्वारा क्रयशक्ति की कमी या बढती का माप मिलता है।

५ फिशर, कीन्स आदि अर्थशास्त्रियो के मतानुसार वस्तुओ का मूल्य-स्तर स्थिर रखने के लिए तथा व्यापार मे स्थायित्व लाने के लिए ये बहुत उपयोगी हैं क्योकि कीमतो के परिवर्तन के कारण व्यापार एव उद्योगो पर क्या प्रभाव हुआ यह निर्देशाको की सहायता से जाना जा सकता है।

६ सरकार के लिए तथा वैयक्तिक दृष्टि से भी विभिन्न देशो की मौद्रिक आय के मूल्य की तुलना करने मे निर्देशाक सहायक होते है जिससे मौद्रिक आय के मूल्य की अधिकता के अनुसार अपने खर्चो का अथवा विनियोगो का समायोजन सम्भव हो सके।

इस प्रकार निर्देशाक की सहायता मे मूल्य-स्तर मे होने वाले परिवर्तन जाने जा सकते है तथा उनसे समाज के विभिन्न वर्गो पर होने वाले परिणाम जाने सकते है, जिससे मुद्रा मूल्य मे स्थिरता लाने के प्रयत्न इनकी सहायता से किये जा सकते हैं। इसी प्रकार मजदूरी एव आय का समायोजन करने के लिए भी ये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। उदाहरणार्थ भारत मे मँहगाई भत्ते मे परिवर्तन इन्ही निर्देशाको की सहायता से किया जाता है।

इसके सिवाय अर्थशास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी को देश के आर्थिक जीवन मे होने वाली उथल-पुथल का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने के लिए तथा किसी विशेष निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए निर्देशाक अत्यन्त सहायक प्रमाणित हुए हैं।

इसी प्रकार व्यापारियों की दृष्टि से भी निर्देशाक अत्यन्त उपयोगी है क्योंकि निर्देशाको की सहायता से पूँजी बाजार मे होने वाले उतार-चढाव तथा आय के परिवर्तनो को जान सकते है जिससे वे अपनी विनियोग-क्रियाओ का नियन्त्रण सफलता से कर सकते है। इसी प्रकार ब्याज-दर, मजदूरी आदि का मूल्य स्तर के साथ समायोजन करने के लिए भी निर्देशाक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए है। इस प्रकार निर्देशाक अर्थशास्त्री, व्यापारी एव इतिहास के

विद्यार्थी के लिए तुलनात्मक अध्ययन का एक उपयोगी साधन है जिसके व्यावहारिक महत्त्व को किसी भी तरह कम नहीं आका जा सकता।

विश्वसनीय निर्देशांक-स्रोत

विभिन्न देशों मे विश्वसनीय निर्देशांक प्राप्त करने के स्रोत निम्नलिखित हैं

इङ्गलैण्ड मे 'सॉरबेक' तथा 'इकॉनामिस्ट' ये दोनो सस्थाएँ अपने निर्देशांक बनाने के लिए क्रमश ४५ और २२ वस्तुओं का समावेश करती है। भारत मे श्रमिकों के जीवन-स्तर सम्बन्धी बम्बई श्रम-मन्त्रालय के निर्देशांक तथा रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया के निर्देशांक विश्वसनीय होते है। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे 'ब्यूरो ऑव लबर स्टैटिस्टिक्स' के तथा सयुक्त राज्य मे श्रम मन्त्रालय तथा 'बोर्ड ऑव ट्रेड' के निर्देशांक विश्वसनीय है।

साराश

निर्देशांक क्या हैं—मूल्य स्तर के चढाव-उतार को नापने की क्रिया को ही मूल्य निर्देशांक कहते हैं।

बनाने की विधियाँ (१) सामान्य निर्देशांक—जिस वर्ष के मूल्यो की तुलना करनी हो उसे आधार वर्ष मानकर उसके मूल्यों को १०० में परिणित किया जाना है। उद्देश्य के अनुसार वस्तुओं की सख्या तथा गुण एव उनका मूल्य लेना चाहिए। परिणित मूल्यो का योग करके उसमे वस्तुओं की सख्या से भाग देंगे। इसी प्रकार जिस वर्ष के मूल्यों की तुलना करनी है उसके मूल्यों को भी आधार वर्ष के मूल्यो की तुलना मे १०० में परिणित करके इनके योग को वस्तुओं की सख्या मे भाग देंगे। भागफल निर्देशांक होगा। दोनो वर्षों के निर्देशांकों की तुलना करके मूल्य के उतार चढाव की नाप की जा सकती है।

(२) भारशील निर्देशांक—वस्तु के उपभोग के महत्त्व के अनुसार उसे एक भार दिया जाता है। आधार वर्ष के मूल्यो को १०० मे परिणित करके *भार से गुणा किया जाता है। भारशील मूल्यों के योग को भार के योग से* भाग देने पर आधार वर्ष का निर्देशांक प्राप्त होगा। इसी प्रकार तुलना किये जाने वाले वर्ष के मूल्यो को आधार वर्ष के मूल्यो की तुलना करते हुए १०० मे परिणित करेंगे तथा भारशील मूल्यो के योग को भार के योग से भाग देंगे। भागफल भारशील निर्देशांक होगा।

निर्देशांक बनाते समय ध्यान मे रखने योग्य बातें—

१. आधार वर्ष का चुनाव,
२. वस्तुओ का चुनाव,
३. वस्तुओं की कीमतें,
४ वस्तुओ की संख्या,
५ मूल्य के अनुपातो का औसत।

लाभ १ क्रयशक्ति के परिवर्तन का ज्ञान; २. वेतन-स्तर में समायोजन करना सम्भव; ३ मुद्रा प्रसार एवं संकोच का क्रयशक्ति पर प्रभाव; ४ दीर्घकालीन ऋण-शोधन में समता लाना; ५ वस्तुओं का मूल्य-स्तर स्थिर रखना तथा व्यापार में स्थायित्व; ६ सरकार को विभिन्न देशो की मौद्रिक आय के मूल्यो की तुलना करने में सहायक।

अध्याय ८

मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-संकोच

मुद्रा-परिमाण मे वृद्धि या कमी होने से वस्तुओ की कीमतें सामान्यत प्रभावित होती हैं, यह हमने पिछले अध्याय म देखा। मुद्रा परिमाण मे यदि माँग से अधिक वृद्धि होती है तो उस समय वस्तुओं का मूल्य-स्तर बढ़ने लगता है अथवा **मुद्रा का अवमूल्यन** (depreciation of money) होने लगता है अर्थात् वही मुद्रा पहले की अपेक्षा कम वस्तुएँ खरीद सकती है। इसके विपरीत जब किन्ही कारणो से माँग की अपेक्षा मुद्रा-परिमाण मे कमी की जाती है तो वस्तुओं का मूल्य-स्तर घटने लगता है या कीमतें गिर जाती हैं अथवा वही मुद्रा अब पहिले की अपेक्षा अधिक चीजें खरीद सकती है। ऐसी अवस्था मे **मुद्रा का अधिमूल्यन** (appreciation of money) होता है। मुद्रा की माँग की अपेक्षा अधिक वृद्धि करने की क्रिया को हम मुद्रा-स्फीति (inflation) तथा कम करने की क्रिया को मुद्रा-संकोच (deflation) कहते हैं।

मुद्रा-स्फीति अथवा मुद्रा का अवमूल्यन—जब माँग की अपेक्षा मुद्रा की पूर्ति अधिक होने के कारण वस्तुओ का मूल्य-स्तर अधिक बढ़ने लगता है तब उसे मुद्रा स्फीति कहते हैं। यह मुद्रा-स्फीति अथवा वस्तुओ के मूल्य-स्तरो मे वृद्धि तीन कारणो से होती है :[1]

(१) साधारण परिस्थिति म किसी प्रकार का परिवर्तन हुए बिना यदि देश का उत्पादन घट जाता है तथा मुद्रा की मात्रा वही रहती है।

(२) यदि उत्पादन एव बिकने के लिए वस्तुओ म किसी प्रकार की कमी अथवा अधिकता न होते हुए मुद्रा की पूर्ति बढा दी जाती है।

(३) उत्पादन एव बिकने के लिए वस्तुएँ तथा मुद्रा की पूर्ति उसी प्रकार रहते हुए यदि साख की मात्रा अधिक हो जाती है।

मुद्रा-सकोच अथवा मुद्रा का अधिमूल्यन—मुद्रा-स्फीति के विपरीत यदि मुद्रा की पूर्ति उसकी माँग की अपेक्षा कम होने से वस्तुओ के मूल्यस्तर मे गिरावट

---

[1] *Money* by Kinley, pp 179-181

आती है तब उसे मुद्रा सकोच कहते है। मुद्रा सकोच के कारण मुद्रा स्फीति के विपरीत हैं।

मुद्रा सकोच अथवा मुद्रा का अधिमूल्यन उस क्रिया को कहते है जिससे मुद्रा का चलन माग की अपेक्षा बहुत कम हो जाता है।

मुद्रा-स्फीति के कारण

मुद्रा स्फीति अनेक कारणो से होता है। कुछ प्राकृतिक तो कुछ बनावटी कारण भी होते है।

प्राकृतिक कारणो म हम उस कारणो का समावेश करेगे जो सरकार के नियन्त्रण म नही होते जैसे सोने या चादी का खानो से अधिक उत्पादन होना नई खानो की खोज तथा सोना चादी का अधिक मात्रा म आयात होने लगना। यदि स्वण के अधिक आयात के कारण अथवा स्वण की पूर्ति बढने के कारण मूल्य-स्तर बढते है तो उसे स्वण मुद्रा-स्फीति (gold inflation) कहते है।

बनावटी कारणो म वे कारण होते है जिन्हे सरकार राष्ट्रीय बजट को सन्तुलित करने के लिए काम मे लाती है। जैसे किसी सकट काल मे अथवा युद्धजन्य परिस्थिति म सरकार को जब अधिक व्यय करना पडता है उस समय या तो ऋण लेकर काम हो सकता है या फिर पत्र मुद्रा का चलन बढाकर। ऐसी अवस्था म आवश्यकता से अधिक पत्र मुद्रा चलन म लाई जाती है। इस अवस्था म उसे चलार्थ मुद्रा स्फीति (currency inflation) कहते है। दूसरे मुद्रा के चलन म कमी न होते हुए जब उत्पादन घटने लगता है उस अवस्था म विनिमय के लिए वस्तुओ की कमी के कारण कीमत बढने लगती हैं। इस अवस्था म उसे उत्पादन स्फीति (production inflation) कहते है। इसी प्रकार जब धातु मुद्रा तथा पत्र मुद्रा का परिमाण वही रहते हुए साख मुद्रा की पूर्ति माग की अपेक्षा अधिक हो जाती है और वस्तुओ की कीमत बढने लगती है तब उसे साख स्फीति (credit inflation) कहते है। जिस समय किसी भी देश म पत्र मुद्रा का चलन माग से इतना अधिक हो जाता है कि जनता का विश्वास उस मुद्रा से उठ जाय तब ऐसी अवस्था म उस मुद्रा का मूल्य जिसकी वह बनाई जाती है उससे भी कम हो जाता है। इसका उदाहरण हमको चीन के अथवा जमनी के इतिहास स मिलता है। इस प्रकार की स्फीति को अधि स्फीति (hyper inflation) कहते है। इसी प्रकार उत्पादन क्षेत्र मे कभी कभी ऐसा होता है कि उत्पादन के साधनो

का मूल्य वही रहता है परन्तु प्रत्येक साधन की उत्पादन क्षमता बढने से उत्पादन का परिमाण बढ जाता है जिससे उत्पादन का लाभ भी बढ जाता है। परन्तु इस लाभ का वितरण उत्पादन के अन्य साधनो को न करते हुए उत्पादक स्वय ही हड़प जाता है तब उसे लाभ-स्फीति (profit inflation) कहते हैं।

दूसरे जब देश के उद्योग धधो का विकास करने के लिए देश की सरकार ससार के मूल्य स्तर की अपेक्षा देश का आतरिक मूल्य-स्तर ऊँचा करना चाहती है तब वह माँग की अपेक्षा मुद्रा की पूर्ति बढा देता है।

मुद्रा-सकोच के कारण

(१) पहिला कारण यह है कि जब उत्पादन की मात्रा बढने लगती है तथा मुद्रा परिमाण पूर्ववत् रहता है उस अवस्था मे मुद्रा विनिमय के लिए वस्तुएँ अधिक हो जाने से मुद्रा की क्रयशक्ति बढ जाती है तथा कीमत गिरने लगती है।

(२) जिस समय किन्ही कारणो से सरकार देश की मुद्रा का परिमाण कम कर देती है और उत्पादन अथवा विनिमय के लिए प्राप्त वस्तुओ की सख्या मे कमी नही आती उस समय भी मुद्रा की क्रयशक्ति बढने लगती है अथवा कीमत गिरने लगती हैं।

(३) उत्पादन एव विक्रयार्थ वस्तुओ मे तथा पत्रमुद्रा एव धातुमुद्रा मे किसी भी प्रकार का परिवर्तन न होते हुए भी यदि किसी कारण से साख का उपयोग कम हो जाता है तो ऐसी दशा मे साख की कमी के कारण उपलब्ध मुद्रा एव साख साधनो मे ही विनिमय हो सकेगा। परिणामस्वरूप वस्तुओ की कीमत गिरने लगेगी अथवा मुद्रा का मूल्य बढ जायगा।

मुद्रा स्फीति एव सकोच का प्रभाव

मुद्रा स्फीति अथवा मुद्रा सकोच जिस समय किसी देश मे होता है उस समय प्रत्येक वस्तु की कीमत न तो एकसी बढ़ती है और न प्रत्येक वस्तु की कीमत गिरती ही है। बल्कि कुछ वस्तुओ की कीमत गिरती है तथा कुछ वस्तुओ की कीमत बढती है और मूल्य स्तर मे एक ही दिशा मे परिवर्तन होता है। अर्थात् मुद्रा-स्फीति की अवस्था मे मूल्य स्तर बढने लगता है और मुद्रा-सकोच की अवस्था मे मूल्य-स्तर घटने लगता है जिसका अनुमान निर्देशाङ्क से लगाया जा सकता है। कीमत जिस समय बढती या घटती है उस समय समाज के विभिन्न वर्गों पर विभिन्न परिणाम होते हैं क्योकि किसी भी

समाज मे कुछ देनदार होते है तथा कुछ लेनदार, कुछ उत्पादक (producers) या व्यापारी होते है, कुछ लोग श्रमिक या निश्चित वेतन पाने वाले कर्मचारी होते है तथा सभी लोग उपभोक्ता होने है। इनमे से प्रत्येक वर्ग की आर्थिक शक्ति भी भिन होती है। इस विभिन्नता की दृष्टि से प्रो० कीन्स ने समाज का वर्गीकरण इस प्रकार किया है —

१ विनियोगकर्ता (investing class) (विनियोक्ता)
२ व्यापारी अथवा उत्पादक वर्ग, तथा
३ श्रमिक एव कर्मचारी वर्ग।

मुद्रा-स्फीति (अथवा मुद्रा के अवमूल्यन) के परिणाम

१ बढती हुई कीमतो से **व्यापारियो तथा** उत्पादको का लाभ बढता है जिससे उत्पादन एव व्यापार कार्य मे वृद्धि होती है क्योकि उत्पादन मूल्य जिस परिमाण मे कीमतें बढती है उसी परिमाण मे नही बढता, जिसकी वजह से लाभ बढता है तथा व्यापार एव उद्योगो को प्रोत्साहन मिलता है। यदि कीमतें क्रमश बढती रही तो उत्पादन एव व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है। इसके विपरीत यदि तीव्र गति से कीमतें बढती है तो व्यापार मे अनिश्चितता आ जाती है और सट्टेबाजी शुरू होकर अनैतिकता फैलती है जिसका व्यापार तथा देश पर बुरा परिणाम होता है। उत्पादक के नाते किसानो पर भी यही परिणाम होते है।

२ बढती हुई कीमतो के समय **देनदारो को** लाभ होता है क्योकि मुद्रा की क्रयशक्ति कम होने से वे वस्तुओ मे कम भुगतान करते हैं। इस समय **लेनदारो** को हानि होती है क्योकि वे उतनी ही मुद्रा से अब पहिले की अपेक्षा —मुद्रा की क्रयशक्ति कम होने से—कम वस्तुएँ ले सकते है। हम यह जानते है कि व्यापारियो का कार्य भी लेन देन से ही चलता है और जहाँ तक लेन-देन का सम्बन्ध है, वे भी लेनदार तथा देनदार होते हैं। अत देनदार व्यापारी की दृष्टि से उसे लाभ होता है एव लेनदार व्यापारी को हानि होती है।

३ **श्रमिक तथा कर्मचारी वर्ग को** मुद्रा स्फीति अथवा मुद्रा के अवमूल्यन के समय हानि ही होती है क्योंकि मुद्रा की क्रयशक्ति कम हो जाने से वे अपनी निश्चित आय मे कम वस्तुएँ खरीद सकते है तथा उनकी वास्तविक आय कम हो जाती है। जहां तक उत्पादन कार्य म वृद्धि होती है वहां तक उनको लाभ होता है क्योकि रोजगार बढ जाता है और अधिक आदमियो को काम मिलता है। फिर भी तीव्र गति से जब वस्तुओं की कीमते बढने लगती

हैं तब उनको हानि ही होती है। यह कहा जा सकता है कि उनको महँगाई-भत्ता आदि भी दिया जाता है किन्तु यह तत्काल नहीं दिया जाता और न मूल्य-स्तर निर्देशांक के अनुसार उसमें वृद्धि ही होती है। इसके अतिरिक्त यह भत्ता या लाभ भी उन्हीं देशों में जल्दी मिलता है जहाँ पर श्रम-सगठन अच्छी प्रकार से है किन्तु पिछड़े हुए देशों में श्रमिकों को बुरी तरह हानि होती है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण भारत में देखने को मिलता है।

४ कीमत बढ़ते समय सरकार को लाभ होता है क्योंकि इस समय में सरकार का ऋण भार कम हो जाता है अथवा पुराने ऋण पत्रों को कम ब्याज के नये ऋण-पत्रों में बदल दिया जाता है। व्यापारिक एवं औद्योगिक क्रियाओं में वृद्धि होने के कारण सरकार को आय कर अथवा अन्य करों के रूप में अधिक आय होती है। इस अवस्था में सरकार नव-नवीन विकास योजनाएँ बनाकर राष्ट्रीय आय की वृद्धि करती है। परन्तु इसके विपरीत सामाजिक उथल-पुथल के कारण सरकारी व्यय भी बढ़ जाते हैं जिससे बजट में घाटा होने लगता है और आय-व्यय का सन्तुलन बिगड़ जाता है।

५ व्यापार में वृद्धि होने के कारण **विनियोगकर्ताओं को** मुद्रा लाभ होता है क्योंकि उनके विनियोग-पत्रों के मूल्य बढ़ जाते हैं। परन्तु जहाँ तक लाभांश एवम् ब्याज का सम्बन्ध है, वह निश्चित मात्रा में ही मिलता है, *क्रयशक्ति कम* होने से उनको हानि ही होती है क्योंकि एक ओर तो विनियोग-पत्रों का मूल्य बढ़ता है और दूसरी ओर वस्तुओं की कीमतें। अत उनकी वास्तविक आय घटती है। परन्तु औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन मिलने के कारण पूंजी की माँग बढ़ती है जिससे विनियोग-बाजार तथा पूँजी-बाजार में गर्माहट होती है और अधिक ब्याज मिलने की सम्भावना से नये-नये उद्योगों का विकास होता है।

६ मुद्रा-स्फीति का **विदेशी व्यापार पर** भी बुरा असर पड़ता है क्योंकि ससार के मूल्य-स्तर से आन्तरिक मूल्य-स्तर ऊँचा होने से मुद्रा-स्फीति वाले देश में माल महँगा हो जाता है। फलस्वरूप विदेशी लोग माल कम खरीदते हैं अत निर्यात कम होते हैं। इसके विपरीत विदेशी वस्तुएँ सस्ती होने से उनका आयात बढ़ जाता है। घटते हुए निर्यात एवं बढ़ते हुए आयात के कारण व्यापारिक शेष (trade balance) मुद्रा-स्फीति वाले देश के विपक्ष में हो जाता है।

७ सर्व-सामान्य वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाने से देश के **उपभोक्ताओं को**

हानि होती है क्योंकि पूर्ववत् जीवन स्तर रखने के लिए उनको अधिक व्यय करना पड़ता है।

इस प्रकार से मुद्रा स्फीति से कुछ मर्यादा तक तो लाभ होता है किन्तु यदि यह तीव्र गति से बढ़ता ही गया तो व्यापार एवं उत्पादन में अस्थिरता आ जाती है सरकार के प्रति अविश्वास उत्पन्न हो जाता है तथा अन्त में भयंकर राष्ट्रीय हानि होती है।

मुद्रा संकोच (अथवा मुद्रा के अधिमूल्यन) के परिणाम

मुद्रा-संकोच के समय विभिन्न वर्गों पर मुद्रास्फीति के विपरीत परिणाम होते हैं।

१ इसमें वस्तुओं के उत्पादन घट जाने से **उत्पादक वर्ग को तथा किसानों को** हानि होती है एवम् उत्पादन कार्य में शिथिलता आ जाती है। असम्भाव्य हानि के कारण अनेक उद्योग नष्ट हो जाते हैं जिससे देश में आर्थिक अस्थिरता और बेकारी फैल जाती है जिसको दूर करने के लिए सरकार को बहुत खर्च करना पड़ता है और सरकारी बजट असन्तुलित हो जाता है।

२ घटती हुई कीमतों के कारण **देनदारों को** हानि तथा **लेनदारों को** लाभ होता है क्योंकि उसी मुद्रा से लेनदार अधिक वस्तुएँ खरीद सकते हैं तथा उसी मुद्रा को लौटाने में देनदार अधिक क्रयशक्ति देते हैं जिससे उन्हें हानि होती है।

३ **श्रमिक अथवा कर्मचारी वर्ग को** कीमतों के घटने से लाभ होता है क्योंकि ये अब निश्चित आय में अधिक वस्तुएँ खरीद सकते हैं। परन्तु यदि तीव्र गति से कीमत घटती गई तो उद्योग धंधे नष्ट हो जाते हैं तथा बेकारी फैलती है। अतः क्रमशः होने वाले अवमूल्यन अथवा संकोच के समय इस वर्ग को लाभ होता है तथा तीव्र गति से होने वाले संकोच में हानि होती है क्योंकि उन्हें बेकारी का सामना करना पड़ता है।

४ कीमत घटने से मुद्रा की क्रयशक्ति बढ़ जाती है, **जिससे सरकार पर** ऋण भार बढ़ जाता है। बेकारी आदि की नई समस्याएँ उपस्थित होती हैं जिनके ऊपर सरकारी व्यय बढ़ता है तथा बजट में असन्तुलन होता है। इसी प्रकार औद्योगिक शिथिलता के कारण सरकारी आय भी घट जाती है।

५ **विनियोगकर्ताओं को** जहाँ तक लाभांश एवं ब्याज का सम्बन्ध है, उसी मात्रा में मिलता है तथा कीमत घटने से उसी मुद्रा से वे ज्यादा वस्तुएँ खरीद सकते हैं अर्थात् उनको लाभ होता है।

६ विदेशी व्यापार पर मुद्रा-सकोच का परिणाम अच्छा होता है क्योंकि इस देश की कीमतें गिर जाने से विदेशी यहाँ से अधिक माल खरीदते हैं जिससे निर्यात मे वृद्धि होती है। तुलनात्मक दृष्टि से विदेशो मे वस्तुएँ मँहगी होने से आयात कम होता है। परिणाम स्वरूप व्यापारिक सन्तुलन इस देश के पक्ष मे होता है।

७ उपभोक्ताओ को वस्तुओ की कीमतें गिर जाने से लाभ होता है क्योंकि उनका जीवन-स्तर पर होने वाला खर्च कम होता है।

उपर्युक्त विभिन्न लाभ-हानियो से यह स्पष्ट होता है कि तीव्र गति से होने वाले मुद्रा-सकोच के समय देश को हानि ज्यादा उठानी पडती है। इसलिए अर्थशास्त्रियो का कहना है कि मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-सकोच मे मुद्रा का सकोच सबसे हानिकारक है। वैसे तो दोनो मे ही सम्पत्ति वितरण मे समता नही रहती इसलिए मूल्य-स्तर मे स्थायित्व होना ही देश एव समाज की दृष्टि से लाभदायक है क्योंकि इससे देश के आर्थिक ढाँचे मे सन्तुलन रहता है तथा व्यापार, उत्पादन आदि को प्रोत्साहन मिलता है।

मूल्य-स्तर-नियमन (Reflation)

बढती हुई कीमतो को अथवा गिरती हुई कीमतो को पहले के स्तर पर लाने के लिए अथवा मूल्य-स्तर मे स्थिरता लाने के लिए जब जानबूझ कर मुद्रा-स्फीति या मुद्रा-सकोच किया जाता है उस स्थिति मे ऐसी मुद्रा-स्फीति या मुद्रा-सकोच को मूल्य-स्तर-नियमन कहते हैं। मूल्य-स्थैर्य के लिए जब सरकार इस प्रकार से मुद्रा-परिमाण का नियन्त्रण करती है तभी मूल्यो मे स्थिरता रखी जा सकती है, यह तथ्य आजकल सर्वमान्य है।

सारांश

मुद्रा-स्फीति

अर्थ—माँग की अपेक्षा मुद्रा का चलन अधिक होने से मूल्य-स्तर अधिक बढने लगता है तब उसे मुद्रा-स्फीति कहते हैं।

मुद्रा-स्फीति की तीन परिस्थितियाँ

१ बिना किसी विशेष परिवर्तन के उत्पादन का घटना और मुद्रा की मात्रा स्थिर रहना।

२. उत्पादन एव विक्रयार्थ वस्तुओ मे घट-बढ न होकर मुद्रा की मात्रा बढ जाना।

३　उत्पादन एव विक्रयार्थ वस्तुओ तथा मुद्रा की मात्रा का स्थिर रहना परन्तु साख की मात्रा बढना।

उपरोक्त परिस्थितियो के उलट जाने पर मुद्रा सकोच हो जाता है।

मुद्रा-स्फीति के कारण—१ प्राकृतिक　२ कृत्रिम

१　प्राकृतिक—जिन पर सरकार का कोई नियन्त्रण न हो—सोना या चांदी की खानो से अधिक उत्पादन, नई खानों की खोज, अधिक मात्रा मे आयात।

२　कृत्रिम—सरकार द्वारा राष्ट्रीय बजट को सन्तुलित करने के लिए किया जाना।

मुद्रा-स्फीति का प्रभाव—समाज का निम्नवर्गों मे वर्गीकरण : १. विनियोगकर्ता, २ व्यापारी अथवा उत्पादक, ३ कर्मचारी वर्ग।

मुद्रा-स्फीति का परिणाम—१ व्यापारियो तथा उत्पादकों को मूल्य बढने से लाभ। किन्तु तीव्र गति से मूल्य वृद्धि के कारण सट्टेबाजी तथा अनैतिकता का फैलाव।

२　देनदारो को लाभ, लेनदारो को हानि।

३　श्रमिक तथा कर्मचारी वर्ग को हानि क्योकि उनकी आय निश्चित होती है तथा मूल्य स्तर बढ जाता है।

४　सरकार को लाभ।

५　विनियोगकर्ताओ को लाभ क्योंकि लाभाश तथा ब्याज की दर मे वृद्धि।

६　विदेशी व्यापार मे हानि क्योकि निर्यात कम, आयात अधिक होते हैं।

७　उपभोक्ताओ को हानि।

मुद्रा सकोच का परिणाम—मूल्य घट जाने के कारण—

१　देनदारों को हानि, लेनदारो को लाभ।

२　कर्मचारी वर्ग को लाभ।

३　सरकार को हानि—ऋण भार का बढना।

४　*उत्पादक वर्ग को हानि।*

५　विनियोगकर्ताओ को लाभ—लाभाश तथा ब्याज पूर्व दर पर मिलने से उसी मुद्रा से अब ज्यादा वस्तुएँ खरीद सकते हैं।

६　विदेशी व्यापार मे लाभ।

७　उपभोक्ताओं को लाभ।

अध्याय ६

मुद्रा-मान पद्धतियाँ

विनिमय की आवश्यकता तथा मुद्रा का विकास आर्थिक प्रगति के अनुसार किस प्रकार हुआ एवम् मुद्रा के लिए भिन्न भिन्न वस्तुओं का प्रयोग कैसे किया गया, यह हमने पिछले अध्यायों में देखा। क्रमशः आर्थिक विकास, अधिक परिमाण के उत्पादन एवम् श्रम विभाजन तथा अन्तर्देशीय व्यापार की वृद्धि एवं विकास के साथ यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि मुद्रा-वस्तु में मूल्य की स्थिरता रहे, जिससे मुद्रा-स्फीति एवं मुद्रा-सकोच से होने वाली हानिया न हों तथा व्यापार का भली भाँति सचालन हो सके, मुद्रा-मान (monetary standard) अथवा मुद्रा-पद्धति ऐसी हो जो सर्वग्राह्य हो एवम् जिससे अन्तर्देशीय व देशीय व्यापार में सुगमता हो इसके साथ ही वह मुद्रा के कार्य करने में भी सफल हो। मुद्रा मान देश की उस मुद्रा को कहते हैं जिसके साथ सब वस्तुओं का मूल्यमापन किया जाय तथा जिससे उस देश के अन्य साकेतिक या प्रतीक सिक्के सम्बन्धित हों। ये मुद्रा मान भिन्न भिन्न देशों में उनकी आवश्यकतानुसार एवं आर्थिक प्रगति के अनुसार भिन्न भिन्न रहे हैं। ये मुद्रा मान या तो किसी ऐसी वस्तु से सम्बन्ध रखते हैं जिसमें बाह्य मूल्य अथवा वस्तु-मूल्य रहता है अथवा किसी ऐसी वस्तु से सम्बन्ध रखते हैं जिसमें बाह्य मूल्य नहीं होता। इनकी तालिका बड़े पत्रपृष्ठ पर दी है।

अच्छी मान पद्धति के लक्षण

यहाँ पर यह जानना आवश्यक है कि अच्छी मुद्रा मान पद्धति में क्या-क्या गुण होने चाहिए। किसी भी अच्छी मुद्रा मान पद्धति में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है —मूल्य स्थिरता (stability in value), सरलता (simplicity), लोच (elasticity), स्वयपूर्ण कार्यशीलता (automatic in its operation) तथा मितव्ययिता (economy)।

मूल्य में स्थिरता मुद्रा-मान पद्धति ऐसी होनी चाहिए जिससे देश के मूल्य-स्तर तथा विदेशी विनिमय की दर में स्थिरता रखी जा सके। इस प्रकार

कीमतो के उतार-चढाव के कारण होने वाली हानिया से बचाव रहे। कुछ अर्थशास्त्रियो का मत तो यह है कि विदेशी विनिमय दर की स्थिरता की अपेक्षा देश का मूल्य-स्तर स्थिर रहना अधिक आवश्यक है जिससे व्यापार एव उद्योगो का विकास अच्छी प्रकार हो।

सरलता—मुद्रा मान पद्धति सरल होनी चाहिए जिसमे कोई भी व्यक्ति उसे आसानी से समझ सके। ऐसी पद्धति मे जनता को शीघ्र ही विश्वास हो जाता है।

लोच—मुद्रा मान पद्धति मे लोच का होना भी आवश्यक है जिसमे उस देश की व्यापारिक आवश्यकता के अनुसार मुद्रा का परिमाण घटाया या बढाया जा सके। मुद्रा के मूल्य म स्थिरता लाने के लिए मुद्रा मान मे लोच होना आवश्यक है। यदि मुद्रा मान पद्धति मे लोच का अभाव होगा तो व्यापारिक एव औद्योगिक आवश्यकताओ के अनुसार मुद्रा की पूर्ति न तो बढाई जा सकती है और न घटाई जा सकती है। परिणाम स्वरूप व्यापारिक एव औद्योगिक परिस्थिति पर इन दोनो ही स्थितियो मे बुरे परिणाम हुए बिना नही रहते एव उनको धक्का पहुँचता ही है।

स्वयपूर्ण कार्यशीलता—मुद्रा-मान पद्धति मे सरकार द्वारा हस्तक्षेप नही होना चाहिए तथा वह स्वयम् ही कार्यशील होनी चाहिए क्योकि यदि सरकार द्वारा हस्तक्षेप अधिक होता है तो उस पद्धति मे जनता का विश्वास कम हो जाता है। अत मुद्रा मान पद्धति स्वयपूर्ण कार्यशील होनी चाहिए जिससे उसमे निश्चितता रहे। उदाहरणार्थ स्वर्ण चलन मान प्रणाली मे जिसमे स्वर्ण के आयात एव निर्यात से अपने आप ही मुद्रा का चलन कम-अधिक हो जाता था, जिससे आतरिक मूल्यो मे उतार चढाव होकर विश्व के मूल्य-स्तर मे समानता रहती थी।

मितव्ययिता—मुद्रा-मान पद्धति म खर्च की कमी होनी चाहिए जिससे उसके सचालन मे अधिक व्यय न हो तथा सोना चाँदी की घिसावट भी न हो। और इसके साथ ही निधि मे भी स्वर्ण एव चाँदी अधिक रखने की आवश्यकता न रहे।

अनिश्चितता से मुक्ति—अच्छी मुद्रा-मान पद्धति मे किसी भी प्रकार की ऐसी उलझनें न होनी चाहिए जिन्हे जन साधारण न समझ सके क्योकि यदि उसमे प्रत्येक बात विधान म स्पष्ट रूप से नही दी जाती तो जनता उस मान पद्धति के विषय मे सशक हो जाती है। इस प्रकार यदि सब बात साफ-साफ हो तो

ऐसी मान पद्धति मे जनता का विश्वास जल्दी जम जाता है। अत उपर्युक्त गुणो को ध्यान मे रखकर प्रत्येक देश मे उस देश की आवश्यकतानुसार एव आर्थिक परिस्थिति के अनुसार कौनसा मुद्रा मान ठीक होगा यह निश्चित करना चाहिए। इसके साथ ही यदि किसी भी देश म पत्र-मुद्रा-मान अपनाया जाता है अथवा साकेतिक अथवा प्रतीक मुद्राओ का चलन होता है तो उसमे परिवर्तनशीलता तथा अत्यधिक मुद्रा प्रसार के विरुद्ध सुरक्षा भी रहनी चाहिए, जिससे जनता का विश्वास उस प्रणाली म जम सके, क्योकि मुद्रा मान का उपयोग जनता की आदतो पर ही निर्भर है। विभिन्न देशो म जिन मुद्रा-मान पद्धतियो का उपयोग हुआ वे विशेषत निम्नलिखित प्रकार की हैं —

१ एक-धातुमान पद्धति (mono-metallic standard)

२ द्विधातुमान पद्धति (bi-metallic standard)

एक-धातुमान पद्धति (Mono-metallic Standard)

एक-धातुमान पद्धति मे किसी एक ही धातु के—सोने या चाँदी के—सिक्के **प्रधान मुद्रा** के रूप मे चलन मे होते है। इन सिक्को के साथ साकेतिक मुद्रा का मूल्य सम्बन्धित होता है तथा यही मूल्यमापन का काम करते है। इस धातु की मुद्रा **असीमित विधिग्राह्य** होती है, टकण स्वातन्त्र्य होता है अथवा कोई भी व्यक्ति वह धातु ले जाकर सिक्के ढलवा सकता है, तथा इनके आन्तरिक मूल्य एव बाह्य मूल्य मे समानता रहती है। इसके अतिरिक्त दैनिक उपयोग के लिए प्रतीक अथवा गौण मुद्रा का चलन होता है जो किसी गौण धातु की अथवा *कागज की बनाई जाती है एव सीमित विधिग्राह्य होती है*। इस *गौण* मुद्रा के बदले मे किसी भी समय प्रधान मुद्रा या सोना या चाँदी मिल सकती है। यदि इस पद्धति मे प्रधान मुद्रा सोने की हो तो उसे स्वर्णमान पद्धति (gold standard) और अगर चाँदी की प्रधान मुद्रा हो तो उसे रजतमान पद्धति (silver standard) कहते है।

स्वर्णमान पद्धति

स्वर्णमान पद्धति मे स्वर्ण वस्तुओ के मूल्यमापन का कार्य करता है। इसमे यह आवश्यक नही है कि सोन के सिक्के चलन मे हो, किन्तु जो सिक्का चलन मे हो *अथवा प्रतीक मुद्रा के रूप म हो उसका परिवर्तन स्वर्ण मे होना* आवश्यक है। केमरर के शब्दो मे "यह वह मान पद्धति है जिसमे कीमतें, ऋण तथा मजदूरी उस मुद्रा मे व्यक्त की जाती है, तथा उसी मुद्रा मे उनको चुकाया

जाता है, जिसका मूल्य स्वतन्त्र स्वर्ण-बाजार मे निश्चित सोने की मात्रा मे होता है।"[1] इस व्याख्या के अनुसार न तो स्वर्ण-मुद्रा का चलन ही आवश्यक है और न उसकी विधिग्राह्यता ही। उसी प्रकार सांकेतिक मुद्रा अथवा पत्र मुद्रा का स्वर्ण मे परिवर्तन होना भी आवश्यक नही है किन्तु इच्छित है। यह पद्धति विभिन्न देशो मे तीन रूपो मे उपयोग मे रही :—

१ स्वर्ण-मुद्रा-मान (gold currency standard)
२ स्वर्ण-धातु-मान (gold bullion standard), तथा
३ स्वर्ण-विनिमय-मान (gold exchange standard)

१ स्वर्ण-मुद्रा मान

स्वर्ण-मुद्रा-मान पद्धति का प्रारम्भ शुरू-शुरू मे इस प्रकार हुआ। इसके मुख्य लक्षण निम्नलिखित है —

१ स्वर्ण मूल्यमापक होता है अतएव अन्य वस्तुओ की कीमते एव उसी प्रकार गौण सिक्को का मूल्यांकन स्वर्ण के साथ किया जाता है।

२ साथ ही साथ, स्वर्ण विनिमय-माध्यम का कार्य भी करता है अर्थात् स्वर्ण के प्रमाणित सिक्के चलन मे रहते है, जिनका मुक्त टंकण होता है, जो असीमित विधिग्राह्य होते हैं और जिनका बाह्य मूल्य तथा आन्तरिक मूल्य बराबर होता है।

३ स्वर्ण की बचत करने के लिए पत्र-मुद्रा अथवा अन्य गौण मुद्राओ का यदि चलन होता है तो ऐसी सभी सांकेतिक मुद्राऐं स्वर्ण मे किसी भी समय माँग पर बदली जा सकती है।

४ सोने के आयात एवम् निर्यात पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नही होता। १९१४ के पूर्व यह पद्धति इगलैण्ड, सयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रान्स, जर्मनी आदि देशो मे प्रचलित थी।

यदि स्वर्ण की जगह चाँदी का उपयोग इसी प्रकार से होता हो तो उसे रजत-मुद्रा-मान (silver currency standard) कहेंगे। इस प्रकार की पद्धति कही भी प्रचलित नही है।

---

1 'Is a money-system where the unit of value, in which prices and wages and debts are customarily expressed and paid, consists of the value of a fixed quantity of gold in a Free Gold Market'

—*Gold and the Gold Standard*, pp 135-36

स्वर्ण-मुद्रा-मान के लाभ—१ स्वर्ण मे जनता का विश्वास होने के कारण इस पद्धति मे जनता का विश्वास शीघ्र ही स्थापित होता है।

२. इसकी कार्य-पद्धति सरल होने के कारण यह प्रत्येक व्यक्ति की समझ मे शीघ्र आ जाती है।

३ स्वर्ण के आयात-निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न होने से राज्य की ओर से इसकी कार्य-पद्धति मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही होता जिससे स्वयपूर्ण कार्यशीलता रहती है तथा कीमतो का स्तर अपने आप विश्व-परिस्थिति से ठीक हो जाता है। उदाहरणार्थ, यदि एक देश से दूसरे देश मे निर्यात से अधिक आयात होता है तो उस दशा म पहिला देश दूसरे देश का ऋणी रहेगा और उसे भुगतान के लिए सोना भेजना पडेगा। परिणामस्वरूप पहिले देश मे मुद्रा का सकोच होकर कीमत गिर जायेंगी और अन्य देशों की अपेक्षा यहाँ की कीमतें कम होने से इस देश का निर्यात-व्यापार बढेगा जिससे यहाँ पर सोने का आयात होगा। सोने का आयात होते ही मुद्रा-प्रसार होगा तथा कीमतें चढ जायेंगी। इस क्रिया के कारण विश्व-मूल्यो मे स्थिरता रहेगी तथा यह आयात-निर्यात के कारण किसी के हस्तक्षेप के बिना होता रहेगा। फलस्वरूप इस मान मे स्वयपूर्ण कार्यशीलता रहेगी। इसके साथ ही इस पद्धति से विदेशी विनिमय दर मे स्थिरता रहती थी।

४ स्वर्ण सर्वग्राह्य होने के कारण स्वर्ण की प्रधान मुद्रा अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा होती है जिससे स्वर्ण पर आधारित राष्ट्रो के साथ व्यापार सुगम होता है।

५. वस्तुओ की कीमतो का समायोजन सोने के आयात-निर्यात से स्वयमेव होता था, इस कारण कीमतो म उतार-चढाव अधिक न होने हुए मूल्यो मे स्थिरता रहती थी।

६ स्वर्ण का आयात निर्यात स्वतन्त्रता के साथ होने के कारण एक देश के मूल्यस्तर का प्रभाव अन्य देशो के मूल्यों पर पडता था जिससे अन्तरराष्ट्रीय मूल्यों का समायोजन हो जाता था।

दोष—इस पद्धति मे सबसे बडा दोष यह है कि स्वर्ण मुद्राएँ चलन में होने के कारण इसमे सोना अधिक लगता है एव स्वर्ण मुद्राएँ चलन मे होने के कारण घिसावट से होने वाली हानि की बचत नहीं होती। दूसरे, जिन देशों मे स्वर्ण की कमी रहती है वे इस पद्धति को नही अपना सकते जिससे अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे कठिनाइयाँ उपस्थित होती है। तीसरे, सोने का उपयोग चलन के

अतिरिक्त अन्य कार्यों मे नही किया जा सकता है। अत. यह पद्धति अधिक खर्चीली है क्योकि इसमे मितव्ययिता का अभाव है।

२ स्वर्ण-धातुमान

पहिले महायुद्ध मे स्वर्ण-मुद्रा-मान पद्धति मे अनेक कठिनाइयाँ आईं क्योकि युद्ध के कारण सोने का मुक्त बाजार, एव आयात-निर्यात अनेक देशो की सरकारो द्वारा बन्द किया गया। इस तथा अनेक अन्य कठिनाइयो के कारण स्वर्ण-मुद्रामान पद्धति का लोप हुआ और स्वर्ण-धातुमान पद्धति का अवलम्बन हुआ। इसको १९२५ मे इगलैण्ड ने अपनाया। इस पद्धति के मुख्य लक्षण निम्न-लिखित है —

१ इस पद्धति मे भी स्वर्ण-मुद्रामान पद्धति की तरह स्वर्ण मूल्यमापक होता है लेकिन स्वर्ण के सिक्के न तो ढाले ही जाते हैं और न चलन मे ही होते हैं अर्थात् स्वर्ण विनिमय-माध्यम का कार्य नही करता।

२. देश की विधिग्राह्य मुद्रा किसी गौण धातु की बनाई जाती है अथवा पत्र-मुद्रा चलन मे होती है जिसके द्वारा विनिमय-माध्यम का कार्य होता है। ये साकेतिक मुद्राएँ एक निश्चित दर पर सोने मे परिवर्तित की जाती हैं किन्तु सोने मे साकेतिक मुद्रा का परिवर्तन एक निश्चित वजन से कम मे नही किया जाता—*चाहे स्वर्ण किसी भी काम के लिए क्यो न लिया जाय।*

३ सोने के बेचने मे सुविधा हो इसलिए मुद्रा सचालक को कुछ स्वर्ण-निधि देश मे रखनी पड़ती है। इस प्रकार की पद्धति का अवलम्बन १९२५ मे इङ्गलैंड तथा अन्य देशो म शुरू हुआ। यह पद्धति १९२७ मे भारत के लिए भी हिल्टन यग कमीशन द्वारा अपनाने के लिए प्रस्तुत की गई थी तथा अपनाई गई थी, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति कम से कम ४०० औंस (१०६५ तोले) सोना २१ रु० ३ आ० १० पाई प्रति तोले की दर से प्रतीक मुद्रा के बदले मे खरीद सकता था। यह पद्धति १९३१ तक चालू रही जिसके बाद अनेक कठिनाइयो के कारण इसका भी परित्याग हमेशा के लिए कर दिया गया। स्वर्ण के स्थान पर चाँदी का यदि इसी प्रकार उपयोग हो तो रजत-धातुमान पद्धति कहेगे।

स्वर्ण-धातुमान पद्धति के लाभ—१ इस पद्धति मे सोने का चलन न होने के कारण घिसावट से होने वाली हानि नही होती और सिक्को के ढालने मे जो खर्च होता है उसकी भी बचत होती है। अत पहिली पद्धति की अपेक्षा इस पद्धति मे मितव्ययिता होती है।

२. विनिमय-दर की स्थिरता के लिए सोना चलन मे रहने की अपेक्षा मुद्रा-सचालक के निधि मे होना अधिक उपयोगी है। इसके अतिरिक्त सोने की मात्रा चलन की अपेक्षा निधि मे कम रखनी पडती है, अत सोने की बचत भी होती है जिससे देश भी इस पद्धति को अपना सकते है। परन्तु स्वर्ण-मुद्रामान पद्धति मे यह सम्भव नही होता।

३. देश की साख भी बनी रहती है क्योंकि किसी भी काम के लिए साकेतिक मुद्रा का परिवर्तन सोने मे किया जा सकता है, जिसके लिए सरकार कानूनन बाध्य होती है। इससे इस पद्धति मे जनता का विश्वास भी स्थापित हो जाता है।

४ इस पद्धति मे निश्चित मात्रा से कम सोना नही खरीदा जा सकता और निश्चित मात्रा म प्रत्यक व्यक्ति न खरीद सकने क कारण, निधि मे कम सोने की आवश्यकता होती है जिससे अतिरिक्त सोने को विनियोग-पत्रो मे अथवा अन्य उपयोगी कार्यो मे लगाया जा सकता है अथवा विदेशी अधिकोषो मे रखा जा सकता है जिससे आय हो।

५ ऐसा भी कहा जाता है कि इस पद्धति मे भी स्वयंपूर्ण कार्यशीलता रहती है जिससे मुद्रा का सकोच अथवा प्रसार सोने के क्रय-विक्रय के अनुसार अपने आप होता है। उदाहरणार्थ, जिस समय मुद्रा की माँग कम रहती है उस समय लोग सोना खरीदते है और बदले म पत्र-मुद्रा अथवा साकेतिक मुद्रा देते हैं जिससे मुद्रा का स्वय सकोच होता है। उसी प्रकार जब मुद्रा की माँग अधिक होती है उस समय लोग सोना बेचते है और साकेतिक मुद्रा प्राप्त करते है जिससे मुद्रा-चलन बढता है। इस प्रकार इसमे अपने आप लोच रखने की क्षमता होती है जिससे मूल्य-स्तर मे अधिक उतार-चढाव नही होते तथा कीमतो का समायोजन अपने आप हो जाता है।

६ स्वयपूर्ण कार्यशीलता होने के कारण इस पद्धति मे लोच भी रहती है अर्थात् मुद्रा की पूर्ति व्यापारिक एव औद्योगिक आवश्यकताओ के अनुसार कम-अधिक की जा सकती है।

दोष—किन्तु इसम सत्यास बहुत कम है जैसा कि केमरर ने लिखा है कि "करीब-करीब सब देशो मे इसकी स्वयपूर्ण कार्यशीलता युद्धपूर्व स्वर्ण-मुद्रामान से कम थी क्योंकि स्वर्ण-धातुमान तथा स्वर्ण विनिमय-मान म केन्द्रीय बैंको को तथा सरकारो को चलन की पूर्ति मे हस्तक्षेप करने एव स्वर्ण-बिन्दु से च्युत होने मे स्वर्ण-चलन-मान की अपेक्षा—जिसमे स्वर्ण-मुद्रा-चलन एव स्वर्ण मुद्रा-

परिवर्तन था—अधिक आसानी थी।"[1] यही इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष है। साराश मे, इस पद्धति का सबसे पहला दोष यह है कि इसमे स्वर्ण का निधि एव सांकेतिक मुद्रा का सचालन सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक के पास होने के कारण यह पद्धति नियन्त्रित पद्धति है जिससे इसमे **स्वयंपूर्ण कार्यशीलता** का अभाव रहता है।

३. स्वर्ण-विनिमय-मान

इस प्रकार के स्वर्णमान मे निम्नलिखित लक्षण होना आवश्यक है —

१ स्वर्ण मूल्यमापन का कार्य करता है किन्तु विनिमय माध्यम का कार्य नही करता अर्थात् सोने के सिक्को का न तो चलन होता है और न वे ढाले ही जाते है।

२ देश मे पत्र-मुद्रा अथवा किसी अन्य धातु की गौण मुद्रा का चलन होता है जिसका सम्बन्ध स्वर्ण की निश्चित मात्रा एव शुद्धता मे निश्चित किया जाता है। यदि कोई देश स्वर्णमान पद्धति पर नही है तो उस देश के सिक्के का मूल्य किसी दूसरे देश के सिक्के से परिवर्तित किया जाता है जो स्वर्णमान पर आधारित है और उस देश के चलन के साथ देशी सिक्के का परिवर्तन वैधानिक दर पर किया जाता है। उदाहरणार्थ, भारत मे जब यह पद्धति थी उस समय भारत के रुपये की दर १ शि० ६ पेंस इङ्गलैण्ड के सिक्के मे निश्चित की गई थी और विदेशी ऋणो के भुगतान के लिए इस दर पर सरकार अथवा रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया रुपयों के बदले मे केवल विदेशी भुगतान के लिए स्वर्ण अथवा स्टर्लिंग देने को बाध्य थी, परन्तु वास्तव मे स्टर्लिंग ही दिया जाता था।

३ विदेशी भुगतान के लिए सरकार एक निश्चित दर पर सोना अथवा विदेशी सिक्का देने के लिए कानूनन बाध्य होती है।

४ अत देश का केन्द्रीय बैंक अथवा सरकार विदेशी बैंको मे स्वर्ण-निधि रखती है अथवा अपने देश मे विदेशी विनिमय अथवा विदेशी सिक्के रखती है।

५ स्वर्ण-बाजार मुक्त न होते हुए सरकार द्वारा नियन्त्रित एव नियमित होता है, *जिससे कोई भी व्यक्ति न तो सोने का आयात कर सकता है* और न निर्यात ही। अत इस पद्धति मे सोना अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा का कार्य करता है तथा देश के भीतर पत्र-मुद्रा अथवा अन्य गौण मुद्रा विनिमय

---

1 *Gold and the Gold Standard* by Kemerrer, pp. 818-19

का कार्य करती है। इस पद्धति का अवलम्ब सर्वप्रथम जावा में हुआ तथा बाद में भारत, फिलिपाइन्स, मेक्सिको, पनामा आदि देशों में हुआ। सोने के बदले यदि चाँदी का उपयोग किया जाय तो उसे **रजत-विनिमय-मान** कहेंगे।

स्वर्ण-विनिमय-मान के लाभ—१ यह स्वर्ण-मान की सबसे कम खर्चीली पद्धति है, क्योंकि देश में न तो सोने के सिक्कों का चलन ही होता है और न देश के अन्तर्गत कार्यों को सोना देने को ही सरकार बाध्य होती है। इसमें केवल विदेशी भुगतान के लिए विदेशी बैंक में मान की निधि रखनी पड़ती है जिसके लिए सोने की बहुत कम मात्रा आवश्यक होती है।

२ यह पद्धति अधिक लोचदार होती है अर्थात् आवश्यकतानुसार मुद्रा-प्रसार तथा मुद्रा-सकोच किया जा सकता है क्योंकि अन्य स्वर्णमानो में सोने की उपलब्धता पर मुद्रा प्रसार किया जा सकता था, परन्तु इसमें स्वर्ण-चलन अथवा देश की मुद्रा का परिवर्तन सोने में, विदेशी विनिमय के अतिरिक्त, न होने से किसी मात्रा में आवश्यकतानुसार मुद्रा का चलन बढ़ाया जा सकता है।

३ इस पद्धति को अपनाने से स्वर्णमान के सब लाभ प्राप्त होते हैं। इसी के साथ देश की मुद्रा किसी भी अन्य धातु की हो सकती है जैसा कि रॉबर्टसन ने इस पद्धति के विषय में कहा है —"इन देशों में साकेतिक मुद्रा ही प्रमाणित मुद्रा होती है परन्तु उसका नियमन सरकार इस प्रकार से करती है कि वह निराधार नहीं होती किन्तु इस प्रकार से बनाई जाती है जिससे प्रमाणित मुद्रा के मूल्य में किसी अन्य देश की मुद्रा के अथवा सोने के मूल्य के साथ स्थिरता रहे।'

४ यह पद्धति निर्धन एव अविकसित देशों के उपयोग के लिए सबसे अच्छी है तथा अधिकाश देशों में स्वर्णमान पद्धति का उपयोग किया जा सकता है, क्योंकि इसको अपनाने के लिए स्वर्ण बहुत कम लगता है।

दोष—१ इस पद्धति में केवल विदेशी भुगतान के लिए ही स्वर्ण देने को सरकार बाध्य होती है इसलिए इस पद्धति में जनता का विश्वास कम होता है।

२ विदेशी सुविधा के लिए विदेशी बैंकों में स्वर्ण निधि रखा जाता है जो खतरनाक है क्योंकि विदेशी बैंकों के टूट जाने से देश की निधि की हानि होती है।

३ इस पद्धति में लोच की कार्यशीलता स्वय-निर्भर नहीं होती, जैसी कि पहिली दो पद्धतियों में होती है। इस पद्धति में मुद्रा का प्रसार एव सकोच

सरकार के ही हाथ मे रहता है क्योंकि उसी के हाथो मे विदेशी विनिमय का नियन्त्रण रहता है।

द्विधातुमान पद्धति

द्विधातुमान पद्धति मे स्वण तथा चाँदी दोनो धातुओ के प्रमाणित सिक्के चलन मे रहते है जिनमे एक-दूसरे का वैधानिक अनुपात मे सम्बन्ध रहता है तथा दोनो ही धातुओ के सिक्के विनिमय माध्यम एव मूल्यमापन का काय करते हैं। इसके मुख्य लक्षण निम्नलिखित है —

१ स्वण तथा चाँदी दोनो ही विनिमय माध्यम तथा मूल्यमापन का काय करते है।

२ दोनो धातुओ की मुद्राएँ प्रमाणित मुद्राएँ होती है एव उनमे परस्पर निश्चित वैधानिक सम्बन्ध रहता है जिससे वे एक दूसरे के साथ बदल जा सक।

३ दोनो धातुओ का टङ्कण स्वातन्त्र्य जनता को प्राप्त होता है अर्थात् कोई भी व्यक्ति सोना या चाँदी टक्साल मे ल जाकर उसको प्रमाणित मुद्रा मे परिवर्तित करा सकता है।

४ दोनो धातुओ की मुद्राएँ असीमित विधिग्राह्य होती है।

५ दोनो धातुओ की मुद्रा के बाह्य मूल्य एव आन्तरिक मूल्य मे समानता होती है।

उपर्युक्त सब लक्षण जिस मान पद्धति मे उपलब्ध हो उसी को पूण द्विधातु मान पद्धति कहते है।

द्विधातुमान पद्धति का सक्षिप्त इतिहास

सयुक्त राज्य अमेरिका ने सवप्रथम सन् १७९२ के मिण्ट एक्ट के अनुसार द्विधातुमान पद्धति का अवलम्बन किया जिसके अनुसार प्रधान मुद्रा दोनो धातुओं—स्वण तथा चाँदी—की बनाई गई जो असीमित विधिग्राह्य थी तथा उन्ह सरकार भी असीमित मात्रा म लेने को बाध्य थी। उनको सिक्को म ढालने का स्वातन्त्र्य जनता को था तथा उन दोनो धातुओ का अनुपात १५ १ निश्चित किया गया अर्थात् १५ चादी के सिक्को के बदले मे १ सोने का सिक्का मिल सकता था अथवा १ औंस सोने की कीमत १५ औंस चादी के बराबर थी। १७९२ म बाजार म भी सोन चाँदी का यही अनुपात था। जब तक बाजार अनुपात तथा टङ्क अनुपात म समानता थी तब तक किसी भी प्रकार की कठिनाई नही हुई। किन्तु १७९५ से १८३३ तक बाजार अनुपात

१५.६ : १ था जिसके अनुसार बाजार मे १ औंस सोना खरीदने के लिए जहाँ १५.६ औंस चाँदी देनी पड़ती थी, वहाँ टङ्कशाला से केवल १५ औंस चाँदी के बदले १ औंस सोना मिल सकता था अर्थात् टङ्कशाला मे चाँदी का अधिमूल्यन तथा सोने का अवमूल्यन था। परिणामस्वरूप सोना बाजार मे टङ्कशाला की अपेक्षा अधिक कीमती हो गया जिससे स्वर्ण के सिक्के लोगो ने इकट्ठे करके या तो उनको गलाना शुरु किया, या बाजार मे बेचने लगे या विदेशी भुगतान मे उपयोग म लाने लगे। इसी समय फ्रास म, जहाँ द्विधातुमान पद्धति थी, १८०३ में १८३३ तक टक-अनुपात १५½ १ था। अत अमेरिका से फ्रान्स को सोने का निर्यात होना भी लाभदायक ही था। इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति के कारण २८ जून १८३४ को टक-अनुपात १५ १ के बदले १६.००२ १ कर दिया गया। चूंकि यह अनुपात बाजार-अनुपात से भिन्न था जो तब भी १५.६ १ था इसलिए अब टकशाला पर सोने का अधिमूल्यन हुआ तथा चाँदी का अवमूल्यन, अथवा जहाँ बाजार मे १ औंस सोने के बदले १५.६ औंस चाँदी मिलती थी वहाँ टकशाला पर १ औस सोने के बदले १६.००२ औंस चाँदी मिलती थी अत बाजार म चाँदी कीमती होने के कारण चलन से चाँदी के सिक्के हटाये जाने लगे और उनको गलाकर बेचा जाने लगा। १८५० म सोने की अधिक खानो की खोज हो जाने से स्वर्ण का उत्पादन बढ गया और बाजार मे सोने की कीमत और भी गिर गई। इसका भी यही परिणाम हुआ कि विनिमय के लिए जनता सोने का उपयोग करने लगी तथा चाँदी को अन्य कामो मे लाने लगी क्योंकि सिक्के के रूप म सोना अधिमूल्यित तथा चाँदी अवमूल्यित थी। इस क्रिया के निरन्तर चालू रहने के कारण—जिसे ग्रेशम का चलित मुद्रा सिद्धान्त कहते हैं—अमेरिका न सन् १८७३ म चाँदी का टकण स्वातन्त्र्य छीन लिया। इसी समय यूरोपीय राष्ट्रो में स्वर्णमान पद्धति का अवलम्बन हो रहा था इसलिए आगे चलकर १ जनवरी १८७९ म अमरिका म विशुद्ध स्वर्णमान पद्धति को अपनाया गया जिसमे स्वर्ण टकण का स्वातन्त्र्य जनता को था।[1] इस प्रकार अमेरिका म इस पद्धति का परित्याग कुछ अंश म १८७३ म तथा पूर्णत १८७९ म किया गया।

फ्रेंच तथा लैटिन मौद्रिक संघ के देश मे भी इस मान का उपयोग सन् १८०३ से १८७३ तक था। वहाँ का द्विधातुमान का इतिहास बहुत मनोरजक

[1] *Gold and the Gold Standard* by Kemerrer,

है। १८०३ मे फ्रास ने जब अपनी चलन-पद्धति को सङ्गठित किया उस समय वहाँ १५ १ के अनुपात मे द्विधातुमान पद्धति का अवलम्बन हुआ। किन्तु वहाँ भी बाजार-अनुपात तथा टक-अनुपात की समानता मे कभी सोना अवमूल्यित होता था और कभी चाँदी। ऐसी अवस्था मे मँहगी धातु जनता द्वारा गलाकर अन्य उपयोगो मे लाई जाती थी। इस प्रकार ग्रेशम के सिद्धान्त के अनुसार वहाँ पर सदैव एक ही धातु की मुद्रा—खराब मुद्रा—चलन मे रहती थी। इस प्रकार द्विधातुमान पद्धति कार्यान्वित रही किन्तु १८४८ से १८५६ के बीच आस्ट्रेलिया तथा केलिफोर्निया मे नई सोने की खानो की खोज हुई। परिणामस्वरूप चाँदी की कीमते बाजार मे घट गई और टकसाल पर उसका अधिमूल्यन हुआ, अत चाँदी की मुद्रा ही चलन मे रहने लगी तथा स्वर्ण-मुद्रा का लोप होने लगा। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए फ्रान्स ने इटली, बेलजियम और स्विटजरलैंड के सहयोग मे एक लैटिन मौद्रिक सघ बनाया, जहाँ द्विधातुमान पद्धति का अवलम्बन था। सन् १८६८ मे ग्रीस ने भी इसी सघ की सदस्यता स्वीकार की। परन्तु फिर भी सासारिक कारणो से इस सघ के देशो से स्वर्ण-मुद्रा का लोप होने लगा और धातु की अपेक्षा सिक्के मे कीमती धातु—चाँदी—का ही चलन रहा। इसके लिए दो कारण प्रमुख थे —एक तो दुनिया के प्रमुख राष्ट्र चाँदी का परित्याग करके स्वर्णमान को अपना रहे थे। दूसरे, चाँदी की नई खानो के खोज के कारण १८७३ के लगभग चाँदी का उत्पादन बढ रहा था। अत बाजार में सोने की तुलना मे चाँदी की कीमते बुरी तरह गिर रही थी। इसलिए १८७४ मे लैटिन मौद्रिक सघ ने भी चाँदी का टकण स्वातन्त्र्य छीन लिया जिससे विशुद्ध एव पूर्ण द्विधातुमान पद्धति का अस्तित्व वहाँ भी न रहा।

इसी समय सन् १८७३ म विश्व मे मन्दी आई जिससे वस्तुओ की कीमत धडाधड गिरने लगी और द्विधातुमान के समर्थको ने अन्तरराष्ट्रीय ढग पर द्विधातुमान अपनाने का प्रचार शुरु किया। उनका कहना था कि उस समय विनिमय कार्यों के लिए मुद्रा कम होने से कीमते गिर रही है। यदि *अन्तरराष्ट्रीय द्विधातुमान का अवलम्बन किया जाय तो चाँदी की मुद्रा भी* विनिमय-माध्यम का कार्य करेगी जिससे विनिमय कार्यों के लिए मुद्रा की पूर्ति बढ जायगी एव क्रमश कीमत बढने लगेगी। किन्तु एकमान अथवा स्वर्णमान के समर्थक इससे सहमत नही थे। अत द्विधातुमान का अवलम्ब करने के हेतु दो अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक सभाएँ (conferences) क्रमश १८७८

और १८९२ मे हुई, परन्तु इङ्गलैंड के कट्टर विरोध के कारण द्विधातुमान को अन्तरराष्ट्रीय ढग पर नहीं अपनाया गया अपितु इसका उसके बाद सदैव के लिए परित्याग कर दिया गया। १८९३ म भारत ने चाँदी का टवण-स्वातन्त्र्य छीन लिया तथा क्रमश १८९२ और १८९३ म आस्ट्रिया, जापान और रूस ने भी स्वर्णमान का अवलम्बन किया। इस प्रकार १९वी शताब्दी के अन्त मे द्विधातुमान का परित्याग सदैव के लिए कर दिया गया क्योंकि देश मे केवल खराब मुद्रा का ही चलन रहता है। इस प्रवृत्ति को ग्रेशम का सिद्धान्त कहते हैं।

ग्रेशम का मुद्रा-चलन सिद्धान्त

(Gresham's Law of Circulation of Money)

पिछले अध्यायो के विवेचन मे अब यह स्पष्ट हो चुका है कि कोई भी वस्तु जो सर्वमान्य अथवा सर्वग्राह्य होती है वह मुद्रा के रूप मे कार्य कर सकती है। अथवा ऐसी वस्तु जिसमे जनता का विश्वास हो एव जो सर्वग्राह्य हो अथवा जो किसी सरकार द्वारा मुद्रा के रूप मे चलाई जाय एव सरकार की साख मे यदि जनता का विश्वास हो तो वह मुद्रा के रूप म चलन मे रहती है। इस प्रकार एक ही समय मे सरकार द्वारा चलाई हुई मुद्राएँ कई प्रकार की हो सकती है, जैसे द्विधातुमान पद्धति मे स्वर्ण तथा चाँदी की मुद्राएँ एक साथ चलन मे होती हैं अथवा एक धातुमान मे एक ही धातु के नये एव पुराने सिक्के एक ही साथ चलन मे रहते है, अथवा धातु मुद्रा एव पत्र-मुद्रा एक ही समय प्रधान मुद्रा की तरह चलन मे रहती हैं। ऐसे समय भिन्न भिन्न प्रकार की मुद्राओ की ग्राह्यता मे भी भिन्नता होती है क्योंकि यह मानव प्रवृत्ति है कि जहाँ तक किसी वस्तु के लेने का सम्बन्ध है, हम हमेशा अच्छी वस्तु ही लेंगे। यह प्रवृत्ति मुद्रा के बारे मे भी लागू होती है। जहाँ तक पत्र-मुद्रा एव धातु-मुद्रा उसे क्रयशक्ति के लिए अथवा विनिमय-माध्यम के लिए चाहिए, वह कोई भी मुद्रा ले लेगा। परन्तु जब वह मुद्राओ को किन्ही अन्य कारणों के वशीभूत होकर सग्रह करेगा उस समय वह अच्छी मुद्रा ही लेगा अर्थात् ऐसी मुद्रा लेगा जो मुद्रा के अतिरिक्त भी धातु मूल्य रखती हो अथवा जो विनिमय कार्य के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य के लिए उपयोग मे आ सके। जहाँ मुद्राएँ किसी धातु की हैं, वहाँ पर जिस सिक्के का धातु-मूल्य मुद्रा-मूल्य से अधिक है, वही मुद्रा सग्रह मे रखने का प्रत्येक व्यक्ति प्रयत्न करेगा अर्थात् किसी भी समय सिक्के के रूप मे खराब मुद्रा चलन मे रहेगी

और अच्छी मुद्रा चलन मे निकाल दी जायगी। इसी प्रवृत्ति को **ग्रेशम का मुद्रा-चलन सिद्धान्त** कहते है क्योकि इस मानसिक प्रवृत्ति को सर टॉमस ग्रेशम नामक व्यक्ति ने, जो एलिजाबेथ का आर्थिक सलाहकार था, अधिक स्पष्ट रूप मे प्रस्तुत किया था।

सर टामस ग्रेशम लन्दन का एक प्रसिद्ध व्यापारी था। रॉयल एक्सचेंज की नीव भी इसी ने डाली थी। सम्राज्ञी एलिजाबेथ के राज्यकाल मे अधिकतर ऐसी ही मुद्राएँ चलन मे थी जो या तो कटी हुई थी या घिसी हुई थी अथवा वजन म कम थी। इस स्थिति को सुधारने के लिए नये सिक्के भी चलाये गये किन्तु फिर भी पुराने एव घिसे हुए सिक्के चलन मे रहे तथा नये सिक्के चलन से निकल गये। इसी प्रवृत्ति को ग्रेशम ने "खराब सिक्को मे अच्छे सिक्को को चलन से निकाल देने की प्रवृत्ति होती है"[1] इन शब्दो म व्यक्त किया। उसने यह स्पष्ट किया कि जब चलन मे अच्छे तथा पूर्ण वजन के सिक्के और पुराने तथा घिसे हुए सिक्के होते हैं उस समय देश म भुगतान के लिए दोनो एक ही मूल्य के एव विधिग्राह्य भी होते हैं। इसलिए खराब सिक्के देश के भुगतान के लिए चलन मे रह जाते हैं तथा अच्छे सिक्को का जनता या तो सग्रह करती है, या गलाकर उनको धातुरूप म बचती है अथवा विदेशी भुगतान के लिए निर्यात करती है। चूंकि इस काम के लिए कम वजन के एव खराब सिक्को की अपेक्षा भारी एव विशुद्ध सिक्के ही अधिक लाभदायक होते हैं इसलिए यह नियम पूर्णरूप स किसी भी समय लागू होता है। इसी नियम को मार्शल ने "खराव मुद्राएँ यदि परिमाण मे सीमित नही हैं, तो अच्छी मुद्राओ को चलन से बाहर निकाल देती हैं"[2] इन शब्दो मे व्यक्त किया है। इसी को हम यो भी कह सकते हैं कि ***जब किसी देश मे दो प्रकार की विधिग्राह्य मुद्राएँ होती हैं तो खराब मुद्राएँ अच्छी मुद्राओं को चलन से बाहर कर देती हैं, यदि मुद्राओ का परिमाण सीमित नहीं है।***

अच्छी मुद्राएँ तीन प्रकार से चलन से बाहर निकलती हैं —

१ सग्रह करने से,

२ गलाकर धातुरूप मे बेचने से, तथा

३ विदेशी भुगतानो के लिए निर्यात करने से।

---

1 Bad money tends to drive good money out of circulation

2 An inferior currency, if not limited in quantity, will drive out the superior currency

नियम लागू होने की परिस्थितियाँ

यह नियम तीन परिस्थितियों म किसी देश म लागू होता है —

१. **एक-धातुमान पद्धति मे**—जब एक ही धातु की मुद्राएँ—जो वजन मे अथवा विशुद्धता मे भिन्न-भिन्न है किन्तु एक ही मूल्य रखती हैं—चलन मे होती है उस समय कम वजन एव कम विशुद्धता वाली धातु-मुद्राएँ (खराब मुद्राएँ) भारी एव विशुद्ध मुद्राओं को चलन से बाहर कर देती है। उदाहरणार्थ, भारत म विक्टोरिया के एव जार्ज पष्टम् के रुपये जब चलन मे थे तब विक्टोरिया के रुपये म चाँदी का भाग जार्ज पष्टम् वाले रुपयों से अधिक होने के कारण लोगों ने विक्टोरिया के रुपयों को सग्रह करना शुरू किया अर्थात् वे चलन से बाहर निकाल दिये गये। दूसरा उदाहरण एलिजावथ के राज्यकाल मे मिलता है जिसमे ग्रशम ने इस नियम को स्पष्ट रूप से दिया।

२ **द्विधातुमान पद्धति मे**—जब दो धातुओं की—चाँदी तथा सोने की—प्रमाणित मुद्राएँ निश्चित टक-अनुपात से चलन मे होती हैं, उस समय यदि बाजार-अनुपात मे और टक-अनुपात मे अन्तर होता है तो टक अनुपात से अवमूल्यित होने वाली मुद्राएँ चलन से बाहर निकल जाती है तथा टक-अनुपात मे अधिमूल्यित मुद्राएँ (खराब मुद्राएँ) चलन मे रहती हैं। इसका कारण यह है कि टक-अनुपात पर अवमूल्यित मुद्रा का धातु-मूल्य उसके बाह्य मूल्य से अधिक होता है। इसलिए धातु के रूप मे उनका सग्रह करना, गलाना अथवा निर्यात करना लाभदायक होता है। इसको हम यों भी कह सकते हैं कि एक विशेष अनुपात मे जब चाँदी तथा सोने की प्रमाणित मुद्राएँ चलन मे होती हैं तब *जिस मुद्रा का धातु-मूल्य उसके बाह्य मूल्य से अधिक होता है*, *अर्थात्* जो अच्छी मुद्रा होती है वह उस मुद्रा द्वारा, जिसका धातु-मूल्य बाह्य मूल्य से कम होता है, अर्थात् खराब मुद्रा द्वारा, बाहर निकाल दी जाती है। उदाहरणार्थ, जैसा कि द्विधातुमान पद्धति मे फ्रान्स, अमेरिका आदि राष्ट्रो मे हुआ।

३ जब किसी देश मे **पत्र-मुद्रा एवं धातु-मुद्रा** प्रमाणित सिक्कों के रूप मे चलन मे होती हैं, *उस समय पत्र-मुद्रा खराब मुद्रा होने के कारण धातु-मुद्रा (अच्छी मुद्रा) को चलन से बाहर कर देती है। उदाहरणार्थ, १९१४-१८* मे इङ्गलैण्ड मे चलन मे केवल पत्र-मुद्राएँ रह गई और स्वर्ण-मुद्राएँ चलन से निकाल दी गई थी। यदि पत्र-मुद्रा का अवमूल्यन हो तो यह प्रवृत्ति अधिक तीव्रतर होती है। उदाहरणार्थ, १९३१ मे इङ्गलैण्ड मे जब सोने की कीमतें बढ रही थी उस समय सावरिनो की धातु के रूप मे धडाके से बिक्री हुई थी।

आधुनिक समय मे ग्रेशम के सिद्धान्त की प्रतिक्रिया को रोकने के लिए सरकार द्वारा चलित मुद्रा का नियन्त्रण होता है तथा खराब मुद्रा को ढालकर फिर से नई मुद्राओ मे परिवर्तित किया जाता है। अत कुछ अर्थशास्त्रियो के अनुसार आधुनिक काल मे यह सिद्धान्त बिलकुल लागू नही हो सकता। उनका कहना है कि मध्य युग तथा ग्रेशम के समय मे अवैज्ञानिक मौद्रिक पद्धति होने के कारण ही वह लागू होता था। परन्तु यह सिद्धान्त उपर्युक्त परिस्थितियो मे किसी भी समय लागू हो सकता है जैसा द्विधातुमान पद्धति के १९वी शताब्दी के इतिहास से, १९३१ मे इङ्गलैण्ड के उदाहरण से स्पष्ट है। इसी प्रकार प्रथम महायुद्ध के समय भी पत्र-मुद्राओ का अवमूल्यन होने के कारण धातु मुद्राएँ चलन से निकाल दी गई थी।

सिद्धान्त की मर्यादा—ग्रेशम का सिद्धान्त उपर्युक्त तीन परिस्थितियो मे लागू नही हो सकता क्योकि उसके लिए निम्नलिखित मर्यादाएँ है —

१ दोनो प्रकार की मुद्राओ का चलन मुद्रा की माँग से अधिक नही है। अर्थात् यदि किसी भी समय विनिमय कार्य के लिए १०० मुद्राएँ आवश्यक हैं और चलन मे भी अच्छी एव खराब मिलाकर १०० मुद्राओ का ही चलन है तो यह सिद्धान्त लागू नही होगा।

२ यदि खराब मुद्राओ के चलन का जनता विरोध करती है तथा उसको वस्तुओ और ऋणो आदि के भुगतान मे लेने से इनकार करती है तो यह सिद्धान्त लागू नही होगा, जैसा कि केलिफोर्निया और सयुक्त राज्य की जनता ने अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (ग्रीन बैक्स) को लेने से १८६१-६५ मे अस्वीकार कर दिया था।

३ टॉमस[1] के अनुसार खराब मुद्रा का यदि इस प्रकार क्रमश अवमूल्यन किया जाय कि जनता उसे समझ न पाये, तो इस स्थिति मे यह नियम उस समय तक लागू नही होगा जब तक अवमूल्यन जनता की समझ मे नही आता।

४ कुछ अर्थशास्त्रियो के मत से यदि अन्तरराष्ट्रीय ढग पर द्विधातुमान अपना लिया जाय तो यह सिद्धान्त लागू नही होगा क्योकि एक मुद्रा के अभाव की पूर्ति दूसरी मुद्रा की अधिकता से हो जायगी।

द्विधातुमान पद्धति से लाभ—द्विधातुमान पद्धति के इतिहास से यह स्पष्ट है कि अब इस प्रकार का मान केवल एक ऐतिहासिक अवशेष के रूप मे है

---

1 *Banking and Exchange* by Evelyn Thomas

किन्तु १९वी शताब्दी मे यह बहुत महत्त्वपूर्ण था तथा इसका अवलम्बन करने का प्रचार इसके समर्थकों ने बहुत किया । इसके समर्थकों के अनुसार इस मान से नीचे दिए हुए लाभ होते हैं --

१ **क्रयशक्ति की स्थिरता** अथवा मुद्रा के मूल्य मे स्थिरता रहना, यह अच्छी मान-पद्धति का मुख्य गुण है । द्विधातुमान पद्धति म अन्तरराष्ट्रीय प्रयोग से सोने तथा चांदी की मुद्राएँ चलन मे रहेगी, तब किसी भी एक धातु का अभाव दूसरी धातु के अधिक उत्पादन म पूरा हो सकेगा । परिणामस्वरूप दोनो धातुओ की मुद्राओं की क्रयशक्ति म स्थिरता रहेगी । उदाहरणार्थ, दो पियक्कड आदमी जब एक-दूसरे के सहारे चलते हैं तो वे एक-दूसरे को गिरने से बचाते हैं, इसी प्रकार सोने का अभाव चाँदी के अधिक उत्पादन से अथवा चाँदी का अभाव सोने के अधिक उत्पादन से दूर होकर मूल्यों मे स्थैर्य बना रहता है । दूसरे, दोनो धातुओ की मुद्राएँ प्रमाणित मुद्राओ के रूप मे चलन मे होने से मुद्रा का परिमाण अधिक रहता है और इसमे यदि कुछ मुद्राएँ चलन मे अधिक भी हो जाएँ तो उसका मूल्यो पर बहुत कम मात्रा म प्रभाव होता है ।

यह बात एक-धातुमान वाले देश मे सम्भव नही होगी क्योंकि जिस धातु का उत्पादन कम हो जाता है उसकी कीमत बढ जाती है । चूँकि वस्तुओ की कीमतों का मूल्य इसी धातु मे आँका जाता है इसलिए वस्तुओ की कीमतें घट जाएँगी ।

२ इस पद्धति म मुद्राओ का परिमाण अधिक होने से **कीमतें ऊँची रहती** हैं जिससे उत्पादकों को लाभ होकर उत्पादन कार्य को प्रोत्साहन मिलता है । जब १८७३ मे बाजारो मे मन्दी आई तब वस्तुओं की कीमत गिरने लगी क्योंकि सोने की पूर्ति आवश्यकतानुसार नही थी । इसलिए इस पद्धति के समर्थकों के अनुसार यदि अन्तरराष्ट्रीय ढग पर इस पद्धति का अवलम्बन किया जाता तो दोनों धातुओं की मुद्राएँ चलन मे होने से मुद्रा-परिमाण अधिक होता और कीमतें बढ जाती जिससे उत्पादन कार्य को प्रोत्साहन मिलता तथा मन्दी का निवारण होता । दूसरे, कीमतो के बढने से देनदारो को भी लाभ होता है।

३ इस पद्धति मे स्वर्ण तथा चाँदी की प्रमाणित मुद्राएँ होने के कारण **विदेशी व्यापार मे वृद्धि होती है** क्योंकि दोनों ही मुद्राएँ प्रमाणित होने के कारण स्वर्णमान रखने वाले राष्ट्रो तथा रजतमान रखने वाले राष्ट्रों मे व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो सकते हैं । इसी के साथ ऐसे देशों की विनिमय-दर मे भी स्थिरता रखी जा सकती है ।

४ इस पद्धति मे दोनो धातुओ की मुद्राएँ प्रमाणित होने के कारण अधिकोषो को अपने निधि की व्यवस्था एव सचालन करने म मितव्ययिता होती हैं तथा मुद्रा का चलन अधिक होने के कारण बैंको के व्याज की दर भी कम होती है ।

५ द्विधातुमान प्रणाली अत्यन्त सरल प्रणाली है जिसे समझने मे कोई कठिनाई नहीं होती । इसलिए यह जनता का विश्वास भी शीघ्रता से प्राप्त कर सकती है ।

द्विधातुमान पद्धति से हानियाँ—१ ग्रेशम का चलित मुद्रा सिद्धान्त लागू होन से द्विधातुमान वाले राष्ट्रो मे केवल एक ही मुद्रा—वह भी खराब मुद्रा—चलन म रहती है क्योकि दोनों धातुओ के टक अनुपात तथा बाजार अनुपात मे समानता नही रहती । इसलिए यह अन्तरराष्ट्रीय ढग पर अपनाने से ही सफल हो सकती है ।

२ जब बाजार अनुपात एव टक अनुपात मे अन्तर होता है उस समय लेनदार अपने ऋणो का भुगतान अच्छी मुद्रा मे अथवा महँगी धातु मे लेना पसन्द करते हैं और दूसरी ओर देनदार खराब मुद्रा मे अथवा सस्ती धातु मे भुगतान करना चाहते हे जिससे लेन-देन मे कठिनाइयाँ होती हैं ।

३ बाजार अनुपात एव टक अनुपात मे समानता कायम रखना, यह टेढी खीर है जो व्यवहार मे कभी भी सफलता से नही किया जा सकता ।

अन्तरराष्ट्रीय द्विधातुमान—उपर्युक्त लाभ-दोषो के अतिरिक्त यदि अन्तरराष्ट्रीय ढग पर और अन्तरराष्ट्रीय सहयोग से द्विधातुमान पद्धति का अवलम्बन किया जाय तो ग्रेशम का सिद्धान्त लागू नही होगा क्योकि उस दशा मे अन्तरराष्ट्रीय सहयोग से दोनो धातुओ के बाजार एव टक अनुपात मे समानता रखी जा सकती है । इसी प्रकार अन्तरराष्ट्रीय द्विधातुमान मे किसी एक धातु की मुद्राओ की न्यूनता का समायोजन दूसरी धातुओ की मुद्राओ की अधिकता से हो जाता है, इसी को **द्विधातुमान का क्षतिपूरक कार्य** कहते है । उदाहरणार्थ, यदि चाँदी की कीमत बाजार में अधिक होती है और टकसाल पर कम, तो ऐसी दशा मे चाँदी के सिक्के गलाए जाएँगे और सोने के सिक्को की अधिकता होगी । परिणामस्वरूप बाजार मे सोने की कमी और चाँदी की अधिकता होगी जिसमे चाँदी का मूल्य बाजार मे कम हो जाएगा और सोने का अधिक। परिणामस्वरूप टक अनुपात एव बाजार अनुपात मे समानता आ जाएगी । यही बात स्वर्ण के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है । इस क्षतिपूरक क्रिया के

कारण ही द्विधातुमान में मूल्यस्थैर्य रहता है। अत अन्तरराष्ट्रीय समझौते पर इस मान पद्धति का अवलम्बन किया जा सकता है। इस मान का अन्तरराष्ट्रीय अवलम्बन करने के लिए दो मौद्रिक परिषदें भी बुलाई गई थी (१८७८ और १८९२ में) जिनमें इंगलैण्ड के विरोध से तथा अन्य व्यवहारिक कठिनाइयों के कारण इसका अवलम्बन नहीं हुआ।

अन्य मौद्रिक मान

उपर्युक्त मान पद्धतियों के अतिरिक्त समानान्तर अथवा समानुपात मान पद्धति, निर्देशाङ्क मान पद्धति, विनिमय मान तथा अशुद्ध द्विधातुमान पद्धति आदि अन्य मौद्रिक मान हैं जिनका अब हम विवेचन करेंगे।

१ **अशुद्ध द्विधातुमान पद्धति** (Limping Standard)—इस पद्धति में द्विधातुमान पद्धति की तरह सोना तथा चाँदी दोनों की मुद्राएँ मूल्य-मापक तथा *विनिमय माध्यम होती हैं और दोनों मुद्राएँ प्रमाणित होती हैं।* किन्तु एक धातु की मुद्राओं का टकण-स्वातन्त्र्य जनता को न होते हुए सरकार के एकाधिकार में होता है। बहुधा सोने की मुद्राओं का टकण-स्वातन्त्र्य होता है तथा चाँदी की मुद्राओं का टकण केवल सरकार द्वारा ही होता है अर्थात् चाँदी की मुद्राएँ प्रमाणित होते हुए भी जनता उनका टकण कराने के लिए स्वतन्त्र नहीं होती। १८७३ में फ्रान्स में जब चाँदी की मुद्राओं का मुक्त टकण-स्वातन्त्र्य छीन लिया गया था परन्तु सोने के टकण के लिए जनता स्वतन्त्र थी, *उस समय वहाँ यही पद्धति थी।*

२ **समानान्तर अथवा समानुपात-मान पद्धति** (Parallel Standard)—इस पद्धति में स्वर्ण एवं चाँदी की मुद्राओं का मुक्त टकण होता है एवं दोनों धातुओं की प्रमाणिक मुद्राएँ होती हैं। किन्तु द्विधातुमान की तरह इनमें निश्चित टकण-अनुपात नहीं होता बल्कि वह टक-अधिकारियों द्वारा समय-समय पर बाजार अनुपात की बराबरी में लाया जाता है। इस पद्धति में चाँदी के बदले सोने की मुद्राएँ बाजार भाव पर ही बदली जाती है, इससे *ग्रेशम का सिद्धान्त लागू नहीं हो सकता।*

इस पद्धति को कुछ अर्थशास्त्रियों ने नव द्विधातुमान (neo-metallism) भी कहा है।

३ **निर्देशाक-मान पद्धति** (Tabular or Index Number Standard)—इस पद्धति में उस देश की चलित-मुद्रा का मूल्य स्थिर रखने के हेतु निर्देशाक बनाये जाते हैं जिनके द्वारा आधार वर्ष की कीमतों की तुलना

कर मुद्रा का मूल्य निश्चित किया जाता है। इसका कारण यह है कि इस प्रकार कीमतो के अनुसार मुद्रा का मूल्य सदैव एकसा ही बना रहेगा, जिससे देनदारो-लेनदारो के लेन देन मे समता रहेगी और किसी को हानि नही होगी। किन्तु इसमें अनेक अडचनें आती है जिससे इसका महत्त्व केवल सैद्धान्तिक ही है, व्यावहारिक नही। निर्देशाक मूल्य-स्तर का माध्यम बताते है किन्तु वे पूर्णत ठीक नही होते, अत वास्तविक स्थिति को दिग्दर्शित करने मे असमर्थ होते हैं। आधार वर्ष के मूल्य-स्तर पर निर्भर होने के कारण आधुनिक कारणो का, जिससे कीमतो म उतार-चढाव हुआ, विश्लेषण करने मे असमर्थ होने से आधुनिक समय मे उनका उपयोग समता नही ला सकता। तीसरे, देश की सरकार को निर्देशाक सख्याएँ पुन पुन बनानी पडेंगी तथा इनको अद्यावत् करना पडेगा जो असम्भव-सा प्रतीत होता है। इन कठिनाइयों के कारण ही इसका कभी भी प्रयोग न हो सका।

४. **द्विधातु-मिश्रित-मान पद्धति** (Symetallism)—इसका प्रचार सन् १८८६ मे प्रो० मार्शल ने किया था। इस पद्धति के अनुसार सोने तथा चाँदी को निश्चित परिमाण मे मिलाकर इस मिश्रित धातु की मुद्रा का चलन हो तथा इस मुद्रा के बदले मे सरकार एक निश्चित दर पर पत्र मुद्राएँ दे अथवा ले। इस पद्धति के अनुसार एक पत्र-मुद्रा के बदले किसी भी व्यक्ति को दोनो ही धातुएँ लेनी पडेंगी जिससे ग्रेशम का सिद्धान्त लागू नही हो सकेगा। *यह पद्धति भी सैद्धान्तिक ही है, व्यवहारिक नही।*

५ **विनिमय-मान पद्धति** (Exchange Standard)—इस पद्धति मे देश के अन्तर्गत व्यवहारो मे चाँदी अथवा कागज की गौण मुद्रा उपयोग मे होती है तथा विदेशी विनिमय के लिए उसका सम्बन्ध किसी दूसरे देश के सिक्के से निश्चित दर पर जोड दिया जाता है, जिसे सरकार हमेशा समानता पर रखने का प्रयत्न करती है। यह आवश्यक नही कि दूसरे देश की मुद्रा स्वर्णमान पर ही हो। इस प्रकार के दो देशो के सिक्को के गठबन्धन को विनिमय-मान पद्धति कहते है तथा जिस सिक्के से यह गठबन्धन होता है उस सिक्के का नाम पहिले जोड दिया जाता है, उदाहरणार्थ, *स्टर्लिंग-विनिमय पद्धति*, जिससे भारतीय साकेतिक मुद्रा (रुपया) का गठबन्धन स्टर्लिङ्ग से १ शि० ६ पें० की दर से हुआ था। परन्तु अब भारत अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य होने से एवं भारतीय सिक्के का मूल्य स्वर्ण मे निश्चित होने से रुपया अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र मे स्वतन्त्र है। अब रुपया-स्टर्लिङ्ग का सम्बन्ध विच्छेद हो गया है।

इसमे सबसे बडी हानि यह है कि जिस देश की मुद्रा मे ऐसा विनिमय सम्बन्ध स्थापित किया जाता है उस देश की आर्थिक परिस्थित का प्रभाव अपने देश की स्थिति पर भी पडता है। दूसरे, विदेशी विनिमय के लिए दोनो देशो को एक-दूसरे की मुद्राएँ अपने-अपने निधि मे रखनी पडती है।

६. **अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा-मान पद्धति** (Paper Currency Standard or Managed Currency Standard)—इस पद्धति मे देश मे मूल्यमापक तथा विनिमय-माध्यम का कार्य पत्र-मुद्रा ही करती है जिसका मूल्य किसी भी धातु मे निश्चित नही किया जाता। इस प्रकार की पत्र-मुद्रा युद्ध-काल मे अथवा सकटमय स्थिति मे चलन मे आती है। इस पद्धति के मुख्य लक्षण निम्नलिखित हैं —

१ पत्र मुद्रा ही प्रमाणित मुद्रा होती है एवम् असीमित विधिग्राह्य होती है।

२ *पत्र-मुद्रा का मूल्य स्वर्ण अथवा अन्य किसी धातु से निश्चित नही* किया जाता और न इसका स्वर्ण मे किसी भी कार्य के लिए परिवर्तन ही हो सकता है।

३ पत्र-मुद्रा चलाने वाला बैंक अथवा सरकार चलन को इस प्रकार कम या अधिक करती है जिससे मूल्य-स्तर मे समानता रहे। अर्थात् मूल्य-स्तर मे समानता रखने के लिए सरकार द्वारा अथवा मुद्रा-सचालक बैंक द्वारा चलन का नियन्त्रण (management) किया जाता है।

४ विदेशी ऋणो के भुगतान के लिए देश मे स्वर्ण-निधि की आवश्यकता होती है किन्तु आजकल अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा ऋणो से भुगतान होने के कारण ऐसी किसी भी निधि की आवश्यकता नही पडती। (इस प्रकार अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के मार्फत ऋणो का भुगतान करने की व्यवस्था द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त १९४७ मे की गई है।)

इस पद्धति के अनेक दोष हैं—१ पत्र-मुद्रा किसी धातु विशेष से सम्बन्धित न होने के कारण चलनाधिक्य होने की सम्भावना रहती है।

२ इसमे किसी भी हद तक मूल्य-स्तरा म परिवर्तन हो सकता है क्योकि मुद्रा का विनिमय धातु-निधि पर निर्भर नही रहता एव उसको चलाने वाली सस्था के ऊपर निर्भर रहता है।

३ पत्र-मुद्रा राष्ट्रीय मुद्रा होने के नाते अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे अनेक अडचने उपस्थित होती हैं क्योकि देश के मूल्य-स्तर मे सदैव उतार-चढाव होता रहता है जिससे विनिमय-दर मे स्थिरता नही रहती।

४ जब सभी देशो मे पत्र-मुद्रा-मान होता है उस समय किसी भी देश की आर्थिक परिस्थिति का परिणाम अन्य देशो की आर्थिक स्थिति पर होता है।

पत्र मुद्रा मान पद्धति की ये कठिनाइयाँ अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा अन्तरराष्ट्रीय बैंक की स्थापना होने से दूर हो गई है क्योंकि अन्तरराष्ट्रीय भुगतान अब इन्ही सस्थाओ द्वारा होता है तथा प्रत्येक देश की मुद्रा का निश्चित स्वर्ण-मूल्य भी अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा निश्चित कर दिया गया है। इन कारणो से पत्र-मुद्रा मान पद्धति होते हुए भी स्वर्णमान के सब लाभ अब प्राप्त हो सकते है।

भारतीय मौद्रिक मान—भारत मे १९४६ तक स्टर्लिङ्ग विनिमय मान पद्धति थी जिसका सम्पूर्ण विवेचन "भारतीय चलन का इतिहास' नामक अध्याय मे हम आगे करगे। वर्तमान पद्धति म भारत म पत्र मुद्रा तथा निक्लि के रुपये—*जिनके सब लक्षण गौण मुद्रा के है—प्रमाणित मुद्रा की तरह* चलन मे है, जो असीमित विधिग्राह्य है। १९४६ तक रुपये का गठबन्धन विदेशी विनिमय की सुविधा के लिए स्टर्लिङ्ग से १८ पस प्रति रुपये की दर से किया गया था तथा इस दर को स्थिर रखने की जिम्मेदारी रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया की थी। रुपया ही हमारे यहाँ मूल्यमापक तथा विनिमय-माध्यम है जिसके बदले मे किसी भी समय पत्र-मुद्राएँ *तथा अन्य गौण* मुद्राएँ ली जा सकती है तथा विदेशी विनिमय के लिए उसे स्टर्लिङ्ग म बदला जा सकता है जो कायदे मे इङ्गलैंड की अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा है एव जिसका १९४७ तक स्वर्ण से कोई सम्बन्ध नही था। परन्तु अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष के द्वारा अब प्रत्येक देश के चलन को स्वण म निश्चित मूल्य दिया गया है जिसके अनुसार रुपये का स्वर्ण मूल्य ३० २२५ निश्चित *किया गया था* जो अवमूल्यन के पश्चात २१ सट रह गया। इस प्रकार अब भारतीय रुपया अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र म स्वतन्त्र मुद्रा हो गया है जिसको हम किसी भी देश की मुद्राओ मे अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा निर्धारित स्वर्ण मूल्य के अनुसार बदल सकते हे। अब रुपया एव स्टर्लिङ्ग का सम्बन्ध विच्छेद हो गया है जिससे रिजर्व बैंक की, रुपये का स्टर्लिग मूल्य १ शि० ६ पेंस बनाए रखने की, जिम्मेवारी भी समाप्त हो गई है। इसलिए वर्तमान समय मे भारत मे अन्तरराष्ट्रीय स्वर्णमान है।

साराश

मुद्रामान उस पद्धति को कहते हैं जो सर्वग्राह्य हो एव जिससे देशी एव विदेशी व्यापार मे सुगमता हो। मुद्रामान किसी ऐसी वस्तु से सम्बन्धित होते

हैं जिनमे बाहरी मूल्य होता है अथवा किसी ऐसी वस्तु से जिसका बाहरी मूल्य कुछ नहीं होता।

एक अच्छी मुद्रामान प्रणाली मे मूल्य-स्थिरता, सरलता, लोच, स्वयपूर्ण कार्यशीलता तथा मितव्ययिता ये गुण होने चाहिए।

मुद्रामान पद्धति देश की आर्थिक अवस्था के अनुसार अपनाई जा सकती है।

एक धातुमान के अन्तर्गत स्वर्ण या चांदी की प्रमाणित मुद्राएँ होती हैं जो मूल्यमापन एव विनिमय माध्यम का कार्य करती हैं। जब ऐसी प्रणाली स्वर्ण की होती है तब उसे स्वर्णमान तथा जब चाँदी की होती है तब उसे रजतमान कहते हैं। स्वर्णमान के मुख्य तीन रूप होते हैं—स्वर्ण मुद्रामान, स्वर्ण विनिमय-मान तथा स्वर्ण धातुमान।

द्विधातुमान मे स्वर्ण एव चांदी के सिक्के प्रमाणित होते हैं जो निश्चित वैधानिक अनुपात मे चलन मे रहते हैं। यह पद्धति १७९२ मे सयुक्त राज्य अमरीका मे अपनाई गई परन्तु वैधानिक एव बाजार अनुपात मे भिन्नता होने से एक ही मुद्रा चलन मे रहने लगी। अन्तत १८७३ मे चाँदी की स्वतन्त्र ढलाई न रही और १८७९ मे अमरीका ने स्वर्णमान ही अपना लिया।

इसी प्रकार फ्रेंच तथा लेटिन मौद्रिक सघ मे यह मान १८०३ से १८७३ तक चलन मे रहा। परन्तु चूंकि बाजार एव टकसाली अनुपात मे भिन्नता रहती थी इसलिए १८७४ में इस सघ में भी चाँदी की स्वतन्त्र ढलाई समाप्त कर दी गई। द्विधातुमान अपनाने के लिए १८७८ और १८९२ मे दो अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन भी हुए परन्तु इङ्गलण्ड के तीव्र विरोध के कारण इसे अन्तरराष्ट्रीय ढग पर न अपनाया जा सका।

द्विधातुमान के लाभ क्रयशक्ति की स्थिरता, कीमतें ऊँची रहने से उत्पादकों को लाभ विदेशी व्यापार मे वृद्धि बैंकों को निधि रखने मे मित-व्ययिता एव सरलता।

ग्रेशम का नियम लागू होने से केवल एक ही धातु की मुद्रा चलन मे होती है, लेन देन मे कठिनाइयाँ, बाजार एव टकसाली अनुपात मे असमानता ये दोष हैं।

ग्रेशम का नियम ग्रेशम ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि जब किसी देश मे दो प्रकार के प्रमाणित सिक्के साथ ही साथ चलन मे रहते हैं तो खराब मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर कर देती है। अच्छी मुद्राएँ या तो

जनता संग्रह करती है या गलाती है या विदेशी भुगतान मे देती है। तीन स्थितियो में यह नियम लागू होता है—

(१) एकधातुमान मे जब नये एवं पूर्ण वजनी सिक्को के साथ पुराने एवं घिसे हुए सिक्के समान मूल्य पर चलते हैं तब नये सिक्के चलन से बाहर हो जाएँगे।

(२) द्विधातुमान मे जब चाँदी एवं सोने के सिक्के एक निश्चित अनुपात में चलन मे होते हैं तब यदि बाजार अनुपात मे भिन्नता आवे तो टकसाल पर महगी मुद्राएँ (खराब मुद्राएँ) टक्साल पर जो मुद्राएँ सस्ती होंगी (अच्छी मुद्रा) उन्हें चलन से बाहर कर देंगी।

(३) जब धातुमुद्रा एव कागजी मुद्रा दोनो हो प्रमाणित मुद्राओ के रूप मे समान मूल्य पर चलन मे हो तो कागजी मुद्राएँ धातुमुद्रा को चलन से बाहर कर देंगी।

नियम की सीमाएँ जब खराब एवं अच्छी मुद्राएँ देश की आवश्यकता से कम हों, खराब मुद्राओ का जनता विरोध करे, बुरी मुद्रा का अवमूल्यन धीरे-धीरे किया जाय कि जनता समझ न सके, अन्तरराष्ट्रीय द्विधातुमान हो।

अन्य मुद्रामान अशुद्ध द्विधातुमान पद्धति मे दो धातुओ के सिक्के प्रमाणित मुद्रा के रूप मे निश्चित अनुपात मे चलते हैं परन्तु एक धातु के सिक्के की स्वतन्त्र ढलाई नहीं होगी। समानातर-मान मे स्वर्ण एवं चाँदी दोनो ही प्रमाणित मुद्राएँ होती हैं और उनकी स्वतन्त्र ढलाई होती है किन्तु इनका आपसी अनुपात बाजार के अनुपात के साथ होता है। मिश्रित द्विधातुमान मे स्वर्ण एव चाँदी को निश्चित अनुपात मे मिलाकर सिक्के बनाये जाते हैं।

विनिमय प्रमाप पद्धति मे देश की आन्तरिक मुद्रा कागज या अन्य गौण धातु की होती है तथा विदेशी विनिमय के लिए उसे किसी दूसरे देश के सिक्के से निश्चित दर पर सम्बन्धित किया जाता है। निर्देशाक मान मे देश की मुद्रा का मूल्य निर्देशाको के अनुसार बदलता रहता है। यह पद्धति व्यवहारिक नहीं है क्योकि निर्देशाको के अनुसार मूल्य निश्चित करने मे कठिनाई होती है। अपरिवर्तनोय पत्र मुद्रामान मे नोट विनिमय माध्यम होते हैं जिनका मूल्य किसी अन्य धातु से निश्चित नही होता। इसमे चलनाधिक्य का भय बना रहता है।

भारत इन समय अन्तरराष्ट्रीय स्वर्णमान पर है।

अध्याय १०

स्वर्णमान पद्धति का इतिहास एवं भविष्य

स्वर्णमान ही क्यो ?

पिछले अध्याय मे हमने देखा कि द्विधातुमान की अनेक कठिनाइयो के कारण तथा चाँदी की कीमतो मे अधिक अन्तर होते रहने के कारण उस पद्धति का परित्याग कर दिया गया, जिसके बाद विश्व के सभी प्रमुख देशो मे स्वर्णमान को किसी न किसी रूप मे अपनाया गया। इतना ही नही अपितु आज भी अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष ने अन्तरराष्ट्रीय ढग पर स्वर्णमान का अवलम्बन कर स्वर्ण को मौद्रिक सिंहासन पर बिठाकर उसको मौद्रिक क्षेत्र मे प्राचीन महत्त्व दिलाया है। स्वर्ण की विजय के चार प्रमुख कारण है —

१ चाँदी की अपेक्षा सोने मे थोडे ही आकार मे अधिक मूल्य रहता है, इससे उसमे एक जगह से दूसरी जगह ले जाने मे खर्च की कमी तथा सरलता होती है। अत सबसे अधिक वहनीयता स्वर्ण मे होती है।

२ १६वी शताब्दी मे चाँदी के मूल्य मे सोने के मूल्य की अपेक्षा द्रुत-गति से परिवर्तन हुए परन्तु सोने के मूल्य मे स्थिरता बनी रही अर्थात् १८१६ से, जब इगलैड मे इस मान का अवलम्बन किया गया, १६१४ तक मूल्य-स्तर मे समानता रही।

३ अन्य वस्तुओ की तरह सोने की कीमतो पर उसके उत्पादन का कोई प्रभाव नही पडता अर्थात् सोने का उत्पादन बढने से न तो सोने की कीमत घटती है और न उत्पादन कम होने से कीमत बढती ही है, क्योकि टकसाल से उसके क्रय-विक्रय का मूल्य निश्चित ही रहता है। हाँ, उसके उत्पादन का प्रभाव थोडा-सा वस्तुओ के मूल्य-स्तर पर अवश्य होता है क्योकि स्वर्णमान मे सोने की कीमत निश्चित की जाती थी किन्तु उसका मूल्य निश्चित नही किया जाता था।

४ स्वर्ण का बाजार असीमित था अर्थात् सोने की निश्चित कीमतो पर

सोना यही से भी खरीदा जाता था तथा बेचा भी जाता था। इन कारणो से ही स्वर्णमान का उपयोग विशेष रूप से सफल हुआ।[1]

१६१४ तक

उपर्युक्त कारणो मे स्वर्णमान की १६वी शताब्दी मे विजय हुई और विश्व के प्रमुख राष्ट्रो मे इसे अपनाया गया। फिर १८६२ तक द्विधातुमान पद्धति के अपनाने के लिए चर्चाएँ तथा परिषदे होती रही जिसका अन्त इसी काल मे हुआ। १६१४-१६ की लडाई के प्रारम्भ तक इङ्गलैंड, अमेरिका आदि प्रमुख राष्ट्रो मे स्वर्ण चलन पद्धति का ही अवलम्बन था जिसमे स्वर्ण मूल्यमापक था तथा उसकी मुद्राएँ चलन मे थी जो असीमित विधिग्राह्य थी एव उनका टक्ण-स्वातन्त्र्य मुक्त था अर्थात् कोई भी व्यक्ति स्वर्ण ले जाकर उसको टक्साल से सिक्को मे ढलवा सकता था। इस प्रकार सोने के सिक्के पूर्णत प्रमाणित सिक्के थे। इन्ही से देश की अन्य गौण मुद्राओ का मूल्य-सम्बन्ध था। विदेशी विनिमय का आधार भी स्वर्ण ही था अर्थात् स्वर्ण की समता पर देश-विदेशो मे ऋणो का भुगतान होता था और इनकी विनिमय-दर स्वर्ण-निर्यात बिन्दु तथा स्वर्ण-आयात बिन्दु के बीच बदलती रहती थी। स्वर्ण की घिसावट से होने वाली हानि बचाने के लिए सब देशो मे स्वर्ण-चलन के बदले पत्र-चलन था जो किसी भी समय स्वर्ण से परिवर्तित किया जा सकता था, जिनके लिए पत्र-सचालक बैंक अपने पास स्वर्ण निधि रखते थे। किन्तु प्रत्येक बैंक जो साखमुद्रा का प्रसार करता था, उसे स्वर्ण निधि रखना पडता था जिससे देश का सोना अधिक मात्रा मे निधि मे ही रहता था। इसलिए इसमे मितव्ययिता करने के उद्देश्य से निधि का केन्द्रीयकरण करना (centralisation of reserve) उचित समझा गया जिसके लिए प्रत्येक देश मे केन्द्रीय बैंको की स्थापना की गई जो साख-मुद्रा तथा पत्र मुद्रा का नियमन एव नियत्रण करते थे और साथ ही स्वर्ण निधि का भी। इन्ही के हाथो सोने का क्रय विक्रय एक निश्चित दर से किया जाता था। इसी के साथ स्वर्ण बाजार खुला होने के कारण अथवा अन्तरराष्ट्रीय बाजार मे सोने की खरीद अथवा बिक्री पर किसी भी प्रकार की रोक न होने के कारण इस बात मे स्वयपूर्ण कार्यशीलता थी। फलस्वरूप अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे अपने आप वस्तुओ के मूल्यस्तरो म समानता रखी जाती थी। उदाहरणार्थ, यदि किसी भी

[1] For detailed reference see *Gold and the Gold Standard* by E. W. Kemerrer.

देश की मुद्रा की विनिमय-दर में वृद्धि होती थी तो उस देश की कीमतें अन्य देशों की अपेक्षा महँगी होने के कारण वहाँ निर्यात अधिक हो जाता था। उसी प्रकार दूसरे देशों की कीमतें उस देश की अपेक्षा कम होने से विदेशों से माल यहाँ अधिक आता था। परिणामस्वरूप वह देश ऋणी हो जाता था तथा उसे विदेशों में भुगतान के लिए सोना देना पड़ता था अथवा विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ जाती थी जिसके कारण विदेशी मुद्रा की कीमतें भी बढ़ती थी और इस प्रकार मूल्य-स्तर में समानता आ जाती थी तथा विनिमय-दर में भी समानता रखी जाती थी। इस प्रकार इस पद्धति में स्वयपूर्ण कार्यशीलता थी।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व एक दूसरे रूप में भी स्वर्णमान का उपयोग होता था। इस मान का मूल हेतु स्वर्ण के उपयोग में मितव्ययिता लाना तथा स्वर्ण-मान वाले व रजतमान वाले राष्ट्रों की विनिमय-दर में स्थिरता रखना था, जिससे रजतमान वाले राष्ट्रों में भी विदेशी व्यापार बढ़ाया जा सके। इस पद्धति में सोने के सिक्के चलन में नहीं रहते बल्कि देशी व्यापारिक व्यवहारों में चाँदी के सिक्के तथा पत्र-मुद्रा का उपयोग होता है जो असीमित विधिग्राह्य होती है। इन मुद्राओं को किसी ऐसे देश की मुद्रा से सम्बन्धित किया जाता है जो स्वर्णमान पर हो। देशी कामों के लिए ये मुद्राएँ सोने में परिवर्तित नहीं होतीं किन्तु विदेशी भुगतान के लिए सरकार सोना अथवा विदेशी मुद्राएँ देने के लिए बाध्य होती है। इस पद्धति को स्वर्ण-विनिमय पद्धति कहते हैं। यह भारत में १८६८ से १६१८ तक प्रयोग में थी। अन्तरराष्ट्रीय बाजार में भी सोना विनिमय माध्यम के रूप में काम आता है किन्तु वस्तुओं की खरीद बिक्री के लिए नहीं, बल्कि विदेशी चलन की खरीद बिक्री के लिए। अत इसमें केन्द्रीय बैंकों को विदेशी विनिमय में निधि रखना पड़ता है जिससे वे विदेशी भुगतान के लिए देशी मुद्रा के बदले विदेशी विनिमय दे सकें। उसी प्रकार विदेशी बैंकों में स्वर्ण निधि रखना पड़ता है जिससे वे विदेशी देनदारों की आवश्यकता के समय भुगतान किया जाय।

इस पद्धति का अवलम्बन जावा, भारत, आस्ट्रिया और हंगरी में १६वीं शताब्दी के अन्त में था तथा १६२० से १६३० तक के काल में अधिकांश देशों में था। इसकी कार्य-पद्धति दो प्रकार की है—एक तो उन देशों में विनिमय-दर स्थापित करना जो स्वर्णमान पर हैं अथवा जिनका चलन स्वर्ण से सम्बन्धित है। दूसरे, ऐसे देशों में विनिमय दर स्थापित करना जिनमें एक देश स्वर्ण पर तथा दूसरा देश चाँदी पर आधारित है जैसे भारत तथा इङ्गलैंड। भारत की

स्वर्ण-विनिमय पद्धति दूसरे प्रकार की थी जिसे शुद्ध रूप में स्वर्ण विनिमय-मान नहीं कहा जा सकता किन्तु विनिमय-मान कहा जा सकता था क्योंकि भारतीय रुपये का गठबन्धन एक निश्चित दर पर (१८ पेंस प्रति रुपया) किया गया था और स्टर्लिंग स्वर्ण पर आधारित होने के कारण ही हमारी पद्धति को स्वर्ण-विनिमय-मान कहा जाता था। इसमें विनिमय-दर की स्थिरता के लिए केन्द्रीय बैंक अथवा सरकार द्वारा हस्तक्षेप की आवश्यकता रहती है इसलिए यह पूर्ण-रूप से स्वयपूर्ण कार्यशील नहीं है अपितु नियन्त्रित चलन पद्धति (managed currency standard) है।

स्वर्ण-विनिमय-मान की कार्य-पद्धति

इस पद्धति में विनिमय मान वाले देश का केन्द्रीय बैंक स्वर्णमान वाले देश के केन्द्रीय बैंक के सहयोग से इस पद्धति का नियन्त्रण करता है। विनिमय-मान वाले देश का केन्द्रीय बैंक स्वर्णमान वाले देश के केन्द्रीय बैंक में स्वर्ण-निधि रखता है जिसमें से वह उस देश का विदेशी विनिमय निश्चित दर पर खरीदता है तथा बेचता है और उसका ध्येय यही रहता है कि विनिमय-दर में सदैव स्थिरता बनी रहे। इसी प्रकार का निधि "पत्र चलन निधि" वाले देश का केन्द्रीय बैंक अपने पास रखता है जिसमें से विदेशियों की माँग की पूर्ति उस देश के देनदारों के भुगतान के लिए की जाती है। इस पद्धति में केन्द्रीय बैंक चलन के प्रसार एवं सकोच द्वारा विदेशी विनिमय की दर का नियमन करता है। भारतीय स्वर्ण विनिमय मान की कार्य-पद्धति से इसका रूप हम पूर्णत समझ सकते हैं।

जब भारत में स्वर्ण विनिमय मान था उस समय भारतीय सरकार पर विदेशी ऋणों का भुगतान स्वर्ण में करने की वैधानिक जिम्मेदारी थी। उसी प्रकार इङ्गलैंड के आयात व्यापारियों की उनके भारतीय देनदारों को रुपये चुकाने की जिम्मेदारी इङ्गलैंड में भारत सचिव (सेक्रटरी ऑव स्टेट) पर थी। इस प्रकार यह चलन पद्धति सवत सरकार की व्यवस्था एव देख रेख में थी जिनमें सेक्रेटरी ऑव स्टेट तथा भारतीय सरकार दो बैंकों की भाँति कार्य करते थे। आन्तरिक व्यापारों तथा विनिमय के लिए रुपया ही प्रमाणित एव असीमित ग्राह्य मुद्रा थी तथा बाह्य विनिमय (external exchanges) के लिए रुपया स्वर्ण मुद्रा के रूप में था जिसका मूल्य १ शि० ४ पेंस निश्चित किया गया था।

भारत के विदेशी व्यापार का शेष सदा हमारे पक्ष में ही रहता था किन्तु

हमे प्रतिवर्ष ब्याज तथा अन्य खर्चों के लिए इङ्गलैण्ड को कुछ वार्षिक रकम देनी पड़ती थी जिसे घर खर्च (*home charges*) कहते हैं। इस राशि का भुगतान या तो दोनों देशों से एक-दूसरे को सोना भेजकर हो सकता था, जो खर्चीला तथा असुविधाजनक तरीका था। दूसरा तरीका यह था कि भारत-सचिव भारत की ओर से इङ्गलैण्ड के देनदारों से सोना लेकर बदले में उन्हें रुपया-विपत्र (rupee bills or council bills) दे जिनका भुगतान भारत सरकार करे। इस प्रकार जो रकम भारत-सचिव के पास आती थी उसमें से घर-खर्च निकाल कर बाकी रकम भारत सरकार के नाम जमा कर दी जाती थी। अंग्रेज देनदार भारतीय लेनदारों को ये रुपया-विपत्र भेज देते थे जिनका भुगतान सरकारी खजाने से उनके बैंक के मार्फत उनको भारतीय मुद्राओं में किया जाता था। इस प्रकार भारतीय लेनदारों का तथा अंग्रेजी सरकार के घर-खर्च का भुगतान परस्पर हो जाता था। जो शेष रकम भारत-सरकार के नाम इङ्गलैण्ड में रहती थी उसका उपयोग भारत सरकार अपने अन्य खर्चों के लिए करती थी। इसी प्रकार जब अंग्रेज लेनदारों को भुगतान करने की आवश्यकता पड़ती थी उस समय भारत सरकार रुपये के बदले में १६ पेंस की दर से भारतीय लेनदारों को स्टर्लिङ्ग-विपत्र (sterling bills or reverse council bills) बेचती थी, जो भारतीय देनदार अपने लेनदारों को इङ्गलैण्ड में भेज देते थे। इनका भुगतान भारत-सचिव द्वारा अंग्रेज लेन-दारों को हुण्डी के बदले स्टर्लिङ्ग देकर किया जाता था। यह पद्धति हमारे यहाँ १६१४ तक इसी प्रकार कार्य करती थी।

यह पद्धति तभी तक अच्छे ढंग पर कार्य कर सकती है जब तक उस देश की परिस्थिति अच्छी है जिसमें स्वर्ण-निधि रखा गया है। परन्तु वहाँ की आर्थिक परिस्थिति खराब होते ही उन घटनाओं का प्रभाव दूसरे देश की आर्थिक स्थिति पर पड़ता है जिससे विनिमय दर में स्थिरता नहीं रहती और न विदेशी विनिमय-दर का नियमन ही ठीक प्रकार से होता है और यही आगे चलकर हुआ भी।

१६१४ से १६१६ तक

१६१४ में जब महायुद्ध प्रारम्भ हुआ उस समय कुल ५६ देश (स्वर्ण-विनिमय वाले देशों को मिलाकर) स्वर्णमान पद्धति पर थे। युद्धकाल के प्रारम्भ के दो-तीन वर्षों में ही स्वर्णमान परित्याग कर दिया गया और लगभग सभी देशों में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का चलन हो गया क्योंकि युद्धजन्य परिस्थितियों के

कारण मुद्रा की आवश्यकता बढ गई थी जिसे पूरा करने का यही एकमात्र उपाय उपलब्ध था। सबसे पहिले १९१७ मे सयुक्त राज्य अमेरिका ने स्वर्ण-निर्यात पर रोक लगा दी। इतना ही नही बल्कि युद्धग्रस्त देशो के पुन सस्थापन मे अधिक व्यय हुआ जिसके फलस्वरूप पत्र-मुद्रा वाले देशो को बहुत हानि हुई। कुछ देशो मे तो वस्तुओ का मूल्य-स्तर बहुत ही बढ गया, विशेषत जर्मनी, रूस और पोलैण्ड मे। फ्रास, बेलजियम आदि देशो मे मुद्रा-स्फीति से भयकर दुष्परिणाम हुए किन्तु वहाँ की कीमतो का स्तर ३०० से ६०० प्रतिशत से अधिक ऊँचा नही गया। इस कारण पत्र-मुद्रा से जनता का विश्वास उठ गया था। लोग कोई ऐसी ठोस मुद्रा चाहते थे जिसमे जनता का विश्वास हो अथवा जो ऐसा विश्वास शीघ्र ही प्राप्त कर सके। ऐसी वस्तु स्वर्ण के अतिरिक्त दूसरी न थी।

इस उद्देश्य से विश्व के विभिन्न भागो मे अनेक योजनाएँ बनाई गई जिससे अन्तरराष्ट्रीय ढग पर स्वर्णमान का पुन सस्थापन हो सके। इस उद्देश्य से ब्रुसेल्स मे १९२० मे एक अन्तरराष्ट्रीय राजस्व-परिषद् (International Financial Conference) बुलाई गई जिसमे ३९ राष्ट्रो ने प्रतिनिधित्व किया। इस परिषद् ने यह स्वीकृत किया कि जिन राष्ट्रों ने स्वर्णमान का परित्याग किया वे पुन स्वर्णमान का अवलम्बन करें। इसके दो वर्ष बाद ही जिनेवा मे एक अन्तरराष्ट्रीय अर्थ-परिषद् (International Economic Conference) बुलाई गई थी। उसने घोषणा की कि "प्रत्येक देश के चलन मे मूल्य-स्थैर्य होना आवश्यक है जिससे वहाँ का आर्थिक पुनर्सङ्गठन हो सके और यूरोपीय चलन किसी सर्वसम्मत वस्तु पर—जो स्वर्ण है—आधारित किया जाय जिससे शीघ्र ही स्वर्णमान का अवलम्बन किया जा सके।"

१९१९ के बाद

स्वर्णमान का पुन. सस्थापन—ऊपर हमने यह बताया कि स्वर्ण के पुन सस्थापन के लिए अन्तरराष्ट्रीय देशो ने एक मत से अपनी सम्मति दी परन्तु फिर भी इस सम्बन्ध मे दो विचारधाराएँ उस समय प्रचलित थी। पहिली विचारधारा के अनुसार स्वर्णमान का पुन सस्थापन होना था, जिसके समर्थक प्रो० गुस्टाव कैसेल एव उनके अन्य साथी थे। दूसरी विचारधारा के समर्थको का, जिसमे कीन्स तथा उनके अन्य साथी थे, कहना था कि स्वर्णमान का परित्याग कर सुसचालित पत्र-मुद्रा-मान का वैज्ञानिक ढग पर अवलम्बन किया जाय क्योकि कीन्स के मतानुसार स्वर्ण भूतकालीन पिछडी अवस्था की स्मृति था।

इन दोनों विचारधाराओं के होते हुए भी जनता का विश्वास आकर्षित करने के लिए स्वर्ण के अतिरिक्त ऐसी कोई भी दूसरी वस्तु नहीं थी जिसका अवलम्बन उस परिस्थिति में होना सम्भव हो सके इसीलिए स्वर्णमान का पुन सस्थापन हुआ।

युद्ध के बाद सबसे पहिला देश जहाँ स्वर्णमान का पुन सस्थापन हुआ, सयुक्त राज्य अमेरिका था। इस देश में जून १९१९ में ही स्वर्ण के निर्यात सम्बन्धी सब प्रतिबन्ध हटा दिये गये। इसके बाद धीरे-धीरे अन्य देशों में भी स्वर्णमान का फिर से अवलम्बन किया गया। इस प्रकार १९२७ में स्वर्णमान पर आधारित राष्ट्रों की सख्या युद्धपूर्व सख्या से भी अधिक हो गई थी। इङ्गलैण्ड में स्वर्णमान का पुन सस्थापन १९२५ में तथा भारत में १९२७ में किया गया।

मूल्य-स्थैर्य की दर—अब इस समय में किस दर पर पत्र-मुद्रा का स्वर्ण में परिवर्तन किया जाय तथा इस नई स्वर्ण-मुद्रा में स्वर्ण की मात्रा कितनी हो, यह विवादग्रस्त था। जिन देशों में युद्धजन्य परिस्थिति के कारण अवमूल्यन अधिक मात्रा में हुआ था उनके लिए युद्धपूर्व स्वर्ण-समता पर आना कठिन था क्योंकि इन देशों को मुद्रा का अधिक मात्रा में सकोच करना पडता। इसलिए ऐसे देशों के लिए एकमात्र उपाय यही था कि वे स्वर्ण-मुद्रा का मूल्य उसी जगह स्थिर करें जहाँ पर कि वह पत्र मुद्रा के वर्तमान मूल्य का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व करे। अर्थात् पत्र-मुद्रा का स्वर्ण-मूल्य पहिले की अपेक्षा कानूनन कम किया जाय—जिसे हम **वैधानिक अवमूल्यन** कहते है—जिससे मुद्रा-सकोच से होने वाली हानियों से देश बच सकता है। स्वर्णमान के पुन सस्थापन के बाद अवमूल्यन द्वारा चलन में मूल्य-स्थैर्य लाने वाले देश फ्रान्स, बेलजियम, इटली, ग्रीस आदि थे।

कुछ देश ऐसे भी थे जहाँ पत्र-मुद्रा का सोने के सम्बन्ध में क्रयशक्ति पर बहुत कम प्रभाव पडा था जैसे अमेरिका, कनाडा, स्विटजरलैंड, अर्जेण्टाइना आदि। इन देशों में स्वर्णमान का पुनः सस्थापन युद्धपूर्व दर पर ही किया गया।

इस प्रकार पत्रमुद्रा की दर स्वर्णमान के सस्थापन के बाद युद्धपूर्व स्वर्ण-समता पर मुद्रा-सकोच द्वारा स्थिर किया जाय अथवा स्वर्ण-समता की दर में कमी करके अथवा अवमूल्यन से स्थिर किया जाय, यह विवादग्रस्त समस्या थी, जिसका हल किस प्रकार किया गया वह ऊपर बताया गया है।

इस प्रकार दक्षिण अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, नार्वे, इगलैंड आदि देशो मे—जिनमे इगलैंड प्रमुख था—स्वर्णमान का पुन सस्थापन मुद्रा-सकोच द्वारा किया गया तथा वहाँ की प्रत्येक मुद्रा का स्वर्ण-मूल्य युद्धपूर्व स्वर्ण-समता पर स्थिर किया गया। किन्तु इस स्वर्णमान पद्धति के लक्षण युद्ध पूर्व स्वर्णमान से बिलकुल भिन्न थे। स्वर्ण-मुद्रा-मान तथा स्वर्ण-विनिमय-मान के दोषो का निवारण करने एव स्वर्ण की मितव्ययिता करने का इस पद्धति मे प्रयत्न किया गया था—*जिसे स्वर्ण-धातु-मान कहते है।*

इङ्गलैंड मे १९२५ मे स्वर्णमान के पुन सस्थापन के लिए "गोल्ड स्टेण्डर्ड ऐक्ट" स्वीकृत हुआ जिसके अनुसार स्वर्ण का टकण-स्वातन्त्र्य एव चलन का स्वर्ण मुद्राओ मे परिवर्तन बन्द किया गया। इस ऐक्ट द्वारा बैंक ऑव इङ्गलैंड को यह अधिकार दिया गया कि वह ३ पौंड १७ शि० १०½ पेंस प्रति औंस की दर से ४०० औंस वजन के छड—*जिनमे ११/१२ भाग विशुद्ध सोना* होता था—वेचे। इस प्रकार कोई भी व्यक्ति चलन का ४०० औंस से कम सोने मे परिवर्तन नही कर सकता था जिससे बैंक ऑव इङ्गलैंड के निधि का सोना जनता के पास जाने से वच गया।

इस पद्धति मे स्वर्ण का निश्चित मूल्य पर एव निश्चित वजन मे क्रय-विक्रय करने के लिए केन्द्रीय बैंको की स्थापना अनिवार्य समझी गई थी। इसी हेतु भारत मे भी १९३५ मे हिल्टन यग कमीशन (१९२७) की सिफारिशो के अनुसार "रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया" स्थापित किया गया।

इस पद्धति मे स्वर्ण-चलन न होने से स्वर्ण मे मितव्ययिता होती है। देश मे पत्र-मुद्रा तथा प्रतीक मुद्रा का चलन होता है जिसकी परिवर्तनशीलता के लिए केन्द्रीय बैंक मे स्वर्ण निधि रखा जाता है जो अन्तरराष्ट्रीय भुगतान के लिए उपयोगी होता है। देश के स्वर्ण निधि का केन्द्रीकरण करने के लिए तथा स्वर्ण-धातुमान प्रणाली को नियत्रित करने के लिए १९२० से १९२७ के बीच मे लगभग सभी प्रगतिशील देशो मे केन्द्रीय बैंको की स्थापना की गई। इस प्रकार यदि सब देशो के केन्द्रीय बैंक सहयोग से कार्य करे तो स्वर्ण के मूल्य मे भी स्थिरता रखी जा सकती है। इन गुणो के कारण ही युद्धोपरान्त स्वर्ण मान का अवलम्बन हुआ।

युद्धपूर्व एव युद्धोपरान्त स्वर्णमान के लक्षण—साम्य-भेद

उपर्युक्त इतिहास के अनुसार युद्ध के पहिले तथा वाद मे जो स्वर्णमान

पद्धति विश्व मे प्रचलित थी उसके क्या लक्षण थे, यह अब हम तुलनात्मक दृष्टि से देख सकते है। युद्धोपरान्त स्वर्णमान से निम्नलिखित लाभ थे —

युद्धपूर्व स्वर्णमान	युद्धोपरान्त स्वर्णमान
१. स्वर्ण विनिमय माध्यम तथा मूल्य-मापन का कार्य करता है।	१ स्वर्ण केवल मूल्यमापक है, विनिमय माध्यम नही।
२ स्वर्ण का टकण-स्वातन्त्र्य जनता को होता है तथा स्वर्ण की मुद्राएँ चलन में होती है।	२ स्वर्ण मुद्राएँ न तो चलन मे होती है और न उनका टकण ही होता है।
३ देश मे पत्र मुद्रा अथवा प्रतीक मुद्रा का चलन होता है जो स्वर्ण मुद्राओ मे किसी भी समय मांग पर बदली जा सकती है।	३ पत्र-मुद्रा एव प्रतीक मुद्राओ का चलन होता है किन्तु इनका परिवर्तन केवल ४०० औंस वजन की छड़ो मे ही हो सकता है।
४ स्वर्ण उपर्युक्त ढग पर अन्तर्बाह्य कार्यों के लिए मिलता है।	४ स्वर्ण उपर्युक्त ढग पर अन्तर्बाह्य कार्यों के लिए मिलता है।
५ इसकी कार्य पद्धति स्वय निर्भर (automatic) है।	५ इसकी चलन पद्धति सुसचालित (managed system) है जिसका नियन्त्रण केन्द्रीय बैंक द्वारा होता है।
६ इस पद्धति मे विदेशी विनिमय दर की स्थिरता की अपेक्षा देश की आतरिक कीमतो की स्थिरता पर अधिक जोर दिया जाता है।	६ इस पद्धति मे आन्तरिक कीमतो के स्थैर्य की अपेक्षा विदेशी विनिमय दर की स्थिरता पर अधिक जोर दिया जाता है।

१ इस पद्धति मे स्वर्ण-चलन मान से होने वाले सब लाभ तो होते ही हैं, इसके अतिरिक्त स्वर्ण-मुद्रा चलन के लिए जो टङ्कण-व्यय होता था उसमे बचत होती है क्योंकि स्वर्ण मुद्रा का चलन नही होता।

२ निधि मे स्वर्ण होने से विदेशी विनिमय को प्रभावशाली एव स्थिर बनाता है तथा इस निधि के लिए स्वर्ण-मान-मुद्रा-चलन मे जो स्वर्ण की मात्रा लगती है उससे कम मात्रा आवश्यक होने से स्वर्ण मे मितव्ययिता होती है।

३ अतिरिक्त मात्रा मे जो स्वर्ण किसी देश मे होता है उस स्वर्ण की सहायता से अन्य देशो मे भी स्वर्णमान अपनाया जा सकता है।

स्वर्णमान का परित्याग

स्वर्णमान के पुन भस्थापन के बाद जिन देशो के चलन मे मूल्य-स्थैर्य नही था उनमें मूल्य-स्थैर्य आगया था और व्यापार, विदेशी विनिमय, उत्पादन आदि मे १९२५ से १९२८ के *बीच काफी स्थिरता आगई थी।* परन्तु यह स्थिरता अल्पकालीन ही साबित हुई क्योकि इङ्गलैण्ड मे केवल ६ वर्ष बाद ही सितम्बर १९३१ मे स्टर्लिङ्ग की स्वर्ण-परिवर्तनशीलता को स्थगित कर दिया गया। दूसरे शब्दो मे *हम यह कह सकते हैं कि इङ्गलैंड ने स्वर्णमान का परित्याग* किया। इसी प्रकार १९३३ मे अमरीकी डॉलर की—जिसे आज भी ठोस एव दुर्लभ मुद्रा माना जाता है—स्वर्ण-परिवर्तनशीलता बन्द करदी गई। सारांश मे, सभी देशो से *स्वर्णमान मौद्रिक सिंहासन से अलग कर दिया गया।* स्वर्णमान के परित्याग के लिए निम्नलिखित कारणो का विशेषता से उल्लेख किया जा सकता है —

१ युद्धकाल मे *अमेरिका ने जो ऋण युद्धग्रस्त राष्ट्रो को दिये तथा युद्ध-* जन्य हानिपूर्ति के लिए जर्मनी तथा अन्य मित्र राष्ट्रो मे जो सन्धियाँ हुई उनके फलस्वरूप अन्तरराष्ट्रीय ऋण सम्बन्धी शेषो मे विशेष परिवर्तन हुआ तथा जो *देश धनी थे वे ऋणी बन गये।* इस *वजह से विजयी राष्ट्रो के पास स्वर्ण की* कमी हो गई तथा स्वर्ण की कीमतो म अधिक उतार-चढाव होने लगे। दूसरे, स्वर्ण की कमी के कारण वहाँ पर मुद्रा की पूर्ति माँग की अपेक्षा घटती गई *जिससे कीमतें भी गिरने लगी तथा मंदी के लक्षण दिखाई देने लगे।*

२ युद्ध के पूर्व इङ्गलैण्ड विश्व मे सबसे बडा साहूकार देश था जिसकी आर्थिक परिस्थिति युद्ध ने बदल दी तथा अमेरिका और फ्रान्स अब साहूकार *बन गये जिनका ऋणी इङ्गलैंड हो गया* क्योकि युद्ध के लिए अपरिमित मात्रा मे इङ्गलैंड ने ऋण लिया तथा उसी मे से अन्य मित्र-राष्ट्रो को युद्ध-सचालन के लिए ऋण दिया, जिसका भुगतान फ्रान्स, इङ्गलैंड तथा मित्र राष्ट्रो को शत्रु राष्ट्रो द्वारा हानिपूर्ति के रूप मे होना था। किन्तु साहूकार राष्ट्रो ने अपने ऋण का भुगतान वस्तुओं मे लेना स्वीकार नही किया क्योकि उन्होने ऊँची दरो पर आयात-कर द्वारा अपने बाजारो मे विदेशी माल पर प्रतिबन्ध *लगा* दिये और वे स्वर्ण की माँग करने लगे।

३. इङ्गलैण्ड ने युद्धपूर्व अपने यहाँ की बहुत सी पूंजी लम्बी अवधि के

लिए अन्य देशो को उनके विकास के लिए ऋण पर दे दी थी। दूसरी ओर ऋणी राष्ट्रो ने अब (युद्ध के बाद) ऋण देने मे अपना हाथ समेट लिया तथा जो ऋण दिये भी थे उनका उपयोग आर्थिक विकास की अपेक्षा ऋणो के भुगतान के लिए अथवा हानिपूर्ति के लिए ही होने लगा।

४ सयुक्त राज्य तथा फ्रान्स, जो साहूकार राष्ट्र थे, उन्होने ऊँचे सरक्षक करो द्वारा आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिया जिससे उनके ऋणो का भुगतान स्वर्ण मे करना ही ऋणी राष्ट्रों के लिए अनिवार्य हो गया, फलस्वरूप बहुत बडी मात्रा मे सोना अमेरिका तथा फ्रान्स म गया जिसको उन्होने निष्क्रिय कर दिया अथवा जिसका प्रभाव आन्तरिक कीमतो पर नही होने दिया। इस तरह इन देशो ने स्वर्णमान का जो आवश्यक लक्षण **स्वयं निर्भरता है** उसको कार्यान्वित नही होने दिया। उधर अन्य राष्ट्रो म स्वर्ण की कमी से मूल्य-स्तर गिरने लगे। परिणामस्वरूप ऋणी राष्ट्रो के ऋण का भार अधिकाधिक होना गया। इस प्रकार साहूकार राष्ट्रो द्वारा स्वर्णमान के नियमो का पालन नही किया गया जिससे विश्व के अन्य राष्ट्रो मे स्वर्ण की कमी हो गई तथा उन्हे अपने सिक्को की स्वर्ण-परिवर्तनशीलता बन्द करनी पडी।

५ इसके अतिरिक्त कुछ समय के लिए ऋणग्रस्त राष्ट्रो मे व्यापार एव उत्पादन कार्य मे उन्नति दिखाई दी जिससे भविष्य की आशाओ पर अधिकाधिक सट्टेबाजी बढती गई। परिणाम यह हुआ कि उपभोग की अपेक्षा उत्पादन बढता गया तथा माँगपूर्ति के नियम का उल्लघन होने से उत्पादन एव उपभोग का सन्तुलन बिगड गया जिससे कीमतें धडाधड गिरने लगी।

६ मित्र राष्ट्रो के परस्पर दिये हुए ऋणो के कारण तथा इन ऋणो की भुगतान सम्बन्धी चर्चाओ के कारण सब देशो मे अधिक अनिश्चितता, भय एव अविश्वास पैदा हो गया।

७ **जनता का विश्वास उठना**—इन उपरोक्त कारणो की वजह से एक ओर तो विश्व के सभी देशो मे मुद्रा की कमी होने से मूल्य-स्तर गिरने लगे। दूसरी ओर माँग एव उत्पादन का सतुलन नष्ट हो गया क्योंकि व्यापार एव उद्योग उत्पादन कार्य मे उन्नति कर रहे थे। इस तरह मे विश्व मे भयकर आर्थिक मदी आई। इसी मदी मे अमरीकी स्वर्ण के सट्टा बाजार मे सटोरियो को अधिक हानि हुई जिससे वे स्वर्ण के सट्टे पर रोक लगाने के लिए माँग करने लगे। इसी को **वाल स्ट्रीट सकट** (Wall Street Crash) १९२९ कहा जाता है। ऐसी परिस्थिति के कारण आस्ट्रिया का केन्द्रीय बैंक भी फेल हो

गया क्योंकि उसने अपने निधि का बहुत बडा भाग उद्योग-धन्धो मे विनियोग किया था और उद्योग-धन्धों का ढांचा मदी से अस्त-व्यस्त हो रहा था। इस कारण वह जनता से आने वाली स्वर्ण परिवर्तन की माँग को पूरी न कर सका और उसे अपना दरवाजा बन्द करना पडा।

इस बैंक के फेल होते ही अन्य सभी देशों मे स्वर्ण की माँग होने लगी जिसे पूरी करने मे वहाँ के केन्द्रीय बैंक असमर्थ थे। इस वजह से सभी प्रमुख राष्ट्रो मे स्वर्ण की परिवर्तनशीलता का अन्त हो गया।

तीसरे, इसी समय इङ्गलैण्ड मे नाविक विद्रोह भी हो गया क्योंकि देश की आर्थिक स्थिति खराब हो गई थी जिससे जनता का विश्वास सरकार से उठ रहा था।

ऐसी विपरीत एव विरोधी परिस्थिति म विश्व के स्वर्ण-सचय का लगभग ६० प्रतिशत भाग केवल फ्रान्स और अमेरिका मे था तथा अन्य देशो मे केवल ४० प्रतिशत ही था। अत स्वर्णमान को कार्यान्वित करना तथा मूल्यों मे स्थिरता रखना असम्भव हो गया। भय एव चलन मे अविश्वास होने के कारण १६२६–३१ के बीच विश्व मन्दी आ गई तथा जर्मनी, आस्ट्रिया आदि देशों ने स्वर्ण की कमी के कारण स्वर्ण देना बन्द कर दिया तथा यही परिस्थिति इङ्गलैण्ड की भी हो गई जिसने २० सितम्बर १६३१ को स्वर्ण देना बन्द किया। इस प्रकार १६३१ मे विश्व के सभी राष्ट्रो ने अपने चलन का स्वर्ण से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया एव स्वर्णमान का परित्याग हो गया।

सारांश मे, स्वर्णमान परित्याग के कारण हैं —

१ हारे हुए राष्ट्रो द्वारा दी जाने वाली हानिपूर्ति की बडी राशि।

२ स्वर्ण का असमान वितरण।

३ फ्रान्स तथा अमेरिका—जिनके पास विश्व का ६०% स्वर्ण था—द्वारा स्वर्ण को निष्क्रिय बना देना। अर्थात् स्वर्णमान के नियमो का उल्लघन।

४ आस्ट्रिया की केन्द्रीय बैंक का फेल होना।

५ आर्थिक मन्दी।

६ अमेरिका का वाल स्ट्रीट सकट।

७ इङ्गलैण्ड का नाविक विद्रोह।

८ राष्ट्रीय भावना के वशीभूत होकर प्रत्येक देश के द्वारा आयात पर रोक लगाना तथा निर्यात को प्रोत्साहन देना।

९ स्वर्ण का अभाव।

स्वर्णमान का भविष्य

१९३१ मे स्वर्णमान का परित्याग होने के कुछ वर्षों बाद ही द्वितीय महायुद्ध छिड गया और विश्व के प्रमुख देशो मे फिर से अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा की बहुलता हो गई। इससे होने वाले मूल्य-अस्थैर्य के कारण विभिन्न देशो मे भविष्य के चलन सम्बन्धी अनेक योजनाएँ बनाई गई जिनको कार्यान्वित करके युद्ध के बाद अन्तरराष्ट्रीय भुगतान इस नई योजना के अनुसार हो सके। कीन्स, गुस्टाव कैसेल आदि अर्थ-शास्त्रियो का मत था कि स्वर्ण के मूल्य मे स्थिरता न रहने से उसने मौद्रिक क्षेत्र मे अपना महत्त्व खो दिया है अत आगे के लिए सुसचालित पत्र-मुद्रा-चलन-मान ही सम्भव है जो इङ्गलैंड आदि अनेक राष्ट्रो मे यशस्वी रीति से कार्यान्वित है। किन्तु इस पद्धति का महान् दोष चलनाधिक्य की सम्भावना है जिससे अनेक हानियाँ होती हैं तथा इसम जनता का विश्वास भी कायम नही हो सकता। अन्तरराष्ट्रीय भुगतान के लिए मुद्रा की अन्तरराष्ट्रीयता भी आवश्यक है। इसके विपरीत स्वर्णमान के लिए अन्तरराष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता है जिसके न होने से ही स्वर्णमान का परित्याग किया गया। अत. जब तक अन्तरराष्ट्रीय सहयोग नही होता तब तक स्वर्णमान का कार्यान्वित होना असम्भव है क्योकि इसके लिए स्वर्ण का, जिसका ८० प्रतिशत अमेरिका के पास है, पुर्नवितरण होना भी जरूरी है। यह तभी हो सकता है जब अनिर्बन्ध अन्तरराष्ट्रीय व्यापार हो, आयात-निर्यात मे रोक न हो तथा मुद्रा-स्फीति की नीति का त्याग किया जाय। तीसरे, जो देश स्वर्ण के उत्पादक हैं वे देश ऐसे किसी भी मौद्रिक मान का समर्थन नही कर सकते जिसमे स्वर्ण को प्रमुख स्थान न दिया जाय, तथा चौथे, लम्बी अवधि की ऐसी कोई भी मान-पद्धति, जो स्वर्ण पर आधारित नही है, जनता का विश्वास प्राप्त नही हो सकती।

उपर्युक्त कारणो से ही ब्रेटनवुड परिषद (१९४४) मे सब प्रमुख देशो की सम्मति से ब्रेटनवुड योजना की स्वीकृति हुई तथा अन्तरराष्ट्रीय बैंक एव अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-निधि (International Monetary Fund) की स्थापना की गई। इस योजना का मूल उद्देश्य विश्व के राष्ट्रो की आर्थिक उन्नति करना तथा विदेशी विनिमय की दर मे एव अन्तरराष्ट्रीय मूल्यो मे स्थिरता रखना है। इस योजना के अन्तर्गत स्वर्णमान के सब लाभ तो प्राप्त होते ही हैं, उसमे जो अवगुण थे उनका निवारण भी अन्तरराष्ट्रीय सहयोग होने से हो सकता है। स्वर्ण की भी अधिक आवश्यकता नही रहती क्योकि देशो का आन्त-

रिक चलन प्रतीक मुद्रा का रहेगा और अन्तरराष्ट्रीय भुगतान अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-निधि (I M. F.) द्वारा होगा। इस प्रकार आज भी स्वर्ण ही मौद्रिक जगत् मे प्रमुख कार्य कर रहा है एव करेगा जैसा कि स्वर्णमान मे होता रहा है। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा निधि द्वारा स्वर्ण का मूल्य ३५ डॉलर प्रति विशुद्ध औंस निश्चित किया गया है। फलत विश्व के मौद्रिक इतिहास मे स्वर्ण का विशेष स्थान आज भी बना हुआ है।

साराश

स्वर्णमान अपनाने के चार प्रमुख कारण हैं : कम आकार मे अधिक मूल्य एव वहनीयता, मूल्य स्थिरता, स्वर्ण की कीमतो पर उत्पादन का कोई प्रभाव न होना तथा स्वर्ण का असीमित बाजार होना।

१९१४ तक विश्व के विभिन्न देशो मे स्वर्णमान ही था जिसमे स्वर्ण के सिक्के चलन मे होते थे तथा विनिमय माध्यम एव मूल्यमापन का कार्य करते थे। विनिमय दर मे उतार-चढाव स्वर्ण बिन्दुओ से सीमित थे। स्वर्ण का स्वतन्त्र बाजार था तथा मितव्ययिता के हेतु नोट चलाये जाते थे जो स्वर्ण मे परिवर्तनशील थे। फलस्वरूप इसमे स्वय कार्यशीलता, मूल्यस्थिरता एव सरलता थी। लोच का अभाव था। स्वर्ण की कमी वाले देशो मे स्वर्ण विनिमय प्रमाप का उपयोग होता था जिसमे देश की आतरिक प्रमाणित मुद्रा चाँदी या अन्य होती थी। परन्तु उसको किसी अन्य देश की मुद्रा से सम्बन्धित किया जाता था जो स्वर्ण से सम्बन्धित हो।

प्रथम युद्ध के आरम्भ मे ५९ देश स्वर्णमान पर थे। युद्ध आरम्भ होते ही सभी देश स्वर्ण को मुद्रा रूप मे चलाने की जगह उसे एकत्र करने लगे और नोटो का चलन बढने लगा। इसके साथ ही स्वर्ण के निर्यात पर रोक लगादी गयी जिससे स्वर्णमान का अन्त हो गया। युद्धोत्तरकाल मे स्वर्णमान की स्थापना के प्रयत्न होने लगे। फलत जेनेवा के अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन (१९२२) मे निश्चित हुआ कि "प्रत्येक देश के चलन मे मूल्य-स्थिरता होना आवश्यक है। अत शीघ्र ही स्वर्णमान का अवलम्बन किया जाय जिससे आर्थिक पुनर्गठन हो सके।" युद्धोत्तर काल मे सर्व प्रथम १९१९ मे अमेरिका ने १९२५ मे इङ्गलैण्ड ने, १९२७ मे भारत एव अन्य देशो ने स्वर्णमान अपनाया। फलत स्वर्णमान वाले देशो की सख्या युद्धपूर्व काल से भी बढ गई।

युद्धोत्तर स्वर्णमान युद्धपूर्व स्वर्णमान से भिन्न था। इसमे स्वर्ण मूल्यमापक था किन्तु विनिमय माध्यम नहीं। सरकार या केन्द्रीय बैंक निश्चित दरो पर

४०० औंस से अधिक मात्रा में स्वर्ण का क्रय-विक्रय करती थी। स्वर्ण देशी एवं विदेशी कार्यों के लिए मिल सकता था।

परन्तु यह स्वर्णमान अल्पकालीन ही रहा क्योंकि १६३१ मे इङ्गलैण्ड ने, १६३३ मे अमेरिका ने तथा बाद मे अन्य देशो ने अपनी मुद्रा को स्वर्ण मे बदलना बन्द किया अर्थात् स्वर्णमान का त्याग किया। इसके लिए निम्न कारण थे : पराजित राष्ट्रो द्वारा दी जाने वाली हानिपूर्ति की बडी राशि, स्वर्ण का असमान वितरण, फ्रांस तथा अमेरिका द्वारा स्वर्णमान के नियमो की उपेक्षा, आस्ट्रिया की केन्द्रीय बैंक का फेल होना, अमेरिका का वाल स्ट्रीट सकट, इङ्गलैण्ड का नाविक विद्रोह, स्वर्ण की कमी, आर्थिक मदी, राष्ट्रीयता के अन्तर्गत आयात पर रोक एव निर्यात को प्रोत्साहन।

इन कारणों से स्वर्णमान का जो त्याग हुआ वह १६२५ तक पुनः न अपनाया जा सका। *१६४५ मे अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना से अब* स्वर्ण पुन. मौद्रिक सिंहासन पर बैठ गया है।

अध्याय ११

विदेशी विनिमय

विदेशी विनिमय क्या है ?

'विदेशी विनिमय' के भिन्न-भिन्न अर्थ किये जाते हैं। जिस समय हम यह कहते हैं कि विनिमय बैंक 'विदेशी विनिमय' का क्रय विक्रय करते हैं उस समय विदेशी विनिमय से तात्पर्य होता है 'विदेशी विनिमय बिल' (foreign bills of exchange) से। इसी प्रकार जब हम यह कहते है कि "विदेशी विनिमय हमारे पक्ष मे नही है" उस समय हमारा मतलब होता है 'विनिमय दर' (rate of exchange) से। किन्तु विदेशी विनिमय का सही रूप मे शब्दश अर्थ होता है—"वह पद्धति जिससे व्यापारी राष्ट्र अपने आपसी ऋणो का भुगतान करते है"[1] अर्थात् विदेशी विनिमय वह पद्धति है जिससे अन्तरराष्ट्रीय ऋणो का भुगतान किया जाता है। विदेशी चलन की माँग एव पूर्ति किस प्रकार होती है तथा विभिन्न देशो की मुद्राओ की दर किस प्रकार निश्चित की जाती है, इन तत्वो का इसमे विवेचन किया जाता है।

जहाँ तक देश के आन्तरिक व्यापार का सम्बन्ध है, उस देश मे भुगतान देशी चलन द्वारा किया जाता है क्योकि उस देश की वही असीमित विधिग्राह्य मुद्रा होती है। किन्तु विदेशी भुगतान के लिए तो हमको ऐसी ही वस्तुएँ देनी पडगी जो उस देश मे स्वीकृत हो, और ऐसी कोई भी अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा नही जो सब देशो मे स्वीकृत एव विधिग्राह्य हो। ऐसी अन्तरराष्ट्रीय वस्तु केवल स्वर्ण ही है जिसके द्वारा भुगतान किया जा सकता है परन्तु प्रत्येक व्यापारिक लेन देन के समय सोना भेजना अथवा मँगाना खतरनाक और खर्चीला भी है। अत विदेशी भुगतान किस प्रकार होता है, भुगतान करने की कौनसी क्रियाएँ है, किस प्रकार एक देश की मुद्रा की दर दूसरे देश की मुद्रा के साथ निश्चित की जाती है यह जानना आवश्यक है और इसलिए ही विदेशी विनिमय के अध्ययन की आवश्यकता भी है।

---

[1] *Encyclo Brit*

हार्टले विदर्स के शब्दो मे "विदेशी विनिमय अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-परिवर्तन का विज्ञान एव कला है"[1]। विदेशी विनिमय का अर्थ है—दूसरे देशो की मुद्राओ का क्रय-विक्रय, जो उसी प्रकार किया जाता है जैसे कि अन्य वस्तुओ का क्रय एव विक्रय। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विदेशी विनिमय निम्न-लिखित विषयो से सम्बन्धित है :—

१. वह वस्तु जो खरीदी अथवा बेची जाती है अर्थात् विदेशी बिल,

२ उनकी कीमत, जिस दर से वे खरीदी एव बेची जाती हैं, तथा

३. वे सस्थाएँ जिनके द्वारा वे बिल खरीदे अथवा बेचे जाते हैं। इनका अध्ययन हम 'विदेशी विनिमय बैंक' अध्याय मे करेंगे।

अन्तरराष्ट्रीय भुगतान कैसे हो सकता है ?

अन्तरराष्ट्रीय भुगतान के केवल तीन मार्ग किसी भी अन्तरराष्ट्रीय भुगतान को उपलब्ध होते हैं :—

१. जो वस्तुएँ किसी देश मे आयात की जाती हैं उनके बदले म उस देश को आवश्यक वस्तुएँ देना—किन्तु यह मार्ग सम्भव नही है क्योंकि प्रत्येक देश दूसरे देशो को उनकी आवश्यकता की वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में नहीं दे सकता और हो सकता है कि उन वस्तुओ की उपज ही उस देश मे न हो। दूसरे, वस्तु-विनिमय की कठिनाइयाँ अन्तरराष्ट्रीय वस्तु-विनिमय मे और भी तीव्रतर हो जाती हैं। इसलिए विदेशी व्यापार मे वस्तु-विनिमय सम्भव नही है।

२. अपनी वस्तुओ के आयात के बदले स्वर्ण देना तथा निर्यात के बदले स्वर्ण लेना। किन्तु यह मार्ग अधिक खर्चीला, खतरनाक एव असुविधाजनक भी है क्योंकि एक देश का दूसरे देश के साथ अनेक व्यक्तियो द्वारा लेन-देन होता है। उस हालत मे प्रत्येक व्यक्ति को सोने का आयात एव निर्यात करना पड़ेगा किन्तु यदि एक देश का कुल लेना और कुल देना निकाला जाय तो बहुत कम मात्रा मे सोने का निर्यात या आयात होगा। अत सोने के लेन-देन मे होने वाली असुविधाएँ एव खर्चा बचाने के लिए एव स्वर्ण के उपयोग म मितव्ययिता लाने की दृष्टि से तीसरा मार्ग ही अधिक सुविधाजनक एव कम खर्चीला है।

३ तीसरा मार्ग है विनिमय-बिलो द्वारा विदेशी ऋणों का भुगतान करना। इस पद्धति मे स्वर्ण का उपयोग रोज के लेन-देन के लिए न होते हुए सामयिक भुगतान के लिए ही उसकी आवश्यकता पड़ती है। जैसे मान लीजिए

---

[1] *Money Changing* by Hartley Withers.

कि एक साल में हमारे यहाँ २० लाख पौंड का आयात हुआ तथा ३० लाख पौंड का निर्यात हुआ तो केवल १० लाख पौंड का सोना वर्ष के अन्त में हमको इङ्गलैंड चुकाएगा। यदि यह पद्धति न होती तो भारत से इङ्गलैंड को २० लाख पौंड का सोना जाता तथा इङ्गलैण्ड से भारत में ३० लाख पौंड का सोना आता। इस प्रकार ५० लाख पौंड के स्वर्ण की आवश्यकता पडती एव उसके लिए वाहन-व्यय भी होता ही। किन्तु बिलों के द्वारा केवल १० लाख पौंड सोना ही लगा अर्थात् ४० लाख पौंड मान की बचत तथा वाहन-व्यय की बचत तो हुई ही, इसके अतिरिक्त निर्यात के लिए जो कष्ट एव असुविधाएँ दोनों देशों को उठानी पडती उनकी भी आवश्यकता न रही। इसीलिए तीसरे मार्ग से ही—अर्थात् विदेशी बिलों द्वारा ही—आजकल अन्तरराष्ट्रीय ऋणों का भुगतान होता है, और ये बिल विनिमय-बैंकों द्वारा खरीदे तथा बेचे जाते हैं।

विदेशी बिलों की कार्यप्रणाली

मान लीजिए कि इङ्गलैण्ड से अमेरिका में कुछ वस्तुओं का आयात होना है तथा उसी प्रकार से कुछ वस्तुओं का निर्यात होता है। ऐसी दशा में दोनों देशों के भुगतान के लिए स्वर्ण का आयात-निर्यात होगा। परन्तु यह पद्धति असुविधाजनक होने से बिलों के द्वारा दोनों देशों का भुगतान किया जायगा। उदाहरणार्थ, अमरिका हमेशा डालर में भुगतान चाहेगा और अंग्रेजों द्वारा केवल पौंड-स्टर्लिंग ही दिया जा सकता है उसी प्रकार अंग्रेज अपना भुगतान पौंड-स्टर्लिंग में चाहेंगे किन्तु अमरिकन केवल डॉलर में भुगतान कर सकते हैं। अत दोनों को ही एक-दूसरे देश की मुद्रा खरीदनी पड़ेगी। जहाँ विदेशी मुद्राओं का क्रय विक्रय होता है उसे विदेशी विनिमय-बाजार (foreign exchange market) कहते हैं। अब यह मुद्रा किस प्रकार खरीदी जायगी यह प्रश्न उठता है। मान लीजिए कि अमेरिका के 'क' ने १०,००० पौंड का निर्यात इङ्गलैण्ड के 'ख' को किया है और इङ्गलैण्ड के 'ग' ने अमेरिका के 'घ' को १०,००० पौंड का माल निर्यात किया है। उस परिस्थिति में लेन देन की दशा निम्न प्रकार होगी —

अमेरिका	इङ्गलैण्ड
'क' (निर्यातकर्त्ता एव लेनदार)	'ख' (आयातकर्त्ता एव देनदार)
'घ' (आयातकर्त्ता एव देनदार)	'ग' (निर्यातकर्त्ता एव लेनदार)

अब 'ख' ने 'क' को १०,००० पौंड तथा 'घ' ने 'ग' को १०,००० पौंड

देना है। यदि स्वर्ण के द्वारा भुगतान किया जाता है तो दोनों को ही स्वर्ण भेजना पड़ेगा, किन्तु विपत्रों से यदि भुगतान किया जाय तो केवल एक बिल से ही दोनों ऋणों का भुगतान हो सकेगा। इसलिए 'क' १०,००० पौंड का एक बिल 'ख' पर लिखेगा जो 'ख' स्वीकृत करके 'क' को भेज देगा। अमेरिका में 'क' उस बिल को 'घ' को बेचकर डालर में अपना भुगतान ले लेगा। अब 'घ' इस बिल को इङ्गलैण्ड के 'ग' के पास भेजेगा जिसका भुगतान वह 'ख' से पौंड अथवा अंग्रेजी चलन में ले लगा। इस प्रकार एक बिल से 'क' तथा 'ग' दोनों के ऋणों का भुगतान उनके देश की मुद्राओं में हो जाता है और न सोने का दो बार निर्यात होता है और न उसमें होने वाली असुविधाएँ एवं व्यय ही होता है।

उपर्युक्त उदाहरण में हमने दोनों ऋणों की एक ही रकम (अर्थात् १०,००० पौंड) ली है परन्तु प्रत्यक्ष में ऐसा सन्तुलन बहुत कम होता है। इङ्गलैण्ड लाखों पौंड के बिल अमेरिका पर लिखता है और उसी प्रकार अमेरिका इङ्गलैण्ड पर लाखों डालरों के बिल लिखता है जो दोनों देशों के देनदारों द्वारा अपने अपने लेनदारों के भुगतान के लिए खरीदे जाते हैं तथा इन बिलों द्वारा अन्तरराष्ट्रीय ऋणों का भुगतान किया जाता है। यदि किसी देश का पावना देने से अधिक हो तो उस दशा में पावना वाले देश में स्वर्ण का आयात होता है परन्तु इसमें भी मितव्ययिता लाई जाती है।

यहाँ पर हमने केवल दो देशों का उदाहरण लिया है किन्तु अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में अनेक देश होते हैं और ऐसी हालत में एक देश के कुल ऋणों का सन्तुलन उस देश के कुल पावने के साथ किया जाता है। फिर जो कुछ शेष रहता है उसका भुगतान स्वर्ण के निर्यात द्वारा होता है और यदि स्वर्ण का निर्यात नहीं किया जाता तो वह देश अन्य देशों का उस रकम से ऋणी रहता है।

विदेशी विनिमय की माँग एवं पूर्ति

विदेशी विनिमय के लिए माँग कैसे होती है तथा उसकी पूर्ति किस प्रकार की जाती है यह भी जानना चाहिए। विदेशी विनिमय की माँग उन व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत की जाती है जो विदेशों से माल मँगाना चाहते हों, विदेशी सेवाओं का भुगतान करना चाहते हों अथवा विदेशों में अपनी पूँजी का विनियोग करना चाहते हों। विदेशी विनिमय की पूर्ति उन व्यक्तियों द्वारा की जाती है जो विदेशी मुद्रा पर किसी न किसी रूप में अधिकार प्राप्त करते हैं, चाहे वह

निर्यात द्वारा, सेवाओं द्वारा, अथवा पूंजी के आगात द्वारा हो। इस प्रकार किसी भी समय वैधानिक माँग एवं पूर्ति निश्चित होती है तथा इनकी परस्पर शक्ति के ऊपर ही अन्य वस्तुओं की कीमतों की भाँति बिलो की कीमतें भी निर्भर रहती हैं।

विनिमय की दर

यह वह दर है जिससे एक देश के बिल दूसरे देश मे बेचे जायेंगे। दूसरे शब्दो मे हम यह कह सकते हैं कि जिस दर पर एक देश की प्रमाणित मुद्रा दूसरे देश की प्रमाणित मुद्रा के साथ बदली जा सके उसे विनिमय दर कहते है। चूँकि अन्तरराष्ट्रीय भुगतान साधारणत विदेशी विनिमय बिलो द्वारा होते हैं इसीलिए विनिमय दर उस दर को कहते है जिस दर पर एक देश के बिलो की बिक्री दूसरे देश मे होती है। इनकी कीमत उस देश मे बिलो की माँग एव पूर्ति पर निर्भर रहेगी। यदि किसी भी समय विदेशी मुद्रा के बिलो की माँग एव पूर्ति का सन्तुलन होगा तो विनिमय-दर मे समता होगी। इसके विपरीत यदि बिलो की माँग अधिक है तथा पूर्ति कम, तो उस दशा मे विनिमय की दर बढेगी अथवा विदेशी मुद्रा का मूल्य समता से बढेगा अर्थात् विदेशी मुद्रा को खरीदने के लिए हमको पहिले से अधिक देशी मुद्राए देनी पड़ेंगी। इसी प्रकार यदि विदेशी बिलो की पूर्ति माँग की अपेक्षा अधिक है तो विनिमय की दर गिरेगी अथवा विदेशी मुद्रा का मूल्य दर की समता से नीचे होगा अर्थात् विदेशी मुद्रा को खरीदने के लिए हमको पहिले की अपेक्षा कम देशी मुद्राएँ देनी पडेंगी।

किन्तु यह विनिमय की दर समता से कहाँ तक बढ़ेगी अथवा कितनी नीचे गिरेगी—इसकी भी मर्यादाएँ है जो भिन्न-भिन्न परिस्थितियो म भिन्न होंगी। उसी प्रकार भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे भिन्न-भिन्न देशो की मुद्रा-मान पद्धतियो के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार मे समता की दर भी निश्चित की जाती है।

विनिमय की समता

जैसा कि हम ऊपर बता चुके है, किसी भी समय विनिमय की दर विदेशी मुद्रा की माँग तथा पूर्ति एव विदेशी विनिमय बाजार की दशा पर निर्भर रहती है, किन्तु दीर्घकालीन दर दो देशो की मुद्राओ की पारस्परिक क्रयशक्ति पर निर्भर रहती है अथवा दो देशो के बीच मुद्रा का क्रय विक्रय दीर्घकालीन अवधि मे दोनो देशो की मुद्राएँ अपने-अपने देश म जो क्रयशक्ति रखेंगी उस पर निर्भर रहेगा। 'अत किसी भी समय यह दर क्रयशक्ति-समता का प्रति-

निश्चित करेगी। फिर वह क्रयशक्ति चाहे स्वर्ण में हो, चाँदी में हो अथवा वस्तुओं एवं सेवाओं में हो। यह बात उन देशों की मुद्रामान पद्धतियों पर निर्भर रहेगी।

विनिमय की समता निश्चित करने की निम्नलिखित पद्धतियाँ हैं —

१. जब दोनों देश स्वर्णमान पर अथवा रजत मान पर आधारित होते हैं,

२. जब एक देश स्वर्ण पर तथा दूसरा चाँदी पर आधारित होता है,

३. जब एक देश स्वर्ण पर तथा दूसरा अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा पर आधारित होता है, तथा

४. जब दोनों देश अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा पर आधारित होते हैं।

१. स्वर्ण पर आधारित देश—जब विभिन्न देशों की मुद्राएँ स्वर्ण पर आधारित होती हैं उस समय स्वर्ण के माध्यम से हम विभिन्न देशों की क्रयशक्ति नाप सकते हैं तथा विभिन्न देशों की मुद्राओं का मूल्य उनकी स्वर्ण में जो क्रयशक्ति होती है उसमें नाप सकते हैं। जब दो देशों की मुद्राओं का विनिमय इस प्रकार से होता है कि वे अपने देशों में एक ही मात्रा में सोना खरीदती हैं उस समय विनिमय-दर की समता होती है। इस समता की स्थिति में दोनों देशों की मुद्राएँ अपने-अपने देश में समान मात्रा में सोना खरीदती हैं। इस परिस्थिति में जब दो देशों की मुद्राओं का विनिमय होता है उस समय न तो लेने वाले और न देने वाले को किसी प्रकार से लाभ अथवा हानि होती है। अर्थात् स्वर्णमान पर आधारित राष्ट्रों की मुद्राओं की क्रयशक्ति स्वर्ण क्रयशक्ति है और जब तक स्वर्ण का आयात-निर्यात अनिर्बन्ध है तब तक दो देशों की मुद्राओं का परस्पर विनिमय उन देशों के प्रमाणित सिक्कों की विशुद्ध स्वर्ण की समानता पर निर्भर रहेगा। इसी को टक-समता (mint par) अथवा विनिमय की टक-समता (mint par of exchange) कहते हैं। टॉमस के शब्दों में विनिमय की टक-समता उसे कहेंगे जिसमें "एक देश के प्रमाणित सिक्कों का यथार्थ साम्य दूसरे देश के प्रमाणित सिक्कों में व्यक्त किया जाता है, जो एक ही धातुमान पर होते हैं—यह साम्य दोनों सिक्कों में जो धातु की वैधानिक विशुद्ध मात्रा होती है उसकी तुलना से निश्चित होता है।" अथवा "टक-समता वह अनुपात है जो एक ही धातुमान पर आधारित राष्ट्रों की प्रमाणित मौद्रिक इकाइयों के वैधानिक धातु-साम्य से व्यक्त होता है।"[1] यहाँ पर एक

[1] *Banking and Exchange* by Thomas.

बात विशेष रूप से ध्यान मे रखनी होगी कि स्वर्ण पर आधारित राष्ट्रो की मुद्रा के वैधानिक विशुद्ध स्वर्ण-मूल्य मे ही टक-समता निश्चित की जाती है न कि उसके वास्तविक मूल्य मे, अर्थात् टक-समता से तात्पर्य है—एक देश की विशुद्ध स्वर्ण-मुद्रा का दूसरे देश की मुद्रा के विशुद्ध स्वर्ण मे मूल्य तथा रजत-मान वाले राष्ट्रो मे चाँदी का चाँदी मे मूल्य ।

साराश मे, टक समता मुद्रा पर निर्भर न रहते हुए उस मुद्रा की वैधानिक व्याख्या पर निर्भर रहती है, सॉवरेन की वास्तविकता पर नही अपितु सॉवरेन की वैधानिकता पर, और जब तक विधान मे परिवर्तन नही होता टक-समता मे भी परिवतन नही होगा ।[1]

प्रत्येक देश के कानून द्वारा उसकी प्रमाणित मुद्रा का स्वर्ण-मूल्य अथवा रजत-मूल्य निश्चित किया जाता है । इस स्वर्ण-मूल्य अथवा रजत-मूल्य की विशुद्ध मात्रा के आधार पर ही टक-समता निकाली जायगी, न कि उस सिक्के की घिसावट होने के कारण उसमे जो मूल्य रहता है उस आधार पर । जैसे सॉवरेन का कानून द्वारा निर्धारित विशुद्ध स्वर्ण-मूल्य ११३ ००१६ ग्रेन है परन्तु सॉवरेन चलन मे रहने से घिस जाने के कारण उसमे विशुद्ध स्वर्ण यदि केवल ११२ ०० ग्रेन ही रह जाता है तो हम टक-समता निकालने के लिए उसका विशुद्ध स्वर्ण-मूल्य ११३ ००१६ ग्रेन लेंगे न कि उसका वास्तविक स्वर्ण-मूल्य (अर्थात् ११२ ०० ग्रेन) और जब तक उस देश के विधान द्वारा स्वर्ण-मूल्य मे परिवर्तन नही किया जाता तब तक टक-समता मे भी किसी प्रकार का परिवर्तन नही होगा । टक-समता स्थायी समता होती है ।

इस सिद्धान्त के अनुसार अमेरिका तथा इङ्गलैण्ड की विनिमय-दर निम्न प्रकार से मालूम होगी —

अमरीकी प्रमाणित सिक्का ईगल है जो कि १० डॉलर के बराबर है जिसमे २५८ ग्रेन सोना ९/१० विशुद्धता का होता है । इस प्रकार १० डॉलरो मे विशुद्ध सोना २५८ × ९/१० = २३२ २ ग्रेन होगा तथा १ डॉलर मे २३२ २ × १/१० = २३ २२ ग्रेन होगा ।

इसी प्रकार इङ्गलैण्ड के एक सॉवरेन मे १२३ २४७ ग्रेन स्वर्ण ११/१२ विशुद्धता का होता है अर्थात् १ सॉवरेन मे १२३ २४७ × ११/१२ = ११३ ००१६ ग्रेन विशुद्ध सोना होता है इसलिए १ सॉवरेन = ११३ ००१६ / २३ २२ = ४·८६६ डॉलर होगा

1 *A B C of Foreign Exchange* by Clare and Crump

अर्थात् इङ्गलैण्ड व अमेरिका के बीच विनिमय की टक-समता १ सॉवरेन = ४.८६६ डॉलर होगी।

जो देश रजत-मान पर आधारित होते है उनके बीच भी इसी प्रकार टक-समता निकाली जायगी।

समता-मूल्य से उतार-चढाव—यह हम बता चुके है कि बिलो की माँग एव पूर्ति के अनुसार बिलो का मूल्य समता से घटता अथवा बढता है तथा उसकी मर्यादाएँ होती हैं। जब दोनो देश स्वर्ण पर आधारित होते है एव स्वर्ण एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजा जा सकता है उस समय यह उतार-चढाव की मर्यादा स्वर्ण के भेजने मे जो व्यय होता है उस व्यय मे निश्चित की जाती है। अत किसी भी समय समता की दर मे स्वर्ण भेजने के लिए जो व्यय होगा उसको जोड देने से हम बिलो के मूल्य की उच्चतम मर्यादा पाते है तथा समता की दर मे से स्वर्ण भेजने का व्यय घटाकर हम बिलो के मूल्य की निम्नतम मर्यादा पाते हैं। सामान्यत बिलो के उतार-चढाव की उच्चतम एव निम्नतम मर्यादाएँ स्वर्ण के भेजने मे जो खर्च आता है उस पर निर्भर रहती हैं। उदाहरणार्थ, अमेरिका और इङ्गलैण्ड के बीच विनिमय की समता-दर १ पौड = ४.८६६ डॉलर है एव सोने के भेजने व मँगाने म .०२४ डॉलर व्यय होता है। जब अग्रेजी पौड मे दर बढती है तो यह दर अधिक से अधिक प्रति पौंड ४.८९ (४.८६६ + .०२४) डॉलर होगी क्योकि यदि दर इससे अधिक बढती है तो अमरीकी व्यापारियो को बिलो मे भुगतान करने की अपेक्षा स्वर्ण भेजना सस्ता पडेगा। अर्थात् किसी भी समय जब दो देश स्वर्ण पर आधारित होते है उस समय उनकी दर 'विनिमय की समता + स्वर्ण-वाहन व्यय' (cost of transmitting specie) से अधिक नही चढ सकती। इस उच्चतम मर्यादा को उच्चतम स्वर्ण-बिन्दु अथवा स्वर्ण-निर्यात बिन्दु (upper gold point or gold export point) कहते हैं। अमरीकी लोगों की दृष्टि से यह स्वर्ण निर्यात-बिन्दु है क्योकि इस दर से अधिक दर चढने पर अमेरिका से स्वर्ण का निर्यात होने लगेगा तथा इङ्गलैण्ड की दृष्टि से यह स्वर्ण-आयात बिन्दु होगा क्योकि इस दर से अधिक बढने पर इङ्गलैण्ड मे सोने का आयात शुरू होगा।

इसी प्रकार दर गिरने की निम्नतम मर्यादा विनिमय की समता मे से स्वर्ण मँगाने के लिए जो वाहन-व्यय होगा उसे घटाने से मालूम होती है। मान लीजिए कि किसी समय अमेरिका के बिलो के लिए पूर्ति की अपेक्षा माँग कम है तो दर गिरने लगेगी। ऐसी अवस्था म दर गिरने की निम्नतम मर्यादा

विनिमय-ममता मे से स्वर्ण आयात-व्यय घटाकर मालूम होगी। अब स्वर्ण-आयात-व्यय ०२४ डॉलर है तो अमरीकी लेनदार अपने बिलो की दर ४ ८४२ (४ ८६६— ०२४) डॉलर प्रति पौंड से नीचे नही उतरने देंगे क्योकि ऐसी अवस्था मे अमरीकी व्यापारी बिलो मे भुगतान लेने की अपेक्षा स्वर्ण मे ही अपना भुगतान लेंगे क्योकि कम डॉलर लेने की अपेक्षा उन्हे यह लाभकर होगा कि वाहन-व्यय देकर स्वर्ण मगा लें। इस मर्यादा को निम्नतम स्वर्ण-विन्दु अथवा स्वर्ण-आयात-विन्दु कहते हैं। यही निम्नतम मर्यादा इङ्गलैण्ड की दृष्टि से स्वर्ण-निर्यात-विन्दु होगी क्योकि इङ्गलैण्ड के व्यापारियो को स्वर्ण मे भुगतान करना लाभदायक होगा।

स्वर्ण-आयात-विन्दु एव स्वर्ण-निर्यात विन्दु विनिमय-दर के उतार चढाव की निम्नतम एव उच्चतम मर्यादाएँ है और सामान्य अवस्था मे विनिमय की दर मे उतार-चढाव इन मर्यादाओ से सीमित रहता है। इन्ही मर्यादाओ को स्वर्ण-विन्दु (specie points) कहते है किन्तु असाधारण परिस्थिति मे जब आयात-निर्यात के लिए स्वर्ण पर्याप्त मात्रा मे नही मिलता उस समय विनिमय की दर इन मर्यादाओ का भी उल्लघन कर सकती है। हमे यहाँ पर एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि ये स्वर्ण-विन्दु स्थायी नही रहते, किन्तु परिवर्तन-शील हैं क्योकि वाहन-व्यय, बीमा-व्यय तथा सोने की खरीद-बिक्री मे होने वाला व्यय हमेशा व्यापारिक स्पर्धा के कारण बदलता रहता है।

स्वर्ण-विन्दुओं का निकालना—निम्नतम एव उच्चतम स्वर्ण विन्दु निकालने के सम्बन्ध मे नीचे दिये हुए नियमो का उपयोग हो सकता है —

१ जब विनिमय की दर विदेशी मुद्रा में व्यक्त की जाती है तब स्वर्ण-निर्यात विन्दु निकालने के लिए टक-समता मे से वाहन-व्यय घटाइए तथा स्वर्ण-आयात-विन्दु निकालने के लिए टक-समता-दर मे वाहन-व्यय जोडिए। उदाहरणार्थ, इङ्गलैण्ड के व्यापारियो की दृष्टि से जब १ पौंड का मूल्य डॉलर मे ४ ८६६ व्यक्त किया जाता है तब ४ ८४२ (४ ८६६—·०२४) स्वर्ण निर्यात-विन्दु होगा एव ४ ८९० (४ ८६६+० २४) स्वर्ण-आयात-विन्दु होगा क्योकि *जब १ पौंड=४ ८६६ डॉलर हम कहते हैं उस समय इङ्गलैंड की दृष्टि से उनके* सिक्के का मूल्य विदेशी सिक्के मे व्यक्त किया जाता है।

२ जब विनिमय की दर देशी मुद्रा मे व्यक्त की जाती है तब स्वर्ण-आयात-विन्दु निकालने के लिए टक-समता-दर मे से वाहन-व्यय घटाइए तथा स्वर्ण-निर्यात-विन्दु निकालने के लिए टक-समता-दर मे वाहन व्यय जोडिए।

ऊपर (१) के उदाहरण में अमेरिका में जब पौंड और डॉलर की विनिमय दर डॉलर में बनाई जाती है तब वह दर देशी मुद्रा में है क्योंकि अमरीकी प्रधान सिक्का डॉलर है। इसलिए इस दशा में अमेरिका के लिए ४ ६६० डॉलर (४ ६६६ + ०२४) स्वर्ण-निर्यात बिन्दु तथा ४ ८४२ (४ ८६६ — ०२३) स्वर्ण-आयात-बिन्दु होगा।

२. **जब एक देश स्वर्ण पर तथा दूसरा देश चांदी पर आधारित होता है**—जब एक देश की मुद्रा स्वर्ण से तथा दूसरे देश की मुद्रा चांदी से सम्बन्धित होती है उस अवस्था में दोनों की मुद्राओं म कितना विशुद्ध स्वर्ण एव चांदी है यह मालूम किया जायगा। फिर चाँदी का स्वर्ण में अथवा स्वर्ण का चाँदी में क्या मूल्य है (यह मूल्य सरकार द्वारा निर्धारित होता है), यह मालूम किया जायगा तथा चाँदी का स्वर्ण-मूल्य निकाला जायगा। अब दोनों ही मुद्राओं मे कितना विशुद्ध स्वर्ण है इसकी हम तुलना कर सकते है और इसी के आधार पर दोनों मुद्राओं का क्या अनुपात होगा यह हम निकाल सकते है। जो स्वर्ण-अनुपात होगा वही टक-समता की दर इन दोनों देशो की मुद्राओं की होगी। भारत और इङ्गलैण्ड के बीच १८६८ तक रुपये का स्टर्लिंग मूल्य इसी प्रकार निश्चित किया जाता था। उदाहरणार्थ, टक विधान के अनुसार भारतीय रुपये मे (जो १८० ग्रेन का था) १६५ ग्रेन विशुद्ध चांदी थी जो उस समय के मूल्य के अनुसार ७ ५३३४४ ग्रेन स्वर्ण के बराबर थी। इङ्गलैण्ड की मुद्रा मे—जैसा ऊपर बता चुके है—११३ ००१६ ग्रेन विशुद्ध स्वर्ण था। इसलिए इङ्गलैण्ड के १ पौंड स्टर्लिङ्ग का भारतीय मुद्रा मे ११३ ००१६—७ ५३३४४ अथवा १५ रुपये मूल्य था। अर्थात् १ रुपया $\frac{१}{१५}$ पौंड के अथवा ($\frac{२०}{१५}$ शि०) १ शि० ४ पेंस के बराबर था।

जब रजतमान वाले देश मे प्रमाणित सिक्के का स्वर्ण मूल्य निश्चित नही होता उस समय इङ्गलैण्ड की टकमाल पर चाँदी का मूल्य निश्चित था। अर्थात् इङ्गलैण्ड की टकमाल पर चाँदी खरीदने की दर ४३ पेंस प्रति प्रमाणित औंस थी। अब इस दशा मे भारतीय रुपये मे कितने औंस प्रमाणित चाँदी है यह देखना होगा। जैसे हम देख चुके है कि १८० ग्रेन के रुपये मे १६५ ग्रेन शुद्ध चाँदी होती है। चूंकि १ औंस मे ४८० ग्रेन होते हैं इसलिए १६५ ग्रेन = $\frac{१६५}{४८०}$ = $\frac{११}{३२}$ औंस शुद्ध चांदी के हुई। चूंकि ४० औंस शुद्ध चांदी ३७ औंस प्रमाणित चाँदी के बराबर होती है इसलिए $\frac{११}{३२}$ औंस शुद्ध चाँदी $\frac{५५}{१४८}$ औंस प्रमाणित चाँदी के बराबर होगी ($\frac{११}{३२} \times \frac{४०}{३७} = \frac{५५}{१४८}$)। १ रुपये मे $\frac{५५}{१४८}$ औंस प्रमाणित चाँदी होती है जो इङ्गलैण्ड की टकसाल मे ४३ पेंस की दर से खरीदी

जाती है। इसलिए १ रुपया (४३ पेंस $\times \frac{४५}{१४८}$ औंस) १६ पेंस में खरीदा जायगा।

अर्थात् पौंड और रुपये के बीच टकसमता की दर १ रु०=१६ पेंस अथवा १५ रु०=१ पौंड होगी।

इस स्थिति में भी विनिमय दर के उतार-चढ़ाव की निम्न एवं उच्च मर्यादाएँ होती है जिससे कम अथवा अधिक विनिमय दर नहीं हो सकती। इन बिन्दुओं को पहली पद्धति के अनुसार ही निकाला जाता है।

३. जब एक देश स्वर्ण पर तथा दूसरा देश अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा पर आधारित होता है—जब दो देशों में एक स्वर्ण अथवा चाँदी पर आधारित होता है तथा दूसरा अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा पर, तब विनिमय-दर की समता दोनों देशों की मुद्राएँ कितना स्वर्ण अथवा चाँदी खरीद सकती हैं, इससे निश्चित की जाती है। जो देश स्वर्णमान पर है उसकी मुद्रा का स्वर्ण-मूल्य तो निश्चित है ही किन्तु अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का मूल्य, स्वर्ण-बाजार में उसका क्या मूल्य है अथवा कितना सोना वह खरीद सकती है, इस पर निर्भर रहता है। ऐसी दशा में विनिमय-दर कितनी गिरेगी अथवा कितनी बढ़ेगी इसके लिए कोई भी निश्चित बिन्दु नहीं होते, जैसे उपर्युक्त दो परिस्थितियों में होते हैं। हाँ, स्वर्ण पर आधारित राष्ट्र के लिए उच्चतम बिन्दु अथवा स्वर्ण निर्यात-बिन्दु होता है क्योंकि वहाँ निर्यात के लिए स्वर्ण उपलब्ध होने से यदि विनिमय की दर स्वर्ण भेजने के व्यय से भी अधिक हो जाती है तो उन्हें स्वर्ण भेजना लाभदायक होगा। अतः स्वर्ण पर आधारित देश में विनिमय की दर स्वर्ण-निर्यात-बिन्दु अथवा उच्चतम स्वर्ण-बिन्दु से अधिक नहीं चढ़ सकती किन्तु स्वर्ण का आयात दूसरे देश में न होने के कारण दर गिरने के लिए कोई भी मर्यादा नहीं होती क्योंकि दूसरा देश अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा पर आधारित होता है। ऐसी दशा में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा वाले देश में विनिमय की दर में कमी अथवा अधिकता उस देश में बिलों की माँग एवं पूर्ति पर निर्भर रहेगी और यह दर कितनी घटेगी अथवा बढ़ेगी इसके लिए कोई मर्यादा नहीं होगी। इस प्रकार जब दो देशों के बीच जिनमें से एक धातुमान (स्वर्णमान अथवा रजतमान अथवा द्विधातुमान) पर तथा दूसरा पत्र-मुद्रा पर आधारित होता है तब उस दशा में धातुमान वाले देश के लिए निर्यात बिन्दु ही केवल रहती है जिससे अधिक विनिमय दर नहीं चढ़ सकती परन्तु आयात बिन्दु नहीं होता। इसी प्रकार पत्र-मुद्रा वाले देश के लिए स्वर्ण-आयात-बिन्दु होगा परन्तु निर्यात बिन्दु

नही होगा क्योकि उस देश की पत्र-मुद्रा का सम्बन्ध किसी धातु के साथ नही होगा ।

४. *जब दोनो देश अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा पर आधारित हैं*—इस अवस्था मे विनिमय की दर स्वर्ण विन्दुओ तक सीमित नही रहती किन्तु विलो की माँग एव पूर्ति पर निर्भर रहती है । फिर भी यह दर निश्चित करना कठिन होता है क्योकि ये पत्र मुद्राएँ किसी भी अन्य धातु मे सम्बन्धित नही होती तथा उन देशो मे मुद्रा-स्फीति के कारण अथवा अन्य आर्थिक कारणो से मुद्रा की क्रयशक्ति भी पूर्ववत् नही रहती । ऐसी अवस्था मे मुद्राओ का सम्बन्ध किसी धातु मे न होने के कारण क्रयशक्ति के नापने का कोई भी साधन नही होता और न हम यह जान सकते है कि उनका मूल्य अथवा उनकी क्रयशक्ति कितनी कम हो गई है । ऐसी अवस्था मे मुद्राओ के मूल्य की दूसरी मुद्राओ के साथ तुलना करने के लिए हम विभिन्न मुद्राओ की क्रयशक्ति का उपयोग करते हैं अर्थात् **अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा पर आधारित देशो की विनिमय दर उनकी क्रयशक्ति-समता पर निर्भर होती है ।** उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि इङ्गलैण्ड मे १ पौंड देकर हम 'क' वस्तुएँ खरीद सकते हैं तथा इतनी ही वस्तुएँ खरीदने के लिए हमको अमेरिका मे ५ डॉलर देने पडते हैं । ऐसी अवस्था मे देनदार एव लेनदार को किसी भी प्रकार से हानि न होने के लिए इन दोनो देशो के व्यापारियों को परस्पर उतनी ही मुद्रा लेनी होगी जिससे कि वे समान वस्तुओ तथा सेवाओ पर अधिकार प्राप्त कर सक । अत इस परिस्थिति मे इङ्गलैण्ड एव अमेरिका के बीच की विनिमय-दर क्रयशक्ति समता से निश्चित की जायगी और यह दर १ पौंड = ५ डॉलर होगी क्योकि १ पौंड मे इङ्गलैंड मे तथा ५ डॉलर मे अमेरिका मे 'क' वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं । इस प्रकार से दर निश्चित करने की विधि को क्रयशक्ति समता सिद्धान्त (purchasing power parity theory) कहते है । कोल के शब्दो मे "राष्ट्रीय मुद्राओ का परस्पर मूल्य—जो स्वर्ण से सम्बन्धित नही है—दीर्घकाल मे विशेषत उनकी वस्तुओ एव सेवाओ की परस्पर क्रयशक्ति से निश्चित होता है ।"[1] टॉमस के शब्दो मे "किसी भी विशेष काल मे एक मुद्रा की इकाई का दूसरी मुद्रा म मूल्य माँग तथा पूर्ति की बाजार स्थिति पर निर्भर रहता है, फिर भी लम्बी अवधि मे अथवा दीर्घकाल मे दो देशो की मुद्राओं का परस्पर मूल्य उनकी वस्तुओ तथा सेवाओ की क्रयशक्ति से निश्चित होता है ।" अर्थात् विनिमय-दर मे उसी विन्दु पर स्थिर होने की

---

1 *What Everybody Wants to Know About Money* by H Cole.

प्रवृत्ति होती है जहाँ दोनो देशो की मुद्राओ की क्रयशक्ति समान होती है। इस विन्दु को क्रयशक्ति समता कहते है। इस विवेचन मे यह स्पष्ट हो जाता है कि दो देशो के बीच धातु मुद्रा की जगह जब अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा का प्रयोग होता है उस समय विनिमय की दर टक समता से निश्चित न होते हुए क्रय शक्ति-समता से निश्चित की जाती है। **टक-समता में मुद्रा की स्वर्ण-क्रयशक्ति से एवं क्रयशक्ति-समता में वस्तु एव सेवाओ की क्रयशक्ति से विनिमय की दर निश्चित की जाती है और यह क्रयशक्ति-समता टक-समता की तरह स्थिर न रहते हुए मूल्य-स्तर-परिवर्तन के कारण अस्थिर होती है।**

ऊपर हमने देखा कि अमेरिका मे यदि ५ डॉलर से 'क' वस्तुएँ तथा इङ्गलैण्ड मे १ पौ० से 'क' वस्तुएँ खरीदी जा सकती है तो दोनो मुद्राओ का वस्तुओ मे मूल्य स्तर १ पौड एव ५ डॉलर पर समान रहता है अत लम्बी अवधि मे इन दोनो देशो की विनिमय दर १ पौंड=५ डॉलर होगी। किन्तु मान लीजिए कि किन्ही कारणो स यह दर १ पौंड=६ डॉलर होती है तो उस परिस्थिति मे क्रयशक्ति मे परिवर्तन न होने से पौड के बदले मे डॉलर लेना लाभदायक होगा क्योकि अमेरिका मे हम १ पौड, से इङ्गलैण्ड की अपेक्षा अधिक वस्तुएँ खरीद सकेगे अर्थात् अमेरिका मे इङ्गलैण्ड मे आयात बढेगा। परिणामस्वरूप इङ्गलैण्ड मे डॉलर की माँग पूर्ति से अधिक होगी और इसका परिणाम विनिमय दर की वृद्धि मे होगा अथवा १ पौंड ६ डॉलर से कम डॉलर खरीदेगा। यह प्रवृत्ति तब तक चालू रहेगी जब तक कि विनिमय दर १ पौड=५ डॉलर तक अथवा उनकी क्रयशक्ति समता पर नही आ जायगी। इस प्रकार अन्त में यह दर १ पौड=५ डॉलर पर स्थिर होगी क्योकि इसी बिन्दु पर क्रयशक्ति-समता आती है। इस प्रकार लम्बी अवधि मे विनिमय की दर क्रयशक्ति समता पर निर्भर रहती है।

अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा मे मुद्रा प्रसार के साथ मूल्य स्तर मे भी परिवर्तन होता रहता है जिसको हम निर्देशाक द्वारा नापते है। इस निर्देशाक की सहायता से ही हम विभिन्न मुद्राओ की क्रयशक्ति जान सकते है। अब हमको इङ्गलैण्ड और अमेरिका के बीच विनिमय दर निश्चित करना है। मान लीजिए कि डॉलर एव पौड की टक समता १ पौड=४ ८६६ डॉलर है। दोनो देशो का मूल्य स्तर बढ गया है एव उनके निर्देशाक १५८ (इङ्गलैण्ड) एव १७८ (अमेरिका) है। अब इससे यह स्पष्ट है कि पहिले की अपेक्षा डॉलर का मूल्य ७८ प्रतिशत तथा पौड का मूल्य ५८ प्रतिशत घट गया है अथवा अमरीकी

डॉलर का मूल्य इगलिश पौड की अपेक्षा घट गया है क्योकि उसकी क्रयशक्ति कम हो गई है। इसलिए अब १ पौंड $= \frac{४८६६ \times १७८}{१५८} = ५.४८१$ डॉलर होगा क्योकि इङ्गलैण्ड और अमेरिका के बीच अवमूल्यन का अनुपात १७८ : १५८ है। इस प्रकार "जब दो देशो की मुद्राओं का अवमूल्यन हो रहा है अथवा होता है उस परिस्थिति मे टक-समता को दोनो देशों की मुद्रा-स्फीति के अनुपात से गुणा करने से क्रयशक्ति-समता निकाली जाती है"।[1] इस क्रयशक्ति-समता सिद्धान्त को प्रोफेसर गुस्टाव कैसेल ने प्रथम महायुद्ध के बाद, जब सब देशो म अपरिवर्तनीय पत्र चलन था, प्रस्तुत किया। विनिमय-दर निश्चित करने का यह एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है।

क्रयशक्ति-समता सिद्धान्त की आलोचना

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि टक-समता की जगह क्रयशक्ति-समता सिद्धान्त के द्वारा विभिन्न देशो की विनिमय-दर दीर्घकाल म निश्चित की जाती है। इसलिए इस सिद्धान्त के द्वारा सही परिणाम पर पहुँचन के लिए आवश्यक है कि क्रयशक्ति नापने का साधन ठीक हो, जिससे हम बिलकुल ठीक परिणाम पर पहुँच सके। किन्तु हमारा क्रयशक्ति नापन का साधन निर्देशाक है जो सर्वथा ठीक न होते हुए केवल औसत (averages) बतलाते है तथा वस्तुओ की सूची भी भिन्न-भिन्न देशों म भिन्न भिन्न होती है अत इन निर्देशाको द्वारा निकाली हुई क्रयशक्ति-समता कभी भी सही नहीं हो सकती। इसलिए इस सिद्धान्त के बारे मे श्री० वॉल्टर लीफ न कहा है—"शुरू म तो यह एक साधारण वस्तु प्रतीत होती है, परन्तु कठिनाइयाँ आ पडती है जिनका निवारण करना वास्तव मे असम्भव है।

१ सबसे पहला आक्षेप तो इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह है कि निर्देशाक की सहायता से निकाली हुई मुद्राओं की क्रयशक्ति केवल औसत बतलाती है और इसलिए इसकी सहायता से निकाली हुई विभिन्न मुद्राओ की क्रयशक्ति सही नही होती क्योकि सब वस्तुओ की कीमत न एक साथ बढती है और न एक साथ घटती हैं।

२ निर्देशाक बनाते समय केवल कुछ चुनी हुई वस्तुओं का ही समावेश किया जाता है न कि उस देश के औद्योगिक जीवन मे आने वाली सब

---

[1] Cassel

वस्तुओ का। इतना ही नही, बल्कि ऐसी चुनी हुई वस्तुओ को केवल अन्तरराष्ट्रीय व्यापारिक वस्तुओ तक ही सीमित रखने मे हम सही परिणाम पर नही पहुँचते क्योकि ऐसी वस्तुओ की कीमत सब देशो मे एक ही परिमाण मे घटती है या बढती हैं क्योकि आयात की हुई वस्तुओ की कीमते उनकी निर्यात-कीमत, वाहन-व्यय एव विनिमय-दर से ही निश्चित की जाती है।[1]

३ विनिमय-दर म माँग एव पूर्ति के अनुसार तत्कालीन परिवर्तन होते है जिसकी वजह से व्यापार पर प्रभाव पडता है तथा आयात एव निर्यात में रुकावटें पैदा होती है, परिणामस्वरूप प्रत्येक देश मे कीमतो का वास्तविक स्तर ठीक प्रकार मे नही मालूम हो सकता इसलिए इस सिद्धान्त के द्वारा परिवर्तन काल म इस सिद्धान्त से हम विनिमय दर के चढाव उतार के कारणो का विश्लेषण ठीक तरह नही कर सकते और न ऐसे समय मे क्रयशक्ति-समता ही मालूम कर सकते हैं। हाँ, दीर्घकालीन अवधि मे इस सिद्धान्त से क्रयशक्ति समता अवश्य मालूम हो सकती है क्योकि मौद्रिक परिवर्तनो से क्रयशक्ति पर होने वाले परिणाम इससे जाने जा सकते हैं किन्तु अन्य परिस्थितियो मे परिवर्तन होने से विनिमय दर पर जो प्रभाव पडता है उसके कारणो का स्पष्टीकरण इस सिद्धान्त द्वारा नही हो सकता। आयात निर्यात म कोई अदृश्य आयात अथवा निर्यात मे परिवतन होने से भी विनिमय दर प्रभावित होती है जिसका समावेश इस सिद्धान्त मे नही हो सकता इसलिए यह सिद्धान्त ठीक परिणाम नही दे सकता।

४ निर्देशाक बनाने मे जिन वस्तुओ का समावेश होता है वे वस्तुएँ बहुधा कच्चा माल अथवा खाद्यान्न होती है। किन्तु अन्तरराष्ट्रीय व्यापार म निर्मित वस्तुओ की कीमतो का भी समावेश होता है जिससे क्रयशक्ति समता के मापन मे त्रुटि आती है। निर्मित वस्तुओ की कीमत केवल कच्चे माल पर निर्भर न रहते हुए मजदूरी, ब्याज आदि अन्य वस्तुओ पर भी निभर रहती है। इन वस्तुओ की कीमत एक साथ ही नही बढती और न एक साथ घटती है, किन्तु मजदूरी आदि की दर कीमत बढने के ६–७ महीने बाद बढती हैं। अत इस सिद्धान्त म कालक्षेप की त्रुटि रहती है जिसके कारण हम ठीक नतीजे पर नही पहुच सकते। उसी प्रकार कीमतो की गति मे तथा निर्देशाको के बनाने के बीच भी कुछ समय व्यतीत होता है जिसके कारण इस सिद्धान्त म कालक्षेप की त्रुटि रहती है।

---

[1] *A B C of Foreign Exchange* by Clare and Crump

५. राजनीतिक परिस्थिति तथा व्यापार के आयात-निर्यात पर रुकावटें डालने से भी कीमतो का सही स्तर नही मालूम हो सकता क्योकि राजनीतिक परिस्थिति जैसे युद्ध आदि के कारण विनिमय की दर बढ जाती है परन्तु उस देश के आन्तरिक मूल्य-स्तर मे किसी भी प्रकार का परिवर्तन नही होता, उसी प्रकार आयात-निर्यात पर रुकावटें अथवा प्रतिबन्ध लगाने का हेतु भी विनिमय-दर को स्थिर रखने का होता है। इस कारण भी इस सिद्धान्त मे त्रुटि आती है।

६. क्रयशक्ति-समता सिद्धान्त द्वारा निकाली हुई समता स्थिर न रहते हुए अस्थिर रहती है क्योकि यह निर्देशाको पर निर्भर रहती है जो सदैव बदलते रहते हैं तथा जिनका मिलान टक-समता की तरह स्वयपूर्ण नही होता।

इन आक्षेपो के होते हुए भी यह सिद्धान्त मार्ग-दर्शक की तरह दो देशो मे विनिमय-दर किस प्रकार निश्चित होती है, यह बताता है। इसलिए दीर्घकालीन विनिमय-दर निश्चित करने का यह अच्छा साधन है। यद्यपि इसमे क्रयशक्ति-समता ठीक तरह नही निकाली जा सकती और न इसी समता के बराबर विनिमय-दर रहती है और न टक-समता की तरह बिलकुल सही परिणाम देती है। यह सिद्धान्त किसी भी प्रकार की चलन-पद्धति मे लागू होता है और अन्य सिद्धान्तो की अपेक्षा अच्छा है क्योंकि व्यापार का रुख किस समय किस दिशा मे होगा यह इस सिद्धान्त द्वारा मालूम होता है। इस प्रकार विश्व मे मुद्राओ के अवमूल्यन अथवा अधिमूल्यन से विदेशी व्यापार तथा विनिमय-दर पर होने वाले परिणामो को हम जान सकते हैं तथा गत वर्षो मे एव आज दुनिया मे क्या हो रहा है इसका भी ज्ञान प्राप्त कर सकते है इसलिए इस सिद्धान्त का ज्ञान तीन दृष्टियो से आवश्यक है —

पहिले, दीर्घकालीन अवधि मे विनिमय-दर क्रयशक्ति-समता के अनुसार क्या होगी यह हम जान सकते है।

दूसरे, विभिन्न देशो के ऋणो का शेष किन बातो पर निर्भर रहता है तथा उस पर विनिमय-दर का क्या प्रभाव होता है यह मालूम होता है क्योकि ऋणो का शेष विनिमय-दर, विभिन्न देशो मे होने वाली वस्तुओ की आवक-जावक तथा उनके मूल्यो के परस्पर प्रभाव पर निर्भर रहता है।

तीसरे, यह भी मालूम होता है कि मूल्य-स्थैर्य की कोई भी योजना आन्तरिक एव अन्तर्देशीय मूल्य-स्तर की जानकारी के बिना सफल नही हो सकती।

विनिमय-दर को प्रभावित करने वाले घटक

हम यह ऊपर वता चुके हैं कि अल्पकालीन विनिमय-दर अनेक कारणो से *क्रयशक्ति-समता से घटती या वढती है—चाहे यह क्रयशक्ति स्वर्ण-मुद्रा वाले* देशो के वीच हो अथवा अपरिवर्तनीय पत्र-चलन वाले देशो के वीच हो। वे कौनसे कारण हैं जिनका प्रभाव अल्पकालीन विनिमय-दर पर होता है तथा *जिससे विनिमय दर मे उतार-चढाव होते है ?*

व्यापारिक-शेष सिद्धान्त—बिलो की माँग तथा पूर्ति पर विनिमय-दर निर्भर रहती है। किसी देश से वस्तुओ एव सेवाओ का निर्यात तथा वस्तुओ एव सेवाओ का जो आयात होता है उससे उस देश की मुद्रा की अन्य देशो मे माँग एव पूर्ति निश्चित होती है। यदि माँग पूर्ति मे अधिक होती है तो उस देश के लिए विनिमय-दर पक्ष म होती है अथवा उस देश की मुद्रा का मूल्य *अन्य देशो की मुद्राओ मे समता से वढ जाता है। इसके विपरीत यदि उस देश* की मुद्रा की पूर्ति अधिक एव माँग कम है तो विनिमय-दर समता से घट जाती है एव उस देश के विपक्ष मे होती है अर्थात् उस देश की मुद्रा विदेशी मुद्राएँ कम खरीदती हैं। अर्थात् किसी भी समय विनिमय-दर का चढाव-उतार उस देश की मुद्रा की माँग एव पूर्ति पर—जो व्यापारिक कारणो से उत्पन्न होती है—निर्भर रहता है। इसी को व्यापारिक-शेष सिद्धान्त (balance of trade theory) कहते हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार यदि किसी देश म निर्यात से आयात अधिक है तो व्यापारिक शेष प्रतिकूल अथवा विपक्ष मे होगा अर्थात् इस देश म विदेशी मुद्राओ की माँग उनकी पूर्ति से अधिक होगी जिसके कारण उस देश और अन्य देशो के बीच विनिमय दर गिरेगी। अत इस देश की मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा के रूप मे कम होगा। इसी प्रकार यदि आयात से निर्यात अधिक होता है तो व्यापारिक-शेष अनुकूल अथवा पक्ष म होगा अर्थात् इस देश म विदेशी मुद्राओ की पूर्ति माँग से अधिक होगी जिसके कारण इस देश की विनिमय-दर विदेशी मुद्रा मे वढेगी, जिसस इस देश की मुद्रा विदेशी मुद्राओ को अधिक खरीदगी। इस प्रकार इस सिद्धान्त क अनुसार विनिमय-दर व्यापारिक शेप के अनुसार घटेगी अथवा बढेगी।

खाता-शेप सिद्धान्त—वास्तव म विदेशी विनिमय की माँग एव पूर्ति केवल व्यापारिक वस्तुओ के आयात-निर्यात पर ही निर्भर न रहते हुए ऐसी अन्य बातो पर निभर रहती है जिनमे विदेशी मुद्रा की माँग तथा पूर्ति उत्पन्न होती

है। विनिमय-दर दृश्य तथा अदृश्य आयात-निर्यात से भी प्रभावित होती है। दृश्य आयात एव निर्यात मे उन सब व्यापारिक वस्तुओ का समावेश होता है जिनके आँकडे उपलब्ध होते हैं। किन्तु विदेशी मुद्रा की माग एव पूर्ति उन सेवाओ के भुगतान के लिए भी होती है जिनके आँकडे उपलब्ध नही होते—जैसे जहाजरानी की सेवाएँ, बैंक तथा बीमा की सेवाएँ, एक दूसरे देश को दिये जाने वाले ऋण, एक-दूसरे देश मे होने वाले विनियोग, विदेशी यात्रियों के व्यय, विदेशी-विनिमय का सट्टा, आदि। दूसरे, आजकल अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के भुगतान केवल दो देशो मे न होते हुए विभिन्न देशो के लेन देन का शेष निकाल कर किये जाते है और इस खाता शेष (balance of accounts) के अनुसार कोई भी देश दीर्घकालीन अवधि मे उतना ही निर्यात कर सकता है जितना वहाँ पर आयात होता है। कारण यह है कि यदि स्वर्ण के आयात-निर्यात पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध न हो तो एक देश मे दूसरे देश के भुगतान मे जो स्वर्ण जायगा उससे वहाँ के आन्तरिक मूल्य बढेंगे। परिणाम-स्वरूप वहाँ से निर्यात कम होगा तथा आयात अधिक। इसके विपरीत यदि उस देश मे स्वर्ण आता है तो वहाँ के आन्तरिक मूल्य बढेगे। अत आयात अधिक होगा एव निर्यात कम। इस प्रकार अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे स्वर्ण की अप्रतिबन्धित गति होती है और उस समय खाता-शेष का अपने आप समायोजन हो जाता है तथा विनिमय-दर भी क्रयशक्ति-समता के आसपास आ जाती है। इस प्रकार खाता-शेष सिद्धान्त के अनुसार देश-विदेशो की विनिमय-दर प्रभावित होती है तथा विभिन्न खातो का सन्तुलन हो जाता है। सारांश मे इस सिद्धान्त के अनुसार यदि खाता-शेष हमारे पक्ष मे है अर्थात् यदि हमको विदेशियो से भुगतान लेना है तो विनिमय-दर हमारे पक्ष मे होगी। इसके विपरीत यदि खाता-शेष हमारे प्रतिकूल है अर्थात् यदि हम विदेशियों के ऋणी हैं तो विनिमय-दर हमारे विपक्ष मे होगी।

इस सिद्धान्त के अनुसार अल्पकालीन अवधि मे एक देश का खाता शेष उसके अनुकूल या प्रतिकूल हो सकता है। परन्तु दीर्घकालीन अवधि मे खाता-शेष का सन्तुलन होना ही चाहिए, क्योंकि कोई भी देश अपने निर्यात की अपेक्षा अधिक आयात नही कर सकता। उदाहरणार्थ, यदि मेरी मासिक आय १००) रु० है तो मैं एक महीने मे १०५) खर्चा कर लूंगा, दूसरे महीने मे कर लूँगा परन्तु तीसरे महीने में मुझे आय-व्यय का सन्तुलन करना ही पड़ेगा नहीं तो मेरा दिवाला निकलने मे देर न लगेगी। जो बात एक व्यक्ति के लिए लागू होती है वही एक देश के लिए भी लागू होती है।

इससे यह स्पष्ट है कि विनिमय-दर मुख्यतः तीन कारणो से प्रभावित होती है .—

१ विदेशी मुद्रा की मांग एव पूर्ति को प्रभावित करने वाली परिस्थिति

२ किसी देश के चलन की परिस्थिति तथा

३. राजनीतिक परिस्थिति

१. विदेशी मुद्रा की मांग एव पूर्ति—यह तीन कारणो से प्रभावित होती है .—

(क) व्यापारिक परिस्थिति

(ख) बैंकिंग परिस्थिति

(ग) स्कन्ध-विनिमय परिस्थिति

व्यापारिक परिस्थिति—देश-विदेश की व्यापारिक परिस्थिति का परिणाम देश के आयात-निर्यात पर होता है जिसके कारण विदेशी मुद्रा की मांग एव पूर्ति प्रभावित होती है तथा विनिमय-दर भी । जैसा ऊपर बताया गया है, यदि निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक होता है तो विदेशी मुद्रा की मांग पूर्ति की अपेक्षा बढती है और विनिमय-दर भी हमारे विपक्ष मे होता है अर्थात् इस परिस्थिति मे हमारे देश की मुद्रा विदेशी मुद्राओ को कम खरीदेगी । इसके विपरीत परिणाम आयात से निर्यात की अधिकता होने पर होते हैं अर्थात् विदेशी मुद्रा की पूर्ति मांग की अपेक्षा अधिक होने से विनिमय-दर हमारे पक्ष मे होती है तथा हमारी मुद्रा विदेशी मुद्राओ को अधिक खरीद सकती है अर्थात् विदेशी मुद्राओ मे हमारी मुद्रा का मूल्य बढ जाता है ।

बैंकिग परिस्थिति—बैंको की कार्य-प्रणाली से भी विनिमय-दर प्रभावित होती है। बैंकिंग परिस्थिति मे बैंको की ब्याज की दर अथवा अपहार-दर (discount rate), उनके साख-पत्रों का विदेशो मे क्रय-विक्रय तथा लाभ के लिए किया हुआ विदेशी मुद्राओ के क्रय विक्रय का समावेश होता है । अधिकोष के इन सब व्यवहारो से विदेशी मुद्रा की मांग एव पूर्ति पर प्रभाव होने से विनिमय-दर भी प्रभावित होती है । किसी भी देश म यदि बैंक दर अन्य राष्ट्रो की अपेक्षा बढा दी जाय तो इस देश मे विदेशी व्यक्तियो को अपना पैसा लगाना लाभदायक होता है । परिणामस्वरूप विदेशो मे उस देश की मुद्रा की मांग बढ जाती है जिसके कारण देशी मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा मे बढ जाता है अर्थात् देशी मुद्रा पहिले की अपेक्षा विदशी मुद्रा अधिक खरीद सकती है । इसके विपरीत यदि बैंक-दर अन्य राष्ट्रो की तुलना मे कम कर दी जाय तो उस देश

से विदेशों को पूंजी जाने लगती है। परिणामस्वरूप उस देश की मुद्रा की पूर्ति माँग की अपेक्षा बढ जाती है जिसके कारण विनिमय-दर विदेशी मुद्रा मे घट जाती है, अर्थात् देशी मुद्रा अब विदेशी मुद्राएँ कम खरीदती है।

इसी प्रकार साख-पत्रों के क्रय-विक्रय का परिणाम भी विनिमय-दर पर होता है। जिस समय हमारे देश के बैंक विदेशों मे जाने वाले यात्रियों को साख-पत्र बेचते हैं उसका मतलब यह होता है कि विदेशी मुद्रा को हम खरीदते हैं। विदेशी मुद्रा की माँग पूर्ति की अपेक्षा अधिक होने से विनिमय-दर गिर जाती है अथवा देशी मुद्रा विदेशी मुद्राएँ कम खरीदती है। इसके विपरीत जब विदेशों से हमारे देश मे भुगतान के लिए साख-पत्र दिये जाते हैं उस समय हमारी मुद्रा की माँग पूर्ति की अपेक्षा अधिक होने से विनिमय-दर बढ जाती है अथवा हमारी मुद्रा विदेशी मुद्राएँ अधिक खरीदती है।

लाभार्जन के हेतु भी विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय होता है जिसे अन्तर-पणन व्यवहार (arbitrage dealings) कहते हैं। इस प्रकार के व्यवहार दो प्रकार के होते है --एक साधारण एकान्तरपणन (simple arbitrage) तथा दूसरे बहु-अन्तरपणन (compound dealings)। पहिले व्यवहारों मे दो देशों की मुद्रा का क्रय-विक्रय दो मौद्रिक केन्द्रों मे किया जाता है जिसका हेतु यह होता है कि दोनों केन्द्रों की दर में जो अन्तर हो उससे लाभ कमाया जाय। उदाहरणार्थ, बम्बई में यदि रुपये का स्टर्लिंग-मूल्य १८ पेंस प्रति रुपया है और इङ्गलैण्ड मे उसी समय प्रति रुपया १८½ पेंस की दर है, तो इन दोनों दरों के अन्तर से ½ पेंस प्रति रुपया लाभ हो सकता है। इसलिए हम तार द्वारा इङ्गलैण्ड से १८½ पेंस प्रति रुपये की दर से स्टर्लिंग खरीदेंगे जिनको भारत में १८ पेंस प्रति रुपये की दर से बेच देंगे जिससे हमको ½ पेंस प्रति रुपया लाभ होगा। परन्तु इस लाभ को देखते समय हमको एक जगह से मुद्रा खरीद-कर दूसरी जगह बेचने मे तार इत्यादि का जो व्यय होगा वह कम करना होगा। बहु-अन्तरपणन व्यवहारों मे विभिन्न मौद्रिक केन्द्रों पर विभिन्न मुद्राएँ खरीदी तथा बेची जाती हैं और उन केन्द्रों पर विनिमय-दर में अन्तर होने से लाभ कमाया जाता है। ये बहु अन्तरपणन व्यवहार केवल विशेषज्ञों द्वारा एवं बैंकों द्वारा ही किये जाते हैं जो इस विषय मे अपनी जानकारी रखते है तथा विभिन्न मौद्रिक केन्द्रों के सम्पर्क में रहते हैं। इस प्रकार के व्यवहारों से विभिन्न केन्द्रों पर विनिमय-दरों में जो अन्तर होते है वे कम हो जाते है क्योंकि मुद्राओं की दरों मे अन्तर होने से लाभ कमाने के लिए उनकी खरीद बिक्री सदैव होती रहती है।

इस प्रकार के व्यवहार जो बैंकों द्वारा किये जाते हैं उनसे एक देश की मुद्रा की माँग पूर्ति की अपेक्षा बढती है तथा दूसरे देश मे पूर्ति माँग की अपेक्षा बढती है जिससे विनिमय-दर प्रभावित होती है। उपर्युक्त उदाहरण मे इग्लैंड मे स्टर्लिंग की माँग बढ जाती है, पूर्ति नही। परिणामस्वरूप स्टर्लिंग का रुपये मे मूल्य गिर जायगा अथवा विदेशी विनिमय-दर बढ जायगी। दूसरी ओर भारत मे स्टर्लिंग की पूर्ति अधिक होने से विदेशी विनिमय-दर गिर जायगी अर्थात् रुपया पहिले की अपेक्षा अधिक पैंस खरीद सकेगा। यह विनिमय-दर की अस्थिरता तब तक रहेगी जब तक दोनो ही केन्द्रो मे विनिमय-दर समान नही होती। इस प्रकार बैंको द्वारा किये जाने वाले अन्तरपणन व्यवहारो से विनिमय-दर प्रभावित होती है।

दीर्घकालीन ऋण—बैंको द्वारा एक-दूसरे देशो को जो ऋण दिये जाते हैं उनका प्रभाव भी विनिमय-दर पर होता है। दीर्घकालीन अवधि मे विनिमय की दर साहूकार राष्ट्र के विपक्ष मे होगी क्योंकि उसकी मुद्रा की पूर्ति अधिक होती है। परन्तु तत्कालीन अथवा अल्पकालीन परिणाम उस ऋण के उपयोग पर निर्भर रहेगा। यदि उस ऋण का उपयोग उसी देश मे माल खरीदने के लिए किया जाय तो विनिमय-दर पर कोई प्रभाव नही होगा किन्तु उसी ऋण से यदि दूसरे राष्ट्रो मे माल खरीदा जाय तो उन राष्ट्रो मे इस देश की मुद्रा की पूर्ति अधिक होगी। परिणामत विनिमय-दर गिर जायगी और साहूकार अथवा ऋण देने वाले देश की मुद्रा विदेशी मुद्रा को कम खरीदेगी।

स्कन्ध-विनिमय-परिस्थिति—स्कन्ध-विनिमय व्यवहारो मे विनियोग-पत्र, स्कन्ध आदि का क्रय-विक्रय, ऋणो की लेन-देन, ब्याज एव लाभाश की लेन-देन तथा सट्टे के व्यवहारो का समावेश होता है। विनियोग पत्रो को यदि हम दूसरे देशो से खरीदते हैं तो हमको विदेशी मुद्रा मे भुगतान करना पडता है जिसके कारण हमारे देश मे विदेशी मुद्रा की माँग बढती है, परिणामस्वरूप विनिमय-दर विदेशी मुद्रा मे घटती है। इसके विपरीत हमारे देश के विनियोग एव स्कन्ध यदि विदेशियो द्वारा खरीदे जाते है तो हमारी मुद्रा की माँग बढने से हमारी मुद्रा की विनिमय दर विदेशी मुद्रा मे बढ जाती है।

ऋणो की लेन-देन का परिणाम "दीर्घकालीन ऋणो" की तरह ही होता है, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

लाभाश तथा ब्याज की लेन-देन—जहाँ तक लाभाश एव ब्याज की प्राप्ति का सम्बन्ध है उस समय जब लाभाश एव ब्याज हमको मिलता है तब विदेशी

मुद्राओं की पूर्ति बढ़ती है। परिणामस्वरूप विदेशी विनिमय की दर हमारे पक्ष में हो जाती है अर्थात् हमारी मुद्रा अधिक विदेशी मुद्राएँ खरीद सकती है। इसके विपरीत जब हम दूसरे देशों को ब्याज एवं लाभांश का भुगतान करते हैं उस समय भुगतान करने के लिए हमको विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होती है और विदेशी मुद्रा की माँग हमारे यहाँ बढ़ जाती है। परिणामस्वरूप विनिमय दर विदेशी मुद्रा में घट जाती है अथवा हमारे विपक्ष में होती है। उसी प्रकार ऋणों के भुगतान का परिणाम भी विनिमय दर पर हमारे प्रतिकूल होने में ही होता है क्योंकि ऋणों के भुगतान के लिए विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ जाती है।

२ **चलन परिस्थिति (Currency Conditions)**—चलन की परिस्थिति में चलनाधिक्य अथवा मुद्रा संकोच, अवमूल्यन आदि का समावेश होता है। यदि किसी देश में चलनाधिक्य की सम्भावना है तो उस देश के व्यक्ति अपनी पूँजी बाहर लगाना चाहेंगे क्योंकि चलनाधिक्य में मुद्रा का अवमूल्यन हो जाता है अर्थात् उसकी क्रयशक्ति कम हो जाती है। परिणामस्वरूप विनिमय दर उस देश के प्रतिकूल होगी अथवा विदेशी मुद्रा में उस देश की मुद्रा का मूल्य गिर जायगा। किन्तु यदि किन्हीं कारणों से चलन में अधिमूल्यन (appreciation) की सम्भावना है तो उस समय लाभ के हेतु विदेशी लोग भी उस चलन को खरीदने लगेंगे जिसके कारण विदेशी मुद्रा में इस देश की मुद्रा का मूल्य बढ़ जायगा तथा विनिमय-दर अनुकूल एवं पक्ष में होगी।

३ **राजनीतिक परिस्थिति**—राजनीतिक परिस्थिति में व्यापारिक सन्धियाँ, देश की व्यापारिक एवं संरक्षण नीति, युद्ध, हड़ताल आदि का समावेश होता है। किसी देश में यदि किसी भी प्रकार से व्यापार में रुकावट डाली जायेंगी तो उनका परिणाम विनिमय-दर पर होगा। इसी प्रकार युद्धजन्य परिस्थिति में मुद्रा का अवमूल्यन हो जाता है, क्रयशक्ति कम हो जाती है जिसकी वजह से विनिमय दर भी ऐसे देश के प्रतिकूल हो जाती है। राजनीतिक परिस्थिति से देश की मौद्रिक नीति में भी परिवर्तन होता है जिसका परिणाम विनिमय-दर को अधिक प्रभावशाली बना देता है। इसी प्रकार विदेशी विनिमय पर नियन्त्रण करने से भी विनिमय-दर प्रभावित होती है।

इस प्रकार विनिमय-दर को प्रभावित करने वाले घटक पृष्ठ १४३ पर दी हुई सारणी से पूर्णतः स्पष्ट हो जायेंगे।

विदेशी विनिमय सम्बन्धी शब्द-प्रयोग

अनुकूल तथा प्रतिकूल अथवा पक्ष तथा विपक्ष में विनिमय-दर—जब विनि-

मय-दर अपनी मुद्रा मे व्यक्त की जाती है तब गिरती हुई विनिमय-दर हमारे अनुकूल होगी क्योकि इस दर पर हम विदेशी मुद्रा के बदले मे अपनी मुद्रा कम देगे। इसके विपरीत यदि विनिमय-दर विदेशी मुद्रा मे व्यक्त की जाती है तो चढती हुई विनिमय-दर हमारे अनुकूल होगी क्योकि इस अवस्था मे हमारी मुद्रा अधिक विदेशी मुद्राएँ खरीदेगी। उदाहरणार्थ, जब १ रु०=१६ पेंस है तो हमको १ पौंड ऋण चुकाने के लिए १५ रु० देने पडेंगे किन्तु जब विनिमय-दर विदेशी मुद्रा मे बढकर १ रु०=१८ पेंस होती है तब हमको १ पौंड चुकाने के लिए केवल १३ रु० ५ आ० ४ पाई ही देने पडेगे अर्थात् हमको १ रु० १० आने ८ पाई का लाभ होगा। दूसरे शब्दो मे हम यो कह सकते है कि जिस दर पर स्वर्ण हमारे देश मे निर्यात होगा वह दर हमारे लिए प्रतिकूल तथा जिस दर पर स्वर्ण हमारे यहाँ आयात होगा वह दर हमारे लिए अनुकूल दर होगी। इससे यह स्पष्ट है कि विदेशी मुद्रा मे जब विनिमय-दर व्यक्त की जाती है तब ऊँची दर अनुकूल तथा गिरती हुई दर प्रतिकूल होती है और जब हमारी मुद्रा मे विनिमय-दर व्यक्त की जाती है तब नीची दर अनुकूल तथा ऊँची दर प्रतिकूल होती है।

इस प्रकार अनुकूल एव प्रतिकूल विनिमय-दर से भिन्न-भिन्न व्यक्तियो पर भिन्न-भिन्न प्रभाव होता है।

जब विनिमय-दर हमारे अनुकूल होती है उस समय विदेशो मे हमारी मुद्रा की क्रयशक्ति बढती है अर्थात् उसी रकम से हम पहिले की अपेक्षा अधिक माल विदेशो से खरीद सकते है। इसलिए आयातकर्त्ताओ को लाभ होता है तथा विदेशी माल हमारे देश मे सस्ता होने से उपभोक्ताओ को भी लाभ होता है।

इसके विपरीत इस दर पर निर्यातकर्त्ताओ को हानि होती है क्योकि विदेशो मे हमारी मुद्रा महँगी होने से विदेशी मुद्रा की क्रयशक्ति हमारे यहाँ कम होती है अर्थात् हमारे यहाँ की खरीद उनको महँगी पडती है। अत निर्यात कम हो जाता है जिससे उत्पादक वर्ग को हानि होती है, उत्पादन कम हो जाता है तथा यह दर अधिक काल तक रहने से कारखाने बन्द हो जाते है और बेकारी बढने लगती है।

विनिमय-दर की प्रतिकूल परिस्थिति मे इसके विपरीत परिणाम होते है अर्थात् आयातकर्त्ताओ को हानि तथा निर्यातकर्त्ताओं को लाभ होता है और निर्यात बढता है जिससे उत्पादन कार्य तथा रोजगारी भी बढती है। इसलिए प्रतिकूल दर देश की आर्थिक उन्नति की दृष्टि से लाभदायक होती है।

विनिमय-दर को प्रभावित करने वाले घटक
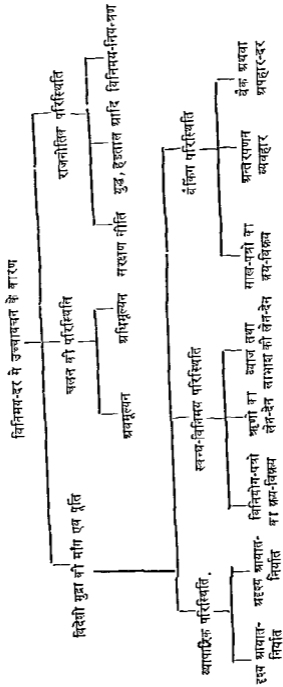
ऊँची दर खरीदो, नीची दर बेचो—जब देशी मुद्रा की विनिमय-दर विदेशी मुद्रा मे व्यक्त की जाती है तब ऊँची दर हमारे लिए अनुकूल होती है। इसलिए जब विनिमय-दर बढती है उस समय विदेशी विनिमय अथवा विदेशी मुद्राएँ खरीदना हमारे देशवासियो को लाभकर होता है। ऐसे समय मे देनदारो को अपने ऋणो का भुगतान करना लाभकर होगा क्योंकि अपने ऋणो के भुगतान के लिए उनको देशी मुद्राएँ कम देनी पडेगी। इसके विपरीत जब दर नीची होती है उस समय हमारी मुद्रा के बदले विदेशी मुद्राएँ कम मिलती हैं, इसलिए ऐसे समय अधिक देशी मुद्रा कमाने के लिए लेनदारो को अपना भुगतान लेना लाभदायक होता है क्योंकि इससे उनको प्रति विदेशी मुद्रा के बदले अधिक देशी मुद्रा मिलेगी। इसलिए जब विनिमय दर विदेशी मुद्रा मे बढती है तब विदेशी मुद्रा को खरीदना लाभदायक तथा बेचना हानिकर होता है।

इसी प्रकार जब विदेशी मुद्रा की विनिमय-दर हमारी मुद्रा में व्यक्त की जाती है उस समय ऊँची दर हमारे प्रतिकूल होती है तथा नीची दर अनुकूल। ऊँची दर पर यदि हम विदेशी मुद्राएँ बेचें तो हमको अधिक रुपये मिलेंगे तथा ऊँची दर पर विदेशी मुद्रा को खरीदने के लिए हमको अधिक रुपये देने पडेंगे। अर्थात् इस समय **विदेशी मुद्रा बेचना लाभदायक होगा**। जब यह दर नीची हो जाती है तो हमारी मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा मे बढ जाता है अर्थात् यदि इस समय विदेशी मुद्रा हम खरीदें तो हमको कम रुपये देने पडेंगे तथा हमको रुपये मे बचत होगी। अत नीची दर पर **विदेशी मुद्रा खरीदना लाभदायक होगा**। इसलिए जब विदेशी मुद्रा मे हमारी मुद्रा की दर व्यक्त की जाती है उस समय **"नीची दर खरीदो तथा ऊँची दर बेचो"** यह कहना यथार्थ होगा।

इसीलिए यह भी कहा जाता है कि जितना अच्छा बिल होगा उतनी नीची विनिमय-दर पर वह बिकेगा अर्थात् जितना अच्छा बिल होगा उतनी ऊँची कीमत उसकी विदेशो मे लगेगी—जब विनिमय दर विदेशी मुद्रा मे व्यक्त की जाती है। इसके विपरीत जब विनमय दर देशी मुद्रा मे व्यक्त की जाती है उस समय जितना अच्छा बिल होगा उतनी ऊँची विनिमय दर होगी अर्थात् विदेशो मे उस बिल के बदले अधिक देशी मुद्राएँ मिलेगी।

विनिमय-दर की वृद्धि तथा कमी—जब अपनी मुद्राओ का मूल्य विदेशी मुद्राओ मे व्यक्त किया जाता है उस समय दर की वृद्धि का अर्थ है विदेशी मुद्राओ का अवमूल्यन अर्थात् हमारी मुद्रा के बदले विदेशी मुद्रा अधिक मात्रा

मे मिलेगी। दर की कमी का मतलब है हमारी मुद्रा के सम्बन्ध मे विदेशी मुद्राओ का अधिमूल्यन अर्थात् हमारी प्रत्येक मुद्रा के बदले विदेशी मुद्रा कम मिलेगी। कभी-कभी इन शब्दो का प्रयोग विपरीत अर्थ मे भी होता है अर्थात् जब विदेशी मुद्रा का मूल्य हमारी मुद्रा मे व्यक्त होता है उस समय दर की वृद्धि का अर्थ होता है हमारी मुद्रा का विदेशी मुद्रा की तुलना मे अवमूल्यन तथा दर की कमी का अर्थ है हमारी मुद्रा का विदेशी मुद्रा की तुलना मे अधिमूल्यन।

विनिमय-दरो का वर्गीकरण

विनिमय-दर विशेषत दो प्रकार की होती है —

१ अल्पकालीन दर तथा २ दीर्घकालीन दर। इसमे तारप्रेषण-दर (telegraphic transfer rate), दर्शनी अथवा माँग ड्राफ्ट की दर तथा कुछ निश्चित काल बाद शोधन होने वाले ड्राफ्ट की दर का समावेश होता है जिसमे से पहिली दो अल्पकालीन दरे तथा तीसरी दीर्घकालीन दर होती है जिनको क्रमश तारप्रेषण दर, चैक दर तथा दीर्घकालीन दर कहते है।

तारप्रेषण-दर—यह दर किसी समय बाजार मे जो विनिमय दर होती है उसी के बराबर होती है। इस पद्धति से मुद्रा लेनदार को उतनी जल्दी प्राप्त हो सकती है जितनी जल्दी तार एक देश से दूसरे देश को पहुँचता है। यह दर सब दरो मे सस्ती होती है तथा अन्य दर इसी दर के आधार पर निकाली जाती है। इसमे तार का व्यय, जो व्यक्ति मुद्रा का परिवर्तन करता है उससे लिया जाता है। बहुधा तार-व्यय का समावेश तारप्रेषण दर मे कर दिया जाता है।

चैक-दर अथवा दर्शनी ड्राफ्ट दर—धनादेश-दर तारप्रेषण-दर मे निकाली जाती है। जब कोई भी बैंक दूसरे देश मे—मान लीजिए इङ्गलैण्ड मे—चैक भेजता है उस समय या तो उस बैंक का रुपया इङ्गलैण्ड मे जमा रहता है या वह तार द्वारा इङ्गलैण्ड मे वहाँ की मुद्रा खरीद कर इङ्गलैण्ड की बैंक मे जमा कर देगा। अब इस रकम पर वहाँ उसे अल्पकालीन व्याज-दर से व्याज मिलेगा। अब चैक-दर उस अल्पकालीन व्याज-दर तथा तारप्रेषण-दर पर निर्भर रहगी। चैक यहाँ से इङ्गलैण्ड मे डाक द्वारा ७ दिन मे पहुँचेगा अर्थात् बैंक जिस दर से चैक बचेगा वह दर तारप्रेषण-दर मे ७ दिन व्याज कम करके बनेगी। इसी प्रकार जब विदेशी चैक खरीदे जाते है तो तारप्रेषण-दर मे से व्याज की दर कम करके चैक-दर निकाली जायगी।

दीर्घकालीन दर—दीर्घकालीन दर बिलो के उस मूल्य को कहते हैं जो साधारणतया ३०, ६० अथवा ९० दिन बाद चुकाये जाते हैं। इनकी दर तारप्रेषण-दर मे, जितनी अवधि के वे हैं उतनी अवधि का ब्याज, वहाँ का स्टाम्प कर (stamp duty) तथा आकस्मिक व्यय जोडकर निकाली जाती है। जितनी कम अवधि का बिल होगा उतनी ही उसकी दर भी सस्ती होगी। यदि विनिमय-दर देशी मुद्रा मे व्यक्त की जाती है तो पारप्रेषण-दर मे से सामयिक ब्याज, स्टाम्प-कर तथा आकस्मिक व्यय घटा कर दीर्घकालीन दर निकाली जाती है।

टेल-क्वेल-दर (Tel-quel Rate)—यह सामयिक बिलो की वास्तविक दर होती है। मान लीजिए एक बिल तीन महीने बाद देय है परन्तु उसके दो महीने व्यतीत हो चुके है तो उस बिल की विनिमय-दर विदेशी मुद्रा मे निकालने के लिए तारप्रेषण-दर मे १ माह का ब्याज जोड दिया जायगा तथा यदि देशी मुद्रा मे विनिमय-दर व्यक्त की जाती है तो तारप्रेषण-दर मे से यह ब्याज घटा दिया जायगा।

अग्र विनिमय (Forward Exchanges)

युद्ध के बाद जब विभिन्न देशो मे अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का चलन प्रारम्भ हुआ उस समय विनिमय-दर मे देशो की मौद्रिक, राजनीतिक एव बैंकिंग परिस्थिति के अनुसार उच्चावचन भी होने लगे जिससे विनिमय-दर मे अनिश्चितता रहने लगी। विनिमय-दर की अनिश्चितता से व्यापार मे भी रुकावटें आने लगी जिनका निवारण करने के लिए विदेशी मुद्राओ का अग्र विनिमय अथवा पहले से ही क्रय-विक्रय करना शुरू हुआ जिससे व्यापारियो को विनिमय-दर के उतार-चढाव से होने वाली हानियो से सुरक्षा हो सके। अग्र विनिमय का मुख्य हेतु विनिमय-दर के उच्चावचन मे होने वाली हानियो को विदेशी मुद्रा के अग्र क्रय-विक्रय द्वारा कम करना है। अग्र विनिमय के व्यवहार विनिमय बैंको द्वारा ही किये जाते हैं।

उदाहरणार्थ, मान लीजिए एक भारतीय व्यापारी को, जो माल आयात करता है, इङ्गलैण्ड के किसी निर्यातकर्त्ता को १००० पौंड देना है जिनका भुगतान वह तीन या चार महीने बाद करेगा। ऐसी परिस्थिति मे वह यह ठीक तरह नही जान सकता कि उसे तीन महीने बाद १००० पौंड के बदले कितने रुपये देने पडेंगे क्योंकि विनियय-दर मे अनिश्चितता होती है। इसलिए वह अपने आयात माल की कीमत भी नही निश्चित कर सकता। इसी प्रकार

भारतीय निर्यातकर्ता यदि १००० पौंड का माल इङ्गलैण्ड को भेजता है तो वह ठीक से नही जानता कि उसे ३ महीने बाद कितने रुपये मिलेंगे तथा उसको निर्यात से लाभ होगा अथवा हानि। इसलिए ऐसी अवस्था मे वह विनिमय-बैंक के पास जाकर विदेशी मुद्रा अर्थात् पौंड तीन महीने पहिले ही निश्चित दर पर बेच देगा जिस दर पर उसे तीन महीने बाद रुपयो में भुगतान मिल जायगा। इसी प्रकार भारतीय आयातकर्त्ता विनिमय-बैंक के पास जाकर तीन महीने पहिले ही उसको जितनी विदेशी मुद्राओ की आवश्यकता है उतनी खरीद लेगा, जिसका भुगतान वह इस निश्चित दर पर तीन महीने बाद करेगा। इस प्रकार अग्र क्रय एव अग्र विक्रय से आयातकर्त्ता तथा निर्यातकर्त्ता, उनको कितनी रकम देना है अथवा लेना है, यह निश्चित कर लेते है क्योकि इनके सौदे जिस दर पर हो गये हैं उसी दर पर उनको भुगतान करना पडेगा, जिससे विनिमय-दर के उच्चावचन का कोई भी परिणाम इन व्यापारियो के लेन-देन पर नहीं होगा। इस प्रकार के अग्र विनिमय व्यवहार प्रतिदिन करोडो के होते रहते है।

अग्र विनिमय-दर विनिमय की चालू दर होती है जिस दर पर विदेशी मुद्रा का तत्कालीन क्रय-विक्रय होता है। यदि अग्र विनिमय मे देशी मुद्रा के बदले मे कम विदेशी मुद्रा मिलती है तो विदेशी मुद्रा प्रव्याजि पर होती है। इसी प्रकार जब देशी मुद्रा के बदले मे अधिक विदेशी मुद्रा मिलती है उस समय विदेशी मुद्रा अपहार पर होती है। दूसरे शब्दो मे, जब विदेशी मुद्रा मे दर गिरती है तब देशी मुद्रा अपहार पर होती है तथा जब विदेशी मुद्रा मे दर चढती है तब देशी मुद्रा प्रव्याजि पर होती है। अग्र विनिमय मे विदेशी मुद्रा का प्रव्याजि अथवा अपहार होना तीन बातो पर निर्भर है :—

१. देश-विदेशो की ब्याज की दर,
२. देश-विदेशो की चलन की स्थिति,
३. विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय के परस्पर सम्बन्ध जोडना।

१. **देश-विदेश की ब्याज की दर**—हम यह बता चुके है कि यदि किसी देश मे बैंक-दर अथवा ब्याज की दर अन्य देशो की अपेक्षा अधिक है तब उस देश में पूँजी लगाना विदेशियों को लाभकर होगा क्योकि इससे वे अपनी पूँजी पर अधिक लाभ कमा सकते हैं। इसी प्रकार यदि विदेशो मे ब्याज की दर हमारे देश से अधिक है तो हमारे यहां की पूँजी उन देशो मे लगाना लाभदायक है। इसलिए अग्र विनिमय-दर प्रव्याजि पर अथवा अपहार पर होगी, यह ब्याज की दर से निश्चित होता है। यदि विदेशो की ब्याज दर हमारे यहाँ की दर से

अधिक है तो हमारे यहाँ की पूँजी वहाँ जाना लाभदायक होगा इसलिए अग्र विनिमय-दर अपहार पर होगी अर्थात् देशी मुद्रा के बदले अधिक विदेशी मुद्रा खरीदी जा सकती है। इसी प्रकार यदि विदेशो की ब्याज की दर हमारे देश से कम होगी तो पूँजी हमारे देश मे आयगी। ऐसे समय अग्र विनिमय की दर प्रव्याजि पर होगी अथवा देशी मुद्रा के बदले मे कम विदेशी मुद्रा मिलेगी।

२. **चलन की स्थिति**—किसी भी देश की मुद्रा के अवमूल्यन अथवा अधिमूल्यन पर भी विदेशी मुद्राओ के क्रय-विक्रय की अग्र विनिमय-दर निर्भर रहती है। यदि विदेशी मुद्रा मे अवमूल्यन होने की सम्भावना है तो बैंक उन मुद्रा का अग्रिम क्रय करने के लिए अनिच्छुक होते हैं इसलिए अग्र विनिमय मे विदेशी मुद्रा की दर प्रव्याजि पर होती है। यदि अधिमूल्यन होने की सम्भावना है तो अग्र विनिमय मे विदेशी मुद्रा अपहार पर होगी क्योंकि बैंक ऐसी मुद्रा को खरीदने के लिए इच्छुक होंगे।

३. **विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय के परस्पर सम्बन्ध जोड़ना**—जैसा कि हम ऊपर बता चुके है, कुछ लोग विदेशी मुद्रा बेचना चाहते है तथा कुछ विदेशी मुद्रा अग्रिम खरीदना चाहते हैं। ऐसे समय मे बैंक बीच मे आकर एक जगह विदेशी मुद्रा खरीदते है तथा दूसरे देश मे वही मुद्रा बेच देते है और ऐसे क्रय-विक्रय से वे लाभ कमाते है। इस प्रकार एक देश का क्रय दूसरे देश के विक्रय मे सम्बन्धित किया जाता है। ऐसे परस्पर सम्बन्ध की सम्भावना जितनी अधिक होती है उतनी ही अग्र विनिमय मे विदशी मुद्रा अपहार पर होगी अर्थात् देशी मुद्रा के बदले मे अधिक विदशी मुद्रा मिलेगी और परस्पर क्रय-विक्रय के सम्बन्ध के जितने कम अवसर होग उतनी ही विदेशी मुद्रा प्रव्याजि पर होगी।

इस प्रकार से अग्र विनिमय होते रहने के कारण विनिमय-दर मे उच्चावचन कम होते हैं। इस प्रकार के व्यवहार केवल व्यापारिक कार्यो के लिए ही न होते हुए परिकाल्पनिक कार्यो की दृष्टि से भी किये जाते हैं।

विनिमय-दर का सशोधन (Correction of Exchanges)

विनिमय-दर मे उच्चावचन होने के मूलत तीन कारण होते है—१. चलन मे अवमूल्यन अथवा अधिमूल्यन होने से, २ व्यापारिक सन्तुलन विपक्ष मे अथवा पक्ष मे होने से, तथा ३ ब्याज एव अभिकोष-दर मे वृद्धि अथवा कमी होने से। जब चलन मे अवमूल्यन के कारण विनिमय-दर समता से नीचे गिरने

लगती है उस समय चलन मे सुधार करने से विनिमय-दर स्थिर की जाती है। दूसरे, जब व्यापारिक सन्तुलन विपक्ष मे होने से बिलो की पूर्ति की अपेक्षा माँग बढती है और विनिमय-दर गिरने लगती है तो विनिमय-दर का सशोधन स्वर्ण के निर्यात से दीर्घकालीन अवधि मे स्वय ही हो जाता है। किन्तु स्वर्ण-निर्यात की जब सम्भावना ही नही होती उस समय नियन्त्रण द्वारा विनिमय-दर मे स्थिरता लाई जाती है। तीसरे, विनिमय-दर मे जब ब्याज अथवा अधिक्षेप-दर की वृद्धि अथवा कमी के कारण उच्चावचन होता है उस समय विनिमय-दर का सशोधन मौद्रिक बाजार मे अथवा मुद्रामण्डी मे ब्याज अथवा अधिक्षेप-दर के नियमन मे किया जाता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न अवस्थाओं मे विनिमय-दर के उच्चावचन का सशोधन किया जाता है।

विनिमय-नियन्त्रण[1]

विनिमय-दर मे जब अधिक उतार-चढाव होने लगता है तथा उसमे स्थिरता नही रहती, उस समय सरकार द्वारा विनिमय पर नियन्त्रण लगाया जाता है जिसकी दो पद्धतियाँ हैं —एक तो देश के आयात-निर्यात का विभिन्न उपायो द्वारा इस प्रकार नियमन करना जिससे दर की वृद्धि अथवा कमी सीमित रहे। दूसरे, विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय सरकार द्वारा निश्चित दरो पर किया जाना। इन दोनो पद्धतियों मे से पहिली पद्धति मे सरकार स्वय विनिमय बाजार मे आकर विदेशी मुद्राओं को खरीद-बिक्री करती है तथा विनिमय-दर को स्थिर करने का प्रयत्न करती है। विनिमय नियन्त्रण की इस पद्धति को हस्त-क्षेप कहते हैं। इस पद्धति से सबसे बडा लाभ यह होता है कि इसमे विनिमय बाजार का काम बढता है क्योकि कृत्रिमता से विदेशी मुद्रा की खरीद-बिक्री सरकार करती है। इसके विपरीत दूसरी पद्धति मे सरकार विदेशी मुद्राओ की खरीद-बिक्री पर रोक लगा देती है, मुद्राओ का क्रय-विक्रय स्वय नही करती। इसलिए इस पद्धति को विनिमय प्रतिबन्ध कहते हैं। जहाँ तक विनिमय बाजार का सम्बन्ध है इस प्रकार के प्रतिबन्धो से विनिमय व्यवहार कम हो जाते हैं क्योकि सरकार जनता के स्वतन्त्र प्रवेश मे हस्तक्षेप करती है। इन दोनों ही पद्धतियो के नियन्त्रण का मूल हेतु विनिमय-दर के उच्चावचन को सीमित रखना होता है। इसके अतिरिक्त विनिमय-नियन्त्रण के अन्य हेतु निम्न-लिखित हैं :—

---

[1] भारत मे विनिमय-नियन्त्रण के लिए देखिए "भारतीय चलन का इतिहास"

१. देश से पूँजी के बाहर जाने पर प्रतिबन्ध लगाना अथवा अधिकोषो के स्वर्ण-निधि को स्वर्ण-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाकर कम न होने देना, तथा

२. विदेशी मुद्रा की बढती हुई माँग पर प्रतिबन्ध लगाकर उसकी पूर्ति बढाना।

विदेशी विनिमय पर नियन्त्रण लगाने की भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ हैं :—

१. विदेशी व्यापार का नियमन—देश मे आयात वस्तुओ पर सरक्षक कर लगाने से आयात कम हो जाता है। ऐसे कर अनावश्यक वस्तुओ पर लगाये जाते है अथवा देश के उत्पादन का निर्यात अधिक हो सके इसलिए आर्थिक सहायता द्वारा उनका निर्यात बढाया जाता है। आयात एव निर्यात के लिए व्यापारियो को सनद लेनी पडती है जिनके बिना वे न आयात कर सकते है और न निर्यात। प्रत्येक वस्तु के आयात-निर्यात की निश्चित मात्रा अथवा निश्चित वजन ठहरा दिया जाता है जिससे अधिक न किसी वस्तु का आयात हो सकता है और न किसी वस्तु का निर्यात। इस प्रकार व्यापार मे रुकावटें डालने से व्यापारिक शेष अपने पक्ष मे करके विनिमय-दर मे स्थिरता लायी जाती है तथा विनिमय-दर अनुकूल बनाई जाती है।

२. विदेशी विनिमय का नियन्त्रित वितरण—ऐसी परिस्थिति मे सरकार अथवा केन्द्रीय अधिकोष विदेशी विनिमय का निश्चित दरो पर क्रय-विक्रय करती है और कुछ अधिकृत कार्यों अथवा व्यवहारो के लिए ही विदेशी विनिमय बेचा जाता है। यह कार्य युद्ध-काल मे भारत मे रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया का था।

३. विनिमय-समकरण कोष—विनिमय-दर मे जब अधिक उच्चावचन होते है उस समय विनिमय-दर को निश्चित स्तर पर स्थिर रखने के लिए इस कोष की सहायता से विदेशी मुद्राओ का क्रय-विक्रय किया जाता है। इस प्रकार की कोष का निर्माण इङ्गलैंड मे १९३२ मे १५०० लाख पौंड कोष विपत्र तथा स्वर्ण मे रखकर किया गया था। १९३३ मे यह रकम ३५०० लाख पौड तथा १९३७ मे ५५०० लाख पौंड कर दी गई थी। किसी भी समय स्टर्लिंग की माँग पूर्ति की अपेक्षा अधिक होने से जब स्टर्लिंग की विनिमय-दर बढने लगती थी तो इस कोष द्वारा विदेशो मे विदेशी मुद्राएँ खरीदी जाती थी जिससे विनिमय-दर बढने से रोक दी जाती थी और जो विदेशी मुद्रा खरीदी जाती थी उसे विदेशी अधिकोषो मे निधि के रूप मे जमा कर दिया जाता था। इसके विपरीत जब स्टर्लिंग की पूर्ति अधिक होती थी एवं माँग कम, और

स्टर्लिंग-दर गिरने लगती थी, उस समय विदेशी निधि में से स्टर्लिंग खरीदा जाता था जिसमें स्टर्लिंग की माँग बढ जाती थी और विनिमय-दर गिरने से रोक दी जाती थी। इस प्रकार इस कोष की कार्य पद्धति द्वारा विनिमय-दर के उच्चावचन सीमित किये जाते थे। इस प्रकार की कोष अमेरिका, फ्रान्स आदि देशों में भी रखी गई थी।

४ **बैंक-दर का नियमन**—बैंक-दर का प्रभाव पूँजी के आयात-निर्यात पर किस प्रकार होता है इसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं। पूँजी के आयात-निर्यात में आवश्यकतानुसार बैंक दर को कम या अधिक करने से विनिमय दर के उच्चावचन का रोका जाता था।

५ **विदेशी लेखाओं का बन्द करना**—हमारे देश म विदेशी व्यापारियों की कुछ न कुछ पूँजी लगी रहती है। उसी प्रकार उनकी रकम हमारे बैंकों में भी जमा रहती है। ऐसे विदेशी लेखाओं को बन्द कर दिया जाता है तथा विदेशी पूँजी के बाहर जाने पर रोक लगा दी जाती है जिससे विदेशी हमारे देश से अपनी रकम नहीं निकाल सकते। हमारे देश म जो रकमें जमा हैं उनका उपयोग विदेशी लोग कुछ विशेष कार्यों के लिए ही कर सकते हैं, जिनके लिए सरकार उन्हें अनुमति देती है। इस प्रकार लेखा बन्द करने से विदेशी पूँजी हमारे देश से बाहर नही जा सकती जिससे विनिमय-दर के उच्चावचन भी रोके जा सकते हैं।

६. **'जैसे थे' समझौते**—'जैसे थे' समझौते के अनुसार एक देश से दूसरे देश में जो पूँजी का आवागमन होता है उसको उन देशो मे आपसी समझौता होने से रोक दिया जाता है जिससे विनिमय-दर स्थिर रखने मे सहायता होती है। इन समझौतों मे विदेशी व्यापारियों के क्रमश भुगतान किस प्रकार होंगे इसका भी स्पष्टीकरण होता है। इस पद्धति का उपयोग जर्मनी मे १९३१ के बाद किया गया था।

७. इसके अतिरिक्त विनिमय-नियन्त्रण की एक और पद्धति है जिसके अनुसार विदेशियो के ऋणो का भुगतान देश के अधिकृत बैंक को देशी मुद्रा मे ही किया जाता है, जिसका भुगतान विदेशियो को कुछ निश्चित अवधि के बाद—जो समझौते से ठहराई जाती है—किया जाता है। इसको **परिवर्तन विलम्बकाल** कहते हैं।

८ **समाशोधन समझौते**—इसमे दो देशो मे आपसी समझौते द्वारा एक-दूसरे के ऋणो का भुगतान समझौते की शर्तों के अनुसार किया जाता है। इस

पद्धति मे दोनो देशो मे आयातकर्ता अपने माल का भुगतान उस देश के अधिकृत बैंको को देशी मुद्राओ मे करते है। यही बैंक देशी निर्यातकर्त्ताओं को उनका भुगतान कर देते हैं। इस प्रकार मुद्राओ का स्थानान्तरण न होते हुए दोनो का भुगतान हो जाता है। समझौते द्वारा विनिमय-दर निश्चित होती है तथा व्यापारिक सन्तुलन सरकार के हस्तक्षेप द्वारा आवश्यकतानुसार ठीक किया जाता है अर्थात् दोनों देशो के आयात एव निर्यात मूल्यो का जो अन्तर होता है उसी का भुगतान एक देश दूसरे देश को करता है।

६ **विनिमय कीलन**—विनिमय-दर को बढे हुए विनिमय-मूल्य पर स्थिर रखने के लिए जब सरकार द्वारा हस्तक्षेप किया जाता है तो उसे विनिमय-कीलन कहते है। इस प्रकार का विनिमय-कीलन ही आजकल विनिमय-नियन्त्रण का प्रधान रूप है।[1] इस स्थिति म सरकार अपनी मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा मे निश्चित दर पर कील देती है। उदाहरणार्थ, प्रथम विश्वयुद्ध काल मे स्टर्लिंग मूल्य ४·७६३ डालर पर कील दिया गया था। इसी प्रकार भारत मे भी १९२७ से रुपये का गठबन्धन स्टर्लिंग से १८ पेंस प्रति रुपये की दर से किया गया था, जिसको स्थायी रखने का सरकार प्रयत्न करती थी। यह कार्य देश की सरकार अथवा केन्द्रीय अधिकोष विदेशी मुद्राओ का निश्चित दरो पर क्रय-विक्रय करके पूरा करती है।

विनिमय-स्थिरता तथा अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष

१९४४ की ब्रेटनवुड्स् परिषद् के अनुसार अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना से विनिमय-दर की स्थिरता का कार्य अधिक सरल हो गया है। इस कोष का मूल उद्देश्य ही अपने सभासद राष्ट्रो के बीच विनिमय-दर को स्थिर रखना, प्रतिस्पर्धात्मक विनिमय-अवमूल्यन को रोकना और अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की वृद्धि करना है। कोष का मुख्य कार्य अपने सभासद राष्ट्रों की मुद्राओ का क्रय-विक्रय निश्चित दर पर करना है। इसके लिए सभासद राष्ट्रों की मुद्रा का मूल्य स्वर्ण अथवा डॉलर से सम्बन्धित कर दिया गया है। एक वर्ष मे ऋणी राष्ट्रो को उनका जो कोटा जमा है उससे दूनी रकम के बराबर दूसरे देश की मुद्रा मिल सकती है किन्तु इससे अधिक विदेशी ऋण होने पर उनको आयात पर रोक लगानी पडेगी। इस प्रकार स्वर्ण-निर्यात नही होने दिया जाता।

---

1 *An Outline of Money* by Crowther

इस कोष के भारत और पाकिस्तान भी सदस्य है। कोष किसी भी देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं करेगा किन्तु किसी भी देश की मुद्रा का अवमूल्यन अथवा मूल्य-वृद्धि बिना कोष की अनुमति के नहीं हो सकती। इस कोष की स्थापना से अन्तरराष्ट्रीय स्वर्णमान के सब लाभ सदस्यों को प्राप्त हो गये हैं।

सारांश

विदेशी विनिमय वह पद्धति है जिससे अन्तरराष्ट्रीय ऋणों का भुगतान किया जाता है। हार्टले विदर्स के शब्दों में 'विदेशी विनिमय अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा परिवर्तन का विज्ञान एवं कला है।" यह तीन बातों से सम्बन्धित है :— विदेशी बिल, विनिमय-दर तथा विदेशी विनिमय बैंक।

अन्तरराष्ट्रीय भुगतान के तीन साधन हो सकते हैं —(१) स्वर्ण देकर भुगतान करना, (२) आयात के बदले में वस्तुएँ निर्यात करना, (३) विनिमय बिलों द्वारा भुगतान करना। तीसरी पद्धति ही अधिकतर उपयोग में आती है जिससे स्वर्ण के आयात-निर्यात में होने वाली असुविधाएँ तथा खतरे नहीं रहते।

जिस दर पर एक देश के बिल दूसरे देश में खरीदे या बेचे जाते हैं उस दर को विदेशी विनिमय-दर कहते हैं। दूसरे शब्दों में, दो देशों की प्रमाणित मुद्राओं के परस्पर अनुपात को विनिमय-दर कहते हैं। चूँकि भिन्न-भिन्न देशों की मौद्रिक प्रणाली भिन्न-भिन्न हो सकती है इसलिए विदेशी विनिमय-दर निश्चित करने की चार पद्धतियाँ हैं :—

(१) जब दो देश स्वर्णमान पर होते हैं तो उन देशों की विनिमय-दर प्रमाणित मुद्रा के वैधानिक स्वर्ण मूल्य की समानता के साथ निश्चित होती है। इसे टक-समता कहते हैं।

(२) जब एक देश स्वर्णमान पर और दूसरा देश रजतमान पर आधारित हो तो दोनों देशों की विनिमय-दर प्रमाणित मुद्राओं के वैधानिक स्वर्ण मूल्य की समानता के साथ निश्चित होगी। जब रजतमान वाले देश की प्रमाणित मुद्रा का स्वर्ण मूल्य निश्चित नहीं होता तो स्वर्णमान वाले देश पर चाँदी का टकसाली मूल्य होता है। ऐसी स्थिति में दोनों देशों की प्रमाणित मुद्राओं के वैधानिक रजत मूल्य समता के आधार पर विनिमय-दर निश्चित होगी।

(३) जब एक देश स्वर्ण या रजतमान पर एवं दूसरा देश अपरिवर्त्य

पत्रमुद्रा पर आधारित हो तो दोनों मुद्राओं के स्वर्ण-मूल्य-समता पर विनिमय-दर निश्चित होगी। हाँ, अपरिवर्त्य मुद्रा वाले देश की मुद्रा का स्वर्ण मूल्य टकसाली न होते हुए बाजारी मूल्य होगा।

धातुमान पर आधारित देशों के विनिमय-दर के उतार चढाव की जो सीमाएँ होती हैं उसे निम्नतम स्वर्ण बिन्दु एवं उच्चतम स्वर्ण बिन्दु कहते हैं। टकसाली समता मे स्वर्ण का वाहन व्यय जोडकर स्वर्ण निर्यात बिन्दु अथवा उच्चतम दर तथा वाहन व्यय घटाकर स्वर्ण आयात बिन्दु या निम्नतम दर मालूम की जा सकती है।

(४) जब दोनों देश अपरिवर्तनीय पत्रमुद्रा पर हो तो उनकी विनिमय-दर परस्पर मुद्राओं की क्रयशक्ति-समता पर निर्भर होगी।

क्रयशक्ति-समता सिद्धान्त से विनिमय-दर निकालने के लिए निर्देशांकों से सहायता लेनी होती है। अत यह दर वास्तविक दर न होते हुए औसत दर होती है जो निर्देशांकों के साथ बदलती है। इस सिद्धान्त के विरोध मे आलोचनाएँ होते हुए भी यह सिद्धान्त विनिमय-दर निकालने के लिए महत्वपूर्ण है।

विनिमय-दर मे उतार-चढाव साधारणत विदेशी मुद्रा की मांग एवं पूर्ति पर निर्भर होता है और विदेशी मुद्रा या बिलों की मांग एवं पूर्ति निम्न बातों से प्रभावित होती है —

व्यापारिक शेष सिद्धान्त के अनुसार किसी भी समय विनिमय दर का उतार-चढाव दूसरे देश की मांग एवं पूर्ति पर जो व्यापारिक ऋणों से उत्पन्न होती है—निर्भर रहता है। किन्तु वास्तव मे विदेशी विनिमय की मांग एवं पूर्ति केवल व्यापारिक वस्तुओं के आयात निर्यात पर ही निर्भर न रहते हुए अन्य बातों पर निर्भर रहती है जो विदेशी मुद्रा की मांग एवं पूर्ति पर प्रभाव डालती है। इसमे दृश्य एवं अदृश्य दोनों ही प्रकार के आयात एवं निर्यात का समावेश होता है। फिर अन्तरराष्ट्रीय आधार पर एक देश ने दूसरे देश को कितना लेना देना है इसका खाता तैयार किया जाता है। इसे खाता-शेष सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार कोई भी देश दीर्घकालीन अवधि मे उतना ही निर्यात कर सकेगा जितना वहाँ आयात होगा। परन्तु अल्पकालीन अवधि मे यदि खाता-शेष हमारे पक्ष मे है तो विनिमय दर भी पक्ष मे रहेगी अन्यथा विपक्ष मे रहेगी।

अल्पकालीन अवस्था मे विनिमय-दर मे निम्न कारणों से उतार-चढाव

होते हैं —व्यापारिक स्थिति, बैंकिंग स्थिति, स्कंध विनिमय की स्थिति, चलन की स्थिति एवं राजनीतिक स्थिति आदि ।

जब विनियय-दर अपनी मुद्रा मे बनाई जाती है तब गिरती हुई विनिमय-दर पक्ष मे अथवा अनुकूल होती है । इसके विपरीत यदि विनिमय-दर विदेशी मुद्रा मे व्यक्त को जाती है तो गिरती हुई विनिमय-दर हमारे प्रतिकूल अथवा विपक्ष मे होती है ।

जब देशी मुद्रा की विनिमय-दर विदेशी मुद्रा मे व्यक्त की जाती है तब ऊँची दर हमारे अनुकूल होती है इसलिए ऊँची दर पर विदेशी मुद्राएँ खरीदना लाभकर होता है । इसी प्रकार जब विदेशी मुद्रा की विनिमय-दर हमारी मुद्रा मे व्यक्त होती है तब ऊँची दर हमारे प्रतिकूल होती है ऐसी स्थिति मे विदेशी मुद्रा बेचना लाभकर होगा ।

अग्र विनिमय विनिमय-दर मे होने वाले भविष्यकालीन उतार-चढाव से होने वाली संभावित हानि से बचने के लिए जब व्यापारी विदेशी मुद्रा के क्रय विक्रय के पहिले से ही समझौता कर लेते हैं तब उसे अग्र विनिमय कहते हैं । ये विदेशी विनिमय बैंको द्वारा किये जाते हैं । इन लेन-देनो मे विदेशी मुद्रा की दर प्रव्याजि अथवा कटौती पर होगी । यह तीन बातो पर निर्भर होता है —

(अ) देश-विदेश की बैंक-दर,
(आ) देश-विदेश की चलन की परिस्थिति, तथा
(इ) विदेशी मुद्रा के क्रय विक्रय का परस्पर सन्तुलन ।

विनिमय नियन्त्रण जब विनिमय-दर मे स्थिरता नहीं रहती उस समय देश की सरकार विनिमय-दर में स्थिरता लाने के लिए मांग एवं प्रदाय में कृत्रिम कमी-वेशी करती है । इसे विनिमय नियन्त्रण कहते हैं । ये नियन्त्रण दो प्रकार से लगाये जाते हैं—(१) आयात-निर्यातों के नियमन द्वारा तथा (२) विदेशी विनिमय का निश्चित दरो पर क्रय विक्रय करने से ।

विनिमय नियन्त्रण के दो हेतु—(१) देशी पूँजी अथवा स्वर्ण को बाहर जाने से रोकना, (२) विदेशी मुद्रा की बढती हुई मांग पर रोक लगाकर उसकी पूर्ति बढ़ाना ।

विनिमय नियत्रण की निम्न पद्धतियां हैं —

विदेशी व्यापार का नियमन, विदेशी विनिमय का नियन्त्रित वितरण,

विनिमय समकरण लेखा, बैंक-दर का नियमन, विदेशी लेखाओं का बन्द करना, 'जैसे थे' समझौते, परिवर्तन विलम्ब-काल, समाशोधन समझौते तथा विनिमय-कीलन।

१९४५ मे अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना से विनिमय-दर की स्थिरता का कार्य सरल हो गया है क्योंकि इसका मूल उद्देश्य विनिमय-दर को स्थिर रखना, प्रतिस्पर्धात्मक विनिमय अवमूल्यन न होने देना तथा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की वृद्धि करना है।

अध्याय १२

भारतीय चलन का इतिहास (१)

(१८६३ से १९१४ तक)

भारतीय चलन के इतिहास का विवेचन करने से पहिले यहाँ की गत कुछ शताब्दियों की चलन-पद्धति का सन्दर्भ देना आवश्यक है। हमारे यहाँ हिन्दू काल में भी स्वर्ण तथा चाँदी की मुद्राओं का उपयोग बहुलता में होता था तथा मुसलमानों के आगमन के बाद उन्होंने भी यहाँ की प्राचीन पद्धति को ही अपनाया किन्तु अकबर के शासनकाल में भारत में रजतमान को अपनाया गया तथा चलन में एकता लाई गई। मुगल बादशाह के अन्त के बाद इस एकता का भी विनाश हुआ तथा भिन्न भिन्न राज्यों की स्वतन्त्रता के साथ-साथ उन्होंने अलग अलग टकसालाएँ स्थापित की जिसमें भिन्न भिन्न मुद्राओं का जन्म हुआ। फिर भी आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार में विशेषतः चाँदी का रुपया ही मूल्य-मापन कार्य करता रहा। इन रुपयों की शुद्धता तथा वजन में भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्नता थी। अतः व्यापारिक व्यवहारों का भुगतान चाँदी की शुद्धता तथा वजन से होता था। इसके बाद जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत की राजकीय बागडोर सँभाली उस समय भारत में स्वर्ण तथा रजत के मिलाकर लगभग ९९४ प्रकार के सिक्के चलन में थे, जिनका परिवर्तन एक दूसरे से वजन तथा शुद्धता के अनुसार सराफ-साहूकारों द्वारा किया जाता था। इस कारण व्यापारिक व्यवहारों में रुकावट अनुभव होती थी।

इन रुकावटों को दूर करने के लिए सर्वप्रथम १८१८ में मद्रास में चाँदी के तथा स्वर्ण के नये सिक्के चलाये गये। चाँदी के रुपये का वजन १८० ग्रेन था जिसमें $\frac{11}{12}$ भाग अर्थात् १६५ ग्रेन शुद्ध चाँदी होती थी। १८३५ में मद्रास के रुपये की तरह अपने राज्य में मुद्रा में एकता लाने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने रुपये की मुद्रा का चलन प्रारम्भ किया तथा इस रुपये को असीमित विधिग्राह्य घोषित किया गया। १८३५ से यही भारत का प्रमाणित सिक्का बनाया गया जिसका मुक्त टङ्कण होता था। स्वर्ण के सिक्के ब्रिटिश भारत में

अवैध घोषित किये गये । परन्तु फिर भी १८३५ के टकण-विधान के अनुसार उनकी ढलाई हो सकती थी । इस प्रकार ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत मे रजतमान का अवलम्बन किया जो १८७१ तक ठीक तरह कार्यरूप मे रहा किन्तु १८७१ मे विश्व की परिस्थिति मे महान् परिवर्तन हुए जिनके कारण रुपये का स्वर्ण-मूल्य गिरने लगा । यह मूल्य १८७१ मे २ शि० प्रति रुपया से गिरकर १८९२ मे १ शि० २ पें० प्रति रुपया रह गया ।

रुपये का स्वर्ण-मूल्य गिरने के मुख्य कारण निम्नलिखित थे —

१ इस अवधि मे १८४८ मे पाई गई आस्ट्रेलिया और केलीफोर्निया की खानो का स्वर्ण लगभग निकल चुका था जिससे स्वर्ण अब बहुत कम मात्रा मे उपलब्ध होता था । **स्वर्ण की इस कमी** के कारण स्वर्ण का मूल्य बढने लगा तथा दूसरी ओर स्वर्ण की तुलना म चाँदी का मूल्य गिरने लगा ।

२ दूसरे, अमेरिका के नेवादा मे **चाँदी की समृद्ध खानो की** खोज हुई जिससे बहुत अधिक मात्रा म चाँदी निकाली गई तथा बाजार मे आई । परिणामत चाँदी की बहुलता से उसका मूल्य और भी गिरने लगा ।

३ इसी समय १८७०-७१ मे जर्मनी की फ्रास पर युद्ध मे विजय हुई तथा हानि पूर्ति के लिए फ्रास ने स्वर्ण देना तय किया । **जर्मनी ने अपनी विजय रजत का परित्याग एव स्वर्ण धातुमान अपना कर मनाई ।** परिणाम यह हुआ कि जर्मनी मे चाँदी बाजार मे बिकने के लिए आई । यह मात्रा १८७३ से १८७९ तक लगभग ११ करोड औंस से अधिक थी । जर्मनी के स्वर्णमान अपनाने के बाद इटली, स्वीडन, आस्ट्रिया आदि देशो ने भी उसका अनुकरण किया जिसके कारण चाँदी का मूल्य अधिकाधिक गिरता गया ।

४ इसके अतिरिक्त **सीसा नामक धातु से रसायनिक क्रिया द्वारा चाँदी का पृथक्करण** किया जाने लगा तथा रौप्य बनने लगा जो बाजारो मे बिकने के लिए आने लगा जिसके कारण स्वर्ण और चाँदी का परस्पर मूल्य सम्बन्ध बिगडने लगा एव चाँदी का मूल्य स्वर्ण मे गिरने लगा ।

५ **अमेरिका के शेरमन एक्ट मे सशोधन**—शेरमन एक्ट के अनुसार अमेरिका अपनी मौद्रिक आवश्यकताओ के लिए प्रति वर्ष ५४० औंस चाँदी खरीदा करता था परन्तु इसी समय अमेरिका ने शेरमन एक्ट मे सशोधन करके चाँदी का खरीदना बन्द कर दिया । परिणामस्वरूप चाँदी रजत-मान वाले देशों मे भेजी जाने लगी जिससे उसका स्वर्ण मूल्य गिरने लगा ।

इन कारणों से चाँदी का मूल्य १८९१ मे १ शि० २ पेंस रह गया जो

भारतीय व्यापारियों की दृष्टि से तथा सरकार के राजस्व की दृष्टि से हानिकारक था क्योंकि सरकार को प्रति वर्ष गृह-व्यय के रूप में लम्बी रकम इङ्गलैण्ट को देनी पड़ती थी[1] जिससे भारत सरकार को अब पहिले की अपेक्षा अधिक रुपये देने पड़ते थे, जिसके लिए कर बढ़ाने की आवश्यकता थी जो प्रनिवर्ष बढ़ाना असम्भव था।

६. इसके साथ ही, व्यापारियों की दृष्टि से, चाँदी का स्वर्ण-मूल्य गिरने से विदेशी मुद्रा मे भी भारतीय सिक्के का मूल्य गिर गया, जब विनिमय दर गिरने लगती है तो निर्यात बढ़ते हैं तथा आयात कम होते हैं। जब यह विनिमय-दर १ शि० २ पेंस रह गई तब इसका मतलब था उतना ही माल इङ्गलैण्ड से खरीदने के लिए अधिक रुपया देना। अत आयात माल यहाँ पर महँगा होने से आयात घट गया और विदेशी व्यापारियों को भारत से अब उतनी ही मुद्रा मे अधिक माल उपलब्ध होने के कारण निर्यात बढ़ने लगा। यह बढ़ता हुआ निर्यात-व्यापार विदेशियों को खटकने लगा। इनके अलावा विनिमय-दर की अनिश्चितता के कारण व्यापार मे भी अनिश्चितता आ गई।

७. विनिमय दर गिरने के कारण भारत मे ब्रिटिश पूंजी का आना बन्द हो गया।

८. भारत सरकार की सेवा मे जो अग्रेज नौकर थे उनको इङ्गलैण्ड मे उतने ही पौण्ड अपने कुटुम्बियो को भेजने के लिए अधिक रुपये की आवश्यकता थी परन्तु उन्हे वही वेतन मिलता था जिसमे उन्हे भी हानि होने लगी। इसलिए उनमे असन्तोष फैलने लगा और उन्होंने अपने वेतन मे वृद्धि करने की माँग की।

९. **विदेशी पूंजी**—विनिमय-दर मे गिरावट आने की वजह से भारत मे आने वाली विदेशी पूंजी भी रुक गई क्योंकि इस गिरावट के कारण विनियोगकर्ताओं को लाभांश अथवा ब्याज के रूप मे कीमती पौण्ड मिलते। इधर देश के औद्योगिक विकास के लिए तो विदेशी पूंजी की आवश्यकता थी ही, जो न आने के कारण औद्योगिक विकास मे भी रुकावट आ गई।

इन सब कारणों से १८७३ की विश्वमन्दी ने भी जोर पकड़ा। सरकार

---

[1] यह गृह-व्यय की राशि १७ मिलियन पौण्ड के लगभग थी जो १४,२६,५७,००० रुपये के बराबर पहले थी, परन्तु चाँदी का भाव गिरने के कारण उसी राशि के भुगतान के लिए २६,४७,८४,१५० रुपये आवश्यक थे।

को अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अधिकाधिक रुपयों की आवश्यकता पडी और अडचने अनुभव होने लगी। फलस्वरूप जनता ने स्वर्णमान के अवलम्बन के लिए आवाज बुलन्द की और सरकार ने १८७८ मे ब्रिटिश पार्लियामेण्ट मे स्वर्णमान अपनाने का प्रस्ताव भेजा, जो बेकार साबित हुआ। १८९१ में भारत सरकार ने फिर प्रस्ताव भेजा जिसमें यह कहा गया कि चाँदी का मुक्त टंकण बन्द कर दिया जाय जिससे रुपयों की कमी सी होगी और उनका स्वर्ण-मूल्य तथा विनिमय-दर बढने लगेगी, इसके साथ ही स्वर्णमान अपनाने का प्रस्ताव भी किया गया था। इस प्रस्ताव पर कोई विचार न होते हुए यह आश्वासन दिया गया कि १८९२ मे अन्तरराष्ट्रीय द्विधातुमान अपनाने के सम्बन्ध में विचार करने के लिए जो परिषद होने वाली है, वह व्यर्थ साबित होने पर आगे विचार किया जायगा। परन्तु यह परिषद असफल रही और द्विधातुमान की चर्चा हमेशा के लिए समाप्त हो गई।

हर्शल समिति

इसलिए, १८९२ म भारत सरकार के प्रस्ताव पर विचार करने के लिए चलन समिति लार्ड हर्शल की अध्यक्षता मे नियुक्त की गई जो हर्शल कमेटी के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने कुछ सुधार के साथ भारत सरकार के प्रस्ताव का समर्थन निम्नलिखित सिफारिशों मे किया —

१ चाँदी का मुक्त टंकण बन्द किया जाय जिससे जनता अपनी आवश्यकतानुसार टकसाला पर लाकर चाँदी का रुपयों मे परिवर्तन न करा सके, किन्तु सरकार का यह अधिकार होगा कि वह रुपयों की ढलाई सोने के बदले प्रति रुपया १ शि० ४ पस अथवा ७ ५३३४४ ग्रेन के हिसाब से करे।

२ स्वर्ण की मुद्राएँ सरकारी कोषों म १ शि० ४ पें० की दर से स्वीकृत की जायें, यही विनिमय-दर स्थायी हो।

३ रुपये की असीमित विधिग्राह्यता बनी रहे।

इन सिफारिशों मे स्वर्णमान के अपनाने के लिए कोई योजना नही थी। किन्तु यह विचार था कि जब रुपये की १ शि० ४ पेंस की दर स्थापित हो जाय तब स्वर्णमान को अपनाया जाय। इस बीच भारत सरकार स्वर्णनिधि का नियोजन करे।

इन सिफारिशों को कार्यरूप मे लाने के लिए १८९३ मे एक अधिनियम स्वीकृत किया गया जिससे १८७० के कॉइनेज एक्ट तथा १८८२ के इण्डियन पेपर करैन्सी एक्ट का सशोधन किया गया। टकसालाएँ जनता के लिए बन्द

कर दी गयी तथा रुपये की ढलाई का एकाधिकार सरकार ने लिया। इसके सिवा सरकार ने निम्न घोषणाएँ कीं —

१ सावरेन तथा अर्धसावरेन, सरकार को उसके भुगतान मे १५ रु० तथा ७॥) की दर से दिये जा सकते थे।

२. स्वर्ण एव स्वर्ण के सिक्को का प्रति रुपया ७ ५३३४४ ग्रेन स्वर्ण अथवा १ शि० ४ पेस की दर से रुपयो मे परिवर्तन हो सकता था।

३. स्वर्ण एव स्वर्ण मुद्राओ के बदले उपर्युक्त दर पर पत्र-मुद्राएँ चलाने का अधिकार बम्बई तथा कलकत्ता की टकशालाओ को दे दिया गया जिससे पत्र-मुद्राओ का चलन भी हो। ये पत्र-मुद्राएँ भी स्वर्ण के बदले म १ शि० ४ पेस प्रति रुपये की दर से ही दिय जायग।

इस प्रकार भारत मे स्वर्ण एव चाँदी के सिक्को की ढलाई जनता नही करा सकती थी तथा केवल चाँदी के रुपये ही असीमित विधिग्राह्य थे।

रुपये की ढलाई का एकाधिकार अपने पास रखने मे सरकार का हेतु मुद्रा बाजार मे रुपये की पूर्ति कम करना था, जिससे उनका स्वर्णमूल्य बढ जाय और विनिमय-दर १६ पेन्स पर स्थायी हो जाय। परन्तु सरकार का यह अनुमान गलत था क्योकि मुद्रा-बाजार म रुपए आवश्यकता से भी अधिक थे। इससे विनिमय-दर १८९६ तक १६ पेन्स पर न आ सकी। १८९७ मे बढते हुए निर्यात एव रुपयो की अधिक माग के कारण रुपये की विनिमय-दर बढने लगी जो १८९७ म १५$\frac{3}{8}$ पेन्स हो गई। यही दर १८९६ मे १३$\frac{5}{8}$ पेन्स थी।

अब चाँदी के मूल्य मे रुपये मे चाँदी की कमी होते हुए भी उसका मूल्य बढ गया जिससे सरकार को रुपये के टकण से लाभ बढ गया। दूसरे, मुद्रा का प्रसार तथा सकोच का एकमेव अधिकार सरकार को मिल गया जिससे मुद्रा-पद्धति की स्वय कार्यशीलता नष्ट हो गई। किन्तु विनिमय-दर की स्थिरता के लिए तथा रुपये की मूल्य-वृद्धि के लिए यह आवश्यक था। इस प्रकार रुपये का मूल्य क्रमश १८९८ म १ शि० ४ पेंस हो गया। परन्तु रुपये की कमी फिर भी बनी रही तथा व्यापारियो को असुविधाएँ होती रही।

इसलिए जनवरी १८९८ मे रुपये की कमी को दूर करने के लिए १८९८ का दूसरा अधिनियम स्वीकृत किया गया। इसके अनुसार २१ जनवरी को घोषणा की गई कि भारत सरकार भारत सचिव के पास जो सोना जमा है उसके बदले मे ७ ५३३४४ ग्रेन स्वर्ण प्रति रुपये की दर से पत्र-मुद्रा चलाएगी। इस घोषणा के अनुसार भारत मे भुगतान के लिए रुपये के बिल कलकत्ता,

मद्रास तथा वम्बई पर भेजे जाने लगे। इसका एक उद्देश्य यह भी था कि भारत मे भारतीय लेनदारो के भुगतान के लिए स्वर्ण का निर्यात न हो। किन्तु बहाना यह किया गया कि इससे भारत सरकार के गृह-व्यय के लिए भारत-सचिव को रकम मिलेगी। यह कार्य-पद्धति पहिले केवल ६ महीने के लिए ही थी, फिर इसकी अवधि दो वर्ष के लिए बढा दी गई थी। इस प्रकार परिषद-बिल (council bills) बेचने से जो स्वर्ण भारत सचिव के पास आता था वह 'पत्र-चलन निधि' मे बैंक ऑव इङ्गलैंड के पास रखा जाने लगा।

फाउलर समिति (१८९८)

इस प्रकार विनिमय-दर मे स्थिरता आ जाने के वाद (जो हर्शल समिति का मूल उद्देश्य था) १८९८ मे सर हेनरी फाउलर की अध्यक्षता मे दूसरी समिति बनाई गई जो पहिली सिफारिशो के कार्यो का अध्ययन कर स्वर्णमान के अवलम्बन की निश्चित योजना प्रस्तुत करे तथा अभी तक अपनी राय देते हुए एक निश्चित मौद्रिक अथवा चलन नीति अपनाने मे मार्ग प्रदर्शन करे। साथ ही रुपये की कमी का जो अनुभव हो रहा था उसे दूर करने के लिए अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करे।

भारत मे स्वर्ण अथवा स्वर्ण मुद्राएँ विधिग्राह्य नहीं थी किन्तु सरकारी भुगतान मे स्वर्ण अथवा स्वर्ण-मुद्राएँ १ शि० ४ पेंस अथवा ७ ५३३४४ ग्रेन प्रति रुपये की दर से ली जाती थी। रुपये एव स्वर्ण मे किसी प्रकार से वैधानिक सम्बन्ध न था किन्तु सरकारी घोषणा के अनुसार उक्त दर से स्वर्ण के बदले रुपये खरीदे जा सकते थे, रुपया ही भारत की एकमेव प्रमाणित एव असीमित विधिग्राह्य मुद्रा थी। भारतीय चलन-पद्धति की यह स्थिति फाउलर समिति की नियुक्ति के समय थी। समिति के सामने तीन मुख्य बातें विचारार्थ थी —

१. भारत सरकार का वह प्रस्ताव, जिसमे कहा गया था कि भारत मे रुपये की आवश्यकता से अधिक बहुलता है जिसे रुपये गलाकर चाँदी मे बेच कर कम किया जा सकता है। इसमे रुपये का मूल्य १६ पेंस पर स्थिर रह सकेगा, तथा इङ्गलैंड मे ऋण द्वारा एक स्वर्ण-निधि बनाना, जिससे रुपये को गलाकर चाँदी के रूप मे वेचने से जो हानि हो उसकी पूर्ति हो सके, तथा स्वर्णमान को अपनाना।

२. इस प्रस्ताव के अनुसार भारत मे स्वर्णमान अथवा रजतमान हो तथा स्वर्ण और चाँदी के बीच क्या सम्बन्ध हो?

३. बैंक ऑव बंगाल के उपसचिव श्री ए० एम० लिंडसे की स्वर्ण-विनिमय मान की योजना। "इस योजना के अनुसार १० करोड पौंड का ऋण इङ्गलैंड से लेकर उसे इण्डिया आफिस अथवा बैंक ऑव इङ्गलैंड मे जमा किया जाय। इस निधि का नाम स्वर्ण-मान-निधि हो और इसका उपयोग 'स्वर्णमान कार्यालय' जो लन्दन मे स्थापित हो उसके द्वारा किया जाय। यह कार्यालय इङ्गलैंड के आयातकर्त्ताओं को रुपया-बिल १५,००० रु० के ऊपर स्टर्लिंग के बदले १ शि० ४$\frac{3}{32}$ पेंस प्रति रुपये की दर से बेचे। वे विपत्र भारतीय टकशालाओं पर अथवा बम्बई, कलकत्ता के पत्र-चलन कार्यालयो द्वारा चुकाये जायँ।"

फाउलर समिति ने इन सब प्रस्तावो पर विचार किया तथा उन्होंने रुपये के मुक्त टकण सम्बन्धी प्रस्ताव को अथवा रजतमान अपनाने के प्रस्ताव को अस्वीकृत किया। उसी प्रकार श्री लिंडसे की योजना को भी ठुकरा दिया। समिति की राय थी कि लिंडसे-योजना को अपनाने से भारत मे विदेशी पूँजी का आना रुकेगा जिससे देश के औद्योगिक विकास को धक्का लगेगा। समिति ने निम्नलिखित सिफारिशें कीं :—

१. रुपये का विनिमय-मूल्य १ शि० ४ पेंस अथवा १५ रु० प्रति सॉवरेन हो।

२. ब्रिटिश सॉवरेन को विधिग्राह्य चालू मुद्रा बनाया जाय तथा भारतीय टकशालाओं मे स्वर्ण-मुद्रा का स्वतन्त्र टकण हो। ये स्वर्ण-मुद्राएँ रुपये के साथ-साथ १५ रुपये प्रति सॉवरेन की दर से चलन मे लाई जायँ, परन्तु रुपये का टकण-स्वातन्त्र्य जनता को न मिले। अर्थात् रुपया गौणमुद्रा का कार्य करे, परन्तु असीमित विधिग्राह्य रहे।

३. सरकार रुपये के टकण से होने वाला लाभ 'स्वर्णमान-निधि' मे जमा करे। यह रुपये का १६ पेंस मूल्य स्थिर रखने तथा आवश्यकता पडने पर विदेशी भुगतान के लिए भी उपयोग मे लाई जाय।

४. जब तक स्वर्ण जनता की आवश्यकता से अधिक न हो तब तक रुपये के नये सिक्के न ढाले जायँ।

५. सरकार उपरोक्त दर पर स्वर्ण अथवा स्वर्णमुद्राओं के बदले रुपये दिया करे परन्तु रुपये के बदले मे स्वर्ण अथवा स्वर्णमुद्राएँ देने के लिए बाध्य न हो।

इस प्रकार फाउलर समिति ने अपूर्ण द्विधातुमान पद्धति अपनाने की

सिफारिश की थी हालांकि उसका ध्येय स्वर्ण-मुद्राओं का चलन तथा स्वर्णमान अपनाना ही था[1] क्योंकि इसमें दोनों ही धातुओं की मुद्राएँ प्रमाणित होनी किन्तु टंकण-स्वातन्त्र्य केवल स्वर्ण को ही था। समिति का यह विश्वास था कि भारत में जब तक स्वर्णमान नहीं अपनाया जाता तब तक विनिमय-दर को स्थिर नहीं बनाया जा सकता।

भारत-सचिव ने समिति की इन सब सिफारिशों को स्वीकृत किया किन्तु उनका प्रयोग कुछ निराले ढंग पर ही किया गया —

१ १८९९ के भारतीय टंकण अधिनियम से सॉवरेन और अर्धसॉवरेन १५ रु० प्रति पौण्ड की दर से भारत में विधिग्राह्य बनाये गये। स्वर्ण-टंकण के लिए नई टकसाला खोलने की सिफारिश पर कोई भी कार्यवाही नहीं की गई क्योंकि शाही टकसाला ने इसके लिए अनुमति नहीं दी। इस सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार ने कहा कि भारत में स्वर्ण की ढलाई के लिए टकसाला खोलने की कोई आवश्यकता ही नहीं है और न भारत में स्वर्ण की मुद्रा-ढलाई के लिए काफी मात्रा में स्वर्ण ही मिल सकता है। इसलिए भारत सरकार को १९०२ में स्वर्ण-टकसाला सम्बन्धी अपना विचार छोड़ देना पड़ा।

२ रुपये के टंकण सम्बन्धी चौथी सिफारिश के विरुद्ध रुपयों का १९०० ई० में टंकण शुरू किया गया क्योंकि सरकार जनता को स्वर्ण-मुद्राओं के उपयोग के लिए लालायित न कर सकी जिससे मुद्रा-मण्डी में रुपयों की कमी अनुभव होने लगी क्योंकि १८९३ से नये रुपयों की ढलाई बिलकुल बन्द थी। इसके साथ बढ़ते हुए व्यापार के कारण रुपया की आवश्यकता भी बढ़ गई थी।

३ रुपये के टंकण लाभ से जो स्वर्णनिधि बनाया गया था उसको भारत-सचिव ने इङ्गलैण्ड में रखा तथा उसका विनियोग स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियों को खरीदने में किया गया और उनका कुछ अंश भारत में रुपयों में रखा गया। साथ ही इस निधि में से १० लाख पौण्ड कीमत का स्वर्ण रेलवे के पूँजी-व्यय के लिए लिया गया, जो सब समितियों की सिफारिशों के विरुद्ध था।

४ भारतीय व्यापारिक शेष अनुकूल होते हुए भी भारत-सचिव ने रुपया विपत्रों के विक्रय द्वारा भारत में स्वर्ण नहीं आने दिया। इन सब कारणों से १९०७–०८ में अकालजन्य परिस्थिति से भारत का व्यापारिक शेष प्रतिकूल हुआ और विदेशी भुगतान के लिए स्वर्ण की मांग बढ़ी तब भारत

1 *Indian Currency and Exchange* by Bhatnagar, p. 19

सरकार ने अपनी असमर्थता दिखाई। परिणामस्वरूप भारत-सचिव ने भारत में स्टर्लिङ्ग-बिल अथवा उल्टी हुण्डियाँ प्रति रुपया १५$\frac{3}{2}\frac{3}{2}$ ग्रेन की दर से बेचने के लिए अनुमति दी। इनका भुगतान इङ्गलैण्ड के व्यापारियों को भारत-सचिव द्वारा स्टर्लिङ्ग में किया गया।

इस प्रकार परिस्थितियों से विवश होकर सरकार को वही कदम उठाने पड़े जो लिण्डसे योजना में थे। फलतः हमारी चलन पद्धति में स्वर्ण विनिमय-मान का उपयोग पूरी तरह होने लगा। इस प्रकार फाउलर समिति की स्वर्ण-मान को स्वर्ण-मुद्रा-चलन के साथ अपनाने की सिफारिश के स्थान पर रुपया-बिल तथा स्टर्लिङ्ग-बिलों की ऐसी पद्धति का उपयोग हुआ जिसको हम स्वर्ण-विनिमय-मान कह सकते है। वास्तव में हमारा रुपया देश में प्रतीक मुद्रा की भाँति था किन्तु विदेशों में वह स्वर्ण मुद्रा की भाँति था जिसका स्वर्ण-मूल्य १ शि० ४ पेंस अथवा ७.५३३४४ ग्रेन निश्चित किया गया था। स्वर्ण-मुद्राएँ चलन में नहीं थीं तथा प्रति-परिषद बिलों का भुगतान करने के लिए इंगलैण्ड में स्वर्णमान निधि रखा था, जिससे इंगलिश लेनदारों को स्टर्लिंग में भुगतान दिया जाता था। इस पद्धति में भारत-सचिव तथा भारत सरकार दो बड़े बैंकों का कार्य करते थे और इन दोनों के हाथों हमारी चलन-पद्धति का नियन्त्रण होता था।

स्वर्ण-विनिमय-मान की कार्य-प्रणाली (रुपया-बिल और स्टर्लिङ्ग बिल)

भारत का विदेशी व्यापार सदा अनुकूल ही रहता था किन्तु भारत को प्रति वर्ष इङ्गलैंड को गृह-व्यय तथा उनकी पूंजी की लागत पर कुछ वार्षिक ब्याज चुकाना पड़ता था। *अर्थात् एक ओर तो भारत को इङ्गलैंड से पावना होता* था तथा दूसरी ओर देना, जिसके लिए केवल दो ही मार्ग थे। एक तो भारत सरकार इङ्गलैंड से अनुकूल व्यापारिक शेष के बदले सोना ले और फिर गृह-व्यय तथा ब्याज के रूप में इङ्गलैण्ड को स्वर्ण भेजे। इस प्रकार स्वर्ण के आयात-निर्यात में अनेक असुविधाएँ होतीं इसलिए दूसरी पद्धति अपनाई गई जिसके अनुसार भारत में अंग्रेज ऋणी व्यापारियों से स्टर्लिंग लेकर बदले में भारत-सचिव उन्हें रुपया-बिल अथवा परिषद बिल दें, जिनका भुगतान भारत सरकार भारतीय लेनदार व्यापारियों को चुकाये। इस प्रकार भारत-सचिव के पास जो रकम आती थी उसमें से भारतीय गृह-व्यय तथा ब्याज की रकम निकाल कर जो शेष रहता था वह भारत सरकार के नाम, आगामी वर्षों में उपयोग के

लिए जमा किया जाता था। अब अंग्रेज व्यापारी ये परिषद-बिल अपने भारतीय लेनदारो के पास भेज देते थे जिनका भुगतान वे भारतीय कोष से अपने-अपने बैंको की मार्फत प्राप्त करते थे। इस प्रकार दोनो के ऋणों का भुगतान परिषद-बिलो द्वारा होता था और शेष रकम जो भारत सरकार के नाम इङ्गलैण्ड मे जमा रहती थी उसका उपयोग भारत सरकार औद्योगिक माल की खरीद मे करती थी।

किन्तु यह तब तक ठीक चलता रहा जब तक व्यापारिक शेष भारत के अनुकूल रहा। जब व्यापारिक शेष भारत के प्रतिकूल होता था तब भारतीय व्यापारी अपने अंग्रेज लेनदारो के भुगतान के लिए भारत सरकार से रुपयों के बदले स्टर्लिंग मांगते थे। भारत सरकार उन्हें स्टर्लिंग-बिल अथवा प्रति-परिषद बिल देती थी जिनका भुगतान इङ्गलैंड मे भारत-सचिव अंग्रेज व्यापारियो को करता था। जब ऐसे प्रति-परिषद बिलो की आवश्यकता भारत के व्यापारियो को होती थी तब वे रुपयो के बदले सरकारी कोषो से अपने बैंको की मार्फत इन्हे खरीदते थे। ये बिल वे अपने लेनदारो को इङ्गलैंड मे भेजते थे जिनके बदले भारत-सचिव इन्हे स्टर्लिंग देता था।

इस प्रकार व्यापारिक शेष की अनुकूल एव प्रतिकूल अवस्था मे इङ्गलैंड और भारत का परस्पर भुगतान, परिषद तथा प्रति-परिषद बिलो द्वारा होता था तथा एक-दूसरे देश को स्वर्ण का आयात निर्यात नही करना पड़ता था।

अब यह सवाल उठता है कि क्या भारत सरकार को भारत-सचिव पर प्रति-परिषद बिलों के आहरण का अधिकार था? इसका उत्तर यह है कि रुपय के टकण से जो लाभ होता था उसको स्वर्णमान निधि मे जमा किया जाता था एव उसका उपयोग सकट काल मे फाउलर समिति की सिफारिश के अनुसार हो सकता था। इसीलिए उसको इङ्गलैंड मे रखा गया था जिससे सकट काल मे इस प्रकार उसका उपयोग हो सके।

यह स्वर्णमान-पद्धति सन् १९१४ तक ठीक प्रकार चलती रही किन्तु बाद मे युद्धजन्य परिस्थिति के कारण इसमे भी बाधाएँ आ गई जिससे यह विनिमय मान पद्धति भी कार्यरूप मे न रह सकी।

स्वर्ण विनिमय मान की आलोचना

वैसे यह कार्य पद्धति बडी ही सरल एव सुविधापूर्ण मालूम होती थी किन्तु वास्तव मे देखने से यह भ्रमपूर्ण है। भारत-सचिव की नीति हमेशा से यही रही कि भारत मे कम से कम स्वर्ण जावे इसलिए वह हमेशा ऐसे ही उपायो

की खोज मे रहते थे जिससे उनकी कार्य-सिद्धि हो। इस हेतु से भारत-सचिव का इसी दशा मे प्रयत्न रहा जिससे हमारे देश की कीमतें ऊँची बनी रहें तथा इङ्गलैंड से होने वाला आयात बढे और इस कारण फाउलर समिति की सिफारिशो के विरुद्ध उक्त कार्यवाही की गई।

(१) इस पद्धति के विरुद्ध प्रथम आक्षेप यह है कि भारत-सचिव ने स्वर्ण का निर्यात जो हमारे देश मे होना उसे नही होने दिया। हमारा व्यापार-शेष सदैव ही हमारे अनुकूल रहता था क्योंकि जितने रुपयो का आयात होता था उससे निर्यात अधिक था इसलिए इस आधिक्य के मूल्य का स्वर्ण हमारे देश मे आता। किन्तु जब १८६८ के बाद यह बात भारत-सचिव के ध्यान मे आई तब उसने कहा कि भारत सरकार से इङ्गलैंड को गृह-व्यय तथा ब्याज के रूप मे रुपया लेना है जो हम यही पर (इङ्गलैंड मे) स्टर्लिंग-बिल बेचकर रख लिया करेंगे तथा जो अधिक रकम आयेगी वह भारत सरकार के नाम जमा कर देंगे। इस प्रकार भारत मे स्वर्ण का आयात नही होने दिया। खैर, जहाँ तक एक-दूसरे के भुगतान का सम्बन्ध था यह ठीक है, परन्तु जो रकम हमारे गृह-व्यय आदि से अधिक होती थी वह तो हमारे यहाँ स्वर्ण मे आनी चाहिए थी किन्तु भारत-सचिव ने उसे यहाँ नही आने दिया और कहा कि यदि यह स्वर्ण भारत को जाता है तो वह या तो भूमिगत हो जायगा या उसके गहने बनाये जायेंगे जिससे वह भारत सरकार के काम न आ सकेगा तथा जब चाँदी और रेलवे के लिए सामान आदि इगलैंड म खरीदा जायगा तब उसके काम मे न आ सकेगा। इसलिए इस अतिरिक्त स्वर्ण का भी इङ्गलैंड मे रखना ही उचित है। किन्तु यह युक्ति-प्रवाद सर्वथा सही नही है क्योंकि इस काल मे भारत मे स्वर्ण की चाह होने लगी थी और यदि चाह नही भी थी और यह स्वर्ण यदि भूमिगत भी हो जाता तो भी भारत-सचिव को क्या आवश्यकता थी कि वह भारत सरकार को अनधिकार उपदेश करे? यह विषय तो केवल भारत सरकार का था।

(२) रुपयो के टकण से होने वाले लाभ से स्वर्ण निधि बनाया गया था जो समिति की सिफारिश के अनुसार भारत मे ही रहना चाहिए था। क्या अधिकार था भारत-सचिव को कि वह उसका स्थानान्तरण इङ्गलैंड मे करे? यदि यह स्वर्ण भारत मे रहता तो भारत सरकार के काम आ सकता था अथवा हमारे उद्योग धन्धों की उन्नति के लिए काम आता। किन्तु उसे इङ्गलैंड मे रखने से तो भारत सरकार को सर्वथा भारत-सचिव पर ही निर्भर होना पडा।

(३) इस निधि को स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ खरीदने के लिए उपयोग मे लाया

गया तथा इङ्गलैंड के उद्योगपतियों को ऋण के रूप में कम ब्याज पर दिया गया जिससे वहाँ के उद्योगों की तो उन्नति हुई किन्तु हमारे यहां उन्नति न हो सकी। इसका उत्तर यह दिया गया कि यदि यह निधि इङ्गलैंड में न रहता तो भारत सरकार व्यापारिक शेष की प्रतिकूलावस्था में भारत सचिव पर प्रति परिषद बिल नहीं बेच सकती थी और अंग्रेज साहूकारों को भुगतान करने के लिए उसे असुविधा होती। किन्तु क्या ऐसा नहीं हो सकता था कि भारत सरकार को ऐसे समय में कुछ पौंडों का भुगतान करने के लिए भारत सचिव सहायक होता अथवा बैंक ऑव इङ्गलैंड से अपनी जिम्मेवारी पर भारत सरकार को पौंड उधार दिलवा सकता? परन्तु यह न तो हुआ और न किया गया।

स्वर्ण विनिमय-मान की स्थापना के ६ वर्ष बाद १६०७ में विनिमय दर गिरने लगी और १ शि० ४ पेंस से कम हो गई तथा भारतीय व्यापारिक शेष भी हमारे प्रतिकूल हुआ जिसके लिए दो कारण प्रमुख थे —एक तो भारत में अनावृष्टि एवं अकाल और दूसरे विश्व की मौद्रिक कमी तथा इसी समय में हान बाग अमेरिका का आर्थिक संकट। इसलिए सर्व प्रथम भारतीय व्यापारियों ने भारत सरकार से विदेशी विनिमय की बड़ी मात्रा में मांग की। परन्तु इस माँग की पूर्ति करने के लिए सरकार के पास पर्याप्त मात्रा में न तो स्वर्ण ही था और न वह दे सकती थी। इस पूर्ति के लिए व्यापारियों ने प्रति परिषद बिल भी मांगे किन्तु भारत सचिव ने उसके लिए भी अनुमति नहीं दी जिससे दो बातें स्पष्ट होती है —एक तो निश्चित नीति का अभाव और दूसरे भारतीय व्यापार एवं व्यापारियों की भलाई की ओर पूर्ण अनास्था। यद्यपि स्वर्ण निधि इङ्गलैंड में इसीलिए रखा गया था कि जब विनिमय दर गिरने लगे तो वहाँ से प्रति परिषद बिलों का भुगतान भारत सचिव द्वारा किया जाय किन्तु ऐसा न होने से प्रतिकूल विनिमय दर होने के कारण भारतीय आयात कर्ताओं की बहुत भारी हानि हुई और सरकारी नीति की बुरी तरह आलोचना होने लगी। इसलिए पहिले तो भारत सरकार ने विदेशी भुगतान के लिए पत्र चलन निधि से स्वर्ण निकाल कर बेचना शुरू किया ताकि विनिमय दर न गिरे। परन्तु परिस्थिति बिगड़ती गई जिससे विनिमय दर भी गिरती गई। इसके फलस्वरूप २६ मार्च १६०८ को इस प्रकार के प्रति परिषद बिल बेचने की अनुमति दी गई तथा वे बिल भारतीय आयातकर्ताओं को १ शि० ३$\frac{29}{32}$ पेंस प्रति रुपये की दर से बिकने लगे। इस समय स्वर्ण निधि ४०० लाख पौंड से अधिक हो गया था जिसमें से ३०० लाख पौंड में अधिक भारत-सचिव द्वारा

इङ्गलैंड के उद्योगों में लगाया गया था जो रकम प्रति-परिषद-बिलो के भुगतान के लिए उनके नहीं थी जा सकती थी और यही वास्तविक कारण था जिसके लिए स्वर्ण-निधि इङ्गलैंड में रखा गया था। इस प्रकार जो स्वर्ण निधि फाउलर समिति ने भारतीय हित के लिए बनाया था उसको इंगलैंड में रखकर अंग्रेजी व्यापार एवं उद्योगों की उन्नति के काम में लाया गया तथा इससे भारत-सचिव ने ब्याज कमाया जो नष्ट काल में भारत के काम न आ सका।

१९१३ के बाद

इन आलोचकों में से कुछ तो टकसाला को खोल देने के पक्ष में थे तथा कुछ परिषद-बिलो की असीमित बिक्री के विरुद्ध थे। किन्तु विनिमय-दर की स्थिरता तथा भारतीय व्यापारिक शेष में १६०८ के बाद अनुकूलता आने के कारण आलोचकों की आवाज पर विशेष ध्यान न दिया गया क्योंकि विनिमय-दर प्रति रुपया १ शि० ४ पेन्स पर स्थिर हो गई थी। फिर भी कुछ लोगों ने सामूहिक रूप में लन्दन के भारत कार्यालय की भारत के प्रति शासकीय नीति की कड़ी आलोचना की जो मुख्यतः निम्नलिखित बातों के सम्बन्ध में थी —

१ स्वर्ण-निधि को भारत में रखने के बदले उसका उपयोग इंगलैंड में स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के विनियोग में किया जाना,

२ स्वर्ण-निधि में से रेलवे-व्यय के लिए स्वर्ण का विनियोग करना,

३ रुपया की टंकण-सुविधा के बहाने स्वर्ण-निधि का कुछ भाग चाँदी में रखा जाना

४ पत्र-चलन निधि का कुछ भाग भारत से इंगलैंड में स्थानान्तरित करना तथा

५ भारत को स्वर्ण-निर्यात न हो इस दृष्टि से परिषद-बिलो का ऐसी दर पर असीमित विक्रय करना, जिसके कारण भारत में रुपया ही केवल चलन में रहे जो अधिक मात्रा में हो तथा जिसमें भारतीय कीमतें ऊँची बनी रहें।

चेम्बरलेन समिति (१९१३)

इस नीति के परिणामस्वरूप भारत से १८६८ से १९१३ तक ७०० लाख पौंड से अधिक स्वर्ण इंगलैंड में जा चुका था जो कि इङ्गलैंड में कम ब्याज पर अंग्रेजी बैंकों एवं व्यापारियों को ऋण के रूप में दिया जाता था और दूसरी ओर भारत में मुद्रा की कमी रहती थी। इन आलोचनाओं की ओर अधिक काल तक दुर्लक्ष किया जाना भारत सरकार को असम्भव-सा प्रतीत होने

लगा। अत १९१३ मे सर ऑस्टिन चेम्बरलेन की अध्यक्षता मे एक नई समिति नियुक्त की गई। इस समिति के सामने निम्न बाते विचारार्थ रखी गई थी —

१. भारत सरकार के सामान्य शेषो के स्थान एव व्यवस्था सम्बन्धी जाँच,

२ फाउलर समिति की सिफारिशो के बाद रुपये की विनिमय-दर स्थिर रखने के लिए भारत सरकार एव भारत-सचिव ने जो उपाय किये उनकी और विशेषत स्वर्ण-निधि एव पत्र-चलन-निधि के स्थान और उपयोग की जाँच तथा जो पद्धति १८९८ के बाद काम मे लाई गई वह भारत के लिए लाभदायक थी अथवा नही इस सम्बन्ध मे सिफारिश करना, तथा

३ अन्य बातें।[1]

समिति की सिफारिशो की मुख्य बात साराश रूप मे निम्नलिखित है —

१ उन्होने कहा कि अब समय आ गया है जब यह निश्चित हो जाना चाहिए कि भारतीय चलन-पद्धति का लक्ष्य क्या है। १८९८ की समिति की सिफारिश के अनुसार स्वर्णमान की यशस्विता के लिए स्वर्ण-चलन आवश्यक है। परन्तु पिछले १५ वर्ष के इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वर्ण-चलन के बिना स्वर्णमान की स्थापना हो गई है।

२ इसलिए देश म स्वर्ण-चलन को प्रोत्साहन देना भारत के लिए हितकर न होगा और इसलिए स्वण-टकशाला की भी कोई आवश्यकता नही है।

३ देश के चलन की पुष्टि के लिए पर्याप्त मात्रा मे स्वर्ण और स्टर्लिंग रहना चाहिए जिससे विदेशी विनिमय मे सुविधा होगी।

४ इस समय स्वर्णमान निधि के लिए निश्चित सीमा नही लगाई जा सकती किन्तु रुपयो के टकण मे जो लाभ हो वह सब इस निधि म जमा किया जाय। किन्तु इस निधि में अभी स्वर्ण की अधिक आवश्यकता है जो १५० लाख पौड तक हो, इसके बाद आधा निधि स्वर्ण मे रखा जाय।

५ यह स्वर्णमान निधि इङ्गलैण्ड मे ही रखा जाय तथा सरकार यह जिम्मेदारी ले कि स्टर्लिङ्ग की माँग बढने पर वह भारत-सचिव पर $15\frac{29}{32}$ पेंस प्रति रुपये की दर से प्रति-परिषद-बिल बेचे।

६ भारतीय पत्र-चलन अधिक लोचदार बनाया जाय।

७ स्वणमान की रजत-शाखा का अन्त किया जाय और उसकी सम्पूर्ण राशि इङ्गलैंड मे रखी जाय।

---

1 *Indian Currency and Exchange* by Bhatnagar, Page 51.

८ भारत कार्यालय की राजस्व-समिति मे दो भारतीय सभासद हो।

उन्होंने यह भी कहा कि रुपये के विनिमय मूल्य मे स्थिरता रहना भारत के लिए अति आवश्यक है। इसलिए जो मार्ग अपनाय गये वे १८९८ की समिति की सिफारिशो के खिलाफ होते हुए भी आवश्यक थे जिन्होंने १९०७-०८ के सकट मे अपनी सफलता का परिचय दिया।

इन सिफारिशो से स्पष्ट है कि समिति ने स्वर्ण विनिमय-मान की गत १५ वर्षो की कार्य प्रणाली पर स्वीकृति की मोहर लगादी। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट २४ फरवरी १९१४ को पेश की जो कि सरकार के विचाराधीन थी। इसी समय १९१४ म प्रथम विश्व-युद्ध प्रारम्भ हुआ तथा भारत और इङ्गलैण्ड के सामने नई-नई एव जटिल जटिल समस्याऐं उपस्थित हुईं। फलत समिति की सिफारिशो पर कोई कार्यवाही न हो सकी।

साराश

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने जब भारत का शासन संभाला तब भारत मे सोने तथा चांदी के ६६४ सिक्के थे जिनका परिवतन शुद्धता के अनुसार सर्राफ करते थे। इस कठिनाई को दूर करने के लिए १८१८ मे मद्रास मे स्वर्ण तथा चांदी के नये सिक्के चलाये गये। १८३५ मे १७० ग्रेन का ११/१२ शुद्धता वाला चांदी का रुपया भारत मे वैधानिक प्रमाणित सिक्का घोषित किया गया। इस प्रकार १८३५ मे भारत मे रजत प्रमाप को अपनाया गया जो १८७१ तक ठीक कार्य करता रहा। इसके बाद विश्व की परिस्थिति के कारण रुपये का स्वर्ण मूल्य जो १८७१ मे २ शि० प्रति रुपया था वह गिरकर १८९२ मे १ शि० २ पेंस रह गया। इसके निम्न कारण थे —

(१) १८४८ में प्राप्त आस्ट्रेलिया और केलिफोर्निया की स्वर्ण खानो से स्वर्ण मिलना बन्द होना।

(२) नेवादा (अमेरिका) की नई रजत खानो से चाँदी की पूर्ति बढना।

(३) १८७०-७१ मे जर्मनी की फ्रास पर जीत के कारण जर्मनी ने स्वर्ण प्रमाप अपनाकर रजत प्रमाप का त्याग किया।

(४) शीशे (Lead) से चांदी का निकलना।

(५) अमेरिका के शेरमन एक्ट मे सशोधन।

इससे भारत सरकार को हानि होने लगी क्योंकि रुपये का स्वर्ण मूल्य गिरने से—

(१) भारत सरकार को गृह-व्यय के लिए इङ्गलैण्ड को अधिक रुपये देने पड़ते थे इस हेतु प्रति वर्ष कर बढ़ाना असम्भव था।

(२) भारतीय आयात कम हो गये और निर्यात बढ़ने लगे जो विदेशी व्यापारियों को खटकने लगा। विनिमय-दर की अनिश्चितता के कारण व्यापार भी अनिश्चितता आ गई,

(३) भारत में ब्रिटिश पूँजी का आयात रुक गया।

(४) भारत में जो अंग्रेज नौकर थे उन्होंने वेतन वृद्धि की माँग की।

(५) विदेशी पूँजी न आने से औद्योगिक विकास रुक गया।

इस स्थिति को सुलझाने के लिए १८९२ में हर्शल समिति की नियुक्ति हुई जिसने निम्न सिफारिशें कीं—

(१) रुपये का स्वतन्त्र टंकण न रहे किन्तु वह असीमित वैधानिक ग्राह्य रहे।

(२) स्वर्ण मुद्राएँ सरकारी खजाने में १ शि० ४ पें० की दर पर ली जायें। इसको स्वीकार किया गया तथा १८९३ के टंकण-अधिनियम के अनुसार देश में अपूर्ण द्विधातुमान अपनाया गया।

फलस्वरूप मुद्रामंडी में रुपयों की कमी होने लगी। इस स्थिति पर विचार करने एवं सुझाव देने के लिए १८९७ में फाउलर समिति की नियुक्ति हुई। इस समिति के सामने तीन प्रस्ताव विचारार्थ थे परन्तु समिति ने उनको ठुकरा दिया और सिफारिशें की कि—

(१) देश में स्वर्ण मुद्राएँ चलाई जायँ जिनकी स्वतन्त्र ढलाई हो।

(२) चाँदी की मुद्रा असीमित विधिग्राह्य रहे।

(३) विनिमय-दर १ शि० ४ पें० निश्चित की जाय तथा इस दर पर भारत सरकार स्वर्ण के बदले रुपये देने के लिए बाध्य रहे परन्तु रुपये के बदले स्वर्ण देने के लिए बाध्य न हो।

(४) रुपये की ढलाई सरकार तब तक न करे जब तक स्वर्ण जनता की आवश्यकता से अधिक न हो। ऐसी ढलाई से होने वाला लाभ 'स्वर्णनिधि' में भारत में जमा किया जाय।

सरकार ने इन सिफारिशों को मान लिया तथा १८९९ के टंकण-अधिनियम द्वारा रुपये की विनिमय दर १ शि० ६ पें० निश्चित की गई। परन्तु इन पर कार्यवाही निराले ढंग से हुई जिससे १९०७ में स्वर्णमान के स्थान पर स्वर्ण विनिमय-मान की स्थापना हो गई।

परन्तु १९०८ से परिस्थिति ने कुछ ऐसी करवट ली कि इस पद्धति के विरुद्ध आलोचनाएँ होने लगी और भारत सरकार और भारत-सचिव में गति-अवरोध हो गया। फलत १९१३ में चेम्बरलेन समिति की नियुक्ति की गई। समिति ने निम्न प्रमुख सिफारिशें कीं—

(१) देश में स्वर्ण-विनिमय मान ही हो।

(२) स्वर्ण-मुद्राओं का टंकण भारत में न हो।

(३) स्वर्णनिधि की कोई निश्चित सीमा न हो तथा इसे इङ्गलैण्ड में ही रखा जाय।

(४) स्टर्लिंग की माग बढ़ने पर सरकार विनिमयदर की स्थिरता के लिए प्रति-परिषद-बिल १५$\frac{29}{32}$ पेंस प्रति रुपये की दर से देदे।

(५) भारतीय पत्र चलन अधिक लोचदार बनाया जाय।

इस प्रकार चेम्बरलेन समिति ने सरकार द्वारा अपनाई गई कार्यप्रणाली पर स्वीकृति की मुहर लगादी। ये सिफारिशें सरकार के सामने विचारार्थ थीं कि प्रथम विश्व युद्ध आरम्भ हो गया और इस पर कोई कार्यवाही न हो सकी।

अध्याय १३

भारतीय चलन का इतिहास (२)

(१९१४ से १९३९ तक)

युद्ध-काल

युद्ध के आधार तो पहिले से ही स्पष्ट होने लगे थे जिससे उस समय परिस्थिति को काबू मे रखने के लिए भारत सरकार एव भारत-सचिव ने उपाय सोच रखे थे। ऐसी अवस्था मे वे विनिमय-दर को स्थिर रखने के लिए परिषद एव प्रति-परिषद-बिल बेचने को तत्पर थे। ४ अगस्त १९१४ को इङ्गलैण्ड ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध का ऐलान किया तो एकदम विनिमय-दर मे गिरावट दिखाई दी क्योंकि इङ्गलैण्ड उस समय मौद्रिक जगत मे एक साहूकार देश था और वहाँ के लोगो ने अपने ऋणो का भुगतान दूसरे देशो से माँगना शुरू किया।

प्रारम्भ मे हमारे व्यापार को धक्का लगा और व्यापारिक शिथिलता आ गई, विनिमय-दर मे भी कमजोरी आई तथा भारतीय जनता ने अपनी-अपनी जमा रकमे (deposits) बैंको से निकालना शुरू किया, पत्र-मुद्रा को भी लोग परिवर्तित कराने लगे तथा स्वर्ण को चाहने लगे। इस कमजोरी को दूर करने के लिए भारतीय डाकखानो ने जमा रकमे फौरन ही वापिस कीं, पत्र-मुद्राओ का परिवर्तन भी चालू रखा तथा विनिमय-दर की कमजोरी को दूर करने के लिए प्रति-परिषद-बिल भी बेचना आरम्भ किया। पहिले दो महीने मे ही करीब ६ करोड रुपयो की जमा रकमे निकाली गई और ३१ जुलाई १९१४ से मार्च १९१५ तक लगभग १० करोड रुपये की पत्र-मुद्राओ का परिवर्तन हुआ तथा इस परिमाण मे पत्र-मुद्रा-चलन कम हो गया। इसी के साथ ६ अगस्त १९१४ से २८ जनवरी १९१५ तक ८७,०७,००० पौंड के प्रति-परिषद-बिलो का भारत मे विक्रय हुआ। पत्र-मुद्रा के बदले स्वर्ण की माँग बढती ही गई और केवल १ अगस्त १९१४ से ४ अगस्त १९१४ तक १८ लाख पौंड मूल्य के स्वर्ण की हानि हुई जिसके कारण ५ अगस्त १९१४ से स्वर्ण का नोटो के

बदले देना भारत सरकार ने बन्द कर दिया[1] और चाँदी के रुपये देने लगी।

इसके बाद स्थिति सुधरने लगी और जनता को हमारी चलन पद्धति में विश्वास हो आया जिससे इस सकट का सामना सफलता से हो सका।

स्वर्ण विनिमय का अन्त—परन्तु १९१६ के अन्तिम महीनों में जो परिस्थिति उत्पन्न हुई वह अच्छे-अच्छे राजनीतिज्ञों के लिए भी कल्पनातीत थी। विनिमय-दर कुछ महीनों तक कमजोर रहने के बाद ठीक होने लगी और युद्ध के ६ महीने बाद ही काफी मजबूत हो गई, जिसके अनेक कारण थे —

१. इङ्गलैंड तथा दूसरे यूरोपीय देश जो माल भारत में युद्धपूर्व भेजते थे वह अब नहीं भेज सकते थे। फलस्वरूप हमारा आयात कम हो गया था। दूसरी ओर मित्रराष्ट्रों को कच्चा माल तथा धान्यादि की आवश्यकता के लिए भारत से माल मँगाना पड़ता था। अत हमारे निर्यात बढ़ गये और व्यापारिक शेष हमारे अनुकूल हुआ। इससे हमारे रुपये की माँग विदेशों में बढ़ी।

२. इङ्गलैंड की ओर से भुगतान करने की जिम्मेवारी भी भारत सरकार पर आई और इस प्रकार का भुगतान १९१४ से १९१९ तक कुल २४०० लाख पौंड का किया गया। इसके अतिरिक्त अन्य युद्ध सामग्री का भी बहुत परिमाण में क्रय करने की जिम्मेवारी भारत सरकार पर थी। इससे भारत सरकार को इङ्गलैंड से अधिक पावना हो गया अर्थात् हमारा खाता-शेष हमारे अनुकूल था जिससे रुपयों की माँग बढ़ गई थी।

३ भारत में पत्र-चलन अधिक हो जाने से, तथा कच्चे माल की माँग बढ़ जाने से हमारी कीमतें ऊँची हो गई, जिससे हमारा निर्यात् वस्तुओं में अधिक न बढ़ने हुए भी निर्यात का मूल्य बढ़ गया। इसका प्रभाव भी भुगतान शेष हमारे अनुकूल होने में रहा। इन दोनों कारणों से हमारी मुद्रा की माँग बढ़ती गई।

४ इन सब का भुगतान करने के लिए भारत-सचिव से अधिकाधिक परिषद्-बिल माँगे जाने लगे और उनका भुगतान भारत में करने के लिए अधिकाधिक रुपयों की आवश्यकता थी। इसलिए भारत-सचिव को भारत सरकार की ओर से रुपयों के टकण के लिए बड़ी मात्रा में चाँदी खरीदने की आवश्यकता हुई। इससे चाँदी का मूल्य बढ़ने लगा। चाँदी का मूल्य बढ़ने से भारत सरकार का रुपयों के टकण से होने वाला लाभ कम होता गया।

---

[1] *Indian Currency, Banking and Exchange* by Chhabalani, p. 91.

५ इसके सिवा चाँदी का मूल्य बढाने के लिए अन्य परिस्थिति भी कारण हुई।

स्वर्ण एवं चाँदी के आयात से साधारण स्थिति मे भारतीय अनुकूल व्यापारिक शेष का सन्तुलन हो जाता था किन्तु युद्धजन्य स्थिति के कारण इन धातुओं का आयात न हो सका क्योंकि :—

१ स्वर्ण को प्राप्त करने मे अनेक कठिनाइयाँ प्रतीत होन लगी क्योंकि अभी तक इङ्गलैण्ड मे स्वर्ण बाजार खुला होने से स्वर्ण प्राप्त करने के लिए भारत को कोई कठिनाई न थी किन्तु स्वर्ण के निर्यात पर प्रतिबन्ध लग जाने से अब यहाँ से स्वर्ण प्राप्त करना सम्भव न था।

२. अन्य राष्ट्रो ने भी अपने स्वर्ण सचय को युद्धोपभोग के लिए रखने के लिए स्वर्ण-निर्यात पर रोक लगा दी। १९१७-१८ मे कुछ स्वर्ण भारत मे अवश्य आया लेकिन उस समय विनिमय-बाजार मे रुपयों की कमी के कारण अमेरिका तथा जापान को स्वर्ण भेजकर ही अपना काम करना पडा। स्वर्ण न मिलने के कारण चाँदी के लिए माँग बढ गई, जो १९१७ तक अनियन्त्रित रही।

३ विभिन्न देशो की केन्द्रीय बैंको को अपने-अपने कानून के अनुसार अपने निधि का कुछ भाग चाँदी मे रखना पडता था, सामान्य परिस्थिति मे यह न रखा गया। किन्तु युद्ध-काल मे अपनी परिस्थिति की मजबूती के लिए प्रत्येक बैंक अपने निधि मे चाँदी दिखाने की कोशिश करने लगा और चाँदी खरीदने लगा, जिससे चाँदी के लिए माँग बढ गई।

४ १९१४ से १९१७ तक चीन चाँदी को बेचता था, किन्तु अब उसने भी चाँदी खरीदना शुरू किया क्योंकि यहाँ के दो बडे-बडे प्रान्तों ने चाँदी को मौद्रिक धातु के रूप मे ग्रहण किया। फलत चाँदी की माँग और भी बढ गई।

५. जहाँ एक ओर चाँदी के लिए माँग बढ रही थी, दूसरी ओर चाँदी का उत्पादन कम हो रहा था क्योंकि कैनाडा की कोबाल्ट की खानों से चाँदी कम निकलती थी। इसी प्रकार चाँदी के बडा उत्पादक मैक्सिको मे गृह युद्ध के कारण चाँदी की खानो का उत्पादन भी बन्द हो गया, जिसमे चाँदी की विश्वपूर्ति प्रभावित हुई।

इन कारणो से चाँदी का मूल्य बढता ही गया तथा भारत सरकार को रुपयो के टकण से अब कोई लाभ न रहा। साथ ही विनिमय-दर १ शि० ४ पेंस पर स्थिर रखना असम्भव हो गया तथा विनिमय-दर का अपना मार्ग

लेने के लिए मुक्त छोड दिया गया। अत विनिमय दर चादी के मूल्य के साथ तेजी से बढ़ने लगी। उसकी बढती निम्न प्रकार हुई —

वर्ष	चादी का मूल्य	विनिमय दर
१९१५	२७$\frac{1}{2}$ पेंस प्रति औंस	१६ पेन्स प्रति रुपया
१९१६ अप्रेल	५$\frac{2}{8}$	१६
१९१६ दिसम्बर	७	१८
१९१७ अगस्त	४३	१७
१९१७ सितम्बर	५५	१७
१९१८ मई	५८	२०
१९१९ १७ दिसम्बर	७-	२८

युद्धकालीन सरकारी प्रयत्न

इस परिस्थिति का काबू में करने की दृष्टि से भारत सरकार ने निम्न प्रयत्न किये —

(१) चादी के वैयक्तिक आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिये जिससे चादी की मांग का प्रभाव कुछ कम हो और भारत सरकार ने अमेरिका से चादी खरीदने का करार किया। इस करार से भारत में पत्र मुद्रा का रुपयों में परिवर्तनशीलता रखने में बड़ी सहायता मिली अन्यथा यहा पर भी सकटमय स्थिति हो जाती तथा हमारा मौद्रिक ढाचा नस्तनाबूद हो जाता।

(२) चादी तथा सोने की मुद्राओं को निर्यात से रोकने के लिए अथवा अन्य उपयोग से रोकने के लिए २९ जून १९१७ से चादी तथा सोने के सिक्के गलाना अथवा मुद्रा के अतिरिक्त उनका उपयोग करना अवैधानिक घोषित किया गया।

(३) चादी की मितव्ययिता की दृष्टि से २॥) रु० तथा १ रु० की पत्र मुद्राएँ चलाई गई तथा १ अप्रैल १९१८ से निकेल की दुअन्निया आदि चलाई गई। इनको सितम्बर १९१९ से विधान द्वारा स्वीकृत किया गया लेकिन ये केवल १ रुपये तक ही विधिग्राह्य थी।

(४) रुपयों की भारत में कमी होने से भारत सचिव ने परिषद बिलो की बिक्री भी स्थगित कर दी तथा वे केवल कुछ ऐसे व्यापारियों को बेचे जाते थे जो केवल युद्ध के लिए आवश्यक सामग्री का आयात करते थे। अर्थात विनिमय नियन्त्रण लगाया गया।

(५) १६१७ मे जब चाँदी का मूल्य ४३ पेंस प्रति औस हो गया तब भारत सरकार को रुपयो के ढालने से कोई लाभ न रहा अत १६१७ मे विनिमय-दर १७ पेंस प्रति रुपया करदी गई। परन्तु जब इससे भी काम न चला तब भारत-सचिव ने घोषणा की कि रुपये की विनिमय-दर चाँदी के स्टर्लिंग मूल्य पर आधारित करदी गई है जिससे चाँदी का स्टर्लिंग मूल्य जैसे-जैसे बढता गया वैसे-वैसे रुपये की विनिमय-दर भी बढती गई।[1]

(६) चाँदी की कमी को दूर करने के लिए स्वर्ण को प्राप्त कर उसका उपयोग भी भारत सरकार को करना पडा। स्वर्ण की प्राप्ति के लिए १६१७ मे एक अध्यादेश निकाला गया जिसके अनुसार सरकार भारत मे होने वाला स्वर्ण का आयात रुपये के स्टर्लिंग मूल्य की दर से खरीद लेती थी, जो पत्र-चलन-निधि मे पत्र-मुद्रा के चलन के अधिक प्रसार के हेतु सुरक्षा के लिए रखा जाता था।

(७) १६१८ मे मौद्रिक कमी को दूर करने के लिए इस सोने से १५ रु० मूल्य की स्वर्ण मोहरे भी ढाली जाने लगी जिसके लिए शाही टकसाला की एक शाखा बम्बई मे स्थापित की गई जो अप्रैल १६१६ मे बन्द कर दी गई। इसमे मोहरें और सॉवरेन मिलाकर कुल ३४,०५,००० स्वर्ण-मुद्राएँ ढाली गई थी।

(८) परिषद-बिलो के भुगतान के लिए भारत मे अधिकाधिक पत्र-मुद्रा का प्रसार होने लगा तथा अरक्षित पत्र-चलन की मर्यादा १४ करोड से बढते-बढते १२० करोड हो गई थी। ये नोट परिवर्तनशील थे और इनका रुपयो मे परिवर्तन भी होता रहा किन्तु शासकीय कठिनाइयो की वजह से १६१६ मे पत्र-मुद्रा का परिवर्तन भी मर्यादित कर दिया गया। इससे कई जगह पत्र-मुद्रा बट्टे से भी बेची गई। इस प्रकार मार्च १६१४ मे जहाँ ६६'१२ लाख रुपये की पत्र-मुद्राएँ चलन मे थी वहाँ नवम्बर १६१६ मे १७६ ६७ लाख रुपये की पत्र-मुद्राओ का चलन हो गया।

(९) साथ ही सरकार ने अपने कम खर्च करने तथा नये-नये करो द्वारा एव जनता से ऋण लेकर अपनी आय बढाने के लिए भी प्रयत्न किये जिससे सरकारी मौद्रिक आवश्यकताएँ पूरी होती रहे।

१६१७ से विनिमय-दर क्रमश बढती गई जिसका हमारे व्यापार पर क्या

---

[1] देखिए तालिका पृष्ठ १७७।

प्रभाव हुआ, यह देखना है। सामान्यतः विनिमय-दर की वृद्धि से आयात बढते हैं तथा निर्यात कम होते हैं। किन्तु हमारे यहाँ के कृषिजन्य पदार्थों की माँग बढती हुई कीमतो के होते हुए भी युद्ध के कारण अधिक ही रही और निर्यात-व्यापार पर कोई प्रभाव नही हुआ। फलत. हमारा व्यापारिक शेष युद्ध के अन्तिम तीन वर्षों मे अनुकूल ही रहा। इसके भुगतान के लिए भारत-सचिव परिषद-बिल बेचते थे और उनका भुगतान भारत मे रुपयो तथा पत्र मुद्राओ मे होता था। इसलिए हमारे यहाँ की टकसालाओ मे दिन-रात रुपये ढलते थे और पत्र-मुद्रा का प्रसार भी बहुत बढ चुका था और उसकी परिवर्तनशीलता भी मर्यादित कर दी गई थी क्योकि जो रुपये हमारे किसानो के हाथ पडते थे उनके या तो वे गहने बनवाते थे या उन्हे भूमिगत करते थे। इस कारण भारत सरकार को अनेक कठिनाइयाँ प्रतीत होने लगी और हमारी चलन-पद्धति पूर्णतया विचलित होने को ही थी कि भारत के सौभाग्य से १९१८ मे युद्ध-समाप्ति की घोषणा करदी गई। फलत अमेरिका, आस्ट्रेलिया, इङ्गलैण्ड आदि युद्धग्रस्त देशो ने स्वर्ण-निर्यात से प्रतिबन्ध उठा लिये तथा भारत मे स्वर्ण आने लगा और हमारा आर्थिक ढाँचा टूटने से बच गया।

युद्धोपरान्त

बेंबिंगटन स्मिथ समिति—युद्ध समाप्त होते ही विनिमय-दर को स्थिर बनाने के लिए ३० मार्च १९१९ को बेबिंगटन स्मिथ समिति की नियुक्ति की गई। इस समिति का कार्य था —

भारतीय चलन तथा विनिमय-पद्धति पर युद्ध का प्रभाव आकना,

भारतीय पत्र-चलन की परिस्थिति देखना,

भारतीय व्यापार की आवश्यकतानुसार चलन मे हेर-फेर की सिफारिश करना, तथा

स्वर्ण-विनिमय-मान की स्थिरता के लिए सुझाव रखना। इस कार्य की मर्यादा मे ही उन्होने स्वर्ण-विनिमय-मान को स्थायी रखने के लिए फरवरी १९२० मे अपनी रिपोर्ट मे निम्न सिफारिशे की —

१ रुपय की विनिमय-दर २४ ग्रेन स्वर्ण हो, न कि २४ पेन्स स्टर्लिंग, क्योकि इस काल म स्टर्लिंग, जो इङ्गलैंड की पत्र-मुद्रा थी, उसका स्वर्ण-मूल्य गिर रहा था। इस दर से सॉवरेन की कीमत पहिले की अपेक्षा ५ रुपये घट कर १० रुपये होती। ऐसा करने का एकमात्र कारण यही बताया गया कि स्टर्लिंग का स्वर्ण-मूल्य कितना गिरेगा यह निश्चित नहीं है और भारतीय मुद्रा के

विनिमय मूल्य की स्थिरता के लिए यह आवश्यक है कि उसका सम्बन्ध किसी ऐसी वस्तु से जोडा जाय जिसका मूल्य स्थायी हो और ऐसी वस्तु केवल स्वर्ण ही है। इस प्रकार विनिमय-दर की स्थिरता के लिए यह सम्बन्ध जोडा गया। इस प्रकार रुपये का स्वर्ण-मूल्य ११ ३०००१६ ग्रेन होता है।

२ भारतीय चलन की कार्य-पद्धति स्वयपूर्ण (automatic) बनाई जाय।

३. सरकार पर रुपयो का परिवर्तन सॉवरेन मे करने की जिम्मेवारी न रहे।

४ स्वर्ण के आयात-निर्यात से प्रतिबन्ध हटा लिये जायँ।

५ चाँदी के आयात से प्रतिबन्ध हटा लिया जाय तथा आयात-कर भी, किन्तु चाँदी के निर्यात पर कुछ समय के लिए प्रतिबन्ध रहे।

६ विनिमय की कमजोरी की दशा मे व्यापारिक मांग की पूर्ति के लिए प्रति-परिषद-बिल बेचे जायँ।

७ स्वर्ण-मान-निधि की राशि के लिए सीमा न हो और इस निधि का पर्याप्त भाग विनियोग किया जाय।

८ पत्र-चलन पद्धति अधिक लोचदार बनाई जाय तथा किसी प्रकार उसकी परिवर्तनशीलता रखी जाय।

९ मौसमी मांग की पूर्ति के लिए निर्यात-बिलो के आधार पर ५ करोड रुपये की अधिक पत्र-मुद्रा चलाई जाय।

१०. भारत सरकार भारत-सचिव की पूर्व अनुमति के बिना साप्ताहिक प्रति-परिषद-बिलो की बिक्री की रकम घोषित करे।

११ सरकार जनता को वही मुद्रा देने का यत्न करे जिसकी मांग है, चाहे वह रुपया पत्र-मुद्रा अथवा स्वर्ण हो। किन्तु जहाँ तक सम्भव हो स्वर्ण को सरकारी निधि मे ही रखा जाय जिससे वह समय पडने पर विदेशी भुगतान के काम आ सके।

१२ शाही टकसाला की बम्बई शाखा पुन स्थापित हो जिसमे सॉवरेन तथा अर्धसॉवरेन ढाले जायें और जनता को भी स्वर्ण को इन मुद्राओ मे परिवर्तन कराने के लिए सुविधाएँ दी जायें।

१३ नई दर की स्थापना के बाद सॉवरेन का मूल्य १५ रु० से १० रु० हो जायगा इसलिए सरकार यह घोषणा करे कि अमुक तिथि तक सॉवरेन का पुराने दर (प्रति सॉवरेन १५ रु०) पर परिवर्तन हो सकेगा। इसी प्रकार

का अवसर उनको भी दिया जाय जिनके पास स्वर्ण मोहरे है। इसके बाद उनका टकण न हो।

१४. सॉवरेन के बदले रुपये देने की जिम्मेदारी सरकार से हटा ली जाय।

१५ अरक्षित पत्र-चलन १२० करोड रुपये ही रहे किन्तु अरक्षित भाग मे केवल २० करोड रुपये की भारत सरकार की प्रतिभूतियाँ रहे तथा १० करोड उन देशो मे विनियोग किये जायँ जो ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत हो और शेष अल्पकालीन प्रतिभूतियाँ हो जिनकी अवधि एक वर्ष से अधिक न हो।

इन सिफारिशो को स्वीकार कर लिया गया और २१ जून १९२० को सॉवरेन और अर्धसॉवरेन की विधिग्राह्यता हटा ली गई। १९२० मे भारतीय टक-विधान का संशोधन हुआ तथा स्वर्ण के आयात निर्यात और चाँदी के आयात सम्बन्धी प्रतिबन्धो को रद्द किया गया। पत्र-मुद्रा की रुपयो मे परिवर्तनशीलता रखने के लिए भी सुविधाएँ दी गई। समिति की सिफारिश के अनुसार अरक्षित पत्र-चलन की मर्यादा भी १२० करोड रुपये कर दी गई तथा चलन नियन्त्रक (controller of currency) को अच्छे निर्यात-बिलो के बदले आवश्यकता के समय ५ करोड रुपये की पत्र-मुद्रा अधिक चलाने का अधिकार दिया गया।

सरकारी नीति की आलोचना

हम यह बता चुके हैं कि रुपये की विनिमय दर स्टर्लिंग मे न बाँधते हुए २ शि० स्वर्ण के बराबर करने की सिफारिश की गई थी। यह दर स्वीकार करने का परिणाम यह हुआ कि रुपये की दर, जो पहिले २ शि० ४ पेंस थी उससे बढकर २ शि० १०½ पेंस हो गई।

इस समिति के एकमेव भारतीय सदस्य दादाभाई दलाल ने दर की वृद्धि के विरुद्ध अपना मत प्रकट किया और कहा कि इस प्रकार की अनिश्चित परिस्थिति मे विनिमय-दर निश्चित करना एक भारी भूल होगी और यही श्रेयस्कर है कि अभी विनिमय-दर को मॉग एव पूर्ति पर ही निर्भर रहने दिया जाय। उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि विनिमय-दर मे, जो १६ पेंस प्रति रुपया निश्चित हो चुकी थी, किसी प्रकार परिवर्तन नहीं होना चाहिए क्योंकि परिस्थिति के सुधरते ही चाँदी का मूल्य और उसके साथ ही विनिमय-दर भी गिरने लगेगी। किन्तु इनके विरोधी मत पर कोई ध्यान न दिया गया और विनिमय-दर २ शि० स्वर्ण के बराबर निश्चित कर दी गई जो उस समय २ शि० १० पेंस के बराबर थी।

विनिमय-दर को ऊँचा करने का परिणाम होता है निर्यात मे कमी तथा आयात मे वृद्धि होना । जब तक युद्ध-काल था और हमारे यहाँ के माल की युद्ध-ग्रस्त देशो को आवश्यकता थी, तब तक हमारे विदेशी व्यापार पर उसका प्रभाव न हुआ । किन्तु अब लडाई खतम हो चुकी थी जिससे विदेशो मे हमारे माल की माँग कम हो गई एव निर्यात गिरने लगे थे । दूसरी ओर युद्ध-काल मे इङ्गलैण्ड आदि देश युद्ध के लिए आवश्यक सामग्री तैयार करने मे लगे हुए थे किन्तु अब उन्होंने भी अन्य माल तैयार करना प्रारम्भ कर दिया तथा अपने विदेशी बाजारो को, जोकि युद्ध-काल मे दूसरे देशो ने हस्तगत कर लिये थे, पुन प्राप्त करने की कोशिश करने लगे ।

दूसरी ओर भारतीय लोग विदेशी माल के लिए तडप रहे थे क्योकि उन्हे युद्धकाल के चार वर्षों मे वह नही मिल रहा था । दूसरे, बहुत से उपभोक्ता यहाँ पर वस्तुएँ महँगी होने के कारण अपनी आवश्यकताओ को, जहाँ तक सम्भव हो, स्थगित कर रहे थे क्योकि उनका विचार था कि शान्ति होते ही मूल्य-स्तर गिर जायगा । तीसरे, भारतीयो को विनिमय-दर की अनिश्चितता के कारण रुपये का विश्वास न रहा था । इससे वे यथासम्भव स्टर्लिंग खरीदना चाहते और यदि विनिमय-दर कम भी हो जाती तो वे स्टर्लिङ्ग बेचकर लाभ भी कमा सकते थे । ये तीनो कारण ऐसे थे जिनसे विदेशी मुद्रा की माँग बढ गई तथा सरकार को उसकी पूर्ति करना असम्भव हो गया ।

चौथे, जो अग्रेजी कारखाने भारत मे थे उन्होने युद्धकाल मे जो लाभ कमाया उसे इङ्गलैण्ड मे भेजना शुरू किया क्योकि ऊँची दर पर उनको इगलैण्ड मे अधिक स्टर्लिङ्ग मिल रहे थे ।

पाँचवे, विनिमय-दर ऊँची होने के कारण भारतीय व्यापारियो को अग्रेजी माल सस्ता पड रहा था इसलिए आगे भी यह दर बनी रहेगी इस आशा पर उन्होने इङ्गलैण्ड मे बडी मात्रा मे सामान खरीदने के आदेश दिये ।

इसका परिणाम यह हुआ कि स्टर्लिङ्ग की माँग बढती ही गई । जब यह माग विनिमय बैंक पूरी न कर सके तब उन्होने भारत सरकार से प्रति-परिषद-बिल माँगना शुरू किया तथा सरकार ने प्रति-परिषद-बिल बेचना । यहाँ पर यह बात ध्यान मे रखना जरूरी है कि जब विनिमय-दर कमजोर हो गई थी तभी प्रति-परिषद-बिल बेचने के लिए सिफारिश की गई थी । दूसरे, जनता की राय भी प्रति-परिषद-बिल इस समय बेचने के विरुद्ध थी क्योकि जनता का मत यह था कि भारतीय धन सचिति, जो इङ्गलैण्ड मे रखी गई है, उसे वैसा

ही रखा जाय। सरकार ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया, परिणामस्वरूप विनिमय-दर गिरने लगी और उसे २४ पेंस स्वर्ण रखना असम्भव हो गया। तब सरकार ने विनिमय दर २ शि० स्टर्लिंग पर स्थिर करने की कोशिश २० जून १९२० से की। इसमें भी जब सरकार असफल रही तो २७ सितम्बर १९२० से प्रति-परिषद-बिलो की बिक्री बन्द कर दी गयी क्योंकि स्टर्लिंग की माँग एक ओर तो असीमित थी और दूसरी ओर इसकी पूर्ति करने की सरकार की शक्ति सीमित थी। फलत विनिमय-दर, जो १ जनवरी १९२० को २७$\frac{3}{4}$ पेंस स्टर्लिंग थी, अगस्त १९२० मे केवल २२$\frac{1}{2}$ पेंस स्टर्लिंग रह गई तथा आगे भी गिरती गई। सरकार ने इन दो वर्षो में (१९१९ से १९२१ तक) कुल ५,५५,३२,००० स्टर्लिंग के प्रति परिषद-बिल बेचे। इतने स्टर्लिंग के बदले सरकार को कुल ४,७१४ लाख रुपये मिले किन्तु अगर यही दर १६ पेंस स्टर्लिंग होती तो उसे कुल ३१,४२,६६६ पौण्ड इतने रुपयों मे बेचने पड़ते जिससे इस नई दर से भारत सरकार की अनिश्चित एव अदूरदर्शी नीति के कारण १४० लाख पौण्ड की हानि हुई। कहा जाता है यह हानि भारत-सचिव की प्रेरणा एव दबाव के कारण ही हुई थी। २८ सितम्बर १९२० के बाद सरकार ने विनिमय-दर स्थिर रखने की कोशिश भी छोड दी और रुपये को व्यापारिक परिस्थिति के अनुसार विनिमय-दर प्राप्त करने के लिए स्वतन्त्र छोड दिया। यह दर १ अगस्त १९२१ को १६ पेंस स्टर्लिंग पर आ गई थी तथा स्वर्ण-मूल्य ११$\frac{5}{32}$ पेंस था। फिर भी वैधानिक दर वही २४ पेंस स्वर्ण बनी रही। इन सब अनिश्चित कार्यवाहियों से जनता का विश्वास सरकारी नीति से उठ गया। परिणामत व्यापारिक शिथिलता आई, आयातकर्ताओं को विनिमय-दर गिरने से हानि उठानी पडी एव निर्यातकर्ताओं के पास जो माल था उसके लिए कोई खरीदार भी न रहा।

जब दर १ शि० ४ पेंस स्टर्लिंग आ गई तब सरकार ने इससे नीची दर न होने देने के लिए कोशिश करना प्रारम्भ किया जिसके लिए कर-वृद्धि, छटनी, मुद्रा-सकोच आदि उपाय काम मे लाये गये। इससे सितम्बर १९२४ मे विनिमय-दर १ शि० ४ पेंस स्वर्ण अथवा १ शि० ६ पेंस स्टर्लिंग तक पहुँच गई और श्री दलाल ने जैसा अपना मत दिया था वही होकर रहा। इसके बाद सरकार का यही रुख रहा कि विनिमय-दर १ शि० ६ पेंस स्टर्लिंग मे ऊँची न जाने पाये क्योंकि यह दर करीब-करीब स्थिर रही। इस प्रकार १९२१ से १९२५ तक का समय घोर उदासी का समय रहा क्योंकि

सरकार रुपये की विनिमय-दर २ शि० स्वर्ण पर स्थिर रखने में अनेक प्रयत्न करने पर भी असफल रही।

इसके बाद अप्रेल १९२५ में स्टर्लिङ्ग और स्वर्ण का मूल्य समान हो गया अर्थात् १ शि० ६ पे० स्वर्ण १ शि० ६ पें० स्टर्लिंग के बराबर हो गया। तब सरकार से यह माँग की गई कि वह १ शि० ६ पें० दर को स्थायी कर ले।

हिल्टन यंग कमीशन (१९२५–१९३६)

१ जनवरी १९२५ को सरकार ने एक नई समिति की नियुक्ति सम्बन्धी अपना विचार प्रकट किया और २५ अगस्त १९२५ को हिल्टन यंग की अध्यक्षता में नई समिति की नियुक्ति हुई। इस समिति के चार सदस्य भारतीय थे तथा इसके अतिरिक्त इस समिति के सभासदों ने भारत में अनुसन्धान करके गवाहियों की जाँच के बाद अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की, यह इसकी विशेषताएँ थीं। समिति की रिपोर्ट १ जुलाई १९२६ को दी गई। यहाँ एक बात ध्यान में रखना जरूरी है कि जून १९२५ में विनिमय-दर १ शि० ६ पेंस स्वर्ण हो गई जो ८.४७५१ ग्रेन स्वर्ण के बराबर थी और लगभग १ वर्ष स्थिर रह चुकी थी। इस काल में इङ्गलैंड ने भी स्वर्णमान अपना लिया था और अन्य देशों के चलन में भी स्थिरता आ गई थी। समिति के विचारार्थ जो बात थीं उनमें से मुख्य बात निम्नलिखित थीं —

१ स्वर्ण-विनिमय-मान की कार्य-पद्धति का परीक्षण तथा स्थिर मान अपनाने सम्बन्धी योजना जिससे रुपये की विनिमय-दर स्थिर रखी जा सके,

२ चलन एवं बैंकिंग पद्धति का समन्वय (co-ordination) करने की योजना, तथा

३ उसको कार्यान्वित करने के लिए सुझाव।

उक्त आधार पर समिति ने अनेक गवाहियों का परीक्षण किया। इसी प्रकार भारतीय चलन एवं विनिमय नीति के अध्ययन के उपरान्त भारतीय चलन एवं विनिमय पद्धति के पुनर्गठन, चलन एवं बैंकिंग के समन्वय के हेतु अपनी सिफारिशें प्रस्तुत की, जो कुल ३१ थीं। उनमें से मुख्य सिफारिशें तीन विभागों के अन्तर्गत विभाजित की जा सकती हैं —

१ भारत के लिए चलन-पद्धति अपनाने सम्बन्धी सिफारिशें,

२ रुपया और स्वर्ण के बीच विनिमय के अनुपात सम्बन्धी सिफारिशें; तथा

३ चलन अधिकारी सम्बन्धी चुनाव अथवा चलन एवं बैंकिंग का समन्वय करने के हेतु केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव।

चलन-पद्धति के दोष

समिति ने भारतीय चलन-पद्धति के विवेचन के उपरान्त वर्तमान चलन पद्धति के दोष बताये। उन्होंने मौद्रिक मान अपनाने के सम्बन्ध में स्टर्लिंग-विनिमय-मान, स्वर्ण-विनिमय मान, स्वर्ण मुद्रा मान तथा स्वर्ण खण्ड-मान पर भी विचार किया। जिसमें पहिले तीन मान उन्होंने त्याग दिये तथा चौथा स्वर्ण-खण्ड मान, अपनाने की सिफारिश की। वर्तमान चलन पद्धति सम्बन्धी निम्न दोष बताये गये (ये दोष भारतीय स्वर्ण विनिमय-मान के हैं, दोष थे) —

१ **जटिल चलन-पद्धति**—चलन-पद्धति साधारण न होने से रुपये के मूल्य की स्थिरता का आधार आसानी से समझ में नहीं आता था क्योंकि इसमें चाँदी के रुपये तथा पत्रमुद्राएँ चलन में थीं। ये दोनों प्रकार की मुद्राएँ असीमित विधिग्राह्य थीं। इसके सिवा सावरेन (स्वर्ण मुद्रा) एक ऐसी मुद्रा थी जो विधिग्राह्य होते हुए भी चलन में नहीं थी। इसी प्रकार इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष उत्पन्न यह बतलाया कि रुपये का मूल्य चाँदी के मूल्य पर निर्भर होने से चाँदी की कीमत बढ़ते ही रुपया धातु के रूप में बिका जाने लगता है। यह विनिमय-दर की स्थिरता के लिए खतरनाक था।

२ **दोहरी निधि पद्धति**—जो निधि रखे जा रहे थे उनमें भी दोहरी पद्धति थी जैसे स्वर्णमान निधि तथा पत्र-चलन निधि। इसमें से पहला निधि रुपये की ढलाई से जो लाभ होता था उन लाभ से बनाया जाकर विनिमय-दर को स्थिर रखने के लिए उपयोग में आता था। इसी निधि में से भारत सचिव प्रति परिषद् बिलों की निधि का भुगतान करता था। दूसरा निधि पत्र-मुद्रा चलन की सुरक्षा के लिए रखा जाता था। हालांकि ये दोनों ही निधि अलग अलग थे परन्तु कभी कभी इनके मिल जाने का डर बना रहता था जिससे जनता को उनके उद्देश्यों को समझने में कठिनाई तथा उलझन होती थी।

३ **लोच एवं स्वयपूर्णता की कमी**—स्वर्ण विनिमय मान की कार्य पद्धति स्वयपूर्ण (automatic) नहीं थी और न चलन पद्धति लोचदार ही थी। इसमें बिना सरकारी हस्तक्षेप के व्यापारिक एवं औद्योगिक आवश्यकताओं के अनुसार मुद्रा की पूर्ति घटाई बढ़ाई नहीं जा सकती थी। इसके अलावा मुद्रा की पूर्ति बढ़ाने के लिए सरकार को प्रति परिषद् बिलों की बिक्री करना आवश्यक था जो तभी हो सकती थी जब भारत का व्यापारिक शेष हमारे प्रति-

कूल हो। इससे इस पद्धति में स्वयंपूर्ण कार्यशीलता के अभाव के साथ ही लोच का भी अभाव था।

४ साख एवं चलन पर दुहरा नियन्त्रण—सरकार चलन का नियन्त्रण करती थी तथा साख का नियन्त्रण इम्पीरियल बैंक द्वारा होता था जो देश के व्यापार एवं अर्थ-नियोजन की दृष्टि से अहितकर था।

५ चलन-पद्धति मे अनिश्चितता थी एव वह सरल नहीं थी, जिसकी वजह से उसमे जनता का विश्वास सम्पादित नही होता था।

इसलिए उन्होने निम्नलिखित सिफारिशें की जो १६ जनवरी १९२७ को भारत सरकार ने स्वीकार की :—

१ रुपये के विनिमय मूल्य को १८ पेंस पर स्थिर किया जाय।

२ चलन मे पत्र-मुद्रा तथा रुपये रहे और चलन के मूल्यो को स्थिर रखने के लिए उसे स्वर्ण मे परिवर्तनशील बनाया जाय। किन्तु यह इस रूप में हो कि इस स्वर्ण का मुद्रा के रूप मे उपयोग न हो सके। इस प्रकार इङ्गलंण्ड के नमूने पर भारत मे भी स्वर्ण-खण्ड-मान का सुझाव ही पेश किया गया, क्योंकि स्वर्ण-विनिमय-मान मे ऊपर बताये गये दोष थे तथा स्वर्ण मुद्रा-मान को अपनाने के लिए स्वर्ण का अभाव था।

३ चलन सम्बन्धी व्यवस्था किसी बडे बैंक के हाथ मे दी जाय और ऐसे बैंक की तुरन्त स्थापना की जाय जिसका नाम 'रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया' हो। यह बैंक जनता से निश्चित दरो पर स्वर्ण का क्रय-विक्रय करे।

४ सॉवरेन एव अर्धसॉवरेन को विधिग्राह्य न रखा जाय जिससे उसे लेने के लिए कोई बाध्य न किया जा सके। वैसे तो उनका चलन काफी पहिले ही बन्द हो चुका था।

५ एक रुपये की पत्र-मुद्रा फिर से चलाई जाय तथा उसे विधिग्राह्य बनाया जाय तथा चलन-विभाग को यह अधिकार हो कि वह बडी पत्र-मुद्रा के बदले रुपये की पत्र-मुद्रा अथवा चाहे तो रुपये भी दे। परन्तु एक रुपये की पत्र-मुद्रा के बदले चाँदी का रुपया न दिया जाय।

६ रुपये के लेन-देन के लिए लोग बाध्य बने रहे परन्तु जब तक उनकी सख्या काफी कम न हो जाय तब तक नये रुपये न ढाले जायँ।

७ पत्र-चलन-निधि तथा स्वर्णमान-निधि को मिलाकर उसमे स्वर्ण, रजत एव प्रतिभूतियो का परिमाण विधान द्वारा निश्चित कर दिया जाय।

समिति की राय थी कि इस निधि मे स्वर्ण एव स्वर्ण प्रतिभूतियाँ ४०% से कम न हो और शेष ६०% भारत सरकार की रुपया प्रतिभूतियों मे तथा व्यापारिक बिलो मे हो। भारत सरकार की रुपया-प्रतिभूतियाँ कुल निधि के २५% अथवा ५० करोड रुपये की, इनमे जो कम हो, उसके बराबर होनी चाहिए।

८. पत्र-चलन पद्धति मे परिवर्तन करने की दृष्टि से समिति ने सिफारिश की कि देश मे *आनुपातिक-निधि-पद्धति अपनाई जाय तथा निश्चित* प्रात्ययिक चलन पद्धति (fixed fiduciary system) का अन्त किया जाय।

९ बिलो तथा धनादेशो पर जो मुद्राक-कर (stamp duty) है उसे उठा दिया जाय।

१० *निधि की स्वर्ण एव चाँदी के अतिरिक्त रकम भारतीय बिलो तथा भारत सरकार की प्रतिभूतियो मे रखी जाय।*

सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने समिति की रिपोर्ट पर अपना विरोधी मत प्रकट किया तथा उन्होने अपनी राय यह दी कि विनिमय-दर १८ पेंस के बदले १६ पेंस—जो २० साल से रही है—होनी चाहिए क्योकि १८ पेंस की दर कृत्रिम रूप से स्थिर की गई है। उन्होने यह भी कहा कि "फाउलर समिति की राय भी पूर्णरूप से स्वर्णमान अपनाने के सम्बन्ध मे थी, परन्तु अग्रेजी *अर्थ-अधिकारियो ने उस उद्देश्य को कभी भी पूरा नही होने दिया और उन्होंने* सदा भारतीय मुद्रा के सम्बन्ध मे वही नीति अपनाई जो इङ्गलैंड के व्यापारियो या पूँजीपतियों के लिए लाभदायक थी, न कि इस देश की जनता के लिए। इस नीति-रीति का उद्देश्य होता आया था भारतवर्ष का दोहन करके इङ्गलैंड के मुँह मे धारोष्ण पहुँचा देना।"[1] इसलिए सर पुरुषोत्तमदास ने सुझाया कि अब भी ऐसे उपायो का अवलम्बन किया जाय जिससे आज नही तो कल स्वर्णमान का अवलम्बन पूर्णरूपेण हो सके। परन्तु उनके इस सुझाव पर कोई ध्यान नही दिया गया तथा रुपये की विनिमय-दर १८ पेंस पर ही निश्चित की गई। रिजर्व बैंक की स्थापना सम्बन्धी सुझाव पर सर पुरुषोत्तमदास का *यही मत था कि कोई नई सस्था खडी न करते हुए यह काम इम्पीरियल बैंक को ही दे दिया जाय।*

विनिमय-दर सम्बन्धी वाद-विवाद

विनिमय-दर १८ पेंस हो अथवा १६ पेंस, यह समस्या वादग्रस्त बन गई

---

[1] घनश्यामदास बिडला कृत 'रुपये की कहानी' पृ० १८५

थी। १८ पेंस वाली दर जनता को आपत्तिजनक ऊँची तथा एक अभूतपूर्व देशव्यापी आन्दोलन खड़ा हो गया जिसमें सरकार की ओर से १८ पेंस की दर सम्बन्धी दलीलें तथा जनता की ओर से १६ पेंस की दर सम्बन्धी दलीलें सामने रखी गईं, जिनको देखना परम आवश्यक है।

१६ पेंस के पक्ष में

१ १८ पेंस प्रति रुपये की दर नैसर्गिक न होते हुए कृत्रिम है तथा इसको दो वर्ष स्थिर रखने में सरकारी कार्यवाही का हाथ रहा है। अगर यह दर, जो ऊँची है, निश्चित की जाती है तो भारतीय निर्यात-व्यवसाय कम हो जायगा तथा आयात को प्रोत्साहन मिलेगा जो भारत के हित में नहीं है क्योंकि इसमें भारतवर्ष के उत्पादकों एवं करोड़ों किसानों को हानि थी—लाभ था केवल ब्रिटिश व्यवसायियों, आयातकर्ताओं तथा अंग्रेज कर्मचारियों को।

२ रुपये का मूल्य उसकी वास्तविक दर से अधिक निश्चित कर देने से भारतीय उद्योगों की हानि होगी क्योंकि वे विदेशों से स्पर्धा में टक्कर न ले सकेंगे। इसी प्रकार एशियाई बाजारों में भी भारतीय माल इङ्गलैंड, जापान आदि देशों के माल से टक्कर न ले सकेगा।

३ यहाँ की कीमतों का समायोजन अभी ठीक प्रकार से नहीं हुआ है बल्कि दाम अभी गिरने वाले हैं जो १२½ प्रतिशत तक ही गिरेंगे (क्योंकि १८ पेंस और १६ पेंस की दर में भी यही अन्तर है)। इसलिए अगर १६ पेंस की दर रखी जाय तो आर्थिक स्थिति में जो परिवर्तन होंगे वह नगण्य होंगे किन्तु १८ पेंस की दर अगर कर दी गई तो घोर आर्थिक संकट आए बिना न रहेगा। इसके अतिरिक्त १८ पेंस की दर से हमारे यहाँ का स्वर्ण-आयात रुक जायगा क्योंकि हमारे यहाँ के निर्यात की कीमतें ऊँची होने से हम विदेशी बाजारों में न जा सकेंगे जिससे हमारे यहाँ के उत्पादकों को तथा किसानों को भारी हानि होगी।

४ सरकार के अर्थ-विभाग को गृह-व्यय आदि के भुगतान में जो इङ्गलैण्ड को वार्षिक रकम देनी पड़ती है उसमें १६ पेंस की दर से अधिक हानि अवश्य होगी किन्तु उसकी पूर्ति सरकार की आय में वृद्धि द्वारा हो जायगी क्योंकि बढ़ते हुए निर्यात के कारण लोगों का लाभ बढ़ेगा तथा आय-कर और निराक्राम्य-कर (custom duties) की आय में वृद्धि हो जायगी। इस प्रकार १६ पेंस की दर निश्चित करने से सरकारी अर्थ-विभाग को भी कोई हानि नहीं होगी।

५ समिति के सभासदों का कहना था कि १६ पेंस की दर रखने से मजदूरी की दर बढ़ने से हानि होगी परन्तु यह बात बिलकुल गलत है क्योंकि मजदूरी की दर उसी समय काफी ऊँची थी तथा १६ पेंस की दर अगर निश्चित कर दी जाती तो उद्योगों की उन्नति होती जिससे बेकारी कम होती और देश के किसानों एवं उद्योगपतियों को अधिक लाभ होता।

६ *मजदूरी का अभी तक १८ पेंस की दर से मिलान अथवा समायोजन* (adjustment) नहीं हो पाया था। अगर यह दर निश्चित कर दी जायगी तो मजदूरी की दर कम करनी पड़ेगी जिसकी वजह से पूँजीपतियों और श्रमिकों में सद्भावना न रहते हुए झगड़ा पैदा हो जायगा तथा देश के आर्थिक ढाँचे को बुरी तरह धक्का लगेगा।

इन सब कारणों को बदलते हुए सर पुरुषोत्तमदास का कहना था कि जो दर गत २० वर्षों से अच्छी तरह काम कर रही है उसमें परिवर्तन करने की आवश्यकता ही क्या है, जबकि अन्य देशों में भी युद्धोपरान्त वही दर अपनाई गई है जो युद्धपूर्व थी। इस दर (१६ पेंस) पर हमारे स्वर्ण-मान-निधि में व्यापारिक शेष की प्रतिकूलावस्था में अधिक स्वर्ण भी नहीं जायगा। इसी प्रकार, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सरकार के अर्थ-विभाग को कोई हानि होने की सम्भावना नहीं है इसलिए १६ पेंस की दर ही निश्चित की जानी चाहिए। लेकिन अगर रुपये की दर १८ पेंस निश्चित की गई तो केवल हमारे आर्थिक ढाँचे को ही धक्का न लगेगा बल्कि ऐसे भीषण परिणाम होंगे, जिनकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती।

१८ पेंस के पक्ष में

१८ पेंस के पक्ष में तथा १६ पेंस के विरुद्ध समिति के अन्य सदस्यों की ओर से निम्न दलीलें पेश की गई —

१ उपर्युक्त विचारों के विरुद्ध यह दलील दी गई कि सर पुरुषोत्तमदास सारे देश के हित की दृष्टि न रखते हुए केवल बम्बई के उद्योगपतियों की दृष्टि से इन समस्या पर विचार करते हैं। देश के लिए वास्तव में न तो ऊँची दर और न नीची दर *हानिकारक है बल्कि विनिमय-दर में उच्चावचन होना ही* हानिकर अधिक है क्योंकि कोई भी दर—ऊँची या नीची—निश्चित की जाय फिर भी मजदूरी तथा कीमतों का मिलान अथवा समायोजन हो ही जाता है और इसलिए यह दर निश्चित करते समय सब प्रकार की सावधानी रखी जा रही है। उन्होंने यह भी कहा कि चूँकि यह दर दो वर्ष से स्थिर है इसलिए

मजदूरी और कीमतो का समायोजन इस दर पर हो चुका है और इसमे किसी भी प्रकार का परिवर्तन करना अब भारतीय व्यापार एव आर्थिक सगठन के लिए हानिकर होगा ।

२ युद्ध-काल के पूर्व जो आदेश विदेशो मे दिये गये होगे वह १६ पेंस की दर पर थे, यह मान भी लिया जाय तो भी ऐसे आदेशो की सख्या बहुत कम होगी क्योकि युद्ध के बाद जो आदेश दिये गये होगे वही अधिक होगे तथा उस समय दर भी १८ पेंस से अधिक न थी, इसलिए व्यापारियो को हानि होने की सम्भावना नही है ।

३ किसानो को ऊँची दर से १२½% की हानि होगी यह कहना भी ठीक नही है क्योकि कृषिजन्य वस्तुएँ आवश्यकता की वस्तुएँ होने के कारण उनकी माँग मे कोई भी परिवर्तन होना असम्भव है और इसलिए ऐसी वस्तुओ की कीमतो मे किसी प्रकार की गिरावट नही आयेगी ।

४. समिति सर पुरुषोत्तमदास के इस मत से असहमत थी कि १६ पेंस नैसर्गिक दर है तथा १८ पेंस कृत्रिम, क्योकि उनका कहना था कि १६१७ से १६२५ तक १६ पेंस की दर रही ही नही और जब भी यह दर रही, उसको कृत्रिमता से स्थिर करने के प्रयत्न होते रहे । अगर रुपये की दर स्वतन्त्र छोड दी जाती तो वह कहाँ तक स्थिर रहती यह कहना असम्भव है। इसलिए १८ पेंस की दर ही इस स्थिति मे रहना ठीक है क्योकि दर १६ पेंस कर देने से आन्तरिक वस्तुओ की कीमतें बढ जायँगी जो उपभोक्ताओ तथा मजदूरो की दृष्टि से हानिकर है ।

५ यदि दर १६ पेंस कर दी जाय तो सरकार के अर्थ-विभाग को अधिक हानि होगी और उसकी पूर्ति के लिए कर इत्यादि बढाने पड़ेंगे, क्योकि भारत सरकार को इस दर पर १८ पेंस की दर की अपेक्षा अधिक रुपये देने पड़ेंगे ।

यह दलील, जो हमारे अर्थ-सचिव सर बेसिल ब्लैकेट ने दी, बडी ही कामयाब रही जिसका उन्होने बडी ही चालाकी से उपयोग किया तथा १८ पेंस की दर का प्रस्ताव स्वीकृत हो जाय इसके लिए और भी कार्यवाहियाँ की गई जिसके परिणामस्वरूप १८ पेंस की दर सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकृत हो गया ।

स्वर्ण खण्ड-मान अपनाने के लिए भी भारतीय टकण-विधान (१६२७) स्वीकृत हुआ जो १ अप्रैल १६२७ से लागू हुआ । विनिमय-दर १८ पेंस स्वर्ण

अथवा ८ ४७५१२ ग्रेन विशुद्ध स्वर्ण प्रति रुपया निश्चित की गई। सरकार की जिम्मेवारी हो गई कि वह २१३=) रु० प्रति तोले की दर से न्यूनतम ४० तोले स्वर्ण की छडे बम्बई टकसाल में जनता से खरीदे तथा विधिग्राह्य चलन के बदले २१३=) रु० प्रति तोले की दर से स्वर्ण अथवा विदेशी मुद्राएँ (स्टर्लिंग) ४०० औंस अथवा १०६५ तोले अथवा इससे अधिक मात्रा में बेचे। स्वर्ण देना अथवा स्टर्लिंग देना सर्वथा सरकार की इच्छा पर था। स्टर्लिंग बेचने की दर १ शि० ५$\frac{27}{32}$ पेंस निश्चित की गई थी। इसी विधान के अनुसार सॉवरेन एव अर्ध-सॉवरेन की विधिग्राह्यता भी छीन ली गई।

इस प्रकार वास्तव मे देखा जाय तो समिति की सिफारिश के अनुसार *जनता को स्वर्ण अथवा स्टर्लिंग मिलना सरकार पर निर्भर था न कि जनता* पर। इसलिए इसे वास्तव मे स्वर्ण-खण्ड-मान न कहते हुए स्टर्लिंग-विनिमय-मान कहना ही अधिक उपयुक्त होगा किन्तु स्टर्लिंग स्वर्ण मे परिवर्तनशील होने के कारण हम इसे स्वर्ण-विनिमय-मान कह सकते हैं। इस प्रकार जिस मान-पद्धति को सदोष बताकर समिति ने त्याग दिया उसी को दूसरे रूप मे फिर से अपनाया गया।

१६२७ से १६३६

१६२७ मे १६३६ तक की अवधि मे दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटी —

१ १६३१ मे इङ्गलैण्ड ने स्वर्णमान का परित्याग किया, जिससे भारतीय मुद्रा-प्रणाली पर घोर परिणाम हुए क्योंकि एक प्रकार से रुपये का गठबन्धन स्टर्लिंग मे था।

२ १६३४ मे रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया अधिनियम पास हुआ तथा १६३५ मे इस बैंक की स्थापना की गई, जिससे इसे मुद्रा तथा साख के नियन्त्रण का अधिकार दिया गया और चलन-निधियो का एकीकरण किया गया। इसी के साथ विनिमय-दर की स्थिरता की जिम्मेवारी भी इसी बैंक को हो गई।

भारतीय व्यापार की स्थिति अप्रैल १६२७ से १६२६ तक हमारे अनुकूल रही *तथा आयात एव निर्यात के मूल्यो मे वृद्धि होती गई।* किन्तु इस अवधि मे विनिमय-दर मे कमजोरी आ गई जो प्रति-वर्ष बनी ही रही। विनिमय-दर मे मजबूती लाने तथा उसे १८ पेंस पर स्थिर रखने के लिए सरकार ने कुछ *कमी न की और उसने इम्पीरियल बैंक का विरोध होते हुए भी बैंक-दर को* ७ प्रतिशत से बढाकर ८ प्रतिशत कर दिया और कोष-बिलो (treasury

bills) की बिक्री को भी बढ़ाकर मुद्रा-सकोच द्वारा पूँजी का निर्यात (outflow) रोकना चाहा। कोष-बिलो की अधिकाधिक बिक्री तथा ऊँचे ब्याज-दर द्वारा मुद्रा-सकोच करना, यह सरकार की मुद्रा-नीति का एक मुख्य अग बन गया।

१६२७-२८ तथा १६२८-२६, इन दो वर्षों मे व्यापार का विस्तार काफी हुआ तथा हमारी विनिमय-दर मे स्थिरता बनी रही। यह स्थिरता हमारे व्यापार के विस्तार की वजह से न होते हुए विश्व-व्यापार का विस्तार तथा विश्व-मूल्यो की स्थिरता के कारण रही। भारत-सरकार को प्रति वर्ष गृह-व्यय का भुगतान करना पडता था जिसके लिए उसके सामने दो मार्ग खुले थे—१. स्वर्ण का निर्यात करना तथा २ भारतीय मुद्रा के आन्तरिक मूल्य को बढा देना। इनमे से हमारी सरकार ने दूसरे मार्ग का अवलम्बन किया। इस प्रकार सरकार का मुद्रा-पद्धति मे हस्तक्षेप करना ही हमारी मुद्रा-पद्धति की कमजोरी को दिग्दर्शित करता था। १६२६ मे दुनिया की मुद्रा पद्धति मे उलट-फेर होने लगे, विश्व-व्यापार मे मन्दी आई और कीमत धडाधड गिरने लगी। इङ्गलैण्ड ने १६२५ मे स्वर्णमान अपनाया था तथा कृत्रिम तौर से पौंड का स्वर्ण-मूल्य ऊँचा रखने की कोशिश की थी किन्तु १६२६ के बाद स्टर्लिंग का भी स्वर्ण-मूल्य गिरने लगा और पौंड का अवमूल्यन होने लगा। भारतीय रुपये की विनिमय-दर भी स्थिर नही हो पाई थी, वह स्टर्लिंग से बँधा होने के कारण हमारे रुपये की विनिमय-दर मे भी १६३० मे कमजोरी आने लगी जो फरवरी १६३१ तक चालू रही। इस कमजोरी के लिए एक कारण यह भी था कि उस समय लन्दन मे जो गोलमेज परिषद होने वाली थी उसमे १६ पेंस की दर की सिफारिश होगी, यह धारणा बन चुकी थी। यहाँ पर यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि १६२६-२७ से १६३०-३१ तक विनिमय दर को १८ पेंस पर स्थिर रखने के लिए कुल १०२.५० करोड की पत्र-मुद्रा चलन से हटा ली गई थी। इससे व्यापारिक क्षेत्रो मे बडा असन्तोष था किन्तु भारत सरकार ने इस ओर दुर्लक्ष किया। इतना ही नही, बल्कि फरवरी १६३१ मे भारत-सचिव ने भारत सरकार को यह आदेश भेजा कि दर १८ पेंस स्थिर करने के लिए वह अपने प्रयत्नो मे किसी प्रकार की कमी न करे। इस प्रकार भारत की जो स्थिति १६२७ से १६३१ तक रही उससे यह स्पष्ट है कि १८ पेंस विनिमय-दर स्थिर रखने मे सरकार की अदूरदर्शिता ही थी क्योकि इस अवधि मे न तो भारतीय व्यापार की उन्नति हुई और न विनिमय-दर ही स्थिर रही। इस प्रकार एक ओर तो १६२६ के बाद की विश्व मन्दी की मार पड रही थी और दूसरी ओर भारत मे जो राजनीतिक आन्दोलन चल रहा

था उसने इस समय आग मे घी का काम किया जिससे भारतवासियों को विशेषत किसानो को अधिक हानि हुई क्योंकि वस्तुओं के दाम धडाधड गिरते ही जा रहे थे। दूसरे, सरकार को गृह-व्यय भेजने के लिए पर्याप्त मात्रा मे स्टर्लिंग भी नही मिल रहे थे। इतना ही नही, बल्कि नवम्बर १६३१ तक परिस्थिति ऐसी भयकर रही कि सरकार को ५६ लाख स्टर्लिंग बेचन पडे और सितम्बर १६३१ तक रुपये की दर स्थिर रखने के लिए १४० लाख स्टर्लिंग फिर बेचने पडे। ये सब बाते यह प्रमाणित करती हैं कि विनिमय-दर १८ पेंस स्थिर रखने मे भारतीयो की कितनी हानि हुई और इस अदूरदर्शिता के कितने भयकर परिणाम हुए जो न होने यदि सर पुरुषोत्तमदास आदि भारतीयो के मत पर सरकार विचार करती।

१६३१ का चलन सकट तथा रुपये का स्टर्लिङ्ग से सम्बन्ध

इङ्गलैण्ड ने १६२५ मे फिर स्वर्णमान अपनाया था तथा स्टर्लिंग का स्वर्ण-मूल्य बढाने की क्रिया मुद्रा-सकोच द्वारा वहाँ भी कार्यान्वित हो रही थी। परिणामस्वरूप मई १६२५ मे इङ्गलैण्ड के स्टर्लिंग का मूल्य—जो फरवरी १६२० मे ३ ३८२ डॉलर था—बढते-बढते ४ ८५ डॉलर हो गया। और जब स्टर्लिंग ने अपना स्वर्ण-मूल्य प्राप्त किया तो बैंक ऑव इगलैण्ड ने स्टर्लिंग पत्र-मुद्रा के बदले स्वर्ण देना शुरू किया जो अल्पकालीन रहा क्योकि थोडी ही अवधि मे इस बैंक के स्वर्ण-निधि मे बहुत कमी आ गई एव उस कमी को पूरी करने मे बैंक असमर्थ रहा। परिणामस्वरूप इगलैण्ड को २१ सितम्बर १६३१ मे स्वर्ण का परित्याग करना पडा और क्रमश स्टर्लिंग का स्वर्ण मे अवमूल्यन होने लगा। हमारा रुपया स्टर्लिंग से सम्बन्धित होने के कारण हम भी उससे बच न सके और रुपये का स्वर्ण-मूल्य भी गिरने लगा और उस परिमाण मे मन्दी भी बढने लगी जो इगलैण्ड के स्वर्णमान-परित्याग के कारण तीव्रतर हो गई। १६३१-३२ म विश्व-व्यापार मे १६२६ की अपेक्षा ३३% कमी आ गई थी। भारतीय कृषिजन्य पदार्थों की कीमतें भी बुरी तरह गिर रही थी जिससे यहाँ पर भयकर असन्तोष था जिस वजह से इस सकट के परिणामो मे और भी भीषणता आ गई। इस अवधि मे परिस्थिति मे सुधार करने के लिए किसानो को लगान मे छूट दी गई। सरकार की भी आर्थिक कठिनाइयाँ बढने लगी जिसके लिए अल्पकालीन कोष-बिलो द्वारा सरकार ने भी ऋण लिया। विनिमय-दर बहुत कमजोर हो गई तथा १६३१ मे वह निम्नतम स्वर्ण-बिन्दु पर आ गई तथा विनिमय-दर को निम्नतम स्वर्ण-बिन्दु पर स्थिर रखने के लिए,

जैसा कि ऊपर कहा गया है, बडी मात्रा मे स्टर्लिंग बेचने पडे क्योंकि भारत से पूँजी बाहर जाने लगी थी।

इगलैण्ड के स्वर्णमान परित्याग करने के कारण भारत सरकार को रुपये के स्टर्लिंग के साथ गठबन्धन पर फिर से विचार करना पड़ा। १६२७ के विधान द्वारा जब रुपया १ शि० ६ पेंस स्टर्लिंग के बराबर कर दिया गया था तब स्टर्लिंग का स्वर्ण-मूल्य भी उतना ही था, किन्तु अब स्वर्ण-परित्याग के बाद स्टर्लिंग का ३० प्रतिशत अवमूल्यन हो गया था। इसलिए अब प्रश्न यह था कि रुपये की विनिमय-दर क्या हो तथा उसका स्वर्ण से सम्बन्ध जोडा जाय अथवा स्टर्लिंग से ?

इसलिए सबसे पहिले स्वर्ण का इगलैण्ड मे परित्याग होते ही एक आदेश (Ordinance No VI of 1931) द्वारा सरकार ने रुपयों के बदले स्वर्ण या स्टर्लिंग देने की व्यवस्था हटा दी। इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि सरकार रुपये का सम्बन्ध न तो स्वर्ण से और न स्टर्लिंग से ही रखना चाहती थी तथा रुपये के बन्धन को पूर्णतया स्वतन्त्र छोड देना चाहती थी। किन्तु उसी दिन भारत-सचिव ने यह ऐलान किया कि भारत की वर्तमान चलन-व्यवस्था स्टर्लिंग के आधार पर रहेगी अर्थात् भारतीय रुपये का मूल्य १८ पेंस स्वर्ण के बदले अब १८ पेंस स्टर्लिंग रहेगा। यह आदेश १६३१ के आदेश न० ६ के विपरीत था। भारत-सचिव के इस आदेश के अनुसार अब स्टर्लिंग प्रति रुपया १७$\frac{4}{5}\frac{3}{4}$ पेंस की दर पर कुछ विशेष विनिमय-बैंको को मिल सकता था, सर्वसाधारण को नहीं—और वह भी कुछ विशिष्ट कार्यों के लिए ही। इस प्रकार रुपये को स्टर्लिंग से बाँध देने के कारण भारत का भाग्य भी इगलैण्ड के भाग्य पर निर्भर हो गया। स्टर्लिंग के मूल्य-परिवर्तन के साथ रुपये के मूल्य मे भी परिवर्तन होने लगे और रुपये के अवमूल्यन के कारण हमारे यहाँ की कीमतें और भी गिरने लगी जिससे एक प्रकार से रुपये का अकाल पड गया तथा जो स्वर्ण अभी तक भूमिगत अथवा गहनो के रूप मे था वह बिकने लगा। इसी के साथ उन लोगो ने भी, जो स्वर्ण की बढी हुई कीमतो से लाभ कमाना चाहते थे, अपना सोना बचना शुरू किया, जो बाद मे विदेशो मे भेजा जाने लगा।

भारत-सचिव का रुपया-स्टर्लिंग गठबन्धन का आदेश आने ही ऋणों को नई दर पर समायोजन करने की दृष्टि से बैंको की तीन दिन की छुट्टी की गई। २४ सितम्बर १६३१ को नया आदेश—१६३१ का आदेश न० ७—निकाला गया जिसके अनुसार, जैसा हम ऊपर कह चुके है, स्वर्ण की बिक्री

अथवा स्टर्लिंग की बिक्री विशेष व्यापारिक कार्यों तक ही सीमित करदी गई क्योंकि अगर असीमित बिक्री की जाती तो शायद यहाँ पर स्वर्ण का आयात होता, जिसे रोकने के लिए यह कदम उठाया गया था। इसके अतिरिक्त इसका उद्देश्य विनिमय दर १८ पेंस पर स्थिर करना भी था। इस कार्य में विनिमय-बैंकों ने सरकार को पूर्ण सहयोग दिया जिसकी वजह से सरकार रुपये की दर १८ पेंस पर स्थिर करने में सफल रही। फिर भी साधारण जनता इस दर के विरोध में ही रही।

रुपया-स्टर्लिङ्ग गठबन्धन क्यों ?

रुपये का जब स्टर्लिंग से गठबन्धन किया गया उस समय भी इसके सम्बन्ध में विवाद हुआ। कुछ लोगों के मत से स्टर्लिंग के साथ रुपये का गठबन्धन होना देश के लिए हानिकर था क्योंकि रुपये के गठबन्धन के साथ भारत का आर्थिक भाग्यचक्र भी इंगलैंण्ड के भाग्य से बँध जायगा और भारत इंगलैण्ड की राजनीतिक गुलामी के साथ ही आर्थिक गुलामी में जकड़ा जायगा। रुपया स्टर्लिंग से बँधा होने के कारण उसका स्वतन्त्र अस्तित्व खतम होगा तथा उसके मूल्य में जो उतार-चढ़ाव होंगे वे देश की आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार होते हुए स्टर्लिंग के उतार-चढ़ाव के साथ होंगे। दूसरे, स्वर्णमान वाले देशों से जो माल हमारे यहाँ आयात होगा वह हमको महँगा पड़ेगा क्योंकि १९३१ में स्टर्लिंग का ३०% अवमूल्यन हो गया था। तीसरे, रुपये का स्टर्लिंग से गठबन्धन होते ही रुपये का स्वर्ण-मूल्य भी गिर जायगा जिससे भारत से स्वर्ण का निर्यात होगा जो देश के लिए हितकर नहीं कहा जा सकता और यही हुआ भी।

इसके विपरीत रुपये का स्टर्लिंग से गठबन्धन होना जो लोग चाहते थे उनका कहना था कि पहले तो रुपये को स्वतन्त्र छोड़ने से विनिमय-दर में उतार-चढ़ाव अधिक होंगे जिससे विदेशी व्यापार को सदैव खतरा बना रहेगा। दूसरे, स्टर्लिंग का स्वर्णमान वाले देशों की मुद्राओं के सम्बन्ध में अवमूल्यन होने से रुपये का भी अवमूल्यन होगा, जिससे स्वर्णमान वाले देशों के साथ भारत का निर्यात व्यापार बढ़ेगा। तीसरे, भारत का अधिकांश व्यापार इंगलैंड के साथ है और साथ ही भारत को प्रतिवर्ष इंगलैंड को गृह-व्यय की लगभग ३२ मिलियन पौंड की राशि देनी पड़ती है इसलिए इन दोनों ही दृष्टि से रुपये का स्टर्लिङ्ग से गठबन्धन भारत को लाभकर होगा। परन्तु ये सब दलीलें थोथी थीं जिससे भारत से स्वर्ण निर्यात होने लगा।

भारत से स्वर्ण-निर्यात

ऊपर कहा गया है कि रुपयो के अकाल के कारण स्वर्ण की बिक्री होने लगी तथा उसका निर्यात भी किया जाने लगा जिससे निर्यात की वस्तुओ मे स्वर्ण का भी समावेश हो गया जिससे १८-पेंस की दर स्थिर रहने मे काफी सहायता मिली, किन्तु भारत का स्वर्ण बाहर जाने लगा जो हमारी आर्थिक परिस्थिति का द्योतक था। इस स्वर्ण-निर्यात के कारण हमारा व्यापारिक शेष भी हमारे अनुकूल रहने लगा और स्टर्लिङ्ग की अधिकता हो जाने से स्टर्लिङ्ग की बिक्री पर जो प्रतिबन्ध (१६३१ के आदेश न० ७ द्वारा) लगाये गये थे, वे ३१ जनवरी १६३२ से हटा लिये गये तथा स्टर्लिंग की बिक्री बिना रोक-टोक के होने लगी। यह स्वर्ण-निर्यात की क्रिया १६३१-३२ से द्वितीय महायुद्ध तक चालू रही और इन ६ वर्षों मे भारत से ४१७·८ लाख औंस सोना विभिन्न कीमतो पर निर्यात हुआ जिसकी कुल कीमत ३६२·४५ करोड रुपये थी। इस निर्यात पर केवल महायुद्ध प्रारम्भ होने के बाद ही प्रतिबन्ध लगाये गये।

स्वर्ण के इस निर्यात पर भारतीय प्रतिनिधियो ने बडी आलोचना की किन्तु फिर भी स्वर्ण-निर्यात को रोकने के लिए सरकार ने किसी भी प्रकार के प्रयत्न नही किये। इन लोगो का कहना यह भी था कि पहले, १८ पेंस स्टर्लिंग की दर भी भारत के लिए हानिकारक है क्योकि यह दर केवल शासकीय अधिकारियो द्वारा धारासभा की राय के बिना निश्चित की गई थी। दूसरे, स्टर्लिंग के साथ रुपये का गठबन्धन होने से रुपये के भाग्य का निर्णय स्टर्लिंग पर पूरी तरह निर्भर हो गया था। तीसरे, यह विनिमय-दर ऊँची होने तथा स्टर्लिंग का अवमूल्यन होने के कारण स्वर्ण का मूल्य बढ गया था और स्वर्ण की ये कीमते स्टर्लिंग मे और भी अधिक थी। स्वर्ण की कीमतो मे अन्तर होने के कारण स्वर्ण का भारत से निर्यात होगा—जैसा कि हुआ भी—इससे भारत का स्वर्ण-निधि कम हो जायगा। चौथे, जो देश स्वर्णमान पर आधारित हैं उनसे होने वाले भारतीय आयात-व्यापार को धक्का लगेगा क्योकि उन देशो का माल यहाँ पर मँहगा पडेगा। पाँचवें, इस विनिमय-दर की वजह से भारत से केवल अक्तूबर १६३१ से मार्च १६३२ तक के ६ महीनो मे ही ५८ करोड रुपयो का स्वर्ण निर्यात हो चुका है। छठे, रुपये का स्टर्लिंग से १ शि० ६ पेंस की दर पर गठबन्धन होने से हमारे व्यापारिक शेष मे भी गिरावट आ गई और उसमे कमी होने के आसार दिखाई देने लगे। जहाँ

१६३७-३८ मे भारत का व्यापार सन्तुलन ३० ६० करोड रुपये मे हमारे पक्ष मे था वह १६३८-३६ मे केवल १७ ३६ करोड रुपये रह गया।

इस प्रकार स्वर्ण-निर्यात के कारण भारत मे किसानो के पास मेहनत से कमाया हुआ जो सकटी स्वर्ण (distress gold) था, वह विदेशो मे जाने से देश मे स्वर्ण की कमी हो गई। स्वर्ण की कमी का मतलब होता है मुद्रा शक्ति का ह्रास। इस स्वर्ण को सरकार खरीद कर स्वर्ण निर्यात को रोकने के साथ ही अपना स्वर्ण-निधि बढा सकती थी। परन्तु सरकार विदेशी थी, उसको क्या पडी थी?

इस प्रकार भारत मे १६३१ से वास्तव म स्टर्लिंग-विनिमय-मान अपनाया गया हालाँकि भारतीय टकरण-विधान मे इसका नाम स्वर्ण-खण्ड-मान ही रहा, क्योकि स्टर्लिंग स्वर्ण से बँधा न होने के कारण हम रुपयो से केवल स्टर्लिंग ही प्राप्त कर सकते थ। यह थी रिजर्व बैंक की स्थापना के समय की परिस्थिति।

रिजर्व बैंक की स्थापना

ऐसी सकटमय परिस्थिति मे १६३१ की केन्द्रीय बैंकिंग जाँच-समिति ने भी अपनी रिपोर्ट मे रिजर्व बैंक की स्थापना पर जोर दिया और सरकार इसकी स्थापना पर विचार करने लगी और अन्त मे ६ अगस्त १६३४ को रिजर्व बैंक की स्थापना का विधेयक स्वीकृत हुआ और १ अप्रैल १६३५ को रिजर्व बैंक की स्थापना की गई जिसे मुद्रा चलन एव साख-नियन्त्रण का अधिकार दिया गया।

इस बैंक की स्थापना से भारतीय चलन की स्थिति मे होने वाले निम्न-लिखित परिवर्तन महत्त्वपूर्ण हैं —

१ भारतीय मुद्रा-चलन तथा साख-नियन्त्रण करने का एव पत्र-मुद्रा-चलन का एकाधिकार इस अधिकोष को है तथा इसी अधिकोष के पास अन्य आवश्यक अधिकोषो के शेष जमा रहेंगे।

२ अब इसकी स्थापना से पत्र-चलन निधि, स्वर्ण-निधि तथा अधिकोष-निधि का एकत्रीकरण हो गया।

३ रुपये की विनिमय-दर १८ पेंस पर स्थिर रखने की वैधानिक जिम्मेदारी इस अधिकोष पर है और यह अधिकोष स्वर्ण के क्रय-विक्रय द्वारा विनिमय-दर के उच्चावचन को १७$\frac{4}{9}\frac{9}{5}$ पेंस तथा १८$\frac{3}{१६}$ पेंस की मर्यादा मे रखता है।

इसी समय फिर रुपये और स्टर्लिङ्ग के अनुपात ने विवाद का रूप धारण किया और विनिमय-दर को १६ पेंस पर स्थिर करने के लिए जनता की ओर से प्रयत्न किये गये। भारतीय कांग्रेस ने भी ४ दिसम्बर १६३८ को श्री सुभाष चन्द्र बोस की अध्यक्षता में निम्न प्रस्ताव स्वीकृत किया :—

"जब से रुपये की दर १८ पेंस निश्चित करदी गई है तब से यहाँ का व्यवसायी वर्ग और सार्वजनिक संस्थाएँ इसका विरोध करते आ रहे हैं। उनकी माँग यही रही है कि चूँकि हुण्डी की यह दर आर्थिक दृष्टि से भारतवर्ष के लिए अहितकर है, इसमें रद्दोबदल होना जरूरी है। भारत सरकार इस लोकमत की उपेक्षा करती आई है।" ६ जून (१६३८) को कांग्रेस ने इस विषय पर एक वक्तव्य निकाल कर कहा कि वह हुण्डी की दर में कोई भी हेरफेर करना नहीं चाहती और दलील यह पेश की कि हेरफेर करने में परिस्थिति इतनी डावाँडोल हो जायगी कि लोगों को लाभ के बदले हानि उठानी पड़ेगी।

"समिति की राय में १८ पेंस की दर से यहाँ के किसानों की गहरी हानि हुई है। इसने उनकी पैदावार की कीमत गिरा दी है और बाहर से आने वाले माल को अनुचित फायदा पहुँचाया है।' पिछले ७ वर्षों में यह सिर्फ सोने के बड़े पैमाने पर निर्यात के कारण ही टिक सकी है। इस निर्यात से देश को बड़ी क्षति हुई है। ·· भारतवर्ष के पास सोने और स्टर्लिङ्ग के रूप में जो सम्पत्ति बच गई है उसको बरबाद करके ही हुण्डी की यह दर कायम रखी जा सकती है।' देश की भलाई इसी में है कि हुण्डी की दर को टिकाने का प्रयत्न छोड़ दिया जाय और सरकार इसे शीघ्रातिशीघ्र १६ पेंस कर देने की दिशा में अग्रसर हो।"[1]

लेकिन इस प्रस्ताव पर भी कोई ध्यान न दिया गया और सरकार यही कहती रही कि इस बिगड़ी हुई व्यापारिक परिस्थिति की दशा में अगर विनिमय-दर को गिरा दिया जायगा तो इससे किसानों को बड़ी हानि होगी और अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति को देखते हुए इस दर में कोई भी परिवर्तन होना असम्भव है। दूसरे, सरकार की अर्थ-व्यवस्था पर भी इस परिवर्तन से बुरा परिणाम होगा इसलिए १८ पेंस की दर ही रहना ठीक है क्योंकि दर गिराने से केवल सट्टेबाजों को ही लाभ होगा, जनसाधारण को नहीं।

इस प्रकार भारत में स्टर्लिङ्ग-विनिमय-मान स्थापित किया गया जो

---

[1] 'रुपये की कहानी'—घनश्यामदास बिड़ला

पूर्णरूप से नियन्त्रित था। रुपया ही भारत की प्रमाणित एव प्रतीक मुद्रा थी और साथ मे पत्र मुद्रा भी, जो असीमित विधिग्राह्य थी। हमारा रुपया इस समय भी १८० ग्रेन का था जिसमे ११/१२ भाग चांदी थी और अठन्नियो मे भी ११/१२ भाग चांदी थी और ये दोनो ही मुद्राएँ असीमित विधिग्राह्य थी। विदेशी भुगतान के लिए चलन-अधिकारी अथवा रिजर्व बैंक की यही जिम्मेदारी थी कि वह रुपये और पत्र-मुद्रा के बदले स्टर्लिंग १८ पेंस प्रति रुपया की दर से बेचे तथा रुपयो और पत्र-मुद्रा के बदले स्टर्लिङ्ग इसी दर से खरीदे। इस दर को १७ ४९/६४ पेंस और १८ ३/१६ पेंस के बीच रखने की जिम्मेदारी भी रिजर्व बैंक विधान की धारा ४० व ४१ के अनुसार इसी बैंक पर थी। इस रुपया-स्टर्लिङ्ग-गठबन्धन के कारण स्टर्लिङ्ग ही हमारा भाग्य-निर्माता है क्योकि इगलैड की आर्थिक परिस्थिति की झलक भारतीय आर्थिक व्यवस्था पर भी पडती है।

यह थी देश की स्थिति तथा देश का मौद्रिक मान, जिस समय द्वितीय महायुद्ध का आह्वान किया गया।

सारांश

प्रथम विश्वयुद्ध आरम्भ होते ही जनता एवं देश के व्यापारिक एव औद्योगिक क्षेत्रों में गडबडी हो गई। जनता ने नोटो का परिवर्तन स्वर्ण मे करना तथा अपनी जमा राशि बैंको से निकालना शुरु किया। यह स्थिति युद्ध के प्रथम मास मे रही परन्तु फिर विनिमय-दर मे मजबूती आने लगी। इसके अनेक कारण थे —

१ आयात मे कमी एव निर्यात मे वृद्धि हुई।

२ कीमतो मे वृद्धि होने से निर्यात वस्तुओ का मूल्य भी बढ़ा।

३ इङ्गलैण्ड की ओर से भुगतान करने की जिम्मेदारी भारत पर आई।

४ प्रति-परिषद-बिलो के भुगतान के लिए अधिक रुपयो की आवश्यकता थी जिसकी ढलाई के लिए फिर चाँदी की माँग बढी। इन कारणो से व्यापारिक सन्तुलन भारत के पक्ष मे हो गया। दूसरी ओर स्वर्ण को प्राप्त करने मे कठिनाइयां तथा चांदी की बढती हुई मांग से चांदी की कीमतें बढने लगीं। इससे विनिमय-दर भी बढने लगी जो १९१५ मे १६ पेंस प्रति रुपया से १९१९ मे २८ पेंस प्रति रुपया हो गई। फलत भारत मे स्वर्ण-विनिमय प्रमाप टूट गया।

इन विषम परिस्थितियों को समाप्त करने के लिए सरकार ने निम्न पग उठाए—१ चादी का क्रय, २. सिक्कों को गलाने पर रोक ३ चांदी की मितव्ययिता के लिए १ रु० तथा २॥) रु० के नोट चलाना, ४ स्वर्ण-मुद्रा की ढलाई, ५ पत्रमुद्रा का प्रसार, ६ विनिमय नियन्त्रण, ७ सरकारी आय बढाने एव व्यय कम करने के प्रयत्न, ८ स्वर्ण के व्यक्तिगत आयात पर रोक।

इससे भारतीय मौद्रिक कलेवर की स्थिति सँभल गई। युद्ध समाप्त होने पर सरकार ने बेबिंगटन स्मिथ समिति की नियुक्ति की। इसकी प्रमुख सिफारिशें हैं —

१ रुपये की विनिमय-दर २ शि० स्वर्ण रखी जाय।

२ स्वर्ण के आयात निर्यात से प्रतिबन्ध हटाए जायें।

३ सरकार पर रुपयों को सॉवरेन मे परिवर्तन करने की जिम्मेवारी न रहे।

४ भारतीय चलन पद्धति को स्वयपूर्ण बनाया जाय।

५ चांदी के आयात से प्रतिबन्ध एव आयात कर हटा दिये जायें तथा निर्यात पर कुछ समय तक प्रतिबन्ध रहे।

६ मौसमी मुद्रा की पूर्ति के लिए निर्यात बिलों के आधार पर ५ करोड रुपये की पत्रमुद्रा अधिक चलाई जाय।

७ भारत सरकार साप्ताहिक रूप मे प्रति-परिषद-बिलों की बिक्री की राशि घोषित करे।

८ सॉवरेन और अर्धसॉवरेन विधिग्राह्य घोषित किये जायें, इनकी ढलाई के लिए शाही टकशाला की बम्बई शाखा फिर से खोली जाय।

९ अरक्षित पत्र-चलन की सीमा १२० करोड रुपये रहे, आदि।

इन सिफारिशो को सरकार ने मान लिया तथा क्षेत्र मे कॉइनेज एक्ट मे सशोधन हुआ जिससे विनिमय दर २ शि० स्वर्ण घोषित की गई। परन्तु सरकार अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी इस दर को स्थायी न बना सकी जिससे देश के उद्योग एव व्यापार मे उथल पुथल हुई। अतत सरकार ने विनिमय-दर को मुक्त छोड दिया जो १९२५ मे १ शि० २ पेंस पर स्थिर हो गई।

हिल्टन यग कमीशन (१९२५)—१९२५ को हिल्टन यग कमीशन की स्थापना की गई जिसको तीन विषयों के सम्बन्ध में सिफारिशें करनी थीं —

१ विनिमय दर, २ केन्द्रीय बैंक की स्थापना तथा ३ मौद्रिक मान।

इस कमीशन ने देश की वर्तमान मौद्रिक प्रणाली की आलोचना की तथा स्वर्ण खड प्रमाप अपनाने की सिफारिश की, केन्द्रीय बैंक की स्थापना की सिफारिश की तथा रुपये की विनिमय-दर १ शि० ६ पेंस स्वर्ण कायम करने की सिफारिश की। विनिमय-दर १८ पेंस हो अथवा १६ पेंस, इस सम्बन्ध मे काफी वाद रहा परन्तु फिर भी सरकार ने १८ पेंस विनिमय-दर ही निश्चित की। इसी प्रकार सरकार ने कमीशन की अन्य सिफारिशें स्वीकार कीं तथा १९२७ के अधिनियम द्वारा देश मे स्वर्ण-खडमान को अपनाया।

१९२७ से १९२९ तक के दो वर्षों मे हमारे आयात निर्यात बढ़े परन्तु १९२९ की आर्थिक मन्दी से देश मे व्यापारिक शिथिलता आ गई। सरकार ने बैंक रेट बढाकर इसे रोकने का प्रयत्न किया परन्तु वह असफल रही। १९३१ मे इङ्गलैण्ड ने स्वर्णमान का त्याग किया तथा भारत सचिव के ऐलान से रुपये का मूल्य १ शि० ६ पेंस स्टर्लिंग निश्चित किया गया। हालांकि रुपया-स्टर्लिंग-गठबन्धन का विरोध हुआ परन्तु वह बेकार ही रहा। इस गठबन्धन का परिणाम यह हुआ कि जैसे १९३१ मे सोने का भाव बढने लगा वैसे ही भारत से स्वर्ण का निर्यात होने लगा क्योंकि एक ओर कीमतें गिर रही थीं और दूसरी ओर सरकार मुद्रा-सकोच कर रही थी। स्वर्ण का यह निर्यात १९३९ तक बेरोक-टोक होता रहा जबकि दूसरे विश्वयुद्ध का श्रीगणेश हुआ।

अध्याय १४

भारतीय चलन-पद्धति (१६३६ से १६४५)

३ सितम्बर १६३६ को जब द्वितीय महायुद्ध की घोषणा की गई उस समय भारत मे स्टर्लिंग-विनिमय मान था। भारत की प्रमाणित और प्रतीक मुद्रा के रूप मे रुपया, पत्र-मुद्रा तथा अठन्नियाँ चलन मे थी, जो विदेशी भुगतान के लिए १८ पेन्स स्टर्लिंग की दर से बेची अथवा खरीदी जा सकती थी। रुपया, अठन्नी तथा पत्र-मुद्रा असीमित विधिग्राह्य मुद्राएँ थीं और देन मे छोटी रकम के भुगतान के लिए निकेल की चवन्नियाँ, दुअन्नियाँ, इकन्नियाँ एव तावे के पैसे चलन मे थे जो केवल एक रुपये तक विधिग्राह्य थे।

युद्ध आरम्भ होते ही ब्रिटिश साम्राज्य का अंग होने से भारत को भी युद्ध मे भाग लेना पड़ा जिससे हमारी चलन एव विनिमय-पद्धति पर घोर परिणाम हुए तथा उनको दूर करने के लिए महत्वपूर्ण परिवर्तन भी करना आवश्यक हुआ। युद्ध आरम्भ होते ही भारतीय चलन-पद्धति मे कुछ अव्यवस्था सी आने लगी किन्तु बाद मे इस युद्ध के दुष्कर परिणामो का अच्छी तरह सामना किया गया। हमारी चलन-पद्धति ने बदली हुई परिस्थिति से शीघ्र ही अपना मिलान कर लिया। युद्ध के फलस्वरूप हमारी आर्थिक परिस्थिति पर बुरी तरह खिंचाव पड़ा परन्तु फिर भी हमारी अर्थ-व्यवस्था को विशेष हानि नही हुई बल्कि फायदा ही हुआ। युद्ध के कारण हमारे उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन मिला, व्यापारिक शेष अनुकूल रहा और इस अनुकूलता के कारण बहुत बडी मात्रा मे हम इङ्गलैण्ड से लेनदार रहे जो रकम पौंड-पावने (sterling balances) के रूप मे इङ्गलैण्ड मे जमा है। इस प्रकार इस महायुद्ध के कारण हमारी चलन-पद्धति पर निम्नलिखित परिणाम हुए —

१. युद्ध की सामग्री की पूर्ति करने के लिए सबसे प्रथम हमारे यहाँ के चलन का बड़ी मात्रा मे विस्तार हुआ जिसमे पत्र मुद्रा का चलन १८२ ३६ करोड रुपये से—जो १६३८-३६ मे था—बढ़कर अप्रैल १६४६ मे १२७३ ७३ करोड रुपये हो गया। इससे हमारे यहाँ का मूल्य-स्तर भी बढ गया क्योकि

जिस अनुपात मे चलन का विस्तार होता गया उसी अनुपात मे हमारे यहाँ उत्पादन वृद्धि नही हुई।

२ हमारी स्टर्लिङ्ग-प्रतिभूतियाँ बडी मात्रा मे एकत्रित हो गई क्योंकि इङ्गलैंड की ओर से भारत मे युद्ध चलाने के लिए बडी मात्रा मे सामान खरीदा गया था। ये पौंड-पावने स्टर्लिङ्ग-प्रतिभूतियों मे रिजर्व बैंक द्वारा खरीदे गये थे। इनकी रकम १६३८-३६ मे ६६ ६५ करोड रुपये थी जो मार्च १६४४ मे ६४५ करोड तथा अप्रेल १६४६ मे ११२५ ३२ करोड रुपये हो गई थी। इसी प्रकार रुपये की प्रतिभूतियाँ १६३६ से १६४६ तक की अवधि मे ३२ १६ करोड से ५७ ८४ करोड रुपये हो गई थी।

३ युद्ध के कारण चलन-पद्धति एव परिस्थिति मे जो परिवर्तन हुए उनमे हमारे सामाजिक ऋण (public debt) का ढाँचा भी बदल गया।

(क) युद्ध के तत्कालीन परिणाम

युद्ध प्रारम्भ होते ही तत्कालीन प्रभाव यह हुआ कि भारतीयो को मुद्रा-पद्धति मे सशय प्रतीत होने लगा जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने सरकारी प्रतिभूतियाँ तथा डाकघर-प्रमाणपत्र बचना शुरू किया और अपने डाकघर-बचत-बैंक लेखे (P O savings bank a c) मे से तथा अन्य बैंको से अपनी रकम निकालना शुरू किया। इस अविश्वास का कारण उस समय भारत सरक्षण विधेयक (Defence of India Bill) का विचाराधीन होना भी था क्योंकि जनता का ऐसा खयाल था कि इस विधेयक के स्वीकृत होते ही वैयक्तिक सम्पत्ति पर सरकार का अधिकार हो जायगा। इस वदन्ता का सरकार की ओर से खण्डन किया गया तथा बैंको और डाकखानो मे अपनी जमा राशि के भुगतान के लिए समुचित व्यवस्था की गई। इससे हमारी चलन-पद्धति मे शीघ्र ही जनता का विश्वास हो गया। परिणामस्वरूप जनता ने बैंको से रुपये निकालना बन्द कर दिया तथा बडी मात्रा मे राष्ट्रीय सचय प्रमाणपत्र खरीदना शुरू किया।

इस अविश्वास के कारण लोगों ने अपनी पत्र-मुद्रा का रुपयो मे परिवर्तन कराना शुरू किया और जून १६४० तक प्रति सप्ताह १ करोड रुपये की पत्र-मुद्रा के बदले रुपये दिये गये। मई १६४० मे युद्ध का पासा इङ्गलैंड के विरुद्ध पलटता हुआ दिखाई देने लगा और जून १६४० मे फ्रान्स की हार के साथ भारतीय जनता का अविश्वास फिर से जागृत हुआ। इस कारण प्रति सप्ताह ४ करोड रुपये की पत्र-मुद्रा चाँदी के रुपयो मे बदली जाने लगी

जिससे रिजर्व बैंक के चलन-विभाग मे ७५·४७ करोड रुपयो की जगह, जो युद्ध के आरम्भ मे थे, ५ जुलाई १९४० को केवल ३२ करोड रुपये रह गये। इस प्रकार पत्र-मुद्रा के बदले मे जो चाँदी के रुपये जनता के पास जाते थे के चलन मे न रहते हुए भूमिगत होने लगे अथवा उनको गलाया जाने लगा फलत रुपयो का अभाव भी हो गया। इस अभाव मे सरकार की ओर से सुरक्षा के लिए जो व्यय किया जा रहा था उसमे और भी तीव्रता आई तथा मूल्य गिरने की एव व्यापारिक अव्यवस्था (trade dislocation) की सम्भावना प्रतीत होने लगी। इसलिए सरकार द्वारा भारत-सुरक्षा विधान के अन्तर्गत एक आदेश निकाला गया कि कोई भी व्यक्ति ऋण अथवा अन्य भुगतान मे पत्र-मुद्रा तथा रुपये लेना अस्वीकार नही कर सकता। २५ जून १९४० को रुपये के नियन्त्रण की योजना शुरू हुई जिसके अनुसार घोषणा की गई कि जो व्यक्ति आवश्यकता से अधिक रुपये या मुद्राएँ लेगा वह भारत-सुरक्षा विधान के अन्तर्गत दण्ड का अधिकारी होगा—वैयक्तिक अथवा व्यापारिक आवश्यकता कितनी है, इसका निर्णय रिजर्व बैंक करेगा। परिणामत पत्र-मुद्रा के बदले अब कम रुपये माँगे जाने लगे, लेकिन रुपये की माँग अब अन्य उपायो से पूरी की जाने लगी और पत्र-मुद्रा कई स्थानो पर बट्टे से बिकने लगी। रुपयो की कमी को दूर करने के लिए २४ जुलाई १९४० के आदेश द्वारा भारत सरकार को एक रुपये की पत्र-मुद्रा चलन मे लाने का अधिकार दिया गया जो सब कार्यों के लिए रुपये के बराबर घोषित की गई।

२६ जुलाई १९४० के भारतीय टकण-सशोधन विधान के द्वारा चवन्नियो तथा अठन्नियो की चाँदी का परिमाण $\frac{११}{१२}$ से $\frac{१}{२}$ कर दिया गया। २५ दिसम्बर १९४० के आदेशानुसार रुपयो मे भी चाँदी के परिमाण मे ऐसी ही कमी की गई। इसके बाद १९४२-४३ मे छोटी प्रतीक मुद्राओ की भारी कमी का अनुभव हुआ क्योकि ताँबे के पैसे भी गलाये जाने लगे या भूमिगत किये जाने लगे। इस अभाव को दूर करने के लिए बम्बई, कलकत्ता, कानपुर आदि बडे-बडे शहरो मे डाक टिकटो का भी उपयोग किया गया। इस प्रकार छोटी मुद्राओ का चलन से बाहर जाना रोकने के लिए भारत-सुरक्षा विधान के अन्तर्गत अधिक रेजगारी का सचय एव अपने पास रखना दण्डनीय अपराध घोषित किया गया। इस प्रकार रेजगारी की माँग को पूरा करने के लिए सरकार ने १९४२ मे गिलट का अधन्ना, इकन्नियाँ, दुअन्नियाँ भी चलाई। १९४३ मे नया पैसा भी चलाया गया जिसका वजन कम था तथा बीच मे

छेद था परन्तु इसका उपयोग वाशर की तरह किया जाने लगा। इस कारण सरकार ने इसका चलन बन्द कर दिया। इसके सिवा रेजगारी के अभाव को मिटाने के लिए बम्बई और कलकत्ता की टकसालाओं में पैसे ढाले जाने लगे जिनका औसत ७२० लाख प्रति मास था। (यही औसत १६३३ में १६० लाख था।) फिर भी पैसों का अभाव रहा और लाहौर में एक नई टकसाला स्थापित की गई जहाँ अगस्त १६४२ से सिक्के ढालना प्रारम्भ हुआ।

फिर भी रुपयों का अभाव रहा जिसे दूर करने के लिए १ फरवरी १६४३ से दो रुपये की पत्र-मुद्राओं का चलन भी प्रचलित किया गया तथा १६४३ के अन्त तक १४० लाख रुपये की २) रु० की पत्र-मुद्राएँ बम्बई, कानपुर, लाहौर और कलकत्ता से चलन में आई। इस प्रकार की अथवा इनके सदृश अन्य पत्र-मुद्राएँ बनाना एवं चलाना भी दण्डनीय अपराध घोषित किया गया। १६४० के भारतीय टंकण-संशोधन विधान के अन्तर्गत विक्टोरिया की मुद्रा के रुपये तथा अठन्नियाँ भी ३१ मार्च १६४१ के बाद विधिग्राह्य न रहेंगी, यह भी घोषित किया गया और उनको चलन से निकालने के हेतु ३० सितम्बर १६४१ तक उनकी स्वीकृति डाकघर तथा सरकारी कोषों में होगी, यह भी घोषित किया गया। ३० दिसम्बर १६४० को टंकण-विधान में तीसरा संशोधन हुआ जिसके अनुसार नये रुपये, जिनके किनारे किटकिटीदार तथा बीच में रखा जाने थे, चलाये गये। इनमें चाँदी का परिमाण ६० ग्रेन अथवा ½ भाग रहा तथा इस नई किटकिटी के कारण जाली सिक्के बनाना कठिन हो गया। ८ दिसम्बर १६४१ को एडवर्ड सप्तम की मुद्रा वाले रुपये तथा अठन्नियाँ १ जून १६४२ से अवैधानिक घोषित कर दी गई तथा यह भी घोषित किया गया कि इनकी स्वीकृति ३० सितम्बर १६४२ तक सरकारी कोषों एवं डाकघरों में की जायगी एवं मद्रास, कलकत्ता और बम्बई में रिजर्व बैंक में ये तब तक लिये जायँगे जब तक इनकी अस्वीकृति की सूचना घोषित नहीं होगी। इसी प्रकार १ अक्तूबर १६४२ से जॉर्ज पंचम् एवं षष्ठम् की मुद्रा वाली अठन्नियाँ एवं रुपये जो ११/१२ भाग चाँदी के थे, उनका चलन से हटाने के लिए १ मई १६४३ से उन्हें भी अवैधानिक घोषित कर दिया गया। फिर भी ये सरकारी कोषों में एवं डाकघरों में ३१ अक्टूबर १६४३ तक तथा बम्बई, मद्रास व कलकत्ता की रिजर्व बैंक की शाखाओं में आगामी सूचना तक दिए जा सकते थे। इन रुपयों के बदले जॉर्ज षष्ठम् के नये रुपये जिसमें ½ भाग चाँदी थी, चलन में लाये गये।

१ मई १९४२ से विक्टोरिया तथा एडवर्ड सप्तम् के रुपये एव अठन्नियाँ तथा १ नवम्बर १९४३ से जॉर्ज पचम् और जॉर्ज षष्ठम् के रुपये एव अठन्नियाँ (*जिनमे ११⁄१२ भाग चाँदी थी*) *भारत मे अवैध घोषित किये गये।* १९४३ से १९४६ तक कुल ५९८ २९ करोड रुपये चलन से निकाल लिये गये तथा नये रुपये और पत्र-मुद्राएँ चलन मे आई।

युद्ध के प्रारम्भ होते ही जो मुद्राओ की कमी परिवर्तन के कारण प्रतीत होने लगी थी वह समय-समय पर आवश्यक आदेशानुसार पूरी की गई तथा *सामयिक परिस्थिति से मिलान करने के लिए, चलन-पद्धति म भी परिवर्तन किया गया।* युद्ध-काल के पाँच वर्षो (१९३९-४० मे १९४३-४४) मे ही हमारे यहाँ का चलन ६१ ७४ करोड से ८८४ ९३ करोड हो गया। इसके विपरीत रिजर्व बैंक के पास जो स्वर्ण था वह ४४ ४१ करोड ही रहा तथा चाँदी की मात्रा ७५ ८७ करोड से केवल १५ ९ करोड रुपये की ही रह गई। इसी प्रकार प्रतिभूतियो का परिमाण अपरिमित बढ गया। इन प्रतिभूतियो मे अधिकतर स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ थी जिनका अवमूल्यन हो रहा था और स्टर्लिङ्ग का स्वर्ण-मूल्य न होने के कारण हमारे देश मे मुद्रा-स्फीति के लक्षण स्पष्ट दिखाई देने लगे।

(ख) व्यापारिक स्थिति

युद्ध के फलस्वरूप हमारी व्यापारिक स्थिति मे भी काफी परिवर्तन हुआ तथा विदेशी व्यापार मे हमारे आयातो से निर्यात बहुत बडी मात्रा मे बढने लगे। इसका **प्रमुख कारण** तो यह था कि हमारे यहाँ की आयात-वस्तुओ मे बहुत कमी हो गई क्योकि युद्धग्रस्त देश युद्ध के लिए माल बनाने मे लगे हुए थे। **दूसरे,** युद्ध-सामग्री के स्थानान्तरण के लिए यातायात का उपयोग पूर्णरूप से किया जा रहा था इसलिए उपभोग की वस्तुओ के स्थानान्तरण पर भी यातायात की कमी के कारण प्रतिबन्ध लगाये गये थे। **तीसरे,** विदेशी भुगतान के लिए विदेशी मुद्राओ की प्राप्ति भी युद्ध-परिस्थिति के कारण उतनी आसानी *से नही हो सकती थी। इसके अतिरिक्त हमारे निर्यातो पर प्रतिबन्ध लगाये* गये थे जिससे कि वे विशिष्ट मार्ग द्वारा ही निर्यात किये जा सके और उनका पूर्ण उपयोग केवल मित्र राष्ट्रो द्वारा ही हो सके। इस वजह से इस काल मे भारत से निर्यात बढता ही गया तथा हमारे व्यापारिक शेष मे जो १९३८-३९ मे केवल १७ करोड रुपये की अनुकूलता थी वह १९३९-४० मे ४९ करोड रुपये, १९४०-४१ मे ४२ करोड रुपये तथा १९४३-४४ मे ९० करोड रुपये

हो गई। इस बड़ी मात्रा में विदेशी निर्यात के कारण हमारे यहाँ कीमतों में वृद्धि हुई तथा व्यापारिक शेष की अनुकूलता के कारण रुपये की १८ पेंस की दर में भी स्थिरता आने लगी। व्यापारिक शेष की अनुकूलता के कारण हमारा इंगलैंड पर बहुत बड़ी मात्रा में 'पौंड-पावना' है जो 'स्टर्लिङ्ग बेलेन्सेज' के नाम से इंगलैंड में भारत सरकार की ओर से जमा है।

(ग) विनिमय-नियन्त्रण

भारत-सुरक्षा विधान के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को यह अधिकार दिया गया कि वह विदेशी विनिमय के सब प्रकार के व्यवहारों का, स्वर्ण एवं प्रतिभूतियों का, नियन्त्रण करे। परिणामस्वरूप रिजर्व बैंक में 'विनिमय-नियन्त्रण विभाग' विभाग खोला गया जो विनिमय-नियन्त्रणों की शासकीय कार्यवाही को करता था। यह अधिकार १९३९ में प्रदान किये गये थे। इस अधिकार द्वारा रिजर्व बैंक ने अनुज्ञापत्र (licence) प्राप्त किये बिना, स्वर्ण का आयात एवं निर्यात करने पर प्रतिबन्ध लगा दिये जो ४ सितम्बर तथा १९ अक्टूबर १९४० से लगाये गये तथा मार्च १९४१ के बाद रिजर्व बैंक की पूर्व अनुमति प्राप्त किये बिना स्वर्ण के किसी भी रूप में निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाया। इसी प्रकार जो देश ब्रिटिश साम्राज्य में नहीं थे उनकी मुद्राओं के क्रय-विक्रय पर प्रतिबन्ध लगाये गये जिनके अन्तर्गत इन मुद्राओं का क्रय-विक्रय केवल व्यापारिक कार्यों के लिए, प्रवास-व्यय के लिए तथा कुछ वैधानिक भुगतान के लिए ही किया जा सकता था और इस प्रकार के सब व्यवहार 'चलन के विनिमय-नियन्त्रण' की आधारभूत दरों पर ही किये जा सकते थे। ब्रिटिश साम्राज्य के देशों की मुद्राओं का क्रय-विक्रय केवल अधिकृत बैंकों द्वारा ही किया जा सकता था जिससे इन मुद्राओं का क्रय-विक्रय भी नियन्त्रण में रहे। विनिमय-नियन्त्रण की कार्यशीलता के लिए निम्न नियन्त्रण लगाये गये :—

१ **स्वतन्त्र स्टर्लिंग क्षेत्र का विस्तार**—यह क्षेत्र उन देशों का बना हुआ है जो ब्रिटिश साम्राज्य में हैं तथा इन देशों में पूँजी का आयात-निर्यात अप्रतिबन्धित अर्थात् बिना किसी रोक-टोक के हो सकता है। इस क्षेत्र में ब्रिटिश साम्राज्यान्तर्गत देशों—मिस्र, सीरिया, मेडागास्कर, ईराक आदि—का समावेश होता है।

२ **विदेशी विनिमय के उपयोग पर नियन्त्रण**—इस योजना के अनुसार हमारे निर्यात का विदेशी मुद्रा में जो मूल्य होता था उसका उपयोग ब्रिटिश राज्य-संघ को अधिक से अधिक हो, इस हेतु इस प्रकार प्राप्त की हुई विदेशी

मुद्राओं का उपयोग रिजर्व बैंक के मतानुसार होना था। इस योजना के अन्तर्गत १० मई १९४० से विलास की वस्तुओं के आयात पर नियन्त्रण लगाया गया तथा उपभोग-वस्तुओं का आयात केवल स्टर्लिंग-क्षेत्रों तक ही मर्यादित किया गया। इसी प्रकार विदेशी मुद्राओं के विक्रय—विशेषत दुर्लभ मुद्राओं के विक्रय—पर नियन्त्रण लगाये गये। इन नियन्त्रणों का हेतु यही था कि युद्ध-जन्य सामग्री जो अमेरिका आदि देशों से आयात की जाती थी, उसकी प्राप्ति बिना कठिनाई के हो सके। विदेशी मुद्रा का युद्ध-कार्य के लिए अधिकाधिक उपयोग करने के हेतु रिजर्व बैंक से अनुज्ञापत्र प्राप्त किये बिना चाँदी के आयात पर भी प्रतिबन्ध लगाये गये। राष्ट्रीय हित की दृष्टि से डॉलर का अच्छे से अच्छा उपयोग करने के लिए राष्ट्रीय लाभ के लिए, जो प्रवासी जाते थे उनको ही डॉलर बेचे जा सकते थे। इन प्रतिबन्धों में १९४४-४५ में युद्ध की समाप्ति के बाद ही छूट दी गई जिससे विद्यार्थियों, व्यापारियों तथा प्रवासियों को सुविधा एवं उपभोग-वस्तुओं का आयात हो सके।

३. **डॉलर एवं डॉलर प्रतिभूतियों पर अधिकार** (Acquisition of Dollar Balances and Securities)—इसी प्रकार डॉलर का अधिकाधिक उपयोग करने के हेतु भारतीयों की जो रकमें अमेरिका में डॉलर-शेष के रूप में अथवा अमरीकी प्रतिभूतियों में थी उन पर भी रिजर्व बैंक ने अधिकार किया तथा उनके बदले रुपये में भारत में भुगतान किया गया।

४. **मुद्रा, पत्र-मुद्रा आदि के आयात-निर्यात पर रोक**—किसी भी प्रकार की भारतीय मुद्रा को रिजर्व बैंक के अनुज्ञापत्र के बिना निर्यात करने पर, नवम्बर १९४० से प्रतिबन्ध लगाया गया जिससे भारतीय मुद्रा चलन से निकल कर बाहर न बेची जा सके। उसी प्रकार सितम्बर १९४३ से भारतीय मुद्रा, ईरानी रॉयल, अफगानी रॉयल तथा लंका की पत्र-मुद्रा के अतिरिक्त सब प्रकार की मुद्रा के आयात पर भी प्रतिबन्ध लगाये गये और जनवरी १९४४ से भारतीय पत्र-मुद्रा के अतिरिक्त अन्य सब पत्र-मुद्राओं के आयात पर भी रोक लगा दी गई। इसका हेतु शत्रु-राष्ट्रों द्वारा चलाई गई पत्र-मुद्रा को रोकना तथा अपनी मुद्रा का उपयोग शत्रु-राष्ट्रों को न होने देने का था।

५ विदेशी मुद्रा में भुगतान करने पर भी अक्टूबर १९४१ से प्रतिबन्ध लगा दिये गये जिससे जो कम्पनियाँ भारत से अपने लाभ स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर भेजना चाहती थी वे लाभ को न भेज सके। ऐसे लाभों को स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर भेजने के लिए रिजर्व बैंक से लाइसेंस लेना जरूरी था। इन नियन्त्रणों

का हेतु विदेशी मुद्राओं का उपयोग युद्धकार्यों के लिए भली भांति करना था । ये प्रतिबन्ध १६४३ ४४ में ढील कर दिये गये जिससे अमरीकी कम्पनियां अपना लाभ भेज सकें ।

६ शत्रु सम्पत्ति पर अधिकार—इसी प्रकार जुलाई १६४१ में भारत स्थित जापानी कम्पनियों तथा व्यवसायों की सम्पत्ति को भी भारत सरकार ने सुरक्षा विधान के अन्तर्गत अपने अधिकार में ले लिया तथा उनकी व्यवस्था नये सम्पत्ति-संरक्षक (custodian) को सौंप दी गयी जिससे इस सम्पत्ति का उपयोग मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध न हो सके । इसी प्रकार विदेशी लोगों का जो धन भारतीय बैंकों में था उसके भुगतान पर भी कुछ विशेष कार्यों के अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने रोक लगा दी ।

इसके अतिरिक्त युद्ध-काल में स्टर्लिङ्ग ऋण तथा उसके भुगतान और रुपये की ऋण प्रतिभूतियों में परिवर्तन किया गया । यह ऋण १६३८ ३६ में ३६६ ५ करोड़ रुपये था जो १६४३ ४४ में केवल १४ करोड़ रुपये रह गया । रिजर्व बैंक की १६४५ ४६ की रिपोर्ट के अनुसार ३२ २ करोड़ पौंड के ऋण का भुगतान किया गया तथा बाकी ऋणों को रुपयों की ऋण प्रतिभूतियों में जिनका मूल्य ४३३ ५७ करोड़ रुपये है बदल दिया गया ।

इस प्रकार युद्ध-काल में विनिमय नियन्त्रण की नयी पद्धति चालू की गयी तथा कुछ हद तक आज भी विनिमय नियन्त्रण चालू है ।

(घ) कर-वृद्धि

देश की रक्षा के हेतु तथा युद्ध-संचालन के लिए भारतीय सेना पर प्रति दिन २० लाख रुपये का व्यय होता था जिसकी पूर्ति करने के लिए भारत सरकार को नये-नये कर लगाने पड़े तथा करों में वृद्धि भी करनी पड़ी । १६४० से आय-कर के साथ २५ प्रतिशत अतिरिक्त कर (surcharge) लगा दिया गया तथा पोस्ट कार्ड आदि के मूल्यों में भी वृद्धि की गयी । १६४२ में अधिक-लाभ कर (excess profit tax) को भी ५० प्रतिशत से बढ़ा कर ६६$\frac{2}{3}$ प्रतिशत कर दिया गया तथा अतिरिक्त-कर भी २५ प्रतिशत से ३३$\frac{1}{3}$ प्रतिशत हो गया । अनेक वस्तुओं जैसे शक्कर दियासलाई आदि, के चुङ्गी करों (excise duty) में वृद्धि की गयी । इस प्रकार करों से होने वाली आय भी ८६ ६३ करोड़ रुपया (१६३६ ४०) से बढ़कर १६४५ ४६ में ३४३ ७४ करोड़ रुपये हो गयी ।

युद्ध-व्यय की पूर्ति के लिए सरकार को विभिन्न प्रकार के ऋणपत्र भी

निकालने पडे और इन ऋणपत्रो के द्वारा सरकार ने लगभग २८४ करोड रुपया उधार लिया। इन ऋणपत्रो के द्वारा लोगो के हाथ मे जो अतिरिक्त क्रयशक्ति थी वह सरकार के पास आ जाने से कुछ हद तक मुद्रास्फीति से होने वाले परिणाम भी न हो सके।

(ड) युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति

हमने देखा कि युद्ध-काल मे रुपयो का चलन बहुत अधिक बढ गया था, परन्तु देश की उत्पादन-शक्ति उसी अनुपात म न बढी। इसके अलावा भारत सरकार ने युद्ध को चलाने के लिए इङ्गलैंड के आदेशो के अनुसार माल का निर्यात भी किया, जिससे भारत मे आवश्यक वस्तुओं की कमी हो गयी थी। इन दोनो कारणो का परिणाम यह हुआ कि मुद्रा की क्रयशक्ति घट गयी अर्थात् वस्तुओ के भाव बढने लगे। इसका प्रमुख कारण यह था कि युद्ध-काल म मुद्रा और साख दोनो का ही इतना अधिक प्रसार हुआ जिससे जनता की क्रयशक्ति तो बढ गयी थी परन्तु वस्तुओ का प्रदाय (supply) घट गया था। युद्धकालीन पत्र-चलन मे कितना प्रसार हुआ तथा उसके साथ ही वस्तुओ के मूल्य किस प्रकार बढे इसकी यथार्थ कल्पना निम्न तालिका मे की जा सकती है —

वर्ष	पत्रमुद्रा जो चलन म थी[1] (करोड रुपयो मे)	मूल्य-निर्देशाक[2]
अगस्त १९३९	१७९	१००
मार्च १९३९–४०	२३८ ५५	१२५ ६
,, १९४०–४१	२५७ ६६	११४ ८
,, १९४१–४२	४१० ०७	१३७ ०
,, १९४२–४३	६४३ ५८	१७१ ०
,, १९४३–४४	८८२ ४९	२३६ ५
,, १९४४–४५	१०५४ ८८	२४४ २

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ओर तो देश म पत्र-मुद्राओ का चलन बढता जा रहा था और दूसरी ओर वस्तुओ की कीमत बढती जा रही थी। इस प्रकार कुछ समय तक देश म मुद्रास्फीति का

1 See Statements 36 and 15 Report of the Reserve Bank of India on Currency & Finance for 1951-52

2 Economic Adviser's Index Numbers (नियंत्रित मूल्यो के अनुसार)

भान न हुआ परन्तु देश के अर्थशास्त्रियों ने, प्रमुखत प्रो० सी० एन० वकील ने, १९४३ में इस बात की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया कि देश म मुद्रास्फीति के स्पष्ट चिह्न दिखाई देने लगे है। उन्होंने यह भी कहा कि यदि समय रहते इस पर नियन्त्रण न किया गया तो भीषण परिणाम होंगे। इस पर भी १९४३-४४ का बजट-भाषण देते हुए अर्थमंत्री सर आर्चिबाल्ड रोलैंड ने कहा कि "भारत म मुद्रास्फीति नहीं है।' उन्होंने इसी बात पर जोर दिया कि "वर्तमान स्थिति केवल मुद्रा प्रसार की है जिसका कारण है जनता द्वारा रोकड की बढी हुई मॉग।' इसके बाद मुद्रास्फीति को लेकर विभिन्न लोगो ने विभिन्न विचारधाराएँ प्रकट की। श्री घनश्यामदास बिड़ला के अनुसार कीमते बढने का कारण भारत म मुद्रास्फीति न होते हुए वस्तुओ की कमी थी और अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रास्फीति होने के कारण कीमत बढ रही थी। इण्डियन चेम्बर ऑफ कामर्स ने सरकार का ध्यान मुद्रास्फीति की ओर आकर्षित किया। रिजर्व बैंक ने भी अपनी रिपोर्ट म यह मान लिया कि मुद्रा-प्रसार के कारण मुद्रास्फीति हो रही है परन्तु मुद्रा-प्रसार को रोकने मे रिजर्व बैंक ने अपनी असमर्थता प्रकट की। इस प्रकार मुद्रास्फीति भारत को द्वितीय विश्वयुद्ध की प्रमुख देन है।

युद्धकालीन मुद्रास्फीति के निम्नलिखित कारण थे —

१. मित्रराष्ट्रों की सहायता—युद्ध काल म भारत सरकार इङ्गलैण्ड और मित्रराष्ट्रों की सहायता के लिए भारत में माल खरीद-खरीद कर भेजती रही जिससे युद्ध-सचालन मे सहायता हो। इस माल के भुगतान म भारत को स्वर्ण मिलना चाहिए था अथवा माल, परन्तु इङ्गलैण्ड आदि देश के युद्ध म फँसे होने के कारण भारत को माल नहीं मिल सकता था और इङ्गलैण्ड स्वर्ण देने की स्थिति में नहीं था। इसलिए इसकी राशि बैंक ऑफ इङ्गलैण्ड मे भारत सरकार के खाते म जमा होती रही जिसके बदले म रिजर्व बैंक को स्टर्लिंग प्रतिभूतियां मिलती थी। भारतीय व्यापारियों को उनके माल का भुगतान करने के लिए रिजर्व बैंक इन स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के आधार पर पत्र-मुद्राएँ छाप कर उनका भुगतान करता रहा, जिससे स्टर्लिंग प्रतिभूतियां के बढने के साथ ही साथ पत्र-चलन भी बढता जा रहा था। इन्हीं स्टर्लिंग प्रतिभूतियां को पौंड-पावनो (sterling balances) के नाम से जाना जाता है।[1] यदि भारत को स्वर्ण अथवा वस्तुएँ मिलती रहती तो भारत मे मुद्रास्फीति न होती।

[1] देखिये अध्याय १६।

२. **अनुकूल व्यापार सन्तुलन**—*युद्ध-काल में विदेशी व्यापार का सन्तुलन* भारत के पक्ष में हो गया अथवा भारत के अनुकूल रहा। क्योंकि भारत से निर्यात तो अधिक हो रहे थे परन्तु यूरोपीय देशों के युद्ध में फँसे हुए होने के कारण आयात कम हो गये। इस प्रकार युद्ध-काल में भारत का व्यापार-सन्तुलन हमारे पक्ष में रहा —

वर्ष	व्यापार-सन्तुलन[1] (करोड रुपयों में)
१९३८–३९	+१७·६९
१९३९–४०	+४८ ८१
१९४०–४१	+४१ ९९
१९४१–४२	—३९ ६०
१९४२–४३	—८४ २५
१९४३–४४	+९१ ३२
१९४४–४५	+२६ ०८

इसके बदले में भारत को स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ मिली और इनके आधार पर पत्र-मुद्राओं का चलन बढ़ता गया।

३ **सुरक्षा-व्यय में वृद्धि**—*युद्ध-काल में भारत सरकार का रक्षा व्यय भी* बढ़ता गया। १९३८-३९ में जो व्यय ४६ १८ करोड रुपय था, वह १९४४-१९४५ में ३९५ ४९ करोड रुपय हो गया। इस व्यय को पूरा करने के लिए भी पत्र-चलन बढ़ाया गया। युद्ध-काल में रक्षा-व्यय कितना हुआ यह निम्न तालिका से स्पष्ट होगा —

वर्ष	रक्षा-व्यय (करोड रुपयों में)
१९३८–३९	४६ १८
१९३९–४०	४९ ६४
१९४०–४१	७३ ६१
१९४१–४२	१०३ ९३
१९४२–४३	२१४ ६२
१९४३–४४	३५८ ४०
१९४४–४५	३९५ ४९
योग	१२४१ ८७

1 Reports on Currency & Finance (1938-39 onwards) of the Reserve Bank of India for respective years

इस व्यय को पूरा करने के लिए रिजर्व बैंक ने स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के आधार पर पत्र-मुद्राएँ छापीं, परन्तु साथ ही कोष-विपत्रों (treasury bills) के आधार पर भी पत्र-मुद्राएँ चलायी। इस प्रकार कोष विपत्रों के आधार पर पत्र चलन करने की क्रिया को प्रो० सी० एन० वकील ने 'नग्न मुद्रास्फीति' (inflation in its naked form) कहा है, जिसके परिणाम भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर भीषण हुए है। इस प्रकार जहाँ १६३८-३६ मे रिजर्व बैंक के 'चलन-विभाग' मे ३७४४ करोड रुपये के कोष-विपत्र थे वे बढते-बढते १६३६-४०, १६४०-४१, १६४१-४२ और १६४२-४३ में क्रमश: ३७४४, ४८४६, ७५१६ और १३६३८ करोड रुपये के हो गए थे।[1] यही कोष-विपत्रों की राशि युद्ध समाप्त होने के समय १६४४-४५ में घटकर ५३६५ करोड रुपये रह गयी थी।

४ **वस्तुओं की दुर्लभता**—एक ओर तो पत्र-मुद्रा-प्रसार के कारण जनता की क्रयशक्ति बढ़ती जा रही थी और दूसरी ओर आवश्यकता की वस्तुओं का निर्यात युद्ध-कार्यों के लिए होता रहने के कारण वे पर्याप्त मात्रा मे नहीं मिल रही थी जिससे माँग एव पूर्ति का सन्तुलन नष्ट हो गया तथा आवश्यक वस्तुओं का अकाल पड गया। इसी कारण बगाल का भीषण अकाल भी हुआ जिसमें किन्ही भी दामो पर अन्न नहीं मिल रहा था और मुद्रा-प्रसार होते हुए भी जनता के पास उसे खरीदने के लिए क्रयशक्ति नहीं थी।

समस्या को हल करने के प्रयत्न—मुद्रास्फीति के जो परिणाम होने थे वही हुए। सरकार ने युद्ध आरम्भ होते ही मूल्य-वृद्धि को रोकने के लिए सुरक्षा-विधान के अनुसार ८ सितम्बर १६३६ को प्रान्तीय सरकारो को खाद्यान्न, दवाइयाँ, रसायन, कपडा आदि आवश्यकता की वस्तुओं के अधिकतम मूल्य निश्चित करने का आदेश दिया था, जिससे इन वस्तुओं की कीमतें १ सितम्बर १६३६ के मूल्यों से १०% से अधिक न बढने पायें। इस आदेश पर तुरन्त कार्यवाही भी की गयी परन्तु मूल्य-वृद्धि को न रोका जा सका और बगाल मे जो भीषण अकाल हुआ उस पर सरकार की निष्क्रियता की बुरी तरह आलोचना होने लगी। इसलिए सरकार ने उद्योगपतियो, अर्थशास्त्रियो, श्रमिक-सघो आदि समाज के विभिन्न वर्गों की सभाएँ की जिनमे इस समस्या के हल पर विचार

[1] See Statement 40 Report of Reserve Bank of India on Currency & Finance for 1951-52

किया गया। विभिन्न वर्गों ने समस्या को हल करने के लिए अलग-अलग उपाय बताये परन्तु सब ने एकमत से यह कहा कि वस्तुओ की कीमतें बढ गयी है और उन्हे रोकना आवश्यक है। कीमतें बढ जाने से जीवन-व्यय बढ गया था परन्तु आम जनता की आय वही रहने से जीवन-निर्वाह कठिन हो गया था। वस्तुओ की कमी के कारण कीमत और अधिक बढने लगी और व्यापारिक समाज और सेवक वर्ग मे चोरबाजारी, भ्रष्टाचार, सट्टा, अनैतिकता आदि का बोलबाला हो गया था। अतएव

(१) सरकार ने सभी वर्गों के सुझावों पर विचार कर मुद्रास्फीति को रोकने के लिए जीवनावश्यक वस्तुओ के मूल्य पर नियन्त्रण लगाकर वितरण का प्रबन्ध भी अपने हाथ मे ले लिया। फलस्वरूप दिसम्बर १९४२ से अन्न-वितरण का श्रीगणेश हुआ, जिससे हम सभी परिचित हो चुके है। इसी समय देश का उत्पादन बढाने के लिए 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' का आरम्भ किया गया जिससे देश मे अन्न की कमी न रहे।

(२) सरकार ने जनता की अतिरिक्त क्रयशक्ति को अथवा मुद्रा को वापिस लेने के लिए बचत बैंको मे प्रति व्यक्ति निक्षेप (deposit) की सीमा भी ५००० रु० से बढाकर १०००० रु० कर दी। नये-नये कर भी लगाये गये।

(३) कम्पनियों द्वारा दिये जाने वाले लाभाश भी सीमित कर दिये गये जिसके अनुसार कोई भी कम्पनी ६% से अधिक लाभाश का वितरण नही कर सकती थी।

(४) जनता के पास की मुद्रा खीचने के लिए सरकार ने जनता से ऋण लेना शुरू किया तथा रिजर्व बैंक द्वारा स्वर्ण की बिक्री भी की गयी।

(५) केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारो ने अपने अपने व्यय कम करके बजट को सन्तुलित करने के प्रयत्न भी किये तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रान्तीय सरकारो को दी जाने वाली सहायता भी कम कर दी गयी।

(६) देश मे उपभोग्य माल के अभाव को मिटाने के लिए सरकार ने अपनी आयात नीति भी ढीली करदी जिससे देश मे अधिक माल का आयात होकर जनता की आवश्यकताएं पूरी हो सकें। देश का उत्पादन बढाने के लिए भी सरकार ने उद्योगो को अनेक सुविधाएँ दी, जिसके अनुसार उद्योगो को आवश्यक माल जैसे लोहा, सीमेंट आदि नियन्त्रित कीमतों पर देने का प्रबन्ध किया गया। नये उद्योगो की स्थापना के लिए उनको बाहर से पूंजीगत माल आयात करने के लिए सुविधाएँ दी गयी तथा पूंजीगत माल के आयात को

आयात-कर से मुक्त कर दिया गया। नये उद्योगों को ५ वर्ष तक आय-कर से भी मुक्त कर दिया गया।

इन विविध प्रयत्नों से देश में नये-नये उद्योग खुले तथा उन से देश का उत्पादन भी बढ़ा परन्तु मुद्रास्फीति बनी ही रही और कीमतें भी बढ़ती ही रहीं। सितम्बर १६४५ में युद्ध की समाप्ति हुई जिससे जनता को यह आशा हुई कि अब स्थिति सुधर जायगी परन्तु वह सुधरने की बजाय बिगड़ती ही गयी। यहाँ पर एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि मुद्रास्फीति के जितने बुरे परिणाम ब्रिटिश साम्राज्यान्तर्गत राष्ट्रों को भुगतने पड़े, उतने इङ्गलैंड को नहीं। इङ्गलैंड एवं अमेरिका में जहाँ मूल्यस्तर क्रमशः ७०% तथा ३६% से बढ़े, वहाँ भारत में १६४४ में लगभग २०० प्रतिशत से मूल्यस्तर बढ़े। इसका कारण यह था कि भारत ने (जैसा कि हमने देखा) स्टर्लिंग प्रतिभूतियों को खरीदकर उनके आधार पर यहाँ पत्र-चलन बढ़ाया। स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में हमारा यह विनियोग स्वेच्छिक न होते हुए जबरदस्ती था।[1] इस प्रकार इङ्गलैण्ड की मुद्रास्फीति का प्रभाव साम्राज्य के अधीन देशों में बाँट दिया गया।

सारांश

दूसरा युद्ध आरम्भ होते ही भारत को भी ब्रिटिश साम्राज्य का अंग होने के कारण उसमें भाग लेना पड़ा जिससे हमारी चलन एवं विनिमय-पद्धति पर घोर परिणाम हुए। प्रारम्भ में कुछ अव्यवस्था सी आने लगी परन्तु चलन-पद्धति ने अपना मिलान परिस्थिति के साथ किया। युद्ध के कारण निम्न परिणाम हुए :—

१ चलन का विस्तार हुआ जिससे कीमतें बढ़ीं।

२ स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियों की राशि में वृद्धि हुई।

३ सामाजिक ऋण के ढाँचे में परिवर्तन हुआ।

युद्ध के तत्कालीन प्रभाव—युद्ध के कारण जनता का चलन-पद्धति में अविश्वास हो गया जिससे जून १६४० तक साप्ताहिक १ करोड़ रुपये की पत्र-मुद्रा का रुपयों में परिवर्तन हुआ। ये रुपये भूमिगत होने लगे। सरकार का सुरक्षा व्यय बढ़ने लगा। इसलिए भारत सुरक्षा कानून के अन्तर्गत सरकार ने घोषणा की कि कोई भी व्यक्ति पत्रमुद्रा का रुपयों में भुगतान लेने से इन्कार नहीं कर सकता। इसी प्रकार आवश्यकता से अधिक रुपये या मुद्राएँ लेना

[1] *Eastern Economist*—July 5, 1941 quoted from *War & Indian Policy* by D. R. Gadgil, p. 8

दण्डनीय घोषित किया गया। साथ ही रुपये की कमी को दूर करने के लिए १ रु० के नोट चलाने का अधिकार सरकार को मिला। फरवरी १९४३ मे २ रु० के नोट भी चलाये गये।

जुलाई १९४० मे अठन्नी और चवन्नियों मे तथा दिसम्बर १९४० मे रुपये मे चाँदी का अश ११/१२ से १/२ कर दिया गया। ११ अक्टूबर १९४० से विक्टोरिया के तथा १ नवम्बर १९४३ से जॉर्ज पचम् एव षष्ठम् के ११/१२ भाग चाँदी वाले रुपये बन्द किये गये। रेजगारी की कमी को दूर करने के लिए गिलेट के अधन्ने, इकन्नियां तथा दुअन्नियाँ १९४२ से और १९४३ से छेदवाला पैसा चलाया गया।

युद्ध के कारण भारतीय आयात मे कमी हुई, यातायात साधनो का उपयोग युद्ध के लिए होने लगा, तथा विदेशी भुगतान के लिए विदेशी मुद्राएँ दुर्लभ हो गयीं। इसमे हमारे निर्यात बढे तथा व्यापारिक शेष अनुकूल होता रहा। फलतः इंगलैंड मे हमारे पौंड-पावने इकट्ठे हो गये।

विदेशी मुद्रा का युद्ध-कार्य के लिए अधिकतम उपयोग करने के लिए विनिमय-नियन्त्रण लगाये गये। यह कार्य रिजर्व बैंक को अपने विनिमय-नियन्त्रण विभाग द्वारा करना था। इन नियन्त्रणों के अनुसार विदेशी मुद्रा मे लेन-देन केवल रिजर्व बैंक से लाइसेन्स प्राप्त बैंक ही कर सकते थे तथा इस हेतु निम्न नियन्त्रण लगाये गये —

१ स्वतन्त्र स्टर्लिंग क्षेत्र का विस्तार, २ विदेशी विनिमय के उपयोग पर नियन्त्रण, ३ डॉलर एव डॉलर प्रतिभूतियो पर अधिकार, ४ मुद्रा, पत्र-मुद्रा, आदि के निर्यात पर रोक, ५. विदेशी मुद्रा मे भुगतान करने पर रोक, ६ भारत-स्थित शत्रु सम्पत्ति पर अधिकार।

सुरक्षा व्यय मे वृद्धि होने से सरकार ने अनेक नये नये कर लगाये तथा ऋणपत्र चालू किये।

मुद्रास्फीति—युद्ध-काल मे सरकार युद्ध की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए नोटो का चलन बढाती रही जो १९३९ के १३९ करोड रुपये से १९४४–४५ मे १०८४ ८८ करोड रुपये हो गया। परन्तु इसी अनुपात मे उत्पादन न बढने से कीमतें बढने लगी जिनका निर्देशाक १९३९ के १०० से १९४४–४५ मे २४४ २ हो गया। इसके निम्न कारण थे :—

१ अनुकूल व्यापारिक शेष, २ भारत द्वारा मित्रराष्ट्रो की सहायता,

३ सुरक्षा का बढता हुआ व्यय, ४ वस्तुओ की दुर्लभता । इसको रोकने के लिए सरकार ने निम्न उपाय काम मे लिये —

१ कीमतो पर नियन्त्रण, २ बचत को प्रोत्साहन एव नये कर, ३ कम्पनियो के लाभाश को सीमित करना ४ जनता से ऋण लेना ५ सरकारी व्यय मे कमी तथा बजट सतुलन के प्रयत्न, ६ जीवनावश्यक वस्तुओं की कमी को दूर करने के लिए आयात-नीति मे ढिलाई ।

परन्तु फिर भी मुद्रास्फीति बनी रही । सितम्बर १६४५ मे युद्ध-समाप्ति की घोषणा से यह आशा थी कि स्थिति सुधरेगी परन्तु वह न हुआ।

अध्याय १५

भारतीय चलन-पद्धति (१६४६ से १६६०)

युद्ध समाप्त होने के बाद जनता को आशा थी कि वस्तुओं की कीमतें कम हो जायेंगी तथा जीवनावश्यक वस्तुओं की कमी दूर होगी, परन्तु ये सब आशाएँ बेकार रही। कारण युद्धोत्तरकाल में ऐसी परिस्थिति हुई जिससे मुद्रा-प्रसार बढ़ता ही गया और उसके साथ कीमत भी। युद्ध समाप्त होने के समय (अगस्त १६४५ मे) भारतीय मूल्य-निर्देशाक २४४ १ थे जो क्रमश बढते-बढते नवम्बर १९४६ मे २८६ ६, दिसम्बर १६४६ मे ३११ ६ मार्च १९४७ मे ३४४ ०, अगस्त १६४८ मे ३८३ ० तक पहुँच गय। इस सब मे अन्नधान्यादि के भाव सबसे अधिक बढे जिसके निर्देशाक सितम्बर १९४५ मे २६४ २ से मार्च १६४८ म ४०२ ४ हो गये। कीमतो की यह प्रवृत्ति बराबर चालू रही।

युद्धोत्तर मुद्रा-स्फीति के कारण

१ **मुद्रा एवं चलन का प्रसार**—युद्ध के बाद भी भारत सरकार इगलैंड सरकार के लिए भारत मे व्यय करती रही। इसलिए भारत सरकार को अधिक रुपये की जरूरत थी जिसको पूरा करने के लिए रिजर्व बैंक ने पत्र मुद्राएँ चलायी, क्योकि इगलैंड की सरकार से इसके भुगतान मे भारत को केवल स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ ही मिलती रही। स्टर्लिंग प्रतिभूतियो के आधार पर जून १६४६ तक पत्रमुद्रा-प्रसार होता रहा और इस अवधि मे रिजर्व बैंक के कोष मे स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ भी बढ़ती रही —

	कुल पत्रमुद्रा जो चलायी गयी (करोड रु० मे)	पत्रमुद्रा जो चलन मे थी (करोड रु० मे)	रिजर्व बैंक के कोष मे स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ (करोड रु० मे)
सितम्बर १६४५	११६२ ७४	११३१ ८४	१०४२ ३३
अप्रैल १६४६	१२४५ ६५	१२३५ १२	११२४ ७०
मई १६४६	१२४६ ९३	१२३७ ०५	११२९ ३२
जून १६४६	१२५४ ३३	१२४१ ६७	११३५ ३२
सितम्बर १६४६	१२५७ ३२	११६८ ३५	११३५·३२
दिसम्बर १६४६	१२५८ ५६	१२१८ ७८	११३५ ३२
मार्च १६४७	१२५७ ४७	१२४३ ०३	११३५ ३२

इसके बाद भी पत्र चलन बढ़ता रहा परन्तु स्टर्लिंग प्रतिभूतियों की राशि जून १९४६ मे स्थायी रही। अर्थात् १९४६ के बाद जो भी मुद्रा-प्रसार हुआ वह भारत सरकार की निजी आवश्यकताओं के लिए किया गया।

२ बजट मे घाटा—केन्द्र एव राज्य सरकारो के युद्धोपरान्त बजट देखने से पता चलता है कि दोनो ही के बजटो मे आय की अपेक्षा व्यय ही अधिक होता रहा। इसको पूरा करने के लिए सरकार ने रिजर्व बैंक की शरण ली और रिजर्व बैंक ने इस कमी को पूरा करने के हेतु पत्र-मुद्राएँ चलायी। अगस्त १९४७ से बजट म अधिक घाटे रहने लगे जिसके लिए अनेक बाहरी कारण जिम्मेदार थे। य कारण है —(अ) भारत का विभाजन और विस्थापितो का पुनर्वास, (आ) अन्न, धान्य एव कच्चे माल की कमी, (इ) काश्मीर की लडाई, (ई) हैदराबाद मे पुलिस कार्यवाही (उ) भारतीय दूतावासो पर खर्चा आदि। इन समस्याओ मे भारत सरकार का व्यय बढ गया और बजट मे घाटा होने लगा —

केन्द्रीय बजट[1] (करोड रुपयो मे)

वर्ष	आय	व्यय	घाटा
१९४५–४६	३६१ १९	४८४ ६१	—१२३ ४२
१९४६–४७	३४२ ८९	३४३ ४९	—० ६०
१९४७–४८	१३८ ७७	१८५ २९	—९ ५२[2]
१९४८–४९	३७१ ७०	३२० ८६	—५० ८४
१९४९–५०	३५० ३९	३१७ १२	— ३३ २७
१९५०–५१	४१० ६६	३५१ ४४	+५९ २२
१९५१–५२	५१५ ३९	३८७ ३७	+१२८ ०२

इसी प्रकार प्रान्तीय बजटो मे भी घाटा ही रहा जिससे मुद्रा-प्रसार तो होता गया परन्तु उस के अनुपात मे उत्पादन शक्ति नही बढ़ी।

३ अन्न-वस्त्रादि वस्तुओं का विनियन्त्रण—युद्ध-काल मे अन्न-वस्त्रादि आवश्यक वस्तुओं की कीमतो पर सरकार द्वारा नियन्त्रण लगाये गये थे तथा उनका वितरण भी सरकार ही करती थी। परन्तु युद्ध के बाद कुछ व्यक्तियों ने नियन्त्रण के विरुद्ध आक्षेप उठाये तथा इस नीति की आलोचना होने लगी।

---

[1] R B I Reports on Currency & Finance

[2] १५ अगस्त १९४७ से ३१ मार्च १९४८ के लिए।

महात्मा गाधी ने भी अन्न-वस्त्रादि से नियन्त्रण उठाने के लिए आग्रह किया। परन्तु सरकार ने खाद्यान्न-नीति समिति की नियुक्ति की। इसकी सिफारिशो के अनुसार दिसम्बर १९४७ मे नियन्त्रण उठा लिये गये। इससे विनियन्त्रित आवश्यक वस्तुओं की कीमते बढने लगी, जिनके मूल्यांक दिसम्बर १९४७ में ३२१ थे जो बढते-बढते मार्च १९४८ मे ३४७, जून १९४८ मे ३७७ तथा अगस्त १९४८ मे ३९८ हो गये। इस परिस्थिति को काबू मे लेने के लिए सरकार को विवश होकर अक्टूबर १९४८ मे फिर नियन्त्रण लगाने पडे, परन्तु अन्न धान्यादि की कीमतों मे विशेष सुधार नही हुआ।

४. **अन्न-संकट**—मुद्रास्फीति को देश के अन्न-संकट से भी काफी बल मिलता है। यह अन्न-संकट बढती हुई जनसंख्या तथा देश मे अन्न-उत्पादन की कमी के कारण तो हुआ ही, साथ ही भारत का गेहूँ तथा चावल आदि कच्चा माल उपजाने वाला प्रदेश पाकिस्तान को मिल जाने से हमारी अन्न परिस्थिति को काफी धक्का लगा है, जिससे भारत को विदेशो से गेहूँ आदि अन्न का आयात करना पडा। इस आयात से हमारी भुगतान-शेष-परिस्थिति भी प्रभावित हुई। अन्न आयात के आँकडे इस प्रकार है —

वर्ष	आयात (लाख टनो मे)	मूल्य (करोड रुपयो मे)
१९४७–४८	२३	९४
१९४८–४९	२८	१५०
१९४९–५०	२७	१४४
१९५०–५१	२१	८०
१९५१–५२	४०	१४०

परन्तु इससे परिस्थिति मे कोई भी सुधार नही हुआ है और आज हम यह आशा करते है कि तीसरी योजना के अन्त तक हम खाद्यान्न मे आत्मनिर्भर हो जायेंगे।[२]

५. **उत्पादन मे कमी**—युद्ध के बाद भी देश मे उपभोग्य-वस्तुओं का अभाव बना रहा क्योंकि जनता की माँग बढती जा रही थी और देश का उत्पादन कम ही रहा था। देखिये निम्न तालिका[१]।

---

१ *Eastern Economist Index Numbers*

२ नवभारत टाइम्स, २२ अक्टूबर १९५९

वर्ष	कृषि-उत्पादन निर्देशांक	औद्योगिक उत्पादन निर्देशांक
१९४३–४४	—	१२६.८
१९४४–४५	—	१२१.७
१९४५–४६	९४	१२०.०
१९४६–४७	९६	१०५.०
१९४७–४८	९७	१०८.३
१९४९	—	१०५.७

उत्पादन गिरने के कारण वस्तुओं की कीमत बढ रही थी। युद्ध के बाद उत्पादन कम होने के अनेक कारण है, जैसे हड़ताल, कच्चे माल की महँगाई, पूँजीगत वस्तुओं के प्राप्त करने में कठिनाई, विनियोग के लिए पूँजी की कमी आदि।

मुद्रास्फीति का प्रभाव

युद्धकालीन मुद्रास्फीति से युद्धोपरान्त मुद्रास्फीति भिन्न थी क्योंकि युद्ध-काल में मुद्रास्फीति होने से वस्तुओं की कीमत बढ गयी जिससे व्यापारियों, किसानों और उद्योगपतियों ने खूब लाभ कमाया। उन्होंने चोरबाजारी से अपनी आय बढाली और उसे छिपाकर आय-कर से भी बचते रहे। इस अवधि में आयात की कमी के कारण देश में उपभोग्य-वस्तुओं की पूर्ति देशी व्यापारियों एवं उद्योगों द्वारा ही होती थी इसलिए उनको युद्ध काल में असीमित लाभ मिले। यही बात किसानों के लिए भी लागू होती है। नियंत्रण होने के बावजूद भी उन्होंने चोरबाजारी से माल बेचा। इसके अलावा कच्चे माल आदि की कीमतें बढ जाने से उन्हें लाभ हुआ परन्तु इस अवधि में कृषिज वस्तुओं की कीमतें इतनी अधिक नहीं बढी थीं जितनी निर्मित वस्तुओं की, इससे उनको लाभ मिला परन्तु कम। मजदूरों को और स्थायी आय वाले कर्मचारियों को बहुत हानि हुई एवं कठिनाइयाँ झेलनी पड़ी क्योंकि वस्तुओं की कीमतें आदि बढ जाने से जीवन-व्यय अधिक हो गया था परन्तु महँगाई भत्ते के रूप में उनकी आय उतनी नहीं बढी थी जितनी की कीमतें।

युद्ध के बाद जो मुद्रास्फीति हुई उसके परिणाम कुछ भिन्न ही हुए। युद्ध के बाद अन्न तथा अन्य कृषिज वस्तुओं की कीमत बहुत बढ गयी थी जिससे किसानों ने खूब लाभ कमाया। परन्तु उद्योगपतियों के लाभ कम हो गये क्योंकि एक ओर तो कच्चे माल की कीमतें बढ गयी थी और दूसरी ओर हड़तालों के

कारण उत्पादन की हानि हो रही थी। इसके अलावा मजदूरों की आय भी बढ गयी थी जिससे मजदूरी अधिक देनी पडती थी। इन कारणो से उद्योग पतियो के लाभ कम हो गये थे। परन्तु मध्यम श्रेणी के लोग इस चक्की में बुरी तरह पिसे क्योंकि वे अपनी आय से अपना खर्चा भी पूरा नही कर पाते थे तो फिर बचत कहा से करते ? फलत देश की पूजी निर्माणशक्ति घट जाने से देश में औद्योगिक विनियोग के लिए पूजी का अभाव प्रतीत होने लगा। इस अवधि में जिन लोगो की—कृषको अथवा मजदूरो की —आय बढी उन लोगो में बचत करने की प्रवृति कम है और जो बचत करते भी है उसे वे बैंको में न रखते हुए अपने पास ही स्वर्ण में रखते है जिससे वह राशि औद्योगिक विनियोग के लिए नही मिल सकती।

मुद्रास्फीति रोकने के लिए प्रयत्न

इसीलिए बढते हुए मूल्यो को रोकने एव मुद्रास्फीति के निवारण के लिए सरकार चिन्तित हो उठी। उसने देश के उद्योगपतियो, बैंको अर्थशास्त्रियो आदि के साथ विचार विनियम करने के बाद अक्टूबर १९४८ में मुद्रास्फीति रोकने की एक योजना बनायी। इस योजना में अन्न वस्त्रादि अन्य आवश्यक वस्तुओ पर नियत्रण लगाना बजटो को सतुलित रखना एव इसलिए अधिक करो आदि से आय बढाना व सरकारी व्यय कम करना देश के कृषि उत्पादन एव औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि करना कम्पनियो द्वारा दिये जाने वाले लाभाशो को सीमित रखना तथा बैंकिंग प्रसार द्वारा छोटी आय वाले व्यक्तियो में बचत कराना जिससे वह उत्पादन कार्य में लगायी जा सके, आदि सम्मिलित थे।

इस योजना पर कार्यवाही की गयी जिसके अनुसार सितम्बर १९४८ से खाद्यान्न वितरण योजना मूल्य नियन्त्रण एव आवश्यक वस्तुओ का वितरण करने के लिए कार्यरूप मे लायी गयी। लाभाश ६% से अधिक नही दिया जा सके इस हेतु लाभाश मर्यादीकरण विधान (*Dividend Limitation Act*) स्वीकृत हुआ। देश का उत्पादन बढाने तथा उद्योगो को प्रोत्साहन देने के लिए उनके करो मे कमी करके उनको अनेक प्रकार से सुविधाएँ दी गयी। ये सुविधाएँ क्रमश १९४८ ४९ १९४९ ५० तथा १९५० ५१ मे दी गयी। इसके साथ साथ देश की औद्योगिक पूजी बढाने के लिए अगस्त १९४९ से अनिवार्य बचत योजना लागू की गयी जिसके अनुसार २५० रुपये तथा इससे अधिक पाने वाले को नियमित रूप से बचत करना अनिवार्य हो गया। इसी प्रकार कृषि उपज के दाम बढ जाने से बहुत सा धन देहातो में इकट्ठा हो गया था जो या तो भूमिगत हो चुका

था अथवा गहना म परिवर्तित हो चुका था। इस धन को खींचने के लिए नवम्बर १९४९ म 'ग्रामीण बैंकिंग जाच समिति' की नियुक्ति की गयी। इसकी रिपोर्ट के अनुसार इस धन को खींचने के लिए उन्होंने डाकघर बैंकों का प्रचार देहातो म होना आवश्यक बताया है। इसके अनुसार देहातो म डाकघर बैंको की संख्या बढाई गयी है। इसी प्रकार बजट म होने वाले घाटो की पूर्ति भी नये नये करो से की जा रही है जिसके अनुसार १९४९ ५० से १९५२ ५३ के बजटो म क्रमश ३३ ७ ५९ -- १२८ ०९ तथा ३७ ९ करोड रुपये का आधिक्य रहा। इन प्रयत्नो के कारण मूल्यस्तर भी गिरे परन्तु धीरे धीरे फिर कीमत बढने लगी।

१९५०-५१ से कीमत बढने के लिए तीन कारण जिम्मेदार थे—(१) कोरियाई युद्ध (२) अमरिका द्वारा कच्चे माल का संग्रह करने का कार्यक्रम (American stock piling programme) तथा (३) इगलैण्ड आदि यूरोपीय देशो द्वारा अपनायी गयी पुन शस्त्रीकरण की योजना। इन तीन कारणो से माल की विशेषत कच्चे माल की माग बढ गयी थी जिससे कृषिज वस्तुओ की कीमत अधिक बढी।

	खाद्यान्न के मूल्यांक	औद्योगिक कच्चे माल के मूल्यांक	सामान्य निर्देशांक
१९४८–४९	३८३ ९	६४६ ८	३७६ ०
१९४९–५०	३९१ ३	४७१ ७	३८५ ४
१९५०–५१	६१० ४	५२३ १	४०९ ७

इससे स्पष्ट है कि खाद्यान्न तथा औद्योगिक कच्चे माल की कीमतें बहुत अधिक बढी और अन्य वस्तुओ की कीमतो की प्रवृत्ति चढाव की ओर ही रही। इसलिए अगस्त १९५० म सरकार ने अपनी आर्थिक एव राजस्व नीति मे परिवर्तन किया जिसमे स्फीतिजन्य परिस्थिति काबू म बाहर न जाने पाय। इस हेतु सरकार ने देश का उत्पादन बढाने अपने खर्चे कम करने एव आवश्यक वस्तुओ की पूर्ति बढाने के प्रयत्न किये। इसलिए सरकार ने आयात-नीति ढीली कर दी तथा इसेंशल सप्लाईज (टेम्पररी पावर्स) एक्ट १९४६ (Essential Supplies (Temporary Powers) Act 1936) म संशोधन करके आवश्यक वस्तुओ के संग्रह पर रोक लगा दी। दूसरे वस्तुओ का उत्पादन एव वितरण तथा कीमतो का नियन्त्रण देशव्यापी आधार पर हो इसलिए सरकार ने एक वर्ष के लिए (१) व्यापार एवं वाणिज्य तथा (२) वस्तुओ के

उत्पादन पूर्ति एव वितरण सम्बन्धी विधान बनाने का अधिकार भी अपने हाथ मे लिया, और (३) आनरिक एव बाहरी कीमतो की विषमता को दूर करन तथा मुद्रास्फीति को रोकने के लिए अनेक वस्तुओं पर निर्यात-कर बढाय तथा जिन वस्तुआ पर नहीं थे उन पर नये निर्यात-कर लगा दिये। इसमे मूल्य-स्तर में कुछ स्थिरता रही परन्तु यह स्थिरता कायम न रह सकी और मूल्य फिर बढन लगे।

मन्दी की लहर (Dis-inflationery Trends)

परन्तु अप्रैल १९५१ से मूल्य-स्तर गिरने लग और यह गिरावट नवम्बर १९५१ से अधिक तीव्र गति से हुई। वैसे तो व्यापार-चक्र-सिद्धान्त (Theory of trade cycle) के अनुमार यह मन्दी दस वर्ष बाद अर्थात् १९४९-५० मे ही आ जानी चाहिए थी परन्तु कोरिया का युद्ध, यूरोपीयन देशो की पुन-शस्त्रीकरण की योजना तथा अमरिकन स्टॉक-पाइलिंग प्रोग्राम के कारण यह मन्दी कुछ काल के लिए रुक गयी थी। मन्दी की लहर वास्तव मे तीव्र गति से जून १९५१ मे ही शुरू हो गयी थी जब कि कोरियाई सधि-वार्ता शुरु हुई। इस मन्दी के लिए अन्तरराष्ट्रीय कारण तो जिम्मेदार थे ही परन्तु सरकार ने मुद्रास्फीति को रोकने के लिए जो कदम उठाये वे भी जिम्मेदार थ। अन्तर-राष्ट्रीय कारणो म निम्नलिखित कारणो का समावेश होता है —

(१) जून १९५१ म कोरियाई सधि-वार्ता का आरम्भ,

(२) यूरोपीय देशो के पुन शस्त्रीकरण की अवधि बढायी जाना,

(३) अन्तरराष्ट्रीय कच्चा माल सम्मेलन (International Raw Materials Conference) के प्रयत्नो के कारण कच्चे माल की दुर्लभता की समस्या का हल,

(४) दुर्लभ कच्चे माल का सम्पूर्ण विश्व का उत्पादन बढ जाना, तथा

(५) अमेरिका द्वारा कच्चे माल के सग्रह (American stock-piling programme) की अवधि बढायी जाना।

इन कारणो मे अन्तरराष्ट्रीय बाजारो म कीमता मे गिरावट आयी जिससे भारतीय बाजार भी प्रभावित हुआ और हमारे यहा भी कीमतें गिरने लगी। इसी समय सरकार ने भी मुद्रास्फीति की रोक थाम कर मूल्यो को स्थिर रखने के लिए अनेक कदम उठाये। सरकारी व्यापारिक नीति मे सशोधन किया गया जिससे देश मे वस्तुएँ सुलभता से मिल सकें। इसी के साथ देश मे भी उत्पादन बढा जिमसे वस्तुएँ सुलभता से मिलने लगी। दूसरे, सरकार द्वारा दुर्लभ वस्तुआ

पर नियंत्रण भी चालू रखा गया। तीसरे अनेक वस्तुओं के निर्यात करों में वृद्धि की गयी तथा कुछ वस्तुओं पर निर्यात-कर लगाये गये। चौथे, सरकार के बजट में आधिक्य। पाँचवें साख का नियंत्रण करने के लिए रिजर्व बैंक द्वारा १४ नवम्बर १९५१ में बैंक-दर में भी वृद्धि की गयी। बैंक-दर का उत्थान से तथा खुले बाजार की क्रियाओं सम्बन्धी नयी नीति की घोषणा होने ही बैंकों ने अपने ऋण वापिस लेना शुरू किये तथा साख को कम किया। उसमें व्यापारियों की संग्रह-शक्ति कम होकर बाजार में वस्तुओं की पूर्ति बढ़ने लगी। इसके अलावा आगामी फसल के अच्छे होने सम्बन्धी समाचारों तथा वस्तुओं के अन्तर-प्रान्तीय आयात निर्यात की सुविधाओं के कारण कीमतें गिरने लगी। निम्न तालिका से जून १९५१ से मार्च १९५२ तक मूल्यांकों में किस तरह गिरावट आयी, यह स्पष्ट हो जायगा —

		खाद्य-वस्तुएं	औद्योगिक कच्चा माल	सामान्य निर्देशांक
जून	१९५१	४१२ ८	६८८ ७	४५६ ५
सितम्बर	१९५१	४१० २	५६३ ४	४३५ १
दिसम्बर	१९५१	३९९ १	५७४ १	४३३ १
जनवरी	१९५२	३९३ ०	५८० ६	४१० ३
फरवरी	१९५२	३७८ ४	५४५ ४	४१५ ८
मार्च	१९५२	३४२ ७	४२४ २	३७७ ५

यदि मंदी आई जरूर परन्तु यह मंदी स्थायी न रह सकी क्योंकि जून १९५२ के बाद के मूल्यांकों से पता चलता है कि वस्तुओं के भाव फिर से चढ़ने लगे। इसमें सरकार की ओर से कुछ ढिलाई भी बरती गयी क्योंकि उसने गुड़ शक्कर आदि के निर्यात करने पर छूट दी तथा जूट तेलहन आदि वस्तुओं के निर्यात-करों को भी कम कर दिया। इससे वस्तुओं के भाव बढ़ने लगे। इस सम्बन्ध में सरकार की ओर से यह दलील दी गयी थी कि यह सब भुगतान की कमी को दूर करने के लिए किया गया था मंदी दूर करने के लिए नहीं। परन्तु कुछ भी हो सरकार का यह अवसर खोना न चाहिए था।

पंचवर्षीय योजना काल —१९५१ के मध्य से भारत में पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा आर्थिक विकास कार्यक्रम अपनाया गया। पहली योजना पर २३५६ करोड़ रुपये का आयोजन था जिसमें ४१५ करोड़ रुपये के हीनार्थ प्रबन्धन का आयोजन था। इसी प्रकार दूसरी योजना का कुल व्यय ४८०० करोड़ रुपये था

जिसमे से १२०० करोड रुपये की व्यवस्था हीनार्थ प्रबन्धन से तथा ४०० करोड रुपये देश के विभिन्न स्रोतो से करा आदि द्वारा उपलब्ध करने की योजना थी जिसके बारे मे कोई स्पष्ट सकेत नही है।

प्रथम योजना मे अतिरिक्त करो से जहाँ २७६ ८ करोड रुपये प्राप्त किये गये थे वहाँ दूसरी योजना के प्रथम तीन वर्षो मे ४५३ ३ करोड रुपये प्राप्त हुए। इसके अलावा पहली योजना मे ४१७ करोड रुपये का हीनार्थ प्रबन्धन हुआ। फिर भी कीमतो का स्तर स्थिर रहा। इसमे दूसरी योजना से अधिक मात्रा म हीनार्थ प्रबन्ध की गुजाइश थी। दूसरी योजना के प्रथम तीन वर्षो मे ६१७ करोड रुपये का हीनार्थ प्रबन्धन किया गया तथा शेष २ वर्षो मे २०० से ३०० करोड रुपये का हीनार्थ प्रबन्धन होने का अनुमान है। इस हीनार्थ प्रबन्धन का प्रभाव हमारे मूल्य-स्तर पर हो रहा है। जहाँ पहली योजना की अवधि मे मूल्यस्तर मे ७% गिरावट आयी वहाँ दूसरी योजना के प्रथम तीन वर्षो मे ही १५% से मूल्यस्तर बढ और उनमे बढने की ही प्रवृत्ति है। यह इस ओर सकेत करती है कि प्रथम योजना मे जहाँ हीनार्थ प्रबन्धन विकासोन्मुख था वहाँ दूसरी योजना मे वह मुद्रास्फीति-जन्य है।[1] देखिये निम्न तालिका—

थोक कीमतो के निर्देशाक[2] (आधार १६३६=१००)

वर्ष	खाद्यान्न	औद्योगिक कच्चा माल	निर्मित माल	साधारण
१६५०-५१	४१६ ४	५२३ १	३४५ २	४०६ ७
१६५१-५२	३६८ ६	५६१ ६	४०१ ५	४३४·६
१६५२-५३	३५७ ८	४३६·६	३७१ २	३८० ६
१६५३-५४	३८४·४	४६७ ७	३६७ ४	३६७ ५
१६५४-५५	३३६ ८	४३६ २	३७७ ३	३७७ ४
१६५५-५६	३१३ २	४१६ ७	३७२ ६	३६० ३

अत इसकी रोकथाम क लिए शीघ्र कार्यवाही की आवश्यकता है।

चलन-पद्धति मे परिवर्तन

युद्ध के बाद जनवरी १६४६ मे हमारे यहा की चलन एव बैकिग पद्धति मे तीन निम्नलिखित उल्लेखनीय परिवर्तन हुए —

(१) पहले आदेश के अनुसार जो ११ जनवरी १६४६ को दिया गया,

---

1 *Modern Review*, April 1959, p. 288

2 *India*—1958

समस्त बैंकों तथा सरकारी कोषों को ११ जनवरी तक के व्यवहारों के बाद के उनके पास सुरक्षित १०० रुपये और उससे ऊँचे पत्र मुद्रा के पूर्ण विवरण (statement) देने के लिए बाध्य किया गया। इसका हेतु यह जानना था कि कितनी पत्र मुद्रा चलन में है तथा कितनी बैंकों एवं सरकारी कोषों में है।

(२) दूसरे आदेश के अनुसार १०० रुपये से अधिक रुपयों की पत्र मुद्रा की विधिग्राह्यता १२ जनवरी १९४६ से हटा ली गयी। इसके लिए एक विशेष पद्धति अपनायी गयी जिसके अनुसार १०० रुपये से ऊँची पत्र मुद्रा को १०० रुपये अथवा कम की पत्र मुद्रा में परिवर्तित किया जा सकता था। इसका हेतु चोरबाजार में व्यापारियों द्वारा कमाये गये अतिरिक्त लाभ को जानना था।

( ) तीसरे आदेश के अनुसार जो १८ जनवरी १९४ को दिया गया केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार दिया गया कि वह रिजर्व बैंक द्वारा किसी भी बैंक की जाँच कर उसकी कार्यवाही पर रिपोर्ट माँगे। इस आदेश का हेतु सुदृढ़ आधार पर बैंकिंग का प्रसार करना था।

(४) १९४७ में भारतीय टंकण विधान में संशोधन किया गया तथा चाँदी के बदले निकल के नये सिक्के चलाये गये जिससे २ ६ करोड औंस चाँदी की बचत हुई।

(५) मौद्रिक व्यवस्था के एकीकरण के साथ १ अप्रैल १९५५ के हैदराबाद के हाली सिक्के की विधिग्राह्यता हटा दी गयी। फिर भी भारतीय मुद्रा में उसका परिवर्तन करने की सुविधाएँ दी गयी हैं।

(६) मुद्रा का दशमलवीकरण करने के लिए ४९ जुलाई १९५५ को एक अधिनियम बनाया गया। इसके अनुसार ७ अप्रैल १९५७ से भारतीय मुद्रा का विभाजन १०० नये पैसों में हो गया। तदनुसार इस समय से १ ५ १० ५ और ५० नये पैसों के सिक्के प्रचलन में लाये गये। ये पुराने सिक्कों के साथ तीन वर्ष तक चलन रहेंगे। इस अवधि के बाद पुराने सिक्के चलन से हटा लिये जायेंगे।

(७) नियोजित अर्थ-व्यवस्था के विकास की आवश्यकता और भुगतान सन्तुलन की विषम परिस्थिति तथा विदेशी विनिमय की कमी को दूर करने के लिए रिजर्व बैंक एक्ट में १९५ में संशोधन किया गया। इस संशोधन के अनुसार नोट चलन की आनुपातिक निधि पद्धति का त्याग कर न्यूनतम निधि पद्धति को अपनाया गया है। इस संशोधन के अनुसार रिजर्व बैंक के नोट चलन विभाग में न्यूनतम ११५ करोड रुपये का स्वर्ण तथा ४०० करोड रुपये की विदेशी प्रति

भूतियाँ रखना आवश्यक है। इस हेतु स्वर्ण का मूल्यांकन नवीन दरो पर अर्थात् ६२ रु० ५० न० पै० प्रति तोले पर किया गया है। आवश्यकता पडने पर रिजर्व बैंक विदेशी प्रतिभूतियो की राशि केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति से प्रथम बार अधिकतम ६ मास के लिए तथा इसके बाद तीन मास के लिए घटा सकता है। परन्तु किसी भी दशा मे विदेशी प्रतिभूतियाँ २०० करोड रुपये से कम नही होनी चाहिए। इस प्रकार विदेशी प्रतिभूतियो को कम करने की स्थिति मे रिजर्व बैंक के पास न्यूनतम ११५ करोड रुपये का स्वर्ण तथा २०० करोड रुपये की विदेशी प्रतिभूतियाँ होनी चाहिए।

विदेशी मुद्रा की कमी के कारण अक्टूबर १९५७ मे इसमे पुन सशोधन किया गया जिसके अनुसार रिजर्व बैंक का पत्र-चलन कोष म स्वर्ण, स्वर्ण के सिक्के एव विदेशी प्रतिभूतिया मिलाकर कुल २०० करोड रुपये रखना अनिवार्य है। इसमे न्यूनतम ११५ करोड रुपये का स्वर्ण होना चाहिए। इस प्रकार अब रिजर्व बैंक को स्वर्ण के अलावा केवल ८५ करोड रुपये की विदेशी प्रतिभूतियाँ रखने की आवश्यकता है।

रुपये का अवमूल्यन

१८ सितम्बर १९४९ को अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की अनुमति से स्टर्लिङ्ग के साथ रुपय का भी ३०.५ प्रतिशत से अवमूल्यन किया गया। यह अवमूल्यन अन्य २४ देशो की मुद्राओ का भी हुआ।[1] ३१ जुलाई १९५५ को पाकिस्तानी रुपय का अवमूल्यन होने से भारतीय एव पाक मुद्रा समान स्तर पर आ गयी है।

हमारे चलन की वर्तमान स्थिति

१ जब से भारत अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य बना तब से रुपये का स्टर्लिङ्ग से नाता टूट गया तथा उसका स्वर्ण-मूल्य ०.२६८६०१ ग्राम निश्चित कर दिया गया है जिसमे १८ सितम्बर १९४९ से ३० प्रतिशत की कमी की गयी है जिससे उसका स्वर्ण मूल्य ०.१८६२१० ग्राम रह गया है।

२ देश की प्रमाणित मुद्रा रुपया ही है, वास्तव मे वह प्रतीक मुद्रा है और स्वर्ण मे परिवर्तनीय नही है। इसी प्रकार १ रुपये की पत्र-मुद्रा भी प्रमाणित मुद्रा है। रुपये का विभाजन १०० नये पैसो मे किया गया है तथा इस समय १, ५ तथा १० नये पैसे के सिक्के चालू किये गये है। पुरानी चवन्नी एव अठन्नी का मूल्य क्रमश २५ और ५० नये पैसे है।

३ विदेशी भुगतान के लिए विदेशी मुद्राओ के क्रय-विक्रय का एकाधिकार

---

[1] देखिये अध्याय २०।

रिजर्व बैंक को है तथा यह कार्य वह अन्य बैंकों की सहायता एवं सहयोग से करता है।

४ भारत के अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष का सभासद हो जाने से रुपये का स्टर्लिंग से सम्बन्ध विच्छेद हो गया है और रुपया अन्तरराष्ट्रीय प्रांगण में स्वतन्त्र है। परन्तु रुपया और स्टर्लिंग की विनिमय दर १ शि० ६ पेंस प्रति रुपया ही है। रिजर्व बैंक की धारा ४०-४१ को रद्द कर दिया गया है जो रुपये का स्टर्लिंङ्ग मूल्य १ शि० ६ पेंस रखने के सम्बन्ध में थी। विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय की अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा निश्चित दरों पर ही करने का प्रतिबन्ध रिजर्व बैंक पर है। फिर भी भारत के राष्ट्रसंघ का सदस्य होने के कारण रुपया और स्टर्लिंग का घनिष्ठ सम्बन्ध आज भी है।

५ युद्ध-काल में लागू किये गये विनिमय-नियन्त्रण आज भी लागू हैं किन्तु इनमें कुछ छूट दे दी गयी है तथा आयात निर्यात प्रतिबन्धों में नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अनुसार हेर-फेर किये जाते हैं।

६ रुपये का सम्बन्ध अब अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के सभी सदस्य देशों की मुद्राओं के साथ है। इसलिए अब भारत अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा मान पर है और चूँकि विभिन्न देशों की मुद्राओं का मूल्य स्वर्ण में है अतएव हम इस मान को अन्तरराष्ट्रीय स्वर्णमान भी कह सकते हैं।

सारांश

युद्ध समाप्त हो गया परन्तु मूल्यस्तर फिर भी बढ़ता ही गया। युद्धोत्तर मुद्रास्फीति के निम्न कारण थे

१ मुद्रा एवं चलन का प्रसार, २ बजट में घाटा, ३ अन्न, वस्त्र आदि वस्तुओं का विनियन्त्रण, ४ अन्न संकट एवं अन्न का आयात, ५ उत्पादन में कमी।

युद्धोत्तर मुद्रास्फीति से व्यापारियों के लाभ कम हो गये क्योंकि औद्योगिक कच्चे माल की कीमतें बढ़ गयी थीं। श्रमिकों की मजदूरी बढ़ी, मध्यम वर्ग बुरी तरह प्रभावित हुआ जिससे पूंजी-निर्माणशक्ति घट गयी और औद्योगिक पूंजी की कमी महसूस होने लगी अतः सरकार ने मुद्रास्फीति रोकने के लिए निम्न कार्यवाही की—

कम्पनियों के लाभांश सीमित किये, खाद्यान्न वितरण योजना एवं अनिवार्य बचत योजना लागू की, ग्रामीण क्षेत्रों का भूमिगत धन निकालने के लिए ग्रामीण बैंकिंग जांच समिति की नियुक्ति की तथा इसकी सिफारिशों पर कार्यवाही की।

इन प्रयत्नों से मूल्यस्तर स्थिर हो रहा था किन्तु कोरियाई युद्ध, अमेरिका की स्टॉक एकत्रीकरण योजना, यूरोप की पुन.शस्त्रीकरण योजना के कारण पुनः कीमतें बढने लगीं। अतः १६५१ मे रिजर्व बैंक ने बैंक-दर बढा दी जिससे मूल्यस्तर गिरने लगे। इसके लिए कोरियाई सधि-वार्ता, पुन शस्त्रीकरण योजना एवं अमरीकी स्टॉक एकत्रीकरण योजना की अवधि बढना आदि कारण भी जिम्मेदार थे। इसके साथ ही विश्व का कृषि-उत्पादन बढ रहा था। यह स्थिरता अस्थायी रही क्योंकि भारत मे १६५१ से योजनाओं का श्रीगणेश हुआ। इनकी आर्थिक आवश्यक्ताओ की पूर्ति के लिए हीनार्थ प्रबन्धन अपनाया गया। प्रथम योजना काल मे कीमतें कुछ गिरी परन्तु दूसरी योजना के प्रथम तीन वर्षों मे ही कीमतें तेजी से बढने लगीं जो हीनार्थ प्रबन्धन की अधिक्ता की ओर सकेत है। अतः इसकी रोकथाम शीघ्र होना आवश्यक है।

युद्धोत्तर काल मे चलन-पद्धति मे निम्न परिवर्तन हुए :—

१ १२ जनवरी १६४६ से १०० रु० से ऊपर के नोटो का विमुद्रीकरण;
२ रिजर्व बैंक को किसी भी बैंक के परीक्षण का अधिकार;
३. १६४७ से निकेल के सिक्को का चलन;
४ हैदराबाद के सिक्को की विधिग्राह्यता का अन्त;
५ १ जुलाई १६५७ से भारतीय मुद्रा का दशमलवीकरण;
६ नोट प्रणाली की आनुपातिक निधि पद्धति का त्याग एव न्यूनतम निधि पद्धति का अपनाना;
७ सितम्बर १८, १६४६ को भारतीय रुपये का तथा ३१ जुलाई, १६५५ को पाकिस्तानी रुपये का अवमूल्यन।

भारतीय चलन की वर्तमान स्थिति—

१ भारतीय मुद्रा का स्टर्लिंग मे सम्बन्ध विच्छेद हो गया है और वह देश की प्रमाणित मुद्रा है। इसका स्वर्ण-मूल्य १८६२१० ग्राम स्वर्ण है।
२ एक रुपये के नोट भी रुपये के सिक्के के बराबर ही हैं।
३ देश की प्रधान एव गौण मुद्राएँ निकेल की हैं।
४ विदेशी मुद्राओ के क्रय-विक्रय का एकाधिकार रिजर्व बैंक को है तथा युद्धकालीन नियत्रण आज भी कुछ हेरफेर के साथ लागू है।
५ रुपये का सम्बन्ध अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के सभी देशों के साथ है।

अध्याय १६

भारतीय पत्र-चलन का इतिहास

भारत में अंग्रेजो के आगमन के पूर्व कुछ हद तक हुण्डियाँ ही पत्र-मुद्रा की तरह चलन में थीं। इनको वास्तव में पत्र-मुद्रा नहीं कहा जा सकता और न ये विधिग्राह्य अथवा सर्वमान्य ही थीं। भारत में सबसे पहले पत्र-मुद्रा का चलन प्रेसीडेन्सी बैंकों की स्थापना, जो क्रमशः १८०६ में बंगाल में, १८४० में बम्बई में तथा १८४३ में मद्रास में हुई, के बाद ही प्रारम्भ हुआ। इन बैंकों को पत्र-मुद्रा-प्रसार का अधिकार दे दिया गया था और यह अधिकार ५ करोड रुपये की पत्र-मुद्रा तक सीमित था। इसके अतिरिक्त ७ अन्य बैंकों को भी पत्र-मुद्रा-प्रसार का अधिकार १८६४ तक था।[1] इन प्रेसीडेन्सी बैंकों को पत्र-चलन के लिए कुल $33\frac{1}{3}\%$ स्वर्ण-निधि रखना अनिवार्य था। ये पत्र-मुद्राएँ केवल प्रेसीडेन्सी क्षेत्र तक ही सीमित होने के कारण विधिग्राह्य न थीं।

१८६१ में पेपर करेन्सी एक्ट से भारत सरकार ने पत्र चलन का एकाधिकार लिया तथा प्रेसीडेन्सी बैंकों से पत्र-मुद्रा-प्रसार का अधिकार छीन लिया गया। इसलिए भारत के सब प्रदेशों को बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, इन तीन विभागों में बाँट दिया गया। पत्र-चलन के लिए पत्र-चलन विभाग की स्थापना की गयी। इन तीनों विभागों में अलग-अलग पत्र-मुद्राएँ चलन में आयीं जो वैधानिक रीति से एक-दूसरे के क्षेत्र में प्रमाणित मुद्रा में अपरिवर्तनीय थीं तथा ये पत्र-मुद्राएँ माँग पर भुगताये जाने वाले प्रतिज्ञा-पत्र की तरह ही थीं। निश्चित अरक्षित पत्र-मुद्रा (fixed fiduciary) की संख्या ४ करोड रुपये तक सीमित थी लेकिन इससे अधिक चलन के लिए बराबर के मूल्य में स्वर्ण या चाँदी रखना अनिवार्य था। इस प्रकार प्रचलित पत्र-चलन-पद्धति में न तो लोच थी और न थी धातु की मितव्ययिता, परन्तु चलनाधिक्य से सुरक्षा थी।

१८९३ में हर्शल समिति की सिफारिश के अनुसार जब रुपयों का मुक्त

---

[1] *Paper Currency in India* by B B. Das Gupta

टंकण बन्द किया गया उस समय अरक्षित पत्र-चलन (fiduciary paper money) की मर्यादा ४ करोड से बढाकर ८ करोड रुपये करदी गयी क्योंकि रुपया अब प्रतीक मुद्रा हो गया था तथा रुपये मे चाँदी बाजार भाव मे कम होने के कारण १० रु० की पत्र-मुद्रा के बदले केवल ६ रु० की चाँदी ही निधि मे रखने की आवश्यकता होती थी। इस प्रकार पत्र-चलन-निधि था।

आरम्भ मे १०, २०, ५०, १००, ५००, १००० तथा १०,००० रुपये की पत्र-मुद्राएँ चलायी गयी थीं लेकिन १८९१ मे ५ रु० की पत्र-मुद्रा भी चलायी गयी। क्रमश ये पत्र-मुद्राएँ सरकारी कोषों मे स्वीकृत होने लगी तथा सरकारी कोषो मे इनका रुपयो म परिवर्तन भी होने लगा। प्रारम्भ मे पत्र-चलन-निधि मे केवल रुपये की प्रतिभूतियाँ ही रखी जाती थी किन्तु १९०५ मे स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ भी रखी जाने लगी और बाकी निधि चाँदी मे, भारत मे ही, रखी जाती थी। किन्तु १८९८ से पत्र-चलन-निधि का कुछ अश स्वर्ण मे भारत-सचिव के पास रखा जाने लगा जिसके बदले यहाँ पर पत्र-चलन हो सकता था। इसका उद्देश्य यह था कि रुपया को ढालने के लिए जब चाँदी की आवश्यकता हो तो भारत-सचिव इस निधि का उपयोग करे तथा स्वर्ण विनिमय-मान मे वह रुपये का विनिमय मूल्य स्थिर रखने के भी काम आये।

१९०३ मे पत्र मुद्राएँ बर्मा को छोडकर समस्त भारत के लिए विधिग्राह्य बनायी गयी तथा १९०९ मे बर्मा के लिए भी। १९१० मे १० और ५० रुपये की तथा १९११ मे २०० रुपय की पत्र-मुद्राएँ इसी प्रकार विधिग्राह्य घोषित की गयी। १९१० मे कानपुर, लाहौर, रगून और कराँची भी पत्र चलन क्षेत्र मे आ गय। इस प्रकार १९१० मे बम्बई, मद्रास, कलकत्ता को मिलाकर सात नोट-चलन क्षेत्र हो गये।

१९१३ मे कुल ६८ ९८ करोड रुपये की पत्र-मुद्रा चलन मे थी जिसके लिए धातु निधि ४५ ८३ करोड रुपये भारत मे तथा ९ १५ करोड रुपये का इगलैंड मे पत्र-चलन-निधि मे था एव अरक्षित निधि (invested portion) मे १० करोड रुपये की प्रतिभूतियाँ भारत मे तथा ४ करोड की इगलैंड मे थी। इस प्रकार कुल पत्र-चलन का केवल २०% भाग अरक्षित था जिससे हमारी पत्र-चलन-पद्धति मे धातुओ की मितव्ययिता एव लोच का अभाव था। इस समय अरक्षित पत्र-चलन की मात्रा १४ करोड रुपये करदी गयी थी।

चेम्बरलेन समिति

१९१३ मे चेम्बरलेन समिति ने पत्र-मुद्रा को अधिक लोचदार बनाने के

लिए सिफारिश की तथा उन्होंने अरक्षित निधि को १४ करोड़ से २० करोड़ रुपये कर दिया। देश की मौद्रिक आवश्यकताएँ अधिक थीं इस हेतु उन्होंने आगे के लिए अरक्षित निधि का जितना अधिकतम सरकारी कोष-निधि था उसमें ⅓ अधिक पत्र-मुद्रा चलाने का मत भी प्रकट किया। इस प्रकार कुल अरक्षित पत्र-चलन की मात्रा बढ़ा देने पर जोर दिया।[1] उन्होंने यह भी सिफारिश की कि सरकार को यह अधिकार हो कि वह इस अधिकतम अरक्षित भाग को भारत तथा इंगलैंड में विनियोग करे तथा ऋण दे। यह ऋण भारत में केवल प्रेसीडेन्सी बैंकों द्वारा निश्चित शर्तों पर दिये जायँ। इसी प्रकार भारत-सचिव को यह अधिकार हो कि वह लन्दन में जो परिषद्-बिल बेचकर स्वर्ण प्राप्त करे उसको भी ऋणों में विनियोग करे। लेकिन किसी भी परिस्थिति में रोकड़ निधि कुल चलन के ⅓ से कम न हो। ५०० रु० के नोटों में सर्व-ग्राह्यता लायी जाय, पत्र-मुद्रा को सर्वमान्य बनाने के लिए वैधानिक कार्यवाही की जाय तथा पत्र-मुद्रा के परिवर्तन के लिए अधिक सुविधाएँ प्रदान की जायँ।

समिति ने इस पद्धति में अनेक लाभ दिखाये थे क्योंकि सर्वप्रथम तो आवश्यकता के अनुसार पत्र-चलन की परिवर्तनशीलता अबाधित रहते हुए अरक्षित पत्र-चलन बढ़ाया जा सकता था। सरकारी आय भी विनियोग के ब्याज की आय से बढ़ जाती। किसी प्रकार के कानून के बिना पत्र-चलन बढ़ाने के साथ-साथ सरकार निधि का विनियोग कर सकती थी, तथा पत्र-चलन निधि के होने से इंगलैंड में भारत-सचिव परिषद्-बिल बेच सकता था।

ये सिफारिशें सरकार के सामने विचारार्थ प्रस्तुत की गयीं परन्तु उसी समय प्रथम महायुद्ध की घोषणा होने से इन पर कोई कार्यवाही न हो सकी।

प्रथम विश्वयुद्ध-काल (१९१४-१९१९)

महायुद्ध शुरू होते ही जनता का पत्र-मुद्रा से विश्वास उठ गया और पत्र-मुद्रा के बदले स्वर्ण की माँग होने लगी। सरकार को केवल अगस्त के पहले ही चार दिनों में १८ लाख पौंड का स्वर्ण देना पड़ा जिससे सरकार ने पत्र-मुद्रा के बदले स्वर्ण देने पर रोक लगा दी। तदुपरान्त पत्र-मुद्रा के बदले रुपये माँगे जाने लगे और केवल ८ महीने में ही १० करोड़ रुपये की पत्र-मुद्रा का परिवर्तन हुआ। १९१५ से क्रमशः चलन-पद्धति में जनता को विश्वास होता गया तथा

---

[1] इसका अर्थ यह था कि अरक्षित पत्र-चलन उतना हो जितना कि उस समय कुल चलन में से कोष-निधि घटा कर रह जाता था।

बढ़ते हुए व्यापार के कारण मुद्रा की माँग भी बढ़ने लगी, जिसको पूरा करने के लिए पर्याप्त मात्रा में चाँदी न होने से पत्र चलन बढ़ाना पड़ा और अरक्षित भाग को १९१९ में १४ करोड़ से बढ़ाकर १२० करोड़ रुपये कर दिया गया। इसके अलावा २॥) रु० और १) रु० की नई पत्र मुद्राएँ क्रमश दिसम्बर १९१७ और जनवरी १९१८ में चलन में लायी गयी। फिर भी बढ़ती हुई मौद्रिक माँग की पूर्ति के लिए १९१८ में रुपया के टंकण के लिए अमेरिका से २० करोड़ औंस चाँदी खरीदी गयी। १९१९ में एक विधान स्वीकृत हुआ जिसके अनुसार पत्र-चलन का अरक्षित भाग १२० करोड़ रुपय कर दिया गया जिसमें से १०० करोड़ रुपय का विनियोग ब्रिटिश कोष-बिला में हो सकता था। इस प्रकार धातु-निधि जो १९१४ में ७८ ९ प्रतिशत था वह १९१९ में केवल ३५ ८ प्रतिशत रह गया और प्रतिभूतियाँ २१ प्रतिशत से ५४ प्रतिशत हो गयी। इन विनियोगों के मूल्यों के उतार-चढ़ाव से होने वाली हानि की पूर्ति करने के लिए पत्र-चलन निधि अवमूल्यन-कोष (Paper currency reserve depreciation fund) का निर्माण किया गया जिसमें विनियोग एवं प्रतिभूतियों की आय जमा होती थी।[1] इसी प्रकार मार्च १९१४ में जहाँ ६६ १२ करोड़ रुपये की पत्र-मुद्राएँ चलन में थी वहाँ १९१८ में यह संख्या बढ़ते-बढ़ते १८२·९१ करोड़ रुपये हो गयी।

साराश में युद्ध के कारण पत्र मुद्रा में निम्नलिखित उल्लेखनीय परिवर्तन हुए —

(१) पत्र मुद्रा चलन की संख्या युद्ध-काल में लगभग तिगुनी हो गयी,

(२) पत्र-चलन निधि का धातु का भाग जो १९१४ में ७८ ९ प्रतिशत था वह कम होकर १९१९ में केवल ३५ ८ प्रतिशत रह गया।

(३) पत्र-चलन निधि में प्रतिभूतियों का भाग जो १९१४ में २१ प्रतिशत था वह बढ़कर १९१९ में ५४ प्रतिशत हो गया।

बेबिंगटन स्मिथ कमेटी (१९१९-१९२५)

युद्ध समाप्ति के बाद बेबिंगटन स्मिथ समिति ने पत्र चलन को लोचदार बनाने के लिए तथा मूल्य स्थिरता के हेतु निम्नलिखित सिफारिशें की —

१ अरक्षित पत्र-चलन को १२० करोड़ रुपये किया जाय जिसमें २० करोड़ रुपये से अधिक भारत सरकार की प्रतिभूतियाँ न हों।

२ पत्र चलन में परिवर्तनशीलता लाने के लिए पत्र चलन निधि में धातु

---

[1] *Indian Currency, Banking and Exchange* by Prof Chhabalani

का भाग (अथवा स्वर्ण एवं चाँदी) कुल चलन के ४० प्रतिशत के बराबर रखा जाय।

३ रुपये का विनिमय-मूल्य २ शिलिंग हो जाने से पत्र-चलन निधि के स्वर्ण का इस दर से पुनर्मूल्यन किया जाय।

४ मौसमी मौद्रिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए अरक्षित भाग के अतिरिक्त ५ करोड़ रुपये की पत्र-मुद्रा निर्यात बिलों के आधार पर चलायी जाय जो प्रेसीडेन्सी बैंकों को ऋण दी जाय। इन निर्यात बिलों की अवधि ९० दिन से अधिक न हो।

५ पत्र-चलन निधि के कुल स्वर्ण एवं चाँदी का भारत में ही रखा जाय। इसमें से इङ्गलैंड में केवल उतना ही रखा जाय जितना वहाँ चाँदी खरीदने के लिए आवश्यक हो।

६ परिस्थिति ठीक होने ही पत्र-मुद्रा के परिवर्तन की अधिकाधिक सुविधाएँ दी जायँ तथा परिवर्तन सम्बन्धी युद्धकालीन प्रतिबन्ध उठा लिये जायँ। सरकार को अधिकार रहे कि वह पत्र-मुद्रा के बदले रुपये अथवा स्वर्ण दे।

७ अरक्षित पत्र-चलन किसी भी समय कुल चलन के ६० प्रतिशत से अधिक न हो।

इन सुझावों से यह स्पष्ट होता है कि जहाँ की जनता अनपढ़ है तथा पत्र मुद्रा को अविश्वास की दृष्टि से देखती है वहाँ केवल ४० प्रतिशत धातु-निधि बहुत कम है। इस सुझाव के अनुसार पत्र-मुद्रा की पद्धति को लोचदार अवश्य बनाया गया। इसी दृष्टि से अरक्षित पत्र-मुद्रा-चलन को कुल चलन के ६० प्रतिशत रखना भी बहुत अधिक था। सरकार ने इन सुझावों में संशोधन किया एवं उन्हें लागू करने के लिए १९२० में पत्र-चलन-संशोधन अधिनियम स्वीकृत किया। इसके अनुसार—

१ कुल पत्र-चलन-निधि के ५० प्रतिशत धातु-निधि किया गया अर्थात् अरक्षित भाग धातु-निधि के मूल्य से अधिक नहीं होना चाहिए। इसको समिति की सिफारिश से अधिक करने का कारण पत्र-मुद्रा के बदले रुपयों की माग होने पर रुपये दिये जा सकें तथा मौसमी आवश्यकता के समय पत्र-चलन को रुपये में बदलने की जो माँग होती है उसकी पूर्ति करना था।

२ इस निधि का जो स्वर्ण भारत-सचिव के पास रहता था वह ५० लाख पौंड (५ करोड़ रुपये) तक सीमित किया गया।

३ २० करोड रुपये की प्रतिभूतियाँ जो भारत मे रखी जाती थी उनके अतिरिक्त शेष निधि का विनियोग इगलैंड में प्रतिभूतियो मे किया जाय जिनके भुगतान की अधिकतम अवधि १२ मास हो।

४ मौसमी मुद्रा की माँग की पूर्ति के लिए चलन-नियन्त्रक (controller of currency) को यह अधिकार दिया गया कि वह ५ करोड रुपये की पत्र-मुद्रा को चलन मे लाय। यह चलन कटौती किय गये बिलो अथवा निर्यात के आधार पर चलाया जाय, जिनका भुगतान ९० दिन म हो।

५ यह अतिरिक्त पत्र चलन इम्पीरियल बैंक को ८ प्रतिशत की दर से ऋण दिया जाय।

६ *मौसमी माँग की पूर्ति के लिए ५ करोड रुपय की पत्र-मुद्राएँ* तभी चलायी जायें जब पत्र-चलन निधि का ५० प्रतिशत भाग धातु (स्वर्ण चाँदी) मे तथा शेष ५० प्रतिशत भाग प्रतिभूतियो मे हो जाय।

इस अधिनियम को तभी कार्यरूप मे लाया जा सकता था जब कि पहली शर्त के अनुसार पत्र-चलन निधि म धातु का भाग ५० प्रतिशत हो जाय। इसका मुख्य कारण यह था कि निधि के स्वर्ण एव स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियो को प्रति रुपया २ शिलिंग की दर से मूल्याकन करने से धातु भाग का मूल्य रुपयो मे कम हो गया था क्योकि अब स्टर्लिङ्ग का मूल्य १५ के बदले १० रुपये ही रह गया था। इसलिए अन्तरिम काल के लिए निम्न नियोजन किया गया—

(अ) निधि म भारत सरकार की जो प्रतिभूतियाँ रखी जाती थी, उनकी राशि ८५ करोड रुपय कर दी गयी।

(आ) निधि के पुनर्मूल्यन से होने वाली हानि की पूर्ति के लिए भारत सरकार रुपये की नयी प्रतिभूतियाँ (ad-hoc rupee securities) पत्र-चलन निधि को दे और इनकी जगह क्रमश स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतिया को रखे।

१९२१ मे बगाल मद्रास तथा बम्बई इन तीनों प्रसीडेन्सी बैंको को मिलाकर इम्पीरियल बैंक की स्थापना हुई। इसकी स्थापना होते ही सकटी पत्र चलन (emergency paper issue) की *जिम्मेदारी इसको दे दी गयी* तथा बढती हुई मौद्रिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए १९२३ २४ में इसकी मर्यादा भी ५ करोड रुपये से १२ करोड रुपये करदी गयी। इसलिए १९२३ मे सशोधित विधान स्वीकृत किया गया। १९२५ मे फिर सशोधन विधान स्वीकृत हुआ जिसके अनुसार भारत सरकार की निधि मे जो प्रतिभूतियाँ थी उनकी मर्यादा ८५ करोड मे बढाकर १०० करोड रुपय कर दी गयी। लेकिन

किसी भी दशा मे भारत सरकार की जनित प्रतिभूतियाँ[1] ५० करोड रुपये से अधिक नहीं हो सकती थीं। इस विधान द्वारा पत्र-चलन और भी घटा दिया गया। जनवरी १९२६ मे १) रु० और २॥) रु० की पत्र-मुद्राओं को जो युद्ध-काल मे चलायी गयी थी, चलन से हटा लिया गया।

हिल्टन यंग कमीशन (१९२५-१९३१)

१९२५ में हिल्टन यंग समिति ने भारतीय चलन-स्थिति का अध्ययन कर यह सुझाव दिया कि पत्र-मुद्रा का चलन केन्द्रीय बैंक करे। शीघ्र ही केन्द्रीय बैंक की स्थापना हो। एक रुपये की पत्र-मुद्राएँ फिर से चलायी जायँ जिनके बदले में रुपये न दिए जायँ। इसी प्रकार समिति ने यह भी सिफारिश की कि बडी-बडी रकमों की पत्र-मुद्रा का परिवर्तन रुपयों में न होने हुए स्वर्ण में हो। लेकिन कम से कम १०६५ तोले अथवा ४०० औंस स्वर्ण ही पत्र-मुद्रा के बदले २१ रु० ३ आ० १ पाई की दर से केन्द्रीय बैंक अथवा इम्पीरियल बैंक से मिल सकेगा। केन्द्रीय बैंक को मुद्रा-चलन का एकाधिकार २५ वर्ष तक हो। चलन के मूल्य में स्थिरता एवं लोच लाने के लिए वह तरल प्रतिभूतियों के आधार पर पत्र-चलन करे इसलिए समिति ने पत्र-चलन के लिए आनुपातिक निधि पद्धति की सिफारिश की। इसी के साथ जो पत्र मुद्रा भारत सरकार द्वारा चलायी गयी थी उसकी विधिग्राह्यता हटा ली जाय। पत्र चलन-निधि तथा स्वर्णमान-निधि को मिला दिया जाय एवं उनका अनुपात तथा उनको रखने का स्थान विधान से निश्चित किया जाय। निधि में चाँदी का जो वर्तमान अनुपात है उसे क्रमशः कम कर दिया जाय जिससे उसमें १० वर्ष में ८५ करोड से २५ करोड रुपये की चाँदी रह जाय। केन्द्रीय बैंक के दो विभाग हो—(१) बैंकिंग, तथा (२) चलन-विभाग।

इन सिफारिशों में से बहुत सी सिफारिशों को सरकार ने मान्यता दी तथा १९२७ के विधान के अनुसार रुपये का स्वर्ण मूल्य = ४७५ ग्रेन अथवा १३ रु० १ आ० ६ पाई प्रति सॉवरेन निश्चित किया गया। इस दर में स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियाँ, जो पत्र-चलन-निधि में थी, उनका पुनर्मूल्यन हुआ जिससे उनका मूल्य ९३० लाख रुपये से बढ गया। इसलिए इस रकम से कोष विला म कमी कर दी गयी। इसी विधान के अनुसार सरकार ने २१ रु० ३ आ० १० पाई प्रति

[1] जो कोष-बिल भारत सरकार लिखती है तथा उनकी कालावधि के बाद स्वयं ही भुगतान करती है, उन्हें जनित प्रतिभूतियाँ (created or adhoc securities) कहते हैं।

तोले की दर से कम से कम ४० तोले स्वर्ण खरीदने की जिम्मेदारी ली। लेकिन इसी समय रिजर्व बैंक की स्थापना का विधेयक अस्वीकृत हो गया, अतएव रिजर्व बैंक की स्थापना न हो सकी। १९२७ के विधान से सरकार पर कम से कम ४०० अथवा १०६५ तोले स्वर्ण २१ रु० ३ आ० १० पाई की दर से बचने की जिम्मेदारी थी परन्तु सरकार विदेशी भुगतान के लिए स्वर्ण अथवा स्टर्लिंग दे यह उसकी इच्छा पर निर्भर रहा। इसी विधान के अनुसार रुपये की विनिमय दर भी १ शि० ६ पे० स्थापित कर दी गयी परन्तु १९३१ तक स्टर्लिङ्ग स्वर्ण से सम्बन्धित होने के कारण हमारे यहाँ स्वर्ण-खण्ड-मान था। १९३१ में स्टर्लिङ्ग का स्वर्ण से विच्छेद हो गया जिससे रुपये अथवा पत्र-मुद्रा के बदले भारत सरकार ने स्वर्ण देना बन्द किया और विदेशी भुगतान के लिए केवल स्टर्लिङ्ग ही प्राप्त हो सकता था।

१९३४ में रिजर्व बैंक की स्थापना सम्बन्धी विधेयक स्वीकृत हुआ। १ अप्रैल १९३५ से रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने कार्यवाही शुरू की तथा पत्र-चलन का एकाधिकार इसे मिला। इसी दिन पत्र-चलन-निधि तथा स्वर्णमान-निधि को एकत्रित किया गया। भारत सरकार की पत्र मुद्रा इस प्रारम्भिक काल में विधिग्राह्य मानी गयी थी। पत्र-चलन के लिए स्वतन्त्र चलन-विभाग था जो बैंकिंग-विभाग से अलग था। इस बैंक को ५, १०, ५०, १००, ५००, १००० तथा १०,००० रुपये की नयी पत्र-मुद्राएँ चलन में लानी थीं, किन्तु ५० और ५०० रुपये की नयी पत्र-मुद्राएँ उनका चलन कम होने से नहीं चलायी गयीं, किन्तु इस मूल्य की जो पत्र-मुद्राएँ चलन में थीं वे विधिग्राह्य बनी रहीं। इस बैंक का पत्र-चलन ब्रिटिश भारत के लिए विधिग्राह्य बनाया गया तथा बैंक को इन पत्र-मुद्राओं पर मुद्रांक-कर (stamp duty) से भी मुक्त किया गया। इस बैंक ने १९३८ में ५, १०, १०० तथा १००० रुपये की पत्र-मुद्राएँ चलन में लायीं।

रिजर्व बैंक के चलन-विभाग का लेखा भी बैंकिंग विभाग से अलग रखा जाता है तथा उसी प्रकार चिट्ठा भी। इस चिट्ठे के सम्पत्ति-पक्ष में दो विभाग होते हैं—'अ' विभाग में स्वर्ण-मुद्रा तथा जो स्वर्ण देश में और देश के बाहर रखा जाता है वह तथा स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियाँ होती है। 'ब' विभाग में चाँदी, चाँदी की मुद्रा, रुपये की प्रतिभूतियाँ तथा अन्य व्यापारिक बिल दिखाये जाते हैं। देय पक्ष में बैंकिंग-विभाग में रखी हुई पत्र मुद्राएँ तथा चलित पत्र-मुद्राएँ दिखायी जाती है।

चलन-विभाग की सम्पत्ति स्वर्ण, स्वर्ण मुद्रा, रुपये, चाँदी, स्टर्लिङ्ग और रुपये की प्रतिभूतियों में होती है, जो किसी भी समय कुल देनदारी (देय) से कम

नहा हानी चाहिए। इस सम्पत्ति म स्वण मुद्राएँ स्वण अथवा स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतिया ४० प्रतिशत अथवा कुल दय क २/५ स कम नहीं होनी चाहिए। लकिन स्वर्ण अथवा स्वण-मुद्रा अथवा दोनो मिलकर ४० करोड रुपय हान ही चाहिए। शष सम्पत्ति अर्थात् ३/५ या ६० प्रतिशत भाग रुपय का मुद्राओ रुपय की प्रतिभूतियो तथा व्यापारिक बिलो म रखी जाती है। इस ६० प्रतिशत म स रुपय की प्रतिभूतिया कुल सम्पत्ति के १/४ स अधिक अथवा ५० कराड रुपय स अधिक (जा भी अधिक हो) नहीं होनी चाहिए। गवनर जनरल की पूव अनुमति स य प्रतिभूतिया १० कराड रुपय स अधिक हो सकती है (अथात ६० कराड रुपय की हो सकती है)। ८ फरवरी १९४१ क आदेशानुसार यह नियम समाप्त कर दिया गया है तथा रुपय की प्रतिभूतिया क सम्बन्ध म कोई मर्यादा नहीं है। स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतिया म तीन प्रकार की प्रतिभूतिया का समावेश होता है —

१ वह शेष जो बक आफ इगलैण्ड म भारत क नाम जमा है

२ व प्रतिज्ञा-पत्र जिन पर दो या दो म अधिक व्यक्तियो क हस्ताक्षर हो ९० दिन की अवधि म अधिक न हो तथा सयुक्त राज्य म आहरित (drawn) हो या जिनका भुगतान सयुक्त राज्य म हो तथा

३ पाच वष की अवधि म भुगतान किय जान वाले सयुक्त राज्य की सरकार क ऋणपत्र।

स्वण तथा स्वण मुद्राओ का ८५ प्रतिशत अथवा १७/२० भाग भारत म रिजव बैंक अथवा उसक प्रतिनिधि क पास रहना चाहिए। उसका शष ३/२० भाग देश क बाहर भी रखा जा सकता है। ४० प्रतिशत क नियम को गवनर जनरल की अनुमति स प्रथम ३० दिन की अवधि के लिए और उसक बाद १५ १५ दिन क लिए भग किया जा सकता है। इस परिस्थिति म अगर सम्पत्ति का अ विभाग कुल सम्पत्ति क ३२½ प्रतिशत म कम न हो तो गवनर जनरल को बक-दर से १ प्रतिशत अधिक की कमी पर कर देना होगा तथा ३२½ प्रतिशत स भी कम हो तो प्रत्यक २½ प्रतिशत अथवा उसक भाग की कमी पर पहले की अपक्षा १½ प्रतिशत की वार्षिक दर से अधिक कर (१०८) देना होगा।

सम्पत्ति म स्वण अथवा स्वर्ण मुद्रा का मूल्याकन ८ ४७५ ग्रन प्रति रुपय की दर से रुपय का मूल्य उसके अंकित मूल्य स तथा प्रतिभूतिया का मूल्य बाजार-दर स किया जायगा।

देय पाश्व म कुल पत्र मुद्रा जो चलन म है तथा जो रिजव बक क बकिंग विभाग म है उसका समावेश किया जाता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध-काल (१९३९ १९४६)

द्वितीय युद्ध प्रारम्भ होते ही जनता म आतक फैल गया जिसकी तीव्रता प्रथम विश्व युद्ध की अपेक्षा कम थी। आरम्भ म जनता ने पत्र मुद्रा क बदले रुपय मागना शुरू किया, फलस्वरूप अगस्त १९४० तक रिजव बैंक क पास लगभग २२ करोड रुपय की पत्र मुद्राएँ वापिस आ गयी। इनके बदल रिजर्व बैंक न जनता का रुपये दिय। परन्तु फिर भी पत्र मुद्रा के बदले रुपय की माग बढती ही गयी जिस रोकने के लिए सरकार न जून १९४० मे एक अध्यादेश जारी किया जिसके अनुसार कोई भी व्यक्ति अपन पास आवश्यकता से अधिक रुपय नहीं रख सकता था। इस आदेश का परिणाम यह हुआ कि पत्र मुद्रा के बदले अब छोटे छोटे सिक्कों की माग बढने लगी। इसी प्रकार पत्र मुद्रा के बदले जो रुपय की माँग थी उसे पूरा करन के लिए जुलाई १९४० से १ रु० की पत्र मुद्राएँ चलायी गयी जो सभी कार्यो के लिए रुपय क सिक्के के बराबर घोषित की गयी। रुपयो की कमी को दूर करन के लिए फरवरी १९४३ म दुरू की पत्र मुद्राएँ रिजव बैंक द्वारा चलायी गयी।

इस सम्बन्ध म निम्नलिखित उल्लेखनीय है —

१ ११ जनवरी १९४६ क अध्यादेश स सरकारी कोषो म तथा बैंको के पास जितनी पत्र-मुद्राएँ इस तारीख का व्यापार के अन्त मे रहगी उनका विवरण रिजव बैंक को १२ जनवरी को ५ बजे तक भेज दना था। इस विवरण मे १००, ५००, १००० तथा १०,००० की पत्र मुद्राओ का परिमाण (quantity) अलग-अलग देना था। इसका हतु यह था कि रिजव बैंक को १०० रु० एव इसस अधिक राशि की पत्र-मुद्राओ का पूरा पूरा विवरण मिल सके।

२ दूसरे अध्यादेश के अनुसार ५०० तथा इससे अधिक मूल्य की पत्र-मुद्राएँ १२ जनवरी १९४६ का चलन से निकाल दी गयी तथा उनका परिवतन कुछ विशेष शर्तो पर ६० दिन के अन्दर छोटी पत्र मुद्राआ मे हो सकता था। यह आदेश १२ जनवरी १९४६ को निकाला गया। इसक बाद परिवतन को अवधि २६ अप्रैल १९४६ तक बढा दी गयी। यह आदेश केवल ब्रिटिश भारत के लिए ही लागू था। इसक बाद यह आदेश कुछ सुधारा क बाद अन्य शासकीय विभागा म भी लागू कर दिया गया तथा परिवर्तन की अन्तिम तिथि ६ मार्च १९४६ घोषित की गयी। इस आदेश का हतु बडी-बडी राशि की पत्र-मुद्राओं का चलन बन्द करना तथा चोरबाजारी को रोकना था क्योंकि

सरकार के अनुसार बडी-बडी रकमों के नोटों से चोरबाजारी करने में सुविधा होती है। इसका दूसरा उद्देश्य व्यापारियों द्वारा चोरबाजारी से प्राप्त की हुई रकम एवं लाभ का पता लगाना था।

इसके अलावा युद्ध-काल में पत्र-चलन की संख्या में काफी वृद्धि हुई। १९३९ में जहाँ १७८ करोड रुपये की मुद्राएँ चलन में थी वहां वे दिसम्बर १९४७ में १२४२ करोड रुपये की हो गयी।

इस प्रकार एक ओर पत्र मुद्रा का चलन बढ रहा था और दूसरी ओर उत्पादन का परिमाण घट रहा था, जिसके कारण भारत में मुद्रास्फीति हुई और वस्तुओं की कीमतें बढने लगीं। पत्र मुद्रा का चलन किस प्रकार बढ़ता गया यह निम्न तालिका से स्पष्ट होगा —

वर्ष	पत्र-मुद्रा चलन (करोड रुपयों में)
अगस्त १९३९	१७८
अगस्त १९४१	२८७
अगस्त १९४२	४७४
जनवरी १९४३	५९३
जनवरी १९४४	८५८
जून १९४५	११५२
दिसम्बर१९४५	११५८

युद्ध के बाद (१९४६-१९६०)

युद्ध के बाद भी पत्र मुद्रा की संख्या बढ़ती ही जा रही थी जो जनवरी १९४७ में बढ़कर १२७७ करोड रुपये और जून १९६९ में १२५४ करोड रुपये हो गयी। इस प्रकार युद्ध के बाद जो पत्र-मुद्राएँ चलन में थीं उनके आकडे[1] निम्न तालिका में दिये हैं —

वर्ष	पत्र मुद्रा चलन (करोड रुपयों में)
१९४५–१९४६	११९० ९४
१९४६–१९४७	१२२२ ९०
१९४७–१९४८	१२८७ ८०
१९४८–१९४९	१२३१ ८४
१९४९–१९५०	११०८ ९८
१९५०–१९५१	११९३ ०१
१९५१–१९५२	११८० ८८
१९५२–१९५३	११२४ ८४
१९५३–१९५४	११३३ ९५

[1] R B I Report on Currency and Finance 1953 54, p 137.

इस पत्र-चलन की सुरक्षा के लिए रिजर्व बैंक के चलन-विभाग मे केवल स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियाँ बढती गयी परन्तु स्वर्ण का परिमाण वही रहा —

वर्ष	स्वर्ण एव विदेशी स्वर्ण-मुद्राएँ (लाख रुपयो मे)	स्टर्लिंग विदेशी प्रतिभूतियाँ (लाख रुपयो मे)	रुपया प्रतिभूतियाँ (लाख रुपयो मे)
१९४५–४६	४,४४२	१,०६,१२६	५७,८४
१९४६–४७	४,४४२	१,१३,३८८	५७,८४
१९४७–४८	४,४४२	१,१३,५३०	६२,८४
१९४८–४९	४,२४९	६०,७४७	२६५,६२
१९४९–५०	४,००२	६४,७०४	४१५,३६
१९५०–५१	४,००२	६०,४७०	४५८,४७
१९५१–५२	४,००२	६२,५२७	४८८,३६
१९५२–५३	४,००२	५६,८४०	४५८,०८
१९५३–५४	४,००२	५९,४०२	४३०,११

१९४७ म भारत अतरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष का सदस्य बन जाने से चलन-विभाग मे मुद्रा-कोष के किसी भी सदस्य देश की प्रतिभूतियाँ रखी जा सकती ह । इस हेतु रिजर्व बैंक विधान की ३३वी धारा का सशोधन कर दिया है ।

नये नोट—१९४६ मे १०० रुपये से अधिक मूल्य की पत्र मुद्राओ के विमुद्रीकरण हो जाने से जनता को काफी असुविधाएँ हो रही थी । इसलिए रिजर्व बैंक एक्ट मे १९५३ मे सशोधन किया गया जिससे उसे पुन ५००, १०००, ५००० और १०००० रुपये की पत्र-मुद्राएँ चलाने का अधिकार मिला । रिजर्व बैंक ने १ अप्रैल १९५४ से १०००, ५००० और १०००० रुपये के नोटो का चलन आरम्भ किया । ये नोट विमुद्रीकृत (demonetised) नोटो से पृथक डिजाइन और रग के है । इस प्रकार अब रिजर्व बैंक २, ५, १०, १००, ५००, १०००, ५००० और १०००० रुपये के नोट चला सकता ह ।

न्यूनतम निधि पद्धति—इसके बाद १९५६ मे रिजर्व बैंक एक्ट मे पुन सशोधन किया गया जिसमे नोट-चलन की न्यूनतम निधि पद्धति अपनायी गयी है । इस हेतु रिजर्व बैंक के स्वर्ण का पुनर्मूल्यन ६२ रु० ५० न० पै० प्रति तोले की दर से किया गया है । इस सशोधन से रिजर्व बैंक को नोट-चलन विभाग मे न्यूनतम ११५ करोड रुपये का स्वर्ण या स्वर्ण के सिक्के तथा ४००

करोड रुपये की विदेशी प्रतिभूतियाँ रखना अनिवार्य है। किन्तु राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से प्रथम ६ मास के लिए तथा इसके बाद प्रति तीन मास के लिए विदेशी प्रतिभूतियों की राशि ३०० करोड रुपये तक रखी जा सकेगी।

देश मे विदेशी मुद्रा की कमी के कारण ३१ अक्टूबर १९५७ के अध्यादेश से न्यूनतम निधि की राशि घटा दी गयी है। अब स्वर्ण एव विदेशी प्रतिभूतियाँ मिलाकर २०० करोड रुपये न्यूनतम निधि होनी चाहिए, परन्तु किसी भी स्थिति मे स्वर्ण एव स्वर्ण सिक्का की राशि ११५ करोड रुपय से कम नही होनी चाहिए। केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति स इस निधि को कम किया जा सकेगा।

पत्र-चलन पद्धति के दोष

१ एक निश्चित मूल्यमापक का अभाव है क्योंकि पत्र-मुद्रा किसी भी निश्चित धातु म परिवर्तनीय नही है किन्तु फिर भी असीमित विधिग्राह्य है जो हमारे देश की स्थिति को देखते हुए बहुत बडी कमजोरी है।

२ पत्र-मुद्रा की परिवर्तनशीलता रखने के लिए हम विदेशी प्रतिभूतियों पर निर्भर हैं जिनकी राशि पत्र-चलन निधि मे बहुत कम है। अत इस पर आधारित हमारा पत्र-चलन भी अपरिवर्तनीय है, जो बडी कमजोरी है।

३ लोच का अभाव है, अर्थात् व्यापारिक आवश्यकता के अनुसार मुद्रा का प्रसार एव सकोच नही होता क्योकि जो रुपय चलन मे लाय जाते है उनकी आवश्यकता की पूर्ति हो जाने पर व वापस रिजर्व बैक म नही आते जिससे मुद्रा सकोच भी आसानी स नही हो सकता। जब तक हमारी चलन-पद्धति प्रत्यक्ष रीति से देश के उत्पादन-सगठन तथा वितरण-व्यवस्था म सम्बन्धित नही होती तब तक मुद्रास्फीति अवश्य हो सकती है, और आज है।

४. यद्यपि भारत म न्यूनतम निधि पद्धति अपनायी गयी है फिर भी उसम अत्यधिक प्रसार के विरुद्ध सुरक्षा का कोई आयोजन नही है, क्योंकि पत्र-चलन की अधिकतम सीमा निश्चित नहीं की गयी है।

५ पत्र-चलन के इतन अधिक प्रसार होने पर भी पाश्चात्य देशो की तरह हमारे यहाँ निक्षेप-चलन (deposit currency) का उपयोग नही हो रहा है। इसका कारण है कि हमारी कुल राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था तथा विभिन्न प्रकार के चलन म परस्पर सम्बन्ध नही है।[1]

---

[1] See Report of the National Planning Committee on Currency and Banking, pp. 33-36

वर्तमान पत्र-चलन व्यवस्था

रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व भारत मे सरकार द्वारा चलन-सिद्धान्त (currency principle) के अनुसार पत्र-मुद्रा चलाई जाती थी। परन्तु १९३५ से बैंकिग अधिकोषण सिद्धान्त तथा आनुपातिक निधि पद्धति के अनुसार पत्र-मुद्राएँ चलायी जाती हैं। इसके अनुसार रिजर्व बैंक को पत्र-मुद्रा के बदले ४० प्रतिशत निधि स्वर्ण, स्वर्ण मुद्राओ एव विदेशी प्रतिभूतियो मे रखना पडता है। इस भाग को स्वर्ण भाग (gold portion) कहते है जिसमे किसी भी समय ४० करोड रुपय से कम कीमत का स्वर्ण नही होना चाहिए। दूसरे भाग में रुपया एव रुपये की प्रतिभूतियाँ आदि रखी जाती है जो कुल पत्र-चलन के ६०% तक रखी जा सकती है। विदेशी प्रतिभूतियाँ उन सभी देशो की रखी जा सकती हैं जो अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सदस्य है।

२. भारत म परिवर्तनीय एव अपरिवर्तनीय दोनो ही प्रकार की पत्र-मुद्राएँ चलन में है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा चलाये हुए २, ५, १०, १००, ५००, १०००, ५००० एव १०००० रुपये के नोट परिवर्तनीय तथा भारत सरकार द्वारा चलाय गय १ रुपय के नोट अपरिवर्तनीय है।

३ १९५६ से न्यूनतम निधि पद्धति के अनुसार पत्र-मुद्राओ का चलन होता है इसलिए हमारी पत्र-चलन पद्धति मे लोच भी रहती है। अर्थात् वह व्यापारिक एव औद्योगिक आवश्यकताओ के अनुसार घटाई बढाई जा सकती है।

साराश

सर्वप्रथम भारत मे बैंक ऑफ बगाल को १८०६ मे, तथा इसके बाद बम्बई, बंगाल और मद्रास के प्रेसीडेंसी बेंको को नोट चलाने का अधिकार मिला। ये नोट इनके प्रेसीडेंसी क्षेत्र मे ही चलते थे तथा इनके लिए $33\frac{1}{3}\%$ स्वर्ण-निधि रखना अनिवार्य था।

१८६१ मे भारत सरकार ने नोट-चलन का एकाधिकार लिया। इस हेतु भारत को बम्बई, कलकत्ता और मद्रास इन तीन विभागों मे बाँट दिया गया और एक नोट-चलन विभाग की स्थापना की गयी। भारत सरकार ४ करोड रुपये के नोट प्रतिभूतियो के आधार पर चला सकती थी। इससे अधिक चलन के लिए शत प्रतिशत स्वर्ण रखना अनिवार्य था। इस कारण इसमे लोच एव मितव्ययिता नहीं थी।

१८९३ मे अरक्षित नोट-चलन की सीमा ८ करोड रुपये की गयी तथा

बर्मा को छोड़कर सम्पूर्ण भारत मे नोटो को विधिग्राह्य बनाया गया। १९१० मे कानपुर, रंगून, लाहौर और कराची भी पत्र-चलन क्षेत्र मे आ गये।

१९१३ मे अरक्षित पत्र-चलन की सीमा १४ करोड रुपये की गयी जिसमे १० करोड रुपये की प्रतिभूतियां भारत मे तथा ४ करोड रुपये की इङ्गलैंड मे रखी जाती थी। चेम्बरलेन समिति की सिफारिश के अनुसार अरक्षित नोट-चलन की सीमा २० करोड रुपये की गयी परन्तु अन्य सिफारिशों पर कार्यवाही न हो सकी।

१९१४ मे महायुद्ध आरम्भ होते ही तत्कालीन कठिनाइयो को हल करने के लिए २) व २॥) रुपये के नोट चलाये गये तथा १९१९ मे अरक्षित नोट चलन की सीमा १२० करोड रुपये की गयी। युद्ध के कारण पत्र-चलन मे निम्न प्रमुख परिवर्तन हुए—(१) नोटों की सख्या तिगुनी हो गयी।

(२) पत्र-चलन निधि का धातु-भाग ७८ ९% से १९१९ मे ३५ ८% रह गया।

(३) पत्र-चलन निधि मे प्रतिभूतियों का भाग २१% से ५४% हो गया।

१९१९ मे बेबिंगटन स्मिथ समिति ने नोट-व्यवस्था का अध्ययन किया तथा नोट-चलन कोष मे ४०% धातु निधि रखने की सिफारिश की। इस सिफारिश के अनुसार १९२० मे पत्र-चलन-सशोधन कानून बना तथा धातु निधि ५०% रखा गया। १९२१ मे तीनो प्रेसीडेंसी बैंकों के एकीकरण से इम्पीरियल बैंक की स्थापना हुई तथा इसे सकटी नोट-चलन का अधिकार मिला। १९२३-२४ में सकटी नोट-चलन की सीमा १२ करोड रुपये की गयी।

१९२५ मे हिल्टन यग समिति ने केन्द्रीय बैंक की स्थापना कर उसे नोट-चलन का एकाधिकार देने तथा नोट चलन को आनुपातिक कोष प्रणाली अपनाने की सिफारिश की। इस हेतु १९२७ मे करेंसी एक्ट स्वीकृत हुआ।

१९३५ मे रिजर्व बैंक की स्थापना से स्वर्णमान निधि एव पत्र-चलन निधि का एकीकरण होकर नोट चलन का एकाधिकार इसे मिला। नोट-चलन को आनुपातिक कोष प्रणाली भी अपनायी गयी। रिजर्व बैंक इस समय २, ५, १०, १००, ५००, १००० और १०,००० रुपये के नोट चलाता है। १९५६ से नोट चलन की न्यूनतम कोष प्रणाली अपनायी गयी है। इससे वर्तमान नोट-प्रणाली लोचदार एव मितव्ययी हो गयी है।

अध्याय १७

हमारे पौंड-पावने

द्वितीय युद्ध की भारतवर्ष को सबसे बडी देन स्टर्लिंग-पावने अथवा पौंड पावने है, जिनके आधार पर हमारे यहाँ पत्र-मुद्रा प्रसार बढाया गया। इस काल में भारत ने अपने स्टर्लिंग ऋण को तो चुका ही दिया, इसके अतिरिक्त भूखे पेट और नगे बदन रह कर ब्रिटेन को करोडो रुपये का माल भेजा तथा ब्रिटेन को युद्ध-व्यय मे मदद दी। जो माल हम भेजते थे उसके बदले मे हमारे पौंड पावने इंगलैंड मे जमा होते रहते थे। इस प्रकार हम इंगलैंड के ऋणी की जगह अब उसके लेनदार बन गये। इनकी वृद्धि मे दो बाते उल्लेखनीय है —

१ *भारत मे भारत सरकार ने ब्रिटेन की ओर से जो युद्ध-सामग्री खरीदी उसका मूल्य (यह सामग्री नियन्त्रित मूल्यो पर खरीदी गयी थी), तथा*

२ भारत सरकार द्वारा ब्रिटिश सरकार के नाम वह राशि जो मुद्रा-सचालन के लिए व्यय की गयी।

यह सब रकम हमारे रिजर्व बैंक मे पौंड प्रतिभूतियो के रूप मे है। इसकी वृद्धि किस प्रकार हुई यह निम्नलिखित आँकडो से स्पष्ट हो जायगी —

	(करोड रुपयो म)
१९३९–४०	१४२
१९४०–४१	१४४
१९४१–४२	७८४
१९४२–४३	५११
१९४३–४४	९४८
१९४४–४५	१४७२
१९४५–४६	१६८०

रिजर्व बैंक की जनवरी १९४७ की पत्रिका के अनुसार ये पावने १६२१ ३२ करोड रुपये के थे जिसम से ११३५ ३२ करोड रुपये की स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ चलन-विभाग मे तथा ४८६ करोड रुपये की बैंकिंग विभाग म थी। इससे

स्पष्ट है कि नवम्बर १९४६ के बाद पौंड-पावनो की रकम हमारे आयात के भुगतान के कारण कम हो गयी लेकिन १९४७ के अन्त तक हमारे पौंड पावने फिर से बढ़कर १६५७ करोड रुपये के हो गये।

पौंड-पावनो का भुगतान

१९४४ की ब्रेटनवुड्स परिषद मे स्वर्गीय लॉर्ड कीन्स ने कहा था कि पौंड-पावनो का भुगतान पूर्ण न्याय रूप मे होना चाहिए। इनका उच्चतम आकडा अप्रैल १९४६ में १७३३ करोड रुपये था किन्तु बाद मे युद्ध सम्बन्धी व्यय कम होने तथा खाद्यान्न आदि के आयात के कारण य कम होने गये और जुलाई १९४७ म केवल १५४७ करोड रुपये के रह गये। युद्ध-काल म भारत ने जो त्याग किये, उत्पादक यन्त्रो की जो घिसावट हुई, उसी का फल हमारे पौंड-पावने थे, जो डा० हिक्स के मतानुसार हमारे 'अवमूल्यन फण्ड के रूप मे जमा होते रहे तथा इन पर भारत का अधिकार न्यायोचित है। युद्ध के बाद हमारे औद्योगीकरण के लिए इनका पूर्ण एव समुचित उपयोग होना चाहिए था। किन्तु युद्ध के समय जो भारत की उदारता एव त्याग का उल्लेख करते थे वे युद्ध समाप्त होते ही उल्टी बात करने लगे और इनकी कमी करने के लिए दलीलें पेश करने लगे।

१ चूंकि भारत की रक्षा के लिए यह व्यय करना पडा था इसलिए इस ऋण में कमी की जानी चाहिए।

२ पौंड-पावना को युद्ध-सम्बन्धी ऋण समझना चाहिए और जैसे अमरीका ने उधार-पट्टा ऋण स इगलैण्ड को मुक्त कर दिया वैसे ही भारत को मुक्त कर देना चाहिए।

३ रुपये की दर कृत्रिम रूप मे ऊँची रखी गयी थी इसलिए ब्रिटेन भारत का ऋणी हो गया, वैसे तो रुपये का मूल्य स्टर्लिंग मे केवल ६ पस ही रह गया था।

४ ब्रिटेन की वर्तमान आर्थिक स्थिति तथा ऋण-भुगतान की शक्ति बहुत घट गयी है इसलिए भी इन ऋणो म कमी हो जानी चाहिए।

ये दलील इगलैंड के राजनीतिज्ञो द्वारा इसलिए भी प्रस्तुत की गयी होगी जिससे इस ऋण से किसी तरह छुटकारा मिले। क्योंकि इस समय इगलैंड स्वय भी आर्थिक सहायता के लिए अमरीका का मुंह ताक रहा था।

परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इन दलीलो मे कोई भी तथ्य नही दिखाई देता। इसके साथ ही ब्रिटेन म जो राजनीतिक परिवर्तन हुए तथा

श्रम-पक्षीय सरकार आयी उसने हमारे पौंड-पावनो का भुगतान करने का निर्णय लिया।

पौंड-पावनो का महत्व

यह विदेशो मे हमारी सबसे बडी पूँजी है जिसका समुचित उपयोग हमारी आर्थिक समस्याओं का सरलता से समाधान कर सकता है। हमारे उद्योगीकरण के लिए इनसे हमको यन्त्र सामग्री मिल सकती है किन्तु इसकी पूर्ति करने मे ब्रिटेन अथवा स्टर्लिंग-क्षेत्र के देश असमर्थ ही नही हैं अपितु ब्रिटेन स्वय ही आर्थिक सकट से मुक्त होने के लिए मार्शल योजना पर अभी तक निर्भर रहा है। अतएव हमको भी यन्त्रादि की पूर्ति के लिए सयुक्त राष्ट्र अमेरिका पर ही निर्भर रहना पड़ेगा इसलिए यहाँ के चलन मे इन पावनो का परिवर्तन होना आवश्यक है। जब तक यह हमारी आवश्यकतानुसार नही होता, हमारी योजनाएँ कार्यान्वित नही हो सकती। हमारे पास इतना स्वर्ण भी नही है जिसके आधार पर हम विदेशो से आयात कर सकें। इसलिए इन पावनों के भुगतान सम्बन्धी ब्रिटेन के साथ समझौते हुए जिनके अनुसार ब्रिटेन हमको सब भुगतान एक साथ नही करेगा।

पौंड-पावने सम्बन्धी भारत और ब्रिटेन के समझौते

१ जनवरी १९४७ मे पहला समझौता हुआ, जिसके अनुसार भारत अपनी आवश्यकताएँ स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र से खरीद सकता था तथा उसको यदि दुर्लभ चलन अथवा डॉलर क्षेत्र से ही वस्तुओं की आवश्यकता हो तो पौंड पावनो का परिवर्तन डॉलर अथवा अन्य मुद्राओ मे कराने का भी उसे अधिकार था। यह समझौता अधिक दिन तक न चल सका क्योंकि इसी बीच ब्रिटेन और अमरीका के बीच आर्थिक समझौता होने से परिस्थिति बदल गयी।

२ अगस्त १९४७ को दूसरा समझौता हुआ जिसकी अवधि दिसम्बर १९४७ एव क्षेत्र विदेशी विनिमय तक ही सीमित था। इस समझौते से स्टर्लिङ्ग-पावने दो खातों में बाटे गये—एक चल लेखा तथा दूसरा स्थिर लेखा (blocked accounts) जो भारत के नाम बैंक ऑफ इगलैंड मे खोले गये। चल-खाता ८६ ६ करोड रुपये से खोला गया जिसमे से केवल ३ करोड का उपयोग दुर्लभ चलन की प्राप्ति के लिए हो सकता था तथा नये पौंड पावने की कमाई भी इसी मे जमा हो सकती थी। शेष १४६६ ६ करोड रुपय के पावने स्थिर खाते मे विशेष पूंजी, प्रॉविडेण्ट फण्ड पूर्व-सेवा वेतन (pension) आदि के भुगतान के लिए रखे गय। इस प्रकार चल-खाते के ८३ ८ करोड रुपये के स्टर्लिङ्ग क्षेत्र

मे क्रय के लिए तथा शेष ३ करोड डॉलर-क्षेत्र से क्रय के लिए रखे गये। इस समझौते की अवधि ६ मास तक (३० जून १९४८ तक) और बढा दी गयी थी लेकिन भारत के विभाजन मे स्टर्लिङ्ग-पावनो का विभाजन पाकिस्तानी लेखा और भारतीय लेखा मे कर दिया गया जिसके अनुसार पाकिस्तानी चल-खाते मे १३ ३ करोड रुपये के पावने डाले गये जिसका केवल ⅓ भाग दुर्लभ चलन की प्राप्ति करने के लिए उपलब्ध था।

३ तीसरा समझौता चेट्टी-क्रिप्स समझौते नाम से प्रसिद्ध है। यह १५ जुलाई १९४८ को प्रकाशित हुआ तथा इसके अनुसार हमारे कुल पौंड-पावनो के ४८% का भुगतान चेट्टी की असीम उदारता के कारण हो चुका तथा हमारे पौंड-पावने १५४७ करोड रुपये की जगह केवल ८०० करोड रुपये के ही रह गये। इस समझौते की मुख्य शर्ते निम्नलिखित है —

(क) भारत मे छोडा गया फौजी सामान १ अप्रैल १९४७ को भारत ने अपने अधिकार मे ले लिया जिसका पुस्तक मूल्य (book value) ५०० करोड रुपये दिया गया। इस सामान का भुगतान करने के लिए भारत १३३ करोड रुपये के पावने देगा।

(ख) सयुक्त राज्य के भारतीय सेवा निवृत्त व्यक्तियो को पूर्व-सेवा वेतन देने का भार भारत सरकार पर है जो ६२ ५ लाख पौड अथवा ८ करोड रुपया वार्षिक है। इसलिए इस रकम का पूँजीकरण (capitalisation) करने के लिए इगलैंड को १६७ करोड रुपये के पौंड-पावने दिये जाएँ जिसमे से सयुक्त राज्य उनको पूर्व-सेवा-वेतन का जो शनै-शनै कम होता जायगा, भुगतान करेगी। यह केवल केन्द्रीय सेवा-निवृत व्यक्तियो के लिए ही था।

इसके अतिरिक्त २७ करोड पौंड-पावनो का नियोजन प्रान्तीय सेवा-निवृत व्यक्तियो के भुगतान के लिए किया गया है। इस प्रकार १९७ करोड तथा २७ करोड रुपये की दो वार्षिकी (annuity) भारत सरकार ने खरीद ली है जिस पर हमको केवल १ प्रतिशत ब्याज मिलेगा। (अन्य पावनो पर ८ प्रतिशत ब्याज है।)

(ग) पिछले समझौते के अनुसार १११ करोड रुपये के पौंड-पावने उठाने का अधिकार भारत को था जिसमे से केवल ४ करोड का उपयोग हो सका है। अत शेष १०७ करोड उठाने का अधिकार तो है ही, इसके अतिरिक्त अगले तीन वर्षो मे ब्रिटेन १०७ करोड रुपये के पौंड-पावने चुकाने के लिए तैयार

था। इस प्रकार कुल २१४ करोड रुपये के पावने उपलब्ध थे। साथ ही व्यापा, रिक शेष की अनुकूल राशि भी प्राप्य थी।

(घ) उक्त १०७ करोड रुपये के पौड-पावनो मे से हम प्रथम वर्ष मे २० करोड रुपये के पावनो का परिवर्तन डॉलर मे कर सकते थे।

(ङ) इसके अतिरिक्त २०० मिलियन स्टलिंग अथवा २६७ करोड रुपये के पौड-पावने चलन-निधि के रूप मे रखे जायेंगे, जिनके भुगतान सम्बन्धी प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

इस समझौते की कटु आलोचना की गयी फिर भी क्या हो सकता था। हाँ, इसमे भारत को आयात के लिए जितनी राशि की आवश्यकता थी वह उसे अवश्य मिल गयी।

४ चौथा समझौता अर्थ-मंत्री श्री जॉन मथाई ने जुलाई १९४९ मे किया जिसकी अवधि भी जून १९५१ तक है। इसके अनुसार गत वर्षो मे स्थिर लेखे मे लिए हुए १०८ करोड के पावनो का अपलेखन (written off) किया गया तथा निश्चय हुआ कि इस लेखे मे जून १९५१ तक निश्चित रकम के अतिरिक्त पावने नही ले सकेंगे। दूसरे, स्थिर लेखे से अगले दो वर्षो मे अर्थात् १९४९-५० एवं १९५०-५१ के लिए प्रति वर्ष ६६·६ करोड रुपये अथवा ५० मिलियन पौड के पावने प्रति वर्ष भारत निकाल सकता है (पिछले वर्ष के लिए यह मर्यादा ४० मिलियन पौड अथवा ५३·३ करोड रुपये थी)। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन ने यह भी स्वीकार किया कि हमारे धान्य आयात के लिए जुलाई १९४९ के पूर्व जो आदेश आ चुके है उनके भुगतान के लिए भी स्टर्लिङ्ग पावने दिऐ जायेंगे। इसके अलावा डॉलर क्षेत्रो से आयात मे २५% कटौती करना तय हुआ था।

इस प्रकार जॉन मथाई द्वारा किया हुआ समझौता चेट्टी-क्रिप्स समझौते की अपेक्षा अधिक लाभदायक था। कारण १९४८ के समझौते मे तो भारत को केवल २० करोड रुपये के स्टर्लिङ्ग ही (अथवा ६ करोड डॉलर) डॉलर मे परिवर्तन के लिए मिल सकते थे, जहाँ इस समझौते से भारत को प्रति वर्ष १५ करोड डॉलर मिलने की व्यवस्था हो गयी। परन्तु सितम्बर १९४९ मे स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन होने से हमारे स्टर्लिङ्ग का मूल्य ३०·५ प्रतिशत से कम हो गया था जिससे हमको कम डॉलर मिलने लगे।

५ पाँचवाँ समझौता फरवरी १९५२ मे हुआ जब श्री चिन्तामणि देशमुख राष्ट्रसंघीय-अर्थमंत्री सम्मेलन मे हिस्सा लेने के लिए इंगलैड गये थे।

यह समझौता ३० जून १९५७ को समाप्त होने वाले ६ वर्षों के लिए हुआ।[1] इस समझौने के अनुसार हमारे स्थिर खाते में से प्रति वर्ष ३५ मिलियन स्टर्लिङ्ग पावने चल खाने मे जमा किए जाएँगे, जो भारत प्रति वर्ष खर्च कर सकेगा। इसके अलावा स्थिर खाते मे से चल खाने में ३१० मिलियन पौंड की एक और राशि जमा की जायेगी। यह राशि रिजर्व बैंक के पास चलन निधि (currency reserve) के रूप मे रहेगी जिसका उपयोग केवल सकट-काल मे ही किया जा सकता है।

चल-खाते म ३५ मिलियन पौंड की राशि तभी जमा की जावेगी जब कि चल-खाते की राशि ३१० मिलियन पौंड से अथवा जो राशि भारत और ब्रिटिश सरकार के आपसी समझौने से तय हो जाय—कम हो। इसी प्रकार यदि किसी वर्ष मे ३५ मिलियन स्टर्लिङ्ग का उपयोग भारत न कर सके तो उस राशि का उपयोग आगामी वर्षों मे किया जा सकता है। वैसे ही यदि किसी वर्ष मे भारत के खर्चे ३५ मिलियन पौंड से अधिक होने की आशका हो तो अगले वर्ष की राशि मे से ५ मिलियन पौंड का उपयोग करने के लिए भारत स्वतन्त्र है। परन्तु यदि यह राशि इससे अधिक होनी है तो उस दशा मे ब्रिटिश सरकार के साथ विचार-विमर्श करके अधिक राशि का उपयोग हो सकता था।

इस प्रकार इस समझौने के अनुसार भारत ३० जून १९५७ तक १०५ मिलियन पौंड की राशि का उपयोग कर सकता है। इसके बाद जो भी पौंड-पावनो की राशि शेष रहेगी वह अपने आप चल-खाते मे जमा कर दी जावेगी।

इस समझौने से पौंड-पावने के भुगतान सम्बन्धी सभी शकाएँ दूर हो गयी हैं।

६ यह वार्ता जुलाई १९५३ मे हुई तथा तत्कालीन वित्त मत्री श्री देशमुख ने घोषित किया कि १९५२ के समझौने के अनुसार ३० जून १९५७ तक पौंड-पावनों का भुगतान होता रहेगा। मार्च १९५८ मे ७२५ करोड रुपये के पौंड-पावने थे जिनका भुगतान भारत ३० जून १९५७ तक ले लेगा। इसमे से २९० करोड रुपये के व्यय की व्यवस्था प्रथम योजना के लिए की गई थी। यह आशा है कि योजना-युग मे इनका अधिकतम सदुपयोग करने के प्रयत्न होंगे।

७ यह समझौता १९५५ मे हुआ था। इस समझौने के अनुसार भारत सरकार ने ब्रिटिश सेना निवृत्त कर्मचारियों की पेन्शन के लिए जो वार्षिकी (annuity) १९४७ मे खरीदी थी उसकी अधिक रकम वापिस देने के लिए

[1] R. B. I. Report on Currency & Finance 1951-52.

तैयार हो गयी है। यह अतिरिक्त राशि लगभग ४ करोड पौंड है। इस समझौते के अनुसार इगलैंड ने अप्रैल १९५५, १९५६ और १९५७ मे प्रति वर्ष ४० लाख पौंड तथा अप्रैल १९५७ में १०६० करोड पौंड की वापसी की। इस वर्ष (१९५८) मे १ करोड पौंड वापस करेगा। इस प्रकार सरकार को जो वार्षिकी खरीदने मे घाटा था उसका कुछ भाग वापिस मिल गया है।[1]

दूसरी योजना की अवधि मे २०० करोड रुपय की राशि पौंड पावनो मे निकालने का आयोजन है। १९५५ के आरम्भ में भारत के ७३१ करोड रुपये के पौंड पावने शेष थे।

साराश

पौंड-पावने द्वितीय विश्व-युद्ध की भारत को देन है क्योंकि युद्ध-काल मे भारत ने इगलैंड को युद्ध सचालन की सामग्री की पूर्ति की तथा सुरक्षा-व्यय किया। इसकी राशि के बदले हमको पौंड प्रतिभूतियां मिलीं जिसे पौंड-पावना कहते हैं। इनकी राशि १९३९ ४० मे १४२ करोड रुपये थी जो १९४५ ४६ मे १६८० करोड रुपये हो गयी।

युद्ध-काल मे इनके भुगतान का कोई सवाल न था परन्तु युद्ध के बाद इस सम्बन्ध मे वार्ताएँ हुई। कुछ लोगों के अनुसार इनका भुगतान नहीं होना चाहिए था और कुछ लोग जैसे प्रो० हिक्स आदि भुगतान करने के पक्ष मे थे।

भुगतान के सम्बन्ध मे प्रथम समझौता १९४७ मे हुआ और तत्पश्चात क्रमश: १९४७, १९४९, १९५२ एव १९५३ मे समझौते हुए। अन्तिम समझौते की अवधि ३० जून १९५७ तक है। १९५५ के प्रारम्भ में हमारे पास ७३१ करोड रुपये के पौंड-पावने शेष रहे। १९५५ के समझौते के अनुसार भारत सरकार ने वार्षिकी खरीदने मे १९४७ मे जो अधिक राशि ब्रिटेन को दी थी उसकी वापसी होगी। इस राशि मे से ३७० करोड रुपये भारत को अप्रैल १९५७ तक वापिस मिल गये हैं।

अध्याय १८

अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाएँ

युद्धोत्तरकालीन असीमित पत्र-मुद्रा-प्रसार के कारण विश्व के सभी देशों की चलन-व्यवस्था बिगड चुकी थी। इस कारण विदेशी विनिमय में अस्थिरता आ गयी थी तथा आन्तरिक मूल्य भी बढ गये थे फलत विदेशी व्यापार मे अनेक असुविधाएँ प्रतीत होने लगी थी तथा विनिमय दर की अस्थिरता के कारण अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की प्रगति होना असम्भव हो गया था। इसी प्रकार आन्तरिक बाजार मे भी कीमतें अधिक बढ जाने से देशी व्यापार का सचालन भी ठीक तरह से नहीं हो रहा था। इस प्रकार देशी एव अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की प्रगति भुगतान-विषमताओं को दूर करने एव विनिमय दर की स्थिरता के लिए अमरीका, ब्रिटेन, कनाडा आदि यूरोपीय देशों ने अनेक मौद्रिक योजनाएँ प्रस्तुत की। इन योजनाओ के आधार पर सयुक्त राष्ट्रसघ की मौद्रिक तथा आर्थिक परिषद् ने १६४४ मे एक योजना स्वीकार की जो ब्रटन-वुड्स समझौते के नाम से जानी जाती है। इस योजना को विभिन्न देशों के प्रतिनिधियो ने मान्यता दी और यह निश्चित किया गया कि अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष एव अन्तरराष्ट्रीय बैंक की स्थापना की जाय जिससे अन्तरराष्ट्रीय सहयोग मे सभी देशो का आर्थिक विकास हो सके। इस योजना को बाद में सभी देशों की सरकारो ने मान्यता दी। इन दोनो सस्थाओ का हम क्रमश अध्ययन करेंगे।

अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I M F)

कोष की स्थापना का मुख्य हेतु अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग बढाना है जिससे अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक समस्याओं का हल सुगमता से हो सके। कोष के अन्य उद्देश्य निम्न हैं —

१ अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के सतुलित विकास एव प्रगति करने मे सहायक होना जिससे वास्तविक आय बढे एव पूर्ण रोजगारी को बढावा मिले।

इस हेतु की पूर्ति के लिए कोष अपने सदस्यों को दूसरे राष्ट्रों की मुद्राएँ उधार देती है अथवा बेचती है जिससे वे अपनी भुगतान-विषमताओं को दूर कर सके तथा इन्हे विदेशी व्यापार मे कठिनाइयों का सामना न करना पडे।

फिर भी अपन देश की पूँजी का नियात-आयात रोकन के लिए सदस्य देशा को विनिमय नियत्रण लगान की स्तन्त्रता है।

२ विनिमय दरा म स्थिरता लाकर उस कायम रखना। इसी प्रकार सदस्य देशो क बीच विनिमय सुलभता म हा सक इसलिए समुचित विनिमय व्यवस्था स्थापित करना।

इस हतु कोप सदस्य दशो की मुद्राआ का स्वर्ण अथवा डॉलर मूल्य निश्चित करती है जिस दर पर ही व आपस म अथवा कोप स विदेशी मुद्राआ अथवा स्वण का क्रय विक्रय करेंगे।

३ स्पधात्मक विनिमय-अवमूल्यन का न हान दना।

इस हतु क अनुसार काई भी सदस्य कोप की अनुमति बिना अपनी मुद्राआ का स्वर्ण अथवा डालर मूल्य कम-अधिक नही कर सकता।

४ सदस्य दशा क चालू व्यवहारा क लिए बहुपाक्षिक भुगतान (multilateral payment) सुविधाएँ दन क लिए सहायक हाना।

इस हतु की पूर्ति क लिए सदस्य देशा द्वारा लगाय गय विनिमय नियन्त्रणा को हटान म कोप सहायक हागा।

५ सदस्य दशा क बीच हाने वाली भुगतान विषमता की तीव्रता एव अवधि को कम करना। इस हतु की पूर्ति क लिए कोप उन्ह विदेशी मुद्राएँ दकर सहायता करगा।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि कोप का उद्दश्य अपन सदस्या का विनिमय सम्बन्धी सुविधाए दकर उनके आर्थिक विकास क हतु अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का बढावा दना ह।

कोप की सदस्यता एव पूँजी

कोप की कुल पजी १० ००० मिलियन डालर ह, जिसमे प्रत्यक देश का कोटा निर्धारित है जा निम्नलिखित है —

देश	कोटा (मिलियन डालरा म)
अमरीका	२ ७५०
इगलण्ड	१ ३५०
रूस	१ २००
चीन	५५०
फ्रास	४५०
भारत	४००
कनाडा	३००
नीदरलैंडस	२७५

देश	कोटा (मिलियन डॉलरों में)
आस्ट्रेलिया	२००
द० अफ्रीका	१००
ग्रीस	४०
ईरान	२५
बल्जियम	२२५
ब्राजील	१०५
जेकोस्लोवाकिया	१२५
इटली	१८०
पाकिस्तान	१००
अन्य देश	१०० से कम

जिन देशों के प्रतिनिधियों ने ब्रटनवुड्स परिषद् में भाग लिया था एवं ३१ दिसम्बर १९४५ से पहले कोष की सदस्यता स्वीकार की है वे इस मौलिक सदस्य माने जायेंगे।

प्रत्येक देश को अपना कोटा स्वर्ण में तथा देशी मुद्राओं में देना पड़ता है। स्वर्ण का भाग कोटे के २५% प्रतिशत अथवा उस देश के 'कुल स्वर्ण एवं डॉलर-निधि" के १० प्रतिशत—दोनों में जो कम हो—और शेष भाग देशी मुद्राओं में तथा प्रतिभूतियों में देना पड़ता है। प्रत्येक सदस्य अपने कोटे को घटा-बढ़ा सकता है। उसी प्रकार कोष का भी अधिकार है कि वह सदस्य देश की सम्मति से उसके कोटे को घटाये अथवा बढ़ाये।

यदि कोई भी देश कोष का सदस्य नहीं रहना चाहता तो वह सूचना देकर कोष की सदस्यता छोड़ सकता है। इसी प्रकार कोष को भी अधिकार है कि यदि कोई सदस्य देश कोष के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करता अथवा उसके नियमों की उपेक्षा करता है तो वह उस देश की सदस्यता छीन ले।

सदस्य राष्ट्रों को अपनी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में अथवा १ जुलाई १९४४ को जो यू० एस० ए० डॉलर था उसमें व्यक्त करना था। इस प्रकार मुद्रा-कोष के माध्यम से विदेशी विनिमय अथवा स्वर्ण के सभी व्यवहार इन मूल्यों के आधार पर होते हैं जिससे विनिमय दर में उतार-चढ़ाव न होते हुए वह स्थायी बनी रहती है।

अपनी मुद्रा के स्वर्ण कोष अथवा डॉलर मूल्य में कोई भी देश यदि चाहे तो कोष की अनुमति से परिवर्तन करा सकता है। ऐसे परिवर्तन की निम्न शर्तें हैं।

१. कोई भी सदस्य अपनी मुद्रा के स्वर्ण अथवा डॉलर मूल्य मे १०% तक परिवर्तन कर सकता है। ऐसे परिवर्तन का आवेदन प्राप्त होने पर कोष उस देश को ४८ घटे मे निर्णय देगा।

२ इससे अधिक परिवर्तन करने के लिए कोष की अनुमति आवश्यक होती है जिस सम्बन्ध मे कोष अपना निर्णय तीन दिन मे देगा।

३ इस प्रकार के परिवर्तन तभी किये जा सकते है जब उस देश की भुगतान विषमता एव अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की रुकावट दूर करने के लिए आवश्यक हो।

४ कोष की सम्मति बिना परिवर्तन करने वाले देश को दण्ड देना पडता है।

कोष के साथ व्यवहार—सदस्य देश कोष के साथ निम्न शर्तों पर व्यवहार कर सकते है।

१ सदस्य देश कोष के साथ अपने-अपने खजानो (treasuries), केन्द्रीय बैंको अथवा अन्य आर्थिक अभिकर्त्ताओ के मार्फत करेंगे।

२ कोई भी सदस्य देश कोष से *किसी अन्य देश की मुद्राएँ अपनी मुद्राओ* के अथवा स्वर्ण के बदले मे खरीद सकता है। यदि—

(क) सदस्य देश को भुगतान करने के लिए उस मुद्रा की आवश्यकता है और वह उसका उपयोग कोष के उद्देश्यों के अनुसार ही करेगा।

(ख) कोष के पास ऐसी मुद्रा की कमी हो।

(ग) यदि किसी देश-विशेष के मुद्रा की अत्यधिक माँग है जिससे उस मुद्रा का स्टॉक खत्म होने की सम्भावना है तो कोष उस देश की मुद्राएँ उधार लेगा अथवा उसे स्वर्ण के बदले मे खरीदेगा। परन्तु यदि फिर भी उस देश की मुद्रा की माँग वैसे ही बनी रहती है तो उस देश की उपलब्ध मुद्राओ का *विभाजन सदस्य देशों की आवश्यकतानुसार अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति* को ध्यान मे रखकर किया जायगा।

(घ) कोष मे यदि किसी भी समय किसी देश की मुद्रा की कमी हो तो कोष उस मुद्रा को दुर्लभ मुद्रा घोषित करेगा। परन्तु ऐसा करने से पूर्व किन कारणों से वह दुर्लभ मुद्रा घोषित कर दी गयी है, इस सम्बन्ध मे कोष रिपोर्ट बनाकर सदस्य देशों को भेज देगा। इसमे दुर्लभता हल करने के सुझाव भी दिये जाएँगे।

(ङ) कोई भी सदस्य देश एक वर्ष मे अपने कोटा के २५% से अधिक

राशि की विदेशी मुद्राएँ न खरीद सकेगा और न वह कुल मिलाकर अपने कोटा के २००% से अधिक राशि ही खरीद सकेगा।

सदस्य देशो पर प्रतिबन्ध

उपरोक्त उद्देश्यो की पूर्ति के लिए सदस्य देशो पर निम्न प्रतिबन्ध है—

१. कोष से ली जाने वाली राशि उसके उद्देश्यो की पूर्ति के लिए ही काम मे लाई जावेगी।

२ सदस्य देश स्वर्ण का क्रय-विक्रय कोष द्वारा निश्चित दर पर ही करेंगे।

३ चालू अन्तरराष्ट्रीय भुगतान के सम्बन्ध मे दूसरे सदस्य देशो के लिए भुगतान सम्बन्धी किसी प्रकार के प्रतिबन्ध न लगावें।

४ कोष की अनुमति बिना अपनी मौद्रिक नीति मे किसी प्रकार का पक्षपात न करें।

५ कोष द्वारा निर्धारित दरो पर ही किसी सदस्य देश के विनिमय-बाजार मे विदेशी मुद्राओ के व्यवहार हो।

परन्तु कोष ने सक्रान्ति काल मे सदस्य देशो को विनिमय नियत्रण लगाने की स्वीकृति केवल ५ वर्ष के लिए दी थी जिसके बाद विनिमय सम्बन्धी सभी प्रकार के निर्बन्ध हटाने थे। परन्तु फिर भी आज सदस्य देशो मे विनिमय नियत्रण किसी न किसी रूप मे कार्य कर रहे है। इतना ही नही प्रत्युत उनके स्वरूप मे विभिन्न देशो मे भिन्नता होने के साथ ही तीव्रता भी है। अधिकाश मे प्रतिबन्धो का प्रमुख लक्षण यह है कि अधिकाश देशो ने अपने भुगतान का स्तर सीमित रखने के लिए अथवा उसे कम करने के लिए विवेचनात्मक प्रतिबन्ध लगाये है, विशेषत "दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र" के सम्बन्ध मे। कोष के वृत्तलेख मे यह भी कहा गया है कि "अभी सम्पूर्ण विश्व इस स्थिति मे नही पहुँचा है, जहाँ प्रतिबन्धो का निवारण सभव प्रतीत हो।"

कोष का प्रबन्ध

कोष का कार्यालय वाशिगटन (अमेरिका) मे है। इसके प्रबन्ध के लिए एक बोर्ड ऑफ गवर्नर्स, सचालक समिति तथा प्रबन्ध सचालक होता है। बोर्ड ऑफ गवर्नर्स मे प्रत्येक सदस्य देश के प्रतिनिधित्व के लिए प्रत्येक देश का एक निर्वाचित तथा एक स्थानापन्न गवर्नर होता है, जिनकी अवधि ५ वर्ष की होती है। इस अवधि के बाद उनका पुन निर्वाचन हो सकता है। सचालक समिति मे १२ सचालक होते है जिनमे से सबसे अधिक कोटा वाले देशो के एक-एक (अर्थात्

कुल ८) अन्य सदस्य देशो द्वारा निर्वाचित ५ तथा शेष २ अमरीकी गणतन्त्र द्वारा चुने हुए होते है। य सचालक एक प्रबन्ध सचालक चुनते है जो कोप के दिन प्रतिदिन के काय की देखभाल करता है। प्रबन्ध सचालक को मत देने का *अधिकार नही होता परन्तु आवश्यकता पडने पर वह निर्णयात्मक मत (casting vote)* दे सकता है।

कोप का मौद्रिक क्षत्र म महत्त्व

उपरोक्त असफलताओ के होते हुए भी कोप ने गत वर्षो म अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की उन्नति करने एव भुगतान विपमताओ को दूर करने मे विभिन्न देशो को काफी सहायता दी है। इतना ही नही प्रत्युत अभी तक कोप के अधिकारियो ने अपने सदस्य देशो को भेंट दी तथा तान्त्रिक सहायता कायक्रम के *अन्तगत निम्न विषयो पर सक्रिय सहायता भी दी है* —

(१) आर्थिक सांख्यिकी (statistics) तथा रिपोट की पद्धति मे सुधार
(२) विनिमय दर मे परिवतन एव स्थापन
(३) विनिमय नियन्त्रण पद्धति मे सशोधन
(४) बजट के नियन्त्रण सम्बन्धी सुधार
(५) नये एव आद्यावत मौद्रिक तथा बकिंग विधान तथा
(६) भुगतान विपमताए एव मुद्रास्फीति की समस्याओ को हल करने के लिए सुझाव।

इस कायक्रम के अनुसार कोप ने दो देशो मे केन्द्रीय बकिंग तथा कृषि बकिंग पद्धति के निर्माण म तथा एक देश मे बक के अध्यक्ष पद के लिए अपने कार्यालय से सुयोग्य व्यक्ति देने मे सहायता की। कोष को अधिक उपयोगी बनाने के लिए एव उसके साधनो की सदस्य देशो को अधिकतम उपयोगिता देने के लिए नवम्बर १९५१ से कोप ने व्यवहारो पर जो सेवाशुल्क (service charges) लिया जाता था उसमे कमी की है। इसके अनुसार एक वष के लिए कोष से उधार मुद्राए कम ब्याज पर मिलगी परन्तु दो वष एव इससे अधिक समय के लिए मुद्राए उधार ली जाती है तो उन पर अधिक ब्याज लगेगा। इसी प्रकार *काप स्वण क क्रता एव विक्रता देशो का सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न भी* करता है जिससे स्वण के क्रय विक्रय व्यवहारो के खर्चे कम हो जाएँगे। इन सुधारो से आशा है कि कोप के *साधनो का अधिकतम उपयोग* सदस्य देशो को होगा।

कोष की स्वर्ण-नीति—कोप ने सदस्य राष्ट्रो के सहयोग से स्वण को

मौद्रिक जगत मे फिर से महत्वपूर्ण स्थान दिया है। सदस्य राष्ट्रो ने स्वर्ण की खरीद बिक्री न करने का आश्वासन दिया है। यह क्रय-विक्रय ३५ डॉलर प्रति औंस की दर से होगा तथा इससे अधिक दर पर अन्तरराष्ट्रीय बाजारो मे स्वर्ण का क्रय-विक्रय नही होगा, स्वर्ण-उत्पादक देशो को भी इसी दर से स्वर्ण का क्रय-विक्रय करना पड़ेगा।

दक्षिणी अफ्रीका ने १६४६ एव १९५० मे स्वर्ण को बाजार-मूल्य अथवा कोष से *निश्चित मूल्य से अधिक दर पर बेचने के लिए प्रयत्न किया था किन्तु* कोष की कार्यकारिणी ने इन प्रस्तावो को ठुकरा दिया। इस प्रकार कोष की *स्वर्ण-सम्बन्धी कडी नीति के कारण तथा सभासद राष्ट्रो के सहयोग से स्वर्ण-*नीति प्रभावशाली रूप से कार्य कर रही है जिससे अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक जगत मे *स्वर्ण को फिर से सिंहासनारूढ किया गया है।*[1] परन्तु *कोष को विवश हो* कर स्वर्ण-नीति मे परिवर्तन करना पडा जो सितम्बर १९५१ मे किया गया। इससे नव-निर्मित स्वर्ण को स्वर्ण-उत्पादक देश बाजार म कोष की निश्चित दर की अपेक्षा अधिक दर पर बेच सकेंगे। इस निर्णय से कोष की स्वर्ण-नीति प्रभावित हुए बिना नही रह सकती।

भारत और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष—ब्रेटनवुड्स सम्मेलन मे भारत के प्रतिनिधि भी थे जिन्होने इस योजना को मान लिया तथा इस पर भारत सरकार ने अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी। दिसम्बर १९४५ मे भारत ने अपने कोटे की राशि कोष को नियमानुसार चुका दी। कोष मे इस समय भारत के अपरकाम्य एव ब्याजरहित प्रतिज्ञा अर्थ-पत्र २२४,९६,४०,००० रुपये (अथवा ४७२·४२ मिलियन डॉलर) जमा हैं, जो एशियाई देशो मे सबसे अधिक है। भारत कोष का चौथा मौलिक सदस्य है। इससे भारत को कोष पर अपना एक शासकीय गवर्नर नियुक्त करने का अधिकार है।

कोष का सदस्य होने के नाते भारत ने रुपये का सममूल्य स्वर्ण मे एव डॉलर मे क्रमश ० २६८६१ ग्राम एव ३० २५ सेंट निश्चित किया। रुपये के अवमूल्यन के बाद अब यही स्वर्ण एव डॉलर मे क्रमश ०·१८६६२१ ग्राम एव २१ सेंट हो गया हैं। इसके अलावा हमारी मौद्रिक पद्धति मे महत्वपूर्ण परिवर्तन करने के लिए रिजर्व बैंक विधान मे १९४७ मे सशोधन किया गया।

इस सशोधन के अनुसार भारतीय चलन की सदस्य देशो के चलन से बहुपाक्षिक परिवर्तनशीलता के लिए रिजर्व बैंक अपनी निधि मे स्टर्लिंग

[1] For details see '*Commerce*', 30th Sept. 1950, p 370

के साथ अन्य देशो का चलन भी रखेगा एव इनका क्रय-विक्रय कोप की निश्चित दरो पर करेगा ।

(२) कोप की सदस्यता के साथ हमारा स्टर्लिंग का नाता भी टूट जाता है इसलिए मूल विधान की धारा ४०, ४१ को रद्द किया गया तथा रिजर्व बैंक को केन्द्रीय सरकार द्वारा कोप से निश्चित दरो पर विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करने का भार सौंपा गया । लेकिन विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय २ लाख रुपये से कम मुद्राओ का नही होगा ।

(३) स्टर्लिंग मे रुपये का अधिकतम एव न्यूनतम मूल्य १८$\frac{६}{६४}$ पेंस तथा १७$\frac{५५}{६४}$ पेस निश्चित किया गया है ।

(४) विदेशी मुद्राओ मे भारतीय रुपय की अधिकतम एव न्यूनतम दर मे कोप की निश्चित दरो के आधार पर तत्क्षण व्यवहारो म १% से अधिक अन्तर न होगा ।

(५) हमारे विदेशी विनिमय को वर्तमान स्थिति मे नियन्त्रित करन एव उसका अधिकाधिक उपयोग करने की दृष्टि से १९४७ मे विदेशी-विनिमय-नियमन विधान लागू किया गया है जिसके अनुसार भारत तथा स्टर्लिंग क्षेत्रो मे विदेशी विनिमय का हस्तान्तरण रिजर्व बैंक की पूर्व-अनुमति के बिना नही हो सकता ।

(६) रिजर्व बैंक कोप के सदस्य देश के सरकार की प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय कर सकता है ।

अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोप की सदस्यता से भारत को निम्न लाभ हुए है —

(१) भारत को कोप से उसकी आवश्यकतानुसार विदेशी मुद्राएँ मिलती रहेगी जिससे हमारे आर्थिक विकास के लिए आवश्यक पूंजीगत माल हमको मिलता रहेगा ।

भारत ने जनवरी १९५७ मे विदेशी विनिमय की कमी को दूर करने के लिये १२७ ५ मि० डॉलर का ऋण लिया । इसी प्रकार १९५७ मे २०० मि० डॉलर की अस्थायी साख (standing credit) भी स्वीकृत करायी । इसमे से फरवरी १९५७ मे ६० मि० डॉलर, मार्च १९५७ मे ६७ ५ मि० डॉलर तथा जून १९५७ मे ७२ ५ मि० डॉलर का उपयोग किया । इसके अतिरिक्त दिसम्बर १९५७ तक भारत ने देशी मुद्राओ के बदले कोप से ३०० मि० डॉलर खरीदे थे । इसमे से ९९ ६ मि० डॉलर की पुन खरीद की गयी ।[1]

1 *India*—1957, 1958 & 1959.

(२) रुपये का समर्मूल्य स्वर्ण मे निश्चित हो जाने से रुपया अन्तरराष्ट्रीय प्रागण मे स्वतन्त्र हो गया तथा अब उसका स्टर्लिंग से कोई सम्बन्ध नही है। इससे भारत मौद्रिक दासता से मुक्त हो गया।

(३) भारत को शासकीय सचालक नियुक्त करने का अधिकार होने के कारण भारत कोष की नीति निर्माण मे हिस्सा ले सकता है। इससे उसकी अन्तरराष्ट्रीय महत्ता भी बढेगी।

(४) रुपये का सम्बन्ध स्वर्ण से होने के कारण रुपये का परिवर्तन अब किसी भी देश की मुद्रा के साथ हो सकता है। इस कारण अब भारत का विदेशी व्यापार अन्य देशो के साथ—जो स्टर्लिंग क्षेत्र मे नही है—बढने मे सहायता मिलेगी।

(५) हम अपने घरेलू मामलो मे कोष की सहायता ले सकेंगे।

इस प्रकार की सहायता कोष से भारत ने ली है। फरवरी १९५३ मे कोष का प्रतिनिधिमडल भारत की मौद्रिक एव आर्थिक नीति पर अपनी रिपोर्ट देने के लिए आया था जो Economic Development with Stability नाम से प्रकाशित की गयी है। इसी प्रकार फरवरी १९५८ में कोष के प्रबन्ध सचालक भारत की आर्थिक स्थिति का परिशीलन कर सुझाव देने के लिये भारत मे आये थे। दिसम्बर १९५७ मे कोष के एशियाई विभाग का दल भारत की आर्थिक स्थिति आकने के लिये भारत मे रहा।

अन्तरराष्ट्रीय बैंक

ब्रेटनवुड्स समझौते के अनुसार अन्तरराष्ट्रीय बैंक की स्थापना अविकसित एव युद्ध-ध्वस्त देशो के पुनर्निर्माण एव आर्थिक विकास के लिए की गयी है। इससे सदस्य देशो मे परस्पर सहयोग द्वारा विनियोग होकर सदस्य देशो को अपने आर्थिक विकास के लिए पूँजीगत वस्तुएँ प्राप्त करने मे सुगमता होगी।

उद्देश्य—१ अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को उन्नत करने के लिए अन्तरराष्ट्रीय ऋण द्वारा विनियोग क्रियाओ मे स्थिरता लाना,

२. अन्तरराष्ट्रीय ऋण एव विनियोग क्रियाओ मे स्थिरता लाने के लिए बैंक द्वारा निजी ऋणो तथा विनियोगो की जमानत देना,

३ आर्थिक विकास के लिए अपने निजी साधनो से सदस्य देशो को ऋण देना,

४ उपलब्ध पूँजी का अधिकतम उपयोग करने के लिए सदस्य देशो

मे पूंजी का लेन-देन प्रोत्साहित करना, जिससे उपयुक्त योजनाओ की पूर्ति को प्राथमिकता मिले।

इस प्रकार बैंक का प्रमुख हेतु अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र मे पूँजी, ऋण एव विनियोगो द्वारा युद्धोत्तर विकास एव पुनर्निर्माण योजनाओ की प्रगति कर अन्तर राष्ट्रीय व्यापार की वृद्धि करना है।

बैंक की पूंजी एवं सदस्यता—बैंक की पूंजी १०,००० मिलियन डॉलर है। इसमे से ६१०० मिलियन डॉलर उन देशो के लिए निश्चित की गयी थी जिन्होने ब्रेटनवुड्स सम्मेलन मे बैंक का सदस्य होना स्वीकार कर लिया था। शेष पूंजी आगे होने वाले सदस्यों के लिए थी। जिन देशो ने ३१ दिसम्बर १९४५ को अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोप की सदस्यता स्वीकार की वे इस बैंक के भी मौलिक सभासद होगे। जो सदस्य अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष का सभासदत्व त्याग देता है वह बैंक का सभासद भी नही रह सकता। परन्तु मुद्रा-कोष का सभासदत्व त्यागने पर भी वह ७५% मत से बैंक का सभासद रह सकता है। इसी प्रकार जो सदस्य बैंक की शर्तों का पूर्ण रूप से पालन नही करेगा वह भी सदस्य न रह सकेगा। लिखित सूचना देने पर कोई भी देश बैंक की सदस्यता छोड सकता है।

बैंक की अधिकृत पूंजी १ लाख डॉलर के १,००,००० अशो मे भाजित है। मूल सभासदो का कोटा अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष की तरह निश्चित है अर्थात् सयुक्त राष्ट्र ३१५० मिलियन डॉलर, सयुक्त राज्य १३०० मिलियन डॉलर, रूस १२०० मिलियन डॉलर, चीन ६०० मिलियन डॉलर, फ्रान्स ४५० मिलियन डॉलर तथा भारत ४०० मिलियन डॉलर। इन सभासदो मे से रूस ने इसकी सदस्यता स्वीकार नही की। बैंक की पूंजी ७५ प्रतिशत सभासदो के बहुमत से बढाई जा सकती है।

अधिकृत पूंजी का २० प्रतिशत भाग सभासदो को देना पडेगा जिसमे से $\frac{2}{10}$ भाग अमरीकी डॉलर अथवा स्वर्ण मे तथा $\frac{18}{10}$ भाग सभासद अपनी मुद्रा मे देगा। शेष प्रार्थित पूंजी माँग पर स्वर्ण मे, अमरीकी डॉलर मे, अथवा जिस चलन-कार्य के लिए पूंजी मांगी गयी है उस चलन मे, देनी पडेगी। यह हिस्सा केवल उसी समय मगाया जावेगा जब बैंक को उसकी आवश्यकता होगी। इस समय बैंक की कुल चुकता पूंजी ९४२·३ मिलियन डॉलर है।

प्रबन्ध—बैंक का कार्य गवर्नरो की समिति द्वारा चलाया जाता है। इनको सलाह देने के लिए एक सलाहकार समिति है जिसमे औद्योगिक, आर्थिक, कृषि,

बैंकिंग आदि विशेषज्ञों का प्रतिनिधित्व है। यह सलाहकार समिति बैंक की सामान्य तथा ऋण-नीति पर सलाह देती है। बैंक की चुकता पूंजी ऋण आदि देने के कार्य मे तथा शेष पूंजी बैंक द्वारा ऋणों के अथवा अभिगोपन (underwriting) के लिए उपयोग मे ली जायगी। याचित पूँजी ऋण देने के लिए बैंक को उपलब्ध रहेगी।

ऋण-नीति—बैंक अपने सभासद देश को किसी भी औद्योगिक अथवा विकास कार्य के लिए ऋण अथवा ऋण की जमानत देगा। लेकिन इसके पूर्व वह कार्य ठोस है अथवा नही, इसकी जाँच वह अपनी सलाहकार समिति तथा ऋण-समिति द्वारा करा लेगा। यह ऋण बैंक तभी देगा जब उधार लेने वाले देश को अन्य किसी देश से अथवा व्यक्ति से पूंजी न मिल रही हो एव ऋण जिस कार्य के लिए दिया जा रहा है उसी कार्य मे उसका उपयोग किया जायगा इस सम्बन्ध मे बैंक को विश्वास हो।

बैंक या तो अपनी पूंजी मे से ऋण देगा अथवा अन्य किसी देश अथवा वैयक्तिक विनियोगकर्त्ताओं से अपनी जमानत पर ऋण दिलवायगा। इस प्रकार बैंक की ऋण देने सम्बन्धी चार शर्तें है —

१ अगर ऋण-कर्त्ता को कही से ऋण नही मिल रहा है,

२ अगर सदस्य देश के किसी उद्योग को अथवा किसी प्रान्त को ऋण दिया जा रहा है तो सदस्य देश की सरकार को उस ऋण की जमानत देनी होगी,

३ अगर परीक्षण के बाद यह प्रमाणित होता है कि ऋणकर्त्ता उस ऋण का भुगतान करने की परिस्थिति मे है, तथा

४ ऋणकर्त्ता अपनी असमर्थता प्रमाणित करे कि उसे अन्तरराष्ट्रीय बैंक की जमानत के बिना अन्य स्रोतों से ऋण नही मिल रहा है।

बैंक अपने प्रत्यक्ष ऋण पर व्याज (जो दर निश्चित की जाय) लेगा तथा उसकी भुगतान सम्बन्धी शर्ते भी बैंक के निर्णय पर ही निर्भर रहेंगी। जिन ऋणों की जमानत बैंक द्वारा दी जाती है उन ऋणों पर प्रथम दस वर्षों के लिए बैंक १ से १½ प्रतिशत कमीशन लेगा तथा इसको एक अलग निधि मे जमा करेगा जिससे किसी राष्ट्र से ऋणों का भुगतान न होने पर उसका उपयोग हो सके। ऋण की पूर्ति के लिए अथवा अन्य कार्यों के लिए बैंक को अपनी प्रतिभूतियाँ बेचने का अधिकार है।

बैंक की क्रियाएँ—३० जून १६५८ तक अन्तरराष्ट्रीय बैंक ने ३७२६

मिलियन डॉलर के २०४ ऋण स्वीकृत किये। १६५७-५८ मे कुल ७११ मिलियन डॉलर के ऋण विभिन्न देशो को दिये गये जो निम्न थे —

एशियाई देश	३७६ मि० डॉलर
लेटिन अमरीका	१२१ ,,
अफ्रीका	११२ ,,
यूरोप	६६ ,,

३० जून १६५८ तक कुल स्वीकृत ऋणो मे से एशियाई देशो को ९४८ मि० डॉलर, अफ्रीका को ४७६ मि० डॉलर, आस्ट्रेलिया को ३१८ मि० डॉलर, यूरोप को ११८६ मि० डॉलर तथा पश्चिमी गोलार्द्ध (western hemisphere) को ७६८ मि० डॉलर के ऋण स्वीकृत हुए। इन ऋणो मे से ४६७ मि० डॉलर पुनर्निर्माण तथा ३२३२ मि० डॉलर विकास-कार्य के लिए दिये गये थे। विकास-ऋणो का विभिन्न मदो पर निम्न प्रकार से विवरण है :

विद्युत निर्माण एव वितरण	११०६ मि० डॉलर
यातायात	१०३६ ,,
सवादवाहन	२४ ,,
कृषि एव वन-विकास	३१५ ,,
उद्योग	५४५ ,,

यद्यपि अन्तरराष्ट्रीय बैंक का मूल स्वरूप आर्थिक है फिर भी उसने कार्य-क्षेत्र का अन्यत्र विस्तार भी किया है। राजनीतिक विवादो को सुलझाने मे भी यह योग देता है। जैसे स्वेज नहर कम्पनी के हिस्सेदारो की क्षतिपूर्ति के मामले मे इसने एक ओर सयुक्त अरब गणतत्र तथा दूसरी ओर ब्रिटेन एव फ्रास मे मध्यस्थता की। इसी प्रकार भारत-पाक-नहरी विवाद मे भी इसी के प्रयत्नो से समझौता सम्भव हुआ। इसी प्रकार इटली मे अणुशक्ति से विद्युत-उत्पादन की सम्भाव्यता का अध्ययन भी बैंक के प्रतिनिधि इस समय कर रहे हैं।[1]

अन्तरराष्ट्रीय बैंक एव अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष की वार्षिक बैठक १६५८ मे दिल्ली मे हुई जो एशियाई देशो के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। इस बैठक मे दोनो ही सस्थाओं के सदस्य देशो का कोटा बढाने का निर्णय किया गया।

अन्तरराष्ट्रीय बैंक और भारत

भारत अन्तरराष्ट्रीय बैंक का भी मौलिक सदस्य है। बैंक की पूंजी मे

---

[1] *Modern Review*—Oct 1958

भारत का कोटा ४०० मि० डॉलर है तथा पांचवां सदस्य होने से इसे बैंक की कार्यकारिणी में भी स्थायी स्थान प्राप्त है। बैंक की सदस्यता से भारत को विभिन्न विकास-कार्यों के लिए निम्न ऋण मिले हैं :—

१ पहला ऋण १८ अगस्त १९४९ को भारत ने ३४ मिलियन डॉलर का संयुक्त राष्ट्र तथा कैनाडा से रेलवे इंजन खरीदने के लिए लिया था। यह ऋण १५ वर्ष की अवधि के लिए तथा ३ प्रतिशत वार्षिक ब्याज पर है। इसके अतिरिक्त १ प्रतिशत बैंक कमीशन भी भारत देगा। इस ऋण का भुगतान भारत ने अगस्त १९५० से आरम्भ किया।

भारत ने इस ऋण का मितव्ययिता से उपयोग कर १.२ मिलियन डॉलर का ऋण रद्द करा लिया है। इस प्रकार अब इस ऋण के ब्याज एवं कमीशन के अतिरिक्त कुल ३२.८ मिलियन डॉलर भारत को भुगतान करना है। इस ऋण में से भारत ने अभी तक ३.५ मिलियन डॉलर का भुगतान किया है।

२ दूसरा ऋण १० मि० डॉलर का २९ सितम्बर १९४९ को कृषि-विकास एवं सुधार के लिए स्वीकृत हुआ है। इस ऋण की अवधि ७ वर्ष तथा ब्याज एवं बैंक कमीशन क्रमशः २½% और १% है। इसका भुगतान १ जून १९५२ से प्रारम्भ हो गया जिसके अनुसार भारत ने १९५२ में ८,५०,००० मि० डॉलर की पहली किश्त चुकाई। इस ऋण से भारत अमरीका से ट्रैक्टर खरीदेगा जिससे काँस लगी हुई बंजर भूमि को कृषि-कार्यों के लिए उपयोग में लाया जायगा। इस ऋण में से भी भारत ने १.५ मिलियन डॉलर निरस्त करा दिये हैं जिससे अब इस ऋण के लिए केवल ८४,१५,००० डॉलर का भुगतान और करना पड़ेगा।

३ तीसरा ऋण १५ अप्रैल १९५० को १८.५ मिलियन डॉलर का दामोदर घाटी-योजना के लिए स्वीकृत हुआ है। इस योजना के अन्तर्गत "बोकारो बोनार थर्मल स्टेशन" बनाने के लिए अमेरिका से थर्मल प्लांट खरीदा जायगा। इस ऋण की अवधि २० वर्ष तथा ब्याज एवं बैंक कमीशन ३ प्रतिशत एवं १ प्रतिशत प्रतिवर्ष है। ऋण का भुगतान १ अप्रैल १९५५ से शुरू होगा।

४ चौथा ऋण १९ दिसम्बर १९५२ को ३१.५ मिलियन डॉलर का स्वीकृत किया गया है। यह ऋण पंचवर्षीय योजना के अनुसार लोहा एवं इस्पात उद्योग विकास के लिए इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी के आधुनिकीकरण के हेतु लिया गया है। इस ऋण की अवधि १५ वर्ष तथा ब्याज एवं कमीशन की वार्षिक दर ४¾% है। इस ऋण का भुगतान १९५९ में आरम्भ हो गया है।

५ यह ऋण २६ जनवरी १९५३ को दामोदर घाटी विकास योजना के लिए १९ ५ मि० डॉलर का स्वीकृत हुआ है। इसकी अवधि २५ वर्ष तथा ब्याज एव कमीशन की वार्षिक दर ४३/४% है। इस ऋण का भुगतान १९५६ मे आरभ होगया। यह ऋण सिंचाई और बाढ नियत्रण योजनाओ की पूर्ति के लिए लिया गया था जिसमे माइथान, पचेट और दुर्गापुर बाध सम्मिलित हैं।

६. यह ऋण नवम्बर १९५४ मे टाटा ग्रुप को ट्राम्बे मे बिजलीघर के विकास के लिए १६ २ मि० डॉलर का दिया गया है।

७. यह ऋण १९५५ मे औद्योगिक साख एव विनियोग निगम को १० मि० डॉलर का विदेशी माल एव सेवाओं का आयात करने के लिए दिया गया है। इसकी अवधि १५ वर्ष तथा ब्याज एव कमीशन की वार्षिक दर ४५/८% है।

८ १६ सितम्बर १९४९ को भारतीय रेलो के सुधार एव विस्तार के लिए ८५·० मि० डॉलर का यह ऋण स्वीकृत हुआ है।

जुलाई १९५० मे भारत को रेलों की माल-वहन क्षमता बढाने के लिए ६० मि० डॉलर का ऋण मिला था।

९ कलकत्ता और मद्रास मे जहाजो और माल ढोने की सुविधाएँ बढाने के लिए तथा एयर इडिया इटरनेशनल को नये विमान खरीदने के लिए दो ऋण क्रमश ४३ मि० और ५ ६ मि० डॉलर के स्वीकृत किये गये है।[1]

१० दामोदर घाटी योजना के अन्तर्गत बोकारा मे चौथा विद्युत निर्माण-गृह बनाने के लिए जुलाई १९५८ मे २५ ० मि० डॉलर का ऋण स्वीकृत किया गया है।

११ इसी प्रकार लोहा एव इस्पात उद्योग की उत्पादनक्षमता बढाने के लिए इडियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी तथा टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी को क्रमश ५१ ५ मि० और १०७ ५ मि० डॉलर के ऋण स्वीकृत किये गये हैं।[2]

इस प्रकार भारत को अन्तरराष्ट्रीय बैंक से अभी तक कुल ५०७ मि० डॉलर के २० ऋण (निरस्त ऋणो को छोडकर) स्वीकृत किये गये और आज बैंक के ऋणियो मे भारत सबसे अधिक ऋणी है। इन ऋणो मे निजी क्षेत्र एव सरकारी क्षेत्र का भाग क्रमश १९५ मि० और ३२० मि० डॉलर है। ये ऋण भारत की दृष्टि से अतरराष्ट्रीय बैंक की उपयोगिता सिद्ध करते हैं। इसी हेतु

---

[1] भारतीय समाचार—अक्टूबर १५, १९५८।

[2] भारतीय समाचार—अक्टूबर १५, १९५८।

बंक के वित्त विशेषज्ञ भारतीय समस्याओ की जानकारी के हेतु भारत आते रहते हैं तथा उनक। एक प्रतिनिधि दिल्ली मे भी रहता है ।

बंक का महत्त्व—उक्त क्रियाओ से विश्व के आर्थिक विकास एव पुनर्निर्माण मे बंक का कितना महत्त्वपूर्ण भाग है यह स्पष्ट होता है। यह केवल आर्थिक सहयोग प्राप्त करने वाली सस्था न होते हुए इसने राजनीतिक विवादो को हल करन मे भी मध्यस्थता की है । इस प्रकार अन्तरर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त कर विश्व-शान्ति की ओर ले जाने वाली ये प्रथम दो सस्थाएँ हैं जो विश्व मे अपना मौलिक स्थान रखती है । यदि सभी सदस्य देश अपनी नियत साफ रखकर कार्य करें तो निश्चय ही ये सस्थाएँ अपनी मौलिकता का परिचय देती रहेगी ऐसा विश्वास है ।

अन्तरराष्ट्रीय बंक से भारत द्वारा प्राप्त ऋणो की राशि एव उपयोग

(३१ जुलाई १९५९ तक)[1]

मि० डॉलर मे—

मत्रालय	विषय	स्वीकृत ऋण	उपयोगित राशि
खाद्य एव कृषि	कृषि विकास	१० ००	७ २०[२]
रेलवे	रेलवे—(अ) इजन	३७ ८०	३२८ ०[२]
	(ब) माल-वहन क्षमता	६० ००	९० ००
	(स) विकास	८५ ००	८५ ००
	(द)	५० ००	—
विद्युत एव सिचाई	(1) दामादर घाटी योजना		
	(a) बोकारो थमल स्टेशन	१६ ७२	१६ ७२
	(b) सिचाई एव बाढ नियत्रण	१० ५०	१० ५०[२]
	(c) विद्युत गृह	७५ ००	१० ४९
	(11) कोयना प्रोजेक्ट	२५ ००	—
यातायात	(१) एअर इडिया इटरनेशनल	५ ६०	५ ०९
	(२) मद्रास बन्दरगाह	१४ ००	१ ०१
	(३) कलकत्ता बन्दरगाह	२९ ००	२ २१
	योग	३९० ८२	२६१ ०२

---

[1] *Eastern Economist*—Aug 1959

[२] शेष ऋण निरस्त किया गया । सरकारी क्षेत्र के ऋणो की तालिका है ।

परिशिष्ट

अन्तरराष्ट्रीय बैंक एवं अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष (नवीन विकास)

अन्तरराष्ट्रीय बैंक—अन्तरराष्ट्रीय बैंक एवं मुद्रा-कोष की दिल्ली की बैठक में, जो अक्टूबर १६५६ में हुई, यह निर्णय लिया गया था कि मुद्रा-कोष एवं बैंक के सदस्य देशों का कोटा बढ़ाया जाय। तदनुसार बैंक के सचालकों ने यह निर्णय किया था कि अन्तरराष्ट्रीय बैंक की अधिकृत पूंजी ७००० मि० डॉलर से बढ़ायी जाय। परन्तु प्रार्थित पूंजी की वास्तविक राशि जो आई उससे अधिकृत पूंजी में ८८०० मि० डॉलर की वृद्धि हो गयी। इसलिए १६ सितम्बर १९५९ से बैंक की अधिकृत पूंजी १०००० मि० डॉलर से बढ़ाकर २१००० मि० डॉलर कर दी गयी।

इस पूंजी की वृद्धि होने से पूर्व बैंक की प्रार्थित पूंजी ९५५६ ५० मि० डॉलर थी जिसमे से १९११ मि० डॉलर चुकता पूंजी और शेष ७६४५ मि० डॉलर माँग पर देय थी जो बैंक के उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए सयोगिक देय के रूप में थी। पूंजी में वृद्धि होने के कारण अब बैंक की प्रार्थित पूंजी १७३५७ मि० डॉलर हो गयी है जिसमे से १९७३ मि० डॉलर चुकता पूंजी तथा शेष माँग पर देय है। बैंक की पूंजी मे वृद्धि सदस्य देशों के हिस्से को दुगुना करके की गयी है, तथा बहुत से सदस्य देशों ने अपनी प्रार्थित पूंजी में विशेष अतिरिक्त वृद्धि की है। ऐसे १७ देश है जिनमे पश्चिमी जर्मनी, जापान तथा केनाडा भी है।

इस वृद्धि से बैंक अपनी ऋण देने की क्रियाएँ बढ़ा सकता है और साथ ही अन्तरराष्ट्रीय बाजार मे इसकी ऋण देने की रुचि मे भी वृद्धि हो गयी है।

अन्तरराष्ट्रीय बैंक की पूंजी में भारत का मूल हिस्सा ४०० मि० डॉलर था जो अब ८०० मि० डॉलर हो गया है। इसमे से २०% अथवा ८० मि० डॉलर की पूंजी चुकता है तथा शेष ७२० मि० डॉलर माँग पर देय है। विश्व बैंक के सदस्यों में पहिले भारत का चौथा क्रमांक था परन्तु अब पाँचवाँ हो गया है तथा फ्रांस एवं जर्मनी सयुक्त रूप से चौथे क्रमांक पर हैं।

२५ जनवरी १९४६ से, जबकि अन्तरराष्ट्रीय बैंक ने अपनी क्रियाएँ आरम्भ की, ३१ अगस्त १९५९ तक बैंक ने ४६०४ ३ मि० डॉलर के ऋण स्वीकृत किये। इनमें से २७४ मि० डॉलर का भुगतान बैंक को किया जा चुका है तथा ११२ ३ मि० डॉलर के ऋणों को निरस्त किया गया है। बैंक ने ७८३

मिलियन डॉलर अन्य विनियोगों को बेचे है। ३१ अगस्त १९५९ को बैंक का कुल कोषकृत ऋण (funded debt) १९०५ मि० डॉलर था।

बैंक के ऋणियो मे भारत का उच्चाक है जिसने ३० जून १९५६ तक ५५० ६१ मि० डॉलर का ऋण लिया। इसके बाद क्रमश: आस्ट्रेलिया और फ्रास हैं जिनकी ऋण-राशि क्रमश ३१७ ७३ एव ३०० ५० मि० डॉलर है। १९५८-५९ मे भारत को रेलवे विकास के लिए ८५ मि० डॉलर, दामोदर घाटी योजना के लिए ७५ मि० डालर तथा कोयना विद्युत योजना के लिए २५ मि० डॉलर का ऋण विश्व बैंक से मिला है।

अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष—अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष की राशि मे भी विश्व बैंक की तरह ही वृद्धि की गयी है। इसकी राशि म ५०% से वृद्धि की गयी है, तदनुसार सदस्य देशा के कोटा म भी ५०% की वृद्धि की गयी है। परन्तु गत वर्षों मे तेजी से आर्थिक प्रगति होने के कारण पश्चिमी जर्मनी, जापान तथा कैनाडा ने अपने कोटा म विशेष वृद्धि की है जिससे अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष की राशि ५१०० मि० डॉलर मे बढ गयी है अर्थात् कुल कोष १०५१० मि० डॉलर का हो गया। फलस्वरूप इसका स्वर्ण २३०० मि० डालर से ४६०० मि० डॉलर हो जायगा।[1]

साराश

विनिमय दर मे स्थिरता लाने तथा युद्धनष्ट देशों के पुनर्निर्माण एव आर्थिक विकास के लिए ब्रेटनवुड्स परिषद ने अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष एव अन्तरराष्ट्रीय बैंक की स्थापना का निर्णय लिया। तदनुसार १९४५ मे इन दोनों संस्थाओं का निर्माण हुआ।

अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष की कुल राशि १०००० मि० डॉलर है तथा इसमे प्रत्येक सदस्य देश का कोटा निश्चित है। भारत भी इसका मौलिक सदस्य है। इसका उद्देश्य—अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के सन्तुलित विकास मे सहायक होना, विनिमय दरों की स्थिरता के लिए समुचित विनिमय व्यवस्था स्थापित करना, स्पर्धात्मक विनिमय अवमूल्यन न होने देना, सदस्यों को बहुपाक्षिक भुगतान-सुविधाएँ देना, सदस्य देशो की भुगतान-विषमताओं को विदेशी मुद्रा की सहायता से दूर करना, तथा विनिमय नियन्त्रणों को हटाना है।

---

[1] *Modern Review*, Nov 1959

प्रत्येक देश को अपने कोटे का २५% स्वर्ण मे अथवा अपने स्वर्ण एव डॉलर निधि के १०% (जो भी कम हो) मे तथा शेष देशी मुद्राओ या प्रतिभूतियो मे देना पडता है।

सदस्य देशो को अपनी मुद्रा का स्वर्ण या डॉलर मूल्य व्यक्त कर दिया गया है। इन्हीं मूल्यो के आधार पर सदस्यों मे मुद्राओं का क्रय विक्रय होगा। इन मूल्यो मे परिवर्तन कोष की सम्मति से किये जा सकते हैं।

सदस्य देशो को कोष के साथ केन्द्रीय बैंक अथवा देश के खजाने के माध्यम से व्यवहार करने होगे। कोई भी सदस्य देश कोष से अपनी मुद्राओ अथवा स्वर्ण के बदले विदेशी मुद्राएँ खरीद सकता है तथा उसे इन मुद्राओं का उपयोग उसी कार्य के लिए करना पडेगा जिस हेतु वे ली गयी हो। कोई भी सदस्य १ वर्ष मे अपने कोटा के २५% से अधिक अथवा कुल मिलाकर अपने कोटे के २००% से अधिक की विदेशी मुद्राएँ नहीं खरीद सकता।

कोष किसी देश की मुद्रा का अभाव होने पर उसे 'दुलभ' घोषित कर सकता है। ऐसी दशा मे वह उस मुद्रा को उस देश से स्वर्ण के बदले मे खरीदेगा तथा उपलब्ध मुद्राओ मे सभी सदस्य देशो मे उचित वितरण करेगा।

भारत भी कोष का सदस्य है जिससे उसका स्टर्लिङ्ग से सम्बन्ध विच्छेद हो गया है तथा रुपये का परिवर्तन सदस्य देशो की मुद्राओ मे सम्भव हो गया है। भारत ने दिसम्बर १९५८ तक कोष से १२७ ५ मि० डॉलर का ऋण तथा २०० मि० डॉलर की अस्थायी साख प्राप्त की।

अन्तरराष्ट्रीय बेंक—इसका उद्देश्य ऋण एव विनियोग क्षेत्र मे युद्ध-ध्वस्त देशो के पुनर्निर्माण एव विकास के लिए अन्तरराष्ट्रीय सहयोग प्राप्त कर सहायता देना है। इसकी पूंजी १०००० मि० डॉलर है जो १०००० डॉलर के १०००० अशों मे है। मुद्रा कोष के सदस्य देश इस बैंक के भी सदस्य होते हैं। प्रत्येक देश की पूंजी का कोटा निर्धारित है जिमका २०% सदस्य को जमा करना पडता है। इस २०% का $\frac{1}{10}$ भाग स्वर्ण अथवा डॉलर मे तथा शेष $\frac{9}{10}$ भाग अपनी मुद्रा मे जमा करना होगा।

बैंक सदस्य देशो को निम्न शर्तों पर ऋण देता हे —

(१) यदि उन्हे अन्यत्र उचित शर्तों पर ऋण न मिले,

(२) सदस्य देश की सरकार उस ऋण की जमानत दे, तथा

(३) ऋण जिस हेतु लिया गया है उसी के लिए उपयोग मे आवे।

ऋण देने के पूर्व बैंक ऋण देने वाले देश की विकास योजनाओं एव उसकी आर्थिक स्थिति का अध्ययन करता है।

बैंक ने ३० जून १९५८ तक विभिन्न देशो को ३७२६ मि० डॉलर के २०४ ऋण स्वीकृत किये हैं जिनमे से ४९७ मि० डॉलर पुनर्निर्माण तथा ३२३२ मि० डॉलर विकास के लिए हैं।

भारत ने इसी तिथि तक विश्व बैंक से ५०७ मि० डॉलर के २० ऋण लिए हैं जिनमे से सरकारी क्षेत्र के लिए ३२० मि० तथा निजी क्षेत्र के लिए १९५ मि० डॉलर हैं। इस प्रकार भारत इसकी सदस्यता से लाभान्वित हुआ है।

अध्याय १६

रुपये का अवमूल्यन एवं पुनर्मूल्यन

पृष्ठभूमि

१९३८-३९ मे इगलैड के स्वर्ण-निधि (gold reserve) पर सकट के बादल छा गये। इस विशेष परिस्थिति के कारण इगलैड का स्वर्ण-निधि केवल १ वर्ष में ही ८०० मि० स्टर्लिंग से घटकर केवल ५०० मि० स्टर्लिंग रह गया। इस प्रकार ३०० मि० स्टर्लिंग का स्वर्ण इगलैड को १९३८-३९ मे अपने अल्पकालीन ऋणो के भुगतान मे देना पडा जो वर्तमान मूल्यो की तुलना मे लगभग १००० मि० पौड का होता परन्तु फिर भी इगलैड की आर्थिक स्थिति अच्छी थी क्योंकि विदेशो मे उसकी काफी पूँजी लगी हुई थी और अनेक देशों को ऋण दिये हुए थे। परन्तु युद्ध के वाद इस परिस्थिति मे गम्भीर परिवर्तन हो गये जिससे "१९४१ में हमने अपना स्वर्ण-निधि तो खर्च कर ही दिया, साथ ही हमने विदेशो से अल्पकालीन ऋण भी युद्ध-काल मे एकत्र किया जिससे अमरीका से सहायता प्राप्त करते हुए भी हम अपने आयात का भुगतान करने में असमर्थ हो गये। इगलैड स्थित अमरीकी फौजो पर होने वाले व्यय के कारण १९४५ तक हमने स्वर्ण-निधि फिर से इकट्ठा कर लिया जो हमारे कुल विदेशी अल्पकालीन ऋणों के ⅙ के बराबर था। साराश मे हमने ६०० मि० पौड का स्वर्ण एव डालर का व्यय तो कर ही दिया परन्तु साथ ही ३३०० मि० पौड का अल्पकालीन ऋण भी लिया जो पौड-पावनो मे है"।[1] १९४५ से १९४८ तक इगलैड कर्जदार होता गया और उसका स्वर्ण-निधि भी कम होता गया। इस कमी को दूर करने के लिए इगलैड को अपनी विदेशी सम्पत्ति बेचनी पड़ी जिससे उसकी विदेशो से व्याज एव लाभाश के रूप मे होने वाली आय भी कम हो गयी। अतः इगलैड अपने विदेशी व्यापार की भुगतान-विषमता मिटाने मे असमर्थ हो रहा था। युद्ध के बाद 'मार्शल एड' के अनुसार इगलैड को अमरीका

---

1 *The Sterling Area Crisis* by F. W Paish from "*International Affairs*", 1952

से सहायता मिल रही थी जिसकी अवधि १९५२ तक थी।[1] इस अमरीकी सहायता के कारण इंगलैंड किसी तरह अपना काम चलाता रहा, परन्तु उसके सामने इस योजना के समाप्त होने के पहले अपने पैरों पर खड़े होने की समस्या थी।

इसलिए यह आवश्यक था कि इंगलैंड अपनी भुगतान विषमताओं को दूर करता, जिसके लिए केवल दो ही मार्ग थे। या तो उसे अपने आयात कम करने चाहिए थे अथवा देश का उत्पादन बढ़ाकर निर्यात को प्रोत्साहन देना चाहिए था। परन्तु आयात कम करना सरल नहीं था क्योंकि इंगलैंड का अधिकतर आयात खाद्य और कच्चे माल का था, जिससे देश में बेकारी और भुखमरी होती। पहला मार्ग कठिन तो था ही, साथ ही इससे डॉलर संकट की समस्या का हल भी नहीं हो सकता था क्योंकि इंगलैंड तथा स्टर्लिंग क्षेत्र के सदस्य-देशों ने १९४८ में २५% से डॉलर आयात कम कर दिये थे। फिर भी डॉलर की कमी बढ़ती ही जा रही थी। १९४९ की पहली तिमाही में जहाँ ३२८ मि० पौंड की कमी थी वहाँ दूसरी तिमाही में ६२७ मि० पौंड की कमी हो गयी, जिससे स्टर्लिंग क्षेत्र का स्वर्ण एवं डॉलर निधि जून १९४९ के अन्त में ४०२ मि० पौंड रह गया था और वह कम होता जा रहा था। इसलिए निर्यात को बढ़ाकर अधिकाधिक डॉलर कमाना ही समस्या का समुचित हल था क्योंकि इंगलैंड अमरीकी सहायता के बल पर कब तक जीता। परन्तु यह निर्यात स्टर्लिंग के उस समय प्रचलित डॉलर या स्वर्ण मूल्य पर नहीं हो सकता था क्योंकि अमरीका में इंगलैंड का माल महँगा पड़ता था। इसलिए निर्यात बढ़ाने के लिए विदेशी बाजारों में इंगलैंड का माल सस्ता होना चाहिए था, जिसके लिए भी दो ही उपाय थे—पहला उपाय यह था कि देश में मजदूरी आदि की दर घटाकर उत्पादन व्यय को कम करना अथवा डॉलर क्षेत्रों में इंगलैंड का माल सस्ता हो इसलिए डॉलर के बदले में पहले की अपेक्षा अधिक वस्तुएँ देना। पहले उपाय की अपेक्षा दूसरे उपाय को ही चुना गया। दूसरे मार्ग को अपनाने का प्रमुख कारण यह था कि स्टर्लिंग का विनिमय मूल्य चोरबाजार में घट रहा था *जिससे स्टर्लिंग का परिवर्तन डॉलर में अधिक होने लग गया था।*

इस स्थिति को काबू में लाने के लिए सर्वप्रथम सर स्टेफर्ड क्रिप्स ने ७ जुलाई १९४९ को जुलाई, अगस्त, सितम्बर १९४९ इन तीन महीनों के लिए डॉलर-

---

[1] मार्शल एड, उधार पट्टा तथा अन्य प्रकार से १९४१ से १९५२ तक इंगलैंड को कुल ३५,९१३ मि० डॉलर की सहायता अमरीका द्वारा दी गयी।

नय स्थगित करने का आदेश दिया। इसी प्रकार आर्थिक सहायता के अलावा अन्य उपायों की आवश्यकता के सम्बन्ध मे एक संयुक्त वक्तव्य (सर स्टफड क्रिप्स अमरीका के स्नायडर (Snyder) तथा कनाडा के अर्थ मंत्री डगलस एवट द्वारा) १० जुलाई १९४६ को निकाला गया। इसके चार दिन पश्चात् ही (१४ ७ १९४९) इगलड ने डालर आयात २५% से अर्थात् प्रति वर्ष १० मिलियन डालर से कम करने की घोषणा की। १८ जुलाई १९४९ को राष्ट्रसंघीय अर्थ मन्त्री सम्मेलन मे डालर की अधिक प्राप्ति एवं डालर प्रदेशों के आयात कम करने के सम्बन्ध म निर्णय लिया गया। फिर भी समस्या हल न हो सकी। इसलिए ७ सितम्बर से १२ सितम्बर १९४९ तक वाशिंगटन मे अमरीका ब्रिटेन और कनाडा का त्रिदलीय सम्मेलन हुआ जिसम ब्रिटेन की डालर समस्या को १९५२ तक हल करने के सम्बन्ध में समझौता हुआ। इसी समझौते के अनुसार सर स्टफड क्रिप्स ने १७ सितम्बर को स्टर्लिंग के अवमूल्यन की घोषणा की। इससे स्टर्लिंग का डालर मूल्य ३० ५% से कम होगया अर्थात् स्टर्लिंग का डालर मूल्य ४ ०३ के स्थान पर २ ८० डालर रह गया। इस सम्बन्ध में सर स्टेफड क्रिप्स ने अपने वक्तव्य म स्पष्ट किया कि हालाकि यह समस्या केवल ब्रिटेन की ह जो स्टर्लिंग क्षेत्र का बैंकर है किन्तु उसके साथ स्टर्लिंग क्षेत्र के सदस्यों को भी सहयोग देना चाहिए। इसस स्पष्ट ह कि स्टर्लिंग का अवमूल्यन इगलड ने अपनी आर्थिक परिस्थिति को सुधारने के लिए किया।

रुपये का अवमूल्यन

स्टर्लिंग अवमूल्यन के २४ घंटे बाद ही भारत ने भी रुपये का डालर एवं स्वर्ण मूल्य ३० ५ प्रतिशत से घटा दिया। अर्थात् रुपये का डालर मूल्य ३० २२५ सट से २१ सट रह गया। इससे अमरीका मे होने वाले आयात भारत को महगे पड़े क्योंकि भारत को प्रति १०० डालर पीछे ३ २ रु० के बदले ४७६ रु० चुकाने पड़े। इसके विपरीत अमरीका को भारत की वस्तुए सस्ती मिलने लगी क्योंकि अमरीका अब १०० डालर देकर भारत से ३३२ रु० की वस्तुओं की अपेक्षा ४७६ रु० की वस्तुए खरीद सकता था। परन्तु रुपये का स्टर्लिंग मूल्य पूर्ववत् ही रहा (१ शि० ६ पे० प्रति रुपया)।[1]

अवमूल्यन क्यों? हमारे अर्थमंत्री श्री जान मथाई ने अपने वक्तव्य म स्टर्लिङ्ग अवमूल्यन से जो परिस्थिति निर्माण हुई उसके सम्बन्ध मे यह कहा था कि—

---

१ अवमूल्यन के बाद की विनिमय दर इस अध्याय के अंत म दी है।

भारतीय रुपये का अवमूल्यन परिस्थिति से विवश होकर करना पडा। स्टर्लिङ्ग का एव उसके साथ स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के अन्य सदस्य देशो की मुद्राओ का अवमूल्यन होते ही भारत सरकार के सामने स्टर्लिङ्ग के अनुपात मे ही रुपय का अवमूल्यन करने के सिवाय दूसरा उपाय न था। क्योकि सरकार के सामने केवल तीन मार्ग थे —

१ **रुपये का अवमूल्यन न करना**—यह मार्ग भारत के हित मे नही था क्योकि भारत का अधिकतर विदेशी व्यापार (लगभग ३/४) स्टर्लिंग क्षेत्र के साथ होने से हमारे निर्यात स्टर्लिग क्षेत्र के लिए महँगे हो जाते, जिससे स्टर्लिग क्षेत्र के देशो के साथ होने वाला व्यापार ठप्प पड जाता। इसके अलावा विदेशी बाजारो मे हमारा माल वैसे ही महँगा था, और यदि रुपये का अवमूल्यन न होता तो वह और भी महँगा हो जाता। १९४७-४८ मे भारत का व्यापार सतुलन ३२ करोड रुपये से अनुकूल था जो १९४८-४९ मे ९५ करोड रुपये मे भारत के प्रतिकूल हो गया। इसमे भारत और अमरीका के बीच भारत का व्यापार सतुलन ३८ ०९ करोड रुपये से प्रतिकूल रहा क्योकि १९४८-४९ मे अमरीका ने भारत से केवल ७० ९८ करोड रुपये की वस्तुएँ आयात की जबकि यही आयात १९४७-१९४८ मे ८० करोड रुपये का था। अवमूल्यन न करने का परिणाम यह होता कि भारत की वस्तुएँ स्टर्लिग क्षेत्र के देशो के लिए महँगी होने के कारण वहाँ उनका आयात न होता और साथ ही अमरीका का अवमूल्यन वाले देशो से भारत की अपेक्षा सस्ते दर पर माल मिल जाता, जिससे भारत की स्थिति, न घर का न घाट का, ऐसी हो जाती।

२. **रुपये का स्टर्लिग मूल्य कम करना**—मुद्रास्फीति के कारण रुपय की क्रयशक्ति कम हो गयी थी इसलिए उसका स्टर्लिग मूल्य घटाना आवश्यक था। यदि स्टर्लिग अवमूल्यन के बाद भारत रुपये की स्टर्लिग दर कम कर देता तो स्टर्लिग क्षेत्र के साथ हमारा जो व्यापार था वह अबाधित रहता परन्तु इससे भारत को स्टर्लिग क्षेत्र के आयात अधिक महँगे हो जाते, क्योकि स्टर्लिग अवमूल्यन मे इगलैंड मे थोडे बहुत अश मे कीमतें बढती और वे बढी भी, जिससे भारत का मूल्य-स्तर ऊँचा हो जाता और जनता को कठिनाई होती। साथ ही स्टर्लिग का डॉलर मूल्य कम होने से रुपये का डॉलर मूल्य वर्तमान मूल्य से भी कम हो जाता जो हमारे हित मे नही था।

३ **रुपये का डॉलर मूल्य गिराना**—रुपये का डॉलर मूल्य स्टर्लिग के अनुपात मे ही अर्थात् ३० ५ प्रतिशत से अवमूल्यन करना। यही मार्ग स्टर्लिग

क्षेत्र के अन्य देशों द्वारा भी अपनाया गया। इससे अमरीकन आयात हमारे लिए महँगे हो जाते परन्तु हमारे निर्यात बढ़कर १९४८-४९ में जो डॉलर की कमी हो रही थी और बढ़ती जा रही थी वह मिट जाती। डॉलर प्रदेशों के आयात महँगे होने से भारत को अधिक हानि न होती क्योंकि डॉलर क्षेत्र से होने वाले आयात पर सरकार का पूर्ण नियंत्रण था। इसीलिए यही मार्ग अपनाया भी गया।

भारत को डॉलर की कमी का अनुभव १९४६ से होने लगा और यह कमी प्रति वर्ष बढ़ती ही जा रही थी। भारत को १९४५-४६, १९४६-४७, १९४७-४८ एवं १९४८-४९ इन चार वर्षों में क्रमशः ५ करोड़, ८६ करोड़, ६३ करोड़ और ३७ करोड़ रुपये के डॉलर की कमी रही। इस कमी की पूर्ति के लिए भारत ने स्टर्लिंग का परिवर्तन डॉलर में कराने के साथ-साथ अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष से एवं अन्तरराष्ट्रीय बैंक से १०० मि० डॉलर खरीदे एवं ४४ मि० डॉलर के ऋण लिये। इसके अलावा अमरीकी सहायता मिलती ही थी। फिर भी डॉलर की समस्या हल नहीं हो सकी। इस समस्या का एकमात्र हल था डॉलर क्षेत्रों को निर्यात बढ़ाना और साथ ही साथ स्टर्लिंग क्षेत्र का व्यापार अबाधित रखना। फलस्वरूप अवमूल्यन का कदम उठाया गया।

अवमूल्यन के बाद—रुपये का अवमूल्यन होते ही डॉ पी जे थॉमस ने अवमूल्यन से होने वाले लाभों के सम्बन्ध में अनिश्चितता बतलायी। उनके मत से यदि विदेशी व्यापार पर अच्छी तरह नियंत्रण न रखा गया तो अवमूल्यन लाभदायक होने की जगह हानिकर होगा। कारण भारत से अमरीका को होने वाला निर्यात अधिकतर कच्चे माल तथा जूट में है जिनकी माँग में न लोच है और न उनकी पूर्ति में ही लोच है। इसलिए उनकी माँग अबाधित रहेगी। दूसरे, हमारे औद्योगीकरण के लिए हमको पूँजीगत वस्तुओं एवं खाद्यान्न के लिए अमरीका पर निर्भर रहना पड़ता है। इनके आयात के लिए हमको ४४% प्रतिशत मुद्राएँ और अधिक देनी पड़ेंगी। अवमूल्यन से देश में मूल्यस्तर बढ़ेगा जिसको रोकने के लिए सरकार को प्रयत्न करना चाहिए। इसी प्रकार खाद्यान्न के सम्बन्ध में आत्म-निर्भर होने तथा निर्यात बढ़ाने के लिए देश का कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन बढ़ाना होगा। फिर भी डॉलर प्रदेशों को निर्यात की जाने वाली कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनकी माँग में लोच न होने के कारण वह स्थायी बनी रहेगी तथा उनके मूल्य बढ़ने से निर्यात-व्यापार अबाधित रहेगा। ऐसी वस्तुओं पर सरकार को निर्यात-कर बढ़ाकर ऊँची कीमतों का लाभ लेना चाहिए।

अवमूल्यन का तत्कालीन परिणाम यह हुआ कि भारत को डॉलर क्षेत्रो के आयात ४४% से महँगे हो गये जिसके लिए भारत को देश मे अन्न का उत्पादन बढाकर या तो आत्म-निर्भर बनना होगा अथवा उसे अन्न एव पूँजीगत वस्तुओं का आयात स्टर्लिग क्षेत्र से करना होगा। जूट के निर्यात बढाकर भारत को यह आशा थी कि वह अधिक डॉलर कमा सकेगा परन्तु पाकिस्तानी रुपये का अवमूल्यन न होने से हमको जूट निर्यात से होने वाला लाभ कच्चे जूट (raw jute) की ४४% कीमत बढ जाने से समाप्त हो जायगा।

इस प्रकार अवमूल्यन से निर्माण होने वाली परिस्थिति का सामना करने के लिए सरकार ने ५ अक्टूबर १९४९ को एक आठ-सूत्री योजना अपनाई। इसका उद्देश्य आन्तरिक मूल्यों को स्थिर रखना एव देश के विदेशी विनिमय साधनों को सुरक्षित रखना था। इसके निम्नलिखित पहलू[1] थे :—

(१) देश की विदेशी व्यापार-नीति ऐसी बनाना जिससे विदेशी विनिमय का न्यूनतम व्यय हो। इसमे देश की अनिवार्य आवश्यकताओ पर विशेष ध्यान दिया जायगा।

(२) भारतीय मुद्रा के साथ जिन देशो की मुद्राओं का मूल्य बढ गया है, उन देशो से होने वाला औद्योगिक आयात समुचित मूल्यो पर हो इसलिए भारत की व्यवसाय-शक्ति (bargaining power) का उपयोग करना।

(३) साख-नियत्रण तथा वैधानिक एव शासकीय उपायो से मूल्यो की परिकाल्पनिक वृद्धि (*speculative rise*) रोकना।

(४) देश की विदेशी मुद्राओ की आय अधिकतम करने के लिए डॉलर क्षेत्रो को निर्यात होने वाली वस्तुओ पर अविवेचनात्मक (non-discriminatory) चुंगी लगाना, जिससे अवमूल्यन से होने वाला लाभ विदेशी आयातकर्त्ता, भारतीय निर्माता तथा भारतीय कोष को हो।

(५) देश का उत्पादन बढाने के लिए प्रयत्न करना तथा विनियोग को प्रोत्साहन देना (जो साधारणत अवमूल्यन से घटता है)। जनता को बचत करने के लिए प्रचार एव प्रचार-आन्दोलन द्वारा प्रोत्साहित करना।

(६) युद्ध-काल मे कमाये हुए भारी लाभो को छिपाकर जिन्होंने आय-कर

---

[1] Reserve Bank of India—Report on Currency & Finance 1949-50 and *Patrika*, 8-10-59

की चोरी की उनसे ऐच्छिक समझौते करना जिससे छिपी आय औद्योगिक विनियोग मे लगायी जा सके ।

(७) १९४९-५० मे सरकारी खर्च लगभग ४० करोड से कम करने के लिए तथा १९५०-५१ मे कम से कम ८० करोड रुपये की बचत करने के लिए आवश्यक उपायो को काम मे लाना ।

(८) निर्मित-वस्तुएँ, अन्न-धान्य तथा अन्य आवश्यक वस्तुओ के फुटकर मूल्य कम से कम १०% कम करना ।

इस प्रकार सरकार ने अवमूल्यन के कारण देश की आन्तरिक कीमतें बढने मे रोकने के लिए तथा जिन वस्तुओ की माँग कीमतें बढने से स्थायी रहेगी उनका लाभ उठाने के लिए आवश्यक कार्य किया ताकि वह अवमूल्यन से होने वाले लाभ पूरी तरह उठा सके । इसलिए सरकार ने एक आदेश द्वारा निर्यात-कर लगाने के अधिकार अपने पास लिये । पाकिस्तानी रुपये का अवमूल्यन न होने से भारत को जूट की समस्या थी, इसलिए देश मे जूट तथा रुई की उपज बढाने के लिए सरकार ने आवश्यक कदम उठाये । साथ ही देश की जूट की पैदावार कलकत्ते के कारखानो को शीघ्रता से पहुँचाने के लिए आवश्यक कार्यवाही की । पाकिस्तान का आयात महँगा होने के कारण पाकिस्तानी माल के आयात सम्बन्धी ओपन-जनरल-लाइसेंस को रद्द कर दिया गया ।

आस निरास भई (पाकिस्तानी चाल)

आशा थी कि भारतीय और पाकिस्तानी अर्थ-व्यवस्था परस्पर सम्बन्धित होने से पाकिस्तान भी स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देशो की भाँति अपने रुपये का अवमूल्यन करेगा । परन्तु २० सितम्बर १९४९ को पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन न करने की घोषणा की, जिससे पाकिस्तानी रुपये का डॉलर मूल्य वही रहा और स्टर्लिंग मूल्य २५ ९ पेंस हो गया एव १ स्टर्लिंग ९ २६ पाकिस्तानी रुपयो के बराबर हो गया । इनसे भारतीय १०० रुपये पाकिस्तानी ६९ ५० रुपये के अथवा पाकिस्तानी १०० रुपये भारतीय १४४ रुपयो के बराबर हो गये । पाकिस्तान के इस निर्णय मे उसकी स्टर्लिंग क्षेत्र की सदस्यता मे किसी प्रकार की बाधा नही पहुँची । यहाँ पर हमको भारत-पाक का व्यापार ध्यान मे रखना चाहिए क्योंकि भारत पाकिस्तान से लगभग १०७ करोड रुपये के माल का वार्षिक आयात तथा लगभग ७३ करोड का वार्षिक निर्यात करता था (अवमूल्यन के समय) । स्टर्लिंग क्षेत्र मे पाकिस्तान ही एक देश था जिसने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नही किया ।

पाकिस्तान के इन निर्णय से भारत और पाकिस्तान के बीच व्यापार बिलकुल बन्द हो गया क्योंकि भारत ने पाकिस्तानी रुपये की इस दर को स्वीकार नही किया।[1] रुपये का अवमूल्यन न करके पाकिस्तान ने भारत के ३०० करोड रुपये के ऋण को ८० करोड रुपये से कम कर दिया। दूसरे जो शरणार्थी भारत से पाकिस्तान गये थे उनको उनकी भारत स्थित सम्पत्ति के बदले मे भारत से अधिक राशि मिलती जिससे उनकी राष्ट्रीय सम्पत्ति मे वृद्धि हो गयी। परन्तु पाकिस्तान ने ऐसा करते समय अपने निर्यात-व्यापार की ओर किंचित् भी ध्यान नहीं दिया। पाकिस्तान ने इस सम्बन्ध मे यह विज्ञप्ति निकाली कि "अवमूल्यन केवल देश की भुगतान विषमताओं को दूर करने अथवा देश के निर्यात व्यापार मे वृद्धि का ही साधन है परन्तु न तो पाकिस्तान के विदेशी व्यापार मे भुगतान विषमताएँ है और न पाकिस्तान के निर्यात व्यापार मे—जो अधिकतर कच्चे माल का है—अवमूल्यन से वृद्धि होने की सम्भावना ही है।"

कुछ भी हो पाकिस्तानी रुपय का अवमूल्यन न होने से भारत को आर्थिक धक्का लगा क्योंकि इससे पाकिस्तान से आने वाले जूट और रुई के बदले भारत को अधिक रुपये देने पड़ेगे। उसी प्रकार पाकिस्तानी आयात हमारे लिए महँगा पडेगा। इसलिए भारत ने इस परिस्थिति से टक्कर लेने के लिए पाकिस्तानी आयात सम्बन्धी ओपन जनरल लाइसेंस (O G.L) रद्द कर दिया। भारतीय जूट मिल एसोसिएशन ने पाकिस्तानी जूट की खरीद स्थगित कर दी। इससे भारत की आवश्यक वस्तुओं का, विशेषत रुई एव जूट का, आयात बन्द होने से हमारे कपडे और जूट के कारखाने कच्चे माल के अभाव मे कम समय काम करने लगे। फलत जूट और कपडे का उत्पादन प्रभावित हुआ। अन्त मे इस समस्या को अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सामने रखा गया परन्तु मुद्रा-कोष के अधिकारियो ने इस समस्या की ओर किंचित् भी ध्यान नही दिया। अन्तत भारत ने विवश होकर २५ फरवरी १९५१ को पाकिस्तान से व्यापारिक समझौता किया और पाकिस्तानी रुपये की विनिमय दर को मान लिया।

इस समझौते के अनुसार रिजर्व बैंक ने २७ फरवरी १९५१ से बम्बई कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली तथा कानपुर के कार्यालयो पर पाकिस्तानी रुपये का

---

[1] According to "Article I of Payments Agreement between India and Pakistan"

खरीदना एव बेचना प्रारम्भ किया । अब रिजर्व बैंक पाकिस्तानी ६६।।)। रुपयों को प्रति १०० भारतीय रुपयो की दर से खरीदता है और ६९।=)।। रुपये प्रति १०० भारतीय रुपयो के बदले अधिकृत व्यक्तियो को बेचता है। स्टेट बैंक ऑफ पाकिस्तान भी भारतीय रुपयो की खरीद बिक्री १४४ रु० ९ पाई तथा १४३।।-)। प्रति १०० भारतीय रुपयो की दर से अपने करांची, लाहौर, चटगाँव तथा ढाका के कार्यालयों पर करता है। इस समझौते के अनुसार भारत और पाकिस्तान के बीच व्यापार फिर से आरम्भ हो गया है। भारत अब पाकिस्तान को लोहा, कोयला, सीमेंट आदि वस्तुएँ भेजेगा तथा उससे रुई, जूट, चमडा, चावल और गेहूँ आदि वस्तुएँ खरीदेगा।

आश्चर्य की बात तो यह रही कि भारत द्वारा पाकिस्तानी रुपये की विनिमय दर मानते ही १६ मार्च १९५१ को अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने भी पाकिस्तानी रुपये की विनिमय दर को मान लिया, जिससे हमको कोष की निष्क्रियता एव साहसहीनता का परिचय मिलता है क्योंकि भारत ने तो आर्थिक स्थिति को देखकर ही यह दर स्वीकार की थी।

अवमूल्यन के परिणाम—अवमूल्यन के कारण स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देशो और भारत के डॉलर क्षेत्रीय व्यापार मे वृद्धि हुई जिससे स्टर्लिंग क्षेत्र का स्वर्ण एव डालर निधि क्रमश बढ़ने लगा। इस कोष मे १९४९ के अन्त मे निधि का कुल डॉलर मूल्य १६८८ मि० था जो जून १९५० मे २४२२ मि० डॉलर तथा दिसम्बर १९५० मे ३३०० *मि० डॉलर के लगभग हो गया था* जिससे स्टर्लिंग क्षेत्रीय देशो की डॉलर क्षेत्र के साथ जो भुगतान विषमता थी वह कम होने लगी। १९४९ मे स्टर्लिंग क्षेत्र की डॉलर क्षेत्र के साथ १५३२ मि० डॉलर की भुगतान विषमता थी जो १९५० मे कम होकर ८०५ मि० डॉलर रह गयी। परन्तु १९५१ मे परिस्थिति फिर बिगडी जिसके तीन प्रमुख कारण थे—(१) स्टर्लिंग क्षेत्रीय देशो मे कीमतें कम होना, (२) अमरीका द्वारा स्टॉक पाइलिंग प्रोग्राम मे शिथिलता लाना, तथा (३) यूरोपियन पुन शस्त्रीकरण मे शिथिलता। इन कारणो की वजह से स्टर्लिंग क्षेत्रीय (सयुक्त राज्य को छोडकर) भुगतान स्थिति मे जनवरी जून १९५१ के ६ महीने मे ४३३ मि० डॉलर की जो अधिकता थी वह जून-दिसम्बर १९५१ मे १९२ मि० डॉलर की विषमता मे परिणत हो गयी। इसी प्रकार केन्द्रीय स्वर्ण एव डालर निधि भी जून दिसम्बर १९५१ मे कम होता गया (देखिए तालिका) और दिसम्बर १९५१ के अन्त मे केवल २३३५ मि० डॉलर रह गया।

स्टर्लिंग क्षेत्रीय डॉलर-निधि

(मिलियन डॉलरो मे)

	१९५०	१९५१	१९४९
जनवरी-मार्च	१,९८४	३,७५८	१,६१२
अप्रैल-जून	२,४७२	३,८६७	१,६५१
जुलाई-दिसम्बर	२,७५६	३,२६९	१,४२५
अक्टूबर-दिसम्बर	३,३००	२,३५५	१,६८८

इस समस्या को सुलझाने के लिए १९५१ मे राष्ट्रसंघीय अर्थ मन्त्री सम्मेलन बुलाया गया जिसमे यह निर्णय किया गया कि स्टर्लिंग क्षेत्र के सभी सदस्य १९५२ के मध्य तक अन्य क्षेत्रो के साथ भुगतान-सतुलन प्रस्थापित करने का प्रयत्न करें, जिससे स्टर्लिंग को परिवर्तनशील बनाया जा सके। कुछ भी हो, 'अवमूल्यन' भुगतान-विषमताओ को दूर करने का अस्थायी (temporary) साधन है, स्थायी साधन तो यही है कि उत्पादनशीलता बढ़ाकर वैदेशिक व्यापार मे वृद्धि करना।

रुपये के अवमूल्यन से भारत को भी लाभ हुआ क्योकि भारत के निर्यात बढते गये और भारत ने अधिक डॉलर कमाये। १९४९ मे भारत के डॉलर क्षेत्रीय भुगतान मे जो ५३ करोड रुपये की कमी थी वह १९५० मे पूरी होकर भुगतान सतुलन २९ करोड रुपये से भारत के अनुकूल रहा। पाकिस्तान से रुई एव जूट न मिलने के कारण भारत को वस्त्र उद्योग के लिए रुई प्राप्त करने की तथा जूट मिलो के लिए कच्चा जूट प्राप्त करने की समस्या के कारण काफी असुविधाएँ रही जिनको हल करने के लिए भारत ने अमरीका, मिस्र आदि देशो से रुई मगाकर काम किया। जनवरी-जून १९५० मे डॉलर क्षेत्रो से कुल ६९ करोड रुपये का आयात हुआ जिसमे केवल ३१ करोड रुपये की रुई आयात की गयी। निर्यात होने वाली वस्तुओ म जूट के माल की अधिकता रही और अमरीकी स्टॉक पाइलिंग प्रोग्राम तथा जूट की ऊँची कीमतें होने से निर्यात मूल्य मे और भी अधिकता रही। जूट के जो निर्यात १९५० की दूसरी तिमाही मे ३५.७ करोड रुपये के थे, वे तीसरी एव चौथी तिमाही मे क्रमश ३९.८ तथा ४९.९ करोड रुपये के हो गये। इसी प्रकार व्यापारिक वस्तुओं के आयात १९५० की तीसरी एव चौथी तिमाही मे कम हो गये क्योकि १९५० की दूसरी तिमाही मे जो आयात ३७.८ करोड रुपये के थे वे तीसरी और चौथी तिमाही मे केवल १५.५ और १६.८ करोड रुपये के हुए। तीसरी तिमाही मे

डॉलर प्रदेशीय निर्यात घटने का एक कारण यह भी है कि बेल्जियम, पश्चिमी जर्मनी तथा स्विट्जरलैण्ड ये तीन देश ३० जून १९५० से डॉलर क्षेत्र से निकलकर स्टर्लिंग क्षेत्र मे आ गये। दूसरे डॉलर प्रदेशीय—विशेषत अमेरिका से—वस्तुओ के आयात म कठिनता होने लगी क्योंकि अमरीकी सरकार ने अनेक वस्तुओं का निर्यात सम्बन्धी नियन्त्रण अपने हाथ मे लिया, जैसे रुई, नॉनफेरस धातु। डॉलर एव स्टर्लिंग क्षेत्रीय आयात-निर्यात व्यापार की पूरी कल्पना निम्न लिखित तालिका मे हो जाती है —

भारत का व्यापार-सतुलन[1]

(करोड रुपयो मे)

		स्टर्लिंग क्षत्रीय		डालर क्षेत्रीय		अन्य क्षेत्र	
		निर्यात	आयात	निर्यात	आयात	निर्यात	आयात
अक्टू०-दिस०	१९४९	७२ २	६३ ५	४२ ९	२६ १	१८ २	१६ ६
जन०-दिम०	१९४९	२२७ ३	३१२ ४	१२५ ४	१७२ ०	७२ १	१४३ ९
जनवरी-मार्च	१९५०	६६ १	५७ ७	४५ ३	४०'१	१८ ०	२१ ४
अप्रैल-जून	१९५०	६१ ९	६५ १	३५ ७	४८ ४	१४ ९	१९ ५
जुलाई-सित०	१९५०	७० १	७४ २	३९ ८	१८ ४	१८ २	२८ ६
अक्टू०-दिस०	१९५०	९३ ५	७३ ६	४९ ९	३३ ४	२६ ६	२९ १
जन०-दिस०	१९५०	२९१ ६	२७० ६	१७० ७	१४० ३	७७ ७	९८ ६

अवमूल्यन के बाद के पाँच महीनो के डॉलर क्षेत्रीय आयात निर्यात के आँकडे इस बात का प्रमाण देते हैं कि अवमूल्यन से भारत को लाभ रहा।

भारत के डॉलर क्षेत्र से आयात-निर्यात

(करोड रुपयो में)

	आयात	निर्यात	आधिक्य अथवा कमी
नवम्बर १९४९	८ ८६	१३ ५३	+ ४ ६७
दिसम्बर १९४९	६ ३३	११ ०४	+ ४ ७१
जनवरी १९५०	५ ९१	९ ७४	+ ३ ८३
फरवरी १९५०	४ ४२	११ ४९	+ ६ ०७
मार्च १९५१	५ ९१	१० ८५	+ ४ ९४

अवमूल्यन के पश्चात् भारत के डॉलर क्षेत्रीय निर्यात बढे और आयात कम होने गये। इसके विपरीत अवमूल्यन के पूर्व के ६ मास के आयात का

---

1 Figures include trade on Government and Private accounts

मासिक औसत १० करोड रुपये था जो अवमूल्यन के बाद ७ करोड रुपये हो गया, जो १९४९ में राष्ट्रसंघीय अर्थमन्त्री परिषद् के समझौते के अनुसार २५% से भी घट गया। निर्यात की तुलना यदि अवमूल्यन से पूर्व के निर्यातों से की जाय तो भी स्पष्ट हो जाता है कि हमारे निर्यात भी काफी बढ़ गये क्योंकि मई और जून १९४९ में भारत से डॉलर क्षेत्रों में कुल ५.९२ करोड रुपये तथा ४.८३ करोड रुपये का निर्यात हुआ। इस प्रकार नवम्बर १९४९ से मार्च १९५० के अन्त तक भारत ने २४.२३ करोड रुपये के डॉलर कमाये।

परन्तु १९५१ में १९५० की भाँति परिस्थिति न होने से भारत की डॉलर क्षेत्रीय भुगतान सन्तुलन की परिस्थिति प्रभावित हुई और इस वर्ष आधिक्य की जगह ७६.७ करोड रुपये की प्रतिकूलता रही। १९५१ की पहली छमाही में भुगतान का आधिक्य १४.६ करोड रुपये में भारत के पक्ष में था परन्तु जुलाई-दिसम्बर १९५१ की छमाही में ९१.६ करोड की कमी रही। इस कमी को पहली छमाही के आधिक्य से पूरा करने पर ७६.७ करोड की कमी भुगतान परिस्थिति में रही। इस प्रकार १९५१ की अन्तिम छमाही में डॉलर की कमी हो गयी। इस कमी का परिणाम यह हुआ कि इस अवधि में भारत के व्यापारिक आयात ३५.२ करोड (१९५०) से बढ़कर ४५.७ करोड के हुए। इसके अलावा यन्त्र तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं के आयात में भी वृद्धि हुई। १९५० में हमारे डॉलर क्षेत्रीय आयात १५७.३ करोड रुपये के थे जो १९५१ में बढ़कर २८४.२ करोड रुपये के हो गये। आयात बढ़ने के परिणामस्वरूप सरकार द्वारा डॉलर क्षेत्रों से ७६ करोड रुपये का गेहूँ यू० एन० व्हीट लोन समझौते के अन्तर्गत आयात किया गया तथा ९९.५ करोड रुपये का अन्य आयात सरकार ने किया। डॉलर क्षेत्र से गेहूँ इसीलिए आयात किया गया क्योंकि स्टर्लिंग क्षेत्र से गेहूँ मिल नहीं रहा था। दूसरी ओर भारत से डॉलर क्षेत्रीय निर्यात भी १९५१ की दूसरी छमाही में कम हुए। १९५१ की पहली छमाही में भारत ने डॉलर क्षेत्रों को ११९.८ करोड रुपये का कुल निर्यात किया जहाँ दूसरी छमाही में कुल निर्यात ८४.१ करोड रुपये का ही हुआ। इस प्रदेश को होने वाली निर्यात वस्तुओं में जूट के निर्यात भी कुछ कम हुए परन्तु अन्य वस्तुओं के निर्यात में—जैसे चाय, मसाले, कपड़ा, बीज आदि के निर्यात—काफी कमी हो गयी क्योंकि इन वस्तुओं के लिए डॉलर क्षेत्रों में माँग कम हो गयी। विशेष रूप से उपभोग्य वस्तुओं की माँग में काफी कमी रही। माँग की कमी का प्रमुख कारण इन प्रदेशों द्वारा १९५० एवं जून १९५१ तक इन वस्तुओं का काफी

आयात कर लेना था। दूसरे, जुलाई-दिसम्बर १९५१ के व्यापार की गति मे अनिश्चितता भी आगयी थी जिस वजह मे भारतीय वस्तुओ की माँग डॉलर क्षेत्रो म प्रभावित हुई। तीसरे, १९५१ के बाद मूल्यो की गिरावट के कारण वस्तुओ के निर्यात मूल्य भी काफी कम हो गये जिससे हमको कम डॉलर मिले। चौथे, बल्जियम, स्विट्जरलैंड और पश्चिमी जर्मनी के डॉलर क्षेत्रो से निकल कर स्टर्लिंग क्षेत्रा मे आजाने से भी हमारी डॉलर की कमाई प्रभावित हुई। परन्तु इससे एक लाभ यह भी हुआ कि इन देशों के डॉलर क्षेत्रो मे निकल जाने के कारण भुगतान सतुलन म कम विषमता रही जो सभवत वर्तमान आँकडों मे भी अधिक हो जाती।

इस प्रकार डॉलर क्षत्र के साथ भुगतान की कमी को निर्यातो मे वृद्धि करके दूर करने के लिए भारत सरकार ने जूट, तेलहन आदि वस्तुओ के निर्यात-कर (export duties) आधे कर दिये जिससे १९५२ की पहली छमाही मे भुगतान परिस्थिति मे कुछ सुधार हुआ और यह आशा की जा सकती थी कि १९५२ के अन्त के ऑकडे जब हमारे सामने आएँगे उस समय डॉलर क्षेत्रो के साथ भारत के भुगतान सतुलन की वर्तमान प्रतिकूलता दूर हो जायगी। १९५२ की पहली छमाही के जो आँकडे प्रकाशित हुए है[1] उनसे पता लगता है कि भारत का भुगतान-सतुलन ७४ ४ करोड से प्रतिकूल रहा। जनवरी-मार्च १९५२ मे ७६ करोड रुपये की प्रतिकूलता रही परन्तु अप्रैल जून १९५२ की तिमाही मे २ २ करोड रुपये का आधिक्य रहा जो जुलाई-दिसम्बर १९५१ के प्रतिकूल भुगतान सतुलन से (९२ ४ करोड रु०) कम हो गया है। परन्तु अब की बार भुगतान-सतुलन की एक विशेषता यह थी कि भारत की पाकिस्तान के साथ जो भुगतान-विषमता अभी तक रही वह जनवरी-जून १९५२ की छमाही मे मिट गयी, इतना ही नहीं अपितु २३ २ करोड रुपये का आधिक्य रहा। जुलाई-दिसम्बर १९५१ मे पाकिस्तान के साथ हमारा भुगतान-सतुलन २७ ४ करोड रुपये से प्रतिकूल था। डॉलर क्षेत्र के साथ भारत का सतुलन प्रतिकूल रहा। केवल चालू खाते (current account) पर भारत को डॉलर क्षेत्र के साथ ११४ ६ करोड रुपये की प्रतिकूलता रही जो १९५१ की अन्तिम छमाही मे ८९ ७ करोड रुपये की थी। इस प्रकार १९५२ की प्रथम छमाही मे हमारे आयात जुलाई-दिसम्बर १९५१ की अपेक्षा बढे और निर्यात मे कमी हुई —

---

1 Reserve Bank of India Bulletin, Nov 1952.

		(करोड़ रुपयों में)	
		आयात	निर्यात
जुलाई-दिसम्बर	१९५१	१६९·१	७८·१
जनवरी-जून	१९५२	१६८·६	७५·२

हमारे आयातों में रुई का बहुत बड़ा हिस्सा है क्योंकि जुलाई-दिसम्बर १९५१ में रुई का आयात ५२·९ करोड़ रुपये का था जो जनवरी-जून १९५२ में ७६ करोड़ रुपये का हुआ। परन्तु यदि १९५२ की पहली व दूसरी तिमाही को देखा जाय तो हमारे आयात ६०·२ करोड़ रुपये से घटकर १८·८ करोड़ रुपये के हो गये। इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि १९५१ में डॉलर क्षेत्रीय व्यापार में भारत को जो प्रतिकूलता रही उसमें इस वर्ष की छमाही में सुधार आता दिखायी देता है। इस सुधार का प्रमुख कारण हमारे अन्न आयात की कमी है और १९५२ की दूसरी तिमाही में रुई के आयात का कम होना भी है। इस लिए आशा की जा सकती है कि दिसम्बर १९५२ के अन्त में भारत की भुगतान-परिस्थिति में सुधार हो जायगा। साथ ही, इंग्लैंड के सामने भी डॉलर समस्या फिर से खड़ी हो गयी है और उसके लिए नवम्बर १९५२ में राष्ट्रसंघीय मन्त्रियों का सम्मेलन भी हो चुका है। देखना है कि आगे क्या होता है।

पुनर्मूल्यन की समस्या

रुपये के अवमूल्यन के एक वर्ष बाद ही स्टर्लिंग और रुपये के पुनर्मूल्यन की चर्चा खड़ी हो गयी। १९५० में पाकिस्तान अन्तरराष्ट्रीय कोष का सदस्य बना और उसके रुपये का सममूल्य कोष द्वारा स्वीकार करने से पुनर्मूल्यन के समर्थकों और विरोधियों में चर्चा छिड़ गयी। पाकिस्तानी रुपये की विनिमय-दर की मजबूती ने इसे और भी जोर दिया। समर्थकों का कहना था कि भारत के निर्यात में जो वृद्धि हुई वह अवमूल्यन के कारण न होते हुए कोरियाई युद्ध तथा अमरीकी स्टॉक-पाइलिंग प्रोग्राम के कारण थी। वास्तव में केवल एक ही कारण से निर्यात-व्यापार में वृद्धि हुई, यह सोचना एक बड़ी भूल होगी क्योंकि हम एक कारण को दूसरे कारणों से असबद्ध नहीं कर सकते। समर्थकों का कहना था कि "अवमूल्यन से हमारे आयात ४४% महँगे हुए। सरकारी प्रयत्नों के होते हुए भी मूल्यस्तर को स्थायी न रखा जा सका, जूट, रुई और अन्न की समस्या अधिक जटिल हो गयी, औद्योगिक विकास के लिए पूंजीगत वस्तुओं के आयात महँगे होने से उनको हम सुगमता से नहीं मँगा सकने, आदि। इसलिए रुपये का पुनर्मूल्यन जल्दी ही होना चाहिए।' पाकिस्तानी रुपये की विनिमय दर की मान्यता एवं उसकी मजबूती ने इस मत की पुष्टि की। पाकिस्तानी

रुपये की मजबूती के लिए उसके भुगतान के सतुलन की अनुकूलता ही एकमात्र कारण न होते हुए "व्यापार की शर्तों" (terms of trade) का सुधार एक प्रमुख कारण है जिससे आस्ट्रेलिया, पाकिस्तान तथा दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशो को लाभ हुआ—जो कच्चे माल का निर्यात अधिक करते है। इस लाभ के साथ आशा थी कि यदि रुपये का पुनर्मूल्यन किया जाय तो हानि होने की अपेक्षा व्यापार-सतुलन का आधिक्य और भी बढेगा।

रुपये के पुनर्मूल्यन के पक्ष मे आवाज उठायी जाने के लिए निम्नलिखित परिस्थितियाँ भी जिम्मेदार थी —

(१) भारत द्वारा पाकिस्तानी रुपये की विनिमय-दर न मानी जाना, जिससे भारत-पाक व्यापार लगभग ठप्प-सा हो गया था और भारतीय कारखानो को चलाने के लिए जूट एव रुई की कमी अनुभव हो रही थी। इसलिए रुपये का यदि पुनर्मूल्यन किया जाय तो भारत-पाक व्यापारिक समस्या का समुचित हल हो सकेगा।

(२) अन्तरराष्ट्रीय गेहूँ समझौते के अनुसार भारत को आस्ट्रेलिया से प्रति वर्ष १ लाख टन गेहूँ आयात करना था, जिसकी दर इस समझौते के अनुसार निश्चित करदी गयी थी। परन्तु आस्ट्रेलिया अवमूल्यन पूर्व दर पर भारतीय मुद्रा के बदले गेहूँ देने के लिये तैयार नही था जिससे भारत को गेहूँ का आयात करने के लिए निर्धारित दरो से ४४% रुपये अधिक चुकाने पडते। रुपये के पुनर्मूल्यन से यह समस्या हल हो जाती।

(३) भारत की विकास योजनाओ की प्रगति मे भी अवमूल्यन से बाधा पहुँची क्योकि हमारे तात्रिक सलाहकर तथा पूँजीगत वस्तुओ का अधिकतर आयात डालर क्षत्रो से ही हाना था।

(४) अवमूल्यन से भारत का निर्यात-व्यापार बढेगा किन्तु यह आशाएँ भी वृथा साबित हुई क्योकि हमारी निर्यात-वस्तुओ की माँग मे लोच नही है।

(५) भारत के प्रयत्नो के बावजूद भी भारत अपने आयात मे कमी करने मे असफल रहा है क्योकि भारत मे होने वाला अधिकतर आयात आवश्यक वस्तुओं का है जिनका उत्पादन देश मे कम है।

(६) भारत को परिस्थिति से विवश होकर अवमूल्यन करना पडा और अब परिस्थिति बदल चुकी है अत रुपये का पुनर्मूल्यन होना आवश्यक है।

पुनर्मूल्यन से हमारे निर्यात बढेगे और उनका मूल्य बढ जाने से हमारे भुगतान-सतुलन की स्थिति मजबूत होगी। इसके साथ ही अधिक अन्न के

आयात से हमारे सतुलन मे वर्तमान विनिमय-दर पर अधिक विषमता आयेगी और उसका निवारण भी हो जायगा। इस प्रकार पुनर्मूल्यन से भारत को आयात-निर्यात व्यापार दोनो मे ही लाभ होगा। ईस्टर्न इकॉनॉमिस्ट के अनुसार पाकिस्तान के साथ रुई, पटसन, चमडा इत्यादि के जून १९५२ तक के आयात का भुगतान करने मे रुपय के पुनर्मूल्यन से (३० ५%) ४१ २६ करोड रुपये की बचत होगी। इसी प्रकार एक यह मत भी प्रकट किया गया था कि भारत मे जीवन-व्यय के मूल्याङ्क रुपये के अवमूल्यन से बढते जा रहे हैं जो रुपये के पुनर्मूल्यन से कम हो जायँगे क्योकि पुनर्मूल्यन होते हो थोक कीमतो मे ७ से १०% प्रतिशत गिरावट आ जायगी तथा मुद्रा-स्फीति की तीव्रता भी कम होगी।

इस प्रश्न को विशेषत जून १९५१ मे जब डॉ० जॉन मथाई ने उठाया तो फिर से इस सम्बन्ध म चर्चा होने लगी क्योकि अवमूल्यन के समय भारत के अर्थ-सचिव यही थे।

पुनर्मूल्यन के विरोध मे[1]

(१) रुपये के पुनर्मूल्यन से हमारे आयात सस्ते हो जाएँगे क्योकि विदेशी मुद्राएँ हम अधिक खरीद सकेंगे। इससे या तो हमारे यह आयात अधिक मात्रा मे बढेंगे जिससे निर्यात-करो द्वारा सरकारी-आय कम होगी। उसी प्रकार आयात सस्ते मिलेंगे ही यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता क्योकि जूट, रुई, खाद्यान्न की हमको अतीव आवश्यकता है जिसको कही न कही से आयात किय बिना हमारा काम हो ही नही सकता। इस कमजोरी को सभी देश जानते हैं जो इनके निर्यात मूल्य बढाकर हमारी विवशता का लाभ उठा सकते हैं। यदि मान भी लिया जाय कि आयात सस्ते होगे तब भी यह असम्भव-सा प्रतीत होता है कि समर्थको द्वारा आँका गया १८३ करोड रुपयो का लाभ होगा ही। दूसरे, विरोधियो द्वारा दी जाने वाली दलील कि सरकार की आय कम होगी यह भी सशयास्पद प्रतीत होती है।

(२) जहाँ तक हमारे निर्यात द्वारा विदेशी मुद्रा कमाने का सम्बन्ध है हम यह नही भूल सकते कि हमारा निर्यात महँगा है। फिर इस दर का निर्यात बढेगा कैसे ? मान लिया जाय कि जूट मे भारत का एकाधिकार है फिर भी

---

[1] *"Revaluation and India's Balance of Trade"—Eastern Economist, 16-3-1951 and issues of Eastern Economist of 20th and 27th April, 1951, "Revaluation by Degree"—17th Aug, 1951*

यदि उसकी कीमतें महँगी हो जाती है तो अमरीका आदि देश प्रतिवस्तु का उपयोग करने लगेंगे ।

(३) पाकिस्तानी आयात सस्ते पडेंगे और भारत को पाकिस्तान-भारत व्यापार मे लाभ होगा यह भी भ्रम है क्योकि पाकिस्तान से होने वाले आयातो मे जूट, अन्न और रुई की प्रमुखता है । इनमे से जूट उत्पादन मे पाकिस्तान को एकाधिकार है । ऐसी अवस्था मे पाकिस्तान सस्ते आयात द्वारा भारत को लाभ नही उठाने देगा । १९५२ के आंकडो से जैसा स्पष्ट होता है बिना पुनर्मूल्यन के ही भारत-पाकिस्तान व्यापार मे अनुकूलता आने लगी है । अत रुपये के पुनर्मूल्यन की पुष्टि नही मिलती ।

(४) जीवन-व्यय कम करने तथा मुद्रास्फीति की तीव्रता को रोकने के लिए भी पुनर्मूल्यन करने पर जोर दिया गया था । मुद्रा-स्फीति रोकने के लिए विरोधियो ने अन्य मार्ग सुझाये जैसे करो मे वृद्धि, बचत का प्रोत्साहन एव उसका विकास-कार्यों के लिए उपयोग, सरकारी खर्चों मे कमी, मूल्य-नियत्रण आदि । इन लोगो की राय थी कि आये दिन विनिमय-दर से खिलवाड करना भारत के लिए लाछनास्पद है ।

(५) जिस परिस्थिति से विवश होकर हमने अवमूल्यन किया था (अर्थात् स्टर्लिंग क्षेत्र से अधिक व्यापार होने के कारण) वह परिस्थिति आज भी है । तो अब रुपय के पुनर्मूल्यन से हमारे स्टर्लिंग क्षेत्रीय व्यापार म कमी आ जायगी जो हमारी अदूरदर्शिता होगी । इसके अलावा रुपये के पुनर्मूल्यन से हमारे पौंड-पावने मे भी कमी होगी ।

(६) इसी प्रकार जिस परिस्थिति मे हमने १९५१ मे पाकिस्तान की विनिमय दर मान ली, वह परिस्थिति रुपये के पुनर्मूल्यन से फिर उपस्थित हो जायगी और फिर से भारत-पाक व्यापार सम्बन्ध टूट जायेंगे ।

(७) आज के विश्व मे परस्पर आर्थिक-निर्भरता बढती ही जा रही है । अत रुपये के पुनर्मूल्यन के लिए अकेले भारत का ही कदम उठाना उसके अतरराष्ट्रीय हित सम्बन्धो को खराब कर देगा । फिर आज विश्व की आर्थिक स्थिति बडी डाँवाडोल हो रही है और उसका पेण्डुलम किस ओर घूमेगा यह निश्चित नही कहा जा सकता ।

अत ऐसी अवस्था मे विनिमय-दर को कम अथवा अधिक करने की जल्दबाजी भारत को नही करनी चाहिए । फिर पुनर्मूल्यन किस देश की मुद्रा के साथ हो ?

(i) डालर के साथ अथवा (ii) स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों की मुद्रा के साथ तथा (iii) पुनर्मूल्यन कितने प्रतिशत में किया जाय ?

इस सम्बन्ध में श्री० चिन्तामणि देशमुख ने भी स्पष्ट कहा है कि कोई भी व्यक्ति जो इस प्रश्न की परीक्षा करने की क्षमता रखता है उसने यही तात्पर्य निकाला है कि अवमूल्यन लाभकर हुआ है तथा कोरियाई युद्ध के आरम्भ तक मूल्य वृद्धि रोकने में कठिनता नहीं आई। यदि हम पुनर्मूल्यन करते हैं तो सम्भवतः हमारी स्थिति सुधरने के बजाय बिगड़ जायगी। इस प्रकार की समस्या कभी ताक में न रखी जायगी किन्तु इस पर हम समय समय पर निर्णय लेते जायें बुद्धिमानी का काम होगा।

प्रो० बी० आर० शेनाय ने अप्रैल १९५८ में पुनः रुपये के पुनर्मूल्यन पर जोर दिया था परन्तु तत्कालीन विदेशी विनिमय के संकट के कारण इसका तीव्र विरोध हुआ।

पाकिस्तानी रुपये का अवमूल्यन

३१ जुलाई १९५५ को पाकिस्तान ने भी अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया जिससे वह भारतीय रुपये के स्तर पर आ गया। उसका स्वर्ण मूल्य ० १८६६२१ ग्राम हो गया परन्तु उसका स्टर्लिंग मूल्य १ शि० ६ पेंस ही रहा। पाकिस्तान द्वारा यह निर्णय आर्थिक आधार पर लिया गया है। इसका प्रमुख हेतु पटसन एवं रुई उत्पादकों को उनकी उपज का उचित मूल्य दिलाना तथा पाकिस्तान की विदेशी विनिमय आय बढ़ाने के लिए निर्यातों की वृद्धि को प्रोत्साहन देना है। इस निर्णय के पूर्व अन्तरराष्ट्रीय बाजार में पटसन और रुई की कीमत गिरने के कारण पाकिस्तानी किसान आर्थिक कठिनाइयों में थे। इस निर्णय से पाक रुपये के क्रय विक्रय की अधिकृत दरों में परिवर्तन किया गया है जो क्रमशः १०० ० ६ पाक रुपये तथा ९९ १५ ६ पाक रुपये प्रति सौ भारतीय रुपये है।

इस निर्णय का तत्कालीन प्रभाव भारतीय जूट व्यवसाय पर होता इसलिए भारत सरकार ने १ अगस्त १९५५ से जूट को निर्यात करों से मुक्त कर दिया है। क्योंकि अब विदेशी बाजार में भारतीय और पाकिस्तानी जूट निर्मित वस्तुओं में तीव्र प्रतियोगिता होगी। परन्तु अन्य व्यापार पर कोई विशेष प्रभाव नहीं होगा।

साराश

डालर सकट को हल करने के लिए ब्रिटेन ने स्टर्लिंग का डालर में अवमूल्यन करते ही भारत ने भी १९ सितम्बर १९४९ को अपने रुपये का अव

मूल्यन किया । स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देशों की भांति भारत भी डॉलर सकट मे था । इसे हल करने के उसके पास तीन मार्ग ही थे—

(i) रुपये का अवमूल्यन न करना, (ii) रुपये का स्टर्लिंग मूल्य कम करना तथा (iii) रुपये का डॉलर मूल्य स्टर्लिंग के अनुपात मे ही कम करना ।

पहला उपाय सम्भव न था क्योंकि भारत का विदेशी व्यापार स्टर्लिंग क्षेत्र से अधिक होने से वह प्रभावित हो जाता । यदि रुपये का स्टर्लिंग मूल्य कम किया जाता तो हमारे स्टर्लिंग क्षेत्र के आयात मँहगे होगे । इसलिए तीसरा उपाय ही काम मे लाया गया ।

इसके तीन तत्कालीन परिणाम हुए—हमारे लिए डॉलर क्षेत्र के निर्यात मँहगे हो गये, स्टर्लिंग पावनों का डॉलरो मे मूल्य गिर गया तथा पाकिस्तानी रुपये का अवमूल्यन न होने से हमारे उद्योगो के लिए कच्चा जूट एव रुई प्राप्त करने की समस्या आ गयी । साथ ही पाकिस्तान के साथ व्यापार ठप्प सा हो गया ।

इस स्थिति का सामना करने के लिए भारत सरकार ने एक आठ सूत्रीय योजना काम मे लायी । देश मे उत्पादन बढाना, आयात कम करना, विदेशी व्यापार नीति मे विदेशी विनिमय का न्यूनतम व्यय करने की दृष्टि से मिलान करना आदि योजना के प्रमुख अग थे ।

अवमूल्यन के बाद के १४ मास मे यद्यपि हमारी स्थिति मे सुधार हुआ, फिर भी इस समस्या का स्थायी हल उत्पादन वृद्धि द्वारा निर्यात वृद्धि करने मे ही है ।

१९५१ मे अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा पाकिस्तानी रुपये का स्वर्ण मूल्य स्वीकार करते ही डॉ० जॉन मथाई आदि अर्थशास्त्रियों ने रुपये के पुनर्मूल्यन की आवाज उठायी । पुनर्मूल्यन के समर्थकों ने निम्न दलीलें दी । आयात सस्ते होगे, निर्यात से अधिक डॉलर प्राप्त होगे, पाकिस्तान के साथ व्यापार मे लाभ, विदेशी व्यापार मे वृद्धि, मुद्रास्फीति रोकने के लिए आदि । परन्तु विरोध मे यह कहा गया कि डॉलर क्षेत्र से आयात करने मे डॉलरो की कमी होगी, पुनर्मूल्यन करना अदूरदर्शी नीति होगी, निर्यात घटेंगे तथा विदेशी व्यापार मे बाधा आयेगी ।

इस प्रश्न को १९५८ मे प्रो० बी० आर० शेनॉय ने उठाया था परन्तु तत्कालीन विदेशी विनिमय सकट के कारण उसका तीव्र विरोध हुआ । ३१ जुलाई १९५५ को पाकिस्तान ने आर्थिक परिस्थिति से विवश होकर पाक रुपये का ३० ५% से अवमूल्यन किया जिससे वह भारतीय रुपये की समता मे आ गया है ।

परिशिष्ट

अवमूल्यन के पश्चात् विभिन्न देशों की मुद्राओं के सममूल्य

देश का नाम	मुद्रा	भारतीय रुपये मे मूल्य	अमरीकी डॉलर मे मूल्य	अवमूल्यन का प्रतिशत
१ अमेरिका	डॉलर	४ ७६१	—	
२ इगलैंड	पौंड-स्टर्लिग	१= ३३३	२ ८०	३० ५ %
३. भारत	रुपया	—	० २१ सेंट	,,
४ न्यूजीलैंड	पौंड	१३ ३==	२ ८०	,,
५ आयरलैंड	,,	१३ ३३३	,,	,,
६ दक्षिण अफ्रीका	,,	१३ ३३३	,,	,,
७ आस्ट्रेलिया	,,	१० ५-६	२ २४	,
८ ईजिप्ट (मिस्र)	,	१२ -७४	२ ८७१	,,
९ ब्रह्मा	रुपया	१ ००	० २१	,,
१० लका	,,	१ ००	,,	,,
११ पाकिस्तान	,,	१ ००	२१ सट	३० ५ %
१२ कनाडा	डालर	८ ३२९	१ — १ १० कनाडा-डालर	१० ००%
१३ फ्रास	फ्रांक	० ११८	१ = ३५० फ्राक	५ ६०%
१४. लग्सम्बर्ग	,	० ९५२		१२ ३४%
१५. बल्जियम	,,	० ९५२३		१२ ३४%
१६ डेनमार्क	क्रोनर	० ==९	१ = ६ ९०७१४ क्रोनर	३० ५ %
१७ आइसलैंड	,	० ५०९		२९ ८८%
१८ नार्वे	,	० ६६६	१ = ७ १४२ (croners)	३० ५२%
१९ फिनलैंड	मार्क	० ६६६		३० ४३%
२० इराक	दीनार	१२ =३३	२ =०	३० ५ %
२१ नीदरलैंड	गिल्डर	१ २५३		३० ५२%
२२ ग्रीस	ड्रमा (dra-dimas)	०००=१७	१ = १५००० ड्रमा	३३ २ %
२३ स्वीडन	क्राउन		१ = ५ ०८ क्राउन	३० ५ %
२४. ईरान	दीनार		१ = ४० दीनार ८० रिआम	
२५ इण्डोनेशिया	गिल्डर		१-३ =० गिल्डर	

अध्याय २०

भारत में दाशमिक मुद्रा प्रणाली

विश्व के लगभग १४० देशों मे अपनी-अपनी मुद्रा है, जिनमे १०५ देशों ने दाशमिक मुद्रा प्रणाली अपना ली है। अमेरिका ने सन् १७८६ व १७९२ में दाशमिक मुद्रा प्रणाली अपनायी। उसकी देखादेखी सन् १७९९ व १८०३ मे फ्रांस ने भी दाशमिक मुद्रा प्रणाली अपनायी। इसके बाद जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगेरी आदि देशों ने इस प्रणाली को १८वी शताब्दी के अन्त तक अपना लिया। इंगलैंड न इस प्रणाली को नही अपनाया क्योंकि इस प्रणाली को अपनाने मे उसे अनेक कठिनाइयाँ थी। वहाँ पर जो स्वय-चालित काउंटिंग मशीनें प्रयोग मे थी उनको बदलने मे अनेक कठिनाइया थी। भारत अभी औद्योगिक विकास की ओर अग्रसर हो रहा है। अत उसके लिए यह आवश्यक था कि वह दाशमिक मुद्रा प्रणाली का अनुसरण करे। क्योंकि आने वाले वर्षो मे भारत की हर दिशा मे प्रगति होगी, चाहे वह व्यापारिक, औद्योगिक अथवा वैज्ञानिक क्षत्र क्यो न हो। इसलिए भविष्य कालीन सुविधाओं की दृष्टि से भारत के लिए यह आवश्यक समझा गया कि वह दाशमिक मुद्रा प्रणाली को अपनाये।

तदनुसार १ अप्रैल, १९५७ से भारत ने भी यह प्रणाली अपनायी है। यद्यपि नये सिक्के दाशमिक प्रणाली पर आधारित है फिर भी इनमे दशमलव सिद्धान्त का पालन कठोरता से नही किया गया। रूढिवादी परिभाषा के अनुसार दाशमिक मुद्रा उसे कहते है जिसमे सारे सिक्के एक प्रमाणित सिक्के के दस, सौ या हजार गुने होते हो। दूसरे शब्दो मे, यदि प्रमाणित सिक्का १ है तो उससे बडे सिक्के १०, १००, १००० आदि और छोटे सिक्के .१, .०१, .००१ आदि होगे। पूरी तरह इस सिद्धान्त पर आधारित प्रणाली मे इनके बीच के सिक्के नही होते, पर इस सिद्धान्त का कठोरता से पालन नही किया गया है क्योंकि भारत मे २, ५ तथा २५ नय पैसे के सिक्के चलन मे लाये गये है।

पूर्व-इतिहास — दाशमिक सिक्को मे कुछ ऐसी विशेषताएँ होती है जो अन्य

सिक्कों में नहीं होती। इसीलिए भारत में काफी समय से विशेषज्ञ दाशमिक सिक्के चालू करने के लिए प्रयत्नशील थे। इस दिशा में १८६७ में पहिला प्रयत्न हुआ था तथा काफी विचार के बाद सरकार ने निर्णय किया था कि धीरे-धीरे दाशमिक सिक्के चालू किये जायें। इस हेतु १८७१ में एक मेट्रिक अधिनियम भी बनाया गया, परन्तु विविध कारणों से वह कार्यान्वित न हो सका। इसके बाद १९४० में भारत में दाशमिक समाज (Indian Decimal Society) की स्थापना हुई जिसने भारतीय नापतौल एवं विनिमय प्रणाली दाशमिक आधार पर कायम करने पर बल दिया। तदनुसार १९४६ में पुनः इस पर विचार हुआ तथा केन्द्रीय संसद में एक बिल पेश किया गया, किन्तु तत्कालीन राजनीतिक परिवर्तनों के कारण वह बिल पास न हो सका। इसके बाद १९४९ में भारतीय प्रतिमान संस्था की एक विशेष समिति ने इस सम्बन्ध में विचार कर अपनी रिपोर्ट सरकार को दी। इस रिपोर्ट में दाशमिक आधार पर नापतौल एवं मुद्रा प्रणाली को १० से १५ वर्ष की अवधि में क्रमशः लागू करने की सिफारिश की। १९५५ में एक बिल इस सम्बन्ध में संसद में रखा गया जो सितम्बर १९५५ में पास हो गया। भारतीय सिक्का (संशोधन) अधिनियम से १९०६ का भारतीय सिक्का अधिनियम का संशोधन हुआ तथा दाशमिक सिक्के चालू करने का अधिकार भारत सरकार को मिला।

दाशमिक सिक्के क्यों?—भारत औद्योगिक उन्नति के युग में प्रवेश कर रहा है। इससे आगामी १०-१५ वर्षों में भारत की अर्थ-व्यवस्था काफी जटिल हो जायगी और यहाँ हिसाब-किताब की हजारों-लाखों मशीनों का प्रयोग होने लगेगा। भारत में अभी तक स्वचालित सिक्का ढालने वाली मशीनों की संख्या बहुत कम है। वैज्ञानिक यन्त्र बनाने वाले उद्योग भी अभी शैशव-काल में ही हैं। यदि कुछ समय के लिए यह प्रणाली लागू न होती तो पुरानी सिक्का प्रणाली के अनुरूप बहुत अधिक यन्त्र बन चुके होते, जिनको बदलने में कहीं अधिक व्यय होता।

दाशमिक सिक्कों का पूरा लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक है कि उनके साथ नाप और तौल के पैमाने भी दाशमिक प्रणाली के अपनाये जायें, क्योंकि वर्तमान नाप-तौल की विविधता से बहुत गड़बड़ होती है। इस हेतु दाशमिक सिक्कों का चलन आवश्यक था।

इसके सिवा दाशमिक सिक्का प्रणाली हिसाब-किताब की जटिलता को दूर करने के लिए भी आवश्यक थी।

भारतीय टक्ण अधिनियम १९५५—उक्त सिफारिश के अनुसार भारत सरकार ने १९०६ का टक्ण अधिनियम सशोधित करने तथा दाशमिक मुद्रा प्रणाली अपनाने के लिए ७ मई १९५५ को लोक सभा मे एक विधेयक प्रस्तुत किया। यह विधेयक २९ जुलाई १९५५ को पास होकर १७ सितम्बर १९५५ को राष्ट्रपति से स्वीकृत हुआ।

यह अधिनियम १ जनवरी १९५७ से भारत मे लागू हो गया है। तदनुसार भारत की प्रमाणित मुद्रा रुपया ही है, परन्तु इसका विभाजन १६ आने, ६४ पैसे या १९२ पाइयो मे न होकर १०० सेंट मे होगा। प्रत्येक सेंट को नया पैसा कहते है। वर्तमान अठन्नियाँ एव चवन्नियाँ क्रमश ५० और २५ नये पैसे के बराबर होगी। वर्तमान दुअन्नियाँ, इकन्नियाँ, अधन्ने तथा पैसो के सम मूल्य का कोई सिक्का नयी दाशमिक प्रणाली मे नही होगा। अपितु १०, ५, २ और १ नये पैसे के नये सिक्के रहगे जो चलन मे आगये है।

पुराने और नये दाशमिक सिक्के सक्रमण काल म साथ साथ चलन मे रहेगे, परन्तु क्रमश सिक्को को चलन से हटाया जायेगा। यह सक्रमण काल तीन वर्ष अर्थात् ३१ मार्च १९६० तक है जिसके बाद केवल नये दाशमिक सिक्के ही चलन मे रहगे। परन्तु यदि आवश्यकता हुई तो इस अवधि को थोडा बहुत बढाया जा सकता है। यह केवल इसीलिए किया गया है जिससे जनता नये सिक्को से अच्छी तरह परिचित हो जाय।

यह प्रणाली भारत मे १ अप्रैल १९५७ से चालू हो गयी है तथा क्रमश पुराने सिक्के चलन से हटाये जा रहे हैं।

दाशमिक मुद्रा प्रणाली का परिचय—दाशमिक मुद्रा प्रणाली का प्रचार जनसाधारण मे करने के लिए भिन्न-भिन्न साधन सरकार ने अपनाये। इसको लोकप्रिय बनाने के लिए समाचार पत्रो मे परिवर्तन तालिकाएँ दी गई, प्रमुख-प्रमुख स्थानों पर पोस्टर चिपकाये गये तथा दाशमिक मुद्रा प्रणाली का परिचय देने वाली लघु पुस्तिकाओ का नि शुल्क वितरण किया गया। इसका हेतु जन-साधारण को पुराने सिक्को के स्थान पर नये सिक्को का प्रयोग किस प्रकार किया जाय, यह बताना था। केन्द्रीय शिक्षा मत्रालय ने भी यह निर्णय लिया कि पाठय पुस्तको मे पुराने सिक्को के स्थान पर नये सिक्को का व्यवहार किया जाय। इसीको राज्य सरकारो ने भी मान्यता दी जिससे आने वाली पीढी नये सिक्को से भलीभाँति परिचित हो सके तथा उसे दाशमिक मुद्रा प्रणाली मे नवीनता का आभास न मिले।

परिवर्तन-तालिका

एक ही भुगतान मे आने-पाइयो मे दी जानेवाली राशि का नये पैसो मे समान मूल्य

आने	पाई	नये पैसे	आने	पाई	नये पैसे	आने	पाई	नये पैसे	आने	पाई	नये पैसे
०	३	२	४	३	२७	८	३	५२	१२	३	७७
०	६	३	४	६	२८	८	६	५३	१२	६	७८
०	९	५	४	९	३०	८	९	५५	१२	९	८०
१ आना		६	५ आने		३१	९ आने		५६	१३ आने		८१
१	३	८	५	३	३३	९	३	५८	१३	३	८३
१	६	९	५	६	३४	९	६	५९	१३	६	८४
१	९	११	५	९	३६	९	९	६१	१३	९	८६
२ आने		१२	६ आने		३७	१० आने		६२	१४ आने		८७
२	३	१४	६	३	३९	१०	३	६४	१४	३	८९
२	६	१६	६	६	४१	१०	६	६६	१४	६	९१
२	९	१७	६	९	४२	१०	९	६७	१४	९	९२
३ आने		१९	७ आने		४४	११ आने		६९	१५ आने		९४
३	३	२०	७	३	४५	११	३	७०	१५	३	९५
३	६	२२	७	६	४७	११	६	७२	१५	६	९७
३	९	२३	७	९	४८	११	९	७३	१५	९	९८
४ आने		२५	८ आने		५०	१२ आने		७५	१६ आने		१००

आप नये अथवा पुराने सिक्को अथवा दोनो मिले जुले सिक्को मे भुगतान कर सकते हैं अथवा खेरीज दे सकते हैं।

डाकखानों ने भी इस काम में योग दिया तथा पुराने सिक्कों के स्थान पर नये सिक्कों में डाक टिकट चलाये गये। इस प्रकार इस प्रणाली को शीघ्र प्रसारित करने में डाक एवं तार विभाग ने उल्लेखनीय कार्य किया। रेल मंत्रालय द्वारा भी रेल-टिकटों पर भाड़े की दरें नये सिक्कों में दी जाने लगीं। और केवल ये दो विभाग ही ऐसे हैं जिनका सर्वसाधारण जनता से अत्यन्त घनिष्ठ सम्पर्क होता है। इस कारण निरक्षर जनता भी इस नवीन प्रणाली से भलीभाँति परिचित हो गई है। ग्रामीण क्षेत्रों में सामुदायिक विकास एवं राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्डों ने भी इस दिशा में काफी कार्य किया।

हिसाब-किताब के लिए कार्उटिंग मशीन-निर्माताओं से भारत सरकार ने तय किया है कि वे नई मशीनें हमारी नवीन सिक्का प्रणाली के अनुसार बनायें। क्योंकि इस समय ऐसी मशीनों का भारत में बहुत कम प्रयोग होता है।

दाशमिक मुद्रा प्रणाली के लाभ

केन्द्रीय वित्त मंत्रालय ने इस प्रणाली को अपनाने में निम्न लाभों की ओर संकेत किया है —

(१) सरल तथा शीघ्र हिसाब-किताब की पद्धति का निर्माण।

(२) व्यय तथा मूल्य निर्धारण की सही और प्रभावी पद्धति।

(३) घरेलू कार्यों एवं उपभोग्य वस्तुओं की कीमतों के माप का सरल उपाय।

(४) कीमतों के लघु परिवर्तनों का अधिक सही नाप सम्भव होगा, जिससे मुद्रा का व्यय उपयुक्तता से हो सकेगा।

(५) शिक्षा-संस्थाओं में गणित के पठन-पाठन में समय एवं श्रम की बचत।

(६) अनावश्यक तथा विविध मुद्रा इकाइयों का अन्त।

कठिनाइयाँ

इसी प्रकार इस नवीन मुद्रा प्रणाली से होने वाली कठिनाइयों का भी भारत सरकार ने अनुमान किया है, जो निम्न हैं —

(१) **जटिलता**—प्रारम्भिक अवस्था में जनता को अपनी परम्परागत मुद्रा प्रणाली को त्यागने एवं दाशमिक प्रणाली को अपनाने में कठिनाई होगी। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए प्रारम्भिक तीन वर्षों के लिए दोनों प्रणालियाँ एक साथ चालू रहेंगी जिससे जनता नई प्रणाली से भलीभाँति परिचित हो जाय।

(२) **जनता से ठगी**—नई और पुरानी प्रणाली साथ-साथ चालू रहने से चालाक और बेईमान लोग जनता से धोखा देही करेंगे। इसीलिए भारत सर-

कार ने जगह-जगह पर नई और पुरानी मुद्राओ की परिवर्तन तालिकाएँ प्रदर्शित की है। परन्तु फिर भी अन्तरिम-काल मे अशिक्षित लोगो के ठगे जाने की सम्भावना है।

(३) **कीमतो के आधार मे परिवर्तन**—नई प्रणाली का तत्कालीन परिणाम यह होगा कि वर्तमान कीमतो का एव दरो का जो आधार है वह बदल जायगा। इससे जनता को असुविधा होगी। परन्तु यह असुविधा अल्पकालीन होगी क्योकि अन्ततोगत्वा नई मुद्राएँ ही चलन मे रहेगी। ध्यान मे रहे कि रुपये के आधारभूत मूल्य मे कोई परिवर्तन नही किया गया है।

यद्यपि इस प्रणाली को अपनाने मे आरम्भ मे कुछ कठिनाइयाँ हुई परन्तु अब यह प्रणाली जनता की समझ मे आगई है। इस प्रकार भारत आज विश्व के उन १०५ देशो मे से एक है जहाँ पर दाशमिक मुद्रा प्रणाली का चलन है। भारत ने इस वैज्ञानिक एव अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली को अपनाने मे दूरदर्शिता से कार्य किया है तथा भावी विकास का द्वार खोल दिया है।

साराश

दाशमिक मुद्रा प्रणाली अपनाने के प्रथम प्रयत्न १८७० मे तथा १९४६ मे हुए। परन्तु १९५५ मे सफल हुए जबकि भारतीय ससद ने भारतीय टकण अधिनियम १९५५ मे पास हुआ। यह कानून १ अप्रेल १९५७ से लागू हो गया है। इसके अनुसार रुपये का विभाजन एव मूल्य निम्नवत है—

१ रुपया = १०० न० पै०
½ रुपया = ५० ,,
¼ रुपया = २५ ,,

इसके सिवा १०, ५, २ और १ नये पैसे का सिक्का चलाया गया है। रुपया, अठन्नी तथा चवन्नी निकेल की, १०, ५ और २ नये पैसे के सिक्के क्युप्रो-निकेल के तथा १ न० पैसे का सिक्का ब्रॉञ्ज का बना है। ३१ मार्च १९६० तक नये एव पुराने सिक्के साथ-साथ चलेंगे जिसके बाद केवल दाशमिक सिक्के ही चलन मे रहेंगे।

इससे हिसाब मे शीघ्रता एव सरलता, मौद्रिक इकाइयों की विभिन्नता का अन्त, शिक्षा मे श्रम एव समय की बचत, कीमतो का सही माप एव निर्धारण में सुविधा होगी।

साथ ही अन्तरिम काल मे परिवर्तन मे जटिलता, कपट तथा कीमतो के आधार मे परिवर्तन मे कठिनाइयाँ प्रतीत होंगी।

फिर भी १ अप्रेल १९५७ से नये सिक्के चलन मे आ गये हैं।

द्वितीय भाग

अध्याय १

बैंक—विकास, परिभाषा एवं कार्य

बैंकों का विकास

बैंकों का विकास बहुत पूर्वकाल से होते-होते वर्तमान स्तर पर पहुँचा है। बैंक की उत्पत्ति 'बैंको' (banco) में हुई जिसका अर्थ है—"बेंच के आस-पास बैठना" अर्थात् सर्राफ या धनी लोग विभिन्न मुद्राओं का परिवर्तन बेंचों पर बैठकर किया करते थे, ऐसा अनुमान करना स्वाभाविक भी है। इस प्रकार सर्राफ विभिन्न मुद्राओं को बदलने का प्रमुख कार्य आरम्भ में करते थे जिसमें परदेश के यात्रियों तथा व्यापारियों को सुविधा होती थी। इनकी साख में जनता का विश्वास होने के कारण कुछ समय बाद अपने पास की अधिक मुद्राएँ सुरक्षा की दृष्टि से इन्हीं सर्राफों के पास धरोहर के रूप में रखने लगे। इस रकम को जिस समय वे चाहें अपने उपयोग के लिए वापस ले सकते थे। इस धरोहर के बदले सर्राफ उन्हें रसीद देते थे तथा आरम्भ में कुछ शुल्क भी लिया करते थे। साथ ही साथ ये सर्राफ अपने पास का अतिरिक्त धन ऋण के रूप में दूसरों को ब्याज पर देते थे। कुछ काल बीतने पर उन्हें यह अनुभव हुआ कि लोग जितना धन इनके पास धरोहर अथवा निक्षेप (deposit) के रूप में जमा करते थे, उसमें से बहुत ही कम वे निकालते थे और शेष सर्राफों के पास बेकार पड़ा रहता था। यह देखकर क्रमशः उन्होंने इस अतिरिक्त धन को भी ब्याज पर देना आरम्भ किया और निक्षेपों पर शुल्क लेना बन्द कर उल्टा ब्याज देना शुरू किया। इससे उनके पास निक्षेप बढ़ने लगे। ब्याज देने की दर ब्याज लेने की दर से कम होती थी और इस प्रकार सर्राफ लाभ उठाते थे। यहीं से निक्षेप (deposit) बैंकिंग का आरम्भ हुआ।

जनता को निक्षेपों के बदले सर्राफ जो रसीद देते थे, वह उनकी साख के कारण क्रमशः उनके क्षेत्र में ऋण आदि व्यवहारों के भुगतान में स्वीकृत होने लगीं। उनकी साख के कारण उनकी रसीद चल सकती है यह देखकर उन्होंने सोचा कि आगे किसी को ऋण देना हो तो मुद्रा में न देकर 'माँग भुगतान करने का वचन' (promise to pay the bearer on demand) वाले पत्र

देना अधिक लाभप्रद होगा और ऐसे ही पत्र देना आरम्भ कर दिया। इन्ही पत्रों से पत्र-मुद्रा का आरम्भ हुआ तथा पहली रसीदों में भुगतान करने की पद्धति से चैक पद्धति का आरम्भ हुआ।

इस व्यापार मे अधिकाधिक लाभ देखकर अनेक नये-नये व्यक्ति भी यह व्यापार करने लगे और क्रमश बैंकिग का विकास होता गया। आधुनिक बैंक निक्षेप स्वीकार करते हैं, तथा ऋण देते है। निक्षेपो की राशि जमा करने वाला व्यक्ति आवश्यकता पडने पर किसी भी समय चैक द्वारा उसे निकाल सकता है। यही आधुनिक बैंकों का मुख्य कार्य है। इसके अतिरिक्त सुरक्षा के लिए आभूषण, स्वर्ण आदि रखना, पत्र-मुद्राएँ चलाना, साख का नियन्त्रण एव नियमन करना तथा अपने ग्राहकों को मुद्रा-सम्बन्धी अनेक प्रकार की सुविधाएँ देना, ये कार्य भी बैंक करते है।

भारतीय बैंकिग का विकास एव उत्क्रान्ति

भारत की जितनी भी वर्तमान वस्तुएँ है उनमे अधिकतर बातें हमने या तो अँग्रेजो से अथवा विदेशियो से अपनाई है। इसी प्रकार शायद यह भी सोचा जा सकता है कि आज जो अनेक बैंक भारत म है उनका उद्गम भी अँग्रेजी शासन का प्रतीक है। भारत मे पहले बैंकिग प्रणाली न हो, वास्तव म ऐसी बात नही है, हा बैंकिग व्यापार के ढग जरूर विदेशियों की देखा देखी अपनाये गये है और वे है भी उपयोगी।

गत अनेक शताब्दियों से भारत मे किसी न किसी रूप मे बैंकिग रहा है, इसके अनेक प्रमाण है। उदाहरण के लिए चार्वाक् का 'ऋण कृत्वाघृत पिवेत्'— यह श्लोकार्द्ध स्पष्ट बतलाता है कि भारत मे ऋण दिये जाते थे। इसी प्रकार द्यूतक्रीडा के समय ऋण का आदान-प्रदान होता था, इसके उदाहरण भी महाभारतादि म उपलब्ध है। बारहवी शताब्दी मे जैनो द्वारा बैंकिग का कार्य किया जाता था। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आबू पर्वत पर स्थित और ११९७-१२४७ ई० के बीच बनवाया हुआ दिलवारा देवालय है। तेरहवी शताब्दी मे ट्रेवर्नियर नामक फ्रासीसी यात्री भारत के विषय म लिखता है कि बहुधा प्रत्येक देहात म एक मुद्रा-परिवर्तनकर्ता रहता था, जिसे सर्राफ कहते थ और ये सर्राफ बैंकों का कार्य भी करते थे अर्थात् मुद्राओ का स्थानान्तरण, बिल देना इत्यादि। य लोग ज्यू जाति स—जो इसी काल मे बैंकिग का कुछ कार्य करते थे—भी बढे-चढे थ। बैंकिग की पर्याप्त विकास मनुस्मृति से पहले भी हो चुका था, ऐसा स्पष्ट है। क्योंकि मनुस्मृति मे स्मृतिकार 'रहन तथा निक्षेप' के विषय

पर लिखता है, "एक मुज्ञ व्यक्ति को अपना धन ऐसे व्यक्ति के पास निक्षेप रखना चाहिए जो कुलीन, सच्चरित्र, विधान का जानने वाला, माननीय एव धनी हो।" कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे बैंकिंग पद्धति का उल्लेख मिलता है किन्तु उस काल मे बैंको के कार्य निक्षेप को लेने एव ऋण देने तक ही सीमित थे। हुण्डिया के चलन का उल्लेख भी बहुत प्राचीन काल से हमारे साहित्य मे मिलता है, फिर भी अँग्रेजी पद्धति पर बैंकिंग-सगठन का विकास अँग्रेजो के आगमन के बाद ही हुआ।

बैंक की परिभाषा

हमने देखा कि आधुनिक बैंक निक्षेप स्वीकार करता है, दूसरो से ऋण लेता है तथा दूसरो को ऋण देता है। साथ ही अपने ग्राहको को अनेक प्रकार की सुविधाएँ देते हैं—जैसे उनके आभूषण आदि की सुरक्षा, चैको का सग्रहण (collection), बीमे की किश्त भेजना, गुप्त रूप से किसी भी ग्राहक के आर्थिक स्थिति की जानकारी लेना, देना आदि। इन विविध प्रकार के कार्यों को करने वाली सस्था अर्थात् बैंक की ठीक-ठीक परिभाषा करना एक कठिन तथा महत्वपूर्ण समस्या है, क्योकि भिन्न-भिन्न लेखको ने बैंक की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी है।

बैंक शब्द का अर्थ—'अपने ग्राहको से अथवा ग्राहको द्वारा प्राप्त मुद्राओ की सुरक्षा करने वाली सस्था। इसका महत्वपूर्ण कार्य उसके ऊपर लिखे गये ड्राफ्टो (drafts) का भुगतान करना उनका जो पैसा निरुपयोगी रह जाता है, उसके उपयोग से उसे लाभ होता है।'[1] इस अर्थ से हम केवल यह समझते है कि बैंक निक्षेप स्वीकार करते है जिनका भुगतान उन्हे ग्राहको से ड्राफ्टो द्वारा माँग होने पर करना पडता है। १७७२ तक बैंक की कोई भी वैधानिक परिभाषा न थी। इङ्गलैंड के विनिमय पत्र विधान १८८२ (Bills of Exchange Act, 1882), मे सबसे पहले बैंक की परिभाषा की गई जिसके अनुसार "बैंकर के अन्तर्गत कोई भी व्यक्तियो का समूह जो बैंकिंग व्यापार करता है—फिर चाहे सम्मिलित (incorporated) हो अथवा नही—आता है"[2]। लेकिन इस परिभाषा मे न तो इसका उल्लेख है और न ही स्पष्टीकरण है कि बैंकिंग क्या है अथवा बैंकिंग-व्यापार किसे कहा जा सकता है। अत यह परिभाषा ठीक नही कही जा सकती।

सयुक्त राष्ट्र मे बैंक शब्द का प्रयोग शिथिल रूप मे किया जाता है,

---

[1] *A Shorter Oxford English Dictionary*
[2] *The Bills of Exchange Act, 1882*

जिसके अन्तगत उन सब कार्यों का समावेश होता है जिन्हे बक सामान्यत करते है। संयुक्त राष्ट का परिभाषा के अनुसार कोई भी संस्था जो साख का व्यवहार करता है बक है। साख क्या है इसका स्पष्टीकरण उनके विधान म किया गया है वक के अन्तगत प्रत्येक व्यक्ति फम एव कम्पनी का समावेश होता है जहा निक्षप अथवा मुद्रा संग्रहण द्वारा साख खोली जाती है एव जिसका भुगतान ड्राफ्ट चक अथवा आदेश द्वारा होता है अथवा माल आदि की जमानत पर मुद्राए अथवा ऋण दिय जाते है तथा जिसका व्यापारिक स्थान होता है।[1]

इस परिभाषा म बकों के प्रमुख काय स्पष्ट होते है—(१) उन्हे निक्षेप स्वीकृत करना चाहिए जिनका चक आदि द्वारा माग पर भुगतान हो। (२) उसका साख म व्यवहार होना चाहिए। किन्तु इस परिभाषा मे जब तक साख क्या है? इसका स्पष्टीकरण नही होता तब बको के कार्यों का पूर्ण ज्ञान नही हो सकता। बक की परिभाषा डा० हार्ट न इस प्रकार की है बकर वह है जो अपने सामान्य व्यवहारो म उस पर लिखे हुए उन चको का भुगतान करता है जिनके द्वारा वह चल-लेखा (current account) पर मुद्राए (धन) प्राप्त करता है। यह परिभाषा भी अपूर्ण है क्योकि बकर केवल उन्हा लोगो के चको का भुगतान नही करता जिनके केवल चल निक्षेप (current deposits) उसके पास है बल्कि इसके अतिरिक्त अनेक काय करता है जिनका समावेश इसमे नही होता। फिर भी जहा तक बक के मुख्य काय का सम्बन्ध है—निक्षप स्वीकार करना एव उनका माग पर भुगतान करना उसका समावेश इस परिभाषा म होता है। इसलिए यह परिभाषा कोई भी वधानिक आधार न होते हुए भी सवमान्य है। क्योकि सर जान पगट के अनुसार कोई व्यक्ति अथवा संस्था चाहे वह समामेलित हो अथवा नही बकर नहीं कही जा सकता जो निक्षप-लेखे स्वीकार नही करती जो चल लेखे नही लेता और अपने ग्राहको के चको का भुगतान एव सग्रहण नही करती चाहे वे रेखाकित (crossed) हो या अनारेखित (uncrossed) हो। इन परिभाषाओ से स्पष्ट है कि कोई भी संस्था जब तक कि जनता म निक्षप स्वीकार न करे एव उनका भुगतान चक ड्राफ्ट अथवा आदेश द्वारा न करे तब तक उसे बक नही कहा जा सकता। जहा तक ऋण देने का सम्बन्ध है कोई भी व्यक्ति एव संस्था अथवा बिना क दलाल अथवा ऋण दाता यह काय करते है। इसलिए निक्षपो का स्वीकार

1 *A Text Book of Intermediate Banking* by R V Rao

करना एवं उनका चैकों अथवा अन्य प्रकार से भुगतान करना, यह बैंक का प्रमुख कार्य है।

इसी महत्वपूर्ण कार्य को देखकर भारतीय कम्पनी अधिनियम, १९३६ में बैंक की परिभाषा की गई है। इस विधान के अनुसार 'बैंकिंग कम्पनी वह है जिसका प्रमुख व्यापार चल अथवा अन्य लेखों पर एसे निक्षेपों का स्वीकार करना है जो चैक, ड्राफ्ट अथवा आदेश द्वारा निकाले जा सकें।' इसमें यह भी उल्लेख है कि इस परिभाषा के लिए उसके अन्य कार्यों का किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, जो बैंक अपने दैनिक व्यवहारों में करते हैं। इस परिभाषा के अनुसार हम उन संस्थाओं को बैंक नहीं कह सकते जो 'बैंक', बैंकर अथवा बैंकिंग कम्पनी' आदि शब्दों का उपयोग अपने नाम के साथ करती हों और इस विधान के पास होने के पूर्व कार्य कर रही थीं। ऐसी संस्थाओं द्वारा अपने लिए बैंक, बैंकर अथवा बैंकिंग कम्पनी शब्द के प्रयोग करने पर बैंकिंग कम्पनी अधिनियम, १९४९ के अनुसार रोक लगा दी गई है। इस नये विधान में बैंक की परिभाषा भी पुनः बनाई गई है जिसमें ऐसी संस्थाएँ जो माँग पर भुगतान होने वाले निक्षेप न लेती हों, अपने नाम के साथ 'बैंक, बैंकर अथवा बैंकिंग कम्पनी' आदि शब्दों का उपयोग नहीं कर सकती। इस परिभाषा के अनुसार 'ऋण देने अथवा विनियोग के लिए जनता से मुद्रा निक्षेप की स्वीकृति करना जो माँग पर अथवा अन्य प्रकार से वापिस ली जा सकें, तथा चैक, ड्राफ्ट, आदेश अथवा अन्य प्रकार से निकाली जा सकें।'[1] यह बैंकिंग की परिभाषा की गई, और केवल इन कार्यों को करने वाली संस्था ही 'बैंक', 'बैंकर' तथा 'बैंकिंग कम्पनी' शब्दों का प्रयोग अपने नाम के साथ कर सकती है।

इन परिभाषाओं में निम्न कार्य करने वाली संस्था को ही बैंक कह सकते हैं —

जनता से निक्षेपों की स्वीकृति कर जिनका भुगतान चैक, ड्राफ्ट अथवा आदेश द्वारा किया जाय। अर्थात् कोई भी संस्था निक्षेपों की स्वीकृति करते हुए भी अगर उनका भुगतान चैक आदि से न करे तो वह बैंक नहीं है। इसी प्रकार कोई भी संस्था जो निक्षेप स्वीकार नहीं करती किन्तु चैक आदि द्वारा

---

[1] 'Banking" has been defined as "the accepting for the purpose of lending or investment, of deposits of money from the public repayable on demand or otherwise, and withdrawable by cheque, draft, order or otherwise" (*Indian Banking Companies Act, 1949*)

पैसे देती है तो वह भी बैंक नही है। इस प्रकार **निक्षेपो को स्वीकृति एव चैक आदि-द्वारा उनका भुगतान** बैंक का प्रमुख कार्य है। इस कार्य के साथ बैंक मुद्रा एव साख सम्बन्धी अन्य व्यवहार करने म पूर्ण स्वतन्त्र है। परन्तु बैंको पर ऐसे कुछ कार्यो के सम्बन्ध मे, जो बैंकिग व्यवसाय की दृष्टि से खतरनाक है, उनके करने पर रोक लगा दी गई है।

बैंको का वर्गीकरण

वर्तमान आर्थिक विश्व म बैंक भिन्न भिन्न प्रकार के कार्य करते हैं और उन कार्यो के अनुसार उनका वर्गीकरण भी किया गया है। इन बैंको मे से कुछ बैंक किन्ही विशेष प्रकार के कार्य करते है तथा कुछ सामान्य काम करते है, जैसे वैयक्तिक बैंक अथवा बैंकिंग फर्म जो सामान्य बैंकिंग अर्थात् निक्षेप लेना, ऋण देना आदि कार्य करते हैं। इसके विपरीत कुछ बैंक ऐसे होते है जो विशेष प्रकार के ही कार्य करते है जैसे औद्योगिक बैंक, विनिमय बैंक आदि। विशेष क्रियाओ के अनुसार निम्न प्रकार के बैंक पाये जाते है —

(१) **औद्योगिक बैंक**—य बैंक उद्योगो का औद्योगिक विस्तार तथा स्थायी सम्पत्ति खरीदने के लिए दीर्घकालीन ऋण देते है। इसीलिए ये दीर्घकालीन अवधि के निक्षेप ही स्वीकार करते है। उद्योगो द्वारा चालू किये गय अशो एव ऋणपत्रो का अभिगोपन (underwriting) भी य बैंक करते हैं। भारत मे 'दी कनारा बैंकिंग एण्ड इण्डस्ट्रियल कॉरपोरेशन, उदीपी' यह कार्य करता है। इसके अतिरिक्त १९४७ म इण्डस्ट्रियल फाइनेन्स कॉरपोरेशन की स्थापना भी इसी उद्देश्य से की गई है।

(२) **विनियोग बैंक**—विनियोग बैंको का उद्देश्य नई-नई कम्पनियो के अश एव ऋणपत्र खरीदकर उनकी योजनाओ म आर्थिक सहायता देना होता है। भारत म इस कार्य के लिए इण्डस्ट्रियल क्रेडिट एण्ड इनवेस्टमेंट कारपोरेशन की स्थापना की गई है।

(३) **कृषि-बैंक**—कृषि बैंक कृषि कार्यो के लिए तथा भूमि के स्थायी सुधार के लिए दीर्घकालीन एव अल्पकालीन ऋण देते है। भारत मे भू रहन बैंकों को कृषि बैंक कहा जा सकता है।

(४) **विनिमय बैंक**—य विदशी व्यापार के लिए आर्थिक सुविधाएँ देते है तथा अन्तरराष्ट्रीय भुगतान को सुलभ बनाते है। इससे देश के अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का विकास होता है। यह कार्य व्यापारिक बैंक नही कर सकते क्योकि विनिमय दरो के उतार-चढाव का सदैव खतरा बना रहता है। अत इस कार्य

को ऐसे ही बैंक कर सकते है जिनका अन्तरराष्ट्रीय बैंकिंग क्षेत्र मे घनिष्ट सम्पर्क हो तथा विनिमय-दरो के परिवर्तनो का विशेष अनुभव एव ज्ञान हो।

(५) **भू-रहन बैंक**—ये कृषि भूमि की रहन पर स्थायी कृषि सुधारो के लिए तथा कृषको के पुराने ऋणो के भुगतान के लिए दीर्घकालीन ऋण देते है।

(६) **सहकारी बैंक**—ये सहकारिता सिद्धान्त अथवा परस्पर सहायता देने के सिद्धान्त पर निर्मित हुए है तथा जनता मे बचत की आदत डालने मे उपयोगी सिद्ध हुए हैं। भारत मे इनका प्रसार पजाब, उत्तर प्रदेश तथा मद्रास में विशेष उल्लेखनीय है। ये कृषि, घरलू-उद्योग आदि का अल्पकालीन एव मध्यकालीन अवधि के ऋण देते है।

(७) **देशी (Indegeneous) बैंकर**—ये आन्तरिक व्यापारिक आवश्यकताओ तथा कृषिक आवश्यकताओ के लिए ऋण देते है। इनका प्रसार भारत के देहातो मे बहुत अधिक है। विशेषत कृषक अपनी-अपनी आर्थिक आवश्यकताओ के लिए इन्ही पर निर्भर है।

(८) **बचत बैंक**—ये बैंक छोटी आय वाले व्यक्तियो मे बचत की आदत डालने के लिए छोटी-छोटी रकम निक्षेप के लिए स्वीकार करते है तथा उनकी सुरक्षा करते है, जैसे भारत मे डाकघर बचत बैंक।

(९) **केन्द्रीय बैंक**—*यह देश का प्रमुख बैंक होता है। यह देश के अन्य* बैंको का बैंकर, सरकार का आढतिया, मुद्रा एव साख का चलन एव नियन्त्रण कर देश की मुद्रा का आन्तरिक एव बाह्य मूल्य स्थिर रखता है। देश की बैंकिंग व्यवस्था के नियन्त्रण एव सुदृढ विकास की जिम्मेदारी भी इसी बैंक पर होती है जैसे भारत मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (१९३५)।

(१०) **व्यापारिक बैंक**—देश की बैंकिंग व्यवस्था मे इनका स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है और सभी देशो मे इस वर्ग के बैंक अधिक होते हैं। ये देश के व्यापारी वर्ग को अल्पकालीन आर्थिक सुविधाएँ तथा रकमो के स्थानान्तरण, भुगतान, सुरक्षा आदि की सुविधाएँ देते हैं। अत देश के आन्तरिक व्यापार के *विकास के लिए ये बैंक आधारशिला का कार्य करते है। इनमे से पाँच बड़े* बैंक निम्नलिखित है —

(१) सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया लि०, (२) बैंक ऑफ बडौदा लि०, (३) पजाब नेशनल बैंक लि०, (४) इलाहाबाद बैंक लि०, तथा (५) बैंक ऑफ इण्डिया लि०।

वैको के कार्य एव सेवाएँ

हम यह बता चुके है कि देश मे अधिकाश व्यापारिक बैंक होते हैं और ये महत्वपूर्ण भी है क्योनि इन्ही से देश के व्यापार एव उद्योग को चल-पूंजी प्राप्त होती है। अत जब भी 'बैंक' शब्द का प्रयोग होता है तब वह 'व्यापारिक बैंक' के अर्थ मे ही किया जाता है। व्यापारिक बैंक निम्न कार्य करते है —

(१) जनता मे निक्षेप अथवा जमा-राशि स्वीकार करना अथवा अन्य किन्ही स्रोतो से ऋण देना-लेना, जैसे अश पूंजी या ऋणपत्रो के प्रचलन से।

(२) ग्राहको के एजेण्ट का कार्य करना।

(३) सामान्य उपयुक्त सेवाएँ।

(१) **ऋण लेना तथा ऋण देना**—यह बैंको का प्रमुख कार्य है। ऋण लेने का कार्य बैंक दो मार्गो से करता है, एक तो अश पूंजी (share capital) द्वारा, तथा दूसरे निक्षेप की स्वीकृति द्वारा। निक्षप तीन प्रकार के होते हैं—(१) बचत निक्षेप (deposits), (२) स्थायी निक्षेप (fixed deposits), तथा (३) चल निक्षेप (current deposits)। इन तीन प्रकार के निक्षपो मे से चल-निक्षेपो को अमेरिका म माग देनदारी तथा बचत (सचय) एव स्थायी निक्षपो को समय देनदारी (time liabilities) कहते है। इन शब्दो का प्रयोग आजकल इसी अर्थ मे किया जाता है। इसके अतिरिक्त एक बैंक दूसरी बैंक से ऋण लेकर भी रकम खडी कर सकता है।

ऋण दने का कार्य भी महत्वपूण है। बैंक तीन प्रकार से ऋण देते है—(१) ऋण लेने वाले की वैयक्तिक जमानत पर, (२) ऋण लेन वाले की वैयक्तिक जमानत के अतिरिक्त दो अन्य व्यक्तियो की जमानत पर, तथा (३) प्रतिभूतियाँ, अश, स्कन्ध आदि के रहन पर। इसके अतिरिक्त बैंक अपने विशेष ग्राहक को रोक-ऋण (cash credit), ओवर ड्राफ्ट (overdraft) की सुविधाएँ भी देते है तथा विनिमय बिला के वट्टे की सुविधाओं द्वारा व्यापारियो को ऋण लेना सुलभ करते है। इस प्रकार बैंको के मुख्य निम्न कार्य है —

(अ) निक्षेपो की स्वीकृति,
(आ) ऋण देना,
(इ) *विनिमय बिलो का अपहरण (discounting) तथा*
(ई) पत्र मुद्रा चलाना (आजकल यह अधिकार केवल केन्द्रीय बैंक को ही होता है)।

(२) **एजेंसी कार्य**—एजट का कार्य करते समय बैंक को ग्राहक की लिखित

अनुमति प्राप्त होनी चाहिए, तभी वह कार्य कर सकता है, क्योंकि उसके द्वारा एजेंट के रूप में किये हुए कार्य ग्राहक को बाध्य होकर स्वीकार करने पड़ते हैं। एजेंसी-कार्य निम्न हैं—

(अ) चैकों का संग्रह एवं भुगतान करना—ग्राहक जो चैक उसके लेने के विरुद्ध बैंक पर लिखे, उनका भुगतान करना। उसमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं है, इसकी सावधानी रखना तथा ग्राहक को, जो दूसरों से चैक मिलते हैं, उनको सम्बन्धित बैंकों से भुनवाना।

(आ) बिल प्रतिज्ञा-पत्र, लाभांश आदि संग्रह करना—बैंक के ग्राहकों को जो बिल, प्रतिज्ञा-पत्र, लाभांश आदि अन्य व्यक्तियों, फर्मों या कम्पनियों से लेने होते हैं, उनका रुपया ग्राहक की ओर से सम्बन्धित बैंकों अथवा कम्पनियों से लेना।

(इ) बीमे की किश्तों आदि का भुगतान—ग्राहक की ओर से जो बीमे की किश्तें आदि नियमित रूप से देनी पड़ती हैं, उनका भुगतान ग्राहक की ओर से करना।

(ई) ट्रस्टी—एक्सीक्यूशनर (executioner), व्यवस्थापक आदि कार्यों को करने के लिए ग्राहक की जगह प्रतिनिधित्व करना।

(उ) प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय—ग्राहक की ओर से उसके लिए अंश, सिक्योरिटी आदि का क्रय-विक्रय करना तथा ग्राहक की ओर से इस सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार करना।

(३) सामान्य सेवाएँ—उक्त कार्यों के अतिरिक्त बैंक ग्राहकों को विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ देता है। इन सेवाओं से आकर्षित होकर उसकी ग्राहक-संख्या तथा निक्षेप (deposit) में वृद्धि होती है। ये सुविधाएँ निम्न हैं—

(अ) मुद्रा का स्थानान्तरण—डाक अथवा अन्य मार्गों से रकम भेजने की अपेक्षा बैंकों द्वारा एक शहर से दूसरे शहर को पैसा भेजने में कम खर्च होता है। अतः इस प्रकार की सुविधाएँ बैंक अपने ग्राहकों को देते हैं। उदाहरणार्थ मुझे २००) रुपये बम्बई भेजने की आवश्यकता है और मेरा खाता सेंट्रल बैंक में है। इस दशा में अगर मैं २००) रु० मनीआर्डर या बीमा-डाक से भेजता हूँ तो मेरा लगभग ३ रु० तथा १=) लगेंगे। यही अगर मैं सेंट्रल बैंक द्वारा भेजता हूँ तो सैन्ट्रल बैंक मुझे उस व्यक्ति के नाम एक ड्राफ्ट अपनी बम्बई स्थित शाखा पर देगा और इसके बदले मुझसे केवल ५० नये पैसे कमीशन लेगा। इस प्रकार से रुपया भेजकर मैं खर्च से बचत कर सकता हूँ।

(आ) साख पत्र, परिपत्र आदि देना—बैंको की विभिन्न स्थानो पर शाखाएँ तथा एजंट होने के कारण वे अपने विशेष ग्राहको को रकम प्राप्त करने के लिए साख-पत्र आदि देते है, जिसके आधार पर वे किसी भी स्थान पर आवश्यक रकम प्राप्त कर सकते है। इसी प्रकार परिपत्र भी दिये जाते है। बैंक इस कार्य के लिए कमीशन लेते हैं। इस सुविधा से ग्राहक को अपने पास अधिक रुपया रखने की आवश्यकता नही होती।

(इ) विदेशी विनिमय प्राप्त करने की सुविधाएँ—विनिमय बैंको की शाखाएँ ऐसे देशो म अधिकाशत होती है जहाँ का व्यापारिक सम्बन्ध उस देश से घनिष्ट होता है। इस कारण वे ग्राहको को विदेशी विनिमय की सुविधाएँ भी देते हैं।

(ई) जवाहरात, स्वर्ण आदि की सुरक्षा—बैंक अपने यहाँ ग्राहको के गहने, आभूषण मूल्यवान कागज आदि रखने की सुविधा देते है जिससे चोरो आदि से उनकी रक्षा हो सके। ये सेवाएँ कई बैंक नि शुल्क करते हैं तथा कुछ इन सेवाओ के बदले ग्राहक से शुल्क लेते है। सर जॉन पेगिट के अनुसार बैंक को ये सेवाएँ नि शुल्क देनी चाहिए। भारत म ऐसी सभी सुविधाओ के लिए बैंक कमीशन लेते है।

(उ) बिलो की स्वीकृति—बैंक अपने ग्राहको पर लिखे हुए बिलो को स्वीकार करते है, जिनके लिए वे कमीशन लेते है। ऐसे बिल केवल कुछ माननीय एव विश्वसनीय ग्राहको की ओर से ही बैंक स्वीकार करता है जिससे आहर्ता (drawer) को उन बिलो के बारे मे पूर्ण विश्वास हो जाता है। यह प्रथा हमारे देश मे प्रचलित नही है किन्तु विदेशो मे इस प्रथा का पर्याप्त प्रचार है जहा इस कार्य के लिए विशेष सस्थाएँ 'स्वीकृति-गृह' नाम से है।

(ऊ) आर्थिक परिस्थिति की जानकारी देना—बैंक अपने ग्राहको को उनके भावी ग्राहको की आर्थिक स्थिति सम्बन्धी जानकारी प्राप्त कर उसकी सूचना देते हैं। अर्थात् जिनसे उनके ग्राहक व्यवहार करना चाहते है उनकी वास्तविक स्थिति कैसी है उनको साख दी जाय उसकी सीमा क्या हो आदि बतलाते है। इससे उनके ग्राहको को बडी सुविधा होती है।

बैंको की उपयोगिता

इस विवेचन से बैंको के कार्य तथा सेवाओ का महत्व स्पष्ट हो जाता है। "बैंक साख पत्रो का चलन नियन्त्रित एव सगठित करते है वे अग्रिम एव ऋण के रूप म बैंक निर्मित साख का नियमन करते है। ऋणदा पूंजी (Loanable Capital) को गति देते है तथा उसका वितरण एव सदुपयोग सम्भव करते

है। वे चलन की जब और जहाँ आवश्यकता होती है वहा राशि स्थानान्तरण द्वारा नियोजित करते हैं तथा अधिक चलन के क्षेत्रों से दुर्लभ क्षेत्रों में मुद्रा-चलन का स्थानान्तरण करते हैं।"[1]

संक्षेप में बैंकों की निम्न उपयोगिताएँ हैं —

(१) देश के बिखरे हुए एवं निष्क्रिय धन को बैंक एकत्र करके उसे देश के औद्योगिक एवं व्यापारिक कार्यों में लगाते हैं।

(२) सुरक्षा के साधनों को प्रोत्साहित कर जनता में बचत की आदत का निर्माण करते हैं। इससे देश में पूंजी-निर्माण को प्रोत्साहन मिलता है।

(३) बैंक एजेन्सी एवं अन्य सेवाओं द्वारा व्यापारियों के समय की बचत करता है। उनके मूल्यवान आभूषण महत्वपूर्ण कागजों आदि की सुरक्षा द्वारा उनकी जोखिम कम करता है।

(४) ग्राहकों में ईमानदारी नियमितता तथा विश्वसनीयता का निर्माण कर उनकी साख बढ़ाता है।

(५) जिनके पास अधिक धन है परन्तु जो विनियोग नहीं कर सकते तथा जिनको धन या ऋण की आवश्यकता है, इन दोनों में मध्यस्थ का कार्य बैंक करते हैं।

(६) बैंकों से सुविधा एवं कम ब्याज पर ऋण मिलने के कारण देश का व्यापारिक एवं औद्योगिक विकास होता है।

(७) बैंक अपनी मौलिक सेवाओं द्वारा समाज में मुद्रा की आवश्यकता कम करते हैं तथा साख पत्रों के उपयोग को प्रोत्साहन देते हैं। इससे धन, समय एवं श्रम की बचत होती है।

(८) बैंक राजकीय अर्थ प्रबन्धन में भी सहायक होते हैं। क्योंकि सरकारी ऋणों का निर्गमन बैंकों के माध्यम से ही किया जाता है।

इन लाभों के कारण ही सुसंगठित एवं सुसंचालित बैंकिंग पद्धति प्रत्येक देश में आवश्यक है। इसीलिए समुचित एवं सन्तुलित आर्थिक विकास के हेतु आज की आर्थिक प्रणाली में बैंकों का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

साराश

बैंक शब्द की उत्पत्ति 'बैंको' शब्द से हुई, जिसका अर्थ है बैंच के आसपास बैठना। सर्राफ लोग बैंच के आसपास बैठकर मुद्राओं का विनिमय करते थे। इनकी साख के कारण जनता इनके पास धन भी जमा करने लगी,

---

[1] *Principles of Banking* by S E Thomas

जिसके बदले वे रसीद देते थे तथा उनसे शुल्क लेते थे। ये ऋण भी देते थे। आगे चलकर जनता की धरोहरें आकर्षित करने के लिए ये जनता की जमा रकमों पर ब्याज देने लगे। ब्याज देने की दर ब्याज लेने की दर से कम होती थी। यहाँ से निक्षेप बैंकिंग का आरम्भ हुआ।

क्रमशः सर्राफों की रसीदें उनकी साख के कारण उनके क्षेत्र में ऋणों के अथवा अन्य भुगतानों में स्वीकृत होने लगीं। इसीसे आगे बैंक पद्धति का आरम्भ हुआ।

भारत में बैंकिंग प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान थी जिसके प्रमाण प्राचीन ग्रन्थों में हैं। परन्तु आधुनिक पद्धति पर बैंकिंग का विकास अंग्रेजों के आगमन के बाद ही हुआ।

परिभाषा—बैंकों की अनेक परिभाषाएँ हैं। भारतीय बैंकिंग अधिनियम, १९४९ के अनुसार 'बैंक या बैंकिंग कम्पनी वह है जो उधार देने या विनियोग के लिए जनता से निक्षेप स्वीकार करे जो माँग पर या अन्य किसी प्रकार से तथा चैक, ड्राफ्ट या आदेश पर देय हो'। इस परिभाषा से बैंक निम्न कार्य करती है यह स्पष्ट होता है —

ऋण देना, विनियोग करना, जनता से निक्षेप स्वीकार करना जो माँग पर देय हों।

आधुनिक काल में बैंकों की क्रियाओं के अनुसार बैंकों का वर्गीकरण किया गया है जो निम्न है —

१ औद्योगिक बैंक—उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण देना।
२ विनियोग बैंक—ये नये नये औद्योगिक कम्पनियों के अंशों एवं ऋण-पत्रों की रसीद द्वारा औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन देते हैं।
३ कृषि बैंक—कृषि के स्थायी सुधार के लिए दीर्घ कालीन ऋण देते हैं।
४ विनिमय बैंक—विदेशी व्यापार को आर्थिक सुविधाएँ देते हैं।
५ भूमि बंधक बैंक—कृषि भूमि को रहन पर कृषि के स्थायी सुधारों के लिए ऋण देते हैं।
६ सहकारी बैंक—परस्पर सहायता सिद्धान्त के आधार पर सदस्यों में बचत की आदत निर्माण करना एवं उन्हें आर्थिक सुविधाएँ देना इनका उद्देश्य है।
७ देशी बैंक—आन्तरिक व्यापारिक आवश्यकताओं के लिए आर्थिक सुविधाएँ देते हैं। ये भारत में ही पाये जाते हैं।

८ बचत बैंक—ये जनता मे बचत की आदत डालने के लिए छोटी रकमों की जमा स्वीकार करते हैं।

९ केन्द्रीय बैंक—ये देश का प्रमुख बैंक होने के साथ ही सरकार एव बैंको का बैंकर होता है।

१० व्यापारिक बैंक—देश के आन्तरिक व्यापार को अल्पकालीन आर्थिक सुविधाएँ देते हैं। साधारणत इसी प्रकार के बैंक अधिक सख्या मे हैं।

बैंको के कार्य एव सेवाएँ—१ जनता से जमाराशि स्वीकार करना, २ ऋणो का लेन-देन, ३ बिलो का अपहरण करना, ४ पत्र मुद्रा चलाना, ५ ग्राहको के एजेन्ट का कार्य करना, तथा ६ सामान्य उपयुक्त सेवाएँ देना।

बैंको की उपयोगिता—१ देश के बिखरे धन को एकत्रित कर व्यापार एव उद्योगो मे विनियोजित करना,

२ जनता मे बचत की आदत डालना,

३ पूँजी निर्माण को प्रोत्साहन देना,

४ व्यापारियो आदि को समय की बचत एव सुरक्षा साधनों से जोखिम कम करना,

५ ग्राहको की साख बढाना,

६ धन एव साहस को सम्बन्धित करना,

७ व्यापार एव उद्योग के विकास को प्रोत्साहन,

८ मुद्रा की आवश्यकता कम कर साख साधनों को प्रोत्साहन देना,

९ राजकीय अर्थ-प्रबन्धन मे सहायक होना।

अध्याय २

बैंकिंग का स्वरूप

बैंक के कार्यों में बैंकों को हम दो वर्गों मे विभाजित कर सकते है—(१) विनियोग (investment) बैंकिंग तथा (२) व्यापारिक बैंकिंग। विनियोग बैंक विशेषत उत्पादन कार्य के लिए दीर्घकालीन ऋण देते हैं तथा उनके निक्षेप भी दीर्घकालीन होते है। इसके विपरीत व्यापारिक बैंक उत्पादन कार्यों के लिए अल्पकालीन ऋण देते है तथा उनके निक्षेप (deposits) भी अल्पकालीन होते हैं।

इस दृष्टि से व्यापारिक बैंकिंग का स्वरूप देखने से यह स्पष्ट होगा कि किसी भी बैंक मे जनता का विश्वास होना आवश्यक है। इस विश्वास के साथ ही बैंक को लाभ भी होना चाहिए, क्योकि अगर वह लाभ नही कमाता तो उसको शीघ्र ही अपने दरवाजे बन्द करने पडगे। अत विश्वास को कायम रखने के लिए बैंको को लाभ की अपेक्षा सेवाओ की तत्परता पर अधिक ध्यान होता है। इस दृष्टि से अन्य व्यापारो की अपेक्षा बैंकिंग व्यापार मे अधिक सावधानी की आवश्यकता है, क्योकि जनता का विश्वास डगमगाते ही निक्षेप निकालना आरम्भ हो जाता है और ऐसी अवस्था मे सुव्यवस्थित एव सुसचालित बैंको को भी अपने दरवाजे बन्द करने पडते है। जनता मे बचत की आदत डालने के साथ ही ईमानदारी, विश्वास एव नैतिक स्तर के निर्माण की ओर बैंक को अधिक ध्यान देना पडता है। इस दृष्टि से निक्षेप के रूप मे लिया हुआ ऋण अच्छे प्रकार से विनियोग मे लगाना उसका पहला ध्येय होना चाहिए। अत लाभ की अपेक्षा वित्त की सुरक्षा का ध्यान रखना तथा सेवाएँ देना बैंकिंग का पहला मूलसिद्धान्त है।

धन की सुरक्षा को ध्यान मे रखते हुए अल्पकालीन ऋणो की अपेक्षा दीर्घकालीन ऋण देना अपने व्यापार को खतरे मे डालने का चिह्न है। अत बैंक को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसके विनियोग एव ऋण ऐसे हो जो किसी भी समय मुद्रा मे परिवर्तित हो सके। इस दृष्टि से अपने देय (liabilities) को ध्यान मे रखते हुए उसे अपने विनियोग एव सम्पत्ति मे तरलता रखनी आवश्यक होती है।

इस व्यापार में यशस्वी होने के लिए बैंक-व्यवस्थापक एवं सचालको को अच्छा ज्ञान, अनुभव एवं न्याय की दृष्टि होनी चाहिए, जिससे वे जनता के विश्वास को सम्पादन करने के साथ ही अपनी आर्थिक स्थिति को मजबूत रख सकें। इसी दृष्टि से बैंको को अधिक लाभ कमाने की अपेक्षा अधिक सेवा देने की दृष्टि तथा अपने वित्त की सुरक्षा को सदैव ध्यान म रखना पड़ता है।

साराश मे बैंक का व्यापार जनता के विश्वास पर निर्भर रहता है, इसलिए उसे अपनी व्यापार की ख्याति बनाये रखने के लिए तीन सिद्धान्तो पर काम करना पड़ता है —

(१) लाभ की अपेक्षा जनता को अधिकाधिक सेवाएँ देना।

(२) सम्पत्ति की तरलता।

(३) आर्थिक स्थिति मजबूत रखने के लिए निधि की समुचित व्यवस्था एव सुरक्षा।

एकक बैंकिंग तथा शाख बैंकिंग

बैंकिंग के भिन्न प्रकारो मे स्पष्ट है कि इस व्यापार मे भी श्रम-विभाजन पूर्ण रूप मे है। किन्तु आजकल बैंकिंग व्यापार मे केन्द्रीकरण की अधिक प्रवृत्ति बढ गई है। अर्थात् बैंक केवल एक प्रमुख कार्यालय रखते हुए अपनी शाखाएँ विभिन्न स्थानो मे रखते हैं जिससे व्यवस्था का केन्द्रीकरण होने के साथ ही व्यवस्था-व्यय कम तथा कार्य-क्षमता की वृद्धि होती है। आजकल बैंकिंग नीति का निर्धारण विशेषतः केन्द्रीय बैंक करते है जिससे देश के अन्य बैंक भी प्रभावित होते हैं क्योकि केन्द्रीय बैंक, बैंको का बैंकर होने के नाते, देश के अन्य बैंको को उसकी नीति का पालन करना पड़ता है। इस प्रकार विश्व मे बैंकिंग के दो प्रकार देखने को मिलते है —

(१) एकक बैंकिंग (Unit Banking), और

(२) शाख बैंकिंग (Branch Banking)।

एकक बैंकिंग का प्रचलन सयुक्त राष्ट्र मे अधिक है जहा पर प्रत्येक बैंक व्यवस्था आदि के बारे मे स्वतन्त्र है और उन सब पर वहाँ के केन्द्रीय बैंक की देख-रेख रहती है। अन्य देशो जैसे इगलैंड, दक्षिणी अफ्रीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, भारत मे शाख बैंकिंग ही हैं। इन दोनो मे कौन-सी पद्धति अच्छी है, यह विवादग्रस्त प्रश्न हो गया है।

शाख बैंकिंग के पक्ष मे—(१) धन का आवश्यकतानुसार वितरण—शाख बैंकिंग मे एक जगह का अधिक धन कम धन वाले स्थानो मे स्थानान्तरित

हो सकता है तथा मौसमी आवश्यकताओं के अनुसार धन का वितरण हो सकता है।

(२) **ब्याज दरों मे समानता**—देश मे एक ही बैंक की अनेक शाखाएँ होने के कारण बैंकों के ब्याज की दर मे भिन्न स्थानों पर समानता रहती है जो एकक बैंकिंग मे सम्भव नही। क्योंकि उसमें समृद्ध तथा पुराने भागों मे ब्याज की दर कम एवं अविकसित एवं नये क्षेत्रों मे धन की औद्योगिक एवं आर्थिक आवश्यकताएँ अधिक होने से ब्याज दर अधिक रहती है।

(३) **हानि का समान वितरण**—शाखा बैंकिंग मे अधिक शाखाएँ होने के कारण हानि का समान वितरण सम्भव होने से बैंकों मे स्थायित्व रहता है, क्योंकि एक स्थान की हानि की पूर्ति दूसरी शाखाओं के लाभ से की जा सकती है। यह एकक बैंकिंग मे असम्भव है।

(४) **कार्य-क्षमता मे वृद्धि**—इसमे व्यवस्था का केन्द्रीकरण होने के कारण मुख्य कार्यालय से सब शाखाओं का सचालन होता है जिससे कार्य-क्षमता बढती है, आन्तरिक एवं विदेशी विनिमय व्यापार मे मितव्ययता होती है तथा अन्य नये-नये स्थानो पर शाखाएँ खोली जा सकती है। यह एकक बैंकिंग मे सम्भव नही है।

एकक बैंकिंग के पक्ष मे—उपर्युक्त लाभ सैद्धान्तिक दृष्टि से तो ठीक है परन्तु उनमे से कुछ व्यावहारिक नहीं है। जैसे, जिन स्थानों मे बैंकों की सुविधाएँ नही हैं वहां भी शाखा खोलना, भिन्न-भिन्न स्थानो के ब्याज-दर मे समानता रहना आदि अन्य लाभ एकक बैंकिंग मे भी हैं। शाखा बैंकिंग मे अनेक त्रुटियाँ है जो एकक बैंकिंग मे नहीं हैं। एकक बैंकिंग के समर्थकों के अनुसार,

(१) **कार्यक्षमता मे हानि**—शाखा बैंकिंग मे प्रत्येक शाखा के व्यवस्थापक का स्थानान्तरण होता रहता है जिसमें वह एक क्षेत्र की परिस्थिति का पूर्णत अध्ययन नही कर पाता और आवश्यकतानुसार सुविधाएँ नही दे सकता।

(२) **समय की हानि**—उसे प्रमुख कार्यालय पर निर्भर रहना पडता है जिससे समय की हानि होती है, जो एकक बैंकिंग मे नही होती।

(३) **एकाधिकार**—बैंकिंग का केन्द्रीकरण होने से देश की आर्थिक स्थिति कुछ व्यक्ति विशेषों के एकाधिकार मे चली जाती है जो देश की आर्थिक दृष्टि से खतरनाक होती है। इसकी सम्भावना एकक बैंकिंग मे किंचित भी नहीं है।

किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से एकक बैंकिंग अयशस्वी हुआ है। अमेरिका के एकक बैंकिंग के इतिहास मे सबसे बडा बैंक-सकट १९२९—१९३३ का था। इसी

अवधि मे इगलैंड मे शाख बैंकिग होने से वहाँ का बैंकिंग-व्यापार प्रभावित नही हुआ। यही बात भारत के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। भारत के विभाजन के कारण जो उपद्रव एव हानि देश को हुई उन खतरो से पजाब नेशनल बैंक और सेट्रल बैंक आदि को हानि होते हुए भी उन्होने अपना अस्तित्व टिकाये रखा क्योकि उनकी सम्पत्ति एव विनियोग देश के अन्य भागो मे फैले हुए थे। परन्तु कुछ अन्य बैंको का व्यवसाय केवल पूर्वी बगाल एव पश्चिमी पजाब मे केन्द्रित था जिन्हे बचाने के लिए रिजर्व बैंक एव भारत सरकार को विशेष सहायता देनी पडी, जैसे ट्रेडर्स बैंक, न्यू बैंक ऑफ इण्डिया आदि। इसलिए देश की आर्थिक स्थिरता की दृष्टि से शाख बैंकिग ही अधिक उपयोगी है। लेकिन कुछ व्यक्ति विशेषो के हाथ म बैंकिंग-व्यापार का केन्द्रीकरण न हो सके, इस ओर अवश्य ध्यान रखना चाहिए। साथ ही शाख बैंकिग मे अच्छे एव योग्य व्यक्तियो द्वारा कार्यक्षम बैंकिंग का अवलम्ब होता है एव व्यापारिक बहु-प्रमाण उत्पादन को देखते हुए शाख बैंकिग का विकास होना ही उचित है। इससे देश के विभिन्न भागो को बैंकिग सुविधाएँ मिलकर सन्तुलित आर्थिक एव औद्योगिक विकास हो सकेगा और विनियोग के लिए नये-नये स्रोतो का उद्गम होगा।

मिश्रित बैंकिग (Mixed Banking)—*व्यापारिक बैंकिंग के साथ ही* जब बैंक विनियोग बैंक के भी काय करते है उस समय उसे मिश्रित बैंकिंग कहते है। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद मदी आने से व्यापारिक बैंको के अल्प-कालीन विनियोग के स्रोत सूख गये, इस कारण उनको व्यापारिक बैंकिंग के सिद्धान्तो का कडाई से पालन करना असम्भव हो गया और वे अपनी राशि का विनियोग व्यापार एव उद्योगो को दीर्घकालीन ऋण देने मे भी करने लगे। इतना ही नही, प्रत्युत व्यापारिक बैंक अधिक राशि म विनियोग कार्यो के लिए उद्योगो एव व्यापारो को ऋण देने लगे। चूकि व्यापारिक बैंक उद्योगो को दीर्घकालीन ऋण देकर औद्योगिक विकास म सहायता देने लगे, इसलिए इस पद्धति को हम न तो शुद्ध रूप से व्यापारिक बैंकिग कह सकते है और न विनियोग बैंकिंग ही। इसीलिए इस पद्धति को *मिश्रित बैंकिंग* कहते है। इस पद्धति से डेन्मार्क, स्विट्जरलैंड, जर्मनी आदि देशो म अच्छे परिणाम हुए। क्योकि उद्योगपति बैंको से अपने सामान्य सम्बन्ध रखने के कारण देश के विनियोग व्यापार की नाडी पहिचान सकता है। बैंक अपना व्यवसाय भली-भाँति जानते हैं और इस अनुभव के कारण व अपने उद्योगपति ग्राहक को औद्योगिक विकास के लिए पूँजी प्राप्त कराने मे अधिक सहायक होते हैं।

"वे ग्राहक को विनियोग-बाजार की स्थिति की जानकारी देकर अशो एव ऋण-पत्रो का चलन कब किया जाय, इस सम्बन्ध मे सलाह देते है। इसी प्रकार जब उद्योगपति द्वारा एसे अशो एव ऋणपत्रो का चलन किया जाता है, उस समय विनियोग-बाजार पर अपने प्रभाव के कारण उन्हे जल्द बिकवाते है।"[1]

परन्तु यह पद्धति खतरे से खाली नही है और ऐसे खतरे विशेष रूप से आर्थिक मदी के समय बैक के कलेवर को डाँवाडोल कर सकते हैं, क्योकि (१) आर्थिक मदी के समय प्रतिभूतियो का अवमूल्यन होता है जिससे बैको की सम्पत्ति घट जाती है, और (२) बैंक अपनी दीर्घकालीन ऋण नीति के कारण कभी-कभी सुरक्षा की ओर की ओर ध्यान न देते हुए अधिक दीर्घकालीन ऋण देकर अथवा औद्योगिक प्रतिभूतियाँ खरीदकर खतरे को निमन्त्रण देते हैं। क्योकि अल्पकालीन निक्षेपो के आधार पर दीर्घकालीन साख देना व्यापारिक बैंकिंग के सिद्धान्तो के विपरीत है इसीलिए भारत मे बैंकिंग अधिनियम, १९४९ की धारा के अनुसार मिश्रित बैंकिंग नही अपनाया जा सकता।

भारत मे शाख बैंकिंग—भारत म बैंको का विकास इसी पद्धति पर हुआ है। परन्तु फिर भी भारत म बैंको की वर्तमान शाखाएँ हमारी जनसख्या की दृष्टि से बहुत ही कम है। विशेष रूप से १९३९ के विश्व-युद्ध के कारण भारत मे अनेक बैंको की स्थापना हुई और पुराने बैको ने अपनी शाखाओ का विस्तार भी किया। परन्तु यह विस्तार अव्यवस्थित ढग से होता गया। भारत मे बैंकिंग-विकास के सम्बन्ध मे रिजर्व बैंक के भूतपूर्व गवर्नर सर जेम्स टेलर ने कहा था कि "भारत मे शाख बैंकिंग का विकास हो रहा है परन्तु समूचे देश मे सयुक्त स्कन्ध बैंको का जाल फैलने के लिए इस दिशा मे अधिक प्रगति होना आवश्यक है।" इसके बाद १९३९ से बैंको का विस्तार द्रुत गति से होता गया, जिससे १ मार्च १९४७ के अन्त म सूची-बद्ध बैको की सख्या ९३ एव उनकी शाखाएँ ३५७३ तथा सूची-बद्ध एव असूची-बद्ध बैंको के कार्यालयो की सख्या १८०० (१९३९) मे ६००० हजार होगई। इस अनियन्त्रित विस्तार को रोकने के लिए १९४६ म बैंकिंग कम्पनी (शाखा-नियन्त्रण) अधिनियम बनाया गया, जिसके अनुसार शाखाएँ खोलने से पूर्व रिजर्व बैंक से अनुमति लेना आवश्यक हो गया। इस नियन्त्रण का समावेश बैंकिंग कम्पनी अधिनियम १९४९ मे हो गया है। इस कारण तथा युद्ध के बाद आर्थिक मन्दी से रक्षा

---

[1] Dr Whale

करने के लिए बैंको ने अपनी शाखाओ को कम करना शुरू किया, जिससे उनका आर्थिक स्तर मजबूत हो सके। रिजर्व बैंक नई शाखाएँ खोलने की अनुमति दो बातो को देखकर ही देता है—

(१) *ऐसे स्थानो पर बैंको की शाखाएँ खोली जायें, जहाँ बैंकिग सुविधाओं का अभाव है अथवा जहा व सुविधाएँ काफी नही हैं।*

(२) जहाँ पर पर्याप्त बैंकिग सुविधाएँ है परन्तु सुसचालित एव बडा बैंक नही है, वहाँ रिजर्व बैंक केवल सुसचालित बैंको को शाखा खोलने के लिए अनुमति देता है, जिससे उस क्षेत्र म सुदृढ बैंकिग-विकास सम्भव हो।

इस प्रकार भविष्य म बैंको का जो शाख-विस्तार होगा वह देश की आवश्यकतानुसार होगा, जिससे देश के सभी क्षेत्रो का सन्तुलित आर्थिक विकास हो सकेगा।

सुसचालित बैंकिग की आवश्यकताएँ—बैंकिग का स्वरूप एव उसका आधुनिक आर्थिक ढाँचे मे जो महत्व है उसस स्पष्ट है कि देश म सुसचालित एव सुसगठित बैंकिग होना चाहिए। *अत* बैंको का अधिकार ऐसे व्यक्तियो के हाथ मे होना चाहिए जिनम इस व्यापार के लिए पर्याप्त योग्यता तथा सचाई हो। इसी के साथ, ऐसे लोगो को व्यापारिक क्षेत्र का भी अनुभव होना आवश्यक है जिससे वे जनता का विश्वास प्राप्त करने म सफल हो सकें। साथ ही *देश विदेश के बैंकिग विधान तथा अन्य व्यापारिक एव औद्योगिक विधानो* का ज्ञान भी होना आवश्यक है इसलिए सचालको की नियुक्ति केवल उनकी उपाधियो की दृष्टि स नही बल्कि उनकी सारासार विचारशक्ति तथा योग्यता के आधार पर होनी चाहिए। दूसरे देश की बैंकिग नीति व्यापार एव उद्योग-धन्धो की पोषक होनी चाहिए जिसस देश आर्थिक प्रगति कर सके। देश की बैंकिग प्रगति के लिए सरकारी नीति भी ऐसी होनी चाहिए जिसस बैंकिग का समुचित एव सुसचालित ढग पर विकास हो सके।

साराश

बैंकिग व्यवस्था को हम दो भागो मे बांट सकते हैं—विनियोग बैंकिग तथा व्यापारिक बैंकिग। विनियोग बैंकिग मे बैंक दीर्घकालीन साख देते हैं तथा उनके निक्षेप भी दीर्घकालीन होते हैं। व्यापारिक बैंक अल्पकालीन निक्षेप लेते हैं तथा अल्पकालीन ऋण देते हैं। इस दृष्टि से व्यापारिक बैंकिग का स्वरूप ऐसा हो जिसमे जनता का विश्वास होना चाहिए और साथ ही बैंक को लाभ भी। अत. इस विश्वास को कायम रखने के लिए बैंको को लाभ की

अपेक्षा सेवाओ पर अधिक ध्यान देना चाहिए। दूसरे, जनता मे बचत की आदत निर्माण करने के साथ ही ईमानदारी, विश्वास एव नैतिक स्तर निर्माण करने की ओर बैंक को अधिक ध्यान देना चाहिए। तीसरे, प्राप्त निक्षेपो को अच्छे एव सुरक्षित विनियोगो मे लगाना चाहिए। चौथे, अल्पकालीन ऋणो की अपेक्षा दीर्घकालीन ऋण देना व्यापार को खतरे मे डालने की निशानी है, यह बैंक को सदैव ध्यान मे रखना चाहिए। सुरक्षा के लिए उसे अपने विनियोग एव सम्पत्ति मे तरलता रखनी होती है। इस तरलता के साथ ही बैंक की आर्थिक स्थिति भी सुदृढ होनी चाहिए।

यद्यपि बैंकिंग मे श्रम विभाजन पूर्ण रूप से है फिर भी आजकल केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ गई है। इस प्रवृत्ति के अनुसार दो प्रकार की बैंकिंग पद्धति है—एकक बैंकिंग तथा शाख बैंकिंग। एकक बैंकिंग अमरीका मे अधिक है परन्तु इगलैण्ड, द० अफ्रीका, भारत आदि देशों मे शाख बैंकिंग ही है।

शाख बैंकिंग क पक्ष मे—१ क्षत्रीय एव मौसमी आवश्यकता के अनुसार धन का वितरण,

२ ब्याज दरो मे समानता,

३ हानि का समान वितरण, तथा

४ कार्यक्षमता मे वृद्धि एव मितव्ययिता।

एकक बैंकिंग के पक्ष मे—१ व्यवस्थापको के स्थानान्तरण से कार्यक्षमता मे हानि।

२ समय की हानि, तथा

३ एकाधिकार की त्रुटियाँ शाख बैंकिग मे हैं जो एकक बैंकिग मे नहीं हैं। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से एकक बैंकिंग असफल रहा है।

मिश्रित बैंकिंग—जब व्यापारिक बैंकिंग के साथ ही बैंक विनियोग बैंकिग क्रियाएँ करते है नव उसे मिश्रित बैंकिंग कहते है। इस पद्धति का विकास प्रथम विश्व युद्धोत्तर काल मे हुआ था, जबकि अल्पकालीन विनियोग के साधन सूख गये थे। किन्तु इस पद्धति मे खतरा है, क्योंकि—

१ आर्थिक मन्दी के समय प्रतिभूतियो का अवमूल्यन होने से बैंक की सम्पत्ति कम हो जाती है।

२ अल्पकालीन निक्षेपो के आधार पर दीर्घकालीन ऋण देना व्यापारिक बैंकिग के सिद्धान्तो के प्रतिकूल है। भारत मे इस पद्धति पर वैधानिक रोक है,

भारत मे शाख-बैंकिग ही प्रचलन मे है। यहां पर दूसरे युद्धकाल मे बैंकों की शाखाओ में तेजी से वृद्धि हुई जिसमे बैंकिंग का अव्यवस्थित विकास हुआ है। अत १९४६ मे एक अधिनियम द्वारा शाखाएँ खोलने के पूर्व सम्बन्धित बैंक को रिजर्व बैंक से पूर्व-अनुमति लेना आवश्यक हो गया। यह अनुमति दो शर्तों पर दी जाती है---

१ शाखाएँ वहीं खोली जायँ जहाँ बैंकिंग सुविधाएँ अपर्याप्त हों अथवा बिलकुल न हो।

२ जहाँ बैंकिंग सुविधाएँ हैं परन्तु अच्छी बंक नहीं हैं, वहाँ बडी बंक को शाखा खोलने की अनुमति मिल सकती है।

सुसचालित बैंकिंग के विकास के लिए योग्य एव अनुभवी व्यवस्थापक होना आवश्यक है। उसको विभिन्न व्यापारिक क्षेत्रों का अनुभव होना चाहिए। दूसरे अच्छी बैंकिंग नीति का पालन करना चाहिए जो देश के आर्थिक विकास की पोषक हो।

अध्याय ३

बैंक स्थिति-विवरण

भारतीय बैंकिंग कम्पनी अधिनियम के अनुसार प्रत्येक समामेलित (incorporated) बैंक को अपना स्थिति-विवरण (balance sheet) निश्चित सामयिक अवधि में फॉर्म 'एफ' के अनुसार[1] प्रकाशित करना पड़ता है जिससे उसकी आर्थिक स्थिति की जानकारी जनता को हो। इसमें उस निश्चित तिथि को उसकी सम्पत्ति कितनी है तथा किन-किन बातों का उसमें समावेश है, उसका देय कितना है एवं किस प्रकार वह बना हुआ है, आदि बातों को स्पष्ट बताया जाता है। इस विवरण पर ही जनता का विश्वास निर्भर रहता है क्योंकि इससे तुलनात्मक आलोचना द्वारा बैंकों की आर्थिक परिस्थिति के विषय में जानकारी प्राप्त होती है।

स्थिति-विवरण के दो विभाग होते हैं—पहला देय तथा दूसरा सम्पत्ति, जो क्रमशः बायें एवं दायें दिखाये जाते हैं। देय भाग में विभिन्न विषयों के जो आँकड़े बनाये जाते हैं, वे यह बताते हैं कि स्थिति विवरण के दिन बैंक की कुल देनदारी कितनी है तथा उसका कितना भाग हिस्सेदारों को पूँजी के रूप में देना है तथा कितना भाग उसने डिपॉजिट आदि के रूप में लिया है जिसके भुगतान की जिम्मेदारी उस पर है। इसी प्रकार सम्पत्ति भाग से हम यह जानते हैं कि बैंक के पास कितनी सम्पत्ति है, जिसके आधार पर वह अपना देय भुगता सकता है तथा यह सम्पत्ति किस प्रकार से बनी हुई है। बैंक के पास कितनी रोकड़ है, कितना ऋण उसको लेना है तथा कितनी स्थायी सम्पत्ति उसके पास है, आदि सम्पत्ति भाग के अध्ययन में जाना जा सकता है।

देय भाग—देय भाग से हमको समुचित रूप से यह मालूम होता है कि बैंक को कार्यशील पूँजी कहाँ से मिलती है।

(१) पूँजी—समामेलित बैंक में अनेक हिस्सेदार होते हैं जो कुछ निश्चित रकम के अंश खरीदते हैं। बैंक को कुल व्यापार-सचालन के लिए जितनी पूँजी की

---

[1] देखिये पृष्ठ ३३२ A

बैंक का स्थिति विवरण (दिनांक ३१ दिसम्बर १९)

	देय (Liabilities)	रकम		सम्पत्ति (Assets)	रकम
१	अधिकृत पूंजी निर्गमित पूंजी प्रार्थित पूंजी चुकता पूंजी		१	हस्तस्थ रोकड़ अन्य बैंकों में रोकड़ (Cash at Banks including Reserve Bank of India)	
२	सचित कोष आदि (Reserve Fund)		२	माँग पर तथा अल्पकालीन ऋण (Money at call and short notice)	
३	निक्षेप (तथा अन्य खाते)		३	ऋण तथा अग्रिम	
४	अन्य बैंकों से ऋण		४	विनियोग	
५	देय बिल		५	प्राप्य बिल (प्रति प्रविष्टि के अनुसार) (as per contra)	
६	सग्रहण के लिए प्राप्त बिल (प्रति प्रविष्टि)		६	ग्राहकों का स्वीकृत बिलों पर दायित्व (प्रति प्रविष्टि के अनुसार) (Constituents liability for acceptance endorsements etc as per contra)	
७	अन्य देय		७	बैंक भू गृहादि	
८	स्वीकृत विपत्रों का देय (प्रति प्रविष्टि) (Liabilities for acceptances etc per contra)		८	बैंक फर्नीचर	
९	लाभ हानि खाता (P/L account)		९	अन्य सम्पत्ति	
१०	संयोगिक जिम्मेदारियाँ		१०	लाभ हानि सम्पत्ति	
	योग			योग	

आवश्यकता होती है उतनी पूँजी के अंश सर्वप्रथम निश्चित किये जाते हैं जिनकी राशि सीमा-नियम (memorandum of association) में रहती है। इस सीमा नियम से कम्पनी का कार्य-क्षेत्र सीमित रहता है, अतः इसमें जो पूँजी की रकम होती है, उसे अधिकृत पूँजी कहते हैं। किसी भी समय बैंक की यह पूँजी न्यायालय की पूर्व-अनुमति के बिना नहीं बढ़ाई जा सकती। इस पूँजी का कुछ भाग बैंक अपनी आवश्यकतानुसार चल-पूँजी की प्राप्ति के लिए जनता को खरीदने के लिए देते हैं। जितनी रकम के अंश जनता को खरीदने के लिए दिए जायेंगे उसे निर्गमित (issued) पूँजी कहते हैं। इस निर्गमित अंशों में से जनता जितने अंश खरीदेगी एवं खरीदने के लिए मान्य करेगी, उस भाग को प्रार्थित (subscribed) पूँजी कहते हैं। इस प्रार्थित पूँजी का जितना भाग चुकता हो जायगा उसे चुकता पूँजी कहते हैं।

भारत में ५० प्रतिशत पूँजी संचित पूँजी अथवा सुरक्षित देय के रूप में ही रहती है जिससे वह आवश्यकता के समय काम आ सके। भारतीय बैंकिंग कम्पनी अधिनियम, १९४९ (धारा १२) के अनुसार प्रत्येक बैंक को यह अनिवार्य है कि अधिकृत पूँजी की ५० प्रतिशत प्रार्थित पूँजी हो, तथा प्रार्थित पूँजी की ५० प्रतिशत चुकता पूँजी हो। भारत के सभी समामेलित बैंकों को, जिनकी स्थापना १५ जनवरी १९३७ अथवा उसके पहले हो चुकी थी, इस धारा का पालन करना अनिवार्य है। इसी प्रकार यदि किसी बैंक ने अपनी अधिकृत पूँजी बढ़ाई है तो उसकी पूँजी दो वर्ष के भीतर अथवा रिजर्व बैंक द्वारा स्वीकृत अवधि में इस नियम के अनुसार होनी चाहिए। इसी प्रकार (धारा ७५) अधिकृत एवं प्रार्थित पूँजी के आँकड़े प्रकाशित करते समय प्रत्येक बैंक को अपनी चुकता पूँजी के आँकड़े भी प्रकाशित करने पड़ेंगे। इस प्रकार चल पूँजी प्रारम्भ में अंशों द्वारा एकत्र की जाती है। इसी प्रकार प्रत्येक बैंक जो एक से अधिक प्रान्त में व्यापार करता है, उसकी चुकता पूँजी एवं संचित निधि ५ लाख रुपये न्यूनतम होना अनिवार्य है। परन्तु यदि उसका व्यापार बम्बई या कलकत्ता या दोनों स्थानों पर हो तो उसकी यही राशि न्यूनतम १० लाख रुपये होना चाहिए। (धारा ११)। विदेशी बैंकों की भारतीय शाखाओं के लिए यही राशि क्रमशः १५ और २० लाख रुपये होना अनिवार्य है।

(२) संचित निधि—देय भाग में पूँजी के बाद 'संचित निधि' आती है। 'संचित निधि' 'संचित देय' (reserve liability) से भिन्न है। संचित निधि का निर्माण अवितरित लाभ से किया जाता है जिससे वह आकस्मिक हानि की

पूर्ति में अथवा प्रतिवर्ष दिये जाने वाले लाभ को समान रखने के लिए उपयोगी हो सके। ऐसी निधि प्रत्येक सम्मिलित बैंक को रखना विधान से अनिवार्य है। भारतीय बैंकिंग कम्पनी अधिनियम के अनुसार संचित निधि की रकम चुकता पूँजी के बराबर होनी चाहिए। इस हेतु प्रत्येक बैंक को अपने लाभ का २० प्रतिशत भाग संचित निधि मे, जब तक यह चुकता पूँजी के बराबर न हो, स्थानान्तरित (transfer) करना अनिवार्य है (धारा १७)। यह निधि वास्तव में हिस्सेदारों की होती है, क्योंकि अवितरित लाभ से इसका निर्माण किया जाता है। इसलिए किसी भी समय यह उनके हित के लिए उपयोग में लाई जा सकती है, जैसे हिस्सेदारों के लाभांश (dividends) की दर समान रखने अथवा उनको अधिलाभांश (bonus) देने के लिए। यह वास्तव में बैंक की कुल सम्पत्ति चुकता पूँजी तथा अन्य देय से कितनी अधिक है, यह बताती है जिससे ग्राहकों को सुरक्षा तथा संचालकों की बुद्धिमत्ता का परिचय भी मिलता है। यह कार्य-क्षम व्यवस्था के कारण शीघ्र ही निर्माण हो सकती है। इस निधि में कभी-कभी नये अंश निर्गमन पर जो प्रीमियम मिलती है वह भी जमा की जाती है।

अपनी आर्थिक स्थिति की मजबूती के लिए कुछ बैंकों के संचालक गुप्त निधि भी बना लेते हैं, जिसका उल्लेख स्थिति-विवरण में नहीं होता। यह निधि बैंक की स्थायी सम्पत्ति को वास्तविक मूल्य से कम मूल्य पर खाता-बही में दिखाकर बनाई जाती है। उदाहरणार्थ, बैंकों के स्थिति विवरण में लाखों रुपयों का फर्नीचर होते हुए भी नहीं दिखाया जाता, जो एक प्रकार से गुप्त निधि है। इसका उपयोग आर्थिक संकट में किया जाता है।

इस प्रकार प्रारम्भ में कार्यशील पूँजी चुकता पूँजी से प्राप्त होती है और क्रमशः संचित निधि के निर्माण के साथ कार्यशील पूँजी बढ़ती है। वह निधि प्रथम श्रेणी की सिक्युरिटियों में विनियोग की जाती है जिससे किसी भी समय बैंक के काम आ सके।

(३) **निक्षेप**—यह देय भाग में आने वाला महत्त्वपूर्ण पद है। निक्षेपों के आधार पर बैंक में जनता का विश्वास कितना है तथा उसका इस विषय में कितना देय है, यह मालूम होता है। ये निक्षेप तीन प्रकार के होते हैं —

(क) **चल निक्षेप**—यह जनता की वह जमा रकम है जो किसी भी समय बिना पूर्व सूचना के चैक द्वारा निकाली जा सकती है। इसलिए इन निक्षेपों के विनियोग में बैंक को अधिक सावधानी की आवश्यकता होती है।

(ख) **संचय निक्षेप**—यह जनता की वह जमा रकम है जो निश्चित सामयिक अवधि में कुछ निश्चित रकम से अधिक नहीं निकाली जा सकती।

(ग) स्थायी निक्षेप—यह जनता की वह जमा रकम है जो एक निश्चित अवधि के लिए जमा की जाती है तथा निश्चित अवधि के पहले बिना पूर्व सूचना के नही निकाली जा सकती।

इन तीनो प्रकार के निक्षेपों मे बैंक को कार्यशील पूँजी मिलती है तथा इसको ऋण आदि देने से बैंक अपना लाभ कमाते हैं। इसलिए इसकी सुरक्षा की जिम्मेदारी बैंक पर रहती है। अत इसका विनियोग बैंक को इस प्रकार करना पडता है जिसमे उसे लाभ भी मिले तथा माँग होने पर किसी भी समय इसका भुगतान करने मे भी सुविधा हो। यदि बैंक निक्षेपों की माँग पर भुगतान नही कर सका तो वह जनता का विश्वास खो बैठता है, जिससे उसका व्यापार भी बन्द होने की सम्भावना रहती है। अत इस सम्बन्ध म बहुत सावधान रहना पडता है।

व्यापारिक मन्दी के समय लाभकर विनियोगों के साधन न होने से अन्य निक्षेपो की अपेक्षा चल निक्षेपो मे कम रकम होती है। इसके विपरीत व्यापारिक उन्नति के काल मे लाभकर विनियोगों के साधन होन से चल निक्षेपो की जमा अधिक होती है क्योंकि व्यापारिक विस्तार के लिए उनको अधिकाधिक रकम की आवश्यकता होती है। इस प्रकार व्यापारिक मन्दी के समय अन्य निक्षेपो का अनुपात चल निक्षेपो के अनुपात मे घटता है तथा व्यापारिक तेजी (boom) के समय चल निक्षेपो के अनुपात म अन्य निक्षेपो की तुलना मे वृद्धि होती है। इस प्रकार निक्षेपो के अनुपात देश की औद्योगिक एव व्यापारिक स्थिति की गति-विधि की ओर सकेत करते है।

भारतीय बैंक अपने स्थिति-विवरण मे भिन्न-भिन्न निक्षेपो की रकम भिन्न-भिन्न नही बताते थे, परन्तु अब विभिन्न प्रकार के निक्षेपो की रकम अलग-अलग बताना अनिवार्य है। इन निक्षेपो की राशि से बैंक के व्यापार की पूरी-पूरी कल्पना होती है।

(४) सग्रहण के लिए आये हुए बिल—इस पद मे उन बिलो का तथा परिपत्रो का समावेश होता है जो बैंक अपने ग्राहको से सग्रहण के लिए लेता है। क्योकि इन बिलो की राशि उनके स्वीकर्ता से लेने के बाद ग्राहक के खाते मे जमा कर दी जाती है। यह राशि किसी भी समय सग्रहण होने की सूचना पाते ही ग्राहक निकाल सकता है, इसलिए यह बैंक की देनदारी होती है। परन्तु वास्तव मे इन बिलो की राशि बैंक को दूसरे बैंको अथवा व्यक्तियो से लेनी होती है। इसलिए यह बैंक की वास्तविक देनदारी नही रहती। सम्पत्ति भाग

मे इसकी प्रति प्रविष्ट (contra entry) 'प्राप्य बिल' पद मे होनी है। अत इस पद पर बैंक का विशेष दायित्व नहीं रहता।

(५) स्वीकृत बिलो पर देय—इस पद मे उन बिलो एव नाम-पत्रो का समावेश होता है जो बैंक अपने ग्राहक की ओर से स्वीकार करते हैं अथवा जिन पर वे बचान (endorsement) करते हैं। इस प्रकार ग्राहक द्वारा लिखे गये बिलो को अथवा उनके दिये हुए बिला पर बैंक की स्वीकृति की मुहर लग जाने से उनका चलन बढ जाता है और ग्राहक की साख भी। इसलिए स्वीकृत बिलो के भुगतान की प्राथमिक जिम्मेदारी बैंक की होती है। परन्तु बचान किये हुए बिलो के भुगतान की आकस्मिक जिम्मेदारी (contingent) बैंक की होती है। अत यह पद देय भाग मे दिखाया जाता है।

परन्तु वास्तव मे बैंक इनकी देनदारी से सुरक्षित होने के लिए अपने ग्राहको से प्रतिज्ञा-पत्र अथवा प्राप्य बिल आदि लिखवा लेता है, जिसका ग्राहक स्वीकार करते है तथा इन बिलो का भुगतान भी वे ही करते है। इसलिए इनकी राशि सपत्ति पक्ष मे भी 'स्वीकृत बिला पर ग्राहको की देनदारी'' इस पद म दिखाई जाती है।

(६) लाभ-हानि लेखा—बहुत से बैंक इस पद के अन्तर्गत उनको वर्ष मे जो लाभ होता है उसे बताते हैं, तथा उसका विभाजन किस प्रकार किया गया इसका दिग्दर्शन कराते है। यह लाभ अशधारियो को देना होता है इसलिए बैंक के लिए भी देय होता है।

सम्पत्ति-भाग—सम्पत्ति भाग से बैंक अपने देय राशि का विनियोग किस प्रकार करते हैं, यह मालूम होता है। अपनी देयता के भुगतान के लिए बैंक के पास कितनी रोकड निधि (cash reserves) तथा कितनी तरल सम्पत्ति है, इसका ज्ञान होता है। सम्पत्ति भाग म सम्पत्ति उनकी तरलता के अनुसार दी जाती हैं।

बैंक निक्षेपो के रूप मे प्राप्त धन का विनियोग करने के लिए पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होते हुए भी उसको इसका विनियोग सुरक्षित रीति से करना पडता है क्योंकि एक ओर निक्षेपो की सुरक्षा एव माँग पर भुगतान करने की शक्ति तथा दूसरी ओर लाभ कमाने के हेतु उनका विनियोग इस दुहरी कैंची म बैंक होता है। इसलिए बैंक को अपने देय एव निक्षेपो के भुगतान के लिए सदैव कुछ रोकड अपने पास रखनी पडती है तथा अन्य धन का विनियोग वह इस प्रकार करता है जिससे आवश्यकता पडने पर उसे तुरन्त ही धन प्राप्त हो सके। बैंक

की सफलता धन की तरलता पर निर्भर रहती है। अतएव हमारे लिए सम्पत्ति भाग के विभिन्न पदों का समुचित अध्ययन महत्वपूर्ण है।

(१) **हस्तस्थ तथा बैंकों में रोकड**—इस पद के अन्तर्गत बैंक की रोकड एवं अन्य बैंकों तथा रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के पास जमा धन का समावेश होता है। अपना धन एक बैंक दूसरे बैंकों के पास रखता है तथा निक्षेप की रकम जो केन्द्रीय बैंक के पास होती है, बैंकों को वैधानिक रीति से रखना अनिवार्य है। जो रकम इस प्रकार अन्य बैंकों एवं केन्द्रीय बैंक में जमा रहती है, 'हस्तस्थ रोकड' की तरह ही होती है, क्योंकि समय आने पर बैंक इन निक्षेपों की रकम अपने देय के भुगतान के लिए उपयोग में ला सकता है। इस रोकड को हस्तस्थ रोकड से भिन्न दिखाने की प्रथा आधुनिक है जिसमें ग्राहकों को बैंक की तरलता का पूर्ण ज्ञान हो सके। इसको 'रोकड निधि' कहते हैं। यह बैंक की सुरक्षा का पहला साधन है।

(२) **याचित तथा अल्पकालीन सूचना वाले ऋण**—इस पद के अन्तर्गत उन ऋणों का समावेश होता है जो बैंक विभिन्न व्यक्तियों को देता है। ये ऋण तीन प्रकार के होते हैं—

(अ) वह ऋण जो बैंक अपने व्यापार के अन्त में केवल रात्रि के उपयोग के लिए देते हैं और जिनका भुगतान दूसरे दिन बैंक के कार्यारम्भ के समय हो जाता है। ऐसे ऋण विशेषत सट्टे अथवा स्कन्ध विनिमय व्यवहारों के लिए दिए जाते हैं।

(ब) वे ऋण जो बैंक इस शर्त पर देता है कि ऋणी भुगतान माग पर बिना किसी पूर्व-सूचना के करेगा। ऐसे ऋणों को 'माँग' पर भुगतान होने वाले ऋण (money at call) कहते हैं।

(स) वे ऋण जो बैंक इस शर्त पर देते हैं कि उनका भुगतान सूचना पाते ही २४ घण्टे से सात दिन के अन्दर होगा। इन ऋणों में कुछ ऐसे होते हैं जिनका भुगतान भिन्न भिन्न प्रकार की सूचनाओं की प्राप्ति पर उस अवधि में होना चाहिए।

इस प्रकार के अल्पकालीन ऋण बिल दलाल कटौती गृहों (discount house), स्कन्ध विनिमय तथा सटोरियों आदि को देते हैं। इन ऋणों पर ब्याज की दर बहुत कम होती है जो $\frac{1}{8}\%$ से $\frac{1}{2}\%$ प्रति वर्ष होती है। इसी प्रकार ये ऋण अन्य अच्छे बैंकों को भी दिये जाते हैं। ये ऋण प्रतिभूतियों की रहन पर दिये जाते हैं। अगर किसी भी समय बैंक के पास रोकड न रहे तो भुगतान के लिए यह सुरक्षा का दूसरा साधन है।

(३) क्रीत एवं कटौती किये हुए बिल—यह तीसरा पद है जो तरलता की दृष्टि से बैंक के स्थिति विवरण में आता है। इस शीर्षक में वह विनियोग आता है जो बैंक बिलों की कटौती द्वारा दूसरों को देते हैं। इसमें बैंक केवल प्रथम श्रेणी के बिलों की ही कटौती करता है अथवा उन्हें खरीदता है। बिलों की कटौती उस क्रिया को कहते हैं जिसमें बैंक बिलों का तत्कालीन मूल्य बिल-धारी (holder) को चुकाते हैं। उदाहरणार्थ, एक बिल १००० रुपये का ९० दिन बाद देय है तथा इसे बिल-धारी कटौती के लिए लाता है। अर्थात् इस बिल पर बैंकर १००० रुपये का ९० दिन का सूद इस रकम में से तत्कालीन दर से कम करके शेष मूल्य धारी को चुकायगा। अब यह बिल बैंक की सम्पत्ति है जिसका ९० दिन बाद उसे भुगतान मिलेगा। इन बिलों में उसका विनियोग इस प्रकार होता है कि एक के बाद दूसरा बिल चुकता होता रहे जिसमें किसी भी समय उसे रोकड की कमी न रहे। यह बैंक की सुरक्षा का तीसरा साधन है क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर बैंक इन बिलों को बिल-बाजार में बेचकर अथवा केन्द्रीय बैंक से पुनः कटौती करा कर धन ले सकता है।

बिलों की कटौती बैंक का प्रमुख कार्य है और इसीलिए इसमें उसके अधिक धन का विनियोग होता है। कभी-कभी इन बिलों में कोष बिलों का भी समावेश होता है जो सरकार की दैनिक आवश्यकताओं के लिए केन्द्रीय बैंक बेचता है। इन बिलों की अवधि ९० दिन से अधिक नहीं होती तथा इन पर ब्याज भी कम मिलता है।

भारत में बिल-बाजार सुसंचालित एवं सुसंगठित न होने के कारण इस पद के अन्तर्गत बहुत कम विनियोग होता है, परन्तु विदेशों में, जहाँ बिल-बाजार का संगठन एवं संचालन बहुत ही अच्छा है, बैंकों के अधिक विनियोग बिलों की कटौती में होता है। विदेशों में इस शीर्षक में बैंकों की कार्यशील पूंजी का २०% से २५% विनियोग होता है, जहाँ भारत में २% से ३% होता है। इसीलिए भारतीय बैंकों के स्थिति विवरण में इस शीर्षक को 'अग्रिम तथा ऋण' के अन्तर्गत दिखाया जाता है।

(४) विनियोग—यह सुरक्षा का चौथा साधन है। इसमें बैंक के उस विनियोग का समावेश होता है जो सरकारी एवं अर्ध-सरकारी (semi-government) सिक्युरिटी, जन-उपयोगी और प्रथम श्रेणी की कम्पनियों के अंशों अथवा ऋण-पत्रों में किया जाता है। सरकारी प्रतिभूतियों, ऋण-पत्रों आदि पर ब्याज तथा कम्पनी के अंशों पर लाभांश मिलता है जिससे बैंकों को लाभ होता है। किन्तु

सकट-काल मे इनका परिवर्तन रोकड मे असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। जिस समय मुद्रा की अधिक आवश्यकता होती है उस समय ये प्रतिभूतिया बेची भी नही जा सकती, क्योंकि उस समय मुद्रा-मंडी मे पैसे की कमी रहती है। ऐसे समय यदि प्रत्येक बैंक अपने विनियोग पत्र बेचेगा तो विनियोग पत्रो के मूल्य गिर जायेंगे और बैंक मे जनता का विश्वास उठ जायेगा। अत उक्त तीनो पदो के विनियोगो की अपेक्षा इसमे तरलता कम रहती है। किन्तु ये विनियोग प्रथम श्रेणी के होने के कारण सकट-काल मे इनके रहन पर केन्द्रीय बैंक से ऋण मिल सकता है।

(५) **अग्रिम तथा ऋण** (Loans & Advances)—बैंक अपना धन ग्राहकों को ऋण तथा अग्रिम के रूप मे देकर सबसे अधिक लाभ कमाता है। इन ऋणो की ब्याज-दर ६% से ९% प्रति वर्ष तक होती है। व्यापारिक बैंक इस प्रकार के ऋण ६ से ९ महीने की अवधि के लिये इस शर्त पर देते है कि माँग पर उनका भुगतान होगा। किन्तु बैंक इन पर अधिक निर्भर नही रह सकता क्योकि सकट-काल मे यदि सब ग्राहको से ऋण का भुगतान माँगा जायगा तो एक ओर बैंक मे जनता का विश्वास उठेगा तथा दूसरी ओर जो लोग ऋण चुकाने मे असमर्थ होंगे, वे दिवालिये हो जायेंगे। इससे देश की व्यापारिक स्थिति को धक्का लगेगा। इसीलिए डॉ० वाल्टर लीफ ने इस पद को बैंक की क्रिया का केन्द्रीय भाग कहा है क्योंकि इस पर बैंको को सबसे अधिक लाभ मिलता है। इस मद को बैंक की सुरक्षा का पाचवाँ साधन कहा जाता है।

(६) **प्राप्य बिल**—यह पद "सग्रहण के लिए प्राप्त बिल' की प्रति प्रविष्टि है। इसलिए यह बिल वास्तव मे न तो सम्पत्ति ही है और न देनदारी है बल्कि आपस मे सन्तुलित हो जाती है।

(७) **ग्राहको का स्वीकृत पर दायित्व**—यह पद भी उपरोक्त पद की भाँति "स्वीकृत बिलो पर देय" की प्रति-प्रविष्टि है। अतः इस पद का सन्तुलन देय भाग मे होता है।

(८) **भू-गृहादि** (Land, Buildings etc)—यह पद स्थिति-विवरण मे सब के अन्त मे आता है क्योंकि यह सबसे कम तरल है जिसका परिवर्तन रोकड मे केवल बैंक बन्द होने पर ही किया जाता है। बैंक की जो स्थायी सम्पत्ति होती है उसका मूल्य वास्तविक मूल्य मे बहुत कम दिखाया जाता है ताकि सकट-काल मे अथवा सयोगिक हानि पूर्ति के लिए "गुप्त निधि" का निर्माण हो। इस पद मे प्रति वर्ष जो नवीन सम्पत्ति खरीदी जाती है वह अलग बताई

जाती है। उसी प्रकार प्रति वर्ष सम्पत्ति का जितना अवमूल्यन किया जाय वह भी दिखाया जाता है।

निष्कर्ष—स्थिति-विवरण के अध्ययन एवं विश्लेषण से हमको निम्न बात समझ में आती हैं —

(१) प्रत्येक समय बैंक की सम्पत्ति एवं देय का सन्तुलन होता है।

(२) स्थिति-विवरण के देय भाग में जो देय होते हैं उन सब का भुगतान बैंक को एक साथ नहीं करना पड़ता। अपितु कुछ देय ऐसे होते हैं जिनका भुगतान करना ही नहीं पड़ता, किन्तु भुगतान की जिम्मेदारी होती है, उदाहरणार्थ **बिलो विपत्रों पर देय**। दूसरे, कुछ देय ऐसे होते हैं जिनका भुगतान करने की कभी आवश्यकता नहीं होती और न उसका भुगतान ही होता है, जैसे **संचित निधि एवं चुकता पूँजी**। तीसरे, निक्षेप के रूप में जो देय दिखाया जाता है उसके भुगतान की वास्तविक जिम्मेदारी बैंक की होती है किन्तु इसमें भी कुछ निक्षेप ऐसे होते हैं जो स्थायी होते हैं एवं जिनको निश्चित अवधि के बाद निकाला जा सकता है जिसका पूर्व-ज्ञान होने से समय पर भुगतान हो सकता है। इसी प्रकार सचय निक्षेप की रकम भी कुछ निश्चित मात्रा में ही निकाली जा सकती है तथा यह रकम कितनी होगी, इसका अनुभव बैंकों को होता है। परन्तु चल-निक्षेपों के भुगतान की वास्तविक जिम्मेदारी बैंक पर होती है। इन निक्षेपों की रकम भी अन्य निक्षेपों की राशि से अधिक होती है। ये निक्षेप किसी भी समय किसी भी राशि में ग्राहकों द्वारा निकाले जा सकते हैं। अतः इस सम्बन्ध में बैंक का तत्कालीन दायित्व महत्त्वपूर्ण है जिसके भुगतान के लिए उसको सदैव अपने पास रोकड निधि रखनी पड़ती है।

(३) सम्पत्ति भाग में भिन्न-भिन्न प्रकार की सम्पत्ति तरलता के अनुसार लिखी जाती है तथा धन का विनियोग अधिक तरल एवं सुरक्षित हो तथा अधिकाधिक लाभ भी कमाया जा सके, इस दृष्टि से करना पड़ता है। यह एक महत्वपूर्ण जिम्मेदारी है जिसकी सफलता सचालकों की बुद्धिमत्ता एवं अनुभव पर रहती है।

स्थिति-विवरण से लाभ

स्थिति विवरण से बैंक की लाभ देने की शक्ति, धन की तरलता एवं सुरक्षा, उसकी आर्थिक स्थिति तथा बैंक में जनता का विश्वास कितना है यह ज्ञान हो सकता है।

(१) **लाभ देने की शक्ति**—किसी भी बैंक के पिछले स्थिति-विवरणों के तुलनात्मक अध्ययन से हम यह जान सकते है कि लाभाश गिर रहे हैं अथवा बढ़ रहे है। इसी प्रकार चुकता पूंजी एव निक्षेपो का अनुपात क्या है ? क्योकि जैसे-जैसे लाभ देने की शक्ति बढ़ती जायेगी, उसी हिसाब से उसके निक्षेप मे भी वृद्धि होगी और चुकता पूंजी की अपेक्षा निक्षेप का अनुपात बढ़ता जायगा। इसी प्रकार सचित निधि को देखकर हम बैंक की आर्थिक स्थिति समझ सकते है क्योंकि सुसचालित बैंकिंग मे सचित निधि क्रमश बढ़ती ही जाती है।

(२) **सम्पत्ति की सुरक्षा एव तरलता**—सम्पत्ति की सुरक्षा एव तरलता जानने के लिए कुल निक्षेप एव विनियोग का अनुपात देखना होगा। तरलता के लिए विनियोग को शीघ्र रोकड़ मे बदला जा सकता है अथवा नही, यह देखना होगा। सुरक्षा की दृष्टि से ऋणो की राशि निक्षेपो की राशि से अधिक नही होनी चाहिए, अगर है तो सचित निधि उसकी पूर्ति के लिए पर्याप्त है अथवा नही, यह देखना होगा। इसी प्रकार सुरक्षा की दृष्टि से विनियोग किस प्रकार की सिक्युरिटीयों मे है यह भी देखना चाहिए। विनियोग-पत्र ऐसे नही होने चाहिए जिनके मूल्यो मे अधिक उतार-चढ़ाव हो अथवा आय की स्थिरता न हो।

(३) **व्यापार की गति-विधि**—बैंक का व्यापार बढ़ रहा है अथवा नही, यह देखने के लिए निक्षेप का पूंजी से अनुपात बढ़ रहा है या नहीं, यह देखना होगा। इसी प्रकार अगर ऋणो, विनियोगो तथा निक्षेपो मे वृद्धि हो रही हो तो यह निश्चित है कि बैंक का व्यापार प्रगति पर है। लेकिन इस वृद्धि के साथ ही साथ तरलता एव सुरक्षा को देखना आवश्यक है। बैंक की आर्थिक दृढ़ता स्थिति एव सम्पत्ति की तरलता जानने के लिए कोई भी ऐसे नियम नही है जो लागू किये जा सके। किन्तु इनके स्थिति-विवरण की तुलना प्रथम श्रेणी के बैंक से करने पर कौन-सा बैंक अधिक अच्छा है, यह जाना जा सकता है। हमारे देश मे विशेषत प्रथम श्रेणी के बैंक निक्षेपो पर बहुत कम ब्याज देते है। इसी प्रकार उनके विनियोग तथा ऋण भी कम ब्याज पर ही होते है क्योंकि जितनी ही विनियोग एव ऋणो की ब्याज-दर कम होगी उतनी ही उनकी सुरक्षा अधिक होगी।

(४) सम्पत्ति की सुरक्षा एव तरलता पर ही बैंक मे जनता का विश्वास बढ रहा है या घट रहा है यह मालूम हो सकता है। जितना अधिक जनता का विश्वास बैंक मे होगा उतने ही उसके निक्षेपो मे वृद्धि होगी। इससे उसकी कार्यशील पूंजी बढकर लाभ भी बढेगे।

गरिवलन
भारतीय बैंका एक
अनुभव

Capital & Liabilities	Rs
1 **Capital**	
Authorized Capital—	
shares of Rs each	
Issued Capital—	
shares of Rs each	
Subscribed Capital—	
shares of Rs each	
Amounts called up at Rs per sh	
Less calls unpaid	

सम्बन्ध ध्यान म नुपात म माण नहीं न पदों के परिपत्र म निक्षपा स सकता कि शील स्थिति केड अथवा पार अत्यन्त न है।[1] भारतीय बैंक का प्रत्यक्ष दिनात म केड, स्वर्ण अथवा मान्य प्रति- न है। अन्य पदों के सम्बन्ध में कोई भी वैधानिक बंधन

सारांश

प्रत्येक सम्मिलित बैंक को वर्षान्त में अपना स्थिति विवरण प्रकाशित करना अनिवार्य है। इस स्थिति-विवरण में दो पक्ष होते हैं दाहिना एवं बांया। दाहिने पक्ष में बैंक की वर्षान्त में सम्पत्ति कितनी है तथा उसका क्या स्वरूप है और बाये पक्ष में बैंक की देनदारियां कितनी हैं तथा उनका स्वरूप आदि, देना होता है। इन दोनों पक्षों का सतुलन हो जाता है।

दायें भाग—इसको देखने से यह मालूम होता है कि बैंक को कार्यशील पूंजी कहां से मिलती है। इसके विभिन्न पद निम्न हैं —

[1] *R B I Circular dated* 1-9 1938

(१) **लाभ देने की शक्ति**—किसी भी बैंक के पिछले स्थिति-विवरणों के तुलनात्मक अध्ययन से हम यह जान सकते हैं कि लाभांश गिर रहे हैं अथवा बढ़ रहे हैं। इसी प्रकार चुकता पूँजी एवं निक्षेपों का अनुपात क्या है? क्योंकि जैसे-जैसे लाभ देने की शक्ति बढ़ती जायेगी, उसी हिसाब से उसके निक्षेप में भी वृद्धि होगी और चुकता पूँजी की अपेक्षा निक्षेप का अनुपात बढ़ता जायगा। इसी प्रकार संचित निधि को देखकर हम बैंक की आर्थिक स्थिति समझ सकते हैं क्योंकि सुसंचालित बैंकिंग में संचित निधि क्रमशः बढ़ती ही जाती है।

(२) **सम्पत्ति की सुरक्षा एवं तरलता**—सम्पत्ति की सुरक्षा एवं तरलता जानने के लिए कुल निक्षेप एवं विनियोग का अनुपात देखना होगा। तरलता के लिए विनियोग को शीघ्र रोकड़ में बदला जा सकता है अथवा नहीं, यह देखना होगा। सुरक्षा की दृष्टि से ऋणों की राशि निक्षेपों की राशि से अधिक नहीं होनी चाहिए, अगर है तो संचित निधि उनकी पूर्ति के लिए पर्याप्त है अथवा नहीं, यह देखना होगा। इसी प्रकार सुरक्षा की दृष्टि से विनियोग किस प्रकार की सिक्युरिटीयों में है यह भी देखना चाहिए। विनियोग-पत्र ऐसे नहीं होने चाहिए जिनके मूल्यों में अधिक उतार-चढ़ाव हो अथवा आय की स्थिरता न हो।

(३) **व्यापार की गति-विधि**—बैंक का व्यापार बढ़ रहा है अथवा नहीं, यह देखने के लिए निक्षेप का पूंजी से अनुपात बढ़ रहा है या नहीं, यह देखना होगा। इसी प्रकार अगर ऋणों, विनियोगों तथा निक्षेपों में वृद्धि हो रही हो तो यह निश्चित है कि बैंक का व्यापार प्रगति पर है। लेकिन इस वृद्धि के साथ ही साथ तरलता एवं सुरक्षा को देखना आवश्यक है। बैंक की आर्थिक वास्तव स्थिति एवं सम्पत्ति की तरलता जानने के लिए कोई भी ऐसे नियम नहीं है जो लागू किये जा सके। किन्तु इनके स्थिति-विवरण की तुलना प्रथम श्रेणी के बैंक से करने पर कौन-सा बैंक अधिक अच्छा है, यह जाना जा सकता है। हमारे देश में विशेषतः प्रथम श्रेणी के बैंक निक्षेपों पर बहुत कम ब्याज देते है। इसी प्रकार उनके विनियोग तथा ऋण भी कम ब्याज पर ही होते है क्योंकि जितनी ही विनियोग एवं ऋणों की ब्याज-दर कम होगी उतनी ही उनकी सुरक्षा अधिक होगी।

(४) सम्पत्ति की सुरक्षा एवं तरलता पर ही बैंक में जनता का विश्वास बढ़ रहा है या घट रहा है यह मालूम हो सकता है। जितना अधिक जनता का विश्वास बैंक में होगा उतने ही उसके निक्षेपों में वृद्धि होगी। इससे उसकी कार्यशील पूँजी बढ़कर लाभ भी बढ़ेगा।

बैंकिंग अनुपात (Ratios)

बैंकिंग व्यापार आजकल उन्नति पथ पर है और उसमें आये दिन परिवर्तन होते रहते हैं। अतः उसके विभिन्न पदों की राशि कितनी हो अथवा उनका एक दूसरे से क्या अनुपात हो यह निश्चित नहीं है। किसी बात का दीर्घ अनुभव ही भविष्य में सिद्धान्त हो जाता है। कुछ भी हो प्रत्येक बैंक को इस सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्तों का पालन करना होता है। इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखना होगा कि सिद्धान्तों के अनुसार विभिन्न पदों का निश्चित अनुपात में सम्बन्ध होना ही बैंक की सम्पत्ति की तरलता अथवा सुदृढ़ता का प्रमाण नहीं होता। इसलिए देश काल एवं परिस्थिति के अनुसार ही विभिन्न पदों के अनुपात को देखना चाहिए।

भारत में विनियोग पत्रों के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक ने एक परिपत्र में लिखा था कि भारतीय सूची-बद्ध बैंकों के विनियोग पत्रों का निक्षेपों से औसत अनुपात ४०% है परन्तु इस बात से इकार नहीं किया जा सकता कि छोटे बैंकों का यह अनुपात इससे भी कम है। भारत की परिवर्तनशील स्थिति में बैंकों का अपनी माग एव काल देनदारी के ३० % से कम रोकड़ अथवा मान्य प्रतिभूतिया रखना अवाछनीय होगा। यदि बैंकों का व्यापार अत्यन्त तरल स्वरूप का नहीं है तो इससे अधिक अनुपात हो वाछनीय है।[1] भारतीय बैंकिंग अधिनियम के अनुसार (धारा २४) प्रत्येक बैंक को प्रत्येक दिनात में अपनी माग एव काल देनदारी के २०% रोकड़ स्वर्ण अथवा मान्य प्रतिभूतिया रखना अनिवार्य है। अन्य पदों के सम्बन्ध में कोई भी वैधानिक बंधन नहीं है।

साराश

प्रत्येक सम्मिलित बैंक को वर्षान्त में अपना स्थिति विवरण प्रकाशित करना अनिवार्य है। इस स्थिति विवरण में दो पक्ष होते हैं दाहिना एवं बाया। दाहिने पक्ष में बैंक की वर्षान्त में सम्पत्ति कितनी है तथा उसका क्या स्वरूप है और बाये पक्ष में बैंक की देनदारिया कितनी हैं तथा उनका स्वरूप आदि, देना होता है। इन दोनों पक्षों का सतुलन हो जाना है।

दय भाग—इसको देखने से यह मालूम होता है कि बैंक को कार्यशील पूँजी कहा से मिलती है। इसके विभिन्न पद निम्न हैं —

---

[1] *R B I Circular dated* 1 9 1938

पूंजी—बैंक की अधिकृत, निर्गमित, प्रार्थित एवं चुकता पूंजी कितनी है। बैंकिंग अधिनियम के अनुसार अधिकृत पूंजी के ५०% प्रार्थित पूंजी तथा प्रार्थित पूंजी के ५०% चुकता पूंजी होना अनिवार्य है। इसी प्रकार प्रत्येक बैंक को जो कलकत्ता अथवा बम्बई अथवा दोनों स्थान पर व्यवसाय करता है उसकी चुकता पूंजी एवं निधि मिलाकर १० लाख रुपये से अन्यथा ५ लाख रुपये से कम नहीं होनी चाहिए। यही राशि विदेशी बैंकों के लिए क्रमशः २० और १५ लाख रुपये है।

संचित कोष—संचित कोष बैंक की चुकता पूंजी के बराबर होना चाहिए। जब तक संचित कोष चुकता पूंजी के बराबर न हो, तब तक उस बैंक को अपने धन का २०% संचित कोष में स्थानान्तरित करना अनिवार्य है। इस कोष में कभी-कभी अंशों के निर्गमन पर मिलने वाली प्रीमियम भी जमा की जाती है। कुछ बैंक गुप्त-कोष भी निर्माण करते हैं जिसका उल्लेख स्थिति-विवरण में नहीं होता। इस कोष से बैंक की कार्यशील पूंजी बढ़ती है।

निक्षेप—सबसे महत्वपूर्ण देनदारी है। ये निक्षेप तीन प्रकार के होते हैं—स्थायी, अचल एवं चल निक्षेप। इनमें बैंक की सबसे बड़ी जिम्मेवारी चल निक्षेपों की होती है क्योंकि ये किसी भी समय किसी भी राशि में निकाले जा सकते है। इन निक्षेपों से बैंक को कार्यशील पूंजी मिलती है। परन्तु इनका माँग पर भुगतान होना चाहिए अन्यथा बैंक से जनता का विश्वास डिग जाता है तथा उसका व्यवसाय खतरे में पड़ जाता है। इन निक्षेपों के आपसी अनुपात से व्यापारिक तेजी-मन्दी की जानकारी होती है।

संग्रहण के लिए प्राप्त बिल—इसमें ग्राहकों से संग्रहण के लिए आये हुए चैक, बिल आदि दिखाये जाते हैं जो बैंक संग्रह करके ग्राहकों के खाते में जमा करता है। इनकी राशि बैंक को दूसरे बैंकों से लेनी होती है अतः वास्तव में ये उसकी देनदारी नहीं होती। इसकी राशि सम्पत्ति पक्ष में 'प्राप्य बिल' के पद में दिखायी जाती है।

स्वीकृत बिलों पर देय—बैंक ग्राहकों की ओर से जो बिल इत्यादि स्वीकार करता है अथवा बेचान करता है उसकी संयोगिक देनदारी बैंक पर होती है। परन्तु बैंक इस हेतु ग्राहकों से प्रतिज्ञा पत्र आदि ले लेता है, इसलिए यह उसकी वास्तविक देनदारी नहीं होती। इसका संतुलन सम्पत्ति पक्ष में

कम हानि लेखा—इस में वर्ष मे होने वाला लाभ तथा उसका विभाजन किस प्रकार किया गया, यह बताते है ।

सम्पत्ति पक्ष मे सबसे महत्वपूर्ण पद "हस्तस्थ एव बैंक मे रोकड" होती है । यह धन बैंक निक्षेपो के भुगतान के लिए अपने पास रखता है तथा अतिरिक्त रोकड अन्य बैंकों मे तथा रिजर्व बैंक के पास रखता है जिससे आवश्यकता के समय वह काम में ली जा सके ।

याचित एव अल्पकालीन सूचनाकाल ऋण—ये ऋण बैंक सटोरियों तथा स्टॉक ब्रोकर्स आदि को प्रतिभूतियों की रहन पर देते हैं । कुछ ऋण ऐसे होते हैं जो केवल रात के उपयोग के लिए ही दिये जाते हैं तथा अन्य अल्पकालीन ऋण ऐसे होते हैं जिनका भुगतान ऋणी को माँग पर अथवा सूचना पाते ही २४ घण्टे से ७ दिन मे करना होता है । बैंक की सुरक्षा का यह दूसरा साधन है ।

नति एव कटौती किये हुए बिल—बैंक जो बिल आदि बाजार से खरीदता है अथवा जिनकी कटौती पर धन देता है उनका समावेश इसमे होता है । इन बिलों को बैंक इस प्रकार खरीदता है जिससे एक के बाद दूसरे बिल का भुगतान मिलता रहे । इससे उसके पास रोकड का आवागमन बना रहता है । भारत मे बिल बाजार विकसित न होने मे बैंको की कुल २-३% राशि का विनियोग इनमे होता है ।

विनियोग—यह बैंक की सुरक्षा का चौथा साधन है । बैंक अपनी राशि का विनियोग प्रथम श्रेणी की सिक्यूरिटियो की खरीद मे करता है । जिससे उससे आय भी होती रहे तथा सकट समय इनकी जमानत पर अथवा वेचकर धन भी प्राप्त किया जा सके ।

ऋण एव अग्रिम—इस पद मे उन ऋणों का समावेश होता है जो साधारणत: ६ मे ६ मास की अवधि के लिए व्यापारियों को दिये जाते हैं । सकट काल मे बैंक इन पर निर्भर नहीं रह सकता क्योंकि इनकी माँग करने से एक ओर तो जनता के विश्वास को ठेस लगेगी और दूसरी ओर व्यापारियों को आर्थिक धक्का लगेगा ।

प्राप्य बिल तथा स्वीकृत बिलो पर ग्राहकों का दायित्व—इन दो मदो का सतुलन देय पक्ष के सग्रहण के लिए प्राप्त बिल तथा स्वीकृत बिलों पर दायित्व इन पदो मे हो जाता है ।

भू-गृहादि—इस शीर्षक मे बैंक के भूमि, भवन, फर्नीचर आदि दिये जाते हैं।

निष्कर्ष—बैंक के स्थिति विवरण से निम्न बातों की जानकारी होती है—

१ बैंक की आर्थिक स्थिति,

२ बैंक की व्यापारिक प्रगति,

३ सम्पत्ति की सुरक्षा एव तरलता

४ बैंक मे जनता का विश्वास, तथा

५ देश की व्यापारिक स्थिति ।

अध्याय ४

बैंकों की विनियोग नीति

बैंकिंग के स्वरूप से स्पष्ट है कि बैंक को धन की सुरक्षा एवं तरलता का ध्यान रखना पड़ता है जिससे वह माँग देनदारी का भुगतान किसी भी समय करने में समर्थ हो सके। यदि बैंक चैक आते ही उसका भुगतान नहीं करता तो उससे जनता का विश्वास उठ जायगा तथा आर्थिक स्थिति अच्छी होते हुए भी उसे व्यापार बन्द करना होगा। साथ ही बैंक सारे धन को अपने पास नही रख सकता क्योंकि उसे लाभ भी कमाना होता है। इसलिए वह अपने धन का अन्यत्र विनियोग करता है जिसमें उसे अनेक प्रकार की सावधानी की आवश्यकता होती है।

विनियोग नीति का आधार

साधारणत बैंक की विनियोग नीति निम्न सिद्धान्तो पर आधारित होनी चाहिए —

(१) **सम्पत्ति की तरलता**—बैंकिंग व्यापार के लिए सम्पत्ति का विनियोग करते समय तरलता का ध्यान रखना अत्यावश्यक है जिससे समय पड़ने पर तत्काल सम्पत्ति को बेचकर रोकड प्राप्त हो सके। अतएव बैंक को अपने विनियोग अल्पकालीन ऋणों में ही करने चाहिए तथा दीर्घकालीन ऋण नही देना चाहिए। अर्थात् बैंकों को अल्पकालीन निक्षेपों के धन से दीर्घकालीन ऋण नही देना चाहिए। श्री टैनन के अनुसार "यशस्वी बैंकर वह है जो विनिमय बिल तथा रहन का अन्तर जान सकता है।"[1] क्योंकि अगर बैंक अपने धन का विनियोग भू-गृहादि के रहन अथवा दीर्घकालीन ऋणों में करता है तो वे संकट काल में तत्काल ही रोकड में नहीं बदले जा सकते। इतना ही नहीं अपितु बुद्धिमान बैंकर अपने धन का विनियोग भिन्न भिन्न प्रकार से ऐसे करता है जिससे उसके पास सदैव रोकड रहे और विनियोगों के बेचने से किसी प्रकार की हानि भी न हो।

---

[1] *Banking Law & Practice in India* by Tannan

(२) **केन्द्रीय बैंक की विनियोग-नीति का पालन**—बैंक की विनियोग नीति केन्द्रीय बैंक की विनियोग नीति के आधार पर होनी चाहिए, क्योंकि केन्द्रीय बैंक के कुछ नियम होते हैं जिनके आधार पर ही वह ऋण देता है। अत सकट-काल के लिए केन्द्रीय बैंक से ऋण प्राप्त हो सके, इस हेतु बैंक को उन्ही विनियोग-पत्रो तथा प्रतिभूतियों मे धन का विनियोग करना चाहिए जो केन्द्रीय बैंक द्वारा स्वीकृत हो। इसके सकट-काल मे केन्द्रीय बैंक से सहायता ली जा सके।

(३) **सुरक्षा एव आय**—अपने धन का विनियोग करते समय बैंक को सदैव दूर-दृष्टि से काम लेना चाहिए, उसको अपने धन का विनियोग इस प्रकार के पत्रो एव प्रतिभूतियों मे करना चाहिए, जिनसे उसे अच्छा लाभ मिल सके तथा साथ ही धन भी सुरक्षित रहे। क्योंकि यह धन उसका निजी न होते हुए, निक्षेप रूप मे ग्राहकों से उधार लिया हुआ है जिसकी सुरक्षा एव भुगतान की जिम्मेदारी उस पर है। अत उसे कभी भी सट्टा नही करना चाहिए, क्योंकि सुरक्षा और तरलता से ही बैंक की आर्थिक स्थिति मजबूत रहती है।

(४) **विनियोगो की विविधता**—बैंक को अपने धन का विनियोग किसी एक ही प्रकार के उद्योग अथवा व्यापार मे नही करना चाहिये क्योंकि अगर ऐसा व्यापार या उद्योग घाट मे आ जाय तो विनियोगो को खतरा रहता है। इसी प्रकार बैंक अपने सारे ऋण एक ही व्यक्ति को भी न दे क्योंकि उसमे भी बराबर भय रहता है। इसीलिए बैंक को चाहिए कि वह अपने विनियोग भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यापार एव उद्योगो मे करे तथा व्यक्तिगत ऋणों मे भी इसी नीति का अवलम्ब करे।

(५) **निधि की व्यवस्था**—बैंक की सफलता निधि की व्यवस्था (management of reserves) पर निर्भर रहती है। बैंक को सदैव अपने पास इतनी रोकड रखनी चाहिए जिससे वह उसके ऊपर लिखे गये चैको का भुगतान करने मे समर्थ हो। इसी प्रकार उसके पास रोकड इतनी अधिक भी नही होनी चाहिये जो उसके पास बेकार पडी रहे और आय न कमाई जा सके।[1]

विनियोग की पद्धति—बैंक अपने धन का विनियोग दो प्रकार से करते है—

(१) **अलाभकर विनियोग**—वह विनियोग जिसमे बैंक को किसी भी प्रकार का लाभ नही होता परन्तु जो व्यापार-सचालन के लिए आवश्यक होते हैं। उदाहरणार्थ, फर्नीचर, भू-गृहादि, तथा अन्य आवश्यक वस्तुओ का क्रय। इसी

---

1 *History and Principles of Banking* by Gilbert

मे रोकडनिधि का भी समावेश होता है क्योंकि यह रोकड बैंक को सदैव अपने पास माँग देनदारी के भुगतान के लिए रखना आवश्यक है।

(२) लाभकर विनियोग—धन का इस प्रकार का विनियोग जिससे वह लाभ कमा सके। इस प्रकार के विनियोगों में याचित एवं अल्पकालीन ऋण, बिलों की कटौती, प्रतिभूतियों का क्रय तथा ऋण एवं अग्रिमों का समावेश होता है।

ये भिन्न भिन्न प्रकार के विनियोग बैंक किस प्रकार से करते हैं तथा सुरक्षा की किस श्रेणी के साधन हैं, इसका उल्लेख पहिले किया गया है। परन्तु इन सबमें महत्वपूर्ण एवं प्रथम श्रेणी का सुरक्षा-साधन रोकड निधि है।

रोकड निधि—रोकड निधि वह रोकड—हस्तस्थ एवं बैंक में—है जो बैंक सदैव अपने एवं अन्य बैंकों के पास माँग देनदारियों के भुगतान के लिए रखता है। निक्षेपों में स्थायी निक्षेपों के भुगतान के विषय में उसे पूर्ण ज्ञान होता है जिसके लिए उस समय वह अपने पास पर्याप्त रोकड रख सकता है। इसी प्रकार सचय निक्षेपों के विषय में भी उसे पर्याप्त जानकारी होती है, क्योंकि इन निक्षेपों की रकम प्रति सप्ताह कुछ निश्चित राशि में ही निकाली जाती है। किन्तु चल-निक्षेपों की रकम किसी भी समय किसी भी परिमाण में निकाली जा सकती है अतः इन निक्षेपों का दायित्व महत्वपूर्ण होता है जिसके भुगतान के लिए बैंक को पर्याप्त रोकड रखनी पडती है।

रोकड निधि का आधार—रोकड निधि कितनी रखनी चाहिए इस सम्बन्ध में विशेष नियम नहीं है। यह बैंक के पूर्व-अनुभव, दूरदर्शिता तथा उस क्षेत्र की व्यापारिक स्थिति पर निर्भर रहता है। इस सम्बन्ध में निम्न बातें विचारणीय हैं[1] —

(१) निक्षेपों का स्वरूप—जिस स्थान पर निक्षेपों की रकम विशेषतः किसी सूचना द्वारा निकाली जाती है उस स्थान पर बैंक को रोकड निधि की कम आवश्यकता होगी। इसके विपरीत अगर चल-निक्षेपों की रकम अधिक परिमाण में है तो ऐसी स्थिति में यह माँग देनदारी होने के कारण रोकड निधि अधिक रखनी पडेगी।

(२) ग्राहकों की विशेषता—अगर बैंक के ग्राहकों में ऐसे ग्राहकों के लेख अधिक हैं जो सट्टा अथवा स्कंध-विनिमय व्यवहारों में रत हैं तथा लेखों की रकम में कमी-बेशी रहती है तो बैंक को अधिक रोकड निधि रखनी पडती है।

---

[1] *Banking Law & Practice* by Tannan, pp 196-199.

इसी प्रकार जिन बैंको के पास दूसरे बैंको के निक्षेप रहते है उन्हे भी अधिक परिमाण म रोकड निधि रखनी होगी।

(३) **विनिमय माध्यम का स्वरूप**—विनिमय माध्यम के लिए मुद्रा, चैक या साखपत्रा के उपयोग पर भी रोकड निधि की रकम निर्भर रहती है। जिस देश म अधिकतर मुद्रा के माध्यम से विनिमय होते हो, उस देश के बैंको को रोकड निधि अधिक रखनी पडेगी। इसके विपरीत जिस देश म चैक का प्रचार हो एव चैको द्वारा ही बहुतायत विनिमय व्यवहारो का भुगतान होता हो वहाँ दैनिक रोकड की आवश्यकता कम होगी तथा रोकड निधि कम रखनी पडेगी।

(४) **समाशोधन गृहो (Clearing Houses) का विकास**—समाशोधन गृहो के होने से चैक द्वारा होन वाली बैंको की देनदारी का आपस मे मिलान हो जाता है। अत जहाँ पर अधिकतर भुगतान चैको द्वारा होता है और समाशोधन गृह विकसित है उस देश मे बैंको का भुगतान परस्पर सन्तुलन से हो जाता है। इस कारण रोकड की आवश्यकता कम पडती है। इसलिए ऐसे देशो मे रोकड निधि भी कम रखी जाती है, अन्यथा अधिक।

(५) **व्यापारिक स्थिति**—देश की व्यापारिक स्थिति का रोकड निधि म घनिष्ट सम्बन्ध है। जिस देश मे विशपत कारखाने तथा अन्य प्रकार के व्यापार है जिनकी दैनिक रोकड की आवश्यकताएँ अधिक है, एसे देश के बैंको को रोकड निधि अधिक रखनी पडती है। इसके विपरीत कृषि प्रधान देशो अथवा क्षेत्रो मे केवल मौसम मे ही रोकड की आवश्यकता प्रतीत होती है। इसलिए ऐसे स्थानो पर मौसम के समय रोकड निधि अधिक तथा अन्य काल मे कम रोकड निधि रखनी पडती है।

(६) **निक्षेपो की औसत रकम**—जिस क्षेत्र अथवा देश मे निक्षेपो की औसत रकम अधिक होती है, उस देश मे बैंक को अधिक रोकड निधि रखनी पडती है क्योकि चल निक्षेप म अधिक रकम रखने वाले ग्राहको की सख्या कम होती है। इसके विपरीत जहा पर ग्राहक अधिक है तथा निक्षेपो की औसत रकम कम होती है वहा रोकड निधि कम रखनी पडती है, क्योकि पहली अवस्था म रोकड के लिए भी अधिक माँग होगी।

(७) **कटौती किये गये बिलो की रकम तथा अग्रिमो (Advances) का स्वरूप**—इस पर भी रोकड निधि की रकम निर्भर रहती है क्योकि जो बैंक अपने विनियोग प्रथम श्रणी के बिलो की कटौती करता है उसको किसी भी समय रोकड की आवश्यकता पडन पर उन बिलो की पुन कटौती द्वारा केन्द्रीय

बैंक मे रकम मिल सकती है। ऐसी अवस्था मे रोकड निधि कम रखी जाती है। इसके विपरीत अगर कटौती बिलो मे कम धन का उपयोग किया जाता है तथा ऋणो के लिए अधिक, तो बैंक को रोकड निधि अधिक रखनी पडती है, क्योंकि ऋणो का तत्काल ही भुगतान उसे नहीं मिल सकता।

(८) **जनता की आदतें**—जिस देश के लोग अपने पास कम धन रखना ठीक समझते है तथा अधिकाधिक धन विनियोग करते है या निक्षेपो मे रखते है, वहाँ बैंक के पास सदैव निक्षेप के रूप मे धन आता रहेगा तथा कुछ निकाला भी जायगा। इस प्रकार धन के सदैव आते-जाते रहने के कारण उसे रोकड निधि कम रखनी होगी। इसके विपरीत जहाँ के लोग विनियोग नहीं करना चाहते तथा अपनी रोकड अपने पास ही अधिक रखते हैं, ऐसे स्थान पर रोकड निधि अधिक रखनी पडेगी।

(९) **अन्य बैंको की रोकड निधि**—बैंको की रोकड निधि की रकम अन्य बैंको की रोकड निधि की रकम पर निर्भर रहेगी। क्योंकि जिन बैंको के पास रोकड निधि अधिक है उनमे जनता का विश्वास अधिक होगा। इसलिए प्रतिस्पर्धा एव जन-विश्वास सम्पादन करने की दृष्टि से जिनकी रोकड निधि कम है, उनको भी अपनी रोकड निधि उसी अनुपात मे बढानी होगी।

(१०) **वैधानिक आवश्यकताएँ**—बैंक की रोकड निधि सम्बन्धी देश की वैधानिक आवश्यकताओ की पूर्ति करना अनिवार्य है। भारत मे सूचीबद्ध बैंको को रिजर्व बैंक के पास अपनी मांग देनदारी का ५% तथा काल देनदारी का २% रोकड निधि रखना अनिवार्य है। अन्य बैंको को यह रकम अपने पास ही रखनी पडती है। इसका उद्देश्य ग्राहको के निक्षेपो की सुरक्षा करना है।

लाभकर उपयोग—बैंक को लाभ निम्न साधना से मिलता है —

(१) सर्वप्रथम बैंक अपनी पूंजी का अधिकांश भाग विभिन्न प्रकार के ऋण देने मे उपयोग करते हैं जिस पर ब्याज मिलता है, वह लाभ ही है।

(२) चल-लेखो पर अच्छे बैंक ब्याज नही देते अपितु ग्राहको से उनके कुल-व्यवहारो (turnover) पर कमीशन लेते है यह लाभ होता है। कहीं-कहीं चल-लेखो पर ब्याज दिया जाता है। भारत मे चल निक्षेपो पर साधारणत ½% ब्याज प्रत्येक बैंक देता है।

(३) बैंक जिन बिलो की कटौती करता है उन पर बट्टा लेता है। यह उसका लाभ होता है।

(४) बैंक अपने ग्राहको को अनेक प्रकार की सेवाएँ देता है, उसके बदले मे वह उनसे कमीशन लेता है। यह भी उसका लाभ होता है।

इस प्रकार जो लाभ बैंक कमाता है उसमे से अन्य बैंको को दिया हुआ व्याज, कमीशन, निक्षेपो पर व्याज, कर्मचारियो का वेतन एव घिसावट आदि व्यय निकालने के पश्चात् जो शेष बचता है, वह उसका शुद्ध लाभ होता है। जिसमे से कुछ भाग सचित निधि तथा आय-कर एव आगामी वर्ष के लिए स्थानान्तरित करने के बाद शेष को लाभाश के रूप मे बाँटा जाता है।

बैंक के लाभकर विनियोग निम्न है —

(१) **याचित एव अल्पकालीन ऋण**— इनका विवेचन अध्याय ३ मे किया गया है। भारत मे ऐसे ऋणो का परिमाण बहुत ही कम है क्योंकि स्कन्ध-विनिमय तथा बिल-बाजार विकसित न होने से व्यापारिक बिलो का अभाव है। ऐसे ऋण भारत मे केवल बडे-बडे व्यापारिक केन्द्रो मे ही दिये जाते है, जैसे कलकत्ता, बम्बई, मद्रास आदि। इस रकम मे बैंक एक दूसरे से जो ऋण लेते है उनका भी समावेश होता है क्योंकि ये ऋण बैंक अपने स्थिति विवरण में आर्थिक स्थिति की मजबूती दिखाने के लिए भी लेते है। इस प्रकार के ऋणो पर व्याज की दर बहुत कम अर्थात् ३/४% से १/२% प्रति वर्ष होती है। ऋण का माँग पर भुगतान न होने पर बैंक अपने पास ऋणी की रहन या बधक प्रति-भूतियो को बेचकर रोकड मे परिवर्तित कर लेता है।

(२) **बिलो का क्रय एव कटौती**—इस प्रकार के ऋणो मे प्रथम श्रेणी के प्रतिज्ञा पत्र, व्यापारिक एव कोष बिल तथा अन्तरराष्ट्रीय एव देशी बिलो का समावेश होता है। इन बिलो का व्यवहार भी यहाँ बहुत कम होता है क्योंकि भारत मे विकसित बिल-बाजार का अभाव है। विनिमय बैंक अवश्य कुछ हद तक अन्तरराष्ट्रीय बिलो का क्रय-विक्रय करते है। प्रतिज्ञा पत्रो की कटौती द्वारा भारत मे बहुत कम ऋण दिये जाते है। बैंक अधिकतर ऐसे ही बिलो की कटौती करते है अथवा खरीदते है जिनको आवश्यकता पडने पर किसी भी समय केन्द्रीय बैंक पुन कटौती कर देगा, अथवा जिनको स्कन्ध-विनिमय मे बिना किसी प्रकार की हानि के बेचा जा सकता है। इस प्रकार विनिमय-बिलो मे विनियोग के कारण बैंको को अपने पास अधिक रोकड नही रखनी पडती। दूसरे, इन बिलो की कटौती एव क्रय भी बैंक इस प्रकार करते हैं कि एक के बाद दूसरे का भुगतान मिलता रहे और उनके पास रोकड की कमी न रहे।

(३) **विनियोग-पत्र**—यह बैंक की सुरक्षा का तीसरा साधन है। इसमे बैंक अपने धन का बहुत बडे परिमाण मे विनियोग करते है। किन्तु विनियोग-पत्रो को खरीदते समय बैंक ऐसे ही विनियोग-पत्रो का क्रय करते है जो प्रथम श्रेणी

की प्रतिभूतियाँ हैं। ऐसी प्रतिभूतियों को किसी भी समय बिना किसी हानि के स्कन्ध-विनिमय में बेचकर रोकड में बदला जा सकता है अथवा इनकी रहन पर केन्द्रीय बैंक से ऋण लिया जा सकता है। इन प्रतिभूतियों पर ऋण की अपेक्षा ब्याज तो कम मिलता है लेकिन विनियोग सुरक्षित एवं तरल होता है। विनियोग-पत्रों में विनियोग का अनुपात भारत में कुल निक्षेपों का ४०%, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में ६०% तथा इङ्गलैंड में २७% है। इङ्गलैंड में अन्तर-राष्ट्रीय बिल-बाजार एवं मुद्रा-मण्डी होने के कारण वहाँ पर अधिकतर विनियोग बिलों की कटौती एवं क्रय में किया जाता है जिसका भारत में अभाव होने से हमारे बैंक अधिकांश धन प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों, कोष-बिलों आदि में लगाते हैं।

विनियोग-पत्रों से लाभ—(अ) स्थिति-विवरण में इनका परिमाण जितना ही अधिक होगा उतनी ही ग्राहकों को निक्षेपों की सुरक्षा होती है तथा विश्वास बढ़ता है।

(आ) बैंक को स्थायी एवं निश्चित आय मिलने का विश्वास रहता है।

(इ) मूल्य में स्थिरता रहती है क्योंकि ये प्रतिभूतियाँ प्रथम श्रेणी की होती हैं।

(ई) आवश्यकता पड़ने पर बैंक इनको किसी भी समय बेचकर रोकड में बदल सकता है या केन्द्रीय बैंक में इनकी रहन पर ऋण ले सकता है।

(उ) इनका बाजार-मूल्य आसानी से किसी भी समय मालूम हो सकता है।

(ऊ) इनके स्वामित्व के सम्बन्ध में कोई वाद उपस्थित नहीं होता।

विनियोग-पत्रों का आधार—बैंक सुरक्षा, स्थायी प्राप्ति, मूल्य के उतार-चढ़ाव की कम सम्भावना तथा किसी भी समय रोकड में बदलने की सरलता के कारण अपना विनियोग प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों में करते हैं।

बैंक विनियोग-पत्रों को खरीदते समय निम्न बातों का विचार करता है[1] —

(अ) धन की सुरक्षा—विनियोग-पत्रों को खरीदते समय उसे दूर-दृष्टि से काम लेना चाहिए क्योंकि उसे अपने धन की सुरक्षा और अपने ग्राहकों का विश्वास अडिग रखना पड़ता है। उसे इन पत्रों का क्रय कभी तत्कालीन लाभ अथवा सट्टे की दृष्टि से नहीं करना चाहिए।

(ब) विक्रयशीलता (Marketability)—जो विनियोग-पत्र अथवा प्रतिभूतियाँ बैंक खरीदता है उनको किसी प्रकार की हानि से बेचना भी सम्भव

---

[1] *Banking Law & Practice in India* by Tannan, pp. 202-204

होना चाहिए । क्योकि ये विनियोग-पत्र इसलिए खरीदे जाते हैं जिससे कि सकट के समय उनको रोकड मे बदला जा सके ।

(स) **मूल्य-स्थिरता**—बैंक को यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रतिभूतियाँ वह केवल लाभार्जन की दृष्टि से न खरीदते हुए अपने धन की सुरक्षा के लिए खरीदता है । इसलिए उसको वही प्रतिभूतियाँ खरीदनी चाहिए जिनके मूल्यो मे उतार-चढाव की सम्भावना न हो । क्योकि बैकार का उद्देश्य सट्टे मे लाभ कमाने का नही होता अपितु आवश्यकता पडने पर ही विक्रय करना होता है। मूल्यों मे अधिक उतार-चढाव होने वाली प्रतिभूतियों से जनता का विश्वास डिग जाता है जिसमे हानि की सम्भावना अधिक रहती है ।

(द) **विनियोग आय**—बैंक को विनियोग पत्र खरीदते समय यह देखना चाहिए कि विनियोजित धन पर उसे समुचित एव स्थायी रूप से लाभाश अथवा ब्याज मिलता रहे । इसके साथ ही विनियोग-पत्रो की आय की गणना (calculation) भी उसे ठीक से करना चाहिए । इस प्रकार उसे आय का स्थायित्व देखते हुए आय का हिसाब भी लगाना चाहिए । आय का हिसाब लगाते समय उन पर दिया जाने वाला आय-कर, खरीदते समय मिलने वाला बट्टा अथवा दी जाने वाली अपहार प्रव्याजि, इसी प्रकार उनके भुगतान पर मिलने वाली प्रव्याजि अथवा लगने वाले बट्टे आदि का समावेश होना चाहिए ।

प्रतिभूतियो का वर्गीकरण—सुरक्षा की दृष्टि से विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियो का वर्गीकरण निम्न प्रकार होगा —

(अ) **सरकारी प्रतिभूतियाँ तथा ऋण-पत्र**—इनमे सरकारी कोष-पत्र, राज्य तथा केन्द्र सरकारो के ऋण-पत्र आदि का समावेश होता है । सरकारी कोष-पत्रो की अवधि बहुधा ३ से ६ महीने की होती है तथा इस प्रकार की प्रतिभूतियो एव ऋण-पत्रो के मूल्यो मे उतार चढाव भी सामान्यत नही होते । इसीके साथ उनको किसी भी समय बेचकर रोकड मे बदला जा सकता है तथा आय मे भी स्थिरता रहती है ।

(आ) **अर्ध-सरकारी प्रतिभूतियाँ**—इनमे स्थानीय अधिकारियो द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियाँ बॉण्ड आदि का समावेश होता है । ये प्रतिभूतियाँ नगर-पालिका, जिला समिति (dictrict boards), नगर-निगम आदि निर्गमित करती है । सरकारी प्रतिभूतिया के बाद ये सबसे अच्छी प्रतिभूतियाँ होती हैं ।

(इ) **रेलवे की प्रतिभूतियाँ**—इसके बाद रेलवे कम्पनियो द्वारा निर्गमित बॉण्ड, प्रतिभूतियाँ तथा ऋण-पत्रो का क्रमाक आता है । विशेषत रेलवे कम्प-

नियों की प्रतिभूतियों पर सरकार की गारण्टी होती है जिसमे इनमे विनियोग सुरक्षित होता है तथा इन प्रतिभूतियों के लिए रेलवे की स्थायी सम्पत्ति जमानत के रूप रहती है।

(ई) जन-उपयोगी संस्थाओं की प्रतिभूतियाँ—जन-सेवा करने वाली कम्पनियों द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों ऋण पत्र आदि का समावेश होता है। *उदाहरणार्थ जल बिजली कम्पनी आदि, जिनको एक स्थान की पूर्ति का एकाधिकार होता है।* इनमे विनियोग सुरक्षित होता है क्योंकि एकाधिकार प्राप्त होने से इनको लाभ अवश्य ही होगा, जिससे आय में भी स्थायित्व रहता है।

(उ) औद्योगिक एवं व्यापारिक कम्पनियों के अंश, ऋण-पत्र आदि—ये सुरक्षा की दृष्टि से सबसे अन्त में आते हैं क्योंकि इनके मूल्य मे व्यापारिक *स्थिति के अनुसार उतार-चढ़ाव होते हैं।* इस प्रकार की प्रतिभूतियों में ऋण-*पत्र सबसे अधिक सुरक्षित एवं स्थायी आय देने वाला विनियोग होता है।* ऋण-पत्रों के लिए कम्पनी की सम्पत्ति रहन रहती है। इसी प्रकार कम्पनी की दिवालिया स्थिति मे भी ऋण पत्रधारियों की रकम पहले चुकाई जाती है। ऋण पत्रों के बाद पूर्वाधिकार अंश सामान्य अंश तथा अस्थगित अंश आते हैं। *इनके मूल्यों में अधिक उतार-चढ़ाव होते रहते हैं अत इनमे बैंक को अपना* धन कभी भी नही लगाना चाहिए। दूसरे व्यापारिक स्थिति के अनुसार इनके लाभ घटने-बढ़ने रहते हैं जिससे आय मे स्थिरता नही रहती।

(४) ऋण एवं अग्रिम—यह बैंक के धन का चौथा लाभकर उपयोग है। ये ऋण व्यक्ति फर्म तथा कम्पनियों को भिन्न भिन्न रूप मे दिये जाते हैं। ऋण देने के *कार्य मे बैंक का जनता से सीधा सम्बन्ध होता है। इसी समय वह* अपनी कुशल नीति एवं समुचित व्यवहार से जनता का विश्वास सम्पादन कर सकता है। इसीके साथ उसकी ऋण-नीति ऐसी होनी चाहिए जिससे उसे डूबने ऋण के रूप मे हानि न उठानी पड़े। बैंक को सबसे अधिक लाभ इसी पद से मिलता है क्योंकि ये ऋण ६% से ९% प्रति वर्ष ब्याज पर दिये जाते है। इसलिए अधिकतर रकम का उपयोग ऋण देने मे किया जाता है। इन ऋणों का निक्षेपों से अनुपात ५० से ६० प्रतिशत रहता है। किन्तु इन ऋणों मे उतनी तरलता नही होती जितनी ऊपर बताये गये विनियोगों मे होती है। *यद्यपि ऋण इस शर्त पर दिये जाते हैं कि माँग पर भुगतान हो,* फिर भी सकट-काल मे ऐसा भुगतान केवल असम्भव ही नही, अपितु आर्थिक सकट को घोरतम बना देता है। इससे बैंक की आर्थिक स्थिति भी गम्भीर हो जाती है।

इसीलिए इस मद मे अपना विनियोग करते समय बैंक को सुरक्षा एव तरलता के साथ ही ऋणी की माँग पर उनका भुगतान करने की शक्ति और लाभ किस प्रकार अधिक मिलेगा, यह भी देखना पडता है। ऋण एव अग्रिम देते समय निम्न बातो पर विशेष रूप से ध्यान देना पडता है —

(अ) ऋण की सुरक्षा,
(आ) ऋण की तरलता,
(इ) ऋण एव ऋण की जमानत मे पर्याप्त अन्तर हो,
(ई) ऋण अल्पकालीन ही हो,
(उ) ऋण मे अधिक लाभ की सम्भावना,
(ऊ) माँग पर ऋणो का भुगतान प्राप्त होने की सम्भावना, तथा
(ए) ऋण का समुचित वितरण, जिसमे एक ही उद्योग अथवा व्यापार मे ऋण का केन्द्रीकरण न हो।

ऋण के प्रकार एव स्वरूप—बैंक दो रूप मे ऋण देते हैं—सुरक्षित ऋण, असुरक्षित ऋण।

सुरक्षित ऋण बैंक किसी न किसी प्रकार की सहायक प्रतिभूतियो (collateral securities) की जमानत पर अथवा अन्य सम्पत्ति के रहन पर देते है। व्यापारिक बैंक केवल अल्पकालीन ऋण ही देते है, परन्तु उनकी सुरक्षा के लिए वे किसी न किसी प्रकार की जमानत अवश्य लेते हैं। जिन ऋणो पर वैयक्तिक जमानत होती है, उन्हे असुरक्षित ऋण अथवा सामान्य अग्रिम (clean advances) कहते है, तथा जिन ऋणो के लिए सहायक प्रति भूतियाँ अथवा अन्य किसी प्रकार की सम्पत्ति रहन मे होती है, उन्हे सुरक्षित ऋण कहते है।

सुरक्षित ऋणो पर बैंक कम ब्याज लेता है क्योंकि उनमे हानि की सम्भावना बहुत कम होती है तथा उनके समय पर भुगतान न होने पर वह प्रतिभूतियो को बेचकर रोकड मे बदल सकता है। इसके विपरीत असुरक्षित ऋणो पर बैंक अधिक ब्याज लेता है।

असुरक्षित ऋण दो प्रकार से दिये जाते है—(१) ऋणी के प्रतिज्ञा-पत्र के आधार पर, (२) ऋणी के प्रतिज्ञा-पत्र पर किसी अन्य व्यक्ति के हस्ताक्षर के आधार पर, जो उस ऋण के भुगतान की जमानत (guarantee) दे। भारत मे प्रथम प्रकार के ऋण विशेषत नही दिये जाते किन्तु पाश्चात्य देशो मे ऐसे ऋणो का प्रचार बहुत अधिक है। इसी भाँति दूसरे प्रकार के दो नामधारी

प्रतिज्ञा-पत्रों के आधार पर भी ऋण देने की प्रथा हमारे यहाँ प्रचलित नहीं है। दो नामधारी पत्रों तथा सहायक प्रतिभूतियों की रहन के आधार पर ऋण दिया जाता है। क्योंकि,

(१) भारत में ऐसी साख एवं व्यापारिक संस्थाएँ नहीं हैं जो ऋणी की आर्थिक स्थिति की जानकारी दें। इसीलिए बैंकों को ऋण देने में अधिक सावधानी आवश्यक होती है। ऐसी संस्थाएँ विदेशों में होने के कारण एक-नामधारी पत्रों के आधार पर भी ऋण दिये जाते हैं।

(२) *'एक व्यक्ति एक बैंक की नीति का अभाव'* अर्थात् एक व्यक्ति का लेखा एक ही बैंक में हो तथा उस व्यक्ति के सब आर्थिक व्यवहार उसी बैंक के द्वारा हो तो उसे ग्राहक की आर्थिक स्थिति की जानकारी पूर्णरूपेण रहती है।

(३) मुद्रा-मण्डी में ऋणी तथा ऋण देने वालों में परस्पर सम्पर्क का अभाव रहता है।

(४) भारतीय बैंकों की प्रवृत्ति—बड़ी-बड़ी कम्पनियों को भी बैंक प्रबन्ध-अभिकर्त्ता की जमानत के बिना ऋण नहीं देते, जिससे आर्थिक क्षेत्र में इनका *महत्व बढ़ गया है।*

असुरक्षित ऋण दो प्रकार के होते हैं —

(अ) नगद-साख—रोक-ऋण बैंक अपने ग्राहक को अथवा *अन्य* व्यक्ति को भी देता है। *इन ऋणों का चलन सर्वप्रथम स्कॉटलैण्ड में हुआ। इन ऋणों* को देते समय बैंक ऋणी से प्रतिज्ञा-पत्र लेता है जिस पर ऋणी के तथा अन्य दो मान्य व्यक्तियों के हस्ताक्षर होते हैं, जिन्हें बैंक जानता हो। इसके साथ ही *बैंक ऋणी से अपने गोदाम में व्यापारिक माल बन्धक या रहन रख लेता है और* जैसे-जैसे ऋण का भुगतान होता है वैसे-वैसे ऋणी को माल मिलता रहता है। ऋण की राशि एवं अवधि के सम्बन्ध में बैंक एवं ऋणी में समझौता होता है परन्तु बैंक ऋणी द्वारा केवल वास्तविक ली गयी रकम पर ही ब्याज लेता है। किसी भी स्थिति में बैंक न्यूनतम निश्चित ब्याज ऋणी से लेता है। यह साधारणत स्वीकृत ऋण की $\frac{1}{4}$ राशि पर लिया जाता है। ऋण की रकम ग्राहक के चल खाते में जमा नहीं की जाती।

(ब) अधिविकर्ष (Overdraft)—इसमें बैंक और ग्राहक में अधिविकर्ष की राशि एवं अवधि के सम्बन्ध में समझौता होता है। इसके लिए बैंक साधारणत ग्राहक से प्रतिज्ञा-पत्र लेता है परन्तु अन्य किसी प्रकार की जमानत नहीं लेता। इसमें ग्राहक अपनी जमा राशि से अधिक राशि के चैक काट सकता है

जो राशि उसके चल खाते में नामे (debit) की जाती है। इसमें ऋणी के नाम पर जितनी रकम जमा रहती है उस पर बैंक ब्याज लेता है। किसी भी स्थिति में बैंक, अधिविकर्ष की न्यूनतम राशि पर ब्याज लेता ही है क्योंकि इसमें बैंकर को अपने पास अधिक रोकड़ निधि रखनी पड़ती है।

अन्य ऋण—अन्य प्रकार के ऋण बैंक केवल प्रतिभूतियों की जमानत अथवा रहन पर देता है। साधारण ऋण ऋणी के लेखे में जमा कर दिया जायगा और ऋण लेने वाला इस रकम को रोकड़ में लेगा। इस पर ऋणी को पूर्ण रकम पर ब्याज देना होगा। ऋण की रकम ऋणी सदैव अपने पास ही रखे, ऐसी बात नहीं है। विशेषत इस रकम को ऋणी बैंक में अपने खाते में जमा करते है तथा आवश्यकतानुसार चैक काटते है। इसीलिए ग्राहक की दृष्टि से रोक-ऋण तथा अधिविकर्ष अधिक लाभकर होते है। दूसरे रोकड-ऋण तथा अधिविकर्ष में लिए हुए ऋण अल्पकालीन होते हैं तथा अन्य ऋण कुछ दीर्घकालीन होते है। तीसरे, अधिविकर्ष अथवा रोकड-ऋण की रकम पर जब तक अवधि पूरी नहीं होती, तब तक चैक लिखे जा सकते है तथा लेखे में समय-समय पर रकम भी जमा की जाती है। ऐसी जमा की गयी रकम से रोकड-ऋण अथवा अधिविकर्ष की राशि कम होती है। परन्तु सामान्य ऋणों में यह नहीं होता अपितु पुन दूसरा ऋण लेना होता है।

भारत में बैंक बिना दो अन्य व्यक्तियों की जमानत के ऋण नहीं देते। कभी-कभी इन ऋणों की सुरक्षा के लिए ऋणी की प्रतिभूतियाँ, स्वर्ण, व्यापारिक माल अथवा अन्य वस्तु-अधिकार-पत्र (documents of title to goods) आदि रहन रखते है। इस प्रकार बैंक के अरक्षित ऋण ऋणी की साख, उसके व्यापार की स्थिति आदि का पूर्ण विचार करने के बाद दिये जाते हैं। ऋणों की सुरक्षा की दृष्टि में बैंक ग्राहक के गत वर्षों के स्थिति-विवरणों का अध्ययन करते है तथा ऋणी की बाजार में कितनी साख है, इसकी जानकारी लेते है। भारत में ऐसी कोई भी संस्था नहीं है जो विभिन्न क्षेत्रों के व्यापारियों की साख का पूर्ण ज्ञान दे सके। इसीलिए भारत में इस प्रकार के ऋण किसी अन्य व्यक्ति की जमानत के बिना नहीं दिए जाते।

व्यक्तिगत जमानत के साथ ही सहायक प्रतिभूतियाँ भी रहन रखी जाती है, जिससे किसी भी कारण ऋण का भुगतान न हो तो बैंक इन प्रतिभूतियों को बेचकर अपनी राशि चुका लेता है। भारत में अधिकतर इस प्रकार की प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण दिये जाते हैं।

साराश

बैंक की दुहरी जिम्मेवारी होती है। एक ओर तो उसे ग्राहको से माँग होने पर भुगतान करना होता है, दूसरी ओर सम्पूर्ण धन को वह अपने पास भी नहीं रख सकता, क्योंकि उसे लाभ कमाना होता है। अतः उसे विनियोग करना आवश्यक होता है।

बैंक की विनियोग नीति निम्न बातो पर आधारित होती है —

(१) सम्पत्ति की तरलता, (२) केन्द्रीय बैंक की विनियोग नीति का पालन, (३) सम्पत्ति की सुरक्षा एव ग्राय, (४) विनियोगों की विविधता, (५) निधि की व्यवस्था।

बैंक अपने विनियोग दो प्रकार से करता है—लाभकर एव अलाभकर।

अलाभकर विनियोगो मे भू गृहादि, फर्नीचर एव फिटिंग्स ग्रादि तथा रोकड निधि का समावेश होता है।

रोकड निधि बैंक को ग्राहको के चैंको का भुगतान करने के लिए अपने पास रखनी पडती है जो निम्न बातो पर निर्भर रहती है —

निक्षेपों का स्वरूप ग्राहको की विशेपता, विनियम माध्यम का स्वरूप, समाशोधन गृहो का विकास, व्यापारिक स्थिति, निक्षेपो की औसत राशि, कटौती किये गये बिलों की राशि एव अग्रिम का स्वरूप, जनता की आदतें, अन्य बैंको की रोकड निधि तथा वैधानिक रोकड निधि की आवश्यक्ता।

लाभकर विनियोग—(१) याचित एव अल्पकालीन ऋण, (२) बिलो का क्रय एव कटौती, (३) विनियोग पत्रो का क्रय (४) ऋण एव अग्रिम।

भारत मे बिल बाजार विकसित न होने से एव स्कन्ध-विनिमय कुछ निश्चित क्षेत्रो मे ही सीमित होने से बैंक का विनियोग पहिली दो मदो मे बहुत कम होता है। विनियोग-पत्रों को खरीदने से बैंक मे जनता का विश्वास रहता है, उसे आय की निश्चितता तथा तरलता रहती है और साथ ही इनके बाजार मूल्य आसानी से मालूम किये जा सकते हैं।

विनियोग-पत्र खरीदने मे बैंक को निम्न बातो की ओर ध्यान देना चाहिए—सुरक्षा, विनियोग पत्रों की विक्रयशीलता, मूल्यस्थिरता तथा आय।

इस दृष्टिकोण से क्रमश सरकारी प्रतिभूतियां, अर्ध सरकारी प्रतिभूतियां, रेलवे एव जनउपयोगी कम्पनियों की प्रतिभूतियां आती हैं। औद्योगिक एव व्यापारिक कम्पनियो की प्रतिभूतिया मे सुरक्षा का अभाव रहता है।

ऋण एवं अग्रिम देते समय बंक को इनको सुरक्षा, तरलता, ऋण एव जमानत मे अन्तर, अल्पकालीन अवधि, अधिक लाभ एव ऋणो का मांग पर भुगतान होने की सम्भावना एवं विविधता पर अधिक ध्यान देना चाहिए।

बंक सुरक्षित एवं असुरक्षित ऋण देता है परन्तु भारत मे असुरक्षित ऋण नहीं के बराबर दिये जाते हैं। असुरक्षित ऋणो मे रोक ऋण एव अधिविकर्ष का ही प्रचलन है।

सुरक्षित ऋण व्यक्तिगत जनता के अलावा अन्य सम्पत्ति अथवा प्रतिभूतियो की जमानत पर दिये जाते हैं।

अध्याय ५

जमानत-अनुबंध तथा सहायक प्रतिभूतियाँ

बैंक ऋण देने के पूव ऋण की सुरक्षा के लिए जमानत लेते हैं जो दो प्रकार की होती है —

(१) व्यक्तिगत जमानत — जब ऋणी अपने प्रतिज्ञा-पत्र के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की जमानत बैंक को देता है, तब उसे व्यक्तिगत प्रतिभूति कहते हैं।

(२) सहायक जमानतें—व्यक्तिगत जमानत के अतिरिक्त जब ऋणी कम्पनियों के अंश, ऋण-पत्र अथवा अन्य किसी प्रकार की प्रतिभूतिया बैंक के पास जमानत के लिए रखता है, तब उन्हे सहायक प्रतिभूतियां कहते है।

व्यक्तिगत जमानत—इसमे ऋणी अथवा उसके माफत किसी अन्य व्यक्ति द्वारा बैंक को जमानती अनुबन्ध दिया जाता है। यह जमानत दो प्रकार की होती है—(१) **निश्चित** (specific) **जमानत** मे जमानतदार किसी विशेष एव निश्चित रकम की ही जमानत देता है। (२) **चल** (continuing) **जमानत** म ऋणी की पूर्ण या कम-अधिक होन वाली राशि के लिए जमानत दी जाती है। इस प्रकार की जमानत म जमानतदार पर ऋण के सम्पूर्ण भुगतान की जिम्मेदारी रहती है, किसी निश्चित रकम की नही।

भारतीय अनुबन्ध अधिनियम के अनुसार बैंक जो जमानत लेता है वह मौखिक तथा लिखित हो सकती है। किन्तु बैंक को सदैव लिखित जमानत लेनी चाहिए जिससे जमानत की शर्तों मे परिवर्तन न हो सके। बैंक को जमानत स्वीकार करने के पूव जमानतदार की साख एव आर्थिक स्थिति की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए।

जमानती अनुबन्ध—जमानती अनुबन्ध म 'किसी तीसर व्यक्ति के दोषी रहने पर उसका वायदा पूर्ण करने का, अथवा उसके ऋण के भुगतान की जिम्मेदारी कोई व्यक्ति लेता है। इन अनुबन्धो म ऋणी की ओर से यदि जमानतदार किसी ऋण का भुगतान करता है तो उसको ऋणदाता के अधिकार प्राप्त हो जाते है। अर्थात् मूल ऋणी से वह अपनी रकम का भुगतान कानून से

ले सकता है । इन अनुबन्धा मे जो व्यक्ति जमानत देता है उसे जमानतदार, जिसके लिए जमानत दी जाती है उसे ऋणी, तथा जिसको जमानत दी जाती है उसे (बैंक को) ऋणदाता कहते है । इन अनुबन्धो मे जमानतदार की जिम्मेदारी तभी होती है जब मूल ऋणी दोषी है, इसलिए प्राथमिक जिम्मदारी मूल ऋणी की तथा गौण जिम्मेदारी जमानतदार की होती है । स्पष्ट है कि इन अनुबन्धा मे तीन पक्ष होते है—पहला ऋणी, जिसकी ऋणदाता के प्रति प्राथमिक जिम्मेदारी होती है, दूसरा जमानतदार, तथा तीसरा ऋणदाता ।

जमानती अनुबन्ध लेना—बैंक का अपन ऋण की सुरक्षा के लिए जमानती-पत्र (form of guarantee) अच्छे ढङ्ग से—जिसम कोई वैधानिक दोष न रहे—बनाना चाहिए । यथासम्भव इस पत्र मे जमानत की रकम साफ-साफ होनी चाहिए कि जमानत ऋणी के पूर ऋण अथवा ऋण के किसी विशेष भाग के लिए दी गई है, अथवा उसकी क्या सीमा है । यथासम्भव इस प्रकार की जमानत ऋणी के पूर ऋण के लिए लेनी चाहिए जिसमे ऋणी की मृत्यु अथवा उसके दिवालिया होने पर जमानतदार स पूरा ऋण वसूल हो सके । इसलिए बैंक छपे हुए जमानती अनुबन्ध पत्र रखते है, जिसको जमानतदार द्वारा भरवाया जाता है, जिससे वह अपनी जिम्मेदारी से मुक्त न हो सके ।

जमानत लेते समय सावधानी—(१) बैंक का जमानतदार की साख एव आर्थिक स्थिति की पूण रूप से जाच करा लेनी चाहिए जिसमे उसको किसी हानि की सम्भावना न रहे ।

(१) भारतीय अनुबन्ध विधान के अनुसार नाबालिग, पागल तथा जिनका अनुबन्ध के समय दिमाग खराब था, एसे व्यक्तिया के साथ अनुबन्ध नही करना चाहिए क्याकि उनमे अनुबन्ध करने की योग्यता नही होती । दूसरे, इनके साथ होने वाल अनुबन्ध व्यथनीय (voidable) होते है ।

(३) विवाहित स्त्रियो की जमानत स्वीकार करन समय भी उसे यह सावधानी रखनी चाहिए कि जमानत किसी दबाव के कारण नही दी गई है' इसका स्पष्ट उल्लेख जमानती-अनुबन्ध मे होना चाहिए ।

(४) जमानत उसी विवाहित स्त्री की होनी चाहिए जिसके पास स्वतन्त्र निजी सम्पत्ति हो एव जिस पर उसका ही अधिकार हो, जैसे भारत म 'स्त्री धन ।

(५) साझेदारी फर्मो की जमानत करन के पूर्व उनके व्यापार का स्वरूप तथा फम अपने सामान्य व्यापार म जमानती अनुबन्ध कर सकता है या नही

यह देख लेना चाहिए। दूसरे साझेदारी विधान के अन्तर्गत किसी साझेदार की मृत्यु अथवा अवकाश से साझेदारी का संविधान (constitution) भी बदल जाता है। इसलिए उस किसी भी साझेदार की मृत्यु अथवा अवकाश की सूचना मिलते ही उस फर्म से नया जमानती अनुबन्ध लेना चाहिए और जब तक यह नहीं मिलता तब तक मूल ऋणी का खाता बन्द कर देना चाहिए।

(६) रजिस्टर्ड कम्पनियों से जमानत लेते समय बैंक को कम्पनी के सीमा-नियम तथा अन्तर्नियमों को देख लेना चाहिए कि इस प्रकार का अधिकार उन्हें है अथवा नहीं। अगर उनको ऐसा अधिकार नहीं होगा तो जमानत के लिए केवल कम्पनी के संचालक ही जिम्मेदार रहेंगे न कि कम्पनी।

बैंकर की जिम्मेदारी—(१) जमानती अनुबंधों में इस अनुबंध के सम्बन्ध में *किसी भी बात को जमानतदार से छिपाना नहीं चाहिए और न इस प्रकार का* कोई व्यवहार बैंक करे जिससे जमानतदार की गलत धारणा (misrepresentation) हो जाय क्योंकि ऐसी स्थिति में जमानदार अपनी जिम्मेदारी की पूर्ति के लिए विधान द्वारा बाध्य नहीं होता। वास्तव में बैंक का ऋणी की स्थिति के विषय में जमानतदार को किसी भी प्रकार की सूचना देने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु ऐसी सूचना जो जमानती अनुबन्ध से प्रत्यक्ष सम्बन्धित एवं महत्व की है उसे जमानतदार को बताने की जिम्मेदारी बैंक की है।

(२) अगर ऋणी की आर्थिक स्थिति के बारे में जमानतदार कोई भी *सूचना बैंक से पूछता है तो वह भी उसे इस प्रकार बताना चाहिए जिससे ऋणी* की साख को धक्का न पहुँचे तथा वास्तविक स्थिति का ज्ञान भी हो।

(३) जमानत में जमानतदार की अनुमति बिना अगर किसी भी प्रकार का परिवर्तन किया जाता है तो जमानतदार परिवर्तन के बाद के ऋणों एवं व्यवहार के दायित्व से मुक्त हो जाता है। इसलिए अनुबंध में किसी प्रकार के परिवर्तन जमानतदार को सूचना दिये बिना तथा उसकी सम्मति बिना नहीं करने चाहिए। परन्तु अगर जमानतदार ने इस प्रकार परिवर्तन करने का अधिकार बैंक को दिया हो तो परिवर्तन हो सकते हैं। ऐसे परिवर्तनों की सूचना जमानतदार को दी जानी चाहिए।

जमानतदार के अधिकार—(१) जमानती अनुबंधों में जमानतदार को जमानत देते समय अपनी देनदारी के सम्बन्ध में बैंक से पूरी जानकारी प्राप्त करने का पूरा अधिकार होता है। परन्तु वह ऋणी के खाते को नहीं देख सकता और न उसके खाते का हिसाब ही ले सकता है।

(२) जमानती अनुबन्ध की शर्तों के अनुसार चल-जमानत सूचना देने के बाद स्थगित करा सकता है जिससे उसका उत्तरदायित्व सीमित हो जाता है। इस प्रकार जब चल-जमानत का अन्त जमानतदार की ओर से किया जाता है, तब बैंक को अपने ऋणी को उसकी सूचना देनी चाहिए, जिससे उसके ऋण सुरक्षित रहे, अन्यथा सूचना की अवधि समाप्त होते ही क्लेटन का नियम लागू हो जाता है। इस नियम के अनुसार ऋणी द्वारा किया गया भुगतान ऋण को कम करता है।

(३) मृत्यु की सूचना के दिन से भी जमानतदार की जिम्मदारी का अन्त हो जाता है।

(४) जब किसी ऋण का भुगतान ऋणी की ओर से जमानतदार करता है तो उसको ऋणदाता के (अर्थात् बैंक के) सब अधिकार प्राप्त हो जाते हैं तथा बैंक के पास जो प्रतिभूतियाँ आदि जमानत के रूप मे जमा ह उन पर भी जमानतदार का अधिकार हो जाता है। ऋण की जमानत अगर आशिक है तो उस अनुपात मे ही उसे प्रतिभूतियों पर अधिकार मिलेगा। इसी प्रकार अगर जमानतदार अधिक है तो उनको उनकी जमानत के अनुपात मे ऐसे अधिकार मिलगे। इसी प्रकार यदि किसी एक जमानतदार को ऋण के भुगतान मे अधिक रकम देनी पड़ती है तो जितनी रकम उसने अधिक दी है वह उस रकम को अन्य जमानतदारो से प्राप्त कर सकता है।

सहायक प्रतिभूतिया

सहायक प्रतिभूतिया उस मूर्त (tangible) सम्पत्ति को कहते है जो बैंक के पास ऋण की सुरक्षा के लिए ऋणी रखता है, ताकि ऋण के भुगतान न होने पर उस सम्पत्ति के विक्रय द्वारा ऋण का भुगतान प्राप्त किया जा सके। इसलिए बैंक अपने ऋण की सुरक्षा के लिए व्यक्तिगत जमानत के अतिरिक्त इस प्रकार की प्रतिभूतियाँ जमानत के रूप मे लेते है। ये प्रतिभूतियाँ देश एव व्यापारिक स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थान मे भिन्न-भिन्न होती हैं। उदाहरणार्थ कलकत्ता, बम्बई आदि बडे-बडे व्यापारिक केन्द्रो मे परम प्रतिभूतियाँ (gilt edged securities) तथा कम्पनियो के हिस्से आदि जमानत मे लिए जाते है। किसी निर्माणी केन्द्र मे कम्पनियाँ ऋण प्राप्त करने के लिए अपना कच्चा माल अथवा स्थायी सम्पत्ति जमानत मे देते है। अन्य व्यापारी वर्ग जीवन बीमा, वस्तु अधिकार-लेख (documents of title to goods) आदि जमानत मे देते है। इस प्रकार जितने प्रकार की प्रतिभूतियां होगी, उतनी ही बैंक को कम

हानि की सम्भावना रहती। जो ऋण वैयक्तिक जमानत के अतिरिक्त सहायक प्रतिभूतियों से पूर्णतः सुरक्षित रहते हैं उन ऋणों को रक्षित (secured) ऋण कहते हैं।

सहायक प्रतिभूतियों का स्वरूप—बैंक तीन प्रकार से सहायक प्रतिभूतियों पर अधिकार लेता है —

(१) **ग्रहणाधिकार** (Lien)—बैंक और ग्राहक के सम्बन्ध का एक विशेषता है कि बैंक को ग्राहक के खाते के सामान्य शेष की (ऋण की) जमानत के लिए ग्राहक द्वारा रखी हुई प्रतिभूतियों सम्पत्ति आदि पर सामान्य ग्रहणाधिकार मिलता है। ग्रहणाधिकार के लिए किसी प्रकार के समझौते की आवश्यकता नहीं रहती बल्कि यह ध्वनित (implied) होता है।[1] बैंक का ग्रहणाधिकार ग्राहक की उन सब प्रतिभूतियों पर रहता है जो उसके पास सामान्य बैंकिंग व्यापार में आती हैं। परन्तु यदि यही प्रतिभूतियाँ उसके पास किसी विशिष्ट हेतु के लिए आती है तो उन पर उसे ग्रहणाधिकार नहीं होता। परन्तु वह उन्हें ग्राहक की सम्मति बिना बेच नहीं सकता। इनका विक्रय करने करने के लिए उसे ग्राहक के विरुद्ध न्यायालय से ऋण भुगतान के लिए विक्रय पत्र (decree) प्राप्त कर लेना चाहिए। ग्रहणाधिकार ध्वनित अधिकार होने के कारण बैंक के ग्रहणाधिकार में आई हुई प्रतिभूतियां अथवा वस्तुओं को अपने ग्राहक को पर्याप्त सूचना देने के बाद ऋण के भुगतान में बेच सकता है एवं इसके लिए वैधानिक स्वीकृति भी है।

जो वस्तुएं अथवा प्रतिभूतियां उसके पास सुरक्षा के लिए रखी जाती हैं उन वस्तुओं पर उसे ग्रहणाधिकार नहीं होता क्योंकि ये वस्तुएं उसके पास एक विशिष्ट हेतु सुरक्षा के लिए रखी जाती है। परन्तु अगर बैंक के नाते बेचान साध्य (negotiable) प्रतिभूतियों में व्यापार करने का अधिकार ग्राहक की ओर से हो तो उन पर ग्रहणाधिकार प्राप्त होता है। बेचानसाध्य प्रतिभूतियां उसके पास संग्रहण के लिए दी जाती हैं—जैसे विनिमय बिल, चैक, वाहक बंध (bearer bonds) प्रतिज्ञा पत्र आदि—उन पर भी उसे ग्रहणाधिकार प्राप्त होता है। इसके विपरीत अगर उसके पास वाहक बंध अथवा लाभांश कूपन केवल सुरक्षा के लिए रखे गये हों किन्तु बैंक को संग्रहण के लिए उन्हें काटने का अधिकार न हो तो उस पर ग्रहणाधिकार नहीं होता। इसी प्रकार अगर किसी ग्राहक के सामान्य खाते के अतिरिक्त अन्य विशिष्ट हेतु के लिए

[1] Sec 171, Indian Contract Act

निक्षेप लेखे (deposit accounts) है तो इस दशा मे विशिष्ट लेखों पर उसे ग्रहणाधिकार नही होता। उन प्रतिभूतियो पर भी जो किसी विशिष्ट ऋण के जमानत के रूप मे रखी गयी है, बैंक का सामान्य ग्रहणाधिकार नही होता, किन्तु उसका ग्रहणाधिकार उस विशिष्ट ऋण के भुगतान तक ही सीमित रहता है। उस ऋण के भुगतान के बाद यदि वही प्रतिभूतियाँ बैंक के पास रहे तथा ग्राहक उनको वापिस न ले तो उन प्रतिभूतियो पर भी उसे ग्रहणाधिकार मिलता है। इसी प्रकार बैंक के पास दैनिक व्यापार मे ग्राहक का जो धन बिना किसी विशिष्ट उद्देश्य के आयेगा उस पर भी उस ग्रहणाधिकार है। किन्तु अगर ग्राहक किसी फर्म का भागी है तो फर्म के ऋण के लिए बैंक का उसके वैयक्तिक लेखे पर ग्रहणाधिकार नहीं मिलता। दूसरे, ग्राहक की मृत्यु के बाद उसके प्रतिनिधि द्वारा लिये हुए ऋण अथवा अधिविकर्ष का भुगतान करने के लिए मृत ग्राहक के लेखे का ग्रहणाधिकार नही मिलता। इसी प्रकार ग्राहक के ऋणा के लिए ग्राहक द्वारा सचालित प्रन्यास लेखे (trust account) पर भी बैंक को ग्रहणाधिकार प्राप्त नहीं होता।

बैंक का यह ग्रहणाधिकार काल-मर्यादा नियम से बाधित नही होता।

(२) रहन—जिस समय किसी सम्पत्ति का ऋण की जमानत के लिए बन्धक किया जाता है उस समय उसे रहन कहते हैं। इस प्रकार रहन मे सम्पत्ति का अधिकार प्राधायक (mortgagor) द्वारा हस्तान्तरित किया जाता है। रहन दो प्रकार का होता है—वैधानिक (legal), तथा न्याय्य (equitable)। वैधानिक रहन मे सम्पत्ति के अधिकार प्राधायक (mortgagor) से प्राधिमान (mortgagee) को मिल जाते हैं तथा ऋणी के दोषी रहने पर बैंक उसे बेच सकता है। उसी प्रकार ऋण के पूर्ण भुगतान पर प्राधायक को रहन सम्पत्ति पर पुन पूर्ण अधिकार मिल जाता है। इस प्रकार प्राधायक के पुन अधिकार को "भुगतान की समता' (equity of redemption) कहते हैं। न्याय्य रहन मे बन्धक वस्तु का अधिकार प्राधायक (ऋणी) के पास ही रहता है किन्तु न्यायालय से विक्रयपत्र प्राप्त करने पर ही प्राधिमान (mortgagee) बैंक रहन सम्पत्ति को बेच सकता है। इस प्रकार का न्याय्य रहन वस्तु-अधिकार प्रलेख अथवा किसी स्थायी सम्पत्ति के अधिकार प्रलेख की जमानत निर्माण मे होता है जिसम उसकी जमानत ली जा सके। न्याय्य रहन लेखों की स्वीकृति के लिए १००) रु० अथवा इनसे अधिक ऋण के लिए मुद्राङ्क-कर लगता है तथा दो गवाहो के हस्ताक्षर आवश्यक होते हैं। इस प्रकार अस्थायी सम्पत्ति का न्याय्य

रहन अधिक परिमाण मे बैंक को स्वीकृत नही करना चाहिए क्योकि इसमे उसकी अधिक रकम का विनियोग होने मे सुरक्षा की सम्भावना कम होती है।

(३) बन्धक (Pledge)—बन्धक मे किसी वचन की पूर्ति अथवा ऋण के भुगतान के लिए वस्तुएँ जमानत के रूप मे रखी जाती है।[1] बन्धक अनुबन्धो मे सम्पत्ति अथवा प्रतिभूतियो का अधिकार बन्धकदाता (pledgor) के पास रहता है किन्तु सम्पत्ति बन्धकी pledgee) के पास जमानत के लिए रहती है। इन अनुबन्धो मे वस्तुओ का बन्धकी के पास जमानत की तरह रहना आवश्यक है। बन्धन मे बन्धकी निश्चित तिथि के बाद अपने ऋण के भुगतान की समुचित सूचना के बाद बन्धक सम्पत्ति को बेच सकता है। अथवा ऋण के भुगतान के लिए ऋणी दावा कर सकता है जिस दशा मे सम्पत्ति उसी के अधिकार मे रहनी चाहिए। अगर ऋण के भुगतान के लिए सम्पत्ति का मूल्य कम पडता है तो शेष रकम का भुगतान ऋणी (बन्धकदाता) को करना होगा और यदि वास्तविक ऋण से अधिक रकम (सम्पत्ति के विक्रय से) प्राप्त होती है तो बन्धकी को यह रकम बन्धकदाता को लौटानी होगी। किन्तु यदि इस प्रकार की *बन्धक सम्पत्ति पर उसे ग्रहणाधिकार है तो इस अतिरिक्त रकम को वह अन्य* ऋणो के भुगतान के लिए उपयोग मे ले सकता है।

(४) उपप्राधीयन (Hypothecation)—उपप्राधीयन का बन्धक से बहुत कुछ साम्य है। इसमे न स्वामित्व और न अधिकार ही ऋणदाता को दिया जाता है किन्तु उपप्राधीयन पत्र (letter of hypothecation) द्वारा बैंक को उपप्राधीयित वस्तुओ पर प्रभार (charge) मिलता है। इस प्रकार की जमानत मे ऋणदाता को समान प्रभार मिलता है क्योकि इन वस्तुओ के विक्रय द्वारा ऋणदाता अपने ऋण का भुगतान प्राप्त कर सकता है। अगर वस्तु का मूल्य ऋण के भुगतान के लिये कम रहे तो ऋणी को कमी पूरी करनी पडती है।

सहायक प्रतिभूतियाँ लेते समय सावधानी

बैंक ऋण की जमानत के लिए प्रतिभूतिया स्वीकार करते समय निम्न सावधानी रखना चाहिए—

१ **उपाधि की सरलता (सुगमता)**—जो प्रतिभूतिया बैंक स्वीकृत करता है व ऐसी हो जिनकी *उपाधि अथवा स्वामित्व बिना किसी प्रकार की अड़चना* के प्राप्त हो सके।

२ **हस्तान्तरण की सुगमता**— प्रतिभूतिया ऐसी होनी चाहिए जो उसके

[1] Indian Contract Act 1892

अथवा किसी अन्य के नाम पर बिना किसी प्रकार के व्यय अथवा अड़चनों के हस्तान्तरित हो सके।

३ **समुचित मूल्य-स्थिरता**—प्रतिभूतियाँ जो जमानत में ली जायँ वे ऐसी हों जिनके मूल्य में स्थिरता रहे तथा अवमूल्यन की सम्भावना कम हो। *क्योंकि प्रतिभूतियों के अवमूल्यन में बैंक को हानि की सम्भावना रहती है।*

४ **विक्रयशीलता**—बैंक जो प्रतिभूतियाँ जमानत में लेता है उन्हें ऋण के भुगतान न होने पर बेचता है जिससे ऋण दी हुई रकम प्राप्त कर सके। *अतः उसके पास रखी हुई प्रतिभूतियाँ ऐसी होनी चाहिए जो बाजार में बिना हानि के सुगमता से बेची जा सके।*

५ **ऋण एवं जमानत के मूल्य में पर्याप्त अन्तर**—ऋण तथा जमानत रखी हुई प्रतिभूतियों के मूल्य में पर्याप्त अन्तर होना आवश्यक है जिससे अवमूल्यन आदि से होने वाली हानि पूरी हो सके। इसलिए प्रतिभूतियाँ लेते समय *उनका मूल्यांकन सावधानी से करना चाहिये। ऋण की राशि तथा प्रतिभूतियों* के मूल्य में इतना अन्तर रखना चाहिए जिससे मूल धन तथा ब्याज दोनों की सुरक्षा हो सके।

६ ***देनदारी का अभाव***—*जमानत रखी हुई प्रतिभूतियाँ अन्य किसी* प्रकार के प्रभार (charges) से मुक्त होनी चाहिए जिससे बैंक को उन पर पूर्ण अधिकार मिले। इसीलिए अंश ऋण-पत्र आदि लेते समय उसे यह देखना चाहिए कि वे पूर्ण चुकता हैं तथा स्थायी सम्पत्ति की रहन में वे किसी दूसरे के पास रहन नहीं है।

७. ***उपाधि (Title) की सुरक्षा***—*जमानती वस्तु पर जो उपाधि बैंक* को मिलती है वह पूर्णतः वैधानिक है, यह भी देखना चाहिए। यदि ग्राहक अथवा ऋणी की उपाधि सदोष है, तो उसके हस्तान्तरण में बैंक की सदोष उपाधि ही रहेगी। इसलिये बैंक को उपाधि की सुरक्षा की ओर ध्यान देना आवश्यक है।

प्रतिभूतियों के प्रकार

उक्त सावधानियों के अतिरिक्त कुछ प्रतिभूतियाँ ऐसी हैं जिनमें उनकी भिन्नता के कारण अन्य बातें विचारणीय होती हैं। ये प्रतिभूतियाँ निम्न हैं —

१ स्कन्ध विनिमय प्रतिभूतियाँ

इन प्रतिभूतियों में उन सब परम प्रतिभूतियों का समावेश होता है जो सरकार, सम सरकारी संस्थाओं *तथा स्थानीय अधिकारियों द्वारा निर्गमित होती*

हैं। औद्योगिक संस्थाओं द्वारा निर्गमित कम्पनियों के अंश ऋण-पत्र आदि का इनमें समावेश होता है। इस प्रकार की प्रतिभूतियाँ बैंक के पास जमानत के लिए अधिक आती हैं।

लाभ —(अ) विक्रयशीलता—स्कन्ध विनिमय प्रतिभूतियाँ सुगमता से किसी भी समय स्कन्ध विनिमय में बेची जा सकती है। विशेषत परम प्रतिभूतियाँ, अच्छी कम्पनियों के अंश ऋण-पत्र आदि। इसी प्रकार आवश्यकता पड़ने पर इनकी जमानत पर *अन्य बैंकों से ऋण लिया जा सकता है।* इस प्रकार की सुविधा अन्य वस्तुओं की जमानत में नहीं होती।

(ब) मूल्यस्थिरता—स्कन्ध विनिमय में विभिन्न प्रतिभूतियों की दर जानी जा सकती है। क्योंकि ये नियमित रूप से खरीदी अथवा बेची जाती हैं। साथ ही उनके मूल्यों में उतार-चढ़ाव की सीमा भी मालूम हो सकती है। अच्छी प्रतिभूतियों के मूल्यों में उतार-चढ़ाव सीमित होते हैं जिससे बैंक को ऋण एवं जमानत के मूल्य में अन्तर निश्चय करने में सुगमता होती है।

(स) उपाधि की सुगमता—ऐसी प्रतिभूतियों की उपाधि स्पष्ट होने के कारण बैंक को उपाधि की सुरक्षा रहती है और वचनसाध्य प्रतिभूतियों के विषय में जमानतदार की उपाधि सदोष रहते हुए भी मूल्य-धारी (holder for value) होने कारण बैंक को पूर्ण एवं वैधानिक उपाधि मिलती है। इसी प्रकार *अपरकाम्य प्रतिभूतियों के हस्तान्तरण में भी विशेष असुविधाएँ नहीं आती* क्योंकि उनका हस्तान्तरण, हस्तान्तरण-लेख द्वारा किया जा सकता है तथा जमानतदार की उपाधि सदोष अथवा निर्दोष है इसका भी ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

(द) ये प्रतिभूतियाँ बैंक के ऋणों के लिए अच्छे सुरक्षा के साधन का कार्य करती हैं।

त्रुटियाँ—(अ) आंशिक चुकता—अगर इस प्रकार प्रतिभूतियाँ अंशतः चुकता हैं तो उनमें अदत्त भाग की रकम माँग होने (call) पर बैंक को देनी पड़ेगी। *इसलिये बैंक को पूर्णतः चुकता प्रतिभूतियाँ ही स्वीकार करनी चाहिए।*

(ब) हस्तान्तरण में कपट—प्रतिभूतियों का हस्तान्तरिती (transferee) होने के कारण यदि हस्तान्तरक (transferor) के हस्ताक्षर जाली हों तो बैंक क्षति-पूर्ति के लिए उत्तरदायी होता है। इसलिए बैंक को हस्तान्तरण-लेख पर हस्तान्तरक के हस्ताक्षर अपने कार्यालय में करवाने चाहिए।

(स) ग्रहणाधिकार की सूचना—बैंक के पास प्रतिभूतियाँ आते ही यदि वह अपने ग्रहणाधिकार की सूचना प्रतिभूतियों के निर्गमन करने वाली कम्पनी को

नही देता तो उसका ग्रहणाधिकार कम्पनी के ग्रहणाधिकार मे बाधित हो जाता है। पार्षद-अन्तर्नियमो के अनुसार कम्पनी को याचित (called) पूंजी का भुगतान न होने पर उन अशा एव प्रतिभूतियो पर ग्रहणाधिकार मिलता है। इसलिए ऐसे अशो की जमानत लेने समय बैंक को अपने ग्रहणाधिकार की सुरक्षा के लिये ग्रहणाधिकार की सूचना सम्बन्धित कम्पनी को देनी चाहिए।

(द) मूल्यो मे उतार-चढाव—जिन प्रतिभूतियो के मूल्यो मे उतार-चढाव होते हैं उन पर ऋणी द्वारा **ऋण-जमानत-अन्तर** पर्याप्त रखा जा रहा है, यह भी उसे देखना चाहिए। अन्यथा इस अन्तर की कमी से उसे हानि होने की सम्भावना रहती है। अत बैंक को ऐसी कम्पनियो की प्रतिभूतियाँ नहीं लेनी चाहिए जिनके मूल्यो मे अधिक उतार-चढाव होते है। दूसरे, ऋण-जमानत-अन्तर पर्याप्त रखने के लिए उसको प्रतिभूति के मूल्याकन मे सावधानी से काम लेना चाहिए।

(य) उपाधि की स्पष्टता—अपरनाम्य प्रतिभूतियो के हस्तान्तरण के समय यदि हस्तान्तरक की उपाधि सदोष है तो हस्तान्तरिती की उपाधि भी सदोष रहती है। अत इस सम्बन्ध मे सावधानी बरतनी चाहिये।

२ वस्तु अथवा वस्तु-अधिकार प्रलेख

व्यापारिक अथवा आयात-निर्यात केन्द्रो मे बैंक विशेषत उत्पादन (produce), वस्तु (goods) अथवा वस्तु अधिकार प्रलेख (documents of title to goods) आदि की जमानत पर ऋण देते है। इस प्रकार की जमानत स्वीकार करने के लिए बैंक को इनके सम्बन्ध मे विशेष अनुभव एव ज्ञान होना चाहिए। बैंक को ऐसी प्रतिभूतियाँ स्वीकार करने के पूर्व निम्न बातो पर ध्यान देना चाहिए —

(१) वस्तु का प्रकार—सर्वप्रथम बैंक को वस्तु का प्रकार देखना चाहिए। बैंक किसी भी वस्तु के प्रत्येक सवेष्ट (package) को नही देख सकता और न देखने के लिए उसके पास समय ही रहता है। अत बैंक को देखना चाहिए कि उसका भावी ऋणी जो इन वस्तुओं की जमानत दे रहा है ईमानदार है तथा उसकी साख अच्छी है। ऐसी वस्तुआ को स्वीकार करते समय प्रत्येक सवेष्ट का सवेष्टन-पत्र (packing note) देख लेना चाहिए। अच्छी कम्पनियाँ माल भेजते समय इस प्रकार के सवेष्टन पत्र अथवा बीजक की प्रति प्रत्येक सवेष्ट मे रखते हैं।

(२) विक्रयशीलता एव टिकाऊपन —वस्तुएँ ऐसी है जिनमे किसी भी प्रकार

मे खराबी होने की सम्भावना नही है, यह जानने के लिए उसे उत्पाद-विनिमय सम्पर्क रखना चाहिए तथा उनके मूल्यों की भी जानकारी रखनी चाहिए, जिससे अवमूल्यन से हानि की सम्भावना न रहे। इसलिए उसे विशेषत ऐसी वस्तुओं की जमानत लेनी चाहिए जो विक्रयशील हो एव जिनकी माँग मे लोच न हो, जिससे वे आसानी से बेची जा सकें।

(३) **सामयिक मूल्याकन**—वस्तुओ के वास्तविक मूल्य की भी उसे जानकारी होनी चाहिए जिससे जमानत का मूल्याकन समुचित हो। ऐसी वस्तुओं का मूल्याकन सामयिक होना चाहिए जिससे हानि की सम्भावना कम हो।

(४) **वैधानिक अधिकार**—बैंक को वस्तुओ पर पूर्ण वैधानिक उपाधि प्राप्त कर लेनी चाहिए। यदि वे वस्तुएँ ऋणी के पास रहती है तो गोदाम की व्यवस्था समुचित है, यह भी देख लेना चाहिए, जिससे वस्तु की खराबी न हो। विशेषत बैंक को बन्धक वस्तुएँ अपने गोदामो मे ही रखनी चाहिए। यह सम्भव न हो तो ऋणी के भण्डार की कुन्जी अपने अधिकार मे लेकर ताले पर अपनी मोहर लगानी चाहिये जिससे हानि न हो।

(५) इस प्रकार के व्यवहार वस्तुओ के **स्वामी** अथवा उसके **अधिकृत अभिकर्त्ता** के साथ ही होने चाहिए।

(६) **वस्तुओ की वापसी**—जो वस्तुएँ बैंक के पास रखी हुई है उनको देते समय उसको यह देख लेना चाहिए कि ऋणी मे उसके ऋण का भुगतान हो चुका है तथा शेष वस्तुएं शेष ऋण के भुगतान के लिए पर्याप्त है। इस प्रकार अपने किसी जिम्मेदार अधिकारी के निरीक्षण मे ही ऋणी को वस्तुएँ वापिस करना चाहिए।

लाभ—(१) इस प्रकार की प्रतिभूति मूर्त्त जमानत (tangible security) होती है। (२) इनके मूल्यों मे अधिक उतार-चढाव नही होते। (३) इनमे विक्रयशीलता होने के साथ ही बचने मे सुगमता होती है। (४) इनका मूल्याकन करने मे अधिक सुगमता होती है। (५) ऐसी जमानत पर दिये जाने वाले ऋण बहुधा अल्पकालीन होते है जिससे हानि की सम्भावना भी कम होती है। (६) सामाजिक दृष्टि से इस प्रकार के ऋणो से समाज को भी लाभ होता है क्योकि इससे जीवन की आवश्यकताओं के व्यापार मे सुविधा होती है। (७) सामान्यत ये ऋण व्यापार एव वाणिज्य की प्रगति मे सहायक होते है।

त्रुटियाँ—(१) वस्तुओ के खराब होने की सम्भावना अधिक होती है। (२) अगर वस्तुएँ आवश्यकता की न होते हुए विलासिता की वस्तुएँ हैं तो

उनके मूल्या मे उतार-चढाव अधिक होने से हानि की सम्भावना रहती है, क्योंकि उनकी माँग लोचदार रहती है। (२) धोखे की भी सम्भावना रहती है, क्योंकि बैंक प्रत्येक सवेष्ट को नही देख सकता जिससे वस्तुओ के गुणो मे भी अन्तर होने की सम्भावना रहती है।

भारत मे इस प्रकार की जमानत पर विशेषत ऋण नही दिये जाते जिसके निम्न कारण है —

(१) **गोदामो की कमी** है जिससे ऐसे वस्तु-अधिकार प्रलेखो के प्रयोग को प्रोत्साहन नही मिलता।

(२) **यातायात की सुविधाओ की** भी बहुत **कमी** है जिसकी वजह से माल के स्थानान्तरण मे सुगमता नहीं होती जिससे इनका प्रयोग बढाया जा सके।

(३) कपास, जूट को छोडकर अन्य वस्तुओ के क्रय-विक्रय के लिए **सुसगठित बाजार नही है**, जिससे उन वस्तुओ की कीमतो मे समानता नही रहती तथा विभिन्न स्थानों मे उनके मूल्य भी मालूम नही किये जा सकते।

(४) वस्तु-अधिकार प्रलेखो के उपयोग के लिए वस्तुओ के **श्रेणीयन** तथा **प्रमापीकरण** का अभाव है, जिससे ऐसी वस्तुओ का व्यापार क्षेत्रीय रहता है।

वस्तु-अधिकार प्रलेखो के प्रकार

(१) **जहाजी बिल्टी** (Bill of Lading)—प्रो० शेल्डन के अनुसार "यह प्रलेख जहाज के कप्तान अथवा उसके अधिकृत व्यक्ति द्वारा निर्गमित तथा हस्ताक्षरित प्रमाण-पत्र होता है, जिसमे यातायात के लिए वस्तुओ की प्राप्ति स्वीकृत की जाती है तथा यह जिम्मेदारी ली जाती है कि उस पत्र मे लिखित भाडे तथा अन्य व्ययो का भुगतान होने पर वे वस्तुएँ उसी दशा मे परेषणी (consignor) अथवा उसके हस्तक को अथवा उसके आदेशित व्यक्ति को दी जावेंगी।

(२) **डॉक-अधिकार पत्र** (Dock Warrants)—यह प्रलेख नौवहन कम्पनी के अधिकारी द्वारा दिया जाता है। इस पत्र मे लिखित वस्तुओ का प्रदान, जिसका नाम उस पत्र मे लिखा होता है, उसे अथवा उसके हस्तांकक को किया जा सकता है। इस प्रलेख से तात्पर्य यही है कि उसमे लिखित वस्तुओ की रजिस्ट्री वहन कम्पनी की पुस्तकों मे हो गयी है।

(३) **रेलवे रसीद**—जिस समय कोई भी प्रेषक (consignor) यातायात के लिए रेलवे कम्पनी को वस्तुएँ देता है उस समय उसे एक रसीद दी जाती

है जिसको रेलवे रसीद कहते है। यह रसीद परेषणी को भेज दी जाती है जिसको वह स्थानीय रेलवे स्टेशन पर देकर माल प्राप्त कर लेता है।

(४) **गोदाम की रसीद**—गोदाम मे जिस समय वस्तुएँ सुरक्षा के लिए रखी जाती है उस समय भण्डारी एक रसीद देता है जिसमे वस्तुओं के गुण, वजन आदि का उल्लेख रहता है। यह हस्तान्तरित नहीं होती क्योकि यह सुरक्षा-निक्षेप प्राप्ति की भाँति है।

इस प्रकार से सुरक्षा के लिए रखी हुई वस्तुओ को प्राप्त करने के लिए वस्तुओं का स्वामी भण्डारी के नाम एक प्रदान (delivery) आदेश भेजता है। इसमे जिस व्यक्ति को वस्तुएँ प्रदान करनी होती है उसका नाम लिखा जाता है। वस्तुओं की पुन प्राप्ति के लिए गोदाम की रसीद को लौटाने की आवश्यकता नही होती।

३. जीवन बीमा पॉलिसी

जीवन बीमे के आधार पर जो ऋण दिये जाते है, वे विशषत बीमे के अर्पण (*surrender*) मूल्य के ६० प्रतिशत से अधिक नही दिये जाते। इनकी प्रतिभूतियो पर विदेशो मे ऋण देने की प्रथा अधिक है, किन्तु भारत म इनकी जमानत पर विशेष रूप से ऋण नही दिये जाते क्योकि बीमे मे कई त्रुटियाँ भी रहती है।

लाभ—(*अ*) **मूल्य वृद्धि**—इनके मूल्य के समय के साथ वृद्धि होती जाती है क्योकि बीमित जितनी अधिक प्रव्याजि देता है उतना ही बीमे का अर्पण मूल्य बढता है।

(**ब**) **अधिकार मे सुगमता**—बीमे का हस्ताङ्कन (assignment) बैंक के नाम समुचित रूप से हो तो बैंक किसी प्रकार की अडचनो बिना उस पर अपना अधिकार प्राप्त कर सकता है। ऐसे बीमे को वह आवश्यकता पडने पर किसी अन्य व्यक्ति का भी हस्ताङ्कित कर सकता है। इसलिए उसे अपना अधिकार प्रमाणित करने के लिए वैधानिक अडचन नही होती।

त्रुटियाँ—(**अ**) **विशेष बातें छिपाना**—बीमित व्यक्ति यदि बीमा कम्पनी से उस बीमे के सम्बन्ध मे कोई विशेष बात मालूम होते हुए भी छिपाता है तो उस दशा मे उस बीमे का दायित्व बीमा कम्पनी पर नही रहता।

(**ब**) **बीमा पत्र के नियम**—यदि बीमित व्यक्ति आत्महत्या करता है तो शर्तों के अनुसार कम्पनी अपना दायित्व अस्वीकार कर सकती है। इसलिए बैंक

को बीमा लेख की शर्तों को ठीक से देख लेना चाहिए जिससे उसे किसी प्रकार की हानि न हो।

(स) प्रव्याजि का भुगतान न होना—किसी भी कारण से बीमा कराने वाला प्रव्याजि का भुगतान नहीं करता है तो उस बीमा लेख को चालू रखने के लिए बैंक को प्रव्याजि देनी पडती है जिससे बीमित व्यक्ति का ऋण बढ़ता जाता है।

४. भवन आदि

व्यापारिक बैंक अल्पकालीन ऋण देते है इसलिए वे विशेषत भू-गृहादि अथवा अचल सम्पत्ति के आधार पर ऋण नही देते। क्योंकि इन पर अधिकार प्राप्त करने मे भी अनेक प्रकार की वैधानिक अड़चनें होती है तथा इनकी रक्षा मे भी अधिक व्यय करना पडता है। इसके अतिरिक्त ऐसी प्रतिभूति मे निम्न त्रुटियाँ रहती हैं —

(अ) उपाधि जानने मे कठिनाई—जो व्यक्ति ऐसी सम्पत्ति की जमानत देता है उसकी उपाधि (title) अथवा अधिकार उस सम्पत्ति पर क्या एवं किस प्रकार से है यह जानने की पहली अड़चन उपस्थित होती है।

(ब) विक्रयशीलता का अभाव—इसमे विक्रयशीलता नही होती, इसलिए इसके बेचने मे अनेक असुविधाएँ होती है। अचल सम्पत्ति के विक्रय के समय अनेक वैधानिक कार्यवाहियों की पूर्ति करनी पडती है तथा इसके मूल्यांकन मे कठिनाई होती है।

(स) मूल्यो मे उतार-चढाव—ऐसी सम्पत्ति के मूल्यों मे उतार-चढाव अधिक होते हैं जिससे बैंक को हानि की भी सम्भावना रहती है। इसके अतिरिक्त इस सम्पत्ति से आय की प्राप्ति होती रहे तथा मूल्यों मे कमी न हो इस हेतु बैंक को समय-समय पर मरम्मत कराने की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार आय की स्थिरता रखने के लिए किरायेदार को खोज मे रहना पडता है।

(द) तरलता का अभाव—ऐसी सम्पत्ति को बैंक अन्य प्रतिभूतियों की तरह चाहे जब रोकड मे परिवर्तित नही कर सकता।

साराश

बैंक ऋण के लिए दो प्रकार की जमानत लेते हैं—(१) व्यक्तिगत तथा (२) सहायक जमानतें। जब ऋणी के सिवा अन्य व्यक्तियों की जमानत बैंक लेता है तब उसे व्यक्तिगत जमानत तथा जब ऋणी तथा अन्य व्यक्तियों की

जमानत के साथ ही वह प्रतिभूतियाँ, स्वर्ण आदि की जमानत लेता है तब ऐसी जमानत को सहायक जमानत कहते हैं।

व्यक्तिगत जमानत मे बैंक जमानत देने वाले से जमानती अनुबन्ध लेता है जो सुरक्षा की दृष्टि से लिखित होना चाहिए। जमानती अनुबन्ध मे ऋणी के दोषी होने पर उसका वायदा पूर्ण करने की अथवा ऋण का भुगतान करने की जिम्मेवारी कोई व्यक्ति लेता है।

बैंक को जमानत लेते समय निम्न सावधानी रखना चाहिए :—

(१) जमानतदार की साख एव आर्थिक स्थिति की जाँच करना।

(२) अनुबन्ध के लिए अक्षम व्यक्तियो से जमानत न लेना।

(३) विवाहिता से जमानत लेते समय वह किसी दबाव के कारण नही है इसकी स्पष्टता एव उसका स्वतन्त्र स्त्रीधन होना चाहिए।

(४) साझेदारी फर्मों से जमानत लेते समय उनके व्यापार का स्वरूप एव फर्म जमानत दे सकती है या नहीं यह देखना।

(५) रजिस्टर्ड कम्पनियो की जमानत मे उनके सीमानियम एव अंतर्नियमो का अध्ययन।

बैंकर की जिम्मवारी—(१) जमानतदार से अनुबन्ध सम्बन्धी महत्वपूर्ण बात न छिपाना।

(२) जमानतदार द्वारा पूछ जाने पर ऋणी की आर्थिक स्थिति की सूचना देना।

(३) जमानती अनुबन्ध मे जमानतदार की सम्मिलित बिना कोई परिवर्तन न करना।

जमानतदार के अधिकार—अपनी देनदारी के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करना, जमानती अनुबन्ध की शर्तों के अनुसार चल जमानत को सूचना देकर स्थगित कराना, ऋणी की मृत्यु की सूचना से जमानतदार की जिम्मेवारी का अंत तथा जमानतदार द्वारा ऋण का भुगतान होने पर उसे बैंकर के सब अधिकार प्राप्त होना।

सहायक प्रतिभूतियां—ऋणी द्वारा व्यक्तिगत जमानत के साथ जो मूर्त्त सम्पत्ति बन्धक मे रखी जाती है उसे सहायक प्रतिभूति कहते हैं। सहायक प्रतिभूतियो के निम्न स्वरूप हैं —

(१) *ग्रहणाधिकार*—इस हेतु कोई समझौते की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि बैंकर और ग्राहक के सम्बन्ध मे यह ग्रहणाधिकार ध्वनित होता है।

बैंकर का ग्रहणाधिकार केवल उन प्रतिभूतियो पर होता है जो बैंकिग व्यव हार मे आयी हो तथा किसी विशेष उद्देश्य से न रखी गई हो। यह काल मर्यादा नियम से बाधित नही होता।

(२) रहन—इसमें रहन रखी हुई सम्पत्ति का अधिकार ऋणी द्वारा ऋण दाता को दिया जाता है। रहन दो प्रकार के होते हैं—

(अ) वैधानिक रहन मे सम्पत्ति का अधिकार ऋणदाता बैंकर के पास होने से वह ऋणी के दोषी होने पर उसे बेच सकता है, और ऋण का भुग तान होने पर ऋणी को सम्पत्ति पर पुन अधिकार मिल जाता है।

(आ) न्याय रहन मे सम्पत्ति का अधिकार ऋणी के पास होता है तथा बैंकर न्यायालय से डिग्री लेने के बाद ही उसे बेच सकता है। इन अनुबन्धो मे १०० रुपये से अधिक ऋण के लिए स्टाम्प कर तथा दो गवाहो के हस्ताक्षर आवश्यक ह।

(३) बधक—इसमे किसी वचन की पूर्ति अथवा ऋण के भुगतान के लिए वस्तुएँ जमानत मे रखी जाती हैं। इसमे वस्तुओ का अधिकार वचनदाता के पास किन्तु वस्तुएँ बैंकर के पास रहती हैं। ऋणी के दोषी होने पर बैंकर समुचित सूचना देने के बाद उस सम्पत्ति को बेच सकता है।

(४) उपप्राधीयन—इसमे न तो वस्तुएँ और न उन पर अधिकार ही बकर को मिलता है परन्तु केवल एक पत्र मिलता हे जिससे बैंकर को उसमे लिखित वस्तुओ पर प्रभाव मिलता है।

महायक प्रतिभूतिया लते समय सावधानी—उपाधि की सरलता, हस्तान्तरण की सुगमता समुचित मूल्य स्थिरता, विक्रयशीलता ऋण एव जमानत मूल्य मे अन्तर देनदारी का अभाव, उपाधि की सुरक्षा,

प्रतिभूतिया के प्रकार (१) स्कन्ध विनिमय प्रतिभूतिया—लाभ विक्रय शीलता मूल्य स्थिरता, उपाधि की सुगमता एव ऋण की सुरक्षा।

हानि—ग्रहणाधिकार की सूचना, मूल्यो मे उतार चढ़ाव, उपाधि की स्पष्टता का दोष।

(२) वस्तु या वस्तु अधिकार पत्र—इनमे बैंकर को निम्न बातें देखना चाहिए—वस्तु का प्रकार टिकाऊपन एव विक्रय शीलता, सामयिक मूल्यांकन वैधानिक अधिकार लेना, स्वामी या उसके अधिकृत अभिकर्ता के साथ व्यवहार होना, वस्तुओ की वापिसी।

लाभ—मूर्त्त जमानत, मूल्य स्थिरता, विक्रयशीलता, मूल्यांकन में सुगमता, हानि की कम सम्भावना, जीवनावश्यक व्यापार में सुविधा।

हानि—खराब होने का खतरा, विलासिता की वस्तुओं में मूल्यों के उतार-चढ़ाव का भय, कपट की सम्भावना।

ऐसी प्रतिभूति पर भारत में निम्न कारणों से अधिक ऋण नहीं दिये जाते—गोदामों, यातायात सुविधाएँ, सगठित बाजार तथा श्रेणीयन एवं प्रमापीकरण का अभाव।

वस्तु अधिकार प्रलेखों में जहाजी बिल्टी, डॉक वारट, रेलवे की रसीद, तथा गोदाम की रसीद का समावेश होता है।

(३) जीवन बीमा—जीवन बीमा पालिसी की जमानत पर उसके समर्पण मूल्य के ९०% तक ऋण देते है।

लाभ—समय के साथ मूल्य वृद्धि, एव अधिकार की सुगमता।

दोष—विशेष बातें छिपाने एव बीमे की विशेष शर्ते होने की सम्भावना तथा प्रव्याजि का भुगतान न होने की दशा में बैंक को प्रव्याजि देना पड़ती है।

(४) भवन आदि—बैंक इनकी जमानत पर साधारणत ऋण नही देते क्योंकि निम्न कठिनाइयाँ हैं—उपाधि जानने में कठिनाई, विक्रयशीलता का अभाव, तरलता का अभाव तथा मूल्यों में उतार-चढ़ाव।

अध्याय ६

बैंक और ग्राहक

हम यह देख चुके हैं कि बैंक विभिन्न प्रकार के निक्षेपों द्वारा जनता से ऋण लेता है जिसका भुगतान वह चैक आदि से माँग होने पर करता है।

ग्राहक—अभी तक 'ग्राहक' की कोई भी वैधानिक परिभाषा नहीं है। फिर भी अर्थशास्त्रियों के अनुसार किसी भी व्यक्ति को ग्राहक होने के लिए दो बातें आवश्यक हैं —

(१) वह व्यक्ति बैंक से कुछ समय तक बैंकिंग स्वरूप के व्यवहार करता रहा हो, तथा

(२) ये व्यवहार केवल बैंकिंग से सम्बन्धित हो।

बैंकिंग व्यवहार होने के लिए यह आवश्यक है कि उस व्यक्ति का निक्षेप लेखा बैंक में हो। अर्थात समय-समय पर वह अपनी राशि जमा करता हो एवं उसको वह चैकों द्वारा निकालता हो। स्पष्ट है कि ग्राहक होने के लिए उस व्यक्ति का किसी न किसी प्रकार का लेखा बैंक में होना आवश्यक है किन्तु यह लेखा किस प्रकार का हो, इस विषय में कोई भी वैधानिक शर्त नहीं है। फिर भी उस व्यक्ति एवं बैंक के बीच जो व्यवहार हो उनके सम्बन्ध में ग्राहक एवं बैंक दोनों द्वारा मान्य निश्चित कार्य-प्रणाली होनी चाहिए।

जहाँ तक 'अवधि' सम्बन्धी शर्त है वह आजकल आवश्यक नहीं है। अतः कोई भी व्यक्ति जो बैंक में अपना लेखा खोलता है तथा उसमें चैक आदि संग्रहण के लिए देता है तथा बैंक उन्हें संग्रहण के लिए स्वीकार करता है तो वह व्यक्ति उस बैंक का ग्राहक होगा। किन्तु यह व्यवहार पहिला और अन्तिम नहीं होना चाहिए।

बैंकर और ग्राहक का सम्बन्ध

बैंकर और ग्राहक का सम्बन्ध तीन प्रकार का होता है —

(१) **ऋणी एवं ऋणदाता**—यह बैंक और ग्राहक का प्रमुख सम्बन्ध है। बैंक अपने ग्राहकों से निक्षेप स्वीकार करके ऋण लेता है और अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। इस अवस्था में बैंक ऋणी और ग्राहक ऋणदाता होता है।

परन्तु कभी-कभी जब ग्राहक बैंक से ऋण लेता है अथवा अधिविकर्ष की सुविधा लेता है तब यह सम्बन्ध उलटा हो जाता है। अर्थात ग्राहक ऋणी तथा बैंकर ऋणदाता हो जाता है।

बैंक और ग्राहक के इस प्राथमिक सम्बन्ध की निम्न विशेषताएं हैं —

(अ) बैंकर यह ऋण केवल उसी अवस्था में लौटाता है जब चैक आदि द्वारा ऋण की मांग हो। अन्य व्यापारिक ऋणों की भांति ग्राहक की मांग के बिना ऋण लौटाने के लिए बैंक उत्तरदायी नहीं है। परन्तु यदि ग्राहक ऋणी है तो उसे अपना ऋण बैंक का ऋण की अवधि में तथा बिना मांग के लौटाना पड़ेगा।

(आ) स्थायी एवं संचय निक्षेपों के सम्बन्ध में बैंकर सदैव ऋणी और ग्राहक ऋणदाता रहता है। संचय निक्षेपों की राशि की मांग निश्चित शर्तों पर होने पर ही बैंकर उसकी वापिसी के लिए जिम्मेदार है। स्थायी निक्षेपों की राशि अवधि के पूरा होने पर अथवा निश्चित सूचना पाने पर ही मांगी जा सकती है।

(इ) बैंकर अपने पास आये हुए निक्षेपों का उपयोग किसी भी प्रकार से कर सकता है तथा इस राशि पर उसका पूर्ण अधिकार होता है। क्योंकि यह राशि उसके पास किसी विशेष कार्य के लिए ग्राहक नहीं देता।

(ई) बैंकर के दिवालिया होने पर ग्राहक को सामान्य ऋणदाताओं की भांति अपनी राशि के लिए अधिकार प्रमाणित करना पड़ता है। परन्तु यदि यह राशि किसी विशेष कार्य के लिए दी गई हो तो पूर्ण राशि को लौटाने की जिम्मेदारी बैंकर पर होगी।

(उ) ग्राहक द्वारा नियमानुसार चैक आदि से ऋण की मांग होने पर भुगतान करने की जिम्मेदारी बैंक की होती है। भुगतान न होने पर ग्राहक की साख को जो हानि होगी उसके लिए बैंकर स्वयं जिम्मेदार होगा। परन्तु ग्राहक के खाते में पर्याप्त राशि होना चाहिए अथवा उसका अधिविकर्ष स्वीकृत होना चाहिए।

(ऊ) बैंक द्वारा निक्षेप रूप में लिये हुए ऋणों का काल मर्यादा नियम (Law of Limitation) लागू नहीं होता अर्थात यह ऋण बैंकर के पास किसी भी समय तक रह सकता है। भारत में यह अवधि ३ वर्ष है परन्तु स्थायी निक्षेपों में निक्षेप रसीद लौटाकर धन की मांग करते ही यह नियम लागू हो जाता है। इसी प्रकार अधिविकर्ष एवं ऋणों में इनको स्वीकृत करने की तिथि से काल मर्यादा नियम लागू हो जाता है।

(ए) **निक्षेप-राशि का नियोजन**—यदि किसी ग्राहक के एक ही बैंक में अनेक खाते हो तो बैंकर उनका एक दूसरे से मिलान कर सकता है। परन्तु बैंकर यह तभी कर सकता है जब वे खाते एक ही स्थिति (capacity) में हो। ऐसा मिलान करने से पूर्व उसकी सूचना ग्राहक को अवश्य देनी चाहिए। यह नियम केवल चल-निक्षेपों के सम्बन्ध में ही लागू होता है।

(ऐ) **लेखा बन्द करने का अधिकार**—बैंक किसी भी ग्राहक के खाते को सूचना देकर बन्द कर सकता है। परन्तु ग्राहक अपना खाता बिना सूचना के भी बन्द कर सकता है। यदि ग्राहक ने अपना खाता बन्द न किया हो तो बैंक ग्राहक के खाते के लिय होने वाले आकस्मिक व्यय ग्राहक से ले सकता है।

(ओ) **ग्राहक की आर्थिक स्थिति की गोपनीयता**—बैंक ग्राहक की आर्थिक स्थिति बिना किसी उचित कारण के किसी व्यक्ति को नहीं बता सकता। अन्यथा ऐसा करने से ग्राहक की साख को होने वाली हानि की पूर्ति के लिए वह जिम्मेदार होगा।

बैंक केवल निम्न स्थिति में ही ग्राहक की आर्थिक स्थिति की जानकारी बिना किसी उत्तरदायित्व के दे सकता है —

(१) न्यायालय से किसी ग्राहक के खाते का विवरण भेजने का आदेश हो।

(२) सरकार, देश एवं सामाजिक हित के लिए ग्राहक के लेखे की जानकारी देना आवश्यक हो।

(३) बैंक द्वारा दिये गये ऋण की प्राप्ति अथवा उसके निजी हित के लिए ऐसी जानकारी देना आवश्यक हो।

(४) जब ग्राहक ने बैंकर का सन्दर्भ किसी व्यक्ति को दिया हो। इस स्थिति में जानकारी देते समय उसे ग्राहक की आर्थिक स्थिति इस सावधानी से देनी चाहिए जिससे ग्राहक की साख को आँच न लगे और उसकी सही आर्थिक स्थिति की जानकारी भी हो।

(५) जब बैंक का एक ग्राहक उसी बैंक के दूसरे ग्राहक की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में पूछे। इस स्थिति में भी बैंकर को उपरोक्त सावधानी से काम लेना चाहिए।

(औ) **बैंकर का ग्रहणाधिकार ध्वनित बधक है** (Banker's Right of Lien is an Implied Pledge)—ग्राहक एवं बैंकर का प्राथमिक सम्बन्ध होते समय दोनों में जो अनुबन्ध होता है उस अनुबन्ध से ही बैंकिंग व्यवहार में आई हुई राशि एवं अन्य ग्राहक की वस्तुओं पर बैंक का ग्रहणाधिकार ध्वनित

रहता है। इस प्रकार ग्राहक की प्रतिभूतियां, संग्रहण के लिए आए हुए बैंक बिल आदि का ऋण की जमानत के लिए बैंकर को अपने पास रखने का अधिकार होता है। इसको बैंकर का ग्रहणाधिकार कहते हैं। इस ग्रहणाधिकार पर काल मर्यादा नियम लागू नहीं होगा।

(२) **बैंक ग्राहक का प्रन्यासी होता है**—बैंक ग्राहकों के आभूषण तथा प्रतिभूतियाँ आदि सुरक्षा के लिए रखने की सुविधा देते हैं। जिस समय बैंक अपने ग्राहकों से सुरक्षा के लिए वस्तुएँ स्वीकार करता है ये वस्तुएँ या तो बंद या मोहरबन्द सदप्पन में अथवा ताला लगी हुई पेटी में ग्राहक देता है तथा उस संदप्पन अथवा पेटी में ग्राहक ने क्या रखा है इसका ज्ञान भी बैंक को नहीं होता। ऐसी जो वस्तुएँ ग्राहक की ओर से बैंक अपने पास रखता है उन्हें सुरक्षा निक्षेप कहते हैं। इन वस्तुओं को स्वीकार करने पर बैंक की यह जिम्मेदारी है कि वह ग्राहक को वही वस्तुएँ उसी दशा में जिस दशा में वे रखी गई थीं लौटाये। इस समय बैंक ग्राहक का प्रन्यासी होता है तथा उन वस्तुओं का स्वामित्व ग्राहक का ही होता है। जिस समय वस्तुएँ सुरक्षा के लिए बैंक स्वीकार करता है उस समय ग्राहक को सुरक्षा निक्षेप की रसीद देता है तथा रसीद पुस्तिका (receipt book) पर ग्राहक से हस्ताक्षर करा लेता है। जब ऐसी वस्तुएँ ग्राहक को लौटाई जाती हैं उस समय ग्राहक वह रसीद बैंक को लौटाकर उस पर वस्तुओं की प्राप्ति के हस्ताक्षर करता है।

इन वस्तुओं की सुरक्षा का उत्तरदायित्व बैंक का होता है। अतः ये वस्तुएँ बैंक अपने भवन में ही रखता है और इन वस्तुओं की सुरक्षा के लिए पूर्ण सावधानी रखता है। किन्तु फिर भी यदि वे खो जाय अथवा उनको किसी प्रकार की क्षति पहुँच तो उसकी पूर्ति की जिम्मेदारी बैंक की नहीं होती। बैंक उसी दशा में सुरक्षा निक्षेपों की हानि पूर्ति के लिए उत्तरदायी होगा जब उसने उनकी सुरक्षा में किसी भी प्रकार की उपेक्षा की हो। इसके विपरीत यदि बैंक सुरक्षा निक्षेपों को अपने भवन में न रखते हुए किसी अन्य स्थान पर रखता है तो उनकी किसी प्रकार की हानि आदि के लिए बैंक उत्तरदायी होगा चाहे उसने पूर्ण सावधानी से काम किया हो अथवा उपेक्षा न की हो।

इस सेवा-कार्य के लिए भारतीय बैंक शुल्क लेते हैं परन्तु पाश्चात्य राष्ट्रों में ये सुविधाएँ निःशुल्क दी जाती हैं।

(३) **प्रधान एवं अभिकर्त्ता का सम्बन्ध**—बैंक ग्राहक से अधिकृत होने पर ग्राहक की ओर से प्रतिभूतियां, अंश आदि का क्रय विक्रय करता है उसके

आय-कर, बीमा प्रव्याजि, चन्दा आदि का भुगतान करता है। इस प्रकार के कार्य वह ग्राहक की ओर से एव उसके अधिकार से करता है। अत इस दशा म बैंक ग्राहक का अभिकर्त्ता होता है एव ग्राहक प्रधान। ऐसे कार्य करने से पूर्व बैंक को ग्राहक से लिखित अधिकार-पत्र लेना चाहिए तथा उसे वे ही कार्य करने चाहिए जो अधिकार-पत्र म हो। अन्यथा वह अपने कार्यों के लिए अपने प्रधान को—ग्राहक को—उत्तरदायी नहीं बना सकता। जिस समय बैंक ग्राहक के बिल, चैक आदि का सग्रहण करता है उस समय भी वह अभिकर्त्ता का ही काय करता है तथा इन सब कार्यों के लिए उसका प्रधान (ग्राहक) ही उत्तरदायी होगा।

साराश

बैंक—वह व्यक्ति फर्म या कम्पनी है जो जनता से निक्षेपो से ऋण लेती है तथा चैक आदि द्वारा माँग होने पर उनका भुगतान करती है।

ग्राहक की वैधानिक परिभाषा नहीं है परन्तु ग्राहक होने के लिए दो बातें आवश्यक हैं बैंक से कुछ समय तक व्यवहार होना तथा ऐसे व्यवहार बैंकिंग के सम्बन्ध में होना। परन्तु आजकल अवधि सम्बन्धी शर्त आवश्यक नहीं है। अर्थात् जो व्यक्ति बैंक में निक्षेप लेखा खोलता है तथा चैक आदि सग्रह के लिए देता है जिसे बैंक स्वीकार करता है तो वह बैंक का ग्राहक होगा। यह व्यवहार प्रथम एव अतिम नहीं होना चाहिए।

बैंकर और ग्राहक का सम्बन्ध

(१) ऋणी एव ऋणदाता—यह बैंक और ग्राहक का मूल सम्बन्ध होता है जब बैंक ग्राहक से निक्षेप राशि—ऋण लेता है। परन्तु जब बैंक से ग्राहक ऋण या अधिविकर्ष लेता है तब बैंक ऋणदाता एव ग्राहक ऋणी हो जाता है। इस प्राथमिक सम्बन्ध की निम्न विशेषताएँ हैं :—

(अ) बैंकर ग्राहक से निक्षेप के द्वारा लिये गये ऋण को केवल माँग पर लौटाने के लिए ही जिम्मेवार है।

(आ) स्थायी एव सचय निक्षेपो की दशा में बैंक सदैव ऋणी और ग्राहक ऋणदाता होगा।

(इ) बैंकर दिवालिया होने पर ग्राहक को सामान्य ऋणदाता की भाँति अपने अधिकार प्रमाणित करना होता है।

(ई) बैंकर निक्षेप राशि का उपयोग करने में स्वतन्त्र है।

(उ) ग्राहक के खाते में पर्याप्त राशि होने अथवा अधिविकर्ष स्वीकृत होने की दशा में ग्राहक के प्राप्त चैकों का भुगतान बैंक को करना होगा।

(ऊ) बैंक द्वारा प्राप्त निक्षेपों की कालमर्यादा नियम लागू नहीं होता।

(ए) बैंक ग्राहक की एक ही स्थिति के दो निक्षेप खातों का नियोजन कर सकता है।

(ऐ) बैंक सूचना देकर किसी ग्राहक का लेखा बन्द कर सकता है।

(ओ) ग्राहक की आर्थिक स्थिति की गोपनीयता के लिए बैंक जिम्मेवार है, परन्तु निम्न अवस्था में वह आर्थिक स्थिति की जानकारी दे सकता है —

न्यायालयीन आदेश पर, सरकार, देश एव सामाजिक हित के लिए अपने ऋण की प्राप्ति के लिए, ग्राहक द्वारा बैंकर का सदर्भ दिये जाने पर।

(औ) बैंकर का ग्राहक की बैंकिंग व्यवसाय में प्राप्त प्रतिभूतियो आदि पर ग्रहणाधिकार होता है।

बैंक ग्राहक का प्रन्यासी है—जब बैंक ग्राहक से सुरक्षा के लिए वस्तुएँ स्वीकार करता है तब वह ग्राहक का प्रन्यासी होता है। ऐसी वस्तुओं की सुरक्षा का उत्तरदायित्व बैंक पर होता है।

(३) प्रधान एव अभिकर्ता का सम्बन्ध—जब बैंक ग्राहक की ओर से चैक आदि का सग्रहण, भुगतान, प्रतिभूतियो का क्रय विक्रय आदि करता है तब वह ग्राहक का एजेंट होता है। ऐसी स्थिति में उसे वे ही कार्य ग्राहक की ओर से करने चाहिए जिनके लिए वह अधिकृत हो।

अध्याय ७

साख और साख-निर्माण

आधुनिक आर्थिक जगत मे साख का स्थान महत्वपूर्ण है। सामान्य ग्राहक से लेकर निर्माता तक साख की आवश्यकता होती है, इसीलिए आजकल औद्योगिक एव व्यापारिक विश्व की आधारशिला साख है।

परिभाषा—साख किसी भी व्यक्ति की वह शक्ति है जिससे वह अन्य व्यक्तियो से किसी अवधि के उपयोग के लिए धन अथवा आर्थिक वस्तुएँ लेता है। अर्थात् साख किसी भी व्यक्ति की वह विशेषता है, जिसके आधार पर वह अन्य व्यक्तियो से निश्चित अवधि के लिए उनकी आर्थिक वस्तुओ का उपयोग ले सकता है तथा जिन्हे वह उस अवधि की समाप्ति के बाद लौटाता है। जिस व्यक्ति को यह साख प्राप्त होती है उसे ऋणी, एव जो साख देता है उसे ऋणदाता कहते है। *उदाहरणार्थ, अ ने ब से ५०० रु० की साख प्राप्त* की, अर्थात् अ ने ब से ५०० रु० ऋण लिये। इसमे अ ऋणी तथा ब ऋणदाता है। जीड के अनुसार "साख एक ऐसा विनिमय है जो कुछ निश्चित समय बाद भुगतान होने पर पूर्ण होता है।" स्पष्ट है कि साख विनिमय उन व्यवहारो को कहेगे जिनमे **वर्तमान आर्थिक वस्तुओं का विनिमय भविष्य की आर्थिक वस्तुओ के साथ होता है।** किन्तु नगदी व्यवहार मे ऐसा न होते हुए वर्तमान वस्तुओ का विनिमय रोकड के बदले होता है। इस प्रकार रोकड व्यवहारो मे तथा साख-व्यवहारो मे यह मूल भेद है कि रोकड व्यवहारो मे रोकड के बदले वस्तुएँ दी जाती है परन्तु साख व्यवहारो मे वर्तमान वस्तुओ का भुगतान किसी आगामी काल मे निश्चित अवधि के बाद किया जाता है। अर्थात् *साख व्यवहारो मे **समय** का तत्व (element of time)* है।

ये साख-व्यवहार वस्तुओ के तथा रोकड के भी हो सकते है। जहाँ वस्तुएँ खरीदकर उनका भुगतान आगामी काल मे किया जाता है, उन्हे केवल 'साख व्यवहार' कहते है। जहाँ वर्तमान उपयोग के लिए धन-राशि प्राप्त की जाती है एव जिसका भुगतान भविष्य मे किया जाता है, उन व्यवहारो को ऋण व्यवहार कहते है।

साख के तत्व

१ **विश्वास**--इससे यह स्पष्ट है कि साख केवल उसी व्यक्ति को मिलती है जिसकी आर्थिक स्थिति में विश्वास किया जा सकता है एवं जो ईमानदार है। अर्थात् साख लेने के लिए पहले उस व्यक्ति की आर्थिक स्थिति, ईमानदारी तथा ऋण-भुगतान की योग्यता में ऋणदाता का **विश्वास** होना आवश्यक है। इस विश्वास की आवश्यकता 'क्रेडिट' शब्द में भी स्पष्ट है। इस शब्द की उत्पत्ति '*credo*' (अर्थात् विश्वास) शब्द से हुई।

२ **समय तत्व**—साख में **समय** का तत्व होता है। अर्थात साख हम तभी कह सकते हैं जब वर्तमान आर्थिक वस्तुओं का भुगतान भविष्य की आर्थिक वस्तुओं से किया जाय और यह अवधि ऋणी और ऋणदाता में निश्चित हो जाती है।

३ **राशि**—साख कितनी चाहिए अथवा साख में कितनी राशि का आदान-प्रदान होता है वह राशि भी मालूम होनी चाहिए। इस प्रकार साख में तीन बातों की आवश्यकता होती है —

(१) **समय**—*वर्तमान वस्तुओं का भविष्य में भुगतान होना।*

(२) **निश्चित राशि**—साख की राशि अथवा मूल्य निश्चित होना।

(३) **विश्वास**—ऋणी की आर्थिक स्थिति एवं ऋण-भुगतान की क्षमता एवं ईमानदारी में विश्वास होना।

४ **जमानत**—बैंक के साख-व्यवहारों में आजकल किसी न किसी प्रकार की जमानत आवश्यक होती है, अतः साख में **जमानत का तत्व** भी होता है। परन्तु इसका होना आवश्यक नहीं है क्योंकि सामान्यतः बैंक ऋणी की वैयक्तिक जमानत पर भी ऋण देते हैं *तथा दुकानदार अपने ग्राहक की वैयक्तिक साख पर।*

साख के प्रकार

(अ) **उपभोग्य एवं उत्पादी साख**—साख दो कार्यों के लिए प्राप्त की जाती है। जिस समय साख का उपयोग उपभोग के लिए होता है, वह **उपभोग्य (consumption) साख** होती है, तथा जिस साख का उपयोग व्यापारिक अथवा *औद्योगिक प्राप्ति के लिए होता है एवं जिससे उत्पादन बढ़ता है,* उसे **उत्पादी** (production) **साख** कहते हैं। उपभोग्य साख का निर्माण अथवा संचार जहाँ तक उत्पादन कार्यों में सहायक होता है वहीं तक हम उपभोग्य साख का दिया जाना उचित समझते हैं, जैसे *क्रय-विक्रय पद्धति* (hire-purchase system) *अथवा किश्त पद्धति* (instalment system)। परन्तु

अन्य साख जिसमें उत्पादन कार्य में सहायता नहीं मिलती, वह देश हित में नहीं होती।

(ब) **व्यापारिक साख**—जब कोई व्यक्ति अपनी व्यावसायिक साख के आधार पर उधार माल लेता है अथवा किसी अन्य व्यक्ति को उसकी व्यापारिक साख पर माल उधार देता है तब उसे **व्यापारिक साख** (commercial credit) कहते है। यह साख उसी क्षेत्र तक सीमित रहती है, जिस क्षेत्र में व्यापारियों का विशेष आदान प्रदान होता है। इसके लिए बैंक व्यापारियों से व्यापारिक माल आदि की जमानत लेते है।

(स) **औद्योगिक साख**—औद्योगिक विकास के लिए जब उद्योगपति अपनी स्थायी या अस्थायी सम्पत्ति की जमानत पर दीर्घकालीन या अल्पकालीन ऋण लेते है तब उसे औद्योगिक साख कहते है।

(द) **राष्ट्रीय साख**—उसे कहते हैं जिसके आधार पर सरकार जनता से ऋण आदि लेती है एव उसके बदले में अपने बिल आदि देती है। सरकार की इस साख को राष्ट्रीय साख कहते है तथा जिन पत्रों को देकर सरकार यह राशि उधार लेती है उन पत्रों को **साख विलेख** (instruments) कहते हैं। सरकार की साख वैयक्तिक साख से अधिक एव महत्वपूर्ण होती है।

(य) **बैंक साख**—बैंक साख सब में अधिक महत्वपूर्ण होती है। जब व्यापारी अपनी साख बढ़ाने के लिए अपनी साख बचकर बैंक से साख प्राप्त करते है उस समय उस व्यापारी की साख बैंक की साख के कारण बढ़ जाती है। इसके सिवा बैंक साख विलेखों के निर्गमन द्वारा भी साख देती है।

साख से लाभ

(१) **पूँजी की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि**—अनेक व्यक्ति ऐसे होते है जिनके पास पूँजी होती है परन्तु वे उसका समुचित उपयोग नहीं कर सकते। साख के कारण ऐसी निष्क्रिय पूंजी उन लोगों को मिलती है जो उसका उपयोग उत्पादन कार्यों के लिए कर सकते है। इससे देश में उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है तथा पूँजी की वृद्धि होती है।

(२) **विनियोग साधनों में वृद्धि**—बैंक आदि साख-संस्थाएँ विनियोग के विभिन्न साधनों को खोजकर विनियोग साधन बढ़ाते है तथा उनको अधिक प्रभावी करते है। इससे जनता को अपनी संचित राशि का विनियोग करने की पर्याप्त सुविधाएँ मिलती है तथा वे विनियोग के लिए अधिक मात्रा में धन संचय करते है जिससे देश की पूंजी की वृद्धि होती है।

(३) **विनिमय माध्यम में वृद्धि तथा मुद्रा की मितव्ययता**—साख में जनता विशेषत अपना भुगतान चैक आदि साख पत्रो द्वारा करती है जिससे मुद्रा की कम आवश्यकता होती है तथा मुद्रा एव साख की गति बढती है। इस कारण आधुनिक व्यापार एव उद्योग की अतिरिक्त पूंजी की आवश्यकताएँ पूरी होती है, जो स्वर्ण अथवा अन्य किसी प्रकार की धातु-मुद्रा से सम्भव न होती। साथ ही, साख की वृद्धि एव उपयोग से चैक आदि का उपयोग होता है तथा धातु-मुद्रा की आवश्यकता कम होती है जो अन्य उपयोगी कार्यों मे तथा उत्पादन के उपयोग मे आती है।

(४) **साख-निर्माण से** *स्थगित भुगतान* (deferred payments) करना सम्भव होता है जिससे ऋणी एव ऋणदाता दोनों को ही सुविधाएँ होती है।

(५) **बडी-बडी राशियों का भुगतान** करने के लिए साख पत्र सुगम साधन होते हैं जिनकी प्राप्ति साख-निर्माण से जनता एव देश को होती है। साख की सुविधा से देशी वाणिज्य, व्यवसाय एव उद्योगो की तथा अन्तरराष्ट्रीय एव *विदेशी व्यापार मे प्रगति होती है।*

(६) **आर्थिक सकट का सामना**—साख निर्माण के कारण सरकार आर्थिक सकट के समय साख के प्रसार से आर्थिक सकट का सामना कर सकती है। साथ ही साख के व्यवस्थित नियन्त्रण से मुद्रा प्रणाली मे लोच एव मूल्य स्थिरता रखने मे सहायता होती है।

साख से हानि :

(१) **फिजूलखर्ची को प्रोत्साहन**—उपभोग कार्यों के लिए साख प्राप्त होने से समाज म फिजूलखर्ची बढती है जिससे समाज मे जालसाजी एव असत्य व्यवहारो की ओर प्रवृत्ति होकर समाज तथा व्यापारियो का नैतिक स्तर गिर जाता है।

(२) **सट्टे को प्रोत्साहन**—उत्पादन कार्यों के लिए यदि आवश्यकतानुसार एव सीमित परिमाण म साख न दी जाय तो व्यापारियो एव उद्योगपतियो मे *सट्टे की प्रवृत्ति होती है। इससे व्यापारियो एव उद्योगपतियो का वैज्ञानिक हानि* तो होती ही है साथ ही देश के अनेक उद्योगो एव व्यवसायो का अन्त होता है, जिससे देश की आर्थिक हानि होती है।

(३) **उत्पादनाधिक्य** का भय—अधिक मात्रा मे साख मिलने से देश का उत्पादन बढता है परन्तु इससे कभी-कभी उत्पादनाधिक्य (over-production) हो जाता है। उत्पादनाधिक्य से मूल्य-स्तर गिरने लगते है और देश का आर्थिक ढाँचा अस्त-व्यस्त हो जाता है।

(४) **उत्पादन में अपव्यय**—साख से अनेक अयोग्य व्यापारी एवं उद्योगपति भी व्यापारिक एवं औद्योगिक क्षेत्र में आते हैं जिससे उत्पादन में फिजूलखर्ची (wastage) अधिक होती है। साथ ही वे अपनी औद्योगिक अक्षमता को छिपाने में सफल हो जाते हैं।

(५) **पूँजी का केन्द्रीकरण**—साख से पूंजी का केन्द्रीकरण कुछ इने गिने व्यक्तियों के हाथ मे हो जाता है। इससे देश में संयोग (combinations) एवं एकाधिकार की प्रवृत्ति बढ जाती है जो साधारण जन हित के लिए हानिकर होती है। इस प्रवृत्ति के पनपने से देश की सरकार का नियन्त्रण भी ये ही लोग अपनी इच्छानुसार करने में सफल होते हैं।

(६) **औद्योगिक अक्षमता को प्रोत्साहन**—अयोग्य एवं अदक्ष व्यापारियो एवं उद्योगपतियों को साख सुविधाएँ मिलने से वे ऋण पूँजी पर अपना व्यापार चलाते रहते हैं जिससे देखने में तो आर्थिक प्रगति होती है परन्तु वह खोखली रहती है। मन्दी के समय देश को आर्थिक संकट का सामना करना पडता है। उदाहरणार्थ, न्यूयार्क का आर्थिक संकट।

बैंक द्वारा साख-निर्माण

बैंक अपने ग्राहकों से विभिन्न प्रकार के एवं विभिन्न शर्तों पर निक्षेप लेता है जो उसकी कार्यशील पूंजी का एक भाग रहता है। इस प्रकार निक्षेपों के रूप में प्राप्त किये हुए धन एवं साख को वह अन्य व्यक्तियों को ऋण देता है। यह बैंक का प्रमुख कार्य है। इसलिए प्रो० सेलिगमेन ने कहा है कि "कटौती, *निक्षेप तथा चलन इन तीन कार्यों का आधुनिक साख व्यवहारों में समावेश* होता है।"[1] बैंक निक्षेपों द्वारा जनता से ऋण लेते हैं तथा उनकी माँग पर भुगतान करने की जिम्मेदारी लेते हैं। इन निक्षेपों की सब रकम एक साथ नहीं माँगी जाती और न कोई व्यक्ति अपनी सब रकम एक साथ लेता ही है। इस लिए बैंक इस धन में से कुछ रकम निक्षेपों के भुगतान के लिए रोकड निधि में रखता है तथा शेष रकम वह ऋण देने के उपयोग में लाता है। बैंक इस रकम में से कितना ऋण दे सकता है, यह ग्राहकों द्वारा कितना रुपया निकाला जायगा, इस पर निर्भर रहता है। प्रगतिशील राष्ट्रों में लगभग निक्षेपों की ९० प्रतिशत तथा भारत में ८० प्रतिशत रकम ऋण-कार्यों में लगाई जाती है। इसलिए यह कहना ठीक ही है कि निक्षेपों द्वारा ऋण निर्माण किये जाते हैं अथवा ऋण **निक्षेपों के बच्चे होते हैं।**

---

1 *Principles of Economics* by Seligman.

निक्षेपो के दो प्रकार—बैंक के पास निक्षेप तीन रूप मे आते है—स्थायी, सचय तथा चल। इन निक्षेपो के अतिरिक्त बैंक अपने ऋणो द्वारा भी नये निक्षेपो का निर्माण करते हैं अथवा उन ऋणो से नये निक्षेप लेखे खोलते है। अर्थात् कुछ निक्षेप इस प्रकार के होते है जो केवल बैंक से ऋण लेकर उन ऋण की रकम से खोले जाते है। दूसरे शब्दो मे, बैंक अपनी साख उन व्यक्तियो को कुछ निश्चित सीमा तक उधार देते है जिसके आधार पर नये निक्षेप खोले जाते हैं। इस प्रकार निक्षेप दो प्रकार के होते है —रोकड निक्षेप (deposits), तथा साख निक्षेप। साख निक्षेप दो प्रकार से खोले जाते है—अपने ग्राहको को अधि-विकर्ष तथा रोकड-ऋण (cash credit) की सुविधाएँ देकर। इन साख निक्षेपो का आधार रोकड निक्षेप होता है, इसलिए यह कहा जाता है कि निक्षेप ऋणो द्वारा निर्माण होते है *अथवा निक्षेप ऋणो के बच्चे है।*[1]

बैंक की कार्य-पद्धति के विश्लेषण से स्पष्ट है कि बैंक के पास जितने भी निक्षेप होते हैं उनका बहुत कम भाग ऐसा होता है जिसमे वास्तव मे ग्राहक रोकड जमा करते है। अधिकतर निक्षेप बैंक अपनी साख अथवा ऋण देकर ही निर्माण करता है। अत प्रारम्भिक काल मे बैंक केवल रोकड निक्षेप ही रखते होंगे, किन्तु आधुनिक बैंकिंग मे साख निक्षेप विशेष रूप से होते है। क्योकि बैंक जो ऋण अपने ग्राहको को देता है वह सब रकम ग्राहक अपने पास न रखते हुए बैंक मे ही जमा कर देते है तथा उस पर समय-समय पर चैक आदि लिखते हैं। इस प्रकार ऋणो के परिमाण मे बैंक के निक्षेप भी बढ जाते हैं।

साख निक्षेपो का निर्माण

साख निक्षेपो का निर्माण भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जाता है। मान लीजिए किसी ग्राहक को १००० रुपये की आवश्यकता है और वह बैंक के पास जाता है तो वह उस व्यक्ति के साख की जाँच करके उससे प्रतिज्ञा-पत्र लेकर उसकी कटौती करेगा। अर्थात् १००० रुपय के प्रतिज्ञा-पत्र के बदले उस रकम पर जिस अवधि का प्रतिज्ञा-पत्र होगा, उस समय का व्याज घटाकर शेष रुपयो से *उसका एक निक्षेप-लेखा खोल देगा जिस पर ग्राहक चैक लिख सकेगा। इस* प्रकार बैंक ने प्रतिज्ञा-पत्र के रूप मे ग्राहक की साख को खरीदा तथा उसके

---

[1] Deposits are created by Loans and Loans are created by deposits or Loans are children of deposits and deposits are the children of Loans

आधार पर उसका नया लेखा खोलकर चैक लिखने का अधिकार दिया, अथवा अपनी साख उसे बेच दी। इस प्रकार व्यापारिक बैंकिंग मे विशेषत साख का क्रय-विक्रय होता है तथा ऋणो या कटौती द्वारा निक्षेपो की रकम बढाई जाती है। इन निक्षेपो का समय-समय पर चैको द्वारा भुगतान होते रहने के कारण साख पत्रो का विनिमय-माध्यम के रूप म पर्याप्त उपयोग होता है। इसलिए बैंक को **साख का निर्माता** (creator of credit) कहा जाता है।

बैंक साख निर्माण दो प्रकार से करते हैं—(१) पत्र मुद्रा चलन मे तथा (२) ग्राहको को ऋण देकर उनके नाम निक्षेप-लेखे खोलकर।

(१) जहा तक पत्रमुद्रा-चलन का सम्बन्ध है आजकल यह अधिकार केवल केन्द्रीय बैंक को ही है। इसलिए अन्य बैंक पत्र मुद्रा-चलन नही कर सकते। किन्तु मान लीजिए कि १०,००० रुपये की पत्र मुद्रा-चलन मे लाई गई एव उसकी परिवर्तनशीलता के लिए धातु-निधि मे केवल ४००० रु० का ही स्वर्ण तथा चाँदी रहती है तो बैंक ने १०,०००—४,०००=६,००० रुपये की साख निर्माण की। इस प्रकार साख निर्माण करने की शक्ति बैंक को परिवर्तनशीलता के लिए जो धातु निधि रखनी पडती है उससे सीमित होती है।

(२) बैंक **ऋण द्वारा** साख-निक्षेपो की वृद्धि कर साख निर्माण करते है। इन निक्षेप लेखा पर कर्जदारो द्वारा चैक लिखे जाते है जिनसे व्यापारिक व्यवहारो का विशेषत भुगतान होता है। भारत मे तो चैको का चलन बहुत कम है किन्तु विदेशो म दैनिक व्यवहारा म चैको का ही अधिकतर उपयोग होता है एव वास्तविक रोकड की आवश्यकता बहुत कम होती है। इसलिए श्री हार्टले विदर्स ने कहा है कि 'आधुनिक ब्रिटिश व्यापार एव अर्थ की मुद्रा चैक है तथा लन्दन मुद्रा-मण्डी मे जिस साख म व्यवहार होता है वह है चैक लिखने का अधिकार,'[1] और यह सब साख बैको द्वारा ऋण देने से निर्माण होती है।

साख-निर्माण की सीमा

किन्तु साख निर्माण कार्य बैंक अमीमित मात्रा मे नही कर सकते। उनकी साख-निर्माण-शक्ति की निम्न सीमाएँ है —

१ रोकड-निधि—बैंक को निक्षेपो के भुगतान के लिए कुछ रोकड-निधि रखनी पडती है। यह रोकड-निधि कुछ विशेष अनुपात से कम नही हो सकती। अत रोकड-निधि न्यूनतम सीमा पर आने की दशा मे बैंक साख निर्माण नही कर सकते।

---

1 *The Meaning of Money*

(२) केन्द्रीय बैंक के पास वैधानिक कोष—इसी प्रकार प्रत्येक बैंक को अपने पास या रिजर्व बैंक के पास कुछ रोकड़ निधि रखना अनिवार्य होता है। इस निधि से बैंकों की साख निर्माण शक्ति सीमित होती है।

(३) निक्षेपकों की इच्छा—सर वाल्टर लीफ के अनुसार बैंक की साख निर्माण शक्ति निक्षेपकों की इच्छा पर निर्भर रहती है। क्योंकि यदि जनता बैंक के पास अपने निक्षेप रखना बन्द कर दे तो बैंक साख निर्माण नहीं कर सकते।[1]

(४) जमानतों की किस्म—बैंक अधिकांश ऋण प्रतिभूतियों की जमानत पर देता है। अतः प्रतिभूतियाँ किस प्रकार की हैं इस पर बैंक की साख निर्माणशक्ति सीमित होती है।[2]

(५) केन्द्रीय बैंक के साख नियन्त्रण के साधन—बैंक की साख निर्माण शक्ति केन्द्रीय बैंक के साख नियन्त्रण-साधनों से सीमित होती है क्योंकि केन्द्रीय बैंक अपने साधनों द्वारा मुद्रा एवं साख का प्रसार एवं संकुचन करता है।

(६) धातु निधि—पत्रमुद्रा चलन द्वारा साख निर्माण पत्र मुद्रा के परिवर्तन के लिए जो धातु निधि रखना पड़ती है उससे सीमित रहता है। किसी भी दशा में यह न्यूनतम धातु निधि कम नहीं होना चाहिए।

(७) साख-पत्रों का उपयोग—बैंक की साख निर्माण शक्ति साख पत्रों के उपयोग पर निर्भर रहती है। जितना अधिक साख पत्रों का उपयोग होगा उतना कम रोकड़ निधि बैंक को रखना होगा जिससे उसकी साख निर्माण शक्ति बढ़ेगी। इसके विपरीत अवस्था में साख निर्माण शक्ति घटेगी।

उपर्युक्त सीमाओं को देखते हुए यह ठीक ही कहा गया है कि बैंक साख का निर्माता नहीं है और न वह मुद्रा का निर्माता ही है। किन्तु वह उन व्यक्तियों की राशि को जो उसका समुचित उपयोग नहीं कर सकते उनसे लेकर अन्य व्यक्तियों को जो उसके उत्पादन के लिए उपयोग कर सकते हैं उनको ऋण की सुविधा देने वाला व्यक्ति है। अतः निक्षेपकर्ता एवं ऋणी ही साख का निर्माण करते हैं न कि बैंक।

साख ही पूंजी है—आधुनिक व्यापार एवं वाणिज्य क्षेत्र में उत्पादन में

---

[1] *Banking* by Walter Leaf, p 101.
[2] Banking credits are manufactured not by banks, but by the customers who apply to them and by the security that the customers bring
[3] Prof Kannan

उपभोग तत्र की सब क्रियाएँ साख पर ही निर्भर है, अत कतिपय अर्थशास्त्रियो का यह भ्रम हो गया है कि 'साख ही पूंजी है।' इतना ही नही, अपितु मैक्लॉइड का कथन है कि "साख पूंजी का निर्माण करती है। साख एव मुद्रा दोनो ही पूंजी है, व्यापारिक साख पूंजी है।" किन्तु यह केवल भ्रम है सत्य नही, क्योकि साख की वजह से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की धन-राशि अथवा वस्तुएँ अपने उपयोग के लिए प्राप्त कर सकता है। परन्तु यदि वे वस्तुएँ उसे प्राप्त न हो तो उसकी साख उसको उत्पादन मे सहायक नही हो सकती। अर्थात् उत्पादन के अन्य घटको की भाँति साख केवल उत्पादन नही कर सकती क्योकि साख उत्पादन का स्वतन्त्र घटक नही है अपितु साख से मनुष्य अन्य व्यक्ति से उत्पादन के साधन प्राप्त कर सकता है। अत साख साधन है साध्य नही। साख अन्य व्यक्तियो की पूंजी उपयोग करने की आज्ञा है, पूंजी नही। प्रो० मिल ने इसको प्रमाणित करते हुए कहा है कि 'ऋण मे नई पूंजी का निर्माण नही होता किन्तु *ऋणदाता की पूँजी ऋणी के पास हस्तान्तरित होती है।'* इस हस्तान्तरण से यह नही कहा जा सकता कि देश की पूंजी दुगुनी हो गई है। हाँ, उत्पादन के साधन प्राप्त करने के लिए देश की पूंजी बढाने के लिए साख सहायक अवश्य होती है। प्रो० रिकार्डो ने भी कहा है कि "साख पूजी का निर्माण नही करती, उससे केवल यह निश्चित होता है कि पूंजी का उपयोग किसके द्वारा होगा।" अत साख ही पूंजी है अथवा साख मे पूजी का निर्माण होता है, यह धारणा भ्रममूलक है। इतना ही नही अपितु किसी व्यक्ति अथवा व्यापारी की साख उसकी धन-राशि अथवा पूंजी पर निर्भर रहती है तथा उसकी हानि होने से उसकी साख भी घट जाती है। अत साख पूंजी न होते हुए, किसी अन्य व्यक्ति की पूंजी का उपयोग करने की अनुमति मात्र है।

साख और मूल्य—साख और कीमतो के सम्बन्ध मे भी अर्थशास्त्रियो मे एकमत नही है। प्रो० मिल के अनुसार साख के प्रसार एव सकुचन प्रभाव कीमतो पर मुद्रा की ही भाँति होता है क्योकि साख द्वारा क्रय विक्रय होता है। इसलिए मुद्रा की कुल मात्रा मे वास्तविक चलन तथा साख-चलन दोनो का समावेश होना चाहिए। इसीलिए मूल्य स्थिरता के हेतु केन्द्रीय बैंक साख-नियत्रण करते है जिससे साख का प्रसार आवश्यकता से अधिक न हो सके।

इसके विपरीत प्रो० बॉकर और लॉगलिन (Laughlin) के अनुसार साख का कीमतो पर कोई प्रभाव नही होता क्योकि साख मे अतिम भुगतान न होते हुए मुद्रा से ही अतिम भुगतान होता है। साख-पत्रो के भुगतान के लिए मुद्रा

की आवश्यकता होगी इस कारण साख से मुद्रा की मात्रा में वृद्धि नहीं होती और न उसका कीमतों पर ही कोई प्रभाव होता है।

प्रो० कीन्स के अनुसार साख का प्रभाव सामान्य मूल्यस्तर पर होता है परन्तु उतना नहीं जितना कि चलन का होता है। क्योंकि साख की वृद्धि के साथ बैंकों के रोकड़ निधि में भी वृद्धि होती है। रोकड़ निधि में वृद्धि से वास्तविक चलन घट जाता है। परन्तु वास्तविक चलन उसी अनुपात में कम नहीं होता जितनी की साख में वृद्धि होती है। इस कारण साख की वृद्धि के साथ मूल्यस्तर में वृद्धि होती है परन्तु मुद्रा की वृद्धि की अपेक्षा कम अनुपात में। इस प्रकार साख एवं मूल्यस्तर का घनिष्ट सम्बन्ध है।

साख को प्रभावित करने वाली बातें

आज के आर्थिक विश्व में साख का महत्व अत्यधिक होने के कारण हमको यह जानना आवश्यक है कि किसी देश में साख का विस्तार किन घटकों से प्रभावित होता है। ये बातें निम्न हैं —

(१) लाभ की दर—जितनी अधिक सुरक्षा विनियोगों में होगी तथा उन पर जितना अधिक लाभ मिलेगा उतनी ही अधिक ऋण देने की प्रवृत्ति विनियोक्ताओं में होगी।

(२) आर्थिक स्थिति आर्थिक तेजी एवं मन्दी का प्रभाव भी साख पर पड़ता है। आर्थिक तेजी के समय व्यापार एवं उद्योग को अधिक धन की आवश्यकता होती है। इससे ब्याज दर एवं लाभ दर बढ़ जाती है। अतः देश में साख का प्रसार अधिक होता है। इसके विपरीत स्थिति में साख का प्रसार कम हो जाता है।

(३) स्कंध विनिमय परिस्थिति—स्कंध विनिमय में जब सट्टे की प्रवृत्ति अधिक होती है तब सटोरियों को अधिक धन की आवश्यकता होती है। अतः साख का प्रसार होता है। परन्तु जब स्कंध विनिमय में मंदी रहती है तथा सट्टा कम हो जाता है तब साख का प्रसार कम हो जाता है।

(४) केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति—केन्द्रीय बैंक साख का नियंत्रक होने के कारण उसकी मौद्रिक नीति का परिणाम साख के प्रसार एवं संकोच पर होता है। जब देश के आर्थिक विकास अथवा मूल्य स्तर ऊंचा करने के हेतु केन्द्रीय बैंक सुलभ मुद्रा नीति अपनाती है तब साख का प्रसार होता है। इसके विपरीत जब केन्द्रीय बैंक मूल्य स्तर कम करने के लिए अथवा अधिक न बढ़ने देने के लिए दुर्लभ मौद्रिक नीति अपनाता है तब साख का संकोच होता है।

(५) **बैंकिंग का विकास**—देश में जितनी बैंकिंग प्रणाली जितनी अधिक विकसित होगी उतनी ही मुद्रा के स्थानान्तरण में सुगमता होगी तथा बैंक साख का निर्माण अधिक कर सकेंगे। इसके विपरीत स्थिति में साख का निर्माण कम होगा।

(६) **विनिमय माध्यम का स्वरूप**—देश में विनिमय माध्यम के लिए यदि साख पत्रों का अधिक चलन होगा तो बैंकों को कम रोकड़ निधि रखनी होगी। फलत साख का अधिक प्रसार न हो सकेगा। परन्तु यदि विनिमय माध्यम के लिए साख पत्रों का अधिक उपयोग होता है तो बैंकों को रोकड़ निधि कम रखनी होगी। इससे साख का अधिक निर्माण होगा।

(७) **देश की आर्थिक नीति**— देश की आर्थिक नीति यदि उद्योगों का उत्साह वर्धक होती है तो देश का औद्योगिक एवं व्यापारिक विकास होगा। ऐसी दशा में साख का अधिक प्रसार होगा। परन्तु यदि आर्थिक नीति में अनिश्चितता होगी तो उद्योगों को विकास का अवसर नहीं रहेगा तथा साख की वृद्धि नहीं होगी।

(८) **राजनीतिक स्थिति**—देश की राजनीतिक स्थिति सुरक्षित है तो उद्योग एवं व्यापारिक विकास को बल मिलता है तथा साख की माँग अधिक होने से साख का प्रसार होता है। परन्तु राजनीतिक अशांति एवं अस्थिरता की स्थिति से व्यापार एवं उद्योगों में अनिश्चितता एवं सन्देह का वातावरण रहता है। इस कारण ऋण की माँग अधिक न होने से साख का सकुचन होता है।

संक्षेप में राजनीतिक स्थिरता, सुदृढ़ एवं उत्साहवर्धक आर्थिक नीति, केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति एवं आर्थिक विकास की स्थिति पर देश में साख का प्रसार या सकुचन निर्भर रहता है।

साराश

'साख किसी भी व्यक्ति की वह शक्ति है जिससे वह अन्य व्यक्तियों से धन अथवा आर्थिक वस्तुएँ किसी अवधि के उपयोग के लिए लेता है।' साख व्यवहार में वर्तमान आर्थिक वस्तुओं का विनिमय भविष्य की आर्थिक वस्तुओं के साथ होता है। जोड के अनुसार साख एक ऐसा विनिमय है जो कुछ निश्चित समय के बाद भुगतान होने पर पूरा होता है।'

साख में चार तत्व होते हैं (१) समय (२) विश्वास, (३) निश्चित राशि, (४) जमानत।

साख कई प्रकार की होती है—उपभोग के लिए ली गई उपभोग्य साख

उत्पादन कार्यों के लिए जाने वाली उत्पादी साख, व्यापारिक कार्यों के लिए ली जाने वाली व्यापारिक साख, व्यक्ति द्वारा ली जाने वाली व्यक्तिगत साख, सरकार द्वारा जनता से लिए जाने वाले ऋण—राष्ट्रीय साख, बंक द्वारा निर्माण की जाने वाली बंकसाख होती है।

साख से लाभ—पूँजी की उत्पादन शक्ति में वृद्धि, विनियोग साधनों में वृद्धि, विनिमय माध्यम में वृद्धि तथा मुद्रा की मितव्ययिता, स्थगित भुगतान सभव, बड़ी राशि के भुगतान में सुगमता, आर्थिक सकट का सामना सम्भव।

साख से हानि—फिजूलखर्ची को प्रोत्साहन, सट्टे को प्रोत्साहन, उत्पादन में अपव्यय, औद्योगिक अक्षमता को बढ़ावा।

बैंक द्वारा साख निर्माण—बैंक ग्राहकों से निक्षेप-राशि लेते हैं जो उनकी कार्यशील पूँजी होती है। इसमें से वह माँग पर भुगतान के लिए कुछ राशि रोकड निधि में रखकर शेष ऋण देने के काम में लाते हैं। इस प्रकार निक्षेपों से ऋणों का निर्माण होता है। ऋण लेने वाली बैंक के ग्राहक ही होने हैं जो स्वीकृत ऋण की राशि अपने पास न लेते हुए अपने खातों में जमा करते हैं जिससे निक्षेपों में वृद्धि होती है। अत ऋणों से निक्षेपों का निर्माण होता है। इस प्रकार बंक के पास दो प्रकार के निक्षेप होते हैं—रोकड-निक्षेप एव साख-निक्षेप। साख निक्षेपों का निर्माण दो प्रकार से होता है—(१) पत्र-मुद्रा चला कर जो अधिकार आजकल केवल केन्द्रीय बंक को है, (२) ऋण देकर।

बंक साख निर्माण-शक्ति निम्न बातों से सीमित होती है—(१) रोकड निधि (२) निक्षेपकों की इच्छा (३) जमानतों की किस्म (४) केन्द्रीय बंक के साख नियन्त्रण के साधन (५) धातुनिधि (६) केन्द्रीय बंक के पास वैधानिक कोष (७) साखपत्रों का उपयोग।

साख एव पूँजी - श्री मेक्लॉइड के अनुसार साख ही पूँजी है परन्तु यह भ्रम है। क्योंकि साख पूँजी का निर्माण नहीं करती उससे केवल यह निश्चित होता है कि पूँजी का उपयोग कौन करेगा।

साख और मूल्य के सम्बन्ध के बारे में दो विचारधाराएँ हैं। मेक्लॉइड के *अनुसार साख के प्रसार एव सकोच का प्रभाव मूल्य-स्तर पर होता है।* अर्थात साख प्रसार के साथ कीमतें बढती हैं और सकोच के साथ कीमतें गिरती हैं। इसके विपरीत वॉकर आदि का कथन है कि साख का प्रभाव मूल्य स्तर पर नहीं होता। परन्तु दोनों ही बातें सही नहीं हैं। प्रो० कीन्स ने इसको स्पष्ट किया है जिनके अनुसार निक्षेपों के आधार पर साख निर्माण होता है।

अत. निक्षेपो से कुछ मुद्रा रोकड निधि मे बैक रखकर साख निर्माण करते हैं। अतः मुद्रा जितनी चलन से कम होती है उसके अनुपात मे साख अधिक बढती है। इसलिए मूल्य-स्तर प्रभावित होते है परन्तु उनका अनुपात चलन के प्रसार या सकोच से मूल्य-स्तर पर होने वाले प्रभाव से कुछ कम होता है।

किसी देश में साख का प्रसार निम्न बातो पर निर्भर है—(१) लाभ की दर (२) देश की आर्थिक स्थिति (३) स्कन्ध विनिमय परिस्थिति (४) केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति, (५) बैंकिग का विकास (६) विनिमय माध्यम का स्वरूप (७) देश की आर्थिक नीति तथा (८) देश की राजनीतिक स्थिति।

अध्याय ८

साखपत्र

साख का पूरी तरह उपयोग करने के लिए साखपत्रों का प्रयोग किया जाता है। साखपत्र उन सब पत्रों या साधनों को कहते हैं जिनका उपयोग मुद्रा के स्थान पर ऋणों के लेन-देन या सौदों के भुगतान में किया जाता है। इन पत्रों में विधिग्राह्यता नहीं होती अपितु ये कानून द्वारा मान्य होते हैं। इनको ऋणों या लेन-देन में स्वीकार करना या न करना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर होता है। साखपत्र दो प्रकार के होते हैं—(१) बेचानसाध्य (परक्राम्य—negotiable) तथा (२) बेचानरहित (अपरक्राम्य)।

बेचानसाध्य साखपत्र बेचानसाध्य विलेख अधिनियम के अनुसार बेचानसाध्य विलेख लिखित विलेख होता है जिसकी सम्पत्ति हस्तान्तरण एवं बेचान से अथवा केवल हस्तान्तरण से किसी अन्य व्यक्ति को हस्तान्तरित होती है जो हस्तान्तरक की उपाधि के दोष के बावजूद पूर्ण सद्भावना से उसे स्वीकार करता है एवं जिसको यथाविधि धारी अपने नाम पर उसकी सम्पत्ति के लिए न्यायालय में कार्यवाही कर सकता है। इसकी विशेषताएँ निम्न हैं :—

(१) बेचानसाध्य विलेख लिखित होता है। (२) विलेख केवल देने से अथवा बेचान सहित देने से उनकी सम्पत्ति का स्वामित्व हस्तान्तरिती एवं पृष्ठांकिती को प्राप्त होता है। (३) बेचानसाध्य साखपत्रों में हस्तान्तरिती को चेक का धारी होने के नाते दावा करने का अधिकार है। (४) हस्तान्तरक (transferor) की उपाधि सदोष होते हुए भी उस विलेख का स्वामित्व मूल्य के धारी (holder for value) को अन्य किसी के अधिकार के बिना प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ मैंने एक घोड़ा बेचा जिसका भुगतान मुझे चेक द्वारा किया गया जो वाहक (bearer) था। बाद में मालूम हुआ कि वह चेक उस व्यक्ति का चुराया हुआ था तो उस व्यक्ति के विरुद्ध वैधानिक कार्यवाही होगी परन्तु मेरे विरुद्ध नहीं होगी क्योंकि उस चेक का मूल्य अर्थात् अपना घोड़ा मैंने उसे दे दिया है। परन्तु बेचानरहित साखपत्रों में यह बात नहीं होगी।

धारी –वचानसाध्य विलेख अधिनियम (धारा ८) के अनुसार 'किसी प्रतिज्ञा पत्र, विनिमय-बिल अथवा चैक का धारी वह है जिमका अपन ही नाम से उस पर अधिकार है तथा उसके पक्षकारा स वह राशि प्राप्त (recover) कर सकता है।" इस परिभाषा के अनुसार धारी वह है जिसे निम्न अधिकार है —

(१) उस विलख की सम्पत्ति का अपन नाम मे लेन का अधिकार हो,

(२) आदाता वाहक तथा पृष्ठाकिकी के नाते विलख के पक्षकारा के विरुद्ध वैधानिक कायवाही करने का अधिकार प्राप्त हो, तथा

(३) उसकी उपाधि वैधानिक रीति स उस प्राप्त हुई हो।

किसी भी वेचानसाध्य मागपत्र का धारी वह है जिसका अपन नाम उसकी सम्पत्ति लेन का अधिकार हा तथा उसक पक्षकारो स उसकी सम्पत्ति प्राप्त करन का अधिकार हा। किन्तु किसी विलख का किमी व्यक्ति क पास हाना उसको धारी नही बनाता जब तक कि उसकी सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार उस न हा। इस प्रकार कोई भी व्यक्ति जिसे खाया हुआ विलेख जो वाहक है मिला है अथवा चोरी किया हुआ विलख जिस व्यक्ति के पास है वह उस विलेख का धारी नही हागा। क्योकि उसका न तो उस पर वैधानिक अधिकार है और न वह उस विलेख के पक्षकारा से उसकी सम्पत्ति ही प्राप्त कर सकता है। कोई भी व्यक्ति जब तक वह विलख का स्वत्वधारी स्वामी नही है, अथवा जो आदाता (payee) नही ह अथवा वचान म आदाता नही बनाया गया है अथवा वाहक विलेख मे वाहक आदाता नही है तो वह विलख के पक्षकारा के विरुद्ध वैधानिक कायवाही नही कर सकता।

यथाविधि धारी— किसी वाहक चैक विनिमय बिल अथवा प्रतिज्ञा पत्र का यथाविधि धारी वह व्यक्ति है जो किसी प्रतिफल के लिए अधिकारी होता है अथवा आदेशा विलेखा म वह आदाता अथवा पृष्ठाकिकी होता है तथा यह अधिकार उसे इन विलेखा के भुगतान हाने के पूव एसे व्यक्ति से प्राप्त हुआ हो जिसकी उपाधि सदोष होने के लिए कोई विश्वसनीय कारण न हो। इस परिभाषा से यथाविधि धारी की निम्न विशेषताएँ ह —

१ विलेखो के अनादरण एव भुगतान की अवधि क पूव यह अधिकार प्राप्त किया हो।

२ किसी मूल्य क विनिमय म पूण सद्भावना स विलेखा का प्राप्त किया हा।

३ जिस समय विलख का वेचान हुआ उस समय वचानकर्ता की उपाधि किसी प्रकार के दूषित (defective) होने की जानकारी न हो।

४ विलेख की प्राप्ति किसी प्रतिफल (consideration) के बदले की गयी हो एवं प्रतिफल मूल्यवान हो।

५ विलेख पूर्ण एवं नियमी (regular form) हो।

ऐसा यथाविधि-धारी उन विलेखों की सम्पत्ति के लिए अन्य पक्षों के विरुद्ध वैधानिक कार्यवाही कर सकेगा।

कपट तथा चोरी अथवा अन्य अवैध मार्गों से प्राप्त आदेश विलेखों का हस्तान्तरण तथा पृष्ठाङ्कन से हस्तान्तरिती अथवा पृष्ठाङ्किती को हस्तान्तरक एवं पृष्ठाङ्कक से अच्छी उपाधि नहीं देता। इसके विपरीत वाहक विलेखों में हस्तान्तरिती यदि विलेखों को सद्भावना एवं मूल्य के विनिमय में लेता है तो उसकी उपाधि में कोई भी दोष नहीं रहता।[1]

बेचान साध्य मान्य विलेखों में चैक, विनिमय-बिल तथा प्रतिज्ञा-पत्रों का समावेश होता है।

चैक

परिभाषा—"चैक किसी विशेष बैंक पर लिखा हुआ विनिमय-बिल है, जिसका माग पर भुगतान हो। इस धारा में जिन अपवादों को दिया है, उसके अतिरिक्त माँग पर भुगतान होने वाले विनिमय-बिलों की सब धाराएँ चैकों को भी लागू होंगी।'[2] किन्तु विनिमय बिल क्या होता है ? विनिमय बिल लेखक का किसी व्यक्ति के लिए शर्त-रहित लिखित आदेश होता है कि वह किसी निश्चित व्यक्ति को अथवा उसके आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति को अथवा उसके वाहक को निश्चित मुद्राएँ दे। इस आदेश पर लेखक के हस्ताक्षर होते हैं।'[3]

इन दोनों परिभाषाओं के समन्वय से यह स्पष्ट है कि चैक एक व्यक्ति द्वारा किसी निश्चित बैंक को दिया हुआ लिखित एवं शर्त रहित आदेश है, जिस पर लिखने वाले के हस्ताक्षर होते हैं; जिसमें कोई निश्चित रकम किसी निश्चित व्यक्ति को अथवा उसके आदेशानुसार अथवा वाहक को देने के लिए आदेश होता है। इस परिभाषा से हम केवल उसी प्रलेख को चैक कह सकते हैं जिनमें निम्न विशेषताएँ हों[4] —

(१) लिखित आदेश—अर्थात् किसी व्यक्ति का केवल जबानी आदेश

---

[1] Sec 58 of the Negotiable Instrument Act
[2] Sec 73 of the Negotiable Instruments Act
[3] Sec 5 of the Negotiable Instruments Act
[4] Banking Law & Practice in India by Tannan

चैक नहीं होगा। यह आदेश किसी भी कागज के टुकड़े पर पेंसिल अथवा स्याही से लिखा हुआ हो। यह आदेश टंक-मुद्रित (type written) अथवा मुद्रित भी हो सकता है। किन्तु सुरक्षा की दृष्टि से बैंक चैकों के छपे हुए फॉर्म रखते हैं जिन पर चैक लिखे जा सकते हैं। इसी प्रकार ग्राहक का हिसाब खोलते समय बैंक यह हिदायत लगाते हैं कि चैक स्याही से लिखे हुए या टंक-मुद्रित होना चाहिए।

(२) **शर्त-रहित आदेश**—जिसको आदेश दिया गया है उस पर भुगतान करने सम्बन्धी किसी प्रकार की शर्त न हो। उदाहरणार्थ, किसी भुगतान के लिए रसीद आदि लेने की शर्त लगा दी जाय तो वह चैक नहीं होगा।

(३) **किसी निश्चित बैंक के नाम आदेश**—यह आदेश निश्चित बैंक के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति को नहीं दिया जा सकता। उदाहरणार्थ, 'स्टेट बैंक ऑव इण्डिया' पर लिखे हुए चैक में स्टेट बैंक का कौन-सा कार्यालय है यह निश्चित नहीं होता। अतः यह निश्चितता लाने के लिए उसका पूरा नाम तथा स्थान होना चाहिए।

(४) **माँग पर भुगतान देने का आदेश**—विलेख में कोई ऐसी बात न हो जिसमें उस आदेश या चैक का भुगतान बैंकों को प्रस्तुत करने पर न मिले। इसमें 'माँग पर भुगतान हो' ये लिखना।

(५) **चैक लिखने वाले के हस्ताक्षर उस पर होना आवश्यक है**, अन्यथा उस आदेश का कोई मूल्य नहीं रहेगा और न वह आदेश ही होगा।

(६) **रकम के भुगतान की राशि निश्चित हो**—यदि मुद्रा के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु के भुगतान का आदेश दिया है तो उसमें निश्चितता नहीं होगी और न ऐसा आदेश चैक ही होगा। अगर चैक किसी विदेशी बैंक को दिया जाता है और उसमें किसी विशेष विनिमय दर का उल्लेख नहीं किया गया है, तो उसका भुगतान तत्कालीन विनिमय दर से होगा। इसी प्रकार भारतीय परक्राम्य-विलेख अधिनियम के अनुसार यदि विदेशी मुद्रा में चैक हो एवं उसका विनिमय दर दिया गया हो अथवा उसमें दी हुई ब्याज-दर से भविष्य के ब्याज का समावेश करना हो तो सब बातें निश्चित होने के कारण आदेश की रकम भी निश्चित रहती है। इसलिए वह आदेश चैक ही होगा।

(७) **जिस व्यक्ति को भुगतान करना है उसका निश्चित एवं स्पष्ट उल्लेख हो** अथवा उसके आदेशानुसार अथवा वाहक को भुगतान होगा, यह भी निश्चित होना चाहिए ताकि पाने वाले की निश्चितता हो जाय।

उक्त बातों के साथ ही नियमी चैक में निम्न बातों का ध्यान रखना आवश्यक है, अन्यथा बैंक भुगतान नहीं देगा :—

(१) तिथि—चैक पर जिस तिथि को वह लिखा गया है, वह तारीख होनी चाहिए। परन्तु चैकों पर तिथि न होने पर भी बैंक अथवा धारी उस पर तिथि डाल सकता है किन्तु सामान्य रूप से बैंक ऐसे चैकों का भुगतान नहीं करते। चैक उत्तर-तिथीय (post-dated) अथवा पूर्व-तिथीय (anti-dated) भी होते हैं। पूर्व-तिथीय (anti-dated) चैक वे होते हैं जिन पर जिस दिन वे भुगतान के लिए उपस्थित किए जाते हैं उससे पहिले की तिथि होती है। इस दशा में उनका भुगतान होता है किन्तु यदि वह तिथि उपस्थिति के ६ महीने पहिले की है तो बैंक उनका भुगतान नहीं करेगा। क्योंकि वे **वीतकाल** (stale) हो जाते हैं। उत्तर-तिथीय (post-dated) चैकों का भुगतान बैंक उस तिथि के पहले नहीं करते। वास्तव में ऐसे उत्तर तिथीय-धनादेश चैक नहीं कहे जा सकते क्योंकि उस तिथि से पहिले उपस्थित करने पर उनका भुगतान नहीं मिल सकता।

(२) **पाने वाले का नाम** (Payee's Name)—चैकों पर पाने वाले का नाम स्पष्ट लिखा जाना चाहिए। उन पर उसकी उपाधियाँ, जैसे राय साहब, राय बहादुर आदि लिखने की आवश्यकता नहीं होती। पाने वाले का नाम चैक में 'pay to ('भुगतान करो') के आगे जो रेखा होती है उस पर लिखा जाता है। अवैयक्तिक व्यक्तियों के नाम के चैक सामान्यतः वाहक चैक होते हैं, किन्तु वैधानिक व्यक्तियों (legal or corporate persons) के नाम दिये जाने वाले चैक आदेश चैक (order) होते हैं। वाहक चैकों में चैक पर दिये हुए "आदेश वाहक" शब्दों में से 'आदेश' शब्द को काट देना चाहिए। इसी प्रकार आदेश चैक पर से वाहक शब्द को काट देना चाहिए। किन्तु यदि चैक केवल किसी विशेष व्यक्ति के भुगतान के लिए ही हो तो 'भुगतान करो' के आगे की रेखा पर पाने वाले के नाम के साथ 'केवल' (only) शब्द लगा देना चाहिए तथा 'आदेश वाहक' इन दोनों शब्दों को काट देना चाहिए।

(३) **राशि**—चैक पर राशि के लिए दो स्थान होते हैं जिनमें से एक पर अंकों में तथा दूसरे पर शब्दों में राशि लिखी जाती है। ये दोनों राशियाँ लिखते समय उनमें किसी प्रकार का अन्तर न हो, यह ध्यान रखना चाहिए। राशि इस प्रकार से लिखनी चाहिए जिससे कोई अन्य व्यक्ति राशि को बढ़ा न सके। क्योंकि यदि ग्राहक की भूल से ऐसी जगह रह जाय तथा व्यक्ति 'दा

सौ रुपये' के पहिले 'एक हजार' शब्द बढ़ाकर 'एक हजार दो सौ' कर दे और बैंक पूर्ण सावधानी रखते हुए भी इस परिवर्तन को न पकड सके तो उस भुगतान मे वह ग्राहक को डेबिट कर सकता है। इसलिए इस सम्बन्ध मे ग्राहक को सावधानी रखनी चाहिए।

(४) **लिखने वाले के हस्ताक्षर**—चैक लिखने वाले के हस्ताक्षर बैंक के पास जो नमूना हस्ताक्षर (specimen signature) होते है उसी प्रकार होने चाहिए। चैक पर लिखने वाला स्वय हस्ताक्षर करता है अथवा उसका अधिकृत अभिकर्ता हस्ताक्षर करता है। चैक पर कोई भी हस्ताक्षर करे, उसके हस्ताक्षर नमूने के हस्ताक्षर से मिलने चाहिए तभी बैंक उनका भुगतान करेगा। ऐसे हस्ताक्षर अधिकृत व्यक्ति को स्वय ही स्याही से करने पडते है, हस्ताक्षर की मोहर लगाने से काम नही चलता, क्योंकि बैंक ऐसे हस्ताक्षर को मान्य नही करता।

अनपढ ग्राहको के अँगूठे की निशानी (thumb impression) बैंक मान्य करता है किन्तु इसकी गवाही के लिए बैंक किसी अन्य व्यक्ति के हस्ताक्षर करवाते है। इसी प्रकार यदि कोई ग्राहक बीमारी की हालत मे अपने हस्ताक्षर ठीक नही कर सकता, उस समय उसके हस्ताक्षर उसके डॉक्टर द्वारा प्रमाणित होने चाहिए।

चैक के पक्ष—चैक मे तीन पक्ष होते है—(१) लिखने वाला, (२) पाने वाला तथा (३) देने वाली बैंक (drawee)। लिखने वाला वह व्यक्ति होता है जो चैक लिखकर आदेश देता है, जिस बैंक को यह आदेश दिया जाता है उसे भुगतान देने वाली बैंक, तथा जिस व्यक्ति को आदेश की राशि का भुगतान होता है अथवा जिस व्यक्ति के नाम चैक लिखा जाता है उसे पानेवाला (आदाता) कहते है। चैक का लिखने वाला देने वाली बैंक का ग्राहक होता है तथा उसका बैंक मे चल-लेखा होना चाहिए जिसमें उसके आदेशो का पालन किया जा सके। यदि बचत लेखा पर चैक काटने का अधिकार हो तो ग्राहक नियमानुसार चैक लिख सकता है।

प्रतिफल (Consideration)—प्रत्येक बेचनासाध्य विलेख का आधार प्रतिफल होना है और बिना प्रतिफल के किसी भी विलेख का लिखना, बेचान या हस्तान्तरण किसी व्यवहार के पक्षकारो को उत्तरदायी नही बनाता। यह प्रतिफल वैधानिक होना चाहिए।

इस प्रकार चैको मे मूल देनदारी देने वाली बैंक की होती है परन्तु उसका

प्राथमिक दायित्व लिखन वाले का होता है। क्योंकि बैंक द्वारा भुगतान न होने पर उसका भुगतान लिखन वाले को ही करना होगा। अथवा यदि वह चैक वचान द्वारा अन्य पक्षकारों के हाथ म होगा तो यथाविधि धारी को यह अधिकार होगा कि उस चैक के मूल्य का दायित्व वह सम्बन्धित पक्षों पर प्रमाणित कर। लेकिन इसम यह शर्त है कि अनादरण यथाविधि धारी द्वारा चैक की सदोष उपस्थिति के कारण अथवा लिखन वाले के लेख म अपर्याप्त धन के कारण न हुआ हो। इसी प्रकार अनादरण होन पर अनादरण की सूचना चक के सब पक्षकारों को देनी चाहिए। यदि चैक सदोष उपस्थिति के कारण अनादरित होता है तो उसकी जिम्मेदारी उसी व्यक्ति की होगी तथा लिखन वाले अथवा बचानकर्ता का किसी प्रकार का दायित्व न होगा।

महत्वपूर्ण परिवर्तन (Material Alterations)—चक म किसी भी प्रकार के परिवर्तनों पर उस लिखन वाले के हस्ताक्षर होना आवश्यक है। महत्वपूर्ण परिवर्तन उस कहते है जिसस चैक की मूल वैधानिक भाषा म अथवा पक्षकारों के दायित्व म परिवर्तन हो जाता है चाहे ऐसा परिवर्तन पाने वाले की दृष्टि म हानिकर हो अथवा न हो। महत्वपूर्ण परिवर्तन निम्न है —

१ **तिथि का परिवर्तन**—जिससे भुगतान का समय अथवा अवधि बढ़ाई जा सके।

२ **स्थान का परिवर्तन**—बैंक की शाखा म अथवा भुगतान के स्थान म परिवर्तन।

राशि का परिवर्तन—उसम राशि को घटाना अथवा बढ़ाना माध्यम अर्थात् पौंड की जगह रुपया अथवा डालर का परिवर्तन विनिमय दर दी हुई तो उसम परिवर्तन तथा ब्याज की दर दी हुई हो तो उसम परिवर्तन आदि।

४ **पाने वाले के नाम मे परिवर्तन**—पाने वालों की संख्याओं म वृद्धि करना अथवा इस प्रकार का परिवर्तन करना जिससे उनके वैधानिक सम्बन्ध प्रभावित हो।

५ विशेष रेखांकन का सामान्य रेखांकन म परिवर्तन।
सामान्य रेखांकित चैकों का खुला चैक बनाना।

७ आदेश चैक का वाहक चैक म परिवर्तन।

इस प्रकार के महत्वपूर्ण परिवर्तन चैक के पक्षकारों की सम्मति म किये जा सकते हैं तथा इन परिवर्तनों पर लिखन वाले के हस्ताक्षर होना आवश्यक

है। किन्तु अगर किसी चैक की सुरक्षा के लिए सामान्य बेचान अथवा सामान्य रेखाकन का विशेष बेचान अथवा विशेष रेखाकन मे परिवर्तन किया जाता है तो यह महत्वपूर्ण परिवर्तन नही होता। क्योंकि उसमे वैधानिक सम्बन्ध अथवा भाषा मे परिवर्तन नहीं होता। इसलिये बैंक को किसी भी चैक का भुगतान करने के पूर्व महत्वपूर्ण परिवर्तन नही है, यह देख लेना आवश्यक है जिससे उस पर किसी प्रकार का दायित्व न रहे। परन्तु यदि महत्वपूर्ण परिवर्तन ऐसा है जो सूक्ष्म परीक्षण से भी नहीं जाना जा सकता तथा बैंक पूर्ण सावधानी एव सद्भावना से भुगतान करता है तो वह भुगतान यथेष्ट समझा जायगा।

चैकों का वर्गीकरण

१ **आदेश चैक तथा वाहक चैक**—आदेश चैक की राशि पाने वाले को अथवा उसके आदेश पर किसी अन्य व्यक्ति को भुगतान करने वाले बैंक द्वारा दी जाती है किन्तु आदेशित व्यक्ति का भुगतान तभी हो सकता है जब मूल पाने वाला उस व्यक्ति के नाम उसका बेचान करे। वाहक चैक की राशि उस व्यक्ति को जिसके पास वह है एव जो इसे भुगतान के लिए बैंक को उपस्थित कर दी जाती है। किन्तु ऐसे चैकों पर भी बैंक राशि लेने वाले के हस्ताक्षर करा लेते है।

२ **खुला चैक तथा रेखाकित चैक**—खुला चैक उन चैकों को कहते है जो देने वाले बैंक के कार्यालय मे पाने वाले अथवा उसके प्रतिनिधि द्वारा भुनाये जा सकते है। ऐसे चैक खो जाने पर कोई भी पाने वाला व्यक्ति उनकी राशि ले सकता है यदि वह वाहक चैक है। इसी प्रकार आदेश चैक होने पर भी पाने वाले अथवा बेचान प्राप्त व्यक्ति के जाली हस्ताक्षर द्वारा उनका भी भुगतान लिया जा सकता है। अत खुले चैक यातायात के लिए असुविधाजनक हैं क्योंकि उनमे कपट की सम्भावना रहती है। कपट से सुरक्षा के लिए चैकों को रेखाकित किया जाता है।

रेखाकन—रेखाकित चैक वे है जिन पर दो समानान्तर रेखाएँ खींची जाती है तथा जिसका भुगतान पाने वाले को किसी बैंक के माध्यम से उपस्थित करने पर ही मिल सकता है, सीधे बैंक के कार्यालय से नही। रेखाकन तीन प्रकार का होता है—**सामान्य रेखाकन बेचान रहित तथा विशेष रेखाकन।**

सामान्य रेखाकन मे चैक पर केवल दो समानान्तर रेखाएं खींची जाती है जिससे उसका भुगतान पाने वाले को केवल किसी अन्य बैंक के द्वारा ही मिल सकता है। इस प्रकार की रेखाओ के बीच कभी-कभी '& Co' शब्द लिखे जाते

हैं। इससे चैक का भुगतान किसी ऐसे व्यक्ति को नहीं हो सकता जिसको उसका वैधानिक अधिकार नहीं है। रेखांकन से बैंक को केवल यह ध्वनित आदेश होता है कि वह उसका भुगतान अन्य बैंक के माध्यम से ही करे।

बेचान-रहित रेखांकन—सामान्य रेखांकन में जब समानान्तर रेखाओं के बीच (Not negotiable) "बेचान रहित" ये शब्द लिखे जाते हैं तब उसे 'बेचान रहित रेखांकन' कहते हैं। बेचान रहित **रेखांकन** से चैक का हस्तान्तरक हस्तान्तरिती को अपनी उपाधि से अच्छी उपाधि नहीं दे सकता। इन चैकों का हस्तान्तरण हो सकता है किन्तु बेचानसाध्यता नहीं रहती। उदाहरणार्थ यदि किसी हस्तान्तरक ने चैक चुराया है और किसी माल के भुगतान में वह चैक हस्तान्तरिती को देता है तो हस्तान्तरिती उसको मूल्य के बदले एवं पूर्ण सद्भावना से लेते हुए भी अच्छी उपाधि प्राप्त नहीं कर सकता तथा इस कपट का ज्ञान होने पर उस चैक की रकम उस चैक के स्वत्वधारी स्वामी को लौटानी होगी। इसलिए बेचान रहित रेखांकित चैक केवल घनिष्ठ व्यक्तियों में ही हस्तान्तरित हो सकता है।

रेखांकन के उदाहरण

सामान्य रेखांकन

चैक १

चैक २

& Co

चैक ३

बेचान-रहित
(Not Negotiable)

चैक ४

पाने वाले के लेखे में
(Payee's account)

विशेष रेखांकन—विशेष रेखांकन में चैंक पर दो समानान्तर रेखाओं के बीच किसी विशेष बैंक का नाम लिख दिया जाता है, जिससे उस चैंक का भुगतान केवल उस बैंक के माध्यम से ही हो सकता है। बैंक का नाम तभी लिखा जाता है जब लिखने वाले अथवा बेचानकर्ता को पाने वाले अथवा बेचान प्राप्त-व्यक्ति (endorsee) के बैंक का नाम मालूम हो। दूसरे, इन समानान्तर रेखाओं के बीच 'a/c payee only' शब्द लिख दिये जाते हैं, जिससे चैंक की रकम केवल पाने वाले के बैंक के लेखे में ही जमा की जाती है, उसकी नगद राशि उसे नहीं मिल सकती।

विशेष रेखांकन

चैंक १ इलाहाबाद बैंक लिमिटेड

चैंक २ इलाहाबाद बैंक लिमिटेड

चैंक ३ इलाहाबाद बैंक लिमिटेड
केवल पाने वाले के लेखे में

चैंक ४ बेचानरहित
इलाहाबाद बैंक लिमिटेड

रेखांकन कौन कर सकता है ?—चैंकों का रेखांकन लिखने वाला अथवा यदि वह चैंक रेखांकित नहीं है तो पाने वाला अथवा बेचानकर्ता कर सकता है। यदि कोई चैंक सामान्य रेखांकित है तो उसका विशेष रेखांकन पाने वाला अथवा बेचानकर्ता भी कर सकता है। इसी प्रकार विशेष रेखांकित चैंक को कोई भी बेचानकर्ता बेचान-रहित रेखांकन में बदल सकता है। विशेष-रेखांकित चैंक को कोई भी बैंक दूसरे बैंक के नाम—जो उसका सग्राहक अभिकर्ता

(collecting agent) है, पुन विशेष रेखांकित कर सकता है। परन्तु इस प्रकार का रेखांकन एक बैंक द्वारा उसके संग्राहक अभिकर्ता के नाम में ही पुन हो सकता है किसी अन्य बैंक के नाम से नहीं।

रेखांकित चैकों का भुगतान बैंक को रेखांकन के अनुसार ही करना चाहिए अन्यथा देन वाला बैंक स्वत्वधारी पाने वाले (rightful payee) के प्रति उत्तर-दायी होता है। इसलिए रेखांकित चैक यदि किसी ऐसे व्यक्ति को प्राप्त होता है *जिसका बैंक में लेखा नहीं है तो उसे वह चैक ऐसे व्यक्ति को हस्तान्तरित* करना चाहिए जिसका लेखा बैंक में हो तभी उसका भुगतान उसे मिल सकता है।

चैक खोना—किसी धारी से चैक खो जाता है तो उसके लिए वह उत्तर दायी होता है तथा उसको भुगतान चैक के लिखने वाले अथवा बचानकर्ता से लेने का अधिकार नहीं है। इसलिए चैक के खोने ही उसकी सूचना भुगतानकर्ता बैंक तथा बचानकर्ता को देनी चाहिए जिससे किसी अन्य व्यक्ति को उसका भुगतान न हो सके। *क्योंकि भुगतान रोकने का अधिकार केवल लिखने वाले* को होता है। किसी भी चैक का भुगतान होने पर बैंक उसकी राशि के लिए धारी के प्रति उसी दशा में उत्तरदायी होगा जब उसने उसका भुगतान नियमित रूप से न किया हो। संक्षेप में यदि बैंक सामान्य रेखांकित चैकों का भुगतान बैंक के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति को तथा विशेष रेखांकित चैकों का भुगतान चैक पर रेखांकित बैंक अथवा उसके अभिकर्ता को न करते हुए किसी अन्य प्रकार से करता है तो वह बैंक चैक के स्वत्वधारी स्वामी के प्रति उत्तरदायी होता है।[1] इसी प्रकार लिखने वाला किसी चैक के खो जाने पर तभी उत्तरदायी होगा जब चैक पाने वाले की सूचनाओं के प्रतिकूल रूप से भेजा गया हो। उदाहरणार्थ यदि मैं चाहता हूँ कि मेरा भुगतान आगरे में रजिस्टर्ड पोस्ट द्वारा हो और वह मुझे सामान्य पोस्ट द्वारा भेजा जाता है और वह खो जाता है तो मेरी सूचना के प्रतिकूल यह कार्य होने से लिखने वाला मेरा ऋणी ही रहेगा। क्योंकि चैक मेरी गलती से खोने हुए लिखने वाले की गलती से खोया है। इस प्रकार से बचानकर्ता भी यदि चैक को बचानप्राप्ति की सूचना के प्रतिकूल भेजता है तो वह भी धारी के प्रति उत्तरदायी होता है।

चिह्नित चैक (Marked Cheques)—चिह्नित चैक वह है जिस पर देने वाला बैंक लाल स्याही में अपने हस्ताक्षर कर देता है। इसका अर्थ है कि जिस

---

[1] *Sec 126 of the Negotiable Instruments Act*

दिन यह हस्ताक्षर किये गये थे उस दिन लिखने वाले ग्राहक के लेखे में भुगतान के लिए पर्याप्त राशि थी। इस प्रकार चिह्नित करते समय बैंक कभी-कभी "यदि इस तिथि (?) तक उपस्थित किया गया तो भुगतान-योग्य" शब्द लिख देते हैं। इससे वह चैक यदि उस दिन तक उपस्थित न किया गया और किसी कारण से उसका अनादरण हुआ अथवा बैंक का दिवाला निकल गया तो उस चैक का दायित्व न तो लिखने वाले और न भुगतानकर्ता बैंक का होता है। अतः चैकों में भुगतान के लिए नियमित एवं यथासमय (in due course) उपस्थिति होनी चाहिए। यदि भुगतान के लिए किसी प्रकार की तिथि नहीं लिखी गई है तो धारी को समुचित समय पर बैंक के कार्य-समय (office time) में उसको प्रस्तुत करनी चाहिए।

इस चिह्न से चैक पर बैंक की साख जोड दी जाती है जिससे चैक का चलन बढ जाता है। चैक चिह्नित तीन प्रकार से होता है —

(अ) **आदाता (धारी) की इच्छा पर**—आदाता अथवा धारी के आवेदन पर जब बैंक किसी चैक को चिह्नित करता है तो उसका अर्थ है कि उस तिथि को लिखने वाले के लेखे में भुगतान के लिए पर्याप्त राशि थी। परन्तु यदि उसका समुचित समय के बाद भुगतान के लिए उपस्थित नहीं किया गया अथवा उसका अनादरण हो गया हो तो उसका उत्तरदायित्व पाने वाले अथवा धारी का होगा।

(ब) **ग्राहक की इच्छा से**—जब भुगतान कर्ता बैंक लिखने वाले ग्राहक की प्रार्थना पर चैक चिह्नित करता है तो ग्राहक उस चैक का भुगतान रोक नहीं सकता। यदि किसी कारणवश वह रोक देता है तो भुगतान रोकने के कारण बैंक को होने वाली हानि के लिए वह उत्तरदायी होगा।

(स) **सग्राहक बैंक की इच्छा से**—जब सग्राहक बैंक की इच्छा से भुगतान कर्ता बैंक चैक को चिह्नित करता है उस समय उसका अर्थ चैक के भुगतान के समान ही होता है। क्योंकि ऐसे चैकों का भुगतान रोकने का अधिकार लिखने वाले का नहीं रहता। इस प्रकार का चिह्न जब चैक भुगतान के निश्चित समय के बाद (अर्थात् साधारणत ३ बजे बाद) आते हैं तभी किया जाता है।

इस प्रकार जब ग्राहक तथा सग्राहक बैंक की इच्छा से चैकों को चिह्नित किया जाता है तब उसका भुगतान ग्राहक नहीं रोक सकता। परन्तु पहली स्थिति मे चिह्नित चैक बैंक की साख जुड जाने से चलन मे अधिक रह सकता है। किसी भी स्थिति में चैक भुगतान के लिए समुचित समय पर ही उपस्थित किया जाना चाहिए।

उपस्थिति का समुचित समय (यथाविधि उपस्थिति)—उपस्थिति के लिए समुचित समय कौन सा है यह भिन्न भिन्न परिस्थितियों के अनुसार निश्चित किया जाता है। ¹परक्राम्य विलेख अधिनियम (धारा १०५) के अनुसार **समुचित समय** तीन बातों पर निर्भर रहता है। (१) पाने वाला लिखने वाला तथा देने वाले बैंक की परस्पर दशा (२) इस प्रकार के विलेखों के व्यवहारों की सामान्य पद्धति तथा (३) विलेख का स्वरूप। स्थान दूरी से तात्पर्य है कि यदि ये तीनों भिन्न भिन्न स्थान पर हों तो उस स्थान से चेक भेजने के लिए कितना समय लगता।

उदाहरणार्थ—(१) चेक अगर चांदमल आगरा ने १ जनवरी को भेजा है और २ जनवरी को रामनारायण नामक बम्बई को प्राप्त होता है तो वह चेक संग्रहण के लिए (जब तक देर के लिए कोई अन्य समुचित कारण न हो) उसके दूसरे दिन देना चाहिए। इसी प्रकार संग्राहक बैंक को उसका भुगतान प्राप्त करने के लिए उसी दिन अथवा दूसरे दिन आगरा स्थित अभिकर्ता के पास भुगतान लेने के लिए भेजना चाहिए। ऐसी स्थिति में चेक की यथाविधि उपस्थिति होगी।

(२) विलेख को उस देश की पद्धति के अनुसार उपस्थित करना चाहिए।

(३) यदि विलेख का स्वरूप ऐसा है जिससे अधिक काल तक चलन में रहने से कपट की सम्भावना हो तो उसकी उपस्थिति शीघ्रातिशीघ्र होना चाहिए।

उपस्थिति का समुचित समय निकालने में छुट्टियों का समावेश नहीं होगा। सामान्यतः चेक का भुगतान प्राप्त करने के लिए आदाता अथवा धारक प्राप्त व्यक्तियों को जिस दिन मिलता है उसी दिन अथवा दूसरे दिन अपने बैंक में संग्रहण के लिए देना चाहिए।

विकृत (Mutilated) चेक—विकृत चेक उन चेकों को कहते हैं जो आकस्मिकता से फट गये हों अथवा खराब हो गये हों। ऐसे फटे हुए तथा चिपकाए हुए चेकों का भुगतान बैंक नहीं करता किन्तु उन्हें विकृत लिखकर लौटा देता है। ऐसे विकृत एवं चिपकाये हुए चेकों पर आकस्मिक विकृत (accidentally mutilated) लिखकर ग्राहक के हस्ताक्षर होना आवश्यक है। क्योंकि कभी-कभी लिखने वाला चेक निरस्त करने के लिए भी उसे फाड़ देता है। यदि चेक संग्राहक बैंक द्वारा अथवा पाने वाले के द्वारा फट जाता है तो भुगतान के

¹ *Banking Law & Practice in India* by Tannan p 124

पूर्व संग्राहक बैंक की जमानत लेना आवश्यक है जिससे इन बाद बैंक पर किसी प्रकार का दायित्व न रहे।

यदि कोई चैक इस प्रकार विकृत हो जाता है जिससे उसकी राशि अथवा पाने वाले का नाम अथवा अन्य महत्वपूर्ण बात अस्पष्ट हो जाती है तो इस दशा में भी भुगतानकर्ता बैंक उसका भुगतान नहीं करेगा जब तक उसका स्पष्टीकरण लिखने वाला अपने हस्ताक्षरों के साथ न करे।

जाली चैक (Forged Cheques)—जाली चैक उस चैक को कहते हैं जिस पर लिखने वाले के हस्ताक्षर न होते हुए किसी अन्य व्यक्ति द्वारा जाली हस्ताक्षर बनाये गये हों। ऐसे चैक का भुगतान बैंक को नहीं भुगताना चाहिए। क्योंकि यदि वह पूर्ण सावधानी एवं सद्भावना के साथ जाली चैकों का भुगतान करता है तो वह अपने ग्राहक का खाता डेबिट नहीं कर सकता। कारण जाली चैक ग्राहक का वैधानिक आदेश नहीं होता। किन्तु यदि लिखने वाले की भूल अथवा असावधानी से इस प्रकार का जाली चैक बनाया गया हो तो लिखने वाले का खाता डेबिट किया जायगा। परन्तु बैंक को यह प्रमाणित करना होगा कि लिखने वाले ने चैक पुस्तक को असावधानी से रखा था।

जाली बेचान में यदि भुगतानकर्ता बैंक पूर्ण सावधानी के साथ उसका भुगतान करे तो ऐसे गलत भुगतान का दायित्व उस पर नहीं होता क्योंकि बैंक प्रत्येक आदाता अथवा बेचानकर्ता के हस्ताक्षरों को नहीं पहचान सकता। वह केवल लिखने वाले (ग्राहक) के हस्ताक्षरों को पहचान सकता है क्योंकि उसके नमूना हस्ताक्षर उसके पास होते हैं।

बेचान (Endorsements)

परिभाषा—कोई व्यक्ति चैक अथवा किसी भी बेचानसाध्य विलेख की सम्पत्ति का अधिकार किसी अन्य व्यक्ति को देने के हेतु उस पर हस्ताक्षर करता है तथा ऐसे हस्ताक्षर करते समय वह स्वयं उस विलेख का स्वत्वधारी स्वामी तथा धारी होता है। बेचान में बेचानसाध्य विलेख का बेचान होता है जो केवल हस्तान्तरण मात्र नहीं होता। दूसरे शब्दों में बेचान से किसी बेचान साध्य विलेख का लेने वाला व्यक्ति उसका वैधानिक अधिकारी हो जाता है किन्तु हस्तान्तरण में विलेख की सम्पत्ति का वैधानिक अधिकार हस्तान्तरिती को नहीं मिलता। इस प्रकार जो व्यक्ति बेचान के हेतु हस्ताक्षर करता है उसे बेचानकर्ता जिसके नाम बेचान किया जाता है उसे बेचान प्राप्त कहते हैं।

विशेषत बेचान चैक के पीछे किया जाता है। बेचान से चैक भर जाने पर

चैक के आकार का अन्य कागज चिपका कर उस पर बेचान हो सकता है। जिस समय कागज चिपका कर बेचान होता है उस समय बेचानकर्ता को चाहिए कि वह अपने हस्ताक्षर चैक एवं कागज दोनों पर करे। इससे किसी प्रकार के कपट की सम्भावना नहीं रहती। इस प्रकार चिपकाये हुए कागज को अनुपर्ची (allonge) कहते हैं।

बेचान कौन कर सकता है ?—किसी भी बेचानसाध्य विलेख का आदाता स्वयं अथवा उसका अधिकृत अभिकर्ता बेचान कर सकता है। अधिकृत अभिकर्ता को सदैव बेचान करते समय अपने प्रधान के लिए (for principal) लिखकर बेचान करना चाहिए जिससे ऐसे बेचान किये हुए विलेख का कोई दायित्व उस पर न रहे। इसी प्रकार संस्थाओं द्वारा बेचान उनके अधिकृत व्यक्तियों द्वारा होना चाहिए। बेचान करते समय पाने वाले को उसी प्रकार हस्ताक्षर करना चाहिए जिस तरह विलेख के लिखने वाले ने उसका नाम लिखा हो। उदाहरणार्थ यदि चैक पर पाने वाले का नाम पी० एल० गोलवालकर लिखा है तो बेचान करते समय भी पी० एल० गोलवालकर ही लिखना चाहिए। अगर बेचान करते समय पी० एल० गोलवलकर हस्ताक्षर किये गये तो बेचान ठीक नहीं माना जायगा क्योंकि नाम में अन्तर पड़ जाता है। किन्तु यदि पाने वाले का नाम गलत लिख गया है तो पहले गलत हस्ताक्षर करने के बाद नीचे अपने सही किये जा सकते हैं। दूसरे बेचान स्याही से अथवा पेंसिल से हो सकता है परन्तु पेंसिल के बेचान में कपट की सम्भावना होने के कारण बैंक सामान्यतया पेंसिल का बेचान स्वीकार नहीं करते।

बेचान के प्रकार

१ **सामान्य बेचान** (Blank Endorsement)—इसमें बेचानकर्ता केवल अपने हस्ताक्षर कर देता है। इस प्रकार के बेचान से चैक का मूल स्वरूप बदल कर वह वाहक चैक हो जाता है तथा उसके भुगतान के लिए किसी अन्य व्यक्ति के बेचान की आवश्यकता नहीं पड़ता।

२ **विशेष बेचान** (Special Endorsement)—इसमें बेचानकर्ता अपने हस्ताक्षर के अतिरिक्त जिसको वह सम्पत्ति का बेचान करता है उसका नाम अथवा जिसको वह सम्पत्ति का वैधानिक अधिकारी बनाता है उसका नाम अपने हस्ताक्षर के पूर्व लिख देता है। उदाहरणार्थ—

Pay to Harihar Nath or order	हरिहरनाथ अथवा उनके आदेश पर
P L Golwalkar	पी० एल० गोलवलकर
10 1 51	१० १ ५१

इम प्रकार मे वचान किए हुए चैंको का आग वचान (negotiation) एव हस्तान्तरण (transfer) होन क लिए हरिहरनाथ द्वारा वचान का आव श्यक्ता होगी । उसी प्रकार यदि हरिहरनाथ स्वय ही भुगतान तना चाह तव भी उनको हस्ताक्षर करन पडग ।

३ **सीमित बचान** (Restrictive Endorsement)—यदि वचान कता किसी व्यक्ति विशेप के नाम वचान करता ह जिससे उस चक का वचान आग न हो ता उसे सीमित वचान कहग। उदाहरणाथ—

Pay to Harihar Nath only	कवल हरिहरनाथ को ही भुगतान हो
P L Golwalkar	पी० एन० गोलवलकर
10 11 59	१० ११ ५६

इस चक का वचान हरिहरनाथ किसी अन्य व्यक्ति का नही कर सकत।

४ **दायित्व रहित बचान** (Sans Recourse Endorsement)—जब बचानकता चैंक के अनादरण से आने वाला दायित्व स्वय नही लेना चाहता उस समय वह दायित्व रहित अथवा बिना दायित्व के शब्द लिखकर हस्ता क्षर करता है । इम प्रकार के बचान म वेचानकर्ता चैंक का भुगतान न होने पर भी किसी प्रकार से देनदार नही रहता किन्तु इसके पूव के सब बेचान कर्ताओ तथा लिखने वाले का दायित्व रहता है । उदाहरणाथ—

Sans Recourse	दायित्व रहित
P L Golwalkar	पी० एल गोलवलकर
10 1 59	१० १ ५६

अथवा

Without Recourse to me	बिना मेरे दायित्व के
P L Golwalkar	पी० एल० गोलवलकर

५ **ऐच्छिक बचान** (Facultative Endorsement)—इसका चलन नही है इसम बचानकता अपन हस्ताक्षर करन के पूव अनादरण सूचना अनावश्यक लिख देता ह । इससे चक का भुगतान न होने पर ऐस बेचानकता को अनादरण की सूचना जो नियमानुसार धारी को सब पक्षो को देनी चाहिए देने की आवश्यकता नही रहती । ऐसे बचानकता की उस चक की सपार्श्विक देनदारी रहती है । उदाहरणाथ—

Notice of Dishonour waived	अनादरण की सूचना अनावश्यक
P L Golwalkar	पी० एल० गोलवलकर

बेचान करते समय सावधानी—बेचानकर्ता को किसी भी बेचान साध्य विलेख का बेचान करते समय निम्न सावधानी रखना चाहिए —

१ पहिले उसका नाम जिस प्रकार से लिखा गया हो उसी प्रकार वह हस्ताक्षर करे। परन्तु यदि वह चाहे तो नीचे अपने सही हस्ताक्षर भी कर सकता है।

२ बेचान उसी विलेख अथवा अनुपर्णी (allonge) पर करना चाहिए।

३ यदि सामूहिक आदाता हैं तो बेचान करते समय सब व्यक्तियों के हस्ताक्षर होने चाहिए।

४ किसी कम्पनी अथवा संस्था के नाम आये हुए चैकों पर बेचान करते समय कम्पनी के नाम के साथ के लिए लिखकर अपने हस्ताक्षर एवं पद का उल्लेख करना चाहिए। उदाहरणार्थ जयाजी राव काटन मिल्स लि० ग्वालियर के अभिकर्ता को हस्ताक्षर निम्न प्रकार से करना चाहिए —

Per Pro } Jiyaji Rao Cotton जयाजी राव काटन मिल्स लि० के लिए
or for } Mills Ltd

D P Mandelia — डी पी मंडलिया
Managing Director — प्रबन्ध संचालक

५ यदि चैक में किसी स्त्री का नाम है जिसका विवाह हो चुका है परन्तु चैक मिलने के समय वह अविवाहित थी तो उसे अपने हस्ताक्षर विवाहित नाम से करने चाहिए तथा साथ ही में अपना पहला नाम भी लिखना चाहिए।

उदाहरणार्थ रमा गोखले जिसका विवाहिता नाम उषा डाइकर है उसको उषा डाइकर (उर्फ रमा गोखले) इस प्रकार हस्ताक्षर करना चाहिए।

६ बेचान के समय उपाधियां नहीं लिखनी चाहिए।

७ विवाहिता स्त्री को बेचान करते समय अपने नाम से हस्ताक्षर करने चाहिए और बाद में वह किसकी पत्नी है इसका उल्लेख कर देना चाहिए। उदाहरणार्थ—

Rama Gokhale — रमा गोखले
(Wife of G D Gokhale) — (श्री गो दा गोखले की पत्नी)

८ सामूहिक आदाता के नाम के चैक पर कोई एक व्यक्ति अगर वह अधिकृत है तो अपने हस्ताक्षरों से बेचान कर सकता है। इसी प्रकार अपने प्रधान की जगह अधिकृत अभिकर्ता बेचान कर सकता है।

चक पर दिया हुआ पाने वाले का नाम	गलत बेचान	सही बेचान	कारण
वैयक्तिक :			
श्री रूपराम गुप्ता	रूपराम गुप्त	रूपराम गुप्ता	नाम भेद
श्री सतीन्द्रसिह	सतीन्दरसिह	सतीन्द्रसिह	,,
पडित नेहरू	पडित नेहरू	जवाहरलाल नेहरू	अपूर्ण नाम
श्रीमती रमा गोखले	श्रीमती रमा गोखले	रमा गोखल (जी डी गोखले की पत्नी)	किसकी पत्नी यह उल्लेख नही था।
कुमारी रमा रानडे	कुमारी रमा रानडे	रमा रानडे	उपाधि अनावश्यक।
कुमारी रमा सर्वटे (अब विवाहित)	रमा सर्वटे	रमा अभ्यकर (पूर्वनाम रमा सर्वटे)	दोनो नामो का उल्लेख आवश्यक।
सार्थ			
डोगरे ब्रदर्स	विश्वनाथ लक्षमण डोगरे	विश्वनाथ लक्षमण डोगरे डोगरे ब्रदर्स के लिए	जिससे सार्थ का अभिकर्ता अथवा भागी है यह स्पष्ट हो।
सस्थाएँ			
विक्टोरिया कालेज ग्वालियर	शिवसहाय सक्सेना	शिवसहाय, प्रिसीपल, विक्टोरिया कालेज	सस्था के लिए पृष्ठाकन होनी चाहिए।
अशिक्षित व्यक्ति .			
रामावतार शुक्ल	निशानी अँगूठा (रामावतार शुक्ल)	निशानी अँगूठा रामावतार शुक्ल गवाह पी० एल० गोलवलकर	किसी गवाह के हस्ताक्षर होना आवश्यक।
पर्लस् प्रॉडक्ट्स लिमिटेड, कानपुर	जी० एस० नाखरे, व्यवस्था सचालक	पर्लस् प्रॉडक्टस कानपुर के लिए जी० एस० नाखरे व्यवस्था सचालक	वैयक्तिक रूप से हस्ताक्षर नही होना चाहिए।
मृत व्यक्ति .			
सरदार पटेल (अब परलोकवासी)	पर्लस् प्रॉडक्टस, कानपुर माराभाई पटेल	सरदार पटेल की सम्पत्ति का रिक्तसाधक माराभाई पटेल	सार्थ साधक के नाम हस्ताक्षर होना चाहिए।

चैंकों से लाभ

वर्तमान आर्थिक स्थिति मे चैकों का स्थान महत्वपूर्ण है। पश्चिमी देशों मे विनिमय व्यवहारों का भुगतान विशेषत चैकों से ही किया जाता है। परन्तु चैक द्वारा अन्तिम एवं पूर्ण भुगतान नहीं होता अपितु चैक का भुगतान मिलने पर ही वह पूर्ण भुगतान समझा जाता है। फिर भी चैक भुगतान का माध्यम होने से समाज को बहुत लाभ होता है।

१ **धन की सुरक्षा**—बैंकों में मुद्रा रहने के कारण वह धन सुरक्षित रहता है एवं उसका उपयोग दैनिक भुगतान के लिए चैकों के माध्यम से होता है।

२ **हानि की सम्भावना नहीं**—चैक पुस्तिका यदि असावधानी के कारण खो जाय तो बैंक को उसकी सूचना देने से कोई भी अनधिकृत व्यक्ति उन चैकों का उपयोग नहीं कर सकता। किन्तु यदि अपने पास रखा हुआ धन खो जाय अथवा चोरी चला जाय तो हमेशा हानि ही होती है।

३ **रसीद अनावश्यक**—चैकों से बड़ी से बड़ी रकम का भुगतान किया जा सकता है तथा बैंक चैकों के भुगतान के समय पाने वाले के हस्ताक्षर कराते हैं जो रसीद का काम देते हैं। इससे ग्राहक को अलग रसीद की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि किसी समय न्यायालय में ये हस्ताक्षर अखण्ड प्रमाण माने जाते हैं।

४ **आय-व्यय का हिसाब**—बैंक में समय-समय पर जो रुपया जमा किया जाता है अथवा निकाला जाता है उसका हिसाब बैंक अपने पास रखता है। इससे ग्राहक को अपने आय-व्यय का अलग हिसाब रखने की आवश्यकता नहीं होगी। यह हिसाब उसकी पासबुक से उसे मिल जाता है।

५ **मुद्रा की मितव्ययता**—चैकों के उपयोग में मुद्रा की कम आवश्यकता होती है जिससे बैंकों को नगद राशि कम रखनी पडती है। इससे बहुमूल्य धातुओं की बचत होती है जिनका उपयोग व्यापारिक एवं औद्योगिक कार्यों के लिए किया जा सकता है।

६ **भुगतान मे सुगमता**—पत्र मुद्रा की अपेक्षा चैकों से भुगतान करना अधिक सुगम और सुरक्षित होता है।

७ **साख-निर्माण**—चैकों से मुद्रा के उपयोग में मितव्ययता होती है

व्यापार एवं उद्योग को प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि बैंक अधिक साख-निर्माण कर सकते हैं।

भारत में चैकों का उपयोग केवल बड़े-बड़े शहरों में ही देखने को मिलता है। भारत में चैक का उपयोग न होने के प्रमुख कारण बैंकों का पर्याप्त विस्तार न होना, अधिकतर जनसंख्या का निरक्षर होना, तथा विदेशी भाषा में चैक लिखने की प्रथा आदि हैं।

विनिमय-बिल (Bills of Exchange)

विनिमय बिलों का उपयोग अन्तरराष्ट्रीय तथा आन्तरिक व्यापार में अधिक सुविधाजनक होता है। क्योंकि इनके उपयोग से प्रेषक (consignors) तथा निर्यातकों (exporters) को माल भेजते ही कटौती द्वारा बिल का रुपया प्राप्त हो सकता है। उसी प्रकार आयातकों (importers) तथा प्रेषणी (consignees) को भी लाभ होता है क्योंकि उनको उस बिल का भुगतान करने के लिए कुछ अवधि मिल जाती है। इस अवधि में वे अपना माल बेचकर रुपया चुका सकते हैं। ये बिल दो प्रकार के होते हैं—विदेशी विनिमय बिल (foreign bills of exchange) तथा देशी विनिमय बिल (inland bills of exchange)। इनमें पहले विनिमय बिलों का विदेशी व्यापार में तथा दूसरे विनिमय बिलों का उपयोग देशी व्यापार में होता है।

विनिमय बिल की परिभाषा—बेचानसाध्य विलेख अधिनियम (धारा ५) के अनुसार "विनिमय बिल लेखक का किसी व्यक्ति के लिए लिखित शर्त-रहित आदेश होता है, जिस पर लिखने वाले के हस्ताक्षर हों, जिसमें वह किसी निश्चित व्यक्ति को अथवा उसके आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति को अथवा उसके वाहक को निश्चित मुद्राएँ दे।

विनिमय बिल की विशेषताएँ —

१ लिखित आदेश हो।
२ इस आदेश में किसी प्रकार की शर्त न हो।
३ आदेश देने वाले व्यक्ति के हस्ताक्षर हों।
४ आदेश किसी निश्चित व्यक्ति का हो।
५ भुगतान की रकम निश्चित हो।
६. जिस व्यक्ति को भुगतान देना है वह व्यक्ति निश्चित हो।
७. भुगतान का समय निश्चित हो।

इनम से पहली ६ बातो का विस्तृत विवेचन पहिले किया जा चुका है।

'भुगतान के निश्चित समय के सम्बन्ध मे बिल मे स्पष्ट दिया होना चाहिए कि उसका भुगतान माग पर अथवा भविष्य मे किसी निश्चित समय पर हो। बिलो के लिखने मे बिनेपत दखने पर (at sight) उपस्थिति पर (on presentation) अथवा दखने के बाद' (after sight) आदि शब्दो का प्रयोग होता है। वचानमान्य विलख अविनियम (धारा २१) के अनुसार दखने पर तथा उपस्थिति पर शब्दो का अर्थ माग पर भगतान होना है किन्तु देखने के बाद का अर्थ यह होता है कि भुगतान की अवधि बिल दखने के दिन से अथवा स्वीकृति (acceptance) के दिन से निकालनी होगी। जहा पर इनम से किसी भी प्रकार के शब्दो का प्रयोग नही किया है अथवा भुगतान का समय नहा दिया है उस बिल अथवा प्रतिज्ञा पत्र का भुगतान माग पर होगा ऐसा समझा जायगा (धारा १९)।

बिलो के प्रकार— बिलो का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। (१) स्थानीय वर्गीकरण के अनुसार बिल दो प्रकार के होते है—(अ) **विदेशी विनिमय बिल तथा (ब) देशी विनिमय बिल।** जो भारत मे बनाये गये हो एव जिनका भुगतान भारत मे हो अथवा भारतीयो पर लिखे गये हो (धारा ११) तथा जो बिल इस प्रकार से नही बनाये गये है वे विदेशी विनिमय बिल होंगे (धारा १२)।

बिलो के नमूने

१ **(देशी)** दर्शनी अथवा माग बिल

> २५०) रु० मात्र कलकत्ता १ अगस्त १९५०
>
> माग पर श्री रामनारायण लाल एण्ड सन्स इलाहाबाद को अथवा उनके आदेशानुसार प्राप्त मूल्य के बदले दो सौ रुपया का भुगतान कीजिए।
>
> सेवा मे—
>
> श्री भागामल जैन हरिहरनाथ
>
> कानपुर

२ (देशी) मुद्दती विनिमय बिल

मुद्रांक =) कलकत्ता, १ जनवरी १९५१
रु० ५००) मात्र
तीन मास के उपरान्त, प्राप्त मूल्य के पाँच सौ रुपये का श्री रामनारायण लाल, अलाहाबाद अथवा उनके आदेशानुसार भुगतान कीजिए।
सेवा में—
श्री भागामल जैन हरिहरनाथ
कानपुर

३ विदेशी विनिमय बिल

मुद्रांक बम्बई, १ जनवरी १९५१
पौंड ५० मात्र
देखने के बाद नब्बे (९०) दिन, इस प्रथम प्रति के (इसी तिथि एवं अवधि की अन्य प्रतियाँ अदेय) प्राप्त मूल्य के सात सौ पचास रुपये लन्दन स्थित इम्पीरियल बैंक को भुगतान कीजिए।
सेवा में—
जॉन गिलबर्ट एण्ड कम्पनी,
पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, दिनेशकुमार
१० लोम्बार्ड स्ट्रीट, लंदन।

विदेशी विनिमय बिल तीन प्रतियों में लिखे जाते हैं जिसकी प्रत्येक प्रति भिन्न-भिन्न डाक द्वारा भेजी जाती है, जिससे उनके खो जाने की सम्भावना न रहे। इसमें केवल एक ही प्रति का भुगतान होता है एवं अन्य दो प्रतियाँ निरस्त हो जाती हैं। ऐसे बिल के तीनों प्रतियों पर एक ही अंक होता है तथा प्रत्येक प्रति का तब तक भुगतान हो सकता है जब तक उनमें किसी भी एक प्रति का भुगतान न किया गया हो। परन्तु यदि प्रत्येक प्रति पर बेचान अथवा स्वीकृति भिन्न व्यक्तियों के पक्ष में की जाती है तब प्रत्येक व्यक्ति एवं बेचानकर्ता उस बिल की प्रति पर उसी प्रकार दायी होगा जैसेकि वे भिन्न-भिन्न बिल हैं।[1]

---

1 Bills of Exchange may be drawn in parts, each part being numbered and containing a provision that it shall continue payable so long as the others remain unpaid All the parts together make a set, but the whole set constitutes only one

(२) (अ) वाहक बिल : किसी भी व्यक्ति को इनकी राशि प्राप्त करने का अधिकार होता है, यदि उनके अधिकार में बिल है। (आ) आदेश बिल · इनकी राशि बेचान एव हस्तान्तरण द्वारा किसी व्यक्ति के नाम दी जा सकती है, अन्यथा नही।

(३) अवधि के अनुसार बिल दो प्रकार के होते है—(१) दर्शनी अथवा माँग बिल इनका भुगतान बिल की उपस्थिति पर होता है। (२) सामयिक अथवा मुद्दती बिल इनका भुगतान बिल मे लिखी हुई अवधि के पूर्ण होने पर ही किया जाता है।

(४) बिलो के व्यवहार के अनुसार—(अ) व्यापारिक बिल जो केवल किसी व्यापारिक व्यवहार के लिए लिखे एव स्वीकृत किये गये हो, तथा (आ) अनुग्रह (accomodation) बिल जो किसी व्यापारिक हेतु के लिए लिखे एव स्वीकृत न होते हुए किसी व्यक्ति पर आर्थिक सहायता द्वारा उपकार करने के लिए लिखे अथवा स्वीकृत किये जाते है।

बिलो के पक्ष—बिलो मे तीन पक्ष होते है —

लिखने वाला (Drawer)—उस व्यक्ति को कहते हैं जो बिल लिखकर उस पर अपने हस्ताक्षर करता है। यह बिल उस व्यक्ति पर लिखा जाता है जो उसका ऋणी होता है एव लिखने वाला ऋणदाता।

भुगतान कर्ता (Drawee)—वह व्यक्ति है जिसको बिल मे लिखित रकम का भुगतान करना पडता है। यह विशेषत ऋणी होता है।

आदाता (Payee)—जिसके पक्ष मे बिल लिखा जाता है एव जो इस लिखित आदेश के अनुसार राशि प्राप्त करने का अधिकारी है।

बिलो की स्वीकृति (Acceptance of Bills)

माँग एव दर्शनी बिलो मे स्वीकृति की आवश्यकता नही होती किन्तु मुद्दती बिलो मे भुगतानकर्ता तब तक उत्तरदायी नही होता, जब तक वह बिल पर अपनी लिखित स्वीकृति न दे। जिस बिल पर भुगतानकर्ता की स्वीकृति नही

---

bill, and is extinguished when one of the parts, if a separate bill, would be extinguished.

Exceptions When a person accepts or endorses different parts of the bill in favour of different persons, he and subsequent endorsees of each part are liable on such part as if it were a separate bill

—*Sec 132, Negotiable Instruments Act, 1881*

होती उस बिल को विकर्ष (draft) कहते हैं तथा स्वीकार हो जाने पर उसे **स्वीकृत-बिल** (acceptances) कहते हैं। यह स्वीकृति भुगतानकर्ता बिल के बीच में 'स्वीकृत' शब्द लिखकर अपने हस्ताक्षर से देता है। यदि देने वाला केवल हस्ताक्षर ही करता है तब भी वह बिल स्वीकृत समझा जायगा।

ऐसी स्वीकृति अगर फर्म कम्पनी अथवा अन्य संस्था के लिए की गई हो तब अपने हस्ताक्षर के पहले के लिए (for or per pro) लिखना आवश्यक है अथवा स्वीकृत करने वाला व्यक्ति वैयक्तिक रूप से उस बिल के लिए दायी होगा।

स्वीकृति दो प्रकार की होती है—(१) सामान्य स्वीकृति जिसमें बिना किसी शर्त के बिल स्वीकार किया जाता है तथा (२) विशेष (qualified) स्वीकृति, जिसमें देने वाला बिल को स्वीकार करने के पूर्व स्थान, रकम समय अथवा अन्य किसी प्रकार की शर्त लगा देने पर हस्ताक्षर करता है। लिखने वाला यदि विशेष स्वीकृति मानता है तो उसको उन शर्तों का पालन करना पड़ेगा अन्यथा बिल का अनादरण समझा जायगा।

बिल स्वीकार हो जाने पर भुगतानकर्ता को स्वीकर्ता (acceptor) कहा जाता है।

मुद्दती बिलों की भुगतान की तिथि को पक्व तिथि (day of maturity) तथा बिल को पक्व बिल कहते हैं। इन बिलों में भुगतान के लिए पक्व तिथि के बाद तीन दिन और दिये जाते हैं। इस तीन दिन की अवधि को अनुग्रह दिवस (days of grace) कहते हैं।

बिलों से लाभ—बिल के धारी को यदि राशि की आवश्यकता हो तो वह बैंक से बिल की कटौती कराकर रोकड़ प्राप्त कर सकता है। बैंक कटौती करते समय, जितनी अवधि का बिल है उस अवधि का व्याज बिल की राशि से काट कर शेष रकम धारी को दे देते हैं तथा बिल अपने पास रख लेते हैं। इस कार्य को **बिलों की कटौती** कहते हैं जो बैंक का महत्वपूर्ण कार्य है। कटौती की राशि बिलों की पक्व तिथि एवं बट्टे की दर पर निर्भर रहती है।

बैंक को बिलों की कटौती से निम्न लाभ हैं —

(१) बिलों की कटौती अथवा कटौती बिल बैंक की सुरक्षा का साधन होते हैं तथा बैंक इन बिलों को बेचकर अथवा केन्द्रीय बैंक से कटौती कराकर किसी भी समय इनमें विनियोजित रुपया प्राप्त कर सकता है।

(२) कटौती करने में बैंक जो बट्टा काटते हैं वह उनका लाभ होता है एवं जिसकी प्राप्ति निश्चित रूप से आंकी जाती है।

(३) बैंक को यह निश्चितता होती है कि प्रथम श्रेणी के बिलों का भुगतान परत्र-तिथि पर मिलेगा। इसलिए उसका धन सुरक्षित रहता है।

(४) बिला के मूल्य मे उतार-चढ़ाव की सम्भावना न होने से उसे किसी प्रकार की हानि की आशका नही रहती।

(५) बिलो के साथ कभी-कभी रेलवे रसीद अथवा जहाजी चिट्ठी अथवा अन्य किसी प्रकार की प्रतिभूतियाँ रहने से इसमे विनियोग किया हुआ धन पूर्ण सुरक्षित रहता है।

(६) कटौती द्वारा ग्राहकों को रोकड प्राप्त करने की सुविधा देने वाली बैंक ग्राहकों की कृपा पात्र बनती है जिससे ग्राहक-सख्या मे भी वृद्धि होती है।

व्यापारियो को लाभ

(१) ऋणी के हस्ताक्षर सहित ऋण का लिखित वैधानिक प्रमाण प्राप्त होता है।

(२) इसमे भुगतान की विधि निश्चित दी हुई होने से ऋणी एव ऋणदाता दोनो को ही कब भुगतान करना होगा अथवा मिलेगा यह निश्चित मालूम होता है।

(३) बिल की अवधि मे ऋणी अपनी वस्तुएँ बेचकर भुगतान की व्यवस्था कर सकता है।

(४) ऋणदाता अथवा लिखने वाला रोकड की आवश्यकता पड़ने पर इस बिल को बैंक से कटौती कराकर रोकड प्राप्त कर सकता है। साथ ही बिल बेचानसाध्य होने से अपने ऋणो के भुगतान मे इसका उपयोग किया जा सकता है।

(५) देश-विदेशो के ऋणो का भुगतान करने का यह सुरक्षित एव सुविधाजनक साधन है जिससे रोकड की आवश्यकता कम हो जाती है। विदेशी व्यापार मे विशेषत विनिमय बिलो द्वारा भी भुगतान होते हैं जिससे स्वर्ण के आयात निर्यात व्यय मे भी बचत होती है।

स्टाम्प कर (Stamp Duty)—भारतीय स्टाम्प अधिनियम, १८९९ के अनुसार प्रत्येक मुद्दती बिल पर राशि के अनुसार स्टाम्प लगाना आवश्यक है। विदेशी बिलों मे लिखने वाले के देश का स्टाम्प एव देने वाला (अगर विदेश मे है) अथवा जहाँ भुगतान होना है (विदेश मे) उस देश का—दोनो देशो का स्टाम्प लगाना आवश्यक है। किन्तु दर्शनी बिलों पर स्टाम्प की आवश्यकता नहीं होती।

बिलो का बेचान—बिल बेचानसाध्य होने के कारण इनका बेचान एव हस्तान्तरण उसी प्रकार मे होता है जिस प्रकार मे चैंकों का।

बिलो की उपस्थिति (Presentation)—भुगतान के लिए बिलो की उपस्थिति भुगतानकर्ता के निवास अथवा व्यापार स्थान पर एव व्यापारिक अवधि मे करना चाहिए। तभी बिल की यथाविधि एव समुचित समय मे उपस्थिति मानी जाती है। यदि इस प्रकार उपस्थिति न होने से बिल का अनादरण होता है अर्थात् बिल की राशि का भुगतान नही होता तो उस बिल के पूर्व-पक्षों (previous parties) का दायित्व प्रमाणित नही किया जा सकता। इसके विपरीत यदि उपस्थिति यथाविधि एव समुचित होने पर बिल का भुगतान हो जाता है तो बिल के सब पक्षो का दायित्व समाप्त हो जाता है।

इसी प्रकार जिन बिलो की स्वीकृति होनी है उनको भी स्वीकृति के लिए भुगतानकर्ता को प्रस्तुत करना चाहिए अन्यथा धारी के प्रति बिल के अन्य पक्ष उत्तरदायी नही रहते क्योकि धारी ने स्वीकृति के लिए बिल की उपस्थिति करने मे उपेक्षा (negligence) की है (धारा ६१)।

बिलो का अनादरण—यदि कोई बिल यथाविधि स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करने पर भुगतानकर्ता उसे स्वीकार न करे अथवा भुगतान के लिए यथाविधि उपस्थित करने पर उसका भुगतान न करे तो उसे **बिल का अनादरण** कहते है। बिल का अनादरण होने पर इसकी सूचना बिल के समस्त सम्बन्धित पक्षो को देनी चाहिए अन्यथा वे उत्तरदायी नही रहेगे।

बिल का अनादरण होने पर बिल निरीक्षक (notary public) द्वारा उसके अनादरण का वैधानिक प्रमाण प्राप्त करना चाहिए। इसमे जो व्यय होगा इसके भुगतान के लिए भुगतानकर्ता बाध्य होगा।

हुण्डी

हुण्डियों का प्रयोग भारत मे बहुत प्राचीन काल से भारत के सभी प्रान्तों मे है। ये सभी भाषाओं मे लिखी जाती है तथा लिखने का ढग भी समान है। हुण्डियो के भुगतान एव चलन की पद्धति अधिकतर स्थानीय व्यापारिक व्यवहार पर निर्भर है। हुण्डियों और बिलो मे मूल भेद यह है कि हुडियो का चलन भारतीय बेचनासाध्य विलेख अधिनियम के अन्तर्गत नही होता तथा ये केवल देशी भाषाओं मे प्रचलित पद्धति के अनुसार लिखी जाती है। इनका उपयोग बेचनासाध्य विलेख अधिनयम के अनुसार तभी हो सकता है जब इसका स्पष्ट उल्लेख हुण्डी मे किया जाय। हुण्डिया पर स्टाम्प-कर नही लगता।

हुण्डिया म भी बिला का तरह तीन पक्ष होन है—लिखने वाला (drawer) दन वाला (drawee) एव पाने वाला (payee)।

हुण्डिया का वर्गीकरण **अवधि** तया **भुगतान की पद्धति** क अनुसार किया जा सकता है। अवधि क अनुसार हुडिया दा प्रकार की हाती ह—(१) **दशनी हुण्डी** जिमका भुगतान हुडी का दखत ही करना पडता हे। (२) **मिती अथवा मुद्दती हुण्डी** जिसका भुगतान हुडिया म दी हुई निश्चित अवधि क बाद होता है। इनक भुगतान की अवधि विशेपत ४५ ६१ एव ९० दिन हाती है जा भिन्न भिन्न प्रान्ता की पद्धति पर निभर हे।

भुगतान क अनुसार हुडिया चार प्रकार की हाती है —

१ **धनी जोग हुण्डी**—जिनका भगतान हुडी म लिखित व्यक्ति का ही किया जाता हे। इस प्रकार की हुडिया का दूसरा काई व्यक्ति वचान द्वारा नहा भुना मकता आर न एसी हुन्डिया का हस्तान्तरण ही हो मकता है।

२ **शाह जोग हुण्डी** जिनका भगतान कवल उस शाह (धनीमानी व्यक्ति) का ही हाना है जिसका नाम हुन्डी म दिया होता है। य हुडा विशप रखाकित चैक' क समान हाना है।

३ **फरमान हुण्डी**—फरमान का अथ ह आदश। अर्थात् य व हुडिया ह जिनका भुगतान हुन्डी म निश्चित व्यक्ति अयवा उमक आदशानुमार किमी अन्य व्यक्ति का हाता हे। य हुन्डिया आदश चैक एव आदश बिला क ममान हाती है।

४ **देखनदार जोग हुण्डी**—जिनका भुगतान किमी भी उस व्यक्ति को हाता है जो उस हुडी का उपस्थित करे। य हुन्डिया वाहक चक की तरह हाती है।

इसके अतिरिक्त प्राचीन काल म जोखमी हुडिया भी प्रचलित था जिनका अब चलन नहा है। इस प्रकार की हुडिया मे नाविक एक स्थान स दूसर स्थान का जा माल ल जाता था उसका बीमा करता था एव हुडिया का रुपया माल भजन वाल को उमी स्थान म द दना या अयवा हुडा को वह स्वय हा खरीद लता या। माल प्रपणी क स्थान पर पहुचन पर वह उसम हुडी का भुगतान ल लना था।

हुण्डा स सम्बन्धित शब्द प्रयाग

१ सही करना=स्वाकार करना।
२ भरी पाना=भुगतान करना।
३ बचान करना=पृष्ठाकन करना (to endorse a bill)।
४ खोखा हुडा=हुडी जिमका भुगतान हा चुका है।

५ फेरी आना = भुगतान न होना।

६ लेखीवाला = बिल लिखने वाला।

७ खोटी हुडी = जिसमे किसी प्रकार के महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हो एव उस पर लेखीवाले (आहर्ता) के हस्ताक्षर न हो।

प्रतिज्ञा-पत्र (Promissory Notes)

परिभाषा—"प्रतिज्ञा-पत्र" वह लिखित विलेख है (इसमे पत्र-मुद्रा नही आती), जिसमे लिखने वाला अपने हस्ताक्षर सहित यह प्रतिज्ञा करता है कि वह उसमे दी हुई निश्चित राशि, बिना किसी शर्त के, जिस व्यक्ति के नाम वह लिखा गया है उस निश्चित व्यक्ति अथवा उसके आदेशानुसार अन्य व्यक्ति अथवा उसके वाहक को देगा।[1]

उदाहरणार्थ—१ मैं 'ब' को अथवा उसके आदेशानुसार ५०० रुपय देने की प्रतिज्ञा करता हूँ।

२ मैं प्राप्त मूल्य के लिए 'ब' का ऋण मान्य करता हूँ तथा उसे माँग पर देन की प्रतिज्ञा करता हूँ।

३ श्री 'ब' आपके प्रति १०००) रुपये का ऋण मुझे दना है, अथवा श्री ब धारयामित (I. O. U) १०००) रुपया।

४ म ब का ५०० रु० तथा अन्य जो राशि शप होगी, उसे देन की प्रतिज्ञा करना हूँ।

५ म 'ब को अपन ऋण की राशि घटाकर ५००) रु० दन की प्रतिज्ञा करना हू।

६. मरा 'घ के साथ विवाह हो जाने के ७ दिन पश्चात् मैं 'ब' को ५००) रुपय देन की प्रतिज्ञा करता हू।

७ मैं 'ध' की मृत्यु के बाद 'ब को ५००) रु० देने की प्रतिज्ञा करता हूँ, यदि वह भुगतान करन के लिए पर्याप्त राशि छोडता है।

८ म आगामी वप की १ जनवरी को ५००) रु० तथा अपना घोडा देने की प्रतिज्ञा करता हू।

उक्त उदाहरणो म केवल पहले एव दूसर विलेख को प्रतिज्ञा-पत्र कहेंग क्योंकि उसम पाने वाला व्यक्ति तथा रकम निश्चित है। किन्तु उदाहरण ३ स ८ को हम प्रतिज्ञा-पत्र नही कह सकत क्योंकि उनमे से तीसर म केवल स्वीकृति है प्रतिज्ञा नही, चौथे और पाँचवें मे रकम निश्चित नहीं है छठे मे न रकम

---

[1] *Sec 4, Negotiable Instruments Act*

निश्चित है और न प्रतिज्ञा ही शर्त रहित है। सातवें में प्रतिज्ञा शर्त रहित नहीं है, तथा आठवें में केवल रुपया देने की प्रतिज्ञा न होते हुए घोड़ा देने की भी प्रतिज्ञा है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्रतिज्ञा-पत्र उसी विलेख को कहेंगे जिसमें भुगतान की राशि एवं व्यक्ति निश्चित रूप में दिये गये हैं तथा वह एक निश्चित प्रतिज्ञा हो। प्रतिज्ञा पत्रों पर उनकी राशि के अनुसार स्टाम्प कर लगता है। प्रतिज्ञा पत्रों में दो पक्ष होते हैं—एक प्रतिज्ञा पत्र लिखने वाला तथा दूसरा जिसको प्रतिज्ञा दी जाती है अथवा जिसके नाम भुगतान करने की प्रतिज्ञा होती है। अर्थात् इनमें से एक लेखीवाला (ऋणी) होता है तथा दूसरा पाने वाला (ऋणदाता) होता है।

प्रतिज्ञा पत्र यदि खो जाय तो धारी क्षति पूर्ति की पूर्ण उत्तरदायित्व लेकर लखीवाले से दूसरी प्रति ले सकता है।

बेचान भुगतान आदि सम्बन्धी वही नियम इसमें भी लागू होते हैं जो बिलों में लागू होते हैं।

प्रतिज्ञा-पत्र के तीन प्रकार

१ **वैयक्तिक प्रतिज्ञा पत्र**—जिनमें केवल एक ही लखीवाला होता है तथा भुगतान करने का दायित्व भी उसी का होता है। यदि विलेख का वह भुगतान नहीं करता तो उसके विरुद्ध वैधानिक कार्यवाही की जाती है। परन्तु इसके अनादरण होने पर बिलों की तरह प्रमाण (noting and protesting) की आवश्यकता नहीं होती।

२ **सामूहिक (Joint) प्रतिज्ञा पत्र**—जिनमें प्रतिज्ञा करने वाले एवं लखीवाले उसकी राशि के भुगतान का दायित्व सामूहिक रूप से स्वीकार करते हैं। इस दशा में यदि धारी को प्रतिज्ञा पत्र का भुगतान नहीं होता तो प्रत्येक व्यक्ति के विरुद्ध सामूहिक रूप में वैधानिक कार्यवाही करनी चाहिए जिसमें वह सब व्यक्तियों से भुगतान प्राप्त कर सके। किन्तु यदि वह लेखीवालों के विरुद्ध सामूहिक कार्यवाही न करते हुए किसी एक ही व्यक्ति के विरुद्ध करता है एवं उसकी सम्पत्ति से पूर्ण भुगतान प्राप्त नहीं होता तो शेष राशि के लिए वह अन्य लेखीवालों को दायी नहीं बना सकता और न उनसे रुपया वसूल कर सकता है। इसलिए सामूहिक प्रतिज्ञा पत्रों के अनादरण में लेखीवालों के विरुद्ध वैधानिक कार्यवाही भी सामूहिक ही करनी चाहिए।

३ सामूहिक एवं वैयक्तिक (Joint & Several) प्रतिज्ञा-पत्र—इन

प्रतिज्ञा पत्र के लेखीवाले विलख की राशि के भुगतान का दायित्व *सामूहिक एवं वैयक्तिक रूप से स्वीकार करते हैं। अतः अनादरण होने की दशा में इसका* धारी जब तक वह पूर्ण राशि प्राप्त न करले तब तक प्रत्येक व्यक्ति के विरुद्ध *अलग-अलग वैधानिक कार्यवाही कर सकता है।*

अन्य साख-पत्र

१ **बैंक-बिल (अ) बैंक ड्राफ्ट**—यह बैंक द्वारा अपनी शाखा को अथवा अन्य बैंक को किसी निश्चित व्यक्ति का जिसका नाम उसमें दिया जाता है अथवा उसके आदेशानुसार एक निश्चित रकम माँग पर देने का लिखित आदेश होता है। यह पत्र कोई भी व्यक्ति जितने का बैंक-ड्राफ्ट चाहता है उतनी राशि जमा करने पर बैंक से ले सकता है।

बैंक ड्राफ्ट रेखांकित भी किये जा सकते हैं अथवा उनका भुगतान आदेश पर किया जा सकता है। बैंक ड्राफ्ट देश के एक स्थान से दूसरे स्थान पर अथवा देश से विदेश में राशि भेजने के लिए उपयोग में आते हैं तथा इनको देने में बैंक कमीशन लेता है जो उसका लाभ होता है। विदेशी बैंक ड्राफ्टों में यह कमीशन विनिमय दर में ही जोड़ दिया जाता है। बैंक ड्राफ्ट के धन का स्थानान्तरण सुगम होता है।

इसमें किसी भी प्रकार के कपट की सम्भावना नहीं रहती क्योंकि जिस बैंक का ड्राफ्ट भेजा जाता है उसे इसकी सूचना दी जाती है। फिर भी विशेषज्ञ ऐसा अनुभव है कि देने वाली बैंक ड्राफ्ट का भुगतान उस व्यक्ति का रिकार्ड में नहीं करती। परन्तु उसके लेखे में वह राशि जमा करती है यदि उसका लेखा है अन्यथा उसे किसी अन्य व्यक्ति से प्रमाणित करवाकर उसकी गवाही लेती है।

(ब) बैंक स्वीकृति (Bank Acceptances)—सभी व्यापारी एक दूसरे से परिचित नहीं होते। अतः व्यापारिक बिल बिना जाँच के कोई भी व्यापारी ऋण के भुगतान में स्वीकार नहीं करता। ऐसी अवस्था में ऋणी व्यापारी बैंक पर बिल लिखता है जिसकी राशि उस पत्र में लिखित व्यापारी को अथवा उसके आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति को देने वाले द्वारा दी जाती है। यह बिल जब बैंक अपने ग्राहक की ओर से स्वीकार करता है तो उसे बैंक स्वीकृति कहते हैं। बैंक पर इन बिलों के भुगतान करने का दायित्व नहीं रहता क्योंकि ग्राहक पत्र तिथि के पूर्व ही बिल की राशि बैंक को देता है।

ऐसे बिलों से ग्राहकों की साख बढ़ती है तथा धन का स्थानान्तरण सुगम होता है। दूसरे, जब तक ऐसे बिलों का भुगतान पाने वाला उस बैंक से नहीं

मांगता तब तक उसके निक्षेपा में वृद्धि होती है। क्योंकि आदरण के लिए बिल की राशि पक्व-तिथि के पूर्व ही ग्राहक द्वारा बैंक को दी जाती है।

इन बिलों की स्वीकृति बैंक देता है अत इन्हे 'बैंक स्वीकृति' भी कहते है। इस प्रकार बैंक बिलों मे बैंक ड्राफ्ट एव बैंक स्वीकृति दोनो का समावेश होता है।

रोक ऋण (cash credits) के प्रचार से भारत मे इनका उपयोग नही होता। इसके अतिरिक्त बिलो का स्टाम्प कर, वस्तु अधिकार-पत्रो का प्रभाव, बिलों के सर्वमान्य रूप के अभाव के कारण भी इस प्रकार के बिलों का चलन हमारे यहाँ नही है।

२ **साख-पत्र** (Letters of Credit)—बैंक साख-निर्माण करते है। वे साख द्वारा ग्राहकों को दो प्रकार की सुविधा देते है, **व्यापारिक** तथा **अव्यापारिक**।

व्यापारिक साख-पत्रो मे बैंक के उन पत्रो का समावेश होता है जो बैंक केवल व्यापारिक कार्यों के लिए तथा व्यापारियो की सुविधाओ के लिए देते है। इनमे से साख पत्र बैंक ड्राफ्ट तथा बैंक-स्वीकृति महत्वपूर्ण है। इनके अतिरिक्त व्यापारियो एव अव्यापारिक व्यक्तियो की सुविधाओ के लिए साखपत्र दिये जाते है। ये साखपत्र उन व्यक्तियों के लिए दिये जाते है जो विदेशो मे यात्रा के लिए जाते हैं तथा अपने साथ रुपया ले जाने की अथवा विदेशो मे उसके अदला-बदली की असुविधाएँ नही उठाना चाहते है।

साखपत्र उसे कहते है जो एक बैंक दूसरे विदेशी बैंको को अथवा विदेश स्थित अपने अभिकर्त्ताओ को किसी निश्चित व्यक्ति को, जिसका उस पत्र मे नाम है, निश्चित राशि देने का आदेश देता है अथवा प्रार्थना करता है। यह पत्र कोई विदेश मे जाने वाला व्यक्ति, जितनी राशि की आवश्यकता हो उतनी राशि बैंक मे जमा कर ले सकता है। इस सुविधा के लिए बैंक शुल्क लेते है। ये साखपत्र हस्तान्तरणीय एव बचानसाध्य नहीं होते तथा इनको बैंक अपनी इच्छा से निरस्त नही कर सकता। जब विदेशो मे उस व्यक्ति को राशि की आवश्यकता होती है, वह इस पत्र की उपस्थिति पर प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार के पत्रो के साथ बैंक एक निर्देश-पत्र (letter of indication) देता है, जिस पर किन-किन बैंको को वह साखपत्र उपस्थित किया जा सकता है यह दिया जाता है तथा इसी पत्र पर ग्राहक के नमूने के हस्ताक्षर भी होते हैं। उसे रुपया लेते समय विदेशो मे हस्ताक्षर करने पड़ते है, जो नमूने के हस्ताक्षर के

समान होने चाहिए। जब ग्राहक रुपया चाहता है उस समय उसे साखपत्र एवं निर्देश-पत्र दोनों ही दिखाने पड़ते हैं और उसे अपने हस्ताक्षर करने पर रुपया प्राप्त हो जाता है। साखपत्र देने वाला बैंक अन्त में जिन-जिन बैंकों से राशि ली गई है उनको भुगतान कर देता है। ऐसे पत्र जब यात्रियों की सुविधाओं के लिए दिये जाते हैं, उन्हें अभियात्री साखपत्र (traveller's letter of credit) कहते हैं, तथा कितनी राशि उन्हें प्राप्त हो सकती है यह इस पत्र में लिखा होता है। उसमें अधिक राशि यात्री प्राप्त नहीं कर सकता।

ये साखपत्र तीन प्रकार के होते हैं —

(१) **सीमित साखपत्र**—ये किन्हीं विशेष अभिकर्ताओं अथवा बैंकों के नाम होते हैं, केवल उन्हीं से उस व्यक्ति को राशि मिल सकती है, अन्य किसी बैंक से नहीं। अतः ऐसे पत्रों पर ही धारी के नमूने के हस्ताक्षर और साख की राशि दी जाती है जिससे निर्देश-पत्र की आवश्यकता नहीं रहती।

(२) **परि-साखपत्र**—ये किसी विशेष बैंक या अभिकर्ता को नहीं लिखे जाते हैं। परन्तु इस पत्र के आधार पर किन-किन बैंकों अथवा अभिकर्ताओं से राशि प्राप्त की जा सकती है यह जानने के लिए इन पत्रों के साथ एक निर्देश-पत्र होता है। इस निर्देश-पत्र पर साखपत्र की कुल राशि एवं धारी के नमूने के हस्ताक्षर रहते हैं। जो बैंक अथवा अभिकर्ता राशि देता है, वह दी हुई राशि निर्देश-पत्र पर लिख देता है। इस प्रकार यह साखपत्र धारी के पास तब तक रहता है जब तक उसने साखपत्र की पूर्ण राशि न ली हो। जब धारी पूर्ण राशि ले लेता है तब जो व्यक्ति, बैंक या अभिकर्ता अन्तिम राशि लेता है इस परि-साखपत्र को अपने पास रख लेता है।

(३) **यात्री व्यापार-साखपत्र**—ये पत्र उन व्यापारियों को ही दिये जाते हैं जो माल खरीदने के हेतु यात्रा करते हैं। ये पत्र बैंक किन्हीं विशेष बैंकों के नाम ही लिखता है जहाँ से इन पत्रों के आधार पर राशि ली जा सकती है। परन्तु धारी को राशि तभी मिलती है जब वह वस्तुएँ खरीदने का पर्याप्त प्रमाण दे अर्थात् इन पत्रों में सधारक को जहाजी बिल्टी आदि दिखाने पर ही राशि मिल सकती है।

व्यापारिक साखपत्रों में केवल उन पत्रों का समावेश होता है जो केवल व्यापारियों की सुविधा के लिए दिये जाते हैं। इनमें बैंक स्वीकृत बिलों का विशेष प्रचार होता है। इसके अतिरिक्त दो प्रकार से सुविधा दी जाती है—**निरस्तनीय** (revocable) साखपत्र जो ग्राहक या बैंक द्वारा किसी भी समय

रद्द किये जा सकते हैं, तथा **अनिरस्तनीय** (irrevocable) साखपत्र, जिसको दूसरे पक्ष की अनुमति बिना रद्द नहीं किया जा सकता है। अनिरस्तनीय साख-पत्रों में बैंक यह आश्वासन देता है कि जिस व्यक्ति के पक्ष (favour) में पत्र लिखा गया है, उसके ड्राफ्ट अथवा बिलों का आदरण एवं स्वीकृति बैंक करेगा। इस पत्र के आधार पर विदेशी निर्यातकर्ता, जिस व्यक्ति के पक्ष में पत्र दिया गया है उसको माल भेजने में किंचित् भी नहीं डगमगाता। क्योंकि आयातकर्ता द्वारा भुगतान न होने पर उसे बैंक से भुगतान मिल सकता है। अतः ये पत्र आयात निर्यात व्यापार में अधिक उपयोगी होते हैं।

निरस्तनीय साख पत्रों में याजना उपयुक्त ही होती है किन्तु इन साख-पत्रों का ग्राहक या बैंक अपनी इच्छा से निरस्त कर देते हैं। अतः ये अधिक विश्व-सनीय नहीं होते और न विदेशी व्यापार में इनका विशेष प्रचार ही है।

ये साखपत्र, राशि के अनुसार तीन प्रकार के हो सकते हैं —

(अ) स्थायी साखपत्र—इनमें व्यापारी द्वारा लिखे गये बिलों की स्वीकृति का उत्तरदायित्व किसी निश्चित राशि एवं अवधि तक ही बैंक पर होता है।

(ब) चल साखपत्र (Revolving Credits)—जिनमें एक निश्चित अवधि के लिए निश्चित राशि के बिल लिखे जा सकते हैं। परन्तु उसी अवधि में यदि एक बिल का भुगतान हो जाय तो पुनः उस राशि तक दूसरा बिल लिखा जा सकता है।

३ **कोष बिल** (Treasury Bills)—उन साखपत्रों को कहते हैं जिनके चलन से किसी देश की सरकार जनता से ऋण लेती है। ये बिल भिन्न भिन्न अवधि के होते हैं किन्तु अधिकतम अवधि ३ मास की होती है। ये विशेषतः सरकार की दैनिक कार्यों के लिए आवश्यक रुपया प्राप्त करने के लिए चलाये जाते हैं तथा विज्ञापन द्वारा इनको खरीदने के नियम समय समय पर अखबारों में प्रकाशित किये जाते हैं। ये राज्य अथवा केन्द्र सरकारों द्वारा २५०००) रु०, १ लाख ५ लाख तथा १० लाख रुपये के मूल्य के चलाये जाते हैं।

४ **अर्थ बिल** (Finance Bills)—ये बिल भविष्य में उत्पादन अथवा निर्माण होने वाली वस्तुओं के आधार पर तैयार किये जाते हैं। अतः एसे बिलों को **अग्रिम बिल** (anticipatory bills) भी कहते हैं। ये बिल विशेषकर कृषि-कार्यों के लिए अधिक उपयोगी हैं क्योंकि इनका भुगतान उत्पादन की बिक्री (sale of produce) पर होता है। भारत में किसानों को अल्पकालीन ऋण प्राप्त करने के लिए इन बिलों का उपयोग हो सकता है।

हुण्डी तथा प्रतिज्ञा-पत्र के नमूने

१. दर्शनी हुण्डी

> सिद्ध श्री कलकत्ता शुभस्थान भाई श्री० श्रीनारायण अग्रवाल जोग लिखी गवालियर से पिंडीलाल कचोडीमल की जयगोपाल वचना । अपरच हुंडी कीन्ही एक आप ऊपर रु० २०००), अंकेन दो हजार रुपया के नीमे एक हजार के दूने पूर यहा राख्या भाई मानकचन्द नथमल जैन कानपुर वालो के मिती कातिक बदी ५ से पहुँचे। दाम धनी जोग बिना जाब्ता रुपया बाजार चलन हुण्डी की रीति ठिकाने लगाय दाम चोकस कर देना । मिती कातिक बदी ५ सवत् २००१ ।
>
> लिखी पिंडीलाल कचोडीमल की जयगोपाल वचना ।

हुण्डी का पिछला भाग--

> रुपया २०००)
>
> नीमे के नीमे पॉच सौ का
> चोगुना पूरा रुपया दो हजार कर देना
>
> ठिकाना—भाई श्री श्रीनारायण अग्रवाल, २४ क्लाइव स्ट्रीट
> स्क्वेयर, कलकत्ता ।

२ मुद्दती हुण्डी

सिद्ध श्री बम्बई शुभस्थाने भाई श्री गोवर्धनदास लक्ष्मणदास मिश्रा जोग लिखी कलकत्ता से पूरनचन्द कजोडीमल की जैगोपाल वचना जी। अपरच हुण्डी कीन्ही आप पर नग एक रुपया २०००) अकेन रुपया दो हजार के नीमे एक हजार के दूने पूर यहाँ राख्या श्री भारत बैंक लिमिटेड कलकत्ता वालो के पास मिती वैसाख सुदी १२ से दिन ६१ इकसठ पीछे नामे शाहजोग हुंडी चलन कलदार देना। मिती वैसाख सुदी १० सवत् २००५।

लिखी पूरनचन्द कजोडीमल की जैगोपाल वचना जी।

उपरोक्त हुण्डी का पिछला भाग—

रुपया २०००)

नीमे के नीमे पाँच सौ का चौगुना
पूरा रुपया दो हजार कर देना

ठिकाना—भाई श्री गोवर्धनदास लक्ष्मणदास मिश्रा, फोर्ट, बम्बई।

३. वैयक्तिक प्रतिज्ञा-पत्र

मुद्राक २५०) रुपये वर्धा

तिथि १ जुलाई १९४६

मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि उपर्युक्त तिथि के तीन मास पश्चात् मैं श्री० गिरिराज प्रसाद गुप्त को ढाई सौ रुपये प्रदान करूँगा।

हस्ताक्षर चन्द्रमोहन पचौरी

४ सामूहिक प्रतिज्ञा-पत्र

मुद्राङ्क रु० १०००) कानपुर १० जुलाई १९४६

हम प्रतिज्ञा करते है कि इस तिथि के दो मास उपरान्त श्री० गिरिराज प्रसाद गुप्त को एक हजार रुपये, प्राप्त मूल्य के, प्रदान करेंगे।

हस्ताक्षर { रामचन्द्र पन्नालाल कटक
विक्रमाजीतसिंह

५ सामूहिक एव वैयक्तिक प्रतिज्ञा-पत्र

मुद्राङ्क रु० १०००) कानपुर, ५ नवम्बर १९४६

हम व्यक्तिश तथा सामूहिक प्रतिज्ञा करते हैं कि इस तिथि के तीन मास उपरान्त श्री रामचन्द्र श्रीवास्तव को एक हजार रुपये, प्राप्त मूल्य के प्रदान करेंगे।

हस्ताक्षर { हरिहरसहाय अग्रवाल
रामचन्द्र पन्नालाल अग्रवाल

साराश

साखपत्र के दो प्रकार—बेचान साध्य एव बेचान रहित । बेचान-साध्य साखपत्रो का स्वत्व एव स्वामित्व किसी व्यक्ति को हस्तातरण अथवा हस्तातरण एव बेचान से मिल जाता है । इसकी विशेषताएँ लिखित होना, हस्तातरण अथवा हस्तातरण एव बेचान से हस्तातरिती या पृष्ठाकिती को स्वत्व मिलना, धारी को दावा करने का अधिकार, मूल्य के लिए धारी को विलेख का स्वामित्व बिना किसी दोष के मिलना । बेचान-रहित साखपत्रों मे ऐसा नही होता ।

धारी—वह व्यक्ति है जिसे १ विलेख की सम्पत्ति अपने नाम से लेने का अधिकार हो ।

२ आदाता, वाहक या पृष्ठाकिकी के नाते विलेख के पक्षकारो के विरुद्ध वैधानिक कार्यवाही करने का अधिकार हो ।

३ उपाधि वैधानिक रीति से प्राप्त हो ।

यथा विधि धारी वह व्यक्ति है जिसने—१ विलेख के अनादरण एव भुगतान के पूर्व उसका अधिकार प्राप्त किया हो ।

२ पूर्ण सद्‌भावना से किसी मूल्य के विनिमय मे विलेख लिया हो ।

३ विलेख के बेचान के समय बेचानकर्ता की उपाधि दूषित न हो ।

४ विलेख की प्राप्ति प्रतिफल के बदले मे हो ।

५ विलेख पूर्ण एव नियमी हो । ऐसा यथाविधि धारी उस विलेख की सम्पत्ति के लिए अन्य पक्षों के विरुद्ध वैधानिक कार्यवाही कर सकेगा । बेचान-साध्य साख विलेखो मे चैक, विनिमय बिल तथा प्रतिज्ञापत्रो का समावेश होता है ।

चैक—चैक किसी बैंक विशेष पर लिखा गया विनिमय बिल होता है । इसकी विशेषताएं हैं—लिखित आदेश हो, शर्त रहित हो, निश्चित बैंक के नाम हो, माग पर भुगतान देने का आदेश हो, चैक लिखने वाले के हस्ताक्षर हो, राशि निश्चित हो, आदाता का नाम निश्चित एव स्पष्ट हो । इन बातो के साथ ही चैक लिखने मे निम्न सावधानी रखनी होगी तिथि देना, अकों एव शब्दों मे राशि भेद न होना, लिखने वाले के हस्ताक्षर बैंक के पास के नमूने के हस्ताक्षर के समान होना ।

चैक मे तीन पक्ष—लिखने वाला (ग्राहक), भुगतानकर्ता (बैंक), आदाता । तिथि के हिसाब से चैक तीन प्रकार के होते हैं—(१) पूर्व तिथीय, जिनपर वास्तविक तिथि के पहिले की तिथि हो, (२) उत्तरतिथीय, जिनपर वास्तविक तिथि से

अगली तिथि हो। (३) बीतकालीन, जिस पर ६ मास पहिले की तिथि हो। इनमे से बैंक बीतकालीन चैंक का भुगतान ग्राहक की अनुमति बिना नहीं करते, पूर्व तिथीय चैक यदि ६ मास से कम अवधि के हो तो उनका भुगतान करते हैं। परन्तु उत्तरतिथीय चैंक का भुगतान उसमे लिखित तिथि को अथवा उसके बाद करते हैं। आदेश चैंक का हस्तातरण बिना बेचान के नहीं हो सकता और न उसका भुगतान ही मिल सकता है। वाहक चैंकों का भुगतान एवं हस्तातरण उसके धारी को होता है। खुला चैंक—उसे कहते हैं जिसका भुगतान बैंक मे जाकर उसका धारी ले सकता है। रेखांकित चैंक का भुगतान धारी को केवल किसी बैंक के मध्यम से प्रस्तुत करने पर ही मिल सकता है।

रेखाकन—चैंक पर सुरक्षा के लिए जब दो समानातर रेखाएँ खींच दी जाती हैं तब उसे रेखाकन कहते हैं। ऐसा चैंक किसी बैंक के माध्यम से ही भुनाया जा सकता है। रेखाकन तीन प्रकार का होता है—(१) सामान्य रेखाकन, जिमे किसी बैंक के माध्यम से भुनाया जा सकता है। (२) विशेष रेखाकन, इसमे समानातर रेखाओ के बीच किसी बैंक विशेष का नाम लिखा जाता है; जिससे उसे केवल उसी बैंक के माध्यम से भुनाया जा सकता है। (३) बेचान रहित रेखाकन इसमे समानातर रेखाओ के बीच "नॉट निगोशिएबल" शब्द लिखे जाते हैं। ऐसे चैंक का बेचान फिर नहीं हो सकता और यदि होता है तो हस्तातरिती को हस्तातरक से अच्छी उपाधि नही मिल सकती।

कोई भी धारी, लिखने वाला या बेचानकर्ता खुले चैंक को रेखाकित, रेखाकित चैंक को विशेष रेखाकित तथा बेचानरहित रेखाकन मे परिवर्तन कर सकता है।

महत्वपूर्ण परिवर्तन—चैंक के उन परिवर्तनो को कहते है जिससे उसकी मूल वैधानिक भाषा मे परिवर्तन हो जाय। ये परिवर्तन निम्न होते हैं—तिथि, भुगतान का स्थान, राशि अथवा आदाता के नाम मे परिवर्तन, सामान्य रेखाकन को निदान करना, विशेष रेखाकित चैंक का सामान्य रेखाकित चैंक मे तथा आदेश चैंक का वाहन चैंक मे परिवर्तन। ऐसे सब परिवर्तनो पर लिखने वाले के हस्ताक्षर हुए बिना चैंक का भुगतान नही होगा।

चैंक खोने पर—उसकी सूचना भुगतानकर्ता बैंक, लिखने वाले को तथा बेचानकर्ता को देना चाहिए जिससे उसका भुगतान चैंक लिखने वाला रोक सके।

चिह्नित चैंक—उसे कहते हैं जिस पर भुगतानकर्ता बैंक लाल स्याही से हस्ताक्षर करता है। ऐसा करते समय कभी-कभी बैंक चैंक को उपस्थित करने

की अंतिम तिथि भी दे देता है जिस अवधि में धारी ने उसे भुनाना चाहिए। सग्राहक बैंक, धारी अथवा लिखने वाले ग्राहक की प्रार्थना पर भुगतानकर्ता बैंक चैक को चिह्नित करता है। पहिली तथा तीसरी दशा मे ग्राहक उस चैक का भुगतान नहीं रोक सकता परन्तु दूसरी दशा मे यदि समुचित समय मे चैक प्रस्तुत न होने के कारण यदि अप्रतिष्ठित हो जाता है तो उसकी जिम्मेवारी आदाता अथवा धारी की होगी।

उपस्थिति का समुचित समय निम्न वार्ता का ध्यान मे रखकर निश्चित होना है—(१) चैक लिखने वाले एव पाने वाले की स्थान-दूरी, (२) विलेख को उपस्थित करने की पद्धति, (३) विलेख का स्वरूप।

विकृत चैक—आकस्मिक रूप से जो चैक फट जाता है तब उसे विकृत चैक कहते हैं। ऐसे चैक का भुगतान बैंक ग्राहक की लिखित अनुमति बिना नहीं करेगा।

जाली चैक एव जाली बेचान—जाली चैक उसे कहते हैं जिस पर ग्राहक के जाली हस्ताक्षर हो तथा जाली बेचान मे चैक पर बेचानकर्ता के हस्ताक्षर जाली होते हैं। पहिली दशा मे यदि बैंक ऐसे चैक का भुगतान करे तो वह उसकी रकम ग्राहक से वसूल नहीं कर सकता क्योंकि यह ग्राहक का आदेश नहीं था। परन्तु जाली बेचान मे यह प्रत्येक बेचानकर्ता के हस्ताक्षर जानने के लिए बाध्य नहीं होता, इस कारण ग्राहक के खाते को डेबिट कर सकता है।

बेचान—इसमे बेचानसाध्य विलेख का स्वत्वधारी स्वामी अथवा धारी उस विलेख की सपत्ति का अधिकार किसी अन्य व्यक्ति को देने हेतु उस विलेख पर अपने हस्ताक्षर करता है। ऐसा बेचान आदाता, धारी अथवा पृष्ठांकिकी अथवा इनके अधिकृत अभिकर्ता कर सकते हैं। बेचान पाँच किस्म के होते हैं—सामान्य, विशेष, सीमित, दायित्व रहित तथा ऐच्छिक जिनमे से प्रथम तीन ही प्रचलन मे हैं।

चैक के लाभ—धन की सुरक्षा, हानि की सभावना नहीं, रसीद अनावश्यक, भुगतान मे सुगमता, आय-व्यय का हिसाब, साख निर्माण।

विनिमय बिल की विशेषताएं—लिखित एव शर्त रहित आदेश, आदेशकर्ता के हस्ताक्षर, किसी निश्चित व्यक्ति को आदेश निश्चित रकम के भुगतान का आदेश, भुगतान पाने वाला व्यक्ति एव भुगतान का समय निश्चित हो।

बिलों का वर्गीकरण—(१) स्थानीय—देशी बिल जो भारत मे बनाये गये हों या भारतीयों पर लिखे गये हों या उनका भुगतान भारत मे हों। जो बिल

ऐसे नहीं होते उन्हें विदेशी बिल कहते हैं। विदेशी बिल तीन प्रतियों मे लिखे जाते हैं जिनमे से किसी एक का भुगतान होने पर शेष निरस्त हो जाते हैं।

(२) भुगतान—वाहक बिल की राशि किसी भी व्यक्ति को, जिसके पास वह वैधानिक रीति से हो, भुगतान होती है।

आदेश बिल की राशि आदाता अथवा उसके आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति को भुगतान होती है।

(३) अवधि-दर्शनी बिल—जिसका भुगतान उपस्थिति पर हो तथा मुद्दती बिल जिसका भुगतान बिल मे लिखित अवधि की समाप्ति पर हो।

(४) व्यवहार—व्यापारिक बिल जो व्यापारिक कार्यों के लिए लिखे गये हो तथा अनुग्रह बिल जो केवल एक दूसरे की आर्थिक सहायता के लिए लिखे जायें।

चैक की भाँति बिलो के भी तीन पक्ष होते है—लिखने वाला (ऋणदाता), *आदाता तथा भुगतानकर्ता (ऋणी) जो बिल को स्वीकार करता है।*

बिलो की स्वीकृति—दर्शनी बिलो मे स्वीकृति आवश्यक नहीं होती। मुद्दती बिलों मे आवश्यक होती है। जब तक वे स्वीकृति नही होते तब तक उन्हे ड्राफ्ट तथा स्वीकृति होने पर बिल कहा जाता है। स्वीकृति सामान्य एव विशेष होती है तथा स्वीकृति के लिए बिल को भुगतानकर्ता के *व्यापारिक स्थान पर व्या-*पारिक समय मे प्रस्तुत करना आवश्यक होता है। स्वीकृति न होने पर भी *बिलों का अनादरण समझा जाता है।*

बिलो मे लाभ—बिलो की कटौती से बैंक के लाभ बढते हैं, सुरक्षा का *साधन, भुगतान की निश्चितता, मूल्यों मे उतार चढाव नहीं,* जहाजी बिल्टी या अन्य प्रतिभूतियाँ सलग्न होने से सुरक्षित ऋण, ग्राहकों का कृपापात्र।

व्यापारियो को बिलो की कटौती मे लाभ—ऋण का वैज्ञानिक प्रमाण, भुगतान की व्यवस्था मे सुगमता, रोकड प्राप्त करने मे सुगमता, देश-विदेशों को भुगतान मे सुगमता।

हुण्डियाँ—ये प्राचीन काल से भारतीय क्षेत्रो मे स्थानीय परम्पराओं के अनुसार *एव स्थानीय भाषाओं मे प्रचलित हैं तथा इनका समावेश* भारतीय बेचान साध्य विलेख अधिनियम के अन्तर्गत नहीं होता।

अवधि के अनुसार हुण्डियाँ दर्शनी एव मुद्दती तथा भुगतान की पद्धति के अनुसार धनीजोग, शाहजोग, फर्मानजोग तथा देखनहारजोग होती हैं। क्रमश: ये बेचान-रहित, विशेष रेखांकित आदेश एव वाहक धनादेश की भाँति

होती हैं। इसके अतिरिक्त प्राचीन काल मे भारत मे जोखमी हुण्डी भी चलन मे थी।

प्रतिज्ञा पत्र—इसमे लिखने वाला (ऋणी) यह शर्त रहित प्रतिज्ञा करता है कि वह उसमे लिखित निश्चित राशि, उसमे लिखित निश्चित व्यक्ति को अथवा उसके आदेशानुसार देगा। इनमे दो पक्ष होते हैं—एक लिखने वाला तथा दूसरा पाने वाला जो साधारणत ऋणदाता होता है। प्रतिज्ञा-पत्र खोने पर धारी क्षतिपूर्ति की जिम्मेवारी पर लिखने वाले से दूसरी प्रति ले सकता है।

प्रतिज्ञा पत्र के तीन प्रकार—(१) वैयक्तिक—जिसमें एक ही प्रतिज्ञाकर्ता होता है एव भुगतान की जिम्मेवारी उसी की होती है।

(२) सामूहिक—जिसमे एक से अधिक व्यक्ति प्रतिज्ञा करते हैं एव भुगतान की सामूहिक जिम्मेवारी लेते हैं।

(३) वैयक्तिक एव सामूहिक—इसमे लिखने वाले व्यक्तिगत एव सामूहिक रूप मे प्रतिज्ञापत्र के भुगतान के लिए जिम्मेवार होते हैं।

रेखांकन आदि सम्बन्धी अन्य नियम चैक के समान ही इनको भी लागू होते हैं।

अन्य साखपत्र—बैंक ड्राफ्ट, एक बैंक द्वारा अपनी शाखा अथवा अन्य बैंक पर लिखा हुआ चैक होता है। ड्राफ्ट देने वाली बैंक इसके लिए कमीशन लेते हैं तथा यह अधिक राशि स्थानांतरण का सुगम एव सुरक्षित साधन है।

बैंक स्वीकृति—बैंक जब अपने को ग्राहक की ओर से अथवा ग्राहक द्वारा लिखे गये बिल स्वीकार करना है तब उसे बैंक स्वीकृति कहते हैं। इन बिलो का सयोगिक दायित्व बैंक पर होता है। साधारणत इनकी राशि भुगतान तिथि के पूर्व ग्राहक बैंक मे जमा कर देता है।

साखपत्र—जब एक बैंक विदेशी बैंकों या अपने विदेशी अभिकर्ताओं को किसी निश्चित व्यक्ति को (जिसका नाम पत्र मे हो) निश्चित राशि भुगतान करने की प्रार्थना करता है तब उसे साखपत्र कहते हैं। यह कोई भी व्यक्ति बैंक मे जितनी राशि का साखपत्र चाहता है, उतनी राशि जमाकर प्राप्त कर सकता है। इन पत्रों के साथ निर्देशपत्र भी रहता है जिस पर ग्राहक के नमूने के हस्ताक्षर तथा किन बैंकों से रुपया लिया जा सकता है, उनका नाम रहता है। जो साखपत्र व्यापारिक सुविधाओ के हेतु होते हैं उन्हें व्यापारिक साखपत्र तथा जो यात्रियो की सुविधा के लिए दिये जाते हैं उन्हें अभियात्री साखपत्र कहते हैं।

साखपत्र के तीन प्रकार—(१) सीमित साखपत्र—ये किन्हीं विशेष बैंकों या अभिकर्ताओं के नाम होते हैं।

(२) परि-साखपत्र—ये परिपत्रों की भाँति होते हैं तथा जिन बैंकों से राशि प्राप्त हो सकती है उनके नाम एक पृथक् निर्देश पत्र में होते हैं।

(३) यात्री व्यापार साखपत्र—ये उन व्यापारियों को दिये जाते हैं जो माल खरीदने के हेतु यात्रा करते हैं। व्यापारिक साखपत्र निरस्तनीय तथा अनिरस्तनीय होते हैं। राशि के अनुसार साखपत्र स्थायी एवं चल दो प्रकार के होते हैं।

कोष बिल—जो राज्य या केन्द्र सरकारें अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए चालू करती हैं वे प्रतिज्ञापत्र होते हैं। इनकी अवधि ९० दिन से अधिक नहीं होती।

अर्थ बिल—ये भविष्यकालीन कृषि अथवा औद्योगिक उत्पादन की जमानत पर लिखे गये बिल होते हैं तथा कृषि की अल्पकालीन अर्थ-व्यवस्था के लिए उपयोगी होते हैं।

अध्याय ६

बैंक लेखों के प्रकार

बैंक जनता, संस्थाओं, कम्पनियों आदि से तीन प्रकार के निक्षेप स्वीकार करते हैं —

१. चल-निक्षेप—इस लेखे में व्यापारिक समय में राशि जमा करने अथवा निकालने पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता। इसलिए व्यापारी विशेषतः अपनी रोकड़ चल-निक्षेप में ही जमा करते हैं। श्री टैनन के अनुसार प्रथम श्रेणी के बैंक चल-निक्षेपों पर कोई ब्याज नहीं देते तथा इस लेखे की न्यूनतम मर्यादा निश्चित करते हैं। इस मर्यादा के अनुसार इस लेखे का शेष कुछ निश्चित राशि से कम नहीं होना चाहिए, किन्तु यदि वह कम होता है तो बैंक ग्राहक से संयोगिक व्यय लेते हैं, जो उनका लाभ होता है। इस लेखे में जो राशि होती है वह किसी भी समय चैकों द्वारा निकाली जा सकती है तथा बैंक पर इन पर लिखे हुए चैकों का आदरण करने की जिम्मेवारी होती है। भारत में कुछ बैंक निक्षेप (deposited) राशि की न्यूनतम मर्यादा निश्चित कर उस पर २% प्रतिशत वार्षिक ब्याज देते हैं किन्तु इस प्रकार दिये हुए त्रैमासिक ब्याज की रकम ३) से ५) से कम नहीं होनी चाहिए। इस न्यूनतम राशि का उपयोग बैंक स्वतन्त्रता से कर सकते हैं।[1] जो ग्राहक १,००,००० रुपए से अधिक राशि रखते हैं उनके लिए बैंक विशेष व्यवस्था करता है।

इस लेखे पर बैंक की जिम्मेवारी अधिक होती है क्योंकि ग्राहक प्रतिदिन चैकों से चाहे जितनी राशि ले सकता है, जिसका अनुमान बैंक को नहीं होता। इसलिए बैंकों को अपनी जिम्मेवारी के लिए सदैव अधिक रोकड़-निधि रखनी पड़ती है। इस प्रकार के खाते व्यापारियों को अधिक लाभदायक होते हैं।

चल-लेखा खोलने की विधि—कोई भी लेखा खोलने के पूर्व बैंक को यह

---

[1] *Joint Stock Banking in India* by D S Savarkar

जान लेना चाहिए कि भावी ग्राहक का व्यापार कौन-सा है एव किस प्रकार का लेखा वह खोलना चाहता है। साथ ही बैंक को उस व्यक्ति से परिचित व्यक्तियो अथवा सस्थाओं से सन्दर्भ लेना चाहिए जिससे वह ग्राहक की आर्थिक स्थिति, आर्थिक व्यापारिक व्यवहारो आदि बातो की पूर्ण जानकारी ले सके। इससे बैंक यह निश्चित कर सकता है कि वह व्यक्ति ग्राहक बनाने योग्य है अथवा नहीं। इन सन्दर्भो से अपने भावी ग्राहक की पूर्ण जानकारी लेने के बाद ही बैंक का लेखा खोलना चाहिए। इससे ग्राहक के जाली कृत्यो से वह अपनी सुरक्षा कर सकता है तथा उसे आर्थिक हानि की सम्भावना नही रहती। दूसरे, ग्राहक की आर्थिक स्थिति के विषय मे उसे अन्य ग्राहको अथवा बैंको की गोपनीय जांच का उत्तर देना पडता है, जिसके लिए यह ज्ञान उसे आवश्यक होता है। तीसरे, लखा खोलने के पूर्व यदि वह इन बातो की जानकारी नही लेता है तो उस बेचनासाध्य विलेख विधान के अन्तर्गत वैधानिक सरक्षण नही मिल सकता, क्योकि लेखा खोलने मे उसने उपेक्षा से काम किया है। अत ग्राहक एव बैंक दोनों की दृष्टि से ग्राहक की आर्थिक स्थिति एव आर्थिक व्यवहारो के सम्बन्ध मे पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना बैंक के लिए आवश्यक है।

इन प्रारम्भिक (preliminary) कार्यों की पूर्ति के बाद बैंक दो कार्डो पर ग्राहक के नमूना हस्ताक्षर लेता है। ये कार्ड पत्र-सूचक मजूषा (card index cabinet) मे अक्षर-क्रम (alphabetical order) मे रखे जाते है, जिससे चैंक आदि पर किये गये ग्राहक के हस्ताक्षरो को इन हस्ताक्षरो से मिलाया जाता है। अत चैक पर किये हुए हस्ताक्षर इन हस्ताक्षरो से मिला लेने चाहिए अन्यथा चैक का आदरण नही होगा। यदि ग्राहक किसी अन्य व्यक्ति को चैक आदि लिखने का अधिकार देता है तो उसके नमूने के हस्ताक्षर तथा उसके नाम का अधिकार-पत्र बैंक अपने पास रखगा।

चल-लेखे मे प्रथम वार राशि जमा करने पर बैंक अपने ग्राहक को तीन पुस्तिकाएँ देता है—(१) निक्षेप-पर्ची पुस्तिका (pay-in-slip book), (२) चैक पुस्तिका (cheque book), तथा (३) ग्राहक पुस्तिका (pass book)।

निक्षेप पर्ची पुस्तिका—इसमे राशि जमा कराने की बहुत सी पर्चियाँ (विशेषतः २५) रहती हैं। कभी-कभी बैंक इन पर्चियो को पुस्तिका मे न रखते हुए शिथिल रखते है। बैंक म राशि जमा करते समय इस पर्ची को भर कर राशि भेजी जाती है। पर्ची का उदाहरण —

श्री पंजाब नेशनल बैंक लिमिटेड कानपुर। तिथि निक्षेपक खाता नं०			खाता क्रमांक श्री पंजाब नेशनल बैंक लिमिटेड कानपुर कानपुर १९६ राशि विवरण			
	रु०	न पै		रु०	न पै	
पत्र मुद्रा			पत्र मुद्रा			श्री के
स्वर्ण मुद्रा			स्वर्ण मुद्रा			चल-लेखा
रजत मुद्रा			रजत मुद्रा			में समा
सिक्के (अन्य)			सिक्के (अन्य)			कलित
चैक			चैक			कीजिए
बिल आदि			बिल आदि			राशि
योग			योग			निक्षेपक
खजांची लेखपाल अभिकर्ता			खजांची लेखपाल अभिकर्ता			

यह पर्ची दो भागों में होती है जिसमें से बायें भाग को प्रतिपर्ची (counterfoil) तथा दाहिने भाग को प्रमुख पर्ची कहते हैं। इस पर्ची में जमा करने के लिए भेजी कितनी राशि भेजी गई है उसका विवरण दिया जाता है तथा दाहिने भाग पर निक्षेपक (depositor) एवं अभिकर्ता दोनों के हस्ताक्षर होते हैं। यह पर्ची राशि के साथ भेजी जाती है। इसमें बैंक का खजांची पूर्ण मिलान करने के बाद राशि जमा कर लेता है तथा प्रमुख पर्ची अपने पास रखकर प्रतिपर्ची पर हस्ताक्षर करके बैंक की मोहर लगा देता है। प्रतिपर्ची पर विशेषत: केवल खजांची हस्ताक्षर करता है जो प्राप्ति का पर्याप्त प्रमाण होता है।

ग्राहक पुस्तिका (Pass Book)—ग्राहक का लेखा बैंक की खाताबही में जिस प्रकार से रखा जाता है उसी की नकल ग्राहक पुस्तिका में होती है। ग्राहक अपने लेखे में समय समय पर जो राशि जमा करता है एवं निकालता है ग्राहक को जो ब्याज आदि मिलता है अथवा जो कमीशन शुल्क आदि बैंक ग्राहक से लेता है उसकी जानकारी तिथिक्रम से ग्राहक पुस्तिका में लिखी जाती है। जो राशि ग्राहक जमा करता है वह ग्राहक पुस्तिका के बायें भाग में तथा जो राशि वह निकालता है दाहिने भाग में लिखी जाती है। यह पुस्तिका बैंक

द्वारा लिखी जाती है। अत इसमे प्रत्येक व्यवहार के लेख का उत्तरदायित्व बैंक का रहता है। फिर भी ग्राहक को इस पुस्तिका के लेख ठीक है या नही, यह देखना चाहिए। इस पुस्तिका को बैंक से प्राप्त करने के उपरान्त यदि वह उसे रख लेता है तो इससे यह तात्पर्य है कि उसमे की गई प्रत्येक प्रविष्टि उसने सही मान ली है।

इस पुस्तिका को ग्राहक समय-समय पर विशेषत महीने मे एक बार बैंक मे भेजता है जिससे लेख अद्यावधि रह सके। इस पुस्तिका मे वह अपनी खाता-बही के "बैंक लेखे" को मिलाता है। परन्तु फिर भी ग्राहक के बैंक लेखे का शेष ग्राहक-पुस्तिका से मिलेगा ही, यह बात नही है। क्योंकि ऐसी कई बातें होती हैं जो इन दोनों पुस्तकों के शेषो मे अन्तर डालती है —

(१) सग्रहण के लिए भेजे गये चैकों की राशि से ग्राहक अपनी बही म बैंक लेखा डेबिट करता है। परन्तु ग्राहक-पुस्तिका म इसको तब तक नही लिखा जाता जब तक चैको की राशि बैंक प्राप्त न कर ले।

(२) बैंक ग्राहक से जो शुल्क, कमीशन आदि लेता है उसे वह केवल ग्राहक पुस्तिका मे लिखता है। इसकी जानकारी ग्राहक को केवल इस पुस्तिका से ही होती है क्योंकि इसकी सूचना बैंक ग्राहक को नही देता और न देने की आवश्यकता होती है।

(३) कटौती किये गये बिलो के अनादरण का उल्लेख केवल ग्राहक पुस्तिका मे ही होता है किन्तु ग्राहक के बैंक लेखे मे नही होता।

(४) ग्राहक द्वारा लिखे गये चैकों का लेख ग्राहक-पुस्तिका मे तब तक नही होता जब तक उनका भुगतान न हो जाय। किन्तु ग्राहक चैक काटते ही अपनी खाता बही मे बैंक लेखा क्रेडिट कर देता है।

(५) निक्षेप पर ब्याज का लेख केवल ग्राहक-पुस्तिका मे ही होता है और ग्राहक को उसकी जानकारी नही होती।

अत जब ग्राहक अपनी बही के बैंक लेखे का मिलान ग्राहक-पुस्तिका से करता है, उस समय दोनो के शेष मे अन्तर होने पर उसे **बैंक समाधान विवरण** (reconciliation statement) बनाना पडता है जिससे ग्राहक-पुस्तिका के शेष का मिलान खाता बही के बैंक लेखे से हो सके।

अत ग्राहक एव बैंक दोनों की दृष्टि से ग्राहक-पुस्तिका महत्वपूर्ण होती है। इस पुस्तिका मे सब लेख बैंक द्वारा होता है, इसलिए यदि इन लेखों की गलती पर ग्राहक किसी प्रकार की आपत्ति नही करता तो यह प्रमाण है कि इस

पुस्तिका क सब लख ग्राहक का मान्य है। इसलिए इस पुस्तिका क लख अत्यन्त सावधानीपूवक एव ठीक ठीक करना चाहिए। उदाहरणाथ, मान लीजिए कि वैक न ग्राहक पुस्तिका म १००) रुपया क्र डिट न करत हुए भूल स १५०) रुपया क्र डिट किय हैं एव ग्राहक का क्र डिट नप १००) स न बनान हुए १५०) रुपय स बना दिया। यदि ग्राहक इसका ठीक समझ कर अपन लख पर उस रकम का चैक लिखता है ता वक उम अनादरित नही कर सकता अपितु अना दरण करन पर वह ग्राहक की हानि-पूर्ति का उत्तरदायी हागा। इसलिए एसी भूल जब कभी भी वक जान न उसकी सूचना तुरन्त हा ग्राहक का दनी चाहिए तथा उसका समाधन करना चाहिए एव जब तक ग्राहक की अनुमति प्राप्त न हा तब तक उसको ग्राहक क सभी चैका का आदरण करना चाहिए। ग्राहक भी अपना ग्राहक-पुस्तिका दखन क लिए उत्तरदायी है क्योकि यदि किसी प्रकार का एसा गलती ग्राहक-पुस्तिका म हाती है जा ग्राहक का मालूम हा सकती है अथवा उस मालूम थी परन्तु फिर भी ग्राहक न उस ठीक नही करवाया ता वैक की जा हानि हागी उसकी पूर्ति करन क लिए ग्राहक जिम्मेदार होगा। फिर भी भूल स किसी राशि का लखा यदि ग्राहक-पुस्तिका म नही हुआ और उसका जानकारी ग्राहक किसी कारणवश न कर सका ता एसी राशि किसी भी दशा म वक अपने पास ग्राहक की उपक्षा क बहान नही रख सकता। (ग्राहक-पुस्तिका का नमूना पृष्ठ ४३४ पर।)

चक पुस्तिका (Cheque Book)—चैक पुस्तिका म १० २५ ५० अथवा १०० चक रहत हैं। लखा खालन क बाद यह पुस्तिका ग्राहक का दी जाती है जिसम वह अपनी राशि इन चैका स निकाल सक। यह पुस्तिका वक बिना किसी शुल्क क देता है तथा एक पुस्तिका समाप्त हान पर दूसरा दता है। चैक भी निक्षप पर्चो का तरह दा भागा म होत हैं जिसम स बाय भाग का प्रतिपर्चा कहत हैं। यह प्रतिपर्चा ग्राहक अपन पास सदभ के लिए रखता है तथा दाहिना भाग पान वाल का दिया जाता है जिस प्रमुख चक कहत हैं। यह चैक पूण रूप स एव ठीक पद्धति पर भरन म ही वक द्वारा आदरित किया जाता है अन्यथा नहा।

बक द्वारा दिय गय फार्मो पर हा चक लिख हान चाहिए अन्यथा उनका अनादरण हा जाता है। यह बन्धन ग्राहक पर पालन क लिए वैक आवदन-पत्र म शत रखत हैं जा ग्राहक और वक क बाच अनुबन्ध हाता है। इन मुद्रित चैका म वक एव ग्राहक दाना का ही लाभ हाता है।

ग्राहक-पुस्तिका

नाम . श्री पिण्डीलाल मटरूमल, कपडे के व्यापारी,

पता जनरलगज, कानपुर ।

हिन्दुस्तान कमर्शियल बैंक, मेस्टन रोड शाखा के साथ

चल-लेखा

तिथि (Date)	विवरण (Particulars)	राशि विकलन			हस्ताक्षर	राशि समाकलन			विक० अथवा समा०	शेष		
		रुपया	आ	पा		रुपया	आ	पा		रुपया	आ	पा
१ जनवरी ५१	शेष	५०००	—	—	अ ब क	—	—	—	डे०	५०००	—	—
१ जनवरी ५१	रोकड	—	—	—	अ ब क	१००००	—	—	क्रे०	५०००	—	—
२ जनवरी ५१	चैक लिखे	३०००	—	—	अ ब क	—	—	—	क्रे०	२०००	—	—
	शेष आगे ले जाया गया								क्रे०	२०००	—	—

(१) कोई भी व्यक्ति जो ग्राहक के जाली हस्ताक्षर कर सकता है, उसे कपट करना असम्भव हो जाता है क्योंकि वह ग्राहक का चैक पत्र प्राप्त नहीं कर सकता। ग्राहक स्वयं भी कपट से बचने के लिए चैक पुस्तिका की सुरक्षा रखता है।

(२) चैक विशेष प्रकार के कागज पर छपे हुए होने से इन पर किसी भी प्रकार का परिवर्तन सरलता से मालूम हो जाता है।

(३) प्रत्येक ग्राहक की चैक पुस्तिका पर विशेष अंक होता है जिससे बैंक उस अंक को देखते ही ग्राहक का लेखा अथवा अन्य आवश्यक सन्दर्भ शीघ्र प्राप्त कर सकता है।

(४) ग्राहक को वैधानिक रूप एवं नियमों चैक लिखने का कष्ट नहीं होता।

(५) प्रत्येक चैक पर क्रमांक (serial number) होने से ग्राहक आवश्यकता पड़ने पर अथवा किसी प्रकार के कपट का ज्ञान होने पर बैंक को चैक क्रमांक देकर उसका भुगतान रोक सकता है। इससे चैक की राशि अन्य गलत व्यक्तियों के हाथ में नहीं जा सकती। इसलिए यह पुस्तक विशेष महत्व की है जो ग्राहक को बहुत सावधानी से रखनी चाहिए।

२ बचत लेखा—यह विशेषतः कम आय वाले व्यक्तियों के लिए अधिक उपयोगी होता है। इस प्रकार की सुविधा देने से जनता में बचत की आदत निर्माण की जाती है। इसमें मासिक न्यूनतम राशि पर ब्याज देते हैं जो आजकल $1\frac{1}{2}\%$ से $2\frac{1}{2}\%$ वार्षिक है। इस प्रकार के लेखे में आहरण (withdrawal) पत्र भरने पर राशि निकाली जा सकती है। इस प्रकार की राशि सप्ताह में केवल एक बार अथवा दो बार निकाली जा सकती है तथा सप्ताह में निश्चित राशि से अधिक राशि नहीं निकाली जा सकती। यदि राशि अधिक निकालनी हो तो बैंक को नियमानुसार सूचना देनी पड़ती है। इस प्रकार के खाते में प्रति वर्ष १०,००० से अधिक राशि नहीं जमा की जा सकती परन्तु इस सम्बन्ध में प्रत्येक बैंक के नियम अलग-अलग होते हैं।

किसी व्यक्ति को यह लेखा खोलने के पूर्व प्रार्थना पत्र भरना पड़ता है जिसमें ग्राहक अपना नाम, व्यवसाय, पता आदि लिखता है तथा कितनी राशि वह प्रथम बार निक्षेप में रखना चाहता है यह भी। प्रत्येक प्रकार के लेखा खोलने के पूर्व ग्राहक को आवेदन भरना पड़ता है। इसकी स्वीकृति एवं प्रथम निक्षेप राशि जमा करने पर ग्राहक को ग्राहक-पुस्तिका दी जाती है। रुपया निकालते समय ग्राहक को अपने हस्ताक्षर सहित आहरण-पत्र बैंक को ग्राहक-

पुस्तिका के साथ देना पडता है जिससे वह राशि, निश्चित शर्तों के अनुसार, उसे प्राप्त हो जाती है। इस आहरण-पत्र के हस्ताक्षर नमूना-हस्ताक्षर से मिलने चाहिए अन्यथा रुपया नही मिल सकता। आहरण की राशि लिखने के बाद यह पुस्तिका ग्राहक को वापिस दी जाती है।

ग्राहक-पुस्तिका मे ग्राहक की जमा राशि, निकाली हुई राशि तथा शेष क्रमानुसार दी जाती है।

अनेक बैंक बचत लेखो पर चैक लिखने की सुविधा देते है, परन्तु चैको द्वारा उपर्युक्त शर्तों के अनुसार ही राशि निकाली जाती है। परन्तु यह सुविधा तभी दी जाती है जब न्यूनतम जमा-राशि १०० से २५० रु० तक हो। इस प्रकार के लेखे पर अधिविकर्ष (overdraft) की सुविधा नही दी जाती किन्तु बैंक ग्राहक के चैक आदि के संग्रहण एव सुरक्षा के लिए वस्तुएँ स्वीकार करने की सुविधा देते है। यदि यह लेखा किसी कारणवश ६ महीने के पूर्व बन्द किया जाय तो बैंक ग्राहक से ग्राहक-पुस्तिका का मूल्य लेते है, अन्यथा यह पुस्तिका निःशुल्क दी जाती है। इसी प्रकार यदि ६ वर्षो मे किसी भी प्रकार का व्यवहार इस लेखे पर न किया जाय तो लेखा बन्द समझा जाता है।

३ स्थायी (Fixed Deposit) **निक्षेप लेखा**—जो व्यक्ति किसी निश्चित अवधि के लिए अपनी राशि जमा कराना चाहते है वे इस लेखे मे करते है। इस लेखे पर ब्याज की दर अधिक होती है। यह राशि जिस अवधि के लिए जमा की जाती है, उस अवधि के अन्त मे ही निकाली जा सकती है। परन्तु यदि ग्राहक समय के पूर्व इसकी राशि निकालना चाहता है तो उसे बैंक के नियमानुसार सूचना देना आवश्यक है। इस लेखे पर ब्याज की दर ३ से ६ प्रतिशत प्रति वर्ष तक दी जाती है। भिन्न-भिन्न बैंक भिन्न-भिन्न दरो से ब्याज देते है, विशेषत अच्छी ख्याति के बैंक कम ब्याज देते है। साधारणत स्थायी निक्षेप ६ महीने से ३ वर्ष की अवधि तक के होते है।

इस प्रकार के निक्षेपो से बैंक की कार्यशील पूँजी बढती है क्योकि ये निक्षेप कब निकाले जायँगे, इसका पूर्ण ज्ञान बैंक को होता है। आवेदन-पत्र स्वीकृत हो जाने पर निक्षिप्त राशि के लिए बैंक 'निक्षेप-रसीद" देते है। इसका हस्तान्तरण किसी अन्य व्यक्ति को नही हो सकता। इस रसीद मे राशि जमा करने की तिथि, निक्षेप-कर्ता का नाम, राशि, अवधि एव ब्याज की दर रहती है।

इन निक्षेपो को निकालने के पूर्व ग्राहक को निक्षेप-रसीद लौटानी पडती

है। किन्तु जब तक ऐसी लिखित शर्त न हो तब तक वापिस करने की आवश्यकता नहीं है। निक्षेप की अवधि समाप्त होने पर यदि ग्राहक पुनः किसी अवधि के लिए राशि रखना चाहता है तो वह निक्षेप-रसीद का नवकरण (renewal) कराकर स्थायी निक्षेप में राशि जमा कर सकता है।

निक्षेप-रसीद का नमूना

अन-हस्तान्तरणीय

श्री० कृष्णराम बल्देव बैंक लिमिटेड, ग्वालियर।

क्रमांक ५३६

श्री० रामचन्द्र श्रीवास्तव से ५००० रु० उनके लेखे में २ वर्ष निक्षेप के लिए, १ जनवरी १९५१ से ३१ दिसम्बर १९५२ तक के लिए, प्राप्त हुए। यह राशि १ जनवरी १९५३ को देय है। इस पर ३% प्रति वर्ष की दर से व्याज दिया जायगा।

केवल ५०००) रुपये — कृष्णराम बल्देव बैंक के लिए,

अमृतलाल दुबे — जाल एन बरोचा

लेखापाल — व्यवस्थापक

जब व्यापारियों के पास निष्क्रिय पूँजी होती है तब वे उसे स्थायी निक्षेप लेखे में जमा करते हैं जिससे उनको निश्चित लाभ मिलता रहे। अन्य व्यक्ति भी इसमें राशि जमा करते हैं जिनके पास अतिरिक्त धन होता है।

४ डाकघर सचय निक्षेप लेखा (P O. Saving Deposit A/c) खोलने की विधि भी लगभग ऐसी ही है। जो व्यक्ति लेखा खोलना चाहता है उसे आवेदन-पत्र अपने नमूने के हस्ताक्षर के साथ देना पड़ता है जिसकी स्वीकृति एव राशि जमा करने के बाद उसे ग्राहक-पुस्तिका मिल जाती है। रुपया निकालते समय उसे डाकघर से प्राप्त होने वाला आहरण-पत्र भरना पड़ता है तथा अपने हस्ताक्षर नमूने के हस्ताक्षर के समान कर, यह पत्र ग्राहक-पुस्तिका के साथ देने से उसको राशि प्राप्त होती है एव ग्राहक-पुस्तिका में लिखी जाती है। इन लेखों में केवल प्रति सप्ताह दो बार राशि निकाली जा सकती है तथा सप्ताह में अधिकतम राशि निकालने की मर्यादा नियत होती है। इससे अधिक राशि की आवश्यकता पड़ने पर ग्राहक को पर्याप्त सूचना देनी पड़ती है। इन पर

चैक लिखने की सुविधा नही मिलती, परन्तु प्रयोग के लिए बडे शहरो मे हाल ही में चैक पद्धति का आरम्भ किया गया है।

बैंक ग्राहक की पूर्ण जानकारी एव सन्दर्भ प्राप्त कर लेने के बाद ही लेखा खोलता है। विशेष ग्राहकों के सम्बन्ध में वह विशेष सावधानी लेता है जैसे विवाहिता स्त्री कम्पनी, साझेदारी आदि।

साराश

बैंक जनता आदि से तीन प्रकार के निक्षेप स्वीकार करती हैं—१ चल निक्षेप, २ बचत-निक्षेप तथा ३ स्थायी-निक्षेप।

चल निक्षेप से बैंक के व्यापारिक समय मे राशि जमा करने एव निकालने के सम्बन्ध मे कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इन लेखो पर प्रथम श्रेणी के बैंक ब्याज नहीं देते और यदि देते हैं तो बहुत कम देते हैं। परन्तु यदि निश्चित राशि से कम राशि खाते मे हो जाय तो उस पर बैंक सयोगिक व्यय लेते हैं। इस लेखे के सम्बन्ध मे बैंक की सबसे अधिक जिम्मेवारी होती है क्योंकि ग्राहक कितनी भी राशि चैक से निकाल सकता है। चल-लेखा खोलने के लिए बैंक को प्रार्थनापत्र देना पडता है जिससे अपना व्यापार एव लेखे का प्रकार देना पडता है। इसके साथ ही बैंक ग्राहक से कुछ विश्वसनीय व्यक्तियों के सदर्भ भी लेता है जिनसे पूछताछ करने पर, यदि वह व्यक्ति ग्राहक बनाने योग्य हो, तो वह उसका लेखा खोलता है। ऐसी स्थिति मे लेखा खोलने के पूर्व वह अपने ग्राहक के नमूना-हस्ताक्षर लेता है तथा उसे तीन पुस्तकें देता है—पास बुक, चैक बुक तथा निक्षेप पर्ची। निक्षेप पर्ची भरकर राशि जमा की जाती है चैक से राशि निकाली जाती है तथा ग्राहक पुस्तिका मे ग्राहक का बैंक मे जो लेखा है उसकी प्रतिलिपि ग्राहक को दी जाती है। पास बुक को बैंक ने अत्यन्त सावधानी से लिखना चाहिए अन्यथा उसकी गलती से ग्राहक द्वारा अधिक राशि के चैक काटे जाने की दशा मे वह स्वय उत्तरदायी होगा। क्योंकि वह ग्राहक के नियमी चैकों का अनादरण नही कर सकता।

बचत निक्षेप लेखा—छोटी आय वाले व्यक्तियों के लिए यह अधिक उपयोगी है। इस पर ब्याज अधिक मिलता है तथा राशि निकालने के सम्बन्ध मे बैंक की शर्तों का पालन करना होता है, साधारणत सप्ताह मे १ या २ बार राशि निकालने की सुविधा रहती है। कुछ बैंक इन लेखो पर चैक काटने की तथा चैक आदि के सग्रहण की सुविधा भी देते हैं जिस दशा मे उनको चल लेखे की भाँति

ग्राहक से सन्दर्भ लेना आवश्यक होता है। अन्यथा आवेदन-पत्र, नमूने के हस्ताक्षर तथा प्रथम जमा राशि देने के साथ किसी व्यक्ति का लेखा बैंक मे खोला जा सकता है। ग्राहक द्वारा चैंक अथवा आदरण-पत्र से राशि निकालते समय बैंक उसके हस्ताक्षरो का मिलान नमूना हस्ताक्षरो से कर लेता है। इसमे भी बैंक से पास-बुक मिलती है।

स्थायी निक्षेप लेखा—साधारणत ६ मास से अधिक अवधि के लिए खोला जाता है। इस पर ब्याज की दर अवधि एव राशि के अनुसार बढती है जो साधारत ३ से ६% होती है। इस प्रकार राशि जमा करते समय ग्राहक को आवेदन देना पडता है तथा स्वीकृति होने पर उसे राशि जमा करने के बाद स्थायी निक्षेप रसीद मिलती है। अवधि समाप्त होने पर इस रसीद को लौटा कर वह राशि प्राप्त कर सकता है। अवधि के पूर्व राशि की आवश्यकता होने पर नियमानुसार सूचना देकर राशि वापिस ली जा सकती है, जिस दशा मे बैंक या तो ब्याज नहीं देते या कम ब्याज देते हैं।

डाकघर बचत लेखा खोलने मे भी इसी प्रकार की कार्यवाही करनी पडती है, परन्तु डाकघर बचत लेखो पर चैंक की सुविधाएं केवल कुछ बडे केन्द्रो के अलावा अन्यत्र नहीं हैं।

विशेष ग्राहकों के सम्बन्ध मे बैंकर को लेखा खोलते समय अधिक सावधानी की आवश्यकता होती है।

अध्याय १०

भुगतानकर्ता एवं संग्राहक बैंक

१ भुगतानकर्ता बैंक

बैंक मे ग्राहक का चल लेखा होने पर उसे अपने ग्राहक के सभी नियमित चैक उसके खाते मे पर्याप्त राशि होने पर, भुगतान करना पड़ते है। यह बैंकर की महत्वपूर्ण जिम्मेदारी है। बेचानसाध्य विलेख अधिनियम के अनुसार "भुगतानकर्ता बैंक के पास चैक लिखने वाले की पर्याप्त राशि यदि ऐसे चैको के भुगतान के लिए है तो ऐसा आदेश प्राप्त होते ही बैंक को उसका भुगतान करना चाहिए। अन्यथा भुगतान न करने पर लिखने वाले को जो हानि अथवा क्षति हो उसकी पूर्ति उसे करनी पड़ेगी।" (धारा ३१)। इसके अनुसार बैंक को निम्न शर्तों के अनुसार ग्राहक के चैको का भुगतान करना पड़ेगा —

(१) ग्राहक का बैंक मे खाता होना चाहिए जिस पर उसे चैक लिखने का अधिकार हो।

(२) उसके खाते मे चैक के भुगतान के लिए पर्याप्त धन होना चाहिए। यदि बैंक ने उसे अधिविकर्ष (overdraft) दिया हो तो अधिविकर्ष की राशि का भी सम्बन्ध होगा।

(३) चैक समुचित एव नियमित रूप मे होना चाहिए।

(४) बैंक के कार्यालय मे भुगतान की नियत अवधि मे तथा समुचित रीति से चैक उपस्थित होना चाहिए।

(५) चैक मे कोई अवैधानिकता न हो।

यदि उक्त बातो मे कोई भी दोष होता है तो बैंकर उस चैक का भुगतान नहीं करेगा। इसी प्रकार चैक के भुगतान के सम्बन्ध मे जो बाते रेखांकन, बचान आदि के सम्बन्ध मे देखी उनका भी बैंक को पालन करना पड़ता है।

ग्राहक उसके पास आये हुए चैक अपने बैंक को सग्रहण के लिए भेजता है तथा उनकी राशि पर चैक लिखता है। ऐसे चैक लिखने के पूर्व ग्राहक को चाहिए कि वह उन चैको के सग्रहण के लिए बैंकर को पर्याप्त समय दे अन्यथा उसके चैको का अनादरण करने पर उसकी जिम्मेदारी बैंकर पर नहीं होगी।

संग्रहण के लिए आये हुए साखपत्रों की राशि बैंकर ग्राहक के खाते में तब तक जमा (credit) नहीं करता जब तक उनकी राशि बैंकर को न मिले। यदि बैंकर ऐसे साखपत्रों की राशि प्राप्त करने के पूर्व ही ग्राहक के खाते में जमा कर देता है और ग्राहक उस राशि को निकाल लेता है, फिर यदि बैंकर को उनमें से किसी साखपत्र का भुगतान नहीं मिलता तो वह हानि उसे भुगतनी पड़ेगी। ग्राहक के विरुद्ध वह कोई वैधानिक कार्यवाही नहीं कर सकेगा।

अतः ग्राहक को उक्त शर्तों का पूर्ण रूप से पालन करना चाहिए। साधारणतः बैंक को भुगतान करते समय निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए —

१. चैक खुला है अथवा रेखांकित है, तथा रेखांकन सामान्य अथवा विशेष है क्योंकि रेखांकन के भी भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। रेखांकन के अनुसार बैंक यदि चैक का भुगतान नहीं करता तो वह स्वयं उस चैक की राशि के लिए उत्तरदायी होगा।[1]

२. **जहाँ चैक उपस्थित किया गया है उसी शाखा पर वह लिखा गया है अथवा नहीं ?**—सामान्यतः कोई भी ग्राहक बैंक की जिस शाखा में लेखा है उस शाखा के सिवा अन्य शाखा पर चैक नहीं लिख सकता। किन्तु यदि ऐसा विशेष अधिकार ग्राहक को हो तो बैंक को उन चैकों का भुगतान करते समय ऐसे अधिकार का ध्यान रखना चाहिए। क्योंकि इस दशा में उसका अधिकार एवं उत्तरदायित्व वही होता है जैसा कि ग्राहक के लेखे वाली शाखा पर चैक लिखा गया हो।

३. **विकृत, वीतकालीय, पूर्वतिथीय (ante dated) अथवा उत्तरतिथीय चैक**—इस सम्बन्ध में हम पर्याप्त विवेचन कर चुके हैं। वीतकालीय चैक का भुगतान बैंक ग्राहक की अनुमति प्राप्त करने पर ही कर सकता है अन्यथा उसे 'वीतकालीय' लिखकर लौटा देना चाहिए।

उत्तरतिथीय चैक का भुगतान बैंक को चैक की तिथि के पहले नहीं करना चाहिए। यदि वह चैक की तिथि के पहले उसका भुगतान करता है और ग्राहक दिवालिया हो जाता है तो बैंक ग्राहक से वह राशि वसूल नहीं कर सकता।

४. **चैक का नियमी (सही) रूप में होना**—चैक का जो स्वरूप हम बता चुके हैं उसी रूप में वह लिखा हुआ है यह देख लेना चाहिए। उसका भुगतान नहीं करना चाहिए।

---

[1] बेचानसाध्य विलेख अधिनियम, धारा १२६, १२७ और १२८।

५ ग्राहक के हस्ताक्षर—चैक लिखने वाले के हस्ताक्षर जाली नहीं हैं, *यह भी पूर्ण सावधानी से नमूने के हस्ताक्षर के आधार पर देख लेना चाहिए।*

क्योंकि जाली चैकों का भुगतान होने पर उनकी राशि में बैंक ग्राहक का लेखा डेबिट नहीं कर सकता, जब तक वह यह सिद्ध न कर दे कि जाली चैक के लिए ग्राहक ही जिम्मेदार है अथवा ग्राहक की असावधानी से जाली चैक निकाला गया है।

६ राशि मे अन्तर—किसी भी प्रकार से चैक के अंकों तथा शब्दों में लिखी हुई राशि में अन्तर नहीं होना चाहिए। यदि इनमें अन्तर है तो बैंक ऐसे चैक को "राशि भेद" लिखकर लौटा देते हैं।

७ चैक में किसी प्रकार से महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं है, और यदि ऐसे परिवर्तन है तो उनके लिए लिखने वाले के पूर्ण हस्ताक्षर किये गये हैं। यदि ऐसे परिवर्तनों के लिए ग्राहक के हस्ताक्षर नहीं है तो बैंक ऐसे चैकों का भुगतान नहीं करेगा तथा उन्हें "महत्वपूर्ण परिवर्तन अन हस्ताक्षरित" लिखकर लौटा देगा।

८. सही बेचान—*चैक पर बेचान नियमित रूप में है यह भी देख लेना होगा। वाहक चैकों* पर विशेष बेचान होते हुए भी उनका भुगतान वाहक चैकों की तरह ही किया जायगा। बेचानसाध्य विलेख अधिनियम (धारा ८५ (२)) के अनुसार "यदि एक चैक मूलत वाहक को देय है, तो उसका यथाविधि भुगतान करने पर देन वाला उन्मुक्त (discharge) हो जाता है। इसका किसी भी प्रकार से ध्यान रखने की आवश्यकता नहीं कि उस पर बेचान सामान्य है अथवा विशेष तथा बेचान का तात्पर्य आगे बेचान रोकने का है अथवा सीमित करने का।"[1] आदेश चैकों पर बेचान ठीक एवं नियमित रीति से होना चाहिए, अन्यथा बैंक ऐसे चैक "अनियमित बेचान" लिखकर लौटा देते हैं।

यथाविधि भुगतान[2]—'*यथाविधि भुगतान* वह भुगतान है जो पूर्ण *विश्वास के साथ बिना किसी उपेक्षा के विलेख के* स्पष्ट स्वरूप (Tenor) के अनुसार जिसके पास वह विलेख है ऐसे किसी भी व्यक्ति को ऐसी स्थिति में किया गया हो जिसमें यह विश्वास करने के लिए कोई भी आधारभूत कारण न हो कि उसकी (विलेख की) राशि का भुगतान प्राप्त करने का वह अधिकारी नहीं है।' इस परिभाषा के अनुसार—

१ उस विलेख पर पक्षकारों के सुभावों के अनुसार भुगतान हो।

---

1 *Sec 85 (2), Negotiable Instruments Act, 1881.*
2 *Sec 10, Negotiable Instruments Act, 1881*

२ यह भुगतान पूर्ण विश्वास सहित एवं बिना किसी प्रकार की उपेक्षा के हो।

३ भुगतान उस व्यक्ति को हो जिसके पास विलेख हो।

४ यह विश्वास करने के लिए कोई आधारभूत कारण न हो कि उस व्यक्ति को भुगतान प्राप्त करने का अधिकार नहीं है।

यदि उक्त बातें विलेख में हैं तो बैंक द्वारा किया गया भुगतान **यथाविधि भुगतान** होगा। इस परिभाषा के अनुसार किसी भी विशेष रेखित चैक का भुगतान किसी बैंक के द्वारा न देकर हुए खिड़की (counter) पर देना यथाविधि भुगतान नहीं होगा। इसी प्रकार उत्तरतिथीय चैक का भुगतान तिथि के पूर्व करना अथवा बीतकालीय चैक (stale cheque) का भुगतान ग्राहक की सम्मति बिना करना यथाविधि भुगतान नहीं होगा।

चैकों को लौटाते समय—बैंक भुगतान न करने का कारण देते हैं। ऐसे कारण प्रत्येक चैक पर अलग-अलग लिखने के स्थान पर वे सब कारणों की एक मुद्रित पर्ची रखते हैं। जिस कारण से चैक लौटाया जाता है उस कारण के अंक पर यह चिह्न (√) लगा देते हैं। इस हेतु निम्न शब्दों का प्रयोग होता है।

१ R D (Refere to drawer) लखीवाले से पूछिए—

२ E N C (Effects not cleared) संग्रहण नहीं हुआ।

३ N S F (Not Sufficient Fund) अपर्याप्त राशि।

४ W & F D (Words & Figures differ) राशि में अन्तर।

५ E I (Endorsements Irregular) अनियमित बेचान।

६ D D (Drawer Deceased) मृत लखीवाला।

७ N A (No Account) लेखा नहीं है।

८ Post-dated or Stale Cheque उत्तरतिथीय या बीतकालीय चैक।

९ Drawer s Signatures Differ लखीवाले के हस्ताक्षर में अन्तर।

१० Endorsement requires confirmation बेचान का प्रमाण आवश्यक।

११ Material alteration not confirmed महत्त्वपूर्ण परिवर्तन अन हस्ताक्षरित।

अभी तक अंग्रेजी का प्रयोग ही बैंक-व्यवहारों में होने के कारण अंग्रेजी शब्द प्रयोग ही दिये गये हैं तथा उनका हिन्दीकरण भी दिया गया है।

बैंक की जिम्मेदारी—चैकों का भुगतान करते समय बैंक को उक्त बातों की विशेष सावधानी रखनी पड़ती है अन्यथा गलत भुगतान का दायित्व उस पर आता है। ऐसे गलत भुगतान किये हुए चैक की राशि से वह ग्राहक का

लेखा डेबिट नही कर सकता । किन्तु यदि ग्राहक की असावधानी के कारण चैक का वह यथाविधि भुगतान कर देता है तो उसकी जिम्मेदारी ग्राहक की होगी। इसी प्रकार जाली चैक बैंक को भुगतान के लिए उपस्थित हो रहा हो तथा इसका ज्ञान ग्राहक को हो तो उसे बैंक को सूचना देनी चाहिए अन्यथा ग्राहक का दायित्व रहेगा। यही बात महत्वपूर्ण परिवर्तनों की है। इसलिए बैंक को चैको का भुगतान करते समय पूर्ण सावधानी से काम लेना पडता है क्योंकि वह ऐसी कैंची में फँसता है जिसमें एक ओर असावधानी से अनादरण करने पर वह ग्राहक की हानि-पूर्ति के लिए तथा दूसरी ओर दोषपूर्ण चैको का भुगतान होने पर स्वय जिम्मेदार होता है।

बैंक ग्राहक के चैको का भुगतान कब रोक सकता है ?—बैंक ग्राहक के चैको का भुगतान बिना किसी दायित्व के निम्न परिस्थितियों में रोक सकता है —

(अ) भुगतान रोकने के लिए ग्राहक का आदेश हो।

(ब) आहर्ता की मृत्यु, दिवालियापन एव पागलपन—इन बातों की सूचना पाते ही बैंक को ग्राहक के किसी भी चैक का भुगतान रोकने का अधिकार है। किन्तु ग्राहक की मृत्यु की सूचना यदि बैंक को न मिली हो तो ग्राहक द्वारा मृत्यु के पूर्व लिखे गये चैको का भुगतान वह कर सकता है तथा उस राशि को वह ग्राहक के लेखे में डेबिट कर सकता है। इसी प्रकार ग्राहक के पागल होने के पूर्व लिखे हुए चैको का भुगतान भी वह सूचना पाने के पूर्व कर सकता है।

(स) न्यायालयीन आदेश (Garnishee's Order)—यदि किसी ग्राहक के विरुद्ध उसके लेखे को बन्द करने का न्यायालय से आदेश प्राप्त होता है तो उस दिन से बैंक को उसके चैको का भुगतान रोक देना चाहिए।

(द) यदि बैंक को यह ज्ञान हो कि चैक उपस्थित करने वाला व्यक्ति उसका स्वत्वधारी स्वामी नही है तो चैक का भुगतान रोक देना चाहिए।

(य) यदि ग्राहक अपने लेखे को किसी अन्य व्यक्ति के नाम हस्तान्तरित करता है एव उसका ज्ञान बैंक को हो जाता है अथवा सूचना आ जाती है।

(ज) ग्राहक किसी संस्था का प्रन्यासी होने के नाते, प्रन्यास लेखे का निजी कार्यों के लिए उपयोग कर रहा है तो बैंक उसके चैको का भुगतान रोक सकता है।

२ सग्राहक बैंक

ग्राहक द्वारा उसके नाम आये हुए चैको के सग्रहण की वैधानिक जिम्मेदारी बैंक की न होते हुए भी ग्राहक के चैक बिल आदि का सग्रहण बैंक करता है।

यह काय वह ग्राहक के अभिकर्ता क नात करता है। सग्राहक बक क नात उसका कुछ विशेष जिम्मेदारी हानी ह।

(१) बक जब ग्राहक क नाम क रखाकित चैका का सग्रहण करता है तथा बाद म यह ज्ञात हाता है कि उस चैक पर जाली बचान है ता बक उस चैक के स्वत्वधारी स्वामी के प्रति उत्तरदायी हाता है। क्याकि वह चक का स्वत्वधारी स्वामी नही हाना। किन्तु एस चैक का रुपया वह अपन ग्राहक स प्राप्त करन का अधिकारी होता है क्योकि बक केवल अन्तिम बचानकर्ता स हा हानि-पूर्ति ल सकता है।

(२) यदि बक अपन ग्राहक क लिए किसी दूसर व्यक्ति क नाम क चक सग्रहण करता है ना वह राशि उस अन्य व्यक्ति का दनी पडेगी। क्याकि खुला चक हान क नात उसका अपन ग्राहक स अच्छी उपाधि नहा मिल सकती।

(३) खुल चैका का भुगतान धारी द्वारा भुगतानकर्ता बक म प्राप्त किया जा सकता है। उनका भुगतान किसी बक द्वारा हा हाना चाहिए एसा कोई बधन न होन स बक का खुल चका क सग्राहक के नात काई भी वैधानिक सरक्षण नही है। परन्तु रेखाकित चैका के लिए सग्राहक बक पूण रीति स सुरक्षित है यदि वह पूण विश्वास के साथ एव बिना किसा उपक्षा क सग्रहण करता है तथा एसा सग्रहण कवल ग्राहका के लिए ही किया जाता है। यदि बक सग्रहण के लिए आय हुए चको का स्वीकार करन क पूव उनक बचान का प्रमाणित नही कर लता अथवा रखाकन के अनुसार काय नहा करता अथवा जिन चका का पान वाला ग्राहक न होन हुए अन्य व्यक्ति है ना बक उपक्षा स काय करता हुआ समझा जायगा। इसलिए बक का अपना पूण वधानिक सुरक्षा की दृष्टि स कवल उन्हीं रखाकित चैका का पूण विश्वास एव बिना किसी प्रकार की उपक्षा क सग्रहण करना चाहिए जिनम ग्राहक पान वाला है जिसस उस बचानसाध्य विलम्ब अधिनियम (धारा १३१) म सरक्षण मिल। इसी प्रकार यदि सग्रहण के लिए प्राप्त चैका का अनादरण हाना है उस अपन ग्राहक को तुरन्त सूचना देना चाहिए जिसस वह बक के अन्य सम्बन्धित पक्षा स चैक की राशि प्राप्त कर सक।

बिलों का सग्रहण—ग्राहक स सग्रहण क लिए प्राप्त बिला क सम्बन्ध म ग्राहक का स्वत्व एव उपाधि दोषरहित है यह बक का जान लना चाहिए। ग्राहक की दोषपूण उपाधि होन पर बक उस बिल क स्वत्वधारी स्वामी क प्रति जिम्मेदार होगा क्योकि बिला क सग्रहण की जिम्मेदारी स मुक्त हान क लिए

उसे कोई भी वैधानिक संरक्षण नहीं है। संग्राहक बैंक को स्वीकृति या भुगतान के लिए बिलों को यथाविधि उपस्थित करना होगा। साथ ही उनके अनादरण की सूचना तत्काल ही सम्बन्धित ग्राहकों को देना चाहिए जिसमे वह अपनी जिम्मेदारी से मुक्त हो सके।

साराश

भुगतानकर्ता बैंक के पास यदि चैक लिखने वाले की पर्याप्त राशि है तो बैंक को चैक आते ही भुगतान करना चाहिए। अन्यथा भुगतान न करने से ग्राहक की हानि पूर्ति के लिए वह उत्तरदायी होगा। इस हेतु उपस्थित किया गया चैक सही रूप मे तथा यथाविधि उपस्थित किया जाता चाहिए। इसमे किसी प्रकार का दोष होने पर बैंक भुगतान नही करेगा। चैक भुगतान करते समय बैंक को निम्न बातें देख लेनी चाहिए—

चैक रेखांकित या खुला है, जिस शाखा पर वह उपस्थित किया है उसी पर लिखा गया हो, विकृत बीतकालीन या उत्तरतिथीय न हो, बैंक का प्रपत्र सही हो, महत्वपूर्ण परिवर्तन ग्राहक के हस्ताक्षर सहित हो, ग्राहक के हस्ताक्षर जाली न हों, शब्दों एव अंकों मे लिखित राशि मे अन्तर न हो तथा बेचान सही हो।

यथाविधि भुगतान उसे कहेगे जिसमे चैक आदि का भुगतान,

(१) विलेख पर पक्षकारो के सुझावो के अनुसार भुगतान हो,

(२) भुगतान पूर्ण विश्वास सहित एव बिना किसी उपेक्षा के से,

(३) भुगतान उस विलेख के धारी हो,

(४) यह विश्वास करने के लिए कोई कारण न हो कि विलेख के धारक को भुगतान लेने का अधिकार नही है।

चैकों का भुगतान किसी दोष के कारण न करने की दशा मे बैंक उसका कारण देते हैं जिसके छपे हुए फार्म बैंक के पास होते हैं। कारणो की सूची सक्षेप मे होती है तथा सम्बन्धित कारण पर बैंक चिह्न लगा देता है।

बैंक की जिम्मेदारी—चैक के गलत भुगतान होने पर बैंक जिम्मेदार रहता है अतः उसे उक्त बातो को ध्यान मे रखकर ही चैकों का भुगतान करना चाहिए। अन्यथा गलत भुगतान से वह ग्राहक का लेखा (debit) नहीं कर सकता। ग्राहक की असावधानी से गलत चैक का यथाविधि भुगतान किसी गलत व्यक्ति को होने पर बैंक जिम्मेदार न होते हुए ग्राहक ही जिम्मेदार होगा।

निम्न दशाओ मे बैंक ग्राहक के चैको का भुगतान बिना किसी जिम्मेदारी के रोक सकता है—

(१) ग्राहक के आदेश से, (२) आहर्ता ग्राहक की मृत्यु दिवालियापन या पागलपन की सूचना मिलने पर, (३) न्यायालय से आदेश मिलने पर, (४) चैक उपस्थित करने वाला उसका स्वत्वधारी स्वामी न होने पर उसकी सूचना या जानकारी बैंक को हो, (६) ग्राहक प्रन्यासी होने के नाते प्रन्यास लेखे का निजी कार्य के हेतु उपयोग करता हो तो।

संग्राहक बैंक—(१) जाली बेचानवाले चैको का संग्रहण करने के बाद यदि उसका स्वत्वधारी स्वामी उस राशि पर अधिकार प्रमाणित करे तो बैंक उत्तरदायी होगा। किन्तु उसका रुपया वह ग्राहक से वसूल कर सकता है।

(२) खुले चैको का संग्रहण करने पर बैंक उसके स्वत्वधारी स्वामी के प्रति दायी होगा क्योकि इस स्थिति मे उसे वैधानिक संरक्षण नहीं है।

इसलिए बैंक को खुले चैको का संग्रहण नहीं करना चाहिए। बिलो के संग्रहण के सम्बन्ध मे उसे कोई वैधानिक संरक्षण नहीं है अत उसे बिलो का संग्रहण करते समय ग्राहक का साख दोष रहित है, यह देख लेना चाहिए।

अध्याय ११

केन्द्रीय बैंक

केन्द्रीय बैंक देश की मुद्रा एव साख का समुचित सम्बन्ध स्थापित कर देश हित में साख-नियन्त्रण द्वारा देशी एव अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यो म स्थिरता रखती है। यह देश के बैंकिंग विकास का अपनी नीति द्वारा सुरक्षित एव सगठित बनाती है तथा भिन्न भिन्न प्रकार के बैंको का आपस मे सगठन एव सहकार्य बढ़ाती है। अत. स्पष्ट है कि केन्द्रीय बैंक के कार्य अन्य सब बैंको से भिन्न एव महत्वपूर्ण है, इसलिए इसे देश के मौद्रिक एव बैंकिंग ढाँचे का प्रमुख अग माना जाता है। केन्द्रीय बैंक यह कार्य समुचित रूप से कर सके, इसलिए उसे कुछ विशेष अधिकार भी होते है, जैसे पत्र मुद्रा का एकाधिकार, सरकारी कोषो को रखना, सरकार की ओर स मुद्रा सम्बन्धी कार्यों पर देख-रेख, राष्ट्रीय निधि एव बैंको की निधि वैधानिक अनुपात म अपन पास रखना, तथा सकट-काल मे बैंको को आर्थिक सहायता देना।

जब जहाँ देश हित एव बैंकिंग विकास के लिए इस बैंक को विशेष अधिकार दिये जाते हैं वहा उस पर नियन्त्रण भी आवश्यक है जिससे विशेषाधिकारो का दुरुपयोग न हो। श्री सेयर्स के अनुसार केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य लाभ कमाना न होते हुए जनता एव देश हित की सुरक्षा करना है। इसी हेतु व्यापारिक बैंको पर नियन्त्रण करने का अधिकार इसे है, उनसे स्पर्धा करने के लिए नहीं। तीसरे, सरकार के अधिकार अथवा नियन्त्रण मे होन से सरकारी मौद्रिक नीति को सफल बनाना भी इसका लक्ष्य होना चाहिए।[1]

सरकार और केन्द्रीय बैंक

केन्द्रीय बैंक सरकारी मौद्रिक नीति की सफलता के हेतु साख और मुद्रा का देश-हित के लिए समुचित सम्बन्ध स्थापित करता है और साख एव मुद्रा का नियन्त्रण करता है। इसलिए इस बैंक को सरकारी आदेशानुसार कार्यवाही करनी पडती है। इसीके साथ यदि केन्द्रीय बैंक सुव्यवस्थित हो एव योग्य

---

1 *Modern Banking* by Sayers

व्यक्तियों के हाथ मे उनका सचालन हो तो देश की मौद्रिक एव आर्थिक नीति बनाने मे इसका बहुत बडा हाथ होता है । अतः सरकार और केन्द्रीय बैंक दोनो मे आर्थिक अथवा मौद्रिक समस्याओ पर मतभेद होना राष्ट्र के लिए अहितकर होता है । क्योकि यह मतभेद तभी हो सकता है जब सरकार अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बैंकिंग सिद्धान्तों के विरुद्ध कार्यवाही करे जो बैंकिंग एव मौद्रिक विकास की दृष्टि से हानिकर हो । फिर भी केन्द्रीय बैंक को सरकार के आधीन होने से सरकारी आदेशो का पालन करना होता है ।

केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता—बैंक साख-निर्माण करते हैं जिसका देशहित मे नियन्त्रण होना अधिक आवश्यक है । किन्तु यह नियन्त्रण कौन करे ? साधारणतः प्रत्येक बैंक अपनी सुरक्षा की दृष्टि से साख का निर्माण उसी सीमा तक करता है जिससे उसकी रोकड-निधि पर्याप्त रह तथा उसे सकट-काल मे रोकड की कमी न रह । फिर भी इस कार्य में यदि प्रत्येक बैंक को पूरी स्वतन्त्रता रह तो वह लाभ के मोह से सुरक्षा की ओर दुर्लक्ष कर सकता है । इससे उस बैंक के साथ ही अन्य बैंको का अस्तित्व भी खतरे में पड सकता है । अतः किसी विशेष सस्था द्वारा साख का नियन्त्रण होना आवश्यक है । यह सस्था बैंक ही हो सकती है क्योंकि जनता की साख सम्बन्धी आवश्यकताएँ वह सही-सही आँक सकती है । जो बैंक यह कार्य करती है उसे केन्द्रीय बैंक कहते है । इसका महत्वपूर्ण कार्य देश की बैंकिंग सस्थाओ एव साख पर नियन्त्रण करना होता है । इस प्रकार केन्द्रीय बैंक देश की रोकड निधि के केन्द्रीकरण से साख का निर्माण भी बढाती है । क्योकि केन्द्रीय बैंक के अभाव मे प्रत्येक बैंक को अपनी स्वतन्त्र निधि रखनी पडती है । इसमे से आवश्यकता पडने पर कोई भी राशि किसी भी बैंक को दी जा सकती है एव समय पडने पर दी जाती है । इससे देश की निधि की राशि मे बचत कर मुद्रा की गति बढती है ।

उक्त लाभो की दृष्टि से केन्द्रीय बैंक देश के बैंकिंग कलेवर की सुरक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है, जिसका महत्व आधुनिक मौद्रिक जगत में पूर्णतः प्रमाणित हो गया है ।

केन्द्रीय बैंक के कार्य

१ बैंको का बैंकर—देश के अन्य बैंक जनता को जो कार्य एव सुविधाएँ देते हैं वही केन्द्रीय बैंक अन्य बैंको को देता है । इसलिए यह केन्द्रीय बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य है । केन्द्रीय बैंक अन्य बैंको के निक्षेप स्वीकार करता है जिन पर ब्याज नही दिया जाता । इसी प्रकार बैंको को वह राशि के स्थाना-

न्तरण (remittances) की सुविधाएँ देता है जिसे वह सस्ते दरों पर करता है तथा पुनः कटौती की सुविधाएँ देकर अन्य बैंकों को सारा अथवा प्रतिभूतियों की जमानत पर ऋण आदि देता है जो बैंकों के लिए संकट-काल में अधिक उपयोगी होते हैं। इसलिए केन्द्रीय बैंक को अन्तिम ऋण-दाता (lender of the last resort) भी कहते हैं। साथ ही बैंकिंग कलेवर की सुरक्षा के लिए अथवा लाभ के लोभ से साख का निर्माण अधिक न हो, इसलिए वह माँग एवं काल देनदारीय का कुछ अनुपात अपने पास रखने के लिए अन्य बैंकों पर वैधानिक बन्धन डालता है। इस अनुपात में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सकता है। इस प्रकार निधि रखने का बन्धन संयुक्त राष्ट्र अमेरिका तथा भारत में है किन्तु इंगलैंड में कोई वैधानिक बन्धन नहीं है।

२. पत्र-मुद्रा चलाने का एकाधिकार (Monopoly)—देश की पत्र-मुद्रा चलाने का एकाधिकार इस बैंक को होता है जिससे वह मुद्रा को आवश्यकतानुसार घटा-बढ़ा सके। आजकल बहुधा सब देशों में पत्र मुद्रा का एकाधिकार वहाँ के केन्द्रीय बैंक को ही है। इस अधिकार के कारण देश की साख का समुचित नियन्त्रण करने में सुविधा होती है क्योंकि मुद्रा एवं साख का घनिष्ठ सम्बन्ध होने से उनका नियन्त्रण तभी प्रभावशाली हो सकता है जब मुद्रा एवं पत्र-मुद्रा-चलन का अधिकार एक ही संस्था के हाथ में हो। इस प्रकार साख के समुचित नियन्त्रण से देश के मूल्य-स्तर का नियमन किया जा सकता है।

३ साख का नियन्त्रण—केन्द्रीय बैंक की स्थापना का मूल ध्येय साख का समुचित नियन्त्रण रहा है। साख का नियन्त्रण केन्द्रीय बैंक तीन प्रकार से करता है—बैंक-दर की कमी एवं वृद्धि से, खुली बाजार क्रियाओं (open market operations) से, तथा निधि अनुपात के परिवर्तन (alteration of the reserve ratios) से। इसका विवेचन आगे होगा।

४ सरकार का बैंकर—सरकार की ओर से सरकारी कोषों की व्यवस्था रखना, भुगतान करना, राशि प्राप्त करना तथा सरकार को अन्य मौद्रिक सुविधाएँ देना आदि भी इस बैंक का एक कार्य है। सरकार द्वारा जो ऋण-पत्र अथवा कोष विपत्र आदि निकाले जाते हैं उनका निगमन एवं भुगतान यही करता है। सरकार की ओर से कर आदि वसूल करना, ऋणाएवं व्याज का भुगतान करना अथवा देश एवं विदेशों के मौद्रिक व्यवहार (monetary transactions) यही बैंक करती है। इन कार्यों को करने से मुद्रा एवं साख का समुचित संकुचन एवं प्रसार करने में केन्द्रीय बैंक को सहायता मिलती है।

५ **आंतरिक एवं विदेशी विनिमय दर मे स्थिरता रखना**—आन्तरिक एवं विदेशी विनिमय दर म स्थिरता रखने की जिम्मेदारी भी केन्द्रीय बैंक पर होती है। इसके अनुसार विदेशी विनिमय के लिए विदेशी विनिमय अथवा स्वर्ण म देशी मुद्रा का निश्चित दरो पर परिवर्तन करने का एकाधिकार इसे होता है। इसी दर पर देश के अन्य विनिमय बैंक देशी मुद्रा का स्वर्ण अथवा विदेशी विनिमय म परिवर्तन करने के लिए बाध्य होते है। इस कार्य से विदेशी विनिमय दर म स्थिरता रहती है। दूसरे, आवश्यकतानुसार मुद्रा एवं साख का नियन्त्रण कर आन्तरिक मूल्यो म स्थिरता रखने की जिम्मेदारी भी इसी बैंक की होती है।

६ **सरकारी मौद्रिक नीति को सफल बनाना**—वह अपनी विभिन्न क्रियाओ द्वारा सरकारी मौद्रिक नीति को सफल बनाने म प्रयत्नशील रहता है। जहा तक अन्य बैंको का सम्बन्ध है वह उनकी क्रियाओ का नियन्त्रण बैंक-दर से करता है एवं उनमे परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करता है। क्योकि बैंक दर को घटाने-बढाने से वह मुद्रा मडी की ऋण राशि पर प्रभाव डालता है। उदाहरणार्थ अगर केन्द्रीय बैंक बैंक दर बढ़ा दे तो अन्य बैंक उससे कम ऋण लेंगे जिससे उनकी ऋण अथवा साख निर्माण शक्ति सकुचित होगी। इसके विपरीत यदि बैंक-दर कम की जाय तो अन्य बैंक केन्द्रीय बैंक से अधिक ऋण ले सकेगे जिससे उनकी साख निर्माण शक्ति भी बढ़ेगी।

७ **समाशोधन गृह की सुविधा देना**—केन्द्रीय बैंक देश की बैंको को समाशोधन गृह की सुविधाए देता है जिससे रोकड के हस्तान्तरण बिना ही उनका आपसी भुगतान हो जाता है।

८ **देश के धातु-कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष रखना**—देश की पत्र मुद्रा की सुरक्षा के लिए धातु-कोष तथा विदेशी विनिमय दर की स्थिरता के लिए विदेशी मुद्राओ का कोष रखने की जिम्मेदारी इसी बैंक पर होती है।

केन्द्रीय बैंक के कार्यो के सम्बन्ध म अर्थशास्त्रियो म एकमत नही है। प्रो० प्रग के अनुसार केन्द्रीय बैंक के विशेष कार्यो का उल्लेख तीन भागो म किया जा सकता है। वे सरकार के आर्थिक अभिकर्ता का कार्य करते है। पत्र मुद्रा-चलन का सम्पूर्ण अथवा अपूर्ण एकाधिकार होने म इनको चलाने व नियन्त्रण की बडी शक्ति होती है। अन्तिम रूप म अन्य बैंको के कोष का एक बहुत बडा भाग केन्द्रीय बैंको के पास होने म वे साख के सम्पूर्ण कनवर के आधार के लिए जिम्मेदार होते है। और यह कार्य केन्द्रीय बैंको का अधिक

महत्वपूर्ण कार्य है।" इसी प्रकार बैंक ऑव इङ्गलैंड के गवर्नर ने शाही समिति (Royal Commission on Indian Currency & Finance, 1926) के सामने गवाही देते हुए केन्द्रीय बैंक के निम्न कार्य बताये थे—"उसको पत्र-चलन का एकाधिकार होना चाहिए, वह विधिग्राह्य चलन का प्रसार करने अथवा उसे चलन से निकालने का एकमात्र अधिकारी होना चाहिए। सरकारी कोषों का सधारक भी वही होना चाहिए, तथा देश की अन्य सब बैंकों की शाखाओं के शेष धन का वही धारी होना चाहिए। वह अभिकर्ता होना चाहिए जिसके द्वारा सरकार को देशी एवं विदेशी आर्थिक क्रियाएँ की जायें। इसीके साथ आन्तरिक एवं विदेशी मूल्यों में स्थिरता लाने के हेतु समुचित रीति से यथा सम्भव मुद्रा सकुचन एवं प्रसार कार्य भी केन्द्रीय बैंक को करना चाहिए। आवश्यकता के समय वही एकमेव स्रोत होना चाहिए जिससे सरकारी प्रतिभूतियों अथवा मान्य अल्पकालीन प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण प्राप्त किये जा सकें अथवा मान्य बिलों की कटौती से सकटकालीन साख प्राप्त की जा सके। कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार केन्द्रीय बैंक का महत्वपूर्ण कार्य देश की साख-व्यवस्था का सगठन करना है।

परन्तु इन विभिन्न कार्यों के होते हुए भी केन्द्रीय बैंक का कोई एक ही कार्य महत्वपूर्ण है यह कहना ठीक न होगा। क्योंकि उक्त सब कार्य समान महत्व के एवं परस्पर निर्भर हैं तथा उसको ये सब क्रियाएँ देश एवं जनता के हित में करनी चाहिए, अपने लाभ की दृष्टि से नहीं और न अन्य बैंकों से प्रतिस्पर्धा करने की दृष्टि से। इसी हेतु केन्द्रीय बैंक ऐसा कोई कार्य नहीं कर सकता जो देश के अन्य बैंक करते हैं। उदाहरणार्थ, जनता से निक्षेप स्वीकार करना, ऋण देना अथवा उनको कटौती की सुविधाएँ देना आदि। परन्तु यदि देश की बैंकिंग प्रणाली को शक्तिशाली बनाने और अपने कार्यों की सफलता के लिए ऐसा किया जाय तो वह वाछनीय होगा।

केन्द्रीय बैंक द्वारा साख-नियन्त्रण—साख नियन्त्रण का अर्थ है साख की पूर्ति का व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार सन्तुलित समायोजन। यदि व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार साख का समायोजन नहीं होता तो मूल्य स्तर या तो गिरते हैं या बढते हैं। जैसे यदि साख की आवश्यकता कम होने हुए मुद्रा-मण्डी में साख अधिक होती है तो मूल्य स्तर बढता है जिसका प्रभाव उत्पादन पर होता है। इसके विपरीत यदि मुद्रा मडी में आवश्यकता से कम साख रहती है तो मूल्य-स्तर गिरने लगता है तथा उत्पादन कार्यों में शिथिलता

आती है। अत साख का आवश्यकतानुसार सकुचन एव प्रसार ही राष्ट्र के लिए लाभकर है। इसीलिए वर्नार्ड शॉ ने कहा है कि केन्द्रीय वैंक की एक ही क्रिया सबसे आवश्यक है, और वह है देश की साख-व्यवस्था का सगठन कर देश की मौद्रिक आवश्यक्ताओ की पूर्ति करना। साख-नियन्त्रण के ये मुख्य उद्देश्य हैं—आन्तरिक मूल्यो मे स्थिरता लाना, विनिमय दर को स्थायी रखना, उत्पादन कार्य एव रोजगारी मे स्थिरता लाना, तथा देश की स्वर्ण-निधि को बाहर जाने स अथवा आन्तरिक व्यय होन से बचाना।

किन्तु साख-नियन्त्रण मे केन्द्रीय वैक पूर्णत सफल नही हो मकता। क्योकि साख केवल वैक द्वारा ही प्राप्त न होते हुए व्यापारिक कार्यो मे भी निर्मित होती है, जैसे विनिमय-बिल आदि। इस प्रकार की व्यापारिक साख का नियन्त्रण केन्द्रीय वैंक नही कर सकता। दूसरे, जिन देशो मे ऐसी सस्थाएँ हैं जो केन्द्रीय वैंक के नियन्त्रण मे नही है, उन सस्थाओ द्वारा निर्मित साख पर केन्द्रीय वैक नियन्त्रण नही कर सकता। जैसे भारत मे स्वदेशी वैंकर जो यहाँ ६० प्रतिशत साख का निर्माण अपने ऋण-कार्यों द्वारा करते हैं। इन पर रिजर्व वैक का कोई नियन्त्रण नही है।

साख-नियन्त्रण के साधन

१ बैंक-दर (Bank Rate)—इसको हम कटौती (discount rate) दर भी कह सकते हैं। यह वह दर है जिस पर केन्द्रीय वैंक अन्य व्यापारिक वैंको को विलो के पुन कटौती (re-discounting) की सुविधाएँ अथवा जिस दर पर प्रतिभूतियो की जमानत पर ऋण देता है। यह दर वाजार-दर से भिन्न होती है जो बहुधा वैंक-दर मे कम होती है। वाजार-दर उस दर को कहते हैं जिस पर अन्य ऋण देने वाली सस्थाएँ मुद्रा मण्डी मे विलो की कटौती करती हैं अथवा ऋण देती है। इन दोनो ही दरो का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जब वैंक-दर बढा दी जाती है उस समय वाजार-दर भी बढ जाती है। इसी प्रकार वैंक-दर के कम होने पर वाजार दर भी कम हो जाती है। वैंक-दर मे कमी अथवा वृद्धि करने से मुद्रा की माँग एव पूर्ति प्रभावित होती है। यदि वैंक-दर बढा दी जाय तो उसके साथ बाजार दर भी बढ जायगी तथा जो व्यापारी अथवा ऋण लेने वाले व्यक्ति हैं वे कम ऋण लेंगे तथा अपनी अतिरिक्त राशि वैंको मे जमा करने लगेंगे, जिससे चलार्थ मुद्रा (circulating money) का परिमाण घट जायगा तथा उसी परिमाण मे साख भी कम हो जायगी। इसके विपरीत यदि वैंक-दर घटा दी जाय तो वाजार-दर कम हो जायगी तथा ब्याज

की दर कम होने से लोग अधिक रुपया उधार लेते हैं जिससे मुद्रा का परिमाण बढ़ जाता है और साख की वृद्धि होती है। इतना ही नहीं अपितु बैंक-दर का प्रभाव विदेशी मुद्रा-मण्डी पर भी पड़ता है क्योंकि **बैंक-दर अधिक होने से बाहरी पूँजी हमारे यहाँ आने लगती है** तथा यह दर कम होने पर हमारे यहाँ से पूँजी बाहर जाने लगती है। इस प्रकार बैंक-दर मुद्रा-मण्डी के अल्पकालीन ब्याज-दरों को प्रभावित करती है और इन मुद्रा-मण्डी के दरों से विदेशी विनिमय मण्डी प्रभावित होती है। अर्थात् देश में विदेशी पूँजी का विनिमय प्रभावित होता है जिसका परिणाम दीर्घकालीन पूँजी पर होता है। साख के नियन्त्रण से आन्तरिक मूल्य-स्तर भी प्रभावित होता है *क्योंकि साख के सकुचन के समय* व्यापारिक एवं औद्योगिक कार्यों में शिथिलता आ जाती है एवं मूल्य-स्तर गिरने लगता है। *साख का प्रसार होने के समय व्यापारिक* एवं औद्योगिक कार्यों को प्रोत्साहन मिलता है और मूल्य-स्तर बढ़ने लगता है। और जहाँ तक *आन्तरिक मूल्य-स्तर का हमारे विदेशी व्यापार पर प्रभाव होना है, विदेशी व्या*पार एवं विनिमय दर को स्थायी रखने में भी इस दर का बहुत अधिक उपयोग *होता है। इस प्रकार* ***बैंक-दर मुद्रा-मण्डी, आन्तरिक मूल्य स्तर एवं विदेशी व्यापार पर प्रभावी रूप से कार्य करती है, इसीलिए इस दर को मुद्रा-मण्डी का मापदण्ड कहा गया है।*** *जिस समय बैंक-दर ऊँची हो जाती है उस समय बैंक निक्षेप* आकर्षित करने के लिए निक्षेपों पर दिये जाने वाले ब्याज की दर बढ़ा देते हैं *क्योंकि ऊँची ब्याज दर होने पर अधिक देना भी उनको लाभदायक होता है।* कारण बाजार-दर तथा बैंक द्वारा ऋणों पर ली जाने वाली ब्याज की दर *भी बढ़ जाती है। इस प्रकार बैंक-दर की कमी अथवा वृद्धि से तीन बातें* प्रभावित होती हैं —

१ *साख का सकुचन अथवा प्रसार,*

२ देश का आन्तरिक मूल्य-स्तर, तथा

३ *स्वर्ण अथवा पूँजी का आयात-निर्यात। इसीलिए यह कहा जाता है* कि बैंक-दर विदेशी विनिमय मण्डी को तीन स्रोतों से प्रभावित करती है।

बैंक-दर में कब वृद्धि अथवा कमी की जाती है?

(१) साख नियन्त्रण का एक मात्र उद्देश्य देश की स्वर्ण निधि की सुरक्षा *करना होता है। अतः जिस समय देश से स्वर्ण बाहर जाने लगता है उस* समय स्वर्ण-निर्यात रोकने के लिए बैंक-दर में वृद्धि की जाती है।

(२) *जब अन्य देशों में बैंक-दर बढ़ रही हो, तब देश की विनियोग एवं*

अन्य पूँजी का बाहर निर्यात होने लगता है। अत इस निर्यात को रोकने के लिये बैंक-दर मे वृद्धि की जाती है जिससे अधिक ब्याज देकर बाहर जाने वाले धन का विनियोग देश मे ही हो।

(३) जिस समय विनिमय-दर देश के विपक्ष मे हो उस समय विनिमय-दर को ठीक करने के लिए बैंक-दर मे वृद्धि की जाती है।

(४) देश मे जब सट्टे का जोर होने लगता है उस समय सटोरिये बैंको से ऋण लेते हैं। इन ऋणो की पूर्ति करने के लिए बैंक केन्द्रीय बैंको से ऋण लेते हैं। बढ़ते हुए सट्टे मे देश के उद्योगो को भी, जहाँ तक विनियोग का सम्बन्ध है, हानि होती है। अत सट्टे को रोकने के लिए भी बैंक-दर मे वृद्धि की जाती है।

इसके विपरीत (१) जब रुपया केन्द्रीय तथा अन्य बैंको के पास एकत्रित हो रहा हो, परन्तु उसके लिए मुद्रा-मण्डी मे माँग न हो उस समय माँग निर्माण करने के लिए बैंक-दर कम कर दी जाती है। (२) ऋण-प्रदायक राशि की मुद्रा-मण्डी मे कमी हो और साथ ही केन्द्रीय बैंक के पास ऐसी राशि हो, उस समय बैंक-दर कम कर दी जाती है। (३) जब विदेशी पूँजी का आयात पर्याप्त मात्रा मे हो रहा हो, जो देश के हित मे न हो अथवा जब देश मे उसका समुचित उपयोग न हो सकता हो, उस समय देश को ऋण-भार से बचाने के लिए बैंक-दर कम की जाती है।

बैंक-दर का महत्व—बैंक-दर का मुद्रा-मण्डी से घनिष्ठ सम्बन्ध होने से मुद्रा-मण्डी म बैंक-दर का विशेष महत्त्व है। यह बैंक-दर केन्द्रीय बैंक की सचालक सभा साप्ताहिक अथवा आवश्यकता के समय बीच मे भी निश्चित करती है। इसका प्रकाशन वर्तमान पत्रो (अखबारो) मे नियमित रूप से होता रहता है।

(१) बैंक-दर से साख नियन्त्रित होती है, अतः इसको मुद्रा मण्डी का मापदण्ड कहते हैं। इसके साथ ही यह देश की सामान्य आर्थिक स्थिति की दिग्दर्शक भी होती है।

(२) बैंक-दर से मुद्रा-मण्डी की बाजार-दर तथा अन्य ऋण-दाता संस्थाओं की दरे भी प्रभावित होती हैं। जैसे बैंक-दर के उतार-चढ़ाव के साथ बाजार-दर, दीर्घकालीन ऋण की दर आदि प्रभावित होती है, उसी प्रकार बैंक द्वारा दिये जाने वाले अल्पकालीन ऋणो की ब्याज-दर (जिसे माँग दर अथवा call rate कहते हैं) भी प्रवाहित होती है।

(३) बैंक-दर से ऋण-प्रदायक राशि की कमी एव अधिकता का अन्दाज भी किया जा सकता है, अत इस दर का महत्व बहुत अधिक है।

बैंक-दर का महत्व कम होने के कारण—वर्तमान स्थिति मे बैंक-दर का साख-नियन्त्रण मे महत्व कम हो गया है एव वह उतनी प्रभावशाली नही रही, क्योंकि,

(क) आर्थिक कलेवर मे लोच—सामान्यत बैंक-दर तभी प्रभावी हो सकती है जब बाजार की भिन्न-भिन्न ब्याज-दरो मे भी उसके साथ परिवर्तन हो तथा देश की अर्थ-व्यवस्था मे लोच हो। अगर अर्थ-व्यवस्था मे लोच नही है तो साख की कमी एव अधिकता के साथ उत्पादन, मजदूरी आदि बातो का मिलान नही हो सकेगा। इससे बैंक-दर भी प्रभावी नही रहेगी। प्रथम महायुद्ध-पूर्व काल मे देशो की अर्थ-व्यवस्था मे लोच थी जो युद्धोत्तर काल मे जाती रही जिससे बैंक दर प्रभावी रूप से कार्य नही कर सकी। यह बैंक-दर के वर्तमान महत्त्व को कम करने का पहला कारण है। क्योंकि मुद्रा के मूल्य-परिवर्तन के साथ अर्थ-व्यवस्था मे, जैसे मजदूरी, उत्पादन आदि मे परिवर्तन नही होता।

(ख) बैंकों की निर्भरता—बैंक-दर तभी प्रभावी हो सकती है जब देश के बैंक आवश्यकता के समय ऋणो के लिए केवल केन्द्रीय बैंक पर ही निर्भर रहे। परन्तु वास्तव मे प्रथम श्रेणी के बैंक केन्द्रीय बैंक से ऋण आदि नही लेते जिससे बैंक-दर का परिवर्तन उनकी कार्य-प्रणाली मे बाधक नही होता।

(ग) विनिमय बिलो का कम महत्व—आजकल आन्तरिक व्यापार मे मुद्रा की आवश्यकता की पूर्ति रोक-ऋण अथवा अधिविकर्षो पर ऋण लेकर की जाती है जिससे प्रत्यक्ष व्यवहारो मे विनिमय-बिलो का महत्त्व भी कम हो गया है। इसलिए बैंक-दर प्रभावी नही होती।

(घ) अन्य साख-नियन्त्रण साधनो का अधिक उपयोग—खुले बाजार की क्रिया तथा अन्य साख नियन्त्रण की क्रियाओ के गत २५ वर्षो से उपयोग सफल होने के कारण भी बैंक-दर का वर्तमान महत्व कम हो गया है।

(ङ) सुलभ मुद्रा नीति अपनाना—विश्व के सभी देशो द्वारा युद्धोत्तर काल मे सुलभ मुद्रा-नीति अपनाने से बैंक-दर का महत्व कम हो गया है।

(च) बैंकों की सम्पत्ति में तरलता—गत १५ वर्षो से बैंको की सम्पत्ति अधिक तरल रहने लगी है जिससे अन्य बैंको को केन्द्रीय बैंक से ऋण लेने की आवश्यकता नही होती अपितु मुद्रा मण्डी की आवश्यकताओ की पूर्ति वे स्वय ही कर सकते हैं। अत बैंक-दर के महत्त्व का कम होना सहज ही है।

(छ) बैंक-दर तत्कालीन प्रभावी नहीं—बैंक-दर में परिवर्तन होते ही मुद्रा-मण्डी पर तत्काल प्रभाव नही होता। प्रभाव के होने के लिए कुछ समय लगता है, जिस बीच मे साख-नियन्त्रण की आवश्यकता भी खतम हो जाती है। इस कारण बैंक-दर महत्त्वपूर्ण नही रही।

(ज) बैंक-दर वृद्धि के साथ साख निर्माण में वृद्धि—बैंक-दर की वृद्धि मे मान लीजिए कि लोग उधार लेना कुछ समय के लिए कम कर देते हैं। परन्तु इस वृद्धि के साथ ही बैंक निक्षेपो पर दिये जाने वाले ब्याज की दर बढा देते हैं जिससे निक्षेपो मे वृद्धि होती है। और यह वृद्धि होते ही बैंक अधिक साख-निर्माण करते है जो बैंक-दर को अप्रभावी कर देती है।

(२) खुले बाजार की क्रियाएँ (Open Market Operations)—जिस समय केन्द्रीय बैंक बाजार मे एक सामान्य व्यक्ति की भाँति साख के सकोच अथवा प्रसार के हेतु प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय करता है, उस समय इस क्रिया को खुले बाजार की क्रियाएँ कहते हैं। इस क्रिया का प्रारम्भ प्रथम महायुद्ध के बाद हुआ जिससे केन्द्रीय बैंक को साख-नियन्त्रण का एक नया साधन प्राप्त हुआ। यह साधन केन्द्रीय बैंक उसी समय उपयोग मे लाता है जब बैंक-दर प्रभावी नही होती।

जिस समय मुद्रा-मण्डी मे मुद्रा-राशि की अधिकता होती है और केन्द्रीय बैंक उसको कम करना चाहता है उस समय वह बाजार मे प्रतिभूतियाँ, बिल आदि बेचने लगता है। इसके बदले मे उसे धन प्राप्त होता है तथा मुद्रा-मण्डी मे ऋण-प्रदायक राशि कम हो जाती है जो बैंक की निधि मे आ जाती है तथा साख का सकोच हो जाता है। इसी प्रकार जब मुद्रा-मण्डी मे धन का अभाव रहता है उस समय साख बढाने के लिए मुद्रा-राशि बढाना आवश्यक होता है। इसे बढाने के लिए केन्द्रीय बैंक बाजार से प्रतिभूतियाँ, बिल आदि क्रय करता है जिसके बदले मे वह मुद्रा देता है। इससे मुद्रा-मण्डी मे मुद्रा अधिक होकर साख का प्रसार होता है। प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय से बैंक देश की साख नियन्त्रित कर साख एव मुद्रा-राशि का कृषि, व्यापार एव औद्योगिक आवश्यकताओं के साथ सन्तुलित मिलान करता है। इस प्रकार देश मे मूल्य-स्तर, उत्पादन एव उत्पादन व्यय, रोजगार तथा व्यापार मे सन्तुलन स्थापित करता है तथा देश के आर्थिक ढाँचे को मजबूत बनाता है।

ये क्रियाएँ तभी सफल हो सकती हैं जब केन्द्रीय बैंक द्वारा क्रय विक्रय की गई प्रतिभूतियो की उस समय बाजार मे माँग एव पूर्ति हो तथा ये प्रतिभूतियाँ

साख नियन्त्रण का एक प्रमुख भाग हो। इसीके साथ जिस बाजार में इन प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय हो, वह संगठित एवं कार्यक्षम हो अन्यथा मुद्रा-मण्डी पर कोई भी प्रभाव न होगा।

इसी प्रकार जिस समय देश में अधिक मुद्रा-राशि हो एवं वह विनियोग के लिए बाहर जा रही हो, उस समय भी इस क्रिया का उपयोग बैंक करता है। अर्थात् ऐसी दशा में वह प्रतिभूतियों के विक्रय से मुद्रा-राशि चलन से खींचकर अपने कोष में ले लेता है।

इस क्रिया से मुद्रा-मण्डी प्रत्यक्ष प्रभावित होती है। यहाँ पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि जिस समय केन्द्रीय बैंक साख का संकोच करता है उस समय अन्य बैंकों के निक्षेप कम होते हैं तथा मुद्रा एवं साख के प्रसार के समय बैंकों के निक्षेप बढ़ते हैं। इस निक्षेप-राशि की कमी एवं अधिकता पर ही अन्य बैंकों की साख-निर्माण-शक्ति निर्भर रहती है।

साख-नियन्त्रण का यह प्रत्यक्ष एवं सरल साधन है। किन्तु जब बैंक-दर से साख-नियन्त्रण नहीं हो सकता, उस समय इस क्रिया का उपयोग किया जाता है। परन्तु बैंक-दर एवं खुले बाजार की क्रियाएँ इन दोनों में दूसरी अधिक प्रभावशाली हैं क्योंकि इन क्रियाओं से अन्य बैंकों के निक्षेप, निधि तथा साख-निर्माण-शक्ति तत्काल ही प्रभावित होती है।

भारत में मुद्रा-मण्डी पूर्ण रूप से संगठित न होने तथा विभिन्न ऋण-प्रदायक संस्थाओं पर केन्द्रीय बैंक का नियन्त्रण न होने से बैंक-दर प्रभावी नहीं होती। इसलिए विशेषतः खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा ही साख का नियन्त्रण होता है। साख-नियन्त्रण में, बैंक-दर के घटते हुए महत्त्व एवं सरकारी प्रतिभूतियों के अधिक प्रयोग के कारण खुले बाजार की क्रियाओं का सभी देशों में अधिक प्रयोग होने लगा है।

(३) **वैधानिक रोकड निधि में परिवर्तन**—व्यापारिक बैंक यथासम्भव अपने पास कम रोकड निधि रखते हैं। परन्तु उनको कानून से निक्षेपों का कुछ अनुपात केन्द्रीय बैंक के पास जमा करना पड़ता है। इस निधि के अनुपात से उनकी साख-निर्माण शक्ति सीमित रहती है। इसलिए ऋण द्वारा निक्षेप बढ़ाने का परिमाण इस वैधानिक निधि से मर्यादित होता है क्योंकि जितने ही अधिक निक्षेप होंगे उतनी ही अधिक राशि उनको केन्द्रीय बैंक के पास रखनी होगी। अतः जब उक्त दो साधन भी पूर्णतः प्रभावी नहीं होते तब केन्द्रीय बैंक इस साधन का उपयोग करती है। इसके अनुसार जब साख तथा मुद्रा-राशि को कम

करने की आवश्यकता होती है उस समय रोकड निधि का वैधानिक अनुपात बढ़ा देता है जिससे केन्द्रीय बैंक के पास अधिक राशि आती है तथा अन्य बैंकों की रोकड निधि कम हो जाती है। इससे उनकी साख-निर्माण-शक्ति घट जाती है। इसके विपरीत जब साख एवं मुद्रा की अधिक आवश्यकता होती है उस समय केन्द्रीय बैंक वैधानिक अनुपात को कम कर अन्य बैंकों की रोकड निधि को बढ़ा देती है जिससे उनकी साख-निर्माण शक्ति बढ़ जाती है तथा जनता को साख अथवा ऋण अधिक सुलभता से मिल सकते हैं। इस पद्धति का सुझाव प्रो० कीन्स ने दिया था।

(४) साख का अशन (Rationing) करना—इस पद्धति के अनुसार केन्द्रीय बैंक बिलों की कटौती अथवा पुन कटौती का परिमाण प्रतिदिन कितना होगा, निश्चित कर लेता है। इस निश्चित राशि से अधिक के बिल कटौती के लिए आने पर केन्द्रीय बैंक प्रत्येक बैंक को ऋण देने की राशि कम कर देता है। परिणामस्वरूप अन्य बैंकों की ऋण प्रदायक राशि भी कम हो जाती है जिससे साख की भी कमी हो जाती है। इस क्रिया को साख का अशन कहते हैं।

(५) प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct Action)—जब केन्द्रीय बैंक खुले बाजार की क्रियाओं अथवा बैंक-दर से मुद्रा मण्डी में साख का नियन्त्रण करने में असफल होता है उस समय वह अन्य बैंकों के विरुद्ध सीधी कार्यवाही करता है। इसके अन्तर्गत साख का विस्तार या सकोच करने के हेतु वह अन्य बैंकों को अधिक अथवा कम ऋण देने के लिए आदेश देता है, विशेषत साख के सकोच के लिए ही, जिससे साख का सतुलित प्रसार हो। जब साख नियन्त्रण की आवश्यकता होती है और साख का उपयोग उत्पादन कार्य के लिए न होकर सट्टे के लिए होता है अथवा देश हित के लिए नहीं होता उस समय केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों को आदेश द्वारा कुछ सीमित मात्रा में ऋण देने को बाध्य कर देता है अथवा कुछ विशेष प्रकार की प्रतिभूतियों पर ही ऋण देता है। इससे आवश्यकतानुसार साख का समायोजन होता है।

(६) नैतिक प्रभाव (Moral Persuasion)—केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों का पालक होने के नाते तथा मुद्रा मण्डी में विशेष प्रभावशाली होने के कारण साखनियन्त्रण के समय अन्य बैंकों एवं ऋण प्रदायक सस्थाओं पर नैतिक प्रभाव डालकर अपनी साख सम्बन्धी नीति का पालन करने के लिए बाध्य कर देता है। इससे वे बैंक केन्द्रीय बैंक की इच्छानुसार देश हित की दृष्टि से साख का सकोच एवं विस्तार करते हैं।

विभिन्न साधनों के उपयोग से केन्द्रीय बैंक साख-नियन्त्रण करता है। यह आवश्यक नहीं कि इनमें से केवल किसी एक साधन का उपयोग किया जाय। परन्तु यदि किसी एक ही मार्ग का अवलम्ब किया जाता है तो वह उतना प्रभावशाली नहीं हो सकता, जितना सब साधनों का सन्तुलित उपयोग प्रभावशाली हो सकता है। क्योंकि, आजकल, बैंक-दर दीर्घकाल मे प्रभावी होने के कारण इसका महत्व कम हो गया है। इसलिए अन्य साधनों का उपयोग भी साथ ही साथ होना चाहिए। दूसरे, यदि केवल नैतिक प्रभाव से ही साख-नियन्त्रण करने का प्रयास किया जाय तो वह भी सफल नहीं हो सकता क्योंकि सभी बैंक अपना उत्तरदायित्व भली भाँति नहीं निभा सकते। इस प्रकार साख के अशन (rationing of credit) से केवल सट्टे का ही नियन्त्रण किया जा सकता है। प्रो० कीन्स के अनुसार अनुपात-निधि में एकदम परिवर्तन कर देने से साख का नियन्त्रण तो होता है परन्तु उससे बैंकिंग कलेवर को गहरा धक्का लगने की सम्भावना होती है। खुलेबाजार की क्रियाओं का प्रभाव तो तत्काल होता है किन्तु ये सब क्रियाएँ अविवेकात्मक (indiscriminate) होती हैं। अत सब क्रियाओं के समुचित सामजस्य एव सन्तुलित उपयोग से ही केन्द्रीय बैंक को साख नियन्त्रण करना चाहिए।

साराश

केन्द्रीय बैंक देश की मुद्रा एव साख नियन्त्रण द्वारा देशी एव अन्तर-राष्ट्रीय मूल्यों मे स्थिरता लाती है। देश के बैंकिंग कलेवर को अपनी नीति द्वारा सगठित एव सुरक्षित करती है तथा बैंकों मे परस्पर सहयोग बढाती है। इसलिए केन्द्रीय बैंक देश के मौद्रिक एव बैंकिंग कलेवर का प्रमुख अग है। इन कार्यों को सफलतापूर्वक करने के लिए केन्द्रीय बैंक को कुछ विशेष अधिकार होते हैं वहीं इस पर सरकारी अकुश भी होता है। अत. इसका लक्ष्य सरकारी नीति को सफल बनाना भी होता है।

सरकार और केन्द्रीय बैंक का महत्वपूर्ण सम्बन्ध होता है क्योंकि इस पर सरकारी मौद्रिक नीति की सफलता की जिम्मेवारी होती है। इसलिए इसे सरकारी आदेशानुसार कार्यवाही करनी पड़ती है क्योंकि सरकार एवं केन्द्रीय बैंक मे आर्थिक या मौद्रिक समस्याओं पर मतभेद होना देश के हित मे नहीं होता।

केन्द्रीय बैंक निम्न कार्यों के लिए आवश्यक होती है—(१) साख नियन्त्रण, (२) देश की बैंकिंग सस्थाओं पर अकुश रखना, (३) देश की रोकड़-निधि का केन्द्रीकरण, (४) बैंकों को सकटकालीन सहायता देना।

केन्द्रीय बैंक के कार्य—(१) बैंको का बैंकर, (२) पत्रमुद्रा चलाने का एकाधिकार, (३) साख का नियन्त्रण, (४) सरकार के बैंकर का कार्य, (५) आतरिक एव विदेशी विनिमय-दर मे स्थिरता रखना, (६) सरकारी मौद्रिक नीति को सफल बनाना, (७) समाशोधन गृह की सुविधा देना, (८) देश के धातुकोष तथा अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष रखना। इन कार्यों मे कौनसा महत्त्व-पूर्ण है इस सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियों मे मतभेद है। परन्तु वास्तव मे ये सभी कार्य परस्पर पूरक हैं। कौनसा महत्त्वपूर्ण है और कौनसा नहीं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

केन्द्रीय बैंक द्वारा साख नियन्त्रण—साख नियन्त्रण का अर्थ है साख की व्यापारिक आवश्यकताओ के अनुसार सकोच एव प्रसार। यदि ऐसा नहीं हो तो मूल्यस्तर मे उतार-चढ़ाव होते हैं जिसका परिणाम देश की आर्थिक स्थिति पर होता है। साख नियन्त्रण का हेतु आतरिक मूल्यस्तर एव विदेशी विनिमय दर स्थिर रखना, देश की स्वर्ण-निधि एव विनियोग पूंजी को बाहर न जाने देना। परन्तु इस कार्य मे केन्द्रीय बैंक पूर्णत सफल नहीं होता क्योंकि वह व्यापारिक साख का नियन्त्रण नहीं कर सकता। दूसरे, केन्द्रीय बैंक के नियन्त्रण मे जो सस्थाएँ नहीं हैं उनके द्वारा निर्मित साख पर वह नियन्त्रित नहीं कर सकता। केन्द्रीय बैंक निम्न साधनों से साख नियन्त्रण करता है—(१) बैंक-दर, (२) खुले बाजार की क्रियाएँ, (३) वैधानिक रोकड-निधि मे परिवर्तन, (४) साख का अशन, (५) प्रत्यक्ष कार्यवाही, (६) नैतिक प्रभाव।

अध्याय १२

समाशोधन गृह

रोकड निधि समाशोधन गृहो के अस्तित्व एव विकास पर भी निर्भर रहती है। इन सस्थाओ द्वारा बैको के एक दूसरे पर लिखे गये चैको का सन्तुलन होकर केवल शेष राशि का भुगतान केन्द्रीय बैंक पर चैक लिखकर हो जाता है। इस कार्य की सुविधा के लिए प्रत्येक बैंक के कर्मचारी उन पर लिखे गये चैको का भुगतान देने तथा लेने के लिए अन्य बैको के पास न जाते हुए एक स्थान पर एकत्रित होते है, जहाँ एक दूसरे पर लिखे गये चैको का सन्तुलन होकर केवल शेष राशि एक दूसरे को देनी पडती है। यह क्रिया जिस स्थान पर की जाती है उसे समाशोधन गृह कहते है। समाशोधन गृह वह सस्था है जो बैको के आपसी भुगतान को सुविधाजनक बनाती है। टॉसिग के शब्दो मे समाशोधन गृह "किसी एक स्थान के बैको का एक सामान्य सगठन है, जिसका मूल हेतु चैको द्वारा निर्मित परस्पर दायित्व (cross obligations) का भुगतान करना होता है।' अर्थात् समाशोधन गृह किसी भी स्थान मे एक ऐसे महान बैंक का कार्य करते है जिसमे वहाँ के निवासियो के लखे होते है तथा निक्षेप जमा किये जाते है और जब वे लोग आपसी भुगतान चैको द्वारा करते है तब उनकी राशि व्यक्ति को न दी जाकर केवल एक लखे से दूसरे लखे मे हस्तान्तरित (transfer) की जाती है। इस प्रकार वास्तविक उपयोग म मुद्रा कम लगती है।

समाशोधन गृहो का विकास—समाशोधन गृहो का उगम सवप्रथम इङ्गलैंड मे हुआ। यहाँ की बैंकिग व्यवस्था अधिक उन्नत होने से विशेषत चैको द्वारा ही ऋणो का भुगतान होता था। अत सबसे पहिला गृह लन्दन मे १७७५ मे तथा १८५३ मे न्यूयार्क मे स्थापित हुआ। इस पद्धति का विकास एव उगम उसी काल म होना चाहिए जिस समय निक्षेप बैंकिग तथा चैको का पर्याप्त प्रसार एव उपयोग होना आरम्भ हुआ। इसके विकास की तीन सीढियाँ होनी चाहिए —

१ जिस समय चैको का भुगतान अन्य बैको के पास अपना क्लर्क भेजकर

प्राप्त किया जाता था तथा बैंक अपनी देनदारी का पृथक् पृथक् भुगतान करते थे, इस स्थिति में बैंक के क्लर्क अन्य बैंकों से परस्पर लेने देन का विवरण बनाकर ही यह भुगतान करते होंगे।

२. जब इन क्लर्कों की पर्याप्त जान पहचान हो गयी तथा उन्होंने प्रत्येक बैंक के पास जाकर अपने भुगतान करने की अपेक्षा, अपने श्रम और समय बचाने के हेतु आपस में एक जगह पर मिलना तय किया तथा वहीं पर लेनी देनी निकाल कर आपसी भुगतान करने लगे। इस पद्धति में उनको प्रत्येक बैंक के पास जाने की आवश्यकता न रही। किन्तु इस स्थिति में आपसी शेषों का भुगतान मुद्रा द्वारा ही होता था। इस पद्धति को बैंकों ने मान्यता नहीं दी परन्तु इसकी सुविधा एवं सरलता के कारण १७७३ में मान्यता दी। और यह कार्य करना सम्भव हो इसलिए स्थान भी दिया।

३. इस पद्धति का सब बैंकों की मान्यता मिलने पर इसके संचालन एवं नियमन के लिए विशेष नियम बनाए गये तभी तीसरी सीढ़ी आरम्भ होती है। इस स्थिति के बाद हम आज की उन्नत स्थिति पर समाशोधन गृहों को देखते हैं जिनका संचालन केन्द्रीय बैंक द्वारा होता है तथा बैंकों के आपसी भुगतान के लिए केन्द्रीय बैंक में 'समाशोधन गृह लेखा' भी रखा जाता है। इस लेखे पर चैक लिखकर बैंक अपने परस्पर दायित्व का भुगतान करते हैं।

कार्य प्रणाली—बैंक समाशोधन गृह के सदस्य बनते हैं जिन्हें समाशोधक बैंक कहते हैं तथा निश्चित समय पर प्रतिदिन इनके क्लर्क समाशोधन-गृह में एकत्रित होते हैं। यहाँ पर प्रत्येक सदस्य बैंक का प्रतिनिधि प्रत्येक बैंक की लेनी-देनी का हिसाब विशेष मुद्रित पत्रों पर बनाते हैं। इन पत्रों को बाह्य-पुस्तक (out book) तथा जो क्लर्क यह लेखा बनाते हैं उन्हें बाह्यशोधक' (out-clearers) कहते हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति प्रत्येक बैंक के छूटे हुए चैकों को लाते हैं उन्हें धावक (runners) कहते हैं। वे प्रत्येक बैंक पर लिखे गये चैकों का वर्गीकरण कर उनको समाशोधन गृह में उचित स्थान पर रखते हैं। बाह्यशोधकों के अतिरिक्त अन्तर्शोधक (in-clearers) भी होते हैं जो अन्तर्पुस्तक (in book) के मुद्रित पत्रों को भरते हैं। प्रत्येक बैंक की अन्तर्पुस्तक एवं बाह्य पुस्तक की प्रविष्टियाँ पूर्ण होने पर उनका सन्तुलन कर प्रत्येक बैंक की लेनी देनी निकाली जाती है जिनका विवरण प्रत्येक सदस्य बैंक के स्थिति विवरण में लिखा जाता है। यह स्थिति विवरण भी सदस्य बैंकों के नाम मुद्रित पत्रों पर बनाया जाता है। प्रत्येक बैंक के लिए इसमें दो खाने

होने है—क्रेडिट, तथा डेबिट। इन स्थिति-विवरणों के मन्तुलन से प्रत्येक बैंक को कितना देना है अथवा लेना है यह ज्ञात हो जाता है। यदि किसी बैंक को देना है तो वह केन्द्रीय बैंक के अपने समाशोधन गृह लेखे पर, जिस बैंक को देना है उसके नाम चैक लिख देता है। इससे देने वाली बंक के समाशोधन गृह लखे की राशि कम तथा दूसरे बंक के समाशोधन गृह लेखे की राशि अधिक हो जाती है।

स्थिति-विवरण का नमूना

सदस्य बैंक	कुल लेनी	देनी					
		अ	ब	स	द	य	र
अ	५००००	—	२३०००	१००००	५०००	८०००	—
ब	४००००	१००००	—	५०००	५०००	१००००	१००००
स	३००००	५०००	३०००	—	७०००	६०००	६०००
द	२००००	३०००	१२०००	१०००	—	२०००	२०००
य	२५०००	७०००	८०००	३०००	२०००	—	५०००
र	३५०००	१००००	४०००	८०००	७०००	६०००	—
योग	२०००००	३५०००	५४०००	२७०००	२६०००	३२०००	२६०००

उक्त विवरण को देखने से प्रत्येक बंक को एक दूसरे से क्या लेना-देना है इसका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। जैसे अ की कुल लेनी ५०,००० है तथा उसकी देनी ३५,००० है। इस प्रकार उसे अन्य बैंका से १५,००० रु० प्राप्त होगा जो ऋणी बंक समाशोधन गृह के नाम देंगे तथा समाशोधन गृह उसका भुगतान अ को करेगा जो वह केन्द्रीय बैंक के अपने लेखे मे जमा कर देगा। इस प्रकार दिन के अन्त मे समाशोधन गृह लेखे का देना-लेना सन्तुलित होकर कुछ भी शेप नही रहता। क्योंकि समाशोधन गृह को जो राशि मिलती है उससे अन्य बैंकों की लेनी का भुगतान हो जाता है। इस प्रकार समाशोधन गृह के निर्माण का मूलभूत सिद्धान्त व्यक्तिगत व्यवहार न होते हुए सामुदायिक व्यवहार है तथा परस्पर राशि के आदान प्रदान के बदले उनका मिलान करना है।

समाशोधन गृह से लाभ

(१) **सामुदायिक भुगतान**—प्रत्यक सदस्य बैंक के लेने-दने का भुगतान सामुदायिक रूप से करता है जिससे आपसी भुगतान सुविधाजनक एव शीघ्र होता है।

(२) **असदस्य बैंको को लाभ**—जो बैंक सदस्य नही है वे भी इसका लाभ उठा सकते है। कभी-कभी जो बैंक समाशोधन गृह के सदस्य नही है,

उनके चैकों का भुगतान प्राप्त करने के लिए सदस्य बैंक शुल्क भी लेते हैं, जैसे भारत में कलकत्ते का मेट्रोपोलिटन बैंकिंग एसोसिएशन। जो बैंक सदस्य नहीं हैं यह सब उनसे शुल्क लेता है। इतना ही नहीं, अपितु जो सदस्य नहीं हैं उनके चैक आदि को भुगतान के लिए लेने में भी इनके सदस्य इन्कार कर देते है।[1]

(३) **मुद्रा के उपयोग में मितव्ययिता**—प्रत्येक सदस्य बैंक की परस्पर देनदारी का सन्तुलन होने से केवल शेषों का ही आदान-प्रदान होता है, और वह भी केन्द्रीय बैंक में जो समाशोधक बैंक हैं, उनके लेखे पर चैक आदि लिखकर। इससे मुद्रा के उपयोग में मितव्ययता होती है।

(४) **रोकड़ निधि में कमी**—समाशोधन गृहों के अस्तित्व एवं विकास के कारण मुद्रा के उपयोग में मितव्ययता होती है। इससे बैंक को रोकड़ निधि भी कम रखनी पड़ती है तथा वे साख का अधिक निर्माण कर सकते हैं। साख-प्रधान अर्थ-व्यवस्था से ही व्यापारिक व्यवहारों का आदान प्रदान होता है जिससे देश के व्यापार, वाणिज्य एवं उद्योग का विकास होता है।

भारतीय समाशोधन गृह—समाशोधन गृहों के अभाव में किसी भी देश की बैंकिंग पद्धति उन्नत नहीं हो सकती। और न किसी भी देश में समाशोधन गृहों की आवश्यकता ही होती है जब तक उस देश में बैंकिंग का विकास तथा चैकों का पर्याप्त उपयोग न हो। भारत में समाशोधन गृहों की आवश्यकता १९२० तक प्रतीत नहीं हुई क्योंकि यहाँ पर बैंकों का उपयोग ही अल्प परिमाण में था। इम्पीरियल बैंक की स्थापना (१९२०) के बाद ही भारत में बैंकिंग को भी अच्छा आधार मिला जिससे स्वतन्त्र पद्धति पर कलकत्ता, बम्बई रंगून, दिल्ली तथा मद्रास में इम्पीरियल बैंक के निरीक्षण में समाशोधन गृह कार्य करने लगे। सदस्य बैंकों का आपसी भुगतान इम्पीरियल बैंक की स्थानीय शाखा पर लिखे गये चैकों द्वारा होता था। १९३५ में रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद सूचीबद्ध बैंकों को रिजर्व बैंक के पास अपने लेखे खोलने पड़े। क्योंकि उनके निक्षेप देनदारी का ७ प्रतिशत इस बैंक में रखने का वैधानिक बन्धन लगाया गया तथा उपर्युक्त समाशोधन केन्द्रों के सदस्य बैंकों का भुगतान इन लेखों पर चैक द्वारा हुआ करे यह भी बन्धन लगाया गया। इसीके साथ रिजर्व बैंक को यह अधिकार दिया गया कि वह समाशोधन गृहों

---

[1] *A Study of Indian Money Market* by Bimal C. Ghosh, p 135.

के समुचित नियमन के हेतु नियम भी बनाये। यह कार्य रिजर्व बैंक के नियत्रण मे ही होता है।

भारत मे कुल २२ समाशोधन गृह तथा पाकिस्तान मे ४ समाशोधन गृह है।

भारत मे—बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली, कानपुर, आगरा, अहमदाबाद, अमृतसर, प्रयाग, कालीकट, कोयम्बटूर, पटना, नागपुर, शिमला, बगलौर, देहरादून, जालन्धर, लखनऊ मदुरा, मगलौर इत्यादि।

पाकिस्तान मे—रावलपिण्डी, लाहौर, पेशावर तथा कराँची।

समाशोधन गृहो की सदस्यता—भारतीय समाशोधन गृह स्वतन्त्र सस्था के रूप मे कार्य करते है तथा उनके नियम भी स्वतन्त्र है। विनिमय बैंक, सूचीबद्ध सयुक्त स्कध बैंक तथा स्टेट बैंक तथा समाशोधन गृहो के सदस्य हैं। अन्य कोई भी बैंक इनका सदस्य तभी बनाया जाता है जब ३/४ सदस्यो की अनुमति प्राप्त हो। अथवा यदि सदस्यता के लिए पूँजी सम्बन्धी नियम है, तो उतनी चुकता पूँजी होने पर कोई बैंक सदस्य बनाया जा सकता है। परन्तु सदस्य बनाने के पूर्व सदस्य बनने वाले बैंक के स्थिति-विवरण की विशेषज्ञो द्वारा जाँच करा ली जाती है जिससे उस बैंक की आर्थिक दशा का सदस्य बैंको को समुचित ज्ञान हो सके। कलकत्ता तथा बम्बई जो भारत के प्रमुख समाशोधन गृह है, उनके सदस्य वे ही बैंक बनाये जा सकते है जिनकी चुकता पूँजी ५ या १० लाख रुपए हो। फिर भी ३/४ सदस्यो की अनुमति सदस्यता स्वीकार करने के लिए आवश्यक है। जिस बैंक की पूँजी कम होती है वह किसी अन्य बैंक की सिफारिश से आवेदन भेजकर उप-सदस्य बन सकता है। उप-सदस्य के लिए सिफारिश करने वाली बैंक उत्तरदायी होती है जिसे समर्थक बैंक (sponsor bank) कहते हैं। विभिन्न स्थान के समाशोधन गृहो के सदस्यता सम्बन्धी नियम भिन्न भिन्न है।

व्यवस्था—समाशोधन गृहो का प्रबन्ध एक प्रबन्ध समिति करती है। इसमे यदि वहाँ रिजर्व बैंक या उसकी शाखा है तो उसका एक सदस्य, स्टेट बैंक का एक सदस्य तथा विनिमय बैंक एव सयुक्त स्कध बैंक के निर्वाचित प्रतिनिधि होते है। किन्तु जहा तक नवीन सदस्यो के प्रवेश तथा व्यवस्था का सम्बन्ध है, वहाँ कलकत्ता, बम्बई, मद्रास आदि निर्यात केन्द्रो मे विनिमय बैंको का अधिक प्रभाव रहता है, जिससे नये बैंको को सदस्य बनने मे कठिनाई होती है। समाशोधन गृहो का निरीक्षण जिन स्थानो पर रिजर्व बैंक की शाखा है वहाँ रिजर्व बैंक करता है अन्यथा स्टेट बैंक करता है। प्रत्यक सदस्य बैंक को

समाशोधन गृह के सचालन के लिए निरीक्षक बैंक के पास एक निश्चित राशि जमा करनी होती है, जिस पर समाशोधन गृह के चैक आदि लिखकर पारस्परिक भुगतान हो सके। जहाँ पर समाशोधन गृह नहीं है वहाँ पारस्परिक भुगतान स्टेट बैंक के माध्यम से किया जाता है।

समाशोधन गृह के कार्य के लिए आवश्यक क्लर्कों की पूर्ति स्टेट बैंक तथा रिजर्व बैंक करते हैं।

भारत के सबसे अधिक समाशोधन गृह बम्बई तथा कलकत्ते मे है जहाँ दिन मे दो बार पारस्परिक भुगतान होता है किन्तु शनिवार को एक बार ही होता है। भारत मे सबसे विकसित समाशोधन गृह कलकत्ते का है जहाँ दो समाशोधन गृह हैं। प्रथम कलकत्ता समाशोधक बैंक सघ (Calcutta Clearing Bank Association) जो केवल वहाँ के बडे-बडे बैंको को ही पारस्परिक भुगतान की सुविधाएँ देता है जो इसके सदस्य हैं तथा कुछ उप-सदस्यो को जिनकी शाखा कलकत्ते मे है एव चुकता पूँजी १० लाख रुपये है। इसका नाम "कलकत्ता समाशोधन गृह" है।

दूसरे समाशोधन गृह का नाम "मेट्रोपालिटन समाशोधन गृह" है। यह उन बैंको के सचालन मे है जो कलकत्ता समाशोधन गृह के सदस्य एव उप-सदस्य नही हैं। यह १६२६ मे खोला गया था एव इसके सदस्य सूची-बद्ध बैंक नही है।

इसके अतिरिक्त पिछले ८-१० वर्षों से कलकत्ते म पारस्परिक भुगतान की एक और पद्धति प्रचलित है जिसे 'प्रारम्भिक समाशोधन' (pioneer clearing) गृह कह सकते है। इस पद्धति को कोई भी शासकीय मान्यता नही है। इसमे जो बैंक समाशोधन गृह का सदस्य नही है वह सदस्य बैंक के साथ एक समझौता कर लेता है जिसके अनुसार गैर-सदस्य बैंक पर लिखे गये सब चैकों आदि का भुगतान सदस्य बैंक समाशोधन गृह से करा सकता है। गैर-सदस्य बैंक के चैको पर किस सदस्य बैंक द्वारा भुगतान होगा यह भी छपा रहता है।[1]

भारतीय समाशोधन गृह के दोष

(१) असन्तोषप्रद व्यवस्था—भारत म अभी तक परस्पर भुगतान की सन्तोषजनक व्यवस्था नही है क्योकि वर्तमान व्यवस्था स्थानीय चैको आदि तक ही सीमित है। अन्य स्थान के चैको का सग्रहण आदि उन्ही स्थानो से प्राप्त

[1] *A Study of Indian Money Market* by Bimal C Ghosh, p. 138

किया जा सकता है जिससे चैकों के सग्रहण एव भुगतान मे असुविधा एव विलम्ब होता है।

(२) **बडे व्यापारिक केन्द्रो मे समाशोधन गृह की कमी**—अनेक बडे-बडे व्यापारिक केन्द्रो मे पर्याप्त बैंको के होते हुए भी वहाँ पर समाशोधन गृहो की अभी तक स्थापना नही हुई है जो व्यापारिक उन्नति के लिए आवश्यक है।

(३) **कार्य-प्रणाली मे विविधता**—समाशोधन गृह की कार्य प्रणाली एव सचालन मे भिन्न भिन्न केन्द्रो मे विविधता है जो बैंकिंग-विकास की दृष्टि से समान होना आवश्यक है।

(४) **सदस्यता सम्बन्धी कठोर नियम**—समाशोधन गृहो की सदस्यता के नियम अधिक कठोर है, जिससे अनेक अच्छे अच्छे बैंक भी सदस्य नही हो सकते। अत इनमे सशोधन की आवश्यकता है।

रिजर्व बैंक पर समाशोधन गृह सम्बन्धी कार्यवाही की वैधानिक जिम्मेदारी होते हुए भी उसने अभी तक इस दिशा मे उल्लेखनीय कार्यवाही नही की। अत बैंकिंग विकास की दृष्टि से रिजर्व बैंक को चाहिए कि वह इन दोषो के निवारण एव पारस्परिक भुगतान के लिए समुचित सुविधाएँ प्रदान करे। इससे मुद्रा के उपयोग मे मितव्ययता आकर रोकड निधि का परिमाण भी घटेगा एव व्यापार को अधिक साख-सुविधाएँ भी मिल सकेंगी।

साराश

समाशोधन गृह किसी एक स्थान के बैंको का ऐसा सामान्य सगठन है जिसका मूल हेतु चेकों द्वारा निर्मित परस्पर देनदारी का भुगतान करना होता है। इनका विकास सर्वप्रथम इग्लैण्ड मे हुआ जहाँ पहिला समाशोधन गृह १७७५ मे तथा न्यूयार्क मे १८५३ मे स्थापित हुआ। इनके विकास की तीन सीढियाँ हैं—

(१) बैंक अपने-अपने क्लर्क भेजकर अपनी देनदारी का पृथक् पृथक भुगतान करते थे।

(२) जब इन क्लर्कों की अच्छी जान-पहिचान हो गई तब इन्होने अपने श्रम एव समय बचाने के लिए एक स्थान पर मिलना निश्चित किया और वहाँ वे अपनी परस्पर लेनी देनी निकाल कर भुगतान करने लगे। इस पद्धति को १७७३ मे बैंको ने मान्यता दी।

(३) उक्त पद्धति बैंकों द्वारा स्वीकृत होने पर इस हेतु आवश्यक नियम भी

बनाये गये तथा तीसरी सीढी आरम्भ हुई जहाँ से उसकी वर्तमान स्तर पर उन्नति हुई।

कार्य-प्रणाली—समाशोधन गृह के बैंक सदस्य होते हैं जिनके क्लर्क निश्चित समय पर समाशोधन गृह मे आते हैं तथा अपनी लेनी-देनी का हिसाब निश्चित छपे हुए फॉर्मो पर बनाते हैं। इनसे प्रत्येक बैंक की पृथक् लेनी एव देनी निकाल कर उसे प्रत्येक सदस्य बैंक के स्थिति-विवरण मे लिखा जाता है। इनसे प्रत्येक बैंक को अन्य बैंकों से कितना लेना तथा देना है यह मालूम होता है; जिस राशि के चैक वे अपने समाशोधन गृह पर काटते हैं तथा आपसी भुगतान करते हैं।

लाभ—सामुदायिक भुगतान, असहाय बैंकों को भी लाभ, मुद्रा के उपयोग में मितव्ययिता, बैंकों की कम रोकड निधि की आवश्यकता।

भारतीय समाशोधन गृह—इम्पीरियल बैंक की स्थापना के बाद भारत मे बैंकिंग विकास को बल मिला जिससे इम्पीरियल बैंक के मार्गदर्शन मे बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली तथा रगून मे समाशोधन गृह कार्य करने लगे। १९३५ मे रिजर्व बैंक ने यह कार्य अपने हाथ मे लिया। इस समय भारत मे २२ समाशोधन गृह कार्य कर रहे हैं। जो रिजर्व बैंक के नियन्त्रण में हैं।

इनके सदस्यता एव कार्य-प्रणाली सम्बन्धी स्वतन्त्र नियम हैं तथा सूची-बद्ध बैंक, विनिमय बैंक एव स्टेट बैंक इनके सदस्य हैं, नये सदस्य का समावेश $\frac{3}{4}$ बहुमत से होता है परन्तु सदस्यता के लिए बैंक को चुकता पूँजी सम्बन्धी नियम पालन करना बाध्य है। इनकी व्यवस्था प्रबन्ध समिति करती है जिसमे रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक, विनिमय बैंक, सयुक्त स्कध बैंको के निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं। पारस्परिक भुगतान हेतु प्रत्येक सदस्य बैंक को रिजर्व बैंक के पास अपना एक समाशोधन गृह लेखा खोलना पडता है। और जहाँ समाशोधन गृह नहीं हैं वहाँ स्टेट बैंक के माध्यम से पारस्परिक भुगतान होता है। समाशोधन गृह के आवश्यक कार्य के लिए क्लर्कों की पूर्ति स्टेट बैंक या रिजर्व बैंक करती है। भारत मे बम्बई एव कलकत्ते मे सबसे अधिक समाशोधन गृह हैं।

भारतीय समाशोधन गृहो मे निम्न दोष है—(१) परस्पर भुगतान की असन्तोषजनक व्यवस्था, (२) बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्रो मे समाशोधन गृह का अभाव, (३) कार्य-प्रणाली मे विविधता, (४) सदस्यता सम्बन्धी कठोर नियम। इन दोषो का निवारण रिजर्व बैंक को करना चाहिए जिससे मुद्रा के उपयोग मे मितव्ययिता होकर बैंको की रोकड निधि मे मितव्ययिता हो।

अध्याय १३

भारतीय बैंकिंग का विकास

व्यापारिक बैंक अथवा संयुक्त स्कन्ध बैंक उनको कहते हैं जो देश की व्यापारिक एव औद्योगिक प्रगति के लिए अल्पकालीन ऋणो तथा साख की पूर्ति करते हैं। भारत मे यह कार्य केवल व्यापारिक बैंको तक ही सीमित नही है बल्कि स्टेट बैंक, विनिमय बैंक तथा अन्य स्वदेशीय बैंक भी यह काय करते है। इनकी कार्यशील पूंजी का अधिकतर भाग जनता के निक्षेपो से तथा कुछ भाग अश पूंजी के निर्गमन से प्राप्त होता है। यह हम कह सकते है कि भारत मे रिजर्व बैंक भी, सूची बद्ध बैंको के साथ जहाँ तक ऋणो का लेन देन करता है, व्यापारिक बैंकिग का कार्य करता है। व्यापारिक बैंको का आजकल पत्र चलन का अधिकार नही है तथा वे केवल अल्पकालीन ऋण एव साख की ही पूर्ति करते है।

संयुक्त स्कन्ध बैंको का भारत मे विकास

प्रथम युग (१८०६ तक)—भारत मे बैंकिग व्यापार प्रगति पर था तथा स्वदेशीय बैंक भारत की औद्योगिक एव व्यापारिक आवश्यकताओ की पूर्ति करते थे। इनके व्यापार को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आने से धक्का लगा क्योकि अँग्रेजी तथा अँग्रेजी व्यापार पद्धति से अपरिचित होने से ये उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति नही कर सके। इससे अँग्रेजी व्यापार की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए यहाँ पर अभिकर्ता गृहो (agency houses) की स्थापना की गई। ये अन्य व्यापार के साथ ही जनता मे निक्षप स्वीकार करते थे तथा व्यापारिक एव औद्योगिक आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी करते थे। प्रारम्भ काल मे अभि कर्ता गृहो की कोई पूंजी नही थी परन्तु वे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के नौकरो की राशि से, जो निक्षेप रूप मे जमा रहती थी, बैंकिग व्यवसाय करते थे। दूसरे स्वदेशीय बैंकिग को मुगल साम्राज्य के पतन से भी गहरी हानि हुई क्योकि नवाबो और बादशाहो को जो ऋण उन्होने दिये थे वे डूब गये। इससे जनता के निक्षेपो की माँग आने पर वे भुगतान न कर सके तथा उनसे जनता का

विश्वास भी उठ गया। फलत अँग्रेजी अभिकर्ता गृहो की जडें मजबूत होने लगी। इन्ही को भारत मे सयुक्त स्कन्ध बैंको की स्थापना का श्रेय है।

इन्हीं में से कुछ अभिकर्ता गृहो ने अपनी जडे मजबूत करने के लिए भारत मे सयुक्त स्कन्ध वैंकिंग की स्थापना का नेतृत्व किया, जिसमे से अलेक्जैण्डर एण्ड कम्पनी ने १७७० मे सर्वप्रथम यूरोपीय बैंक "दी बैंक आँव हिन्दुस्तान" की स्थापना की। इसी प्रकार पामर एण्ड कम्पनी ने 'कलकत्ता बैंक' की स्थापना की। इन दोनो मे से बैंक आँव हिन्दुस्तान का १८३२ मे विलियन (failure) हुआ। इस प्रकार १६ वी शताब्दी मे अनेक बैंको की स्थापना हुई परन्तु सब का अन्त हो गया।

१७८५ के पूर्व-स्थापित बैंको मे 'बगाल बैंक' ही एक ऐसा बैंक था जिसका अभिकर्ता गृहो से कोई सम्बन्ध न था तथा इसकी पत्र-मुद्राएँ भी चलन मे थी। १७८६ में सीमित देनदारी (limited liability) पर आधारित 'दी जनरल बैंक आँव इण्डिया' नामक पहिला बैंक स्थापित हुआ।[1] इसे पत्र-मुद्रा-चलन का अधिकार भी था। ये दोनों ही बैंक एक दूसरे के प्रतियोगी थे तथा इनमें तीव्र स्पर्धा थी। १७८७ मे 'जनरल बैंक ऑव इण्डिया' को सरकार का बैंकर नियुक्त किया गया तथा उसकी पत्र-मुद्रा को सरकार ने मान्यता दी। इससे बगाल बैंक को व्यापारिक क्षति पहुँची। इसके साथ ही लॉर्ड कॉर्नवालिस के आदेश ने बगाल बैंक को एक और धक्का दिया, जिससे कोई भी सरकारी कर्मचारी, बैंक का कर्मचारी अथवा व्यवस्थापक सचालक आदि नही हो सकता था। किन्तु आगे चलकर ये बैंक भी डूब गये। इस प्रकार यूरोपीय बैंकिंग की स्थापना का पहला युग समाप्त हुआ।

१८१३ मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार का अन्त हुआ, जिससे अभिकर्ता गृहो के व्यापार को भी चोट पहुँची तथा निक्षेपों के अधिक निकालने से इन गृहो का १८३२ के लगभग अन्त होने लगा।

द्वितीय युग (१८०६-१८६०)—प्रेसीडेन्सी बैंको की स्थापना से सयुक्त स्कन्ध बैंकिंग का दूसरा युग आरम्भ होता है। इस युग मे केवल हिन्दुस्तान बैंक ही ऐसा बैंक था जिसकी १८०६ तक अप्रतिस्पर्धात्मक प्रगति होती रही। १८०६ मे अवमूल्यित चलन पद्धति के दोष दूर करने के लिए 'बैंक आँव कलकत्ता' नाम का पहला बैंक ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आज्ञापत्र (charter) द्वारा स्थापित किया गया। इसके बाद क्रमश १८४० और १८४३ मे बैंक आँव बम्बई तथा बैंक

---

[1] *Law & Practice of Banking in India* by M. L. Tannan.

ऑर मद्रास की स्थापना हुई। ये तीनों प्रेसीडेंसी बैंक ईस्ट इण्डिया कम्पनी की आर्थिक आवश्यकताओं तथा देश के अन्तर्गत व्यापार की पूर्ति के लिए स्थापित हुए। इन बैंको को पत्रमुद्रा-चलन का अधिकार था किन्तु १८६२ मे यह अधिकार उनसे छीन लिया गया। किन्तु इनको सरकार की ओर से पत्र चलन-व्यवस्था तथा प्रेसीडेन्सी शहरो मे सरकारी कोषों की व्यवस्था का भार सौंपा गया। ये बैंक अनेक शर्तों के होने हुए भी १९२० तक पूर्ण सफलता से कार्य करते रहे तथा १९२१ मे इम्पीरियल बैंक मे तीनों ही प्रेसीडेंसी बैंको का समावेश हो गया।

तृतीय युग (१८६०-१९१३)—१८६० मे भारत मे सर्वप्रथम सीमित देनदारी सिद्धान्त को वैधानिक मान्यता मिली। इसके पूर्व १७८६ मे स्थापित जनरल बैंक ऑव इण्डिया ही अपवाद के लिए एक सीमित देयता वाली बैंक थी वह भी यूरोपीय व्यवस्था मे। इस प्रकार १८६३ से यूरोपीय व्यवस्था मे बैंक ऑव अपर इण्डिया (१८६३), इलाहाबाद बैंक (१८६५), अलायन्स बैंक ऑव शिमला (१८७४) आदि बैंको की स्थापना हुई जिनमे अलायन्स बैंक ऑव शिमला का विलियन १९२३ मे हुआ। १८७४ तक सीमिति देनदारी वाली बैंकिंग कम्पनियों की सख्या १४ हो गई किन्तु इनमें से अधिकाश बैंक यूरोपीय व्यवस्था मे ही थे। भारतीय व्यवस्था मे सचालित सबसे पहिला बैंक अवध कमर्शियल बैंक था, जिसकी स्थापना १८८१ मे हुई। इसके बाद क्रमश: १८९४ और १९०१ मे पजाब नेशनल बैंक तथा पीपुल्स बैंक ऑव इण्डिया की स्थापना हुई। इनमें दूसरे बैंक का विलियन १९१२ मे हुआ, इस समय इसकी कुल शाखाएँ १०० तथा निक्षेप १२५ लाख रुपये से अधिक थे। १९०५ मे स्वदेशी आन्दोलन हुआ, जिससे अनेक नये बैंको की स्थापना हुई। इनमे बम्बई का बैंक ऑव इण्डिया, दी इण्डियन बैंक ऑव मद्रास, दी सेन्ट्रल बैंक ऑव इण्डिया, दी बैंक ऑव बडोदा तथा बैंक ऑव मैसूर आज के सात बहुत बडी बैंको मे है।

इस अवधि (१९०५-१९१३) मे जिन बैंको की चुकता पूँजी तथा निधि मिलाकर ५ लाख रु० से अधिक थी, उनकी सख्या ९ से बढ़कर १८ हो गई। इसके अतिरिक्त अनेक छोटे-छोटे बैंकों की भी स्थापना हुई, जिनकी सख्या १९१३ मे ५०० थी। इसी अवधि मे स्थापित अन्य बैंकों के नाम नीचे दिये हैं, जिनका विलियन १९१३-१७ के बैंकिंग-सकट मे हुआ :—

दी इण्डियन स्पेसी बैंक, दी बगाल नेशनल बैंक, क्रेडिट बैंक ऑव इण्डिया, दी स्टैण्डर्ड बैंक, दी बाम्बे मर्चेन्ट्स बैंक तथा बैंक ऑव अपर इण्डिया लि०।

१९१३-१७ का बैंकिंग-संकट एवं उसके कारण

१९१३ में भारतीय मुद्रा-मण्डी की अस्थिरता के कारण बैंकिंग संकट का आरम्भ हुआ क्योंकि १९१२-१३ में लगभग हमारी मुद्रा-मण्डी में कमजोरी के चिह्न प्रतीत होने लगे। उस समय प्रेसीडेंसी बैंकों की ब्याज दर ७%-८% थी। इस कमजोरी का प्रमुख कारण मुद्रा मण्डी के विभिन्न अंगों में संगठन का अभाव तथा साख एवं मुद्रा-पद्धति में लोच की कमी था। इस काल में युद्ध प्रारम्भ होने से सरकार ने मुद्रा-मण्डी से धन खींचना शुरू किया। परिणामस्वरूप मुद्रा एवं साख की कमी हो गई तथा ब्याज की दर ऊँची हुई, जो स्वाभाविक ही था। ब्याज दर बढ़ने से बैंकों ने असीमित मात्रा में ऋण देना प्रारम्भ किया जिससे अधिक लाभ कमाया जाय। बैंकिंग पद्धति पर इसका प्रभाव बुरा हुआ क्योंकि असीमित ऋण के कारण रोकड़ निधि कम हो गई। साथ ही युद्ध के कारण बैंकों के स्थायित्व में जनता का विश्वास कम होने लगा तथा निक्षेपों की माँग होने लगी। इसका पहिला धक्का पीपुल्स बैंक ऑव इण्डिया को लगा जिसने अपने दरवाजे सितम्बर १९१३ में बन्द किये। इस बैंक के विलियन से जनता के विश्वास को और भी धक्का लगा, और एक के बाद दूसरा बैंक बन्द होने लगा। यह संकट १९१७-१८ तक अबाधित रूप से चलता रहा। यह संकट भारत के बैंकिंग इतिहास में सबसे महान् संकट था, जिसमें अनेक बैंक डूब गये जिनकी कुल संख्या ८७ थी। इनकी चुकता पूँजी एवं निधि १७५ लाख रुपये थी। यह पूँजी १९१७ के भारतीय बैंकों की चुकता पूंजी की ५०% थी।

बैंक विलियन के कारण

१ अयोग्य प्रबन्ध—स्वदेशी आन्दोलनों के परिणामस्वरूप बैंकों की स्थापना ऐसे व्यक्तियों द्वारा हुई जिनको इस क्षेत्र का न तो पूर्ण अनुभव ही था और न वे भूतपूर्व बैंकिंग-संकटों से परिचित थे। इन्होंने बैंकिंग सिद्धान्तों का पूर्णतः पालन नहीं किया। उदाहरणार्थ, **दी क्रेडिट बैंक ऑव इण्डिया**, जिसका मैनेजर यह भी नहीं जानता था कि बिल क्या होता है।

२ पूंजी की कमी—इन्होंने जनता को धोखा देने के लिए अपनी अधिकृत पूँजी के बड़े-बड़े आंकड़े प्रकाशित किये तथा प्रार्थित और चुकता पूंजी को छिपाकर रखा जिसका अनुपात अधिकृत पूँजी से बहुत ही कम था। अतः कार्यशील पूंजी के लिए उन्हें जनता के निक्षेपों पर निर्भर रहना पड़ा। उदाहरणार्थ पूना बैंक पूना, जिसके विज्ञापन में अधिकृत पूंजी तथा प्रार्थित पूंजी के आंकड़े १० करोड़ और ५० लाख रुपये क्रमशः दिये गये थे परन्तु १०० रु० के

प्रत्येक अश पर ८५ रु० अदत्त थे।[1] इसी प्रकार अन्य बैंको के निक्षप चुकता पूंजी स कई गुने अधिक थे एव उन्होने अपने थोडे से काल मे ही अनेक शाखाएँ खोल रखी थी, जैसे अमृतसर नेशनल बैंक लि०, पायोनियर बैंक लि०, हिदुस्तान बैंक लि० मुल्तान आदि।

३ गलाकाट स्पर्धा—अधिकाधिक निक्षेपो को आकर्षित करने के लिए इनको निक्षेपो पर अधिक व्याज देना और अधिक व्याज देने के लिए अधिक लाभ कमाना भी आवश्यक था। इसलिए इन बैंको ने अपनी राशि का **विनियोग दीर्घकालीन तथा औद्योगिक ऋणो की पूर्ति मे किया।** परिणामस्वरूप निक्षेपको की ओर से जब माँग होने लगी तब भुगतान करने मे बैंक असमर्थ रहे और उन्हे अपने दरवाजे बन्द करने पडे। अर्थात् **इन्होने अल्पकालीन निक्षेपो से दीर्घकालीन औद्योगिक ऋणो का प्रदाय किया।** उदाहरणार्थ, दी पीपुल्स बैंक ऑव लाहौर, टाटा इण्डस्ट्रियल बैंक तथा अमृतसर बैंक जो क्रमश १९१३, १९२३ और १९१४ मे विलीन हुए। यह व्यापारिक बैंकिंग सिद्धान्तो के विरुद्ध था।

४ **निक्षेपो का सट्टे मे विनियोग**—अनेक बैंको ने निक्षपो का विनियोग सट्टे मे किया जो बैंकिग व्यापार के लिए खतरनाक एव अवाछनीय है। जैसे दी इण्डियन स्पेशी बैंक लिमिटेड, सचालको ने सोने, चाँदी, मोती आदि के सट्टे किये। इसके अतिरिक्त इस बैंक ने ऐसे अनेक ऋण दिये जो वास्तव मे व्यापार की सुरक्षा की दृष्टि से देना अवाछनीय था। विभिन्न कारणो से होने वाली इसकी हानि निम्न प्रकार थी —

चाँदी के सट्टे मे हानि	१११ लाख
मोती से रक्षित ऋणो से हानि	३६ लाख
बदता व्यवहारो मे हानि	१४ लाख
अवाछनीय ऋणो मे हानि	४ लाख
	कुल हानि १६५ लाख[2]

इस बैंक के विषय मे आरम्भ से ही मालूम था कि यह सट्टे म फँसा है किन्तु इसके सचालक यह छिपाते रहे। इतना ही नही अपितु इन्होने १९०६ से

1 *Modern Banking in India* by S K Muranjan, pp 336-362
2 *Modern Banking in India* by S K Muranjan, p 353

बैंक को कोई लाभ न होते हुए भी पूँजी में से लगभग २२ लाख रुपये का लाभ वितरण किया जो लेखापालन (accounting) सिद्धान्तों के विरुद्ध था।

५ सचालकों द्वारा बैंक के साधनों का निजी स्वार्थ में उपयोग—अनेक सचालक एव प्रवन्धक स्वार्थी भी थे, जिन्होंने अपने द्वारा सचालित बैंकों की राशि में अन्य स्वचालित उद्योगों को ऋण दिये थे। इतना ही नहीं, अपितु उन्होंने कपट एव बेईमानी से, झूठे हिसाब दिखाकर अपने बैंक की स्थिति अच्छी दिखाई थी। उदाहरणार्थ, **काठियावाड एण्ड अहमदाबाद कार्पोरेशन**। इसके विलियन के लिए जब न्यायालय से आज्ञा दी गई तो अकेक्षकों (auditors) ने रिपोर्ट देने से मना किया और जब न्यायालय की ओर से अन्य अकेक्षकों की नियुक्ति की गई तो वे इस बैंक की लेखा पुस्तके आदि भी प्राप्त न कर सके। दूसरे, **दी पायोनियर बैंक** बम्बई की चुकता पूँजी भी काल्पनिक थी क्योंकि जो पूँजी चुकता दिखाई गई थी वह अशधारियों को ऋण दी गई थी। तीसरे, **क्रेडिट बैंक ऑव इण्डिया** का व्यवस्थापक जाफर ओसव था इसने १६१३ में विलियन के समय न्यायालय म यह मान्य किया कि उसे बैंकिंग एव लेखा-पालन के सिद्धान्तों का किंचित भी ज्ञान न था। इसने यह भी कहा कि बैंकिंग व्यवसाय की प्रगति के लिए यह दिखावा (window-dressing) किया गया था जिसके लिए अकेक्षक जिम्मेदार थे।

६ **अनेक बैंक केवल दुर्भाग्य के कारण बन्द हुए**—क्योंकि किसी न किसी कारण से जनता का विश्वास उनसे उठ गया किन्तु इनमें भी व्यवस्था की किंचित् शिथिलता थी ही। इस प्रकार केवल दुदैव से निम्न बैंकों का विलियन हुआ।

बैंक ऑव अपर इण्डिया, मेरठ (१८६३)—यह १६१३ तक प्रगति दिखाने के बाद भी १६१४ में विलीन हो गया। इसके अशधारियों एव निक्षेपकों को पूर्ण राशि मिली। इस बैंक के दिये हुए सब ऋण सुरक्षित थे परन्तु पीपुल्स बैंक के विलियन से इसको भी धक्का लगा जिससे ७८ लाख रुपये के निक्षेपों का भुगतान किया गया। परन्तु युद्ध प्रारम्भ होने ही जो दूसरा धक्का लगा उसे यह सहन न कर सका और अक्टूबर १६१४ में इसने भुगतान रोक दिया।

अलायंस बैंक ऑव शिमला (१८७४)—इसका प्रमुख कारण इसके लदन स्थित अभिकर्ता बोन्टन ब्रदर्स की अबुद्धिमानी थी। १५० लाख का ऋण नहीं दिया, इस बदनामी के फैलने ही इसको अप्रैल १६२३ में भुगतान रोकना पड़ा तथा विलियन हुआ।

उक्त कारणो से अनेक बैंक इस सकट मे विलीन हुए। इसके अतिरिक्त बैंक विलियन के निम्न कारण भी हैं —

७ समुचित बैंकिंग अधिनियम का अभाव—यह भी बैंकिंग के समुचित विकास के लिए आवश्यक है, जिससे जनता का बैंको में विश्वास बढ़ जाता है तथा व्यवस्था भी अच्छी रहती है।

८ केन्द्रीय बैंक न होना—देश म समुचित बैंकिंग विकास के लिए केन्द्रीय बैंक का अभाव था जो इन अवाञ्छनीय प्रवृत्तियो को नियन्त्रित कर सके तथा सकट के समय डूबते हुए बैंको को सहायता प्रदान करे।

९ अशधारियो का अज्ञान एव अरुचि—अधिकतर बैंको के हिस्सेदार बैंकिंग व्यापार से अनभिज्ञ थे तथा उन्होने अपने बैंको की समुचित प्रगति की ओर न ध्यान ही दिया और न उनके कपट को जानने का कष्ट उठाया।

बैंकिंग-सकट का परिणाम—बैंकिंग-सकट के कारण कुछ समय के लिए बैंको से जनता का विश्वास उठ गया परन्तु युद्ध के द्वितीय अर्द्धभाग मे परिस्थिति सुधरने लगी। इस सकट का सबसे अच्छा परिणाम यह हुआ कि देश की जनता एव सरकार को यह अनुभव हुआ कि समुचित बैंकिंग विकास के लिए बैंको का नियन्त्रण बहुत आवश्यक है। फिर भी १९२९ तक इस दशा म कोई कार्यवाही नही हुई। १९३० मे बैंक विलियन के कारणो की जाँच के लिए केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति की नियुक्ति हुई। इस समिति का उद्देश्य बैंको के विलियन के कारणो की जांच कर बैंकिंग कलेवर को मजबूत बनाने के लिए सिफारिशें करना था।

इस समिति ने (१) केन्द्रीय बैंक की स्थापना तथा बैंकिंग विधान बनाने पर जोर दिया। फलत १९३५ मे रिजर्व बैंक की स्थापना की गयी जो देश का केन्द्रीय बैंक बना।

(२) भारतीय कम्पनी अधिनियम मे १९३६ मे सशोधन किये गये। इन सशोधनो के अनुसार बैंकिंग की परिभाषा, उनके निषिद्ध कार्य, उनका नियन्त्रण, प्रबन्ध अभिकर्ता एव सचालको की नियुक्ति आदि सम्बन्धी नई धाराएँ जोडी गई।

(३) सयुक्त स्कन्ध बैंको के सचालकों एव प्रबन्धको को भी यह शिक्षा मिली कि बैंकिंग विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे अधिक रोकड निधि तथा सम्पत्ति मे तरलता रखने की अत्यन्त आवश्यकता है, विशेषत. भारत जैसे देश मे, जहाँ बैंको का प्रसार बहुत कम है।

प्रथम महायुद्ध के प्रथम अर्द्ध भाग में बैंकिंग संकट आया जिससे जनता का विश्वास बैंकों से उठ गया। इससे अधिक राशि में निक्षेप लिए जाने लगे तथा ऋणपूर्ति की राशि घट गयी। परिणामस्वरूप साख का नियन्त्रण भी हो गया। परन्तु इस अविश्वास का क्रमशः अन्त हुआ तथा बैंकों में पुनः जनता का विश्वास आ गया। द्वितीय अर्द्ध भाग में देश की आर्थिक प्रगति भी सन्तोषजनक हुई जो १९२१ तक रही। युद्ध के कारण कुछ मात्रा में मुद्रा-स्फीति हुई, जनता के पास अधिक धन हो गया और बैंकों के निक्षेपों में वृद्धि होने लगी। इससे बैंकों की स्थापना को पुनः प्रोत्साहन मिला तथा नये-नये बैंकों की स्थापना होने लगी। इस अवधि में विशेषतः औद्योगिक बैंकों की स्थापना हुई जिसमें टाटा इण्डस्ट्रियल बैंक का नाम उल्लेखनीय है। इसका विलियन १९२३ में हुआ। १९२१ तक जिन बैंकों की चुकता पूँजी एवं निधि ५ लाख रुपये से अधिक थी उनकी संख्या २५ हो गई और चुकता पूँजी एवं निधि तथा निक्षेपों की राशि क्रमशः ११ करोड़ और ७१ करोड़ रुपये हो गई। इसी समय केन्द्रीय बैंक का अभाव दूर करने तथा साख नियन्त्रण करने के लिए १९२१ में बम्बई, मद्रास और बङ्गाल के प्रसीडेन्सी बैंकों के एकीकरण से इम्पीरियल बैंक की स्थापना हुई। इसकी चुकता पूँजी एवं निधि ९.७ करोड़ तथा निक्षेप (जनता ६५ करोड़+सरकार ७ करोड़) ७३ करोड़ रु० के थे एवं ७० शाखाएँ थीं।

१९२१ के बाद आर्थिक मन्दी आई और मुद्रा-संकोच भी किया जाने लगा जिससे पुनः बैंकिंग संकट आया तथा बैंकों का विलियन होने लगा। आर्थिक मन्दी के कारण निक्षेप भी घटने लगे। ८० करोड़ रु० (१९२१ में) से घटकर १९२४ में केवल ५५ करोड़ रु० रह गये। इस अवधि में छोटे बड़े सब मिलाकर ८८७ बैंक बन्द हुए जिनकी चुकता पूँजी लगभग ८ करोड़ रु० थी। इस अवधि में टूटने वाले बैंकों में टाटा इण्डस्ट्रियल बैंक तथा अवध कमर्शियल बैंक प्रमुख थे। इनमें से पहले का समावेश अलाहाबाद बैंक में हुआ। १९२४ से १९३० तक बैंकिंग स्थिति में कुछ सुधार हुआ परन्तु निक्षेपों में उल्लेखनीय प्रगति न हुई अपितु बैंकों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। १९३२ के बाद बैंकों के निक्षेपों में वृद्धि होने लगी तथा बैंकिंग परिस्थिति भी समुचित रूप से सुधरती गई। १९३२ में पीपुल्स बैंक ऑव नादर्न इण्डिया तथा १९३८ में ट्रावनकोर नेशनल बैंक एवं क्वीलोन नेशनल बैंक बन्द हुए। इन बैंकों के विलियन से अन्य बैंकों पर बुरा प्रभाव हुआ तथा निक्षेप कम होने लगे किन्तु बैंकों की शाखाओं का विस्तार ही होता गया। १९२२ से १९३९ तक १७ वर्षों में कुल बैंकों की शाखाएँ तिगुनी हो गईं।

यह दूसरा बैंकिग सकट था परन्तु इसकी तीव्रता १९१३-१७ के सकट से कम थी। इस सकट के कारण केवल दक्षिण भारत में बैंकों का ही विलियन हुआ जिसमे सबसे महत्त्वपूर्ण ट्रावनकोर नेशनल बैंक तथा क्वीलोन बैंक थे।

इन बैंको के विलियन से यह प्रमाणित हो गया कि १९३६ मे किये गये सशोधन बैंको का विलियन रोकने के लिए अधूरे थे। इसलिए १९४२ और १९४४ मे भारतीय कम्पनी अधिनियम मे पुन सशोधन किया गया।

बैंको का अव्यवस्थित विकास

यहाँ यह अवश्य मानना पडेगा कि इस अवधि मे जो बैंकिग विकास हुआ वह अव्यवस्थित था क्योंकि देश मे साहसी व्यक्तियों का अभाव था जो इस व्यापार को अपनाते। जो लोग इस व्यवसाय मे थे भी उन्होंने बैंकिग विकास क्षेत्र का समुचित अध्ययन नही किया था, फलतः उन्होंने उन्ही स्थानों पर शाखाएँ खोली, जहाँ पहिले से ही अन्य बैंको की शाखाएँ थीं। अथवा जहाँ पाच महान् बैंको की शाखाएँ थीं वही पर अन्य छोटे बैंकों ने भी अपनी शाखाएँ खोलीं। दूसरे, देश के पाँच महान् अथवा अन्य बडे-बडे बैंको ने इम्पीरियल बैंक का अनुकरण किया अर्थात् जहाँ-जहाँ इम्पीरियल बैंक ने अपनी शाखाएँ खोली, वही पर बडे-बडे बैंको ने अपनी शाखाएँ खोली। तीसरे, भारत मे जो विदेशी बैंक थे, उन्ह भारत के व्यवस्थित बैंकिग विकास से तो मतलब था ही नही, उन्ह तो मतलब था अपने लाभ से। अत उन्होंने लाभ का उद्देश्य सामने रखकर उन्ही स्थानो पर शाखाएँ खोली जो बडे-बडे व्यापारिक एव औद्योगिक केन्द्र थे।

इस अव्यवस्थित विकास से देश मे बैंको की सख्या उत्तर प्रदेश, बम्बई, मद्रास, बगाल और पजाब मे तो बढती गई परन्तु बिहार उडीसा, मध्य प्रदेश मे इनकी भारी कमी रही और विशेषत देशी रियासतों मे। क्योंकि बैंक वैधानिक अडचनो के कारण देशी रियासतो मे शाखाएँ खोलने मे हिचकते थे। और सम्भव था कि अगर इम्पीरियल बैंक को देशी रियासतो मे सुविधाएँ न दी होती तो इन रियासतो मे आधुनिक ढङ्ग का कोई भी बैंक न होता।[1] किन्तु छोटे-छोटे शहरो मे भी अनेक शाखाएँ खोली गई जो विशेषत छोटे-छोटे बैंको की ही थी। डॉ० मुरैजन के अनुसार पाच महान् बैंको म से बैंक ऑव बडौदा की ६०% प्रतिशत शाखाएँ ऐसे शहरो मे थी जिनकी जनसख्या २०,००० से कम है। फिर भी यह बैंक किसी बहुत बडी बैंक से कम नही, उसकी सम्पत्ति भी उतनी

---

1 *Banking in India* by S G. Panandiker.

ही सुरक्षित है एव उनके लाभ म भी किसी भी प्रकार की कमी नही। डॉ० पानन्दीकर के अनुमार १०,००० जनसख्या वाले गाँवा म स २७% गाँवा म छोटे छोटे बैंका की शाखाओं का विस्तार हो गया है जो पहले केवल १४% था। किन्तु भारत म यह विकास अब भी ठीक नही कहा जा सकता। १६४५ मे भारत के कुल २५०० शहरा म स केवल १६५० शहरा म बैंक या उनकी शाखाएँ थी और अखिल भारत म केवल ५५६७ बैंक एव उनकी शाखाएँ है। यह विकास अन्य राष्ट्रो की तुलना म नही के बराबर है। भारत म जहा प्रति ८०,००० व्यक्ति एक बैंक है वहा अमेरिका म प्रति ३७३८ व्यक्ति जापान मे ६४६१ व्यक्ति तथा इङ्गलैण्ड म ४६१५ व्यक्तियो के लिए एक बैंक है। इसी प्रकार स्टेट बैंक की शाखाएँ भी आजकल ४६२ जिला म नहीं है। इसम स्पष्ट है कि बैंका की शाखाएँ केवल शहरा तक ही सीमित है परन्तु ग्रामीण भारत म अभी तक बैंका की सुविधाएँ नही है।

दूसरे युद्ध का बैंकिंग पर परिणाम

१ **निक्षेपो मे वृद्धि**—दूसरा युद्ध आरम्भ होते ही पहिले तो निक्षेप काफी मात्रा म निकाल गये जो ५.१२ करोड रु० स कम हो गये। किन्तु क्रमश बैंका म जनता का विश्वास स्थापित होते ही निक्षेप बढने लगे जिनकी राशि १६३८ के २४६.४५ करोड रु० स १६४३ म ६५५.०७ तथा १६४६ के अन्त म १०६७ करोड रु० हो गई। निक्षेपो की वृद्धि के लिए यत्र सामग्री के आयात की असम्भवता सोना चाँदी एव स्थायी सम्पत्ति के मूल्यो म अधिक उतार चढाव मुद्रा स्फीति तथा रिजर्व बैंक की सुलभ मुद्रा नीति—ये प्रमुख कारण थ। मुद्रा-स्फीति के कारण १६४८ म पत्र मुद्रा की राशि ७०१४ करोड रु० से अधिक हो गई थी।

२ **निक्षेपो के स्वरूप मे परिवर्तन**—इस अवधि म निक्षेपो के स्वरूप म भी परिवर्तन हुआ जो बैंका के माग निक्षेप एव स्थिर निक्षेपो के अनुपात से स्पष्ट होता है। इस अवधि म स्थायी निक्षेप कम हुए परन्तु माग निक्षेप बढे। इसका प्रमुख कारण स्थायी निक्षेपो की अपेक्षा माग निक्षेपो पर दिये जाने वाले ब्याज की अधिकता थी। दूसरे सोने चाँदी के मूल्यो मे उतार-चढाव होने से इनके मूल्य गिरते ही इनको खरीदने के लिए किसी भी समय राशि निकाली जा सके, इसलिए जनता चालू खाता म अपने निक्षेप रखना ही अधिक पसन्द करती थी।

३ **नये बैंको की स्थापना एव शाखाओं का विस्तार**—धन की अधिकता

एव लाभप्रद विनियोगो के साधनो का अभाव होने से उद्योगपतियो ने नये बैंक स्थापित करना आरम्भ किया। इसके साथ ही पुराने बैंको ने अपनी शाखाएँ बढाना आरम्भ किया। युद्ध के प्रथम दो वर्षों (१६३६-४१) मे इसकी गति धीमी रही। परन्तु १६४२ से १६४८ की अवधि मे इस दिशा मे तीव्र गति से प्रगति हुई जिनमे छोटे बैंको की सख्या अधिक थी। फलत बैंको की सख्या जो १६३६ मे १६५१ थी वह १६४६ मे ५५२१ हो गई। युद्ध-काल मे स्थापित नये बैंको की युनाइटेड कमर्शियल बैंक, हिन्दुस्तान कमर्शियल बैंक, हबीब बैंक हिन्दुस्तान मर्केन्टाइल बैंक आदि उल्लेखनीय है। १६३६ म सूचीबद्ध एव विनिमय बैंका की सख्या ५३ थी जो १६४६ मे ६३ हो गई तथा इनके कार्यालयो की सख्या ११२८ से ३१०६ हो गई। सूचीबद्ध बैंको की सख्या १६३६ मे २३१ थी जो १६४६ म ६७७ हो गई। इस बैंकिंग विकास मे कुछ दोष थे फिर भी बैंकिंग कलेवर मजबूत होता गया।

४. बैंको की विनियोग नीति में परिवर्तन—युद्ध-काल मे सूचीबद्ध बैंको द्वारा दिये जाने वाले ऋणो मे भी कमी हुई जो पहिले कुल सम्पत्ति के ६२% होते थे वे अब केवल २५% रह गये। पाँच बडे बैंको के ऋणो का यही अनुपात ५३% से ३०% तथा इम्पीरियल बैंक का ५५% से ३०% रह गया।

फलस्वरूप सरकारी प्रतिभूतियो मे बैंक अधिक विनियोग करने लगे जिससे उनकी सम्पत्ति मे तरलता आ गई जो वाछनीय ही था। सूचीबद्ध बैंको के विनियोगो का अनुपात युद्ध-पूर्व की कुल सम्पत्ति के ५४% से ६१% तथा इम्पीरियल बैंक का यही अनुपात ४३% से ५१% हो गया। बैंको की इस प्रवृत्ति का प्रमुख कारण व्यापारियो के पास धन की अधिकता थी, जिससे उन्हे बैंक मे ऋण लेने की आवश्यकता न थी।

५ बैंको के लाभ मे वृद्धि—बैंको के अपनी राशि का सरकारी प्रतिभूतियो मे अधिक विनियोग करने से उनकी सम्पत्ति मे तरलता आई। इसलिए यह न सोचना चाहिए कि बैंको का लाभ कम हो गया। क्योकि ऋण-प्रदाय म कमी तथा सरकारी प्रतिभूतियो मे विनियोग के कारण बैंको के लाभ मे जो कमी हुई उसकी पूर्ति बैंको द्वारा निक्षेपो पर दिये जाने वाले ब्याज दर की कमी से हुई। इसके साथ ही शाखाओ के विस्तार के कारण बैंको के लाभ भी बढ गये।

६ रोकड निधि मे वृद्धि—इसी अवधि मे बैंको की देनदारी के अनुपात मे

रोकड़-निधि में वृद्धि हुई। सूचीबद्ध बैंकों की युद्ध-पूर्व रोकड़-निधि देनदारी की ११% थी जो १९४६ में २५% हो गई। इम्पीरियल बैंक की रोकड़-निधि का यही अनुपात १९३९ में १५% था जो १९४३ में २८% हो गया। यह भारतीय स्थिति एवं समुचित बैंकिंग विकास के लिए लाभकर ही रहा। इससे बैंकों की रिजर्व बैंक पर निर्भरता कम हो गई तथा देश में केवल थोड़े से बैंक ऐसे थे जिन्होंने रिजर्व बैंक से सहायता प्राप्त की। रिजर्व बैंक द्वारा दी जाने वाली सहायता का युद्धकालीन वार्षिक औसत १ करोड़ रु० से ४ करोड़ रु० तक था।

७ योग्य एवं अनुभवी बैंक कर्मचारियों की कमी—युद्ध-काल में बैंकों का असीमित विस्तार होने से उनको अनुभवी एवं कुशल कर्मचारियों की कमी प्रतीत होने लगी। अतः अनेक नये बैंकों ने पुराने बैंकों के अनुभवी कर्मचारियों को अधिक वेतन देकर आकर्षित किया। फिर भी आज बैंकों में अनुभवी एवं कुशल कर्मचारियों का अभाव है। इस हेतु रिजर्व बैंक ने बैंकिंग शिक्षा के लिए आवश्यक कार्यवाही की है।

८ अनुचित प्रतियोगिता—इस अवधि में बैंकों की संख्या और उनकी शाखाओं का असीमित विस्तार हुआ। बैंकों की शाखाएँ ऐसे अनेक स्थानों पर खोली गई जहाँ या तो कोई आवश्यकता नहीं थी अथवा पर्याप्त बैंकिंग सुविधाएँ थीं। इस कारण बैंकों में अनुचित प्रतियोगिता बढ़ गई। परिणाम-स्वरूप अनेक बैंकों का विलियन हुआ —

१९३९	८०	१९४३	५१
१९४०	१०७	१९४४	२७
१९४१	७७	१९४५	२६
१९४२	४९	१९४६	२७

युद्धकालीन बैंकिंग विकास के दोष

युद्धकालीन बैंकिंग विकास मजबूत स्तर पर होते हुए भी दोष-रहित नहीं था क्योंकि,

(१) **शाखाओं का अव्यवस्थित विकास**—बैंकों ने उन क्षेत्रों की ओर ध्यान नहीं दिया जहाँ बैंकिंग सुविधाओं की आवश्यकता थी अपितु अपनी शाखाएँ ऐसे स्थानों में खोली जो उनके प्रमुख व्यवसाय क्षेत्र से बहुत दूर थे। इससे प्रबन्ध-व्यय बढ़ गया।

(२) **बैंक अंशों में सट्टा**—युद्ध-काल में बैंकों के लाभ बढ़े और उन्होंने

अधिक लाभांश (dividend) का वितरण किया। इससे बैंकों के अंशों में सट्टा होने लगा।

(३) लाभ का अवांछित उपयोग—सरकारी प्रतिभूतियों के मूल्य बढ़ने से बैंकों का जो लाभ हुआ उसका उपयोग "संचित कोष" के लिए न करते हुए लाभांश-वितरण के लिए किया गया जो बैंकिंग सिद्धान्तों के विरुद्ध है।

(४) बैंकिंग के साथ अन्य व्यापारों का सम्बन्ध—बैंकों का संचालन एवं नियन्त्रण ऐसे व्यक्तियों द्वारा किया गया जो अन्य व्यापार या उद्योग में अधिक भाग ले रहे थे। यह युद्धकालीन बैंकिंग विकास का सबसे बड़ा दोष था। उदाहरणार्थ, बिरला, सिंघानिया तथा डालमिया द्वारा संचालित क्रमशः युनाइटेड कमर्शियल, हिन्दुस्तान कमर्शियल तथा भारत बैंक (जिसका समावेश पंजाब नेशनल बैंक में हो गया है।)

(५) लेखा पुस्तकों में हेर-फेर—बैंकों की अव्यवस्था एवं दोषों को छिपाने के लिए लेखा-पुस्तकों में हेर-फेर करना। इससे सट्टे के लिए दिये गये तथा अरक्षित ऋणों को छिपाया गया।[1] इस कारण अनेक बैंकों का विलियन हुआ।

(६) सुयोग्य एवं कुशल कर्मचारियों की कमी।

(७) अनुचित प्रतिस्पर्धा।

युद्धोत्तर काल में—युद्ध समाप्त होते ही बैंकों की सम्पत्ति एवं देनदारी का स्वरूप पुनः पूर्व-स्तर पर आ गया अर्थात् स्थायी निक्षेपों में वृद्धि और चल निक्षेपों में कमी होने लगी। साथ ही बैंक द्वारा दिये जाने वाले ऋणों में भी वृद्धि होने लगी जिससे बैंकों की सरकारी प्रतिभूतियों तथा रोकड़ निधि में कमी आ गई। मुद्रा-स्फीति तथा मूल्य-स्तर में वृद्धि होने से बैंकों का प्रबंध व्यय बढ़ा परन्तु ऋणों में वृद्धि होने से उनके लाभ प्रभावित नहीं हुए।

फलस्वरूप बैंकों ने कार्यक्षमता एवं योग्य कर्मचारियों की कमी होते हुए भी नई-नई शाखाएँ खोलना आरम्भ किया। इससे अल्प रूप में बैंकिंग संकट आया जिसका परिणाम विशेषतः बंगाल के बैंकों पर हुआ क्योंकि इन्होंने अंशों की जमानत पर अधिक ऋण दिये थे जिनके मूल्य गिर रहे थे। इसका प्रभाव अन्य बैंकों पर नहीं हुआ। इस संकट के कारण रिजर्व बैंक ने सट्टे के लिए ऋण न देने का आदेश दिया तथा १९४६ में शाखाओं का विस्तार रोकने के लिए बैंकिंग कम्पनीज (शाखा-नियन्त्रण) कानून स्वीकृत हुआ। इसका प्रभाव बैंकिंग कलेवर पर अच्छा हुआ।

---

1 Commerce 16-8-52

भारत विभाजन का बैंकिंग पर प्रभाव

१५ अगस्त १९४७ को भारतीय स्वतन्त्रता के साथ भारत का विभाजन हुआ। इससे पजाब और बगाल मे भीषण कृत्यो का ताडव-नृत्य शुरू हुआ, जिससे देश के उत्पादन और आयात-निर्यात व्यापार मे कमी आई तथा करोड़ो की सम्पत्ति का नाश हुआ। इससे विशेषत पजाब मे बैंको को अधिक हानि हुई जिसका ठीक ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता। १९४७ मे विभाजन के कारण सट्टे की वृद्धि तथा पाकिस्तानी क्षेत्रों मे भगदड के कारण १९४७ में ३० बैंको का विलियन हुआ जिनम अधिकतर असूचीबद्ध बैंक थे। साथ ही सूचीबद्ध बैंको को भी कठिनाइयो का सामना करना पडा।

विभाजन की वार्ता आते ही पजाब के बहुत-से बैंकों ने, जैसे **पजाब नेशनल बैंक आदि, अपने प्रमुख कार्यालय दिल्ली अथवा पूर्वी पजाब के सुरक्षित स्थानो** पर हटा लिये तथा पश्चिमी पजाब की शाखाओ द्वारा ऋण देना कम किया गया। परन्तु यह कुछ सीमा तक ही हो सकता था। विभाजन होते ही पश्चिमी पजाब के अनेक बैंको को अपनी क्रियाएँ बन्द करनी पडी जिससे उनको बहुत हानि हुई। इस सकट को रोकने के लिए रिजर्व बैंक एक्ट की १७ वीं धारा का सशोधन किया गया जिससे सूची-बद्ध बैंको को योग्य प्रतिभूतियो के आधार पर रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त करने की सुविधाएँ दी गई। दूसरे, **पूर्वी पजाब तथा दिल्ली आदेश (१९४७) भी लागू किया गया। इससे जिन बैंकों के प्रमुख कार्यालय दिल्ली या पूर्वी पजाब में हैं उनके विरुद्ध तीन मास तक कोई भी कार्यवाही नहीं** की जा सकती थी। इसी के साथ इस स्थगित शोधन काल (moratorium period) म बैंक अपने भारतस्थित चल-निक्षेपो का केवल १० प्रतिशत अथवा २५० रु० (जो भी कम हो) का भुगतान कर सकते थे। सरकार ने विस्थापित बैंको के पुर्नानिवास के लिए भी १ करोड रुपए की सहायता दी। फलत इस सकट मे अन्य बैंको की सुरक्षा हुई जिन्हे विलियन से बचाया जा सका।[1] १९४९ म बैंकिंग कम्पनी (परीक्षण) आदेश भी लागू किया गया। इससे रिजर्व बैंक सरकारी आदेश पर किसी भी बैंक का परीक्षण कर उसकी रिपोर्ट सरकार को देने के लिए उत्तरदायी था। फलत जिन बैंकों की स्थिति अच्छी नहीं थी, उनका विलियन किया गया तथा अन्य बैंको को बचाया जा सका।

---

[1] इस प्रकार १९४६ मे २७, १९४७ मे २९, १९४८ मे ३६, १९४९ मे ४४, १९५० मे ३१ तथा १९५१ मे २३ बैंको का विलियन हुआ।

रिजर्व बैंक की रिपोर्ट के अनुसार जिन बैंकों का स्वेच्छा से विलियन हुआ अथवा जिन्होंने अपना कार्य बन्द किया, उनकी तालिका निम्न है :—

	बैंक	चुकता पूँजी
१९३९-१९४७ का वार्षिक औसत	५६	०.२८ करोड़ रु०
१९४८	४२	१.३५ ,,
१९४९	५३	१.०८ ,,
१९५०	४६	१.५६ ,,
१९५१	६०	२.५२ ,,

विभाजन से जो बैंकिंग सकट आया उसका हमारी बैंकिंग स्थिति पर अच्छा परिणाम हुआ क्योंकि इससे रिजर्व बैंक का उत्तरदायित्व बढ़ गया। बैंकों के नियन्त्रण एवं समुचित विकास के लिए कुछ वैधानिक संशोधन तथा नये अधिनियम बनाये गये (जिनका समावेश बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम, १९४९ में हो गया) तथा बैंकों के व्यवस्थापक भी अपनी जिम्मेदारी के प्रति सतर्क हो गये। इन सकटों के कारण अनेक अवाछनीय प्रवृत्तियों एवं अव्यवस्थित शाखा-विस्तार को रोका गया। इससे बैंकिंग कार्य-क्षमता का स्तर उन्नत हुआ तथा आजकल बैंक अपनी शाखाओं का विस्तार न करते हुए आर्थिक स्थिति एवं व्यवस्था को सुदृढ़ करने में प्रयत्नशील हैं। रिजर्व बैंक भी समुचित रूप में इनका नियन्त्रण कर रहा है।

भारतीय बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम १९४९ से रिजर्व बैंक को असीमित अधिकार मिल गये हैं जिससे देश का बैंकिंग विकास समुचित ढग पर हो रहा है। आजकल अनेक बैंक बढ़ते हुए व्यय के कारण अपनी अलाभकर शाखाओं को बन्द करने लगे हैं तथा एकीकरण की ओर प्रयत्नशील हैं। इस अवधि में नाथ बैंक, दी एसोशिएटेड बैंकिंग कम्पनी, इण्टरनेशनल बैंक ऑफ इण्डिया, दी एक्सचेंज बैंक ऑफ इण्डिया एण्ड अफ्रीका, कलकत्ता नेशनल बैंक एवं ज्वाला बैंक का विलियन हो चुका है। इसी प्रकार १९५० में बङ्गाल के चार बैंकों का—कोमिल्ला बैंकिंग कारपोरेशन कोमिल्ला युनियन बैंक, हुगली बैंक तथा बङ्गाल सेंट्रल बैंक के एकीकरण से दी युनाइटेड बैंक ऑफ इण्डिया लि० का निर्माण किया गया है। इसी प्रकार जुलाई १९५५ में इम्पीरियल बैंक तथा अन्य राज्य बैंकों के एकीकरण से स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का निर्माण किया गया है। इससे हमारा बैंकिंग व्यवसाय अब मजबूत नींव पर आधारित है।

भारत में बैंकों का एकीकरण

१९४९ के बैंकिंग अधिनियम में बैंकों के एकीकरण का आयोजन किया गया। इससे कमजोर एवं अव्यवस्थित बैंकों का एकीकरण सुदृढ़ एवं बड़े बैंकों के

साथ होकर अवांछनीय प्रतियोगिता का निवारण हो सकेगा तथा बैंकिंग कलेवर मजबूत होगा। क्योंकि कमजोर बैंकों की संख्या अधिक होने की अपेक्षा सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित बैंकों की कम संख्या होना अधिक वांछनीय है इसलिए बैंकों की भी आजकल एकीकरण की ओर प्रवृत्ति हो चली है।

एकीकरण से लाभ—(१) बैंकों के एकीकरण में **प्रबन्ध का केन्द्रीकरण** होकर प्रबन्ध व्यय में मितव्ययता आती है और उनके आर्थिक साधन मजबूत एवं अधिक हो जाते हैं।

(२) बैंकों के एकीकरण में कमजोर बैंकों का समावेश अच्छे एवं सुदृढ़ बैंकों में हो जाने से उनको **अनुभवी कर्मचारियों की सेवाओं का लाभ** होता है। इससे बैंकों की उपयोगिता बढ़ती है तथा इन की बैंकिंग सुविधाओं में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। अच्छे एवं बड़े बैंकों की शाखाओं की कार्य शैली में समानता रहती है तथा उनको शाखा-बैंकिंग के सभी लाभ मिलते हैं। एकीकरण आर्थिक संकट तथा मन्दी के समय शक्ति एवं सुदृढ़ता का साधन होता है।

(३) **अवांछित स्पर्द्धा का अन्त**—छोटे-छोटे बैंकों का बड़े बैंकों में समावेश हो जाने से उनमें निक्षेप आकर्षित करने के लिए जो अवांछनीय प्रतिस्पर्द्धा होती है उसका अन्त हो जाता है। देश में बैंकों के विलियन को रोकने का एकीकरण अच्छा साधन है।

(४) व्यवस्था के कुछ पहलू, जैसे सम्पत्ति एवं आय का वितरण, बैंक की कार्य नीति एवं नियम, कर्मचारियों की नियुक्ति आदि विशेष कार्यों के लिए **विशेषज्ञों की नियुक्ति** करना सम्भव हो जाता है जिससे कुशलता बढ़ती है।

(५) प्रत्येक शाखा में रखी जाने वाली **रोकड़-निधि** के परिमाण में **मितव्ययता** होती है क्योंकि उनको रोकड़ की कमी होने पर वे दूसरी शाखाओं से रोकड़ मँगाकर पूरा कर सकते हैं।

(६) **खतरों का प्रादेशिक वितरण**—बैंकों के लिए व्यवसाय में जो खतरे होते हैं उनका भौगोलिक अथवा प्रादेशिक वितरण हो जाता है।

(७) **नियन्त्रण में सुविधा**—छोटे-छोटे अनेक बैंकों का नियन्त्रण करने की अपेक्षा बड़े-बड़े बैंकों पर नियन्त्रण रखने में केन्द्रीय बैंक को भी सुविधा होती है जिससे मुद्रा मण्डी में ब्याज दरों तथा ऋण देने की नीति में समानता आ सकती है।

(८) **ग्रामीण बैंकिंग का विकास**—एकीकरण से शाखा बैंकिंग को गति मिलेगी तथा ग्रामीण बैंकिंग विकास सम्भव होकर रोकड़-निधि की आवश्यकताएँ

कम हो जायगी। इस प्रकार बचाया हुआ धन देश के व्यापारिक एव औद्योगिक विकास के लिए उपलब्ध हो सकेगा।

परन्तु जहाँ एकीकरण स अनेक लाभ है वहा एकीकरण मे कुछ दोष भी है क्योकि एकीकरण से वैको के आर्थिक स्रोता एव आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण कुछ इन गिने व्यक्तिया के हाथ मे हो जाता है। य व्यक्ति अपने एकाधिकार क कारण जनता का शोषण कर सकते है। इसके साथ ही सट्टा, अपने व्यापार का अत्यधिक विस्तार, भ्रष्टाचार इत्यादि बुराइयाँ भी वैकिंग कलेवर मे *आ जाती* है। कुछ लोगो का मत यह भी है कि एकीकरण से छँटनी हाकर बेकारी फैलने की सम्भावना रहगी। परन्तु यह धारणा गलत है क्योकि एक ओर अलाभकर शाखाएँ वन्द हागी, वहाँ दूसरी ओर जिन क्षेत्रो मे वैकिग सुविधाएँ नही है नई शाखाएँ भी खोली जाएँगी। साथ ही एकीकरण से शाख वैकिंग के दोष भी आ जायग।

एकीकरण की प्रवृत्ति केवल भारत मे ही है, यह वात नही है। इगलैंड म भी प्रथम विश्व युद्ध के वाद जा मन्दी आई, उस काल म अनक वैको का एकीकरण हुआ। एकीकरण योजनाओ को सफल बनाने क लिए तथा समुचित एव वाछित एकीकरण को प्रात्साहन देने के लिए भारतीय वैकिंग अधिनियम म भी १९५० मे सशोधन किया गया। (इसके पूर्व एकीकरण का सबसे पहला उदाहरण इम्पीरियल वैक का है।) रिजर्व बैंक की १९३५ मे स्थापना होन क उपरान्त रिजर्व वैक ने भी वैकिंग कलेवर की सुदृढता के लिए बैका के एकीकरण म सहायता की है। रिजर्व वैक ने १९३७ म क्वीलोन वैक तथा ट्रावनकोर नेशनल बैंक के एकीकरण से दी ट्रावनकोर नेशनल एण्ड क्वीलान वैक के निर्माण म सहायता दी। परन्तु यह वैक १९३८ के वैकिग सकट मे विलीन हो गया। दूसरा एकीकरण जिसम रिजर्व बैंक ने इसी प्रकार सहायता दी, वह था १९४५ म कोमिल्ला वैकिग कारपोरेशन लि० मे दी न्यू स्टैण्डर्ड वैक का समावेश। बगाल म विभाजन के कारण वहाँ के चार वैको के एकीकरण से—कामिल्ला वैकिंग कॉर्पोरेशन, कामिल्ला यूनियन वैक, हुगली वैक तथा वगाल सेंट्रल वैक—१९५० मे दी युनाइटेड वैक ऑफ इण्डिया लि० का निर्माण हुआ। एकीकरण का दूसरा उदाहरण मार्च १९५१ में पजाब नशनल बैंक मे भारत वैंक लि० के समावेश का है। यह समावेश सम्पूर्ण न होते हुए आशिक हुआ। आशिक समावेशन (partial merger) म एक वैक दूसरे वैंक की निश्चित सम्पत्ति लेकर निश्चित देनदारी के भुगतान की जिम्मेदारी लेता है। इस प्रकार का आशिक समावेश केवल अच्छे एव सुदृढ बैंको का ही हो सकता है

क्योंकि कमजोर बैंक की सम्पत्ति एवं देनदारी को आंशिक रूप में लेना खतरे से खाली नहीं होता। एकीकरण का तीसरा उदाहरण १ जुलाई १९५५ को निर्मित स्टेट बैंक आफ इण्डिया है जो इम्पीरियल बैंक तथा राज्यों से सम्बन्धित बैंकों के एकीकरण से हुआ।

भारतीय बैंकिंग का भविष्य

इस प्रकार भारतीय बैंकिंग कलेवर संगठित हो रहा है तथा उसका विकास रिजर्व बैंक के प्रभावी नेतृत्व में हो रहा है। यद्यपि बैंकों की शाखाएँ कम हो गई है फिर भी उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि हो गई है। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण स्टेट बैंक आफ इण्डिया एवं बैंकिंग कानून के निर्माण से देश के बैंकिंग कलेवर की एक भारी कमी दूर हो गई है। रिजर्व बैंक पर देश के सुदृढ एवं कार्यक्षम बैंकिंग प्रणाली की जिम्मेदारी होने के नाते सहकारी बैंकिंग तथा व्यापारिक बैंकिंग की शिक्षा का आयोजन भी उसने किया है। इससे कुशल कर्मचारियों की कमी दूर होगी। साथ ही औद्योगिक बैंकिंग की कमी को दूर करने के लिए राष्ट्रीय सरकार ने अनेक फाइनेंशियल कार्पोरेशन्स की स्थापना की है।

इन प्रवृत्तियों से स्पष्ट है कि देश में बैंकिंग का भविष्य उज्ज्वल है जो अधिक शक्तिशाली एवं कार्यक्षम रहेगा। जैसा कि श्री जॉन मथाई ने कहा था कि "भारतीय बैंकिंग कलेवर की शक्ति एवं कार्यक्षमता से संयुक्त राज्य (U K.) तथा संयुक्त राष्ट्र अमेरिका (U S A) की पद्धति से तुलना की जा सकती है'''एवं उसकी वर्तमान स्थिति आशामय है।"

सारांश

व्यापारिक बैंक या संयुक्त स्कंध बैंक सामान्यतः वे होते हैं जो देश के उद्योग एवं व्यापार को अल्पकालीन साख-सुविधाएँ देते हैं। इनकी कार्यशील पूँजी जनता के निक्षेपों से तथा स्थायी पूँजी अंशों के निर्गमन से प्राप्त होती है। भारत में इनके विकास के तीन युग हैं .—

प्रथम युग—स्वदेशी बैंक के व्यवसाय को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आने से धक्का लगा, क्योंकि वे आधुनिक व्यापार की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सके। इसलिए विदेशी अभिकर्ता गृहों ने बैंकिंग व्यवसाय आरम्भ किया। इसके साथ ही देशी बैंकरों ने मुगल नवाबों आदि को जो ऋण दिये थे उनके डूबने से वे जनता से प्राप्त धन को लौटाने में असमर्थ रहे, इससे ब्रिटिश अभिकर्ता गृहों की नींव मजबूत होने लगी। कुछ अभिकर्ता गृहों ने संयुक्त स्कंध बैंकों की

स्थापना की जिसमे अलेक्जेंडर एड क० ने १७७० मे सबसे पहिले "दी बैंक ऑफ हिन्दुस्तान" की स्थापना की। यह बैंक १८३२ मे समाप्त हो गया। १७८५ के पहिले जो बैंक खोले गये थे उनमे केवल "बगाल बैंक का ग्रभिकर्ता गृहो से कोई सम्बन्ध न था और इसके नोट भी चलन मे थे। १७८६ मे "सीमित देनदारी" सिद्धान्त पर "जनरल बैंक ऑफ इण्डिया" स्थापित हुआ, जो १७८७ मे सरकारी बंकर नियुक्त हुआ। किन्तु आगे चलकर ये बैंक भी डूब गये।

दूसरा युग प्रेसीडेंसी बैंको की स्थापना से आरम्भ हुआ, जब १८०६, १८४० और १८४३ में क्रमश बैंक ऑफ कलकत्ता, बैंक ग्रॉफ बम्बई और बैंक ऑफ मद्रास की स्थापना हुई। ये ईस्ट इण्डिया क० तथा आन्तरिक व्यापार की आर्थिक आवश्यकताग्रो की पूर्ति के लिए स्थापित किये गये। इन्हें नोट चलाने का अधिकार १८६२ तक रहा। इन तीनो के एकीकरण से १९२१ मे इम्पीरियल बैंक का निर्माण हुआ।

तीसरे युग मे (१८६०-१९१३) सीमित देनदारी सिद्धान्त को वैधानिक मान्यता मिली जिससे बैंक ऑफ इण्डिया, इलाहाबाद बैंक आदि की स्थापना हुई। १९०५ मे स्वदेशी आन्दोलन के साथ ग्रनेक नये बैंको की स्थापना हुई जिनमे बैंक ऑफ बडोदा, सेंट्रल बैंक ऑफ इण्डिया, बैंक ऑफ इण्डिया, बैंक ग्रॉफ मैसूर आज के प्रमुख ७ बैंको मे से हैं। फलत १९०५ से १९१३ की अवधि मे जिनकी चुक्ता पूंजी एव निधि ५ लाख रु० से अधिक थी ऐसे बैंको की सख्या ९ से १८ तथा छोटे बैंको की सख्या १३०० हो गई।

बैंकिंग सकट (१९१२-१३) मे मुद्रा-मण्डी की कमजोरी तथा सरकार की मुद्रा नीति के कारण बैंकों ने अधिक ऋण देना शुरू किया और उनकी रोकड़-निधि कम हो गई। १९१४ मे युद्ध आरम्भ होते ही जनता से निक्षेपो की मांग हुई, जिसे भुगतान करने मे बैंक असमर्थ होने के कारण फेल होने लगे। यह क्रम १९१६ तक चालू रहा तथा इस अवधि मे ८७ बैंक फेल हुए, जिनकी चुक्ता पूंजी एव निधि १७५ लाख रुपए थी जो कुल बैंकों की चुक्ता पूंजी की ५०% थी।

इस सकट के प्रमुख कारण थ—अयोग्य प्रबन्ध, पूंजी की कमी, परस्पर गला-काट स्पर्द्धा, निक्षेप-राशि का सट्टे मे विनियोग, सचालकों द्वारा बैंक के साधनों का निजी स्वार्थ मे उपयोग, बैंको का दुर्भाग्य, समुचित बैंकिंग कानून एव केन्द्रीय बैंक का अभाव, बैंकिंग प्रबन्ध मे अशधारियो की अरुचि।

इस सकट के परिणाम अच्छे हुए, क्योंकि सरकार को बैंको के नियन्त्रण

की आवश्यकता महसूस हुई, इसलिए १६२६ मे केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति की नियुक्ति सरकार ने की। समिति ने केन्द्रीय बंक एव बैंकिंग कानून के निर्माण पर जोर दिया फलस्वरूप १६३५ मे रिजर्व बंक का निर्माण तथा १६३६ मे भारतीय कम्पनी अधिनियम मे बैंकिंग-नियन्त्रण के हेतु सशोधन किये गये। साथ ही बैंक के प्रबन्धक एव सचालको को शिक्षा मिली कि बैंको की प्रारम्भिक अवस्था मे अधिक रोक्ड निधि तथा सम्पत्ति की तरलता की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए।

प्रथम महायुद्ध का पहिला अर्धभाग बैंकिंग सकट काल रहा जिससे जनता मे बैंको के प्रति अविश्वास रहा, अधिक निक्षेप निकाले जाने लगे। परन्तु युद्ध के अन्तिम वर्षों मे जनता का विश्वास बंक मे जमने लगा और आर्थिक प्रगति सन्तोषप्रद रीति से १६२१ तक होती रही, जिससे बैंको के निक्षेप बढ़े और नये बैंको की स्थापना को गति मिली। इस अवधि मे विशेषत औद्योगिक बैंको की स्थापना हुई जो दोषपूर्ण नीति के कारण १६२३ तक बन्द हो गये। फिर भी १६२५ तक जिनकी चुक्ता पूँजी एव निधि ५ लाख रुपये से अधिक थी, ऐसे बैंको की सख्या २५ हो गई। इसी काल मे केन्द्रीय बंक की कमी को दूर करने के लिए १२६१ मे इम्पीरियल बैंक का निर्माण हुआ। १६२१ के बाद पुन मन्दी आई, जिसके झोके मे १६२४ तक कुल ४४७ बैंक फेल हुए, जिनकी चुक्ता पूँजी लगभग ८ करोड रु० थी। १६२४ से १६३० तक बैंकिंग स्थिति मे कुछ सुधार हुआ फिर भी बंको को कठिनाइयो का सामना करना पडा। १६३२ के बाद बैंको की स्थिति मे सुधार हुआ जिससे १६३६ तक उनकी शाखाएँ तिगुनी हो गई।

इस अवधि मे बैंकिंग विकास अव्यवस्थित ढग पर होता गया क्योंकि (१) बैंकिंग विकास के क्षेत्र का अध्ययन नहीं किया गया था, (२) देश मे साहसी व्यक्तियो की कमी थी, (३) बैंक खोलते समय आवश्यकता की अपेक्षा लाभ पर दृष्टि रखी गई। इस कारण शाखाएँ या बैंक व्यापारिक एव औद्योगिक केन्द्रो मे ही खोले गये, जहाँ पहिले से ही बैंकिंग सुविधाएँ थीं। इमसे ग्रामीण भारत मे सुविधाओ का अभाव रहा, जो आज भी है।

युद्ध (१६३६-१६४५) का बैंकिंग पर परिणाम—(१) निक्षेपो मे वृद्धि, (२) उनके स्वरूप मे परिवर्तन, (३) नये बंको की स्थापना एव शाखाओं का विस्तार, (४) बैंको की विनियोग नीति मे परिवर्तन, (५) बैंको के लाभ मे वृद्धि, (६) रोकड-निधि मे वृद्धि, (७) योग्य एव अनुभवी कर्मचारियों की कमी, (८) परस्पर अनुचित प्रतियोगिता।

युद्धकालीन (१६३६-४५) बैंकिंग के विकास के दोष—(१) शाखाओं का अव्यवस्थित विकास, (२) बैंक के अंशों में सट्टा, (३) लाभ का अवांछित उपयोग, (४) बैंकिंग के साथ अन्य व्यापारों का सम्बन्ध, (५) लेखा पुस्तकों में हेरफेर, (६) कुशल कर्मचारियों की कमी तथा (७) अनुचित प्रतिस्पर्द्धा।

युद्धोत्तर काल—युद्धोत्तर काल में बैंक के दिये जाने वाले ऋणों में वृद्धि हुई तथा सम्पत्ति एवं देनदारी का स्वरूप पूर्व स्तर पर आ गया। सरकारी प्रतिभूतियों एवं रोकड़ निधि में कमी हो गई। फिर भी उनके लाभ बढ़े। फलतः कुशल कर्मचारियों की कमी होते हुए भी नई शाखाएँ खोली गईं। अल्प रूप में बैंकिंग संकट आया, इसलिए बैंकिंग विस्तार रोकने के लिए १६४६ में बैंकिंग कम्पनीज (साख नियन्त्रण) कानून स्वीकृत हुआ। १६४७ में भारत विभाजन हुआ तथा उत्पात होने लगे, जिससे ३० बैंक फेल हुए। इनमें अधिकांश असूचीबद्ध थे। बड़े-बड़े बैंकों ने अपने कार्यालय पूर्व पंजाब अथवा दिल्ली के सुरक्षित स्थानों में हटा दिये तथा उपद्रव क्षेत्र में ऋण देना कम किया। इस स्थिति में बैंकों की रक्षा करने के लिए आवश्यक कदम उठाये गये। विभाजन के कारण बैंकिंग स्थिति पर अच्छा परिणाम हुआ क्योंकि देश में बैंकिंग कानून बना, जिससे रिजर्व बैंक की जिम्मेदारी बढ़ गई। इस अधिनियम के बाद बैंकों ने भी अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ किये जिससे बैंकों के एकीकरण को बल मिला।

एकीकरण से लाभ—प्रबन्ध का केन्द्रीकरण, अनुभवी कर्मचारियों की सेवाओं का लाभ, अवांछित स्पर्द्धा का अन्त, विशेषज्ञों की नियुक्ति सम्भव, रोकड़ निधि में मितव्ययता, खतरों का प्रादेशिक वितरण, नियन्त्रण में सुविधा, ग्रामीण बैंकिंग का विकास।

एकीकरण के दोष—आर्थिक स्रोतों का केन्द्रीकरण, बेकारी की सम्भावना, भ्रष्टाचार, सट्टा आदि को बल।

एकीकरण की प्रवृत्ति बैंकिंग सुदृढ़ता की दृष्टि से गतिशील है जिसका ताजा उदाहरण स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया है। इन प्रवृत्तियों से बैंकिंग के उज्ज्वल भविष्य का संकेत मिलता है।

अध्याय १८

भारतीय मुद्रा-मण्डी

किसी भी देश का आर्थिक एवं औद्योगिक विकास वहां की मुद्रा मण्डी के सुसंचालित संगठन पर निर्भर रहता है जिसमें व्यापारिक, कृषिजन्य तथा औद्योगिक मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति समुचित प्रकार से हो सके। अतः मुद्रा मण्डी किसी भी देश की आर्थिक कलेवर का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है। मुद्रा मण्डी उस बाजार को कहते हैं जहाँ पर मुद्रा एवं साख के क्रेता तथा विक्रेता परस्पर मिलते हैं तथा जहां मुद्रा की मांग एवं पूर्ति का आवश्यकतानुसार आदान प्रदान होता है। इस बाजार में विशेषतः व्यापारिक तथा अन्य आर्थिक उत्पादन की आवश्यकताओं के लिए मुद्रा एवं साख की पूर्ति होती है। यह पूर्ति पर्याप्त मात्रा में तथा उचित ब्याज पर हो जाती है। सुसङ्गठित मुद्रा मण्डी से व्यवसायियों को सुगमता से साख प्राप्त होती रहनी चाहिए जिससे वे औद्योगिक एवं आर्थिक उन्नति के लिए उसका महत्तम उपयोग कर सकें। मुद्रा मण्डी को हम एक दृष्टि से सामाजिक बैंक भी कह सकते हैं क्योंकि जो लाभ एवं उपयोग किसी बैंक से व्यक्ति को होता है वही लाभ मुद्रा मण्डी से समाज को होता है। दोनों से ही अल्पकालीन साख-आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इसमें आवश्यकतानुसार मुद्रा एवं साख का प्रसार एवं सङ्कोच होना चाहिए तथा विनियोग के पर्याप्त साधन उपलब्ध होने चाहिए जिससे जनता की बचत मुद्रा मण्डी में आती रहे।

इसीलिए मुद्रा मण्डी में बिल-बाजार, विनिमय एवं विनियोग बाजार का विशेष महत्व है। मुद्रा मण्डी पूँजीमण्डी से भिन्न होती है। पूँजी-बाजार दीर्घकालीन ऋणों की पूर्ति करता है तो मुद्रा मण्डी अल्पकालीन ऋणों की पूर्ति करती है। फिर भी इन दोनों का सम्बन्ध घनिष्ठ है। दूसरे, पूंजी-बाजार में कार्य करने वाली संस्थाएँ भिन्न होती हैं।

मुद्रा मण्डी में मुद्रा एवं साख का उधार लेने वाले (१) व्यापारी, उद्योग-धन्धे वाले व्यक्ति एवं सामाजिक तथा व्यक्तिगत कार्यों के लिए ऋण लेने वाले व्यक्ति (२) केन्द्र एवं राज्य सरकारें तथा अर्द्ध-सरकारी संस्थाएँ जैसे नगर

पालिका आदि, (३) कृषक वर्ग जो फसल के समय ऋण लेता है, आदि होते है। दूसरी ओर ऋण एव साख देने वाली सस्थाएँ होती है, जैसे स्वदेशी बैंक, सहकारी बैंक, व्यापारिक बैंक, साहूकार, महाजन आदि।

मुद्रा-मण्डी मे साख का नियन्त्रण इस प्रकार होना चाहिए जिससे आन्तरिक मूल्यो मे स्थिरता रहे। इस कार्य म केन्द्रीय बैंक का विशेष हाथ रहता है क्योकि उस पर देश-हित के लिए साख का समुचित नियन्त्रण करने की जिम्मेदारी होती है। सुसङ्गठित मुद्रा-मण्डी म यह नियन्त्रण समुचित रूप से होता है। परन्तु भारतीय मुद्रा-मण्डी का सङ्गठन सदोष होने से रिजर्व बैंक यह नियन्त्रण पूर्ण रूप से नही कर पाता है।

भारतीय मुद्रा-मण्डी दोषपूर्ण होने के कारण

१ **आर्थिक सगठन भारतीय आवश्यकतानुसार नही**—भारत का आर्थिक सगठन २०वी शताब्दी के आरम्भ मे अगरेज व्यापारियो द्वारा उनकी निजी आवश्यकताओं के अनुसार किया गया। इससे आर्थिक सस्थाएँ जो भारतीय मुद्रा-मण्डी मे कार्यशील है, उनका सगठन भारतीय आवश्यकताओ के अनुसार नही हुआ।

२ **दोषपूर्ण चलन-पद्धति**—भारतीय चलन-पद्धति का विकास १६३५ के बाद अग्रेजो की आवश्यकताओ के अनुसार किया गया, न कि भारतीयो की। इससे चलन पद्धति दोषपूर्ण थी। (अ) प्रारम्भिक अवस्था मे भारत सरकार स्वतन्त्र खजाना रखती थी जिसमे मालगुजारी दी जाती थी और मुद्रा-मण्डी मे धन की कमी होती थी। (ब) १९२१ मे इम्पीरियल बैंक की स्थापना के बाद वह साख का नियन्त्रण करता था और मुद्रा का नियन्त्रण सरकार करती थी, जिससे मुद्रा एव साख म सामजस्य नही था।

३ **यूरोपीय एव भारतीय भाग**—भारत के विदेशी शासन न भारतीय उद्योग एव वाणिज्य को किसी प्रकार प्रोत्साहन नही दिया। फलस्वरूप भारतीय मुद्रा-मण्डी का सगठन भी पृथक् यूरोपीय एव भारतीय भागो मे हुआ।

४ **केन्द्रीय बैंक एव बैंकिंग कानून का अभाव**—१६३५ तक देश मे केन्द्रीय बैंक का तथा १६४६ तक भारतीय बैंकिग कानून का अभाव था, जिससे मुद्रा-मण्डी का सगठन मजबूत आधार पर न हो सका।

५ **पृथक् अधिनियमो से मुद्रा-मण्डी का नियन्त्रण**—आज भी मुद्रा-मण्डी के कुछ भागो म रिजर्व बैंक समानता से नियन्त्रण नही कर सकता क्योकि सहकारी बैंक तथा सयुक्त स्कध बैंको का नियन्त्रण पृथक् पृथक् अधिनियमो से होता है और स्वदेशी बैंकरो पर तो कोई नियन्त्रण ही नही है।

भारतीय मुद्रा-मण्डी के भाग

१ रिजर्व बैंक आफ इण्डिया
२ स्टेट बैंक आफ इण्डिया
३ विनिमय बैंक
४ संयुक्त स्कन्ध व्यापारिक बैंक
५ सहकारी बैंक
६ भारतीय औद्योगिक वित्त निगम
७ राज्य औद्योगिक वित्त निगम
८ राष्ट्रीय औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम
९ पुनर्वित्त निगम (Refinance Corporation)
१० स्वदेशी बैंक

इनमे पहले तीन अंगो का सचालन भारतीय स्वतन्त्रता तक यूरोपीय हाथो मे रहा, परन्तु १९४९ मे रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण तथा १९५५ मे स्टेट बैंक का निर्माण होने से ये दोनो अब राष्ट्रीय सस्थाएँ हो गई है। यूरोपीय प्रबन्ध मे अब केवल विनिमय बैंक ही है जिन पर भी भारतीय बैंकिंग अधिनियम से रिजर्व बैंक का नियन्त्रण हो गया है।

भारतीय मुद्रा-मण्डी के दोष

१ परस्पर सङ्गठन एवं सहयोग का अभाव—भारतीय मुद्रा-मण्डी विभिन्न भागो मे विभाजित है। इतना ही नही, अपितु हमारी जो दो प्रमुख मुद्रा-मण्डियाँ बम्बई तथा कलकत्ते मे हैं उनके भी स्थानीय दो भाग है—केन्द्रीय मुद्रा-मण्डी तथा बाजार मुद्रा-मण्डी।[1] इसमे मुद्रा-मण्डी का न तो आपस मे संगठन है और न सहयोग की भावना ही है। मुद्रा मण्डी के कुछ भाग तो ऐसे हैं जिनमे परस्पर सहयोग तो एक ओर रहा, उल्टी प्रतियोगिता ही है, जैसे स्वदेशीय बैंक तथा अन्य बैंको मे प्रतियोगिता है। ये विभिन्न घटक स्वतन्त्र रूप से ऋण देने का कार्य करते हैं जिससे ब्याज-दरों मे समानता नही रहती और न बैंक-दर का बाजार-दर अथवा अन्य दरो से कोई सम्बन्ध ही स्थापित हो सका है। रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व तो ऐसी कोई मुद्रा मण्डी थी ही नही, जिसे हम वास्तव मे मुद्रा-मण्डी कह भी सकते थे। प्रेसीडेन्सी शहरो मे भी जो मुद्रा-मण्डियाँ थी उनका व्यवहार क्षेत्र भी यूरोपीय तथा विनिमय बैंको तक ही सीमित था। इसीके साथ इम्पीरियल बैंक भी अन्य व्यापारिक बैंको का प्रतियोगी था,

[1] Indian Central Banking Enquiry Committee, Vol IV, p 367

क्योंकि उसे इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम के अन्तर्गत कुछ विशेष अधिकार एव सुविधाएँ थी। किन्तु रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद भी वह मुद्रा के विभिन्न अगो को एकत्रित कर सगठन करने मे असफल रहा।

मुद्रा-मण्डी के सगठन के लिए केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति का सुझाव था कि भारत म अखिल भारतीय बैंकर सघ (All Indian Banker's Association) *स्थापित किया जाय जिसके स्वदेशीय बैंकर सहित सभी बैंक सदस्य हों। यह* सघ छोटे-छोटे बैंकों का एकीकरण करे तथा बैंकों का पारस्परिक कार्य भी निश्चित करे। बैंकिंग पद्धति को अधिक कार्यक्षम बनाने के साधनों की सिफारिश *करे तथा विभिन्न बैंकों का केन्द्रीय बैंक के साथ सम्पर्क बढाये। इस सघ* के कार्यालय विभिन्न स्थानों पर हों जिससे स्थानीय बैंकों की कठिनाइयों का निवारण करने के लिए प्रयत्न किया जाय। इस प्रकार का सघ १९४६ मे बम्बई मे स्थापित हुआ तथा इसके सदस्य सभी सूचीबद्ध (स्टेट बैंक को छोडकर) बैंक है।

परन्तु मुद्रा-मण्डी मे जब ९० प्रतिशत मुद्रा एव साख की पूर्ति स्वदेशी बैंकरो द्वारा हो रही है, तब तक विभिन्न भागो मे परस्पर सहयोग नही हो *सकता। अत इस सघ के सदस्यों मे स्वदेशी बैंकरो का समावेश होना* आवश्यक है।

२ **ऋण देने वाली विशेष सस्थाओ का अभाव**—हमारे यहाँ पाश्चात्य *देशों की तरह ऐसी कोई भी ऋण देने वाली सस्थाएँ नही है जो विभिन्न उद्योगों* को आवश्यकतानुसार ऋण दे सके। जैसे, कृषि व्यवसाय का तीन प्रकार के ऋणों की आवश्यकता होती है—अल्पकालीन, मध्यकालीन एव दीर्घकालीन। *परन्तु मुद्रा-मण्डी केवल अल्पकालीन ऋण ही दे सकती है। दीर्घकालीन ऋण* देने का कार्य विशेषत स्वदेशी बैंकरो, महाजनो तथा साहूकारों तक ही सीमित है, जिनके ब्याज की दर बहुत ऊँची है। ऐसी विशेष ऋण देने वाली सस्थाओ का अभाव *मुद्रा मण्डी के सङ्गठन की दृष्टि से शीघ्र ही दूर होना चाहिए,* जिससे उद्योग एव कृषि की *दीर्घकालीन साख-आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके।* हाँ, स्वतन्त्रता के बाद औद्योगिक ऋण देने वाली सस्थाओ का निर्माण हो चुका है तथा कृषि आवश्यकताओं की पूर्ति योजना के *अन्तर्गत की जा रही है।*

३. **ऋण देने के लिए राशि की कमी**—ऋण कार्यों के लिए आवश्यकतानुसार धन भी नही मिलता क्योंकि राशि विशेषत उन लोगो मे जाती है जो बचत करते है। परन्तु भारत मे विशेषत बचत की राशि *भूमिगत अथवा* स्वर्ण तथा अचल सम्पत्ति मे बदली जाती है। इसके तीन कारण है—पर्याप्त

विनियोग साधनों का अभाव, बैंकिंग पद्धति का अपर्याप्त विकास, बैंकों के विलियन से उनमें अविश्वास तथा भारतीय जनता की गरीबी एवं अशिक्षा। उसे इसका भी ज्ञान नहीं है कि बैंक में किस प्रकार से खाते खोले जाते हैं। डाकघर सचय बैंक का भारतीय ग्रामों में प्रसार नहीं है और न इनके व्यवहार ही प्रान्तीय भाषाओं में होते हैं।

ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति की सिफारिश के अनुसार देहातों में डाकघर सचय बैंकों की सुविधा देने की व्यवस्था की जा रही है। नये डाकघर खोलने की योजना कार्यान्वित हो चुकी है। इसलिए ऋण-प्रदायक राशि का अभाव दूर करने के लिए ग्रामीण बैंकिंग विभाग होना चाहिए तथा फिल्मों द्वारा उन्नत एवं बैंकों का महत्त्व समझाकर बैंकिंग प्रवृत्ति का निर्माण करना चाहिए। रिजर्व बैंक भी इस दिशा में प्रयत्न कर रहा है। रिजर्व बैंक के पास नई शाखाएँ खोलने के लिए जो प्रार्थना-पत्र आते हैं उनको केवल दो शर्तों पर अनुमति दी जाती है —

(अ) यदि ग्रामीण क्षेत्र में शाखाएँ खोलना चाहते हैं।

(ब) जहा वे शाखाएँ खोलना चाहते हैं उस स्थान अथवा क्षेत्र में बड़े बैंकों की शाखाएँ नहीं है। साथ ही १९५५ में स्टेट बैंक पर ग्रामीण बैंकिंग विकास की जिम्मेदारी आ गयी है।

४ चलन पद्धति में लोच एवं स्थायित्व का अभाव तथा फसल पर धन की कमी—१९२० में इम्पीरियल बैंक की स्थापना तक की मुद्रा-मण्डी में मौसमी आवश्यकता के समय धन का अभाव रहता था। क्योंकि पत्र-मुद्रा का अधिकार सरकार के पास था तथा बैंकों की साख निर्माण शक्ति उनकी रोकड़-निधि में सीमित थी। इम्पीरियल बैंक की स्थापना के बाद भी इस लोच का अभाव बना रहा क्योंकि साख का नियन्त्रण इम्पीरियल बैंक और मुद्रा का नियन्त्रण सरकार करती थी। हाँ, मौसमी आवश्यकता की पूर्ति के लिए इम्पीरियल बैंक सकटकालीन साख (emergency credit) निर्माण के लिए सरकार से केवल १२ करोड़ रुपए ऋण ले सकता था। यह राशि आवश्यकता की तुलना में कम थी कि मुद्रा-मण्डी में मौसम में धन की कमी रहती थी तथा ब्याज की दर ८ से ९% तक हो जाती थी। इस तनाव का मुख्य कारण चलन-पद्धति में लोच का अभाव था। इसी प्रकार हमारे यहा बैंकों का स्वतन्त्रता से उपयोग भी नहीं होता था। अब रिजर्व बैंक ने (१९३५ में) इस कमी को काफी दूर कर दिया है।

५ मुद्रा-मण्डी में ब्याज-दरो की भिन्नता एव अधिकता—भारतीय मुद्रा-मण्डी के भिन्न भिन्न अङ्गों का किसी भी प्रकार सहयोग एव नियन्त्रण न होने से विभिन्न मुद्रा-मण्डियो की ब्याज दरें भिन्न-भिन्न एव ऊँची हैं तथा बाजार-दर, बैंक-दर, कटौती-दर आदि के उतार-चढाव मे समानता नही है। दूसरे, बाजार के विभिन्न अङ्गो मे प्रतियोगिता होने से भी यह समानता नही आती। किन्तु उन्नत राष्ट्रों के बाजार मे बैंक-दर के घटने-बढने के साथ अन्य दर भी उसी अनुपात मे घटती-बढती है क्योकि वहाँ पर बैंक एव मुद्रा मण्डी के विभिन्न अङ्गो मे परस्पर सहयोग की भावना है।

ब्याज-दर मे समानता लाने के लिए बैंको के कार्यक्षेत्र का प्रादेशिक वितरण होना चाहिए तथा उस क्षेत्र मे ब्याज-दर के नियन्त्रण का उत्तरदायित्व भी उन्ही बैंको पर होना चाहिए जिससे उस क्षेत्र के बैंक अधिक दर न लें अथवा मुद्रा-मण्डी के विभिन्न अगो पर वैधानिक रूप से प्रभावी नियन्त्रण रखा जाय। इस कार्य को रिजर्व बैंक को करना चाहिए परन्तु अभी तक उसने ऐसा नही किया जिससे मुद्रा मण्डी म बैंक-दर का महत्व नही के बराबर है।

६ बैंकिंग सुविधाओ का अभाव—देहातो मे जहाँ बचत की राशि स्वर्ण अथवा भूमि म रखी जाती है वहा पर बैंको का अभाव है। द्वितीय महायुद्ध-काल मे अनेक बैंको न नई-नई शाखाएँ खोली परन्तु ये शहरो मे खोली गयी तथा गाँवो मे अभाव ही है। जनसख्या के हिसाब से भी हमारे यहाँ प्रति १३० हजार व्यक्तियो के पीछे केवल एक बैंक है। कृषकों की दीर्घकालीन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सयुक्त राष्ट्र के भूमि-बैंकों (land bank) के नमूने पर भारत मे भी कृषि तथा भूमि-बैंको की स्थापना होनी चाहिए, जिससे कृषि—जो हमारा बडा उद्योग है—को भी मुद्रा-मण्डी क्षेत्र मे समावेश हो। अभी भारत मे कुछ सहकारी कृषि-सस्थाएँ तथा भूमि-बन्धक बैंक है परन्तु उनका कार्यक्षेत्र बहुत ही सीमित है एव वे प्राथमिक अवस्था मे ही है। अत इस ओर रिजर्व बैंक और स्टेट बैंक को कार्य करना चाहिए।

७ बिल-बाजार का अभाव—अन्य देशों की भाँति हमारे यहाँ बिलो का उपयोग बहुत ही कम होता है तथा बिलो की कटौती की सुविधाएँ भी पर्याप्त नही हैं। क्योकि रिजर्व बैंक केवल उन्ही बिलो की कटौती करता है जो मान्य हो तथा नियत शर्तो के अनुसार हों। मुद्रा मण्डी मे तो कटौती सुविधाएँ है ही नही, जिससे हमारे यहाँ बिलो का उपयोग नाममात्र को ही है और बिल-बाजार का अभाव है।

विलों की कमी के कारण

(अ) बैंकों को अधिक रोकड़-निधि रखनी पड़ती है जिससे वे अपनी राशि का विनियोग अधिकतर परम-प्रतिभूतियों में ही करते थे, जिससे उनकी सम्पत्ति में तरलता रहे। परन्तु आजकल परम-प्रतिभूतियों की अपेक्षा बिलों की कटौती में आय अधिक होती है, इसलिए आशा है कि भविष्य में बिलों का उपयोग बढ़ेगा।

(ब) देश में ऐसी सस्थाओं का अभाव है जो बिलों के स्वीकर्ता की आर्थिक स्थिति की पूर्ण जानकारी दे सकें। इस कारण बैंक बिलों की कटौती करने में हिचकते हैं। इसलिए ऐसी सस्थाओं की स्थापना होना आवश्यक है।

(स) रिजर्व बैंक की स्थापना (१९३५) होने के पूर्व भारत में ऐसा कोई भी बैंक नहीं था और न कोई ऐसी सस्था ही थी जहाँ आवश्यकता पड़ने पर बिलों की कटौती हो सके। इम्पीरियल बैंक अन्य बैंकों की प्रतियोगिता में था, इसलिए उससे बिलों की पुनः कटौती कराना वे समुचित नहीं समझते थे और आवश्यकता पड़ने पर परम-प्रतिभूतियों की जमानत पर इम्पीरियल बैंक से ऋण लेते थे।

(द) बैंक व्यापारिक हुण्डी इसलिए भी नहीं लेते थे क्योंकि उनमें यही मालूम नहीं होता था कि वे व्यापार-बिल है अथवा अनुग्रह बिल। बैंक विशेषतः व्यापारिक बिलों में ही लेन-देन करना समुचित समझते हैं इसलिए भी बिलों का उपयोग कम होता था।

(य) बिलों पर अधिक स्टाम्प-कर लगने के कारण मुद्दती हुण्डी का प्रयोग कम होता था। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (१९२९) की सिफारिश के अनुसार १९४० से स्टाम्प कर कम हो गया है।

(च) भारत में हुण्डियाँ प्रान्तीय भाषाओं में प्रान्तीय रूढ़ियों के अनुसार लिखी जाती हैं जिससे बिलों में विविधता होती है। इस कारण एक स्थान की हुण्डियों का उपयोग अन्य स्थानों में करने में अनेक असुविधाएँ होती हैं, विशेषतः उनके अनादरण के समय। इसलिए भी हुण्डियों का उपयोग कम होता है।

(छ) भारत में बिलों की कटौती की अपेक्षा बैंक रोक-ऋण देना अधिक पसन्द करते हैं क्योंकि इसको किसी भी समय बैंक रद्द कर सकता है तथा ग्राहक को भी कम ब्याज देना पड़ता है।

(ज) कुछ वर्षों से राज्य एवं केन्द्र सरकार अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कोष-बिलों का निर्गमन करती है जिनकी अवधि ३० से ९० दिन होती है। इनमें विनियोग अधिक सुरक्षित एवं तरल समझा जाता है

क्योंकि ये किसी भी समय स्वच्छ विनिमय में बेचे जा सकते हैं। अतः व्यापारिक बिलों के उपयोग में इनका प्रयोग भी बाधक सिद्ध हुआ।

रिजर्व बैंक द्वारा बिल-बाजार का निर्माण

हमारी मुद्रा-मण्डी में बिल-बाजार का अभाव बहुत दिनों से था। इस अभाव को दूर कर मुद्रा मण्डी में साख को लोचदार बनाने के लिए रिजर्व बैंक ने सूची-बद्ध बैंकों के प्रतिनिधियों के परामर्श से २६ जनवरी १९५२ से बिल-बाजार योजना लागू की है।

इस योजना के अनुसार रिजर्व बैंक, रिजर्व बैंक अधिनियम की धारा १७ (४) (c) के अन्तर्गत सूची-बद्ध बैंकों के प्रतिज्ञा-पत्रों की जमानत पर उनको माँग-ऋण (demand loans) देगा। ये प्रतिज्ञा-पत्र मुद्दती बिल अथवा सूची-बद्ध बैंकों के ग्राहकों के बिलों अथवा प्रतिज्ञा-पत्रों के आधार पर लिखे जाने चाहिए। इस योजना के अनुसार रिजर्व बैंक के पास कम से कम १ लाख रुपये के बिल (individual bills) देना अनिवार्य है। इसी प्रकार एक बैंक को इन बिलों के आधार पर कम से कम २५ लाख रुपए का ऋण लेना होगा। परन्तु अब यही राशि १० लाख रुपए है तथा प्रत्येक बिल की राशि ५० हजार रुपए से कम नहीं होना चाहिए।

प्रारम्भिक काल में इस योजना से केवल उन्हीं बैंकों का लाभ मिल सकेगा जिनकी चुकता पूँजी एवं निधि ३१ दिसम्बर १९५१ को १० करोड़ रु० से कम नहीं है। अब यह सीमा केवल ५ करोड़ रु० की गई है।

इस योजना को बैंकों में लोकप्रिय बनाने के लिए रिजर्व बैंक ने उन्हें यह लालच दिया है कि इस योजना के अनुसार जो ऋण दिए जायेंगे उन पर बैंक-दर से ½% की छूट मिलेगी। दूसरे माँग बिलों का मुद्दती बिलों में परिवर्तन कराने के लिए जो स्टाम्प कर लगेगा उसका आधा भाग रिजर्व बैंक देगा।

इस योजना से बिल-बाजार का विकास होकर बैंकों को अपनी सम्पत्ति में तरलता रखने में सहायता होगी। इसके अलावा हमारी मुद्रा मण्डी में मौसमी आवश्यकता के समय साख में जो लोच का अभाव था, वह नहीं रहेगा। साथ ही बैंकों की साख निर्माण शक्ति बढ़कर ऋण-प्रदायक राशि बढ़ेगी तथा साख एवं मुद्रा-पद्धति लोचदार हो जायेगी। इससे हमारी मुद्रा मण्डी के अनेक दोषों का निवारण हो सकेगा। इस योजना में समय के अनुसार आवश्यक परिवर्तन किये जायेंगे।

१९५२, ५३, ५४ तथा १९५५ में इस योजना के अंतर्गत बैंकों ने बिलों

के आधार पर क्रमश ८२ ६६ १४७ तथा १३५ करोड रु० के ऋण लिये जो योजना की सफलता की ओर सकेत है।

साराश

किसी भी देश का आर्थिक विकास वहाँ की मुद्रा-मण्डी पर निर्भर रहता है। मुद्रा-मण्डी उसे कहते हैं जहाँ मुद्रा एव साख के क्रेता-विक्रेता परस्पर मिलकर साख एव मुद्रा का लेन-देन करते हैं। इसीलिए मुद्रा मण्डी के बिल बाजार, विनिमय एव विनियोग बाजार का विशेष स्थान है। किन्तु पूंजी बाजार से मुद्रा-मण्डी भिन्न होती है क्योंकि पूंजी बाजार मे जहाँ दीर्घकालीन ऋण एव साख का लेन देन होता है वहाँ मुद्रा-मण्डी मे अल्पकालीन ऋण एव साख मे लेन-देन होता है।

मुद्रा मण्डी मे उधार लेने वाले व्यापारी, उद्योगपति एव सामाजिक तथा व्यक्तिगत कार्यों के लिए ऋण लेने वाले व्यक्ति, केन्द्र एव राज्य सरकारें, अर्ध सरकारी सस्थाएँ, कृषक आदि होते हैं। दूसरी ओर ऋण देने वाले अर्थात स्वदेशीय बैंक, सहकारी बैंक, व्यापारिक बैंक, महाजन आदि होते हैं।

भारतीय मुद्रा मण्डी दोष-पूर्ण है क्योंकि—(१) यहाँ का आर्थिक सगठन भारतीय आवश्यकतानुसार नहीं हुआ, (२) भारतीय चलन-पद्धति दोष-पूर्ण रही, (३) मुद्रा मण्डी मे भारतीय एव यूरोपीय दो पृथक भाग हैं, (४) १६३५ तक केन्द्रीय बैंक का तथा १६४६ तक बैंकिंग कानून का अभाव रहा, तथा (५) मुद्रा-मण्डी के विभिन्न अगो का नियन्त्रण पृथक-पृथक् अधिनियमो से होता है।

मुद्रा-मण्डी के य दोष निम्न है—(१) विभिन्न अगो मे परस्पर सगठन एव सहयोग का अभाव (२) ऋण देने वाली विशेष सस्थाओ का अभाव (३) ऋण देने के हेतु राशि की कमी, (४) चलन-पद्धति मे लोच एव स्थायित्व का अभाव तथा फसल पर धन की कमी, (५) मुद्रा-मण्डी मे ब्याज-दरो की भिन्नता एव अधिकता, (६) पर्याप्त बैंकिंग सुविधाओं का अभाव (७) बिल बाजार का अभाव।

बिल-बाजार का अभाव होने के कारण य—देश मे स्वीकर्ता की आर्थिक स्थिति की जानकारी देने वाली सस्थाओ का अभाव बैंको का परम प्रतिभूतियो मे अधिक विनियोग, १६३५ तक बिलो की पुन कटौती करने वाली केन्द्रीय बैंक का अभाव व्यापार बिल एव अनुग्रह बिल पहिचानने मे कठिनाई, बिलो पर अधिक स्टाम्प-कर, बिलो की कटौती की अपेक्षा रोक ऋण एव ओवरड्राफ्ट को प्राथमिकता।

इस कमी को दूर करने के लिए २६ जनवरी १९५२ से रिजर्व बैंक ने बिल बाजार योजना लागू की है। इसके अन्तर्गत जिन बैंको की चुकता पूंजी एव निधि ५ करोड की है वे बैंक बिलो के आधार पर १० लाख रुपए तक ऋण ले सकते हैं किन्तु बिल की राशि ५०,००० रुपए से कम नहीं होना चाहिए। इस योजना को लोकप्रिय बनाने के लिए रिजर्व बैंक मांग बिलों के मुद्दती बिलों मे परिवर्तन के लिए लगने वाली ५०% स्टाम्प ड्यूटी देगा तथा ऐसे ऋणों पर बैंक दर से ½% की छूट देगा। इस योजना के अन्तर्गत १९५२ से १९५५ तक बैंको ने क्रमश: ८२, ६६, १४७ तथा १३५ करोड रुपए के ऋण लिए जो योजना की लोकप्रियता का सकेत है।

अध्याय १५

स्वदेशीय बैंकर

परिभाषा—स्वदेशीय बैंकर की परिभाषा करना आसान नहीं है। उनका साहूकार अथवा सामान्य ऋण दाता से पृथक करने की कोई सीमा नहीं है। **केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के अनुसार 'इम्पीरियल बैंक, विनिमय बैंक, व्यापारिक बैंक एवं सहकारी बैंकों को छोड़कर जो हुण्डियों का व्यवहार करते हों, जनता से निक्षेप लेते हों एवं ऋण देते हों वे स्वदेशीय बैंकर हैं।** एक सामान्य धनी व्यक्ति से लेकर बैंकिंग साझेदारी कुटुम्ब भागिता (family partnership) तथा व्यापारी-बैंकर (merchant bankers), जिनकी भिन्न-भिन्न स्थानों पर शाखाएँ भी होती हैं उन सबका समावेश स्वदेशीय बैंकर में होता है। डा० एल० सी० जैन के अनुसार **"स्वदेशीय बैंकर कोई भी व्यक्ति अथवा निजी फर्म है जो ऋण देने के साथ ही निक्षेप स्वीकार करे अथवा हुण्डियों में व्यवहार करे अथवा दोनों ही काम करे।** साधारणतः स्वदेशीय बैंकर ये दोनों ही काम करते हैं।

सामान्य ऋणदाता एवं स्वदेशीय बैंकर में भेद

(१) महाजन अथवा ऋणदाता जनता से निक्षेप नहीं लेते किन्तु स्वदेशीय बैंकर निक्षेप स्वीकार करते हैं।

(२) महाजन हुण्डियों में व्यवहार नहीं करते परन्तु स्वदेशीय बैंकर विशेष रूप से हुण्डियों में व्यवहार करते हैं।

(३) महाजन ऋण देने के साथ ही अन्य व्यापार भी करते हैं जो उनका प्रमुख भाग होता है। परन्तु स्वदेशीय बैंकर बैंकिंग-व्यापार विशेष रूप से करते हैं तथा उसे ही वे अपने व्यवसाय का प्रमुख अंग मानते हैं अर्थात् उनकी दृष्टि में बैंकिंग व्यापार का विशेष महत्त्व है।

(४) महाजन केवल अपने निजी धन से ही ऋण देता है। किन्तु स्वदेशीय बैंकर जनता से लिये हुए निक्षेप तथा निजी पूँजी से ऋण देते हैं।

(५) महाजन केवल कृषि-कार्यों के लिए ऋण देते हैं परन्तु उत्पादन की अपेक्षा उपभोग के लिए वे अधिक ऋण देते हैं। इसके विपरीत स्वदेशीय बैंकर

विशेषत उत्पादन कार्यो के लिए, व्यापार एव छोटे-छोटे उद्योगो के लिए ऋण देते हे तथा ऋण का उद्देश्य जानने के लिए सावधान रहत है। **किन्तु महाजन 'ऋण लेने के उद्देश्य' का ज्ञान आवश्यक नहीं समझता। महाजनो के ब्याज की दर स्वदेशीय बैंकरो से अधिक होती है।**

(६) महाजनी अथवा ऋण देने का कार्य कोई भी व्यक्ति कर सकता है, चाहे वह किसी जाति का हो। परन्तु बैंकिंग व्यापार निश्चित जातियों द्वारा ही किया जाता है, जैसे उत्तरी भारत मे जैनी और मारवाडी तथा दक्षिणी भारत मे नटुकोटाई चेट्टियर। इसके अतिरिक्त शिकारपुरी, मुल्तानी, खत्री तथा तथा वैश्य भी स्वदेशी बैंकिंग व्यापार करते हैं।

सयुक्त स्कन्ध बैंक और स्वदेशीय बैंकर

(१) *सयुक्त स्कन्ध बैंका का समावेशन भारतीय कम्पनी अधिनियम के* अन्तर्गत होना आवश्यक हे तथा उन्हे अधिनियम के अनुसार अपने लेखे, स्थिति-विवरण आदि समाचार-पत्रो मे प्रकाशित करने पडते है। इसके विपरीत स्वदेशी बैंकर स्वतन्त्र होते हे तथा य विशेषत अपने लेखे एव लेखा-पुस्तके गुप्त रखते है।

(२) सयुक्त स्कन्ध बैंको का पूर्ण व्यापार अश पूंजी के अतिरिक्त विशेषत निक्षेपो पर निर्भर रहता है, परन्तु स्वदेशीय बैंकर अपनी निजी पूंजी पर निर्भर *रहता है एव उसकी निक्षेप राशि बहुत थोडी होती है।*

(३) ग्राहको का निक्षेप-राशि चैकों द्वारा निकालने की सुविधा सयुक्त स्कन्ध बैंक देते है परन्तु स्वदेशीय बैंकर चेक लिखने की सुविधा नही देते।

(४) *स्वदेशीय बैंकर का अपने ग्राहका के साथ वैयक्तिक एव घनिष्ठ* सम्पर्क रहता है, परन्तु सयुक्त स्कन्ध बैंकों मे वैयक्तिक सम्पर्क एव घनिष्ठता का अभाव है।

(५) सयुक्त स्कन्ध बैंक केवल अल्पकालीन ऋण सुविधा देते है, किन्तु स्वदेशीय बैंकर अल्पकालीन एव दीर्घकालीन दोनों ही प्रकार के ऋण देत है।

(६) स्वदेशीय बैंकर बैंकिंग व्यापार के साथ अन्य व्यापार भी करते है। इतना ही नही, अपितु वे सट्टा भी करते है, परन्तु सयुक्त स्कन्ध बैंक बैंकिंग के *सिवा न अन्य व्यापार करत हे और न अधिनियम के अनुसार कर ही* सकते है।

(७) स्वदेशीय बैंकर की कार्य-प्रणाली सयुक्त स्कन्ध बैंको से सरल एव सुगम होती है, किन्तु सयुक्त स्कन्ध बैंको की अपेक्षा इनकी *ब्याज-दर अधिक* होती है।

(८) स्वदेशीय बैंकर बिना किसी प्रकार की जमानत के ऋण दे देते है, किन्तु सयुक्त स्कन्ध बैंक नही दते ।

(९) स्वदेशीय बैंकर ऋणों की जमानत के लिए किसी भी प्रकार की चल एव अचल सम्पत्ति को बन्धक रखते है, किन्तु सयुक्त स्कन्ध बैंक केवल ऐसी ही चल प्रतिभूतियाँ स्वीकार करते है जो सरलता से किसी भी समय बाजार मे बेची जा सकती हैं ।

स्वदेशीय बैंकरों की कार्य-प्रणाली

इनकी कार्य-प्रणाली अत्यन्त सरल एव कम खर्चीली होती है क्योंकि इनका कोई भी कार्यालय नही होता । ये लेन-देन के सब व्यवहार विशेषत अपने स्थान पर ही करते है । हा, लेखे इत्यादि लिखने का काम मुनीम करते है, जो बहुत ही ईमानदार तथा परिश्रमी होते है । ग्रामीण क्षेत्र म इनके बडे ही अच्छे बैंकिंग सम्बन्ध है तथा इनका अपन क्षेत्र के ग्राहकों की आर्थिक स्थिति के विषय म पूर्ण ज्ञान होता है । इसमे कोई भी व्यक्ति बिना किसी विशेष असुविधा के शीघ्र ही ऋण प्राप्त कर सकता है ।

निक्षेप—ये जनता से निक्षेप स्वीकार करते हैं एव उन पर ब्याज देते है । इनकी निक्षेप-राशि पर ब्याज की दर सहकारी तथा अन्य सयुक्त स्कन्ध बैंको से अधिक होती है जो ३% से ६% होती है । परन्तु ऐसा कहा जाता है कि स्वदेशीय बैंकर अधिक परिमाण मे निक्षेप नही लेते क्योंकि निक्षेप-राशि ग्राहकों द्वारा किसी भी समय निकाली जा सकती है जिससे वे खतरे मे पड सकते हैं । अत वे केवल अपन मित्रो के ही निक्षेप लेत हैं । मद्रास के नट्टुकोट्टाई चेट्टियर समस्त स्वदेशीय बैंकरो स अधिक चतुर एव व्यवहार-कुशल है । ये जनता स अधिक परिमाण मे निक्षेप स्वीकार करत हैं ।

निक्षेप राशि के लिए वे प्राय. रसीद भी देते हैं परन्तु अधिकतर नहीं देते । आजकल कुछ बैंकर रसीद तथा चैको से राशि निकालने की सुविधाएँ भी देने लगे हैं जो सीमित क्षेत्र म चलत हैं ।

ऋण—इनका प्रमुख कार्य ऋण देना है । य अधिकतर व्यापारिक तथा कृषि-कार्यो के लिए ऋण देते हैं परन्तु कभी-कभी उपभोग के लिए भी ऋण देते हैं । विशेषत ऋण किसी न किसी प्रकार के प्रतिज्ञा-पत्रों के आधार पर देते हैं, किन्तु ऋण की राशि अधिक होने पर अच्छी-अच्छी प्रतिभूतिया की जमानत लेते हैं । ये ऋणो पर अन्य बैंको से अधिक ब्याज लेते है । व्यापारिक कार्यों के लिए दिये जाने वाले ऋण विशेषत हुण्डियो की कटौती से अथवा खरीद करके भी देते हैं । सुरक्षित ऋणों पर इनकी ब्याज की दर ६% से १८%

होती है व अरक्षित ऋणो पर ब्याज की दर अधिक होती हे, जो १८% से ३६% तक होती है।

ऋण देने की पद्धति—इनकी ऋण देन की पद्धति सरल एव सुविधाजनक ह, जिससे किसी ऋण लेने वाले को कोई औपचारिक बाते नही करनी पडती। ऋण प्राप्त करने मे भी किसी व्यक्ति को विलम्ब नही होता। ऋण केवल वैयक्तिक प्रतिज्ञा-पत्र क आधार पर दिये जाते है अथवा कभी-कभी अन्य व्यक्तियो की जमानत की भी आवश्यकता होती है। साधारणत य केवल एक कागज पर (ऋण रसीद पर) ऋणी के हस्ताक्षर ही ले लेना पर्याप्त समझते हैं जिसे 'रुक्का' कहते हैं। इस रुक्के पर कभी-कभी ऋण पर ब्याज की दर, अवधि आदि देते है तथा कुछ बैंकर वैधानिक 'रुक्का लिखवाते हैं। कभी कभी य रुक्का न लिखवाते हुए अपनी लेखा पुस्तक पर ही स्टाम्प लगाकर ऋणी के हस्ताक्षर करवाते है। इस पुस्तक मे ऋण लेन की काई भी शर्त नही लिखी रहती। किसी अचल सम्पत्ति, जैसे भू गृहादि, रहन रखते समय ऋणी से वैधानिक लेख, जिसे रहन-बन्ध (mortgage bond) कहते हैं, लिखवा लेते है।

हुण्डियाँ—स्वदेशी बैंकर हुण्डियो म भी व्यवहार करते है तथा आजकल इनके व्यवहार मे विशेषत. चार प्रकार की हुण्डियो का उपयोग होता है—दर्शनी हुण्डी, मुद्दती हुण्डी, धनीजोग हुण्डी और शाहजोग हुण्डी। इन हुण्डियो का अनादरण बहुधा नही होता क्योकि किसी व्यक्ति द्वारा हुण्डियो का अनादरण लेखीवाल का दिवालिया होना माना जाता है। हुण्डियो के आधार पर भी ऋण दिय जात ह तथा इन ऋणा पर ब्याज की दर भिन्न-भिन्न स्थानो पर ४% से १२% तक स्थानीय प्रथानुसार भिन्न-भिन्न होती है। इस दर को 'बाजार-दर' कहते है। य हुण्डिया का क्रय-विक्रय एव कटौनी भी करते है।

कृषि-साख—स्वदेशीय बैंकर व्यापारिक ऋण के अतिरिक्त कृषको को ऋण देत है, परन्तु विशेषत इनका कृषको से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होता। ये महाजनो एव छोटे-छोट व्यापारियो के माध्यम से कृषको को ऋण देते है जिनसे इनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। ग्रामीण साख जॉच समिति के अनुसार ये लगभग ६०% ग्रामीण साख की पूर्ति करते हैं।

अन्य व्यापार—इसके अतिरिक्त ये अन्य व्यापार भी करते हैं, **जैसे अनाज की दलाली, सट्टा आदि।** आजकल तो इनकी इस व्यापार की ओर प्रवृत्ति और भी बढ गई है जिससे इनका वर्गीकरण निम्न रीति से किया गया है—

(१) वे स्वदेशीय बैंकर जो केवल बैंकिंग व्यापार ही करते हैं।

(२) वे स्वदेशीय बैंकर जिनका प्रमुख कार्य व्यापार है, परन्तु उसी के साथ बैंकिंग व्यापार भी करते हैं।

(३) वे स्वदेशीय बैंकर जो व्यापारी तथा बैंकर दोनों ही कार्य करते हैं परन्तु उनका कौन सा व्यापार प्रधान है यह निश्चित नहीं कहा जा सकता।

इनका वर्तमान महत्व—अभी तक स्वदेशीय बैंकरों का कोई भी नियमित संगठन नहीं है तथा ये लोग स्वतन्त्र रूप से अपना-अपना व्यापार करते हैं। आजकल कुछ नगरों में इन लोगों ने अपने-अपने जातीय सङ्घ (guilds) बना लिये हैं जिनका स्वरूप विशेषतः सामाजिक है, व्यापारिक नहीं। **जैसे बम्बई में मारवाड़ी चेम्बर ऑफ कामर्स, मुल्तानी तथा शिकारपुरी बैंकिंग सङ्घ, श्राफ सङ्घ आदि।** ये सब व्यापार की दृष्टि से समानता लाने अथवा सुविधाएँ देने का प्रयत्न नहीं करते। इसी प्रकार बैंकिंग व्यापार की समुचित शिक्षा का भी कोई प्रबन्ध नहीं करते। विशेषतः इनका व्यापार परम्परागत एवं आनुवंशिक होता है जिसमें उनको इस व्यापार की शिक्षा दैनिक व्यवहारों में घर में ही मिल जाती है। संगठन के इन दोषों के रहते हुए भी इनका ग्रामीण स्थिति एवं आवश्यकताओं का अध्ययन पूर्ण है एवं इनका अपने ग्रामीण ऋणी आदि के साथ अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी कारण सहकारी एवं अन्य बैंकों के होते हुए भी ये **लोग ६९% ग्रामीण एवं व्यापारिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। कहीं-कहीं तो ये लोग कारखानों के मालिक भी हैं एवं बम्बई तथा अहमदाबाद के सूती कारखानों को भी ये निक्षेप के रूप में साख देते हैं। इनके द्वारा कारखानों में रखे हुए निक्षेपों की अवधि दो मास से अधिक नहीं होती। आन्तरिक व्यापार को साख की पूर्ति, ग्रामीण साख की पूर्ति तथा छोटे छोटे उद्योगों की सहायता करने के कार्य में आज भी भारत में इन्हीं का एक प्रकार से एकाधिकार है।** इनमें से कुछ बैंकरों का बैंकिंग पद्धति का ज्ञान इतना गहरा है एवं वे इतने चतुर हैं कि देश में बैंकिंग पद्धति के एकीकरण की किसी भी योजना में इनका महत्वपूर्ण मानना होगा।'[1]

स्वदेशीय बैंकरों की वर्तमान अवनति का कारण—पिछले कुछ वर्षों में स्वदेशीय बैंकरों के व्यापार को गहरी चोट पहुँची है जिससे उनकी ब्याज दर कम हो गई है तथा व्यापार क्षेत्र भी सीमित हो गया है। इसका प्रमुख कारण सहकारी एवं संयुक्त स्कंध बैंकों का विकास है। इनकी वर्तमान अवनति के मुख्य कारण निम्न हैं —

---

[1] 'Agricultural Economist', Sept 1950, p 5

१ सयुक्त स्कध व्यापारिक बैंक तथा सहकारी बैंको की प्रतियोगिता—इन प्रतियोगी बैंको म स्टेट बैंक का नाम विशेष उल्लेखनीय है क्योंकि उसको सरकारी शेषो (balance) की व्यवस्था तथा राशि स्थानान्तरण की विशेष सुविधाएँ उपलब्ध ह। इसी प्रकार अन्य सयुक्त स्कध बैंको को भी स्टेट बैंक राशि-स्थानान्तरण की तथा रिजर्व बैंक ऋण आदि सम्बन्धी सुविधाएँ देता है। इससे स्वदेशीय बैंकर इनसे प्रतिस्पर्द्धा नही कर सकते। सहकारी बैंको के विकास के लिए रिजर्व बैंक की विशेष जिम्मेदारी है तथा प्रान्तीय एव केन्द्रीय सरकारो से भी सहायता प्राप्त है, इससे स्वदेशी बैंकरो का क्षेत्र सकुचित हुआ है।

२ आधुनिक बैंकिंग को अपनाने की अरुचि—कुछ बैंकरो ने आधुनिक पद्धति को अपनाना प्रारम्भ कर दिया है तथा निक्षेपो को चैंक द्वारा निकालने की सुविधा ग्राहको को दी है। फिर भी अधिकाश बैंक आधुनिक बैंकिंग पद्धति नही अपनाते। इसलिए ऐसे स्वदेशीय बैंको को अपना व्यापार सगठित रूप से करना चाहिए अथवा कुछ बैंक मिलकर नये बैंक की स्थापना करें, जैसा कि नेदुकोट्टाई चेट्टियो ने १९२९ मे 'बैंक ऑफ चेट्टीनाड लिमिटेड' की स्थापना से किया था। इसी प्रकार जर्मनी के कमांडिट (commandit) सिद्धान्त के अनुसार ये परस्पर बैंकिंग साझेदारी बना ले। अर्थात् अन्य व्यापारिक बैंक देहातो मे अपनी शाखा-स्थापन न करते हुए स्वदेशीय बैंकरो को उस स्थान का अपना प्रतिनिधि बनाकर उन्हे सुविधाएँ देते रहे तथा लाभ का वितरण आपस म कर ले। किन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जब स्वदेशीय बैंकर परम्परागत पद्धति को छोडकर आधुनिक पद्धति को अपनाये।

३ अन्य व्यापार की ओर प्रवृत्ति—देश की व्यापारिक उन्नति होने के कारण इन बैंकरो को अन्य व्यापार क्षेत्र मे अधिक लाभ मिलने की सुविधा हो गई है जिससे ये बैंकिंग को छोड कर अन्य व्यापार करने लगे हैं।

४ वैधानिक अडचनें—बैंकिंग पद्धति आधुनिक न होने से इनको व्यापार म अनेक वैधानिक कठिनाइयो का सामना करना पडता है। इनके अतिरिक्त भारतीय प्रान्तो ने कृषक ऋणग्रस्तता को दूर करने के लिए अनेक विधान बना दिये हैं, जिससे इनका कार्य-क्षेत्र सीमित हो गया है। इन विधानो द्वारा अधिकतम ब्याज दर निश्चित कर दी गई है। कहीं-कहीं कृषको के औजार आदि बेचने पर प्रतिबन्ध लगाये गये हैं, लेखा पुस्तकें आदि रखने के प्रतिबन्ध लगाकर ऋणी की सम्पत्ति (assets) की भी रक्षा की गई है। इससे इनका व्यापार एव साख क्रियाएँ कम हो गई है।

स्वदेशीय बैंकर एव व्यापारिक बैंको का सम्बन्ध

स्वदेशीय एव व्यापारिक बैंको का परस्पर सम्बन्ध भी सन्तोषप्रद नही है। व्यापारिक बैंको ने कुछ स्वदेशीय बैंकरो का मान्य बैंको की सूची मे ले लिया है एव उनको ऋण देने की मर्यादा निश्चित कर ली है, फिर भी इनको नियमित एव अनिर्बन्ध सहायता नही मिलती। इसमे स्वदेशीय बैंकर आवश्यकता पडने पर अन्य मार्गों से ऋण प्राप्त करते है परन्तु व्यापारिक बैंको के पास नही जाते। दूसरे, इनमे परस्पर प्रतियोगिता भी है। ऋण देने की मर्यादा भिन्न-भिन्न बैंको की आर्थिक स्थिति की जांच के बाद निश्चित की जाती है जो भिन्न-भिन्न बैंको के लिए भिन्न-भिन्न होती है। निश्चित मर्यादा मे हुण्डियो की कटौती की सुविधाएँ भी व्यापारिक बैंक देते है परन्तु यह सुविधा केवल नाममात्र की ही है। क्योकि स्वदेशीय बैंक विशेषत छोटे-छोटे व्यापारियो एव कृषको की स्वीकृत हुण्डी पर उन्हे ऋण देता है, जो हुण्डियाँ व्यापारिक बैंको की दृष्टि मे केवल इसीलिए अयोग्य होती है कि व व्यापारी अथवा कृषक कोई मूर्त (tangible) जमानत नही दे सकते। इतना ही नही अपितु व्यापारिक बैंक स्वदेशीय बैंकरो के नाम के रेखांकित अथवा अन्य चैक भी स्वीकार नही करते और न उन्हे राशि-स्थानान्तरण की ही सुविधाएँ स्टेट बैंक से प्राप्त है। **इसके साथ ही स्वदेशीय बैंकरो को व्यापारिक एव स्टेट बैंक के विरुद्ध यह भी शिकायत है कि वे इनसे अच्छा व्यवहार नहीं करते।**

स्वदेशीय बैंकरो के दोष

(१) **परम्परागत कार्य पद्धति**—ये अपने पुराने ढग पर ही अपना कार्य करते है तथा आधुनिक पद्धति को नही अपनाना चाहते। इसमे जनता का विश्वास इनको प्राप्त नही होता। जनविश्वास प्राप्त करने के लिए अपने व्यापार का गोपनीय स्वरूप न रखते हुए इन्हे समुचित लेखो का प्रकाशन करना चाहिए जिससे इनकी आर्थिक स्थिति की पूर्ण जानकारी जनता को प्राप्त हो सके।

(२) **सगठन का अभाव**—इनका ऐसा कोई भी सगठन नही है जो व्यापारिक सुधार एव परस्पर सहकार्य बढाने मे प्रयत्न करे। अत **इनमे आपस मे भी व्यापारिक प्रतियोगिता रहती है और ये सगठित रूप से अपना व्यापार नहीं कर पाते।** इसीके साथ इनमे तथा व्यापारिक बैंको मे परस्पर सम्बन्ध एव सहकारिता का अभाव है जिससे **मुद्रा-मण्डी का दो भागो मे विभाजन हो गया है,** जिनकी लेन-देन की पद्धति तथा ब्याज-दरें भी भिन्न-भिन्न है। इस

सहकारिता के अभाव के कारण रिजर्व बैंक का भी इन पर कोई नियन्त्रण नही है जिससे सामूहिक शक्ति एव समानता से कार्य नही हो सकता।[1]

(३) **निक्षेप बैंकिंग न अपनाना**—इन्होंने **निक्षेप बैंकिंग को विशेष महत्व नहो दिया** जिससे जनता मे बचत की आदत नही पडी और न देश की सचित एव निष्क्रिय राशि का उत्पादन कार्यों मे ही उपयोग हो सका। ये केवल अपने धन का ही ऋण-कार्यो के लिए उपयोग करते रह जिससे उनकी आधुनिक बैंको की भाँति उन्नति नहीं हुई।

(४) **ऋण देने की दोषपूर्ण पद्धति एव अधिक ब्याज दरें**—इनकी ऋण देन की पद्धति दोषपूर्ण तथा ब्याज दर भी बहुत अधिक रही। इतना ही नही, अपितु इन्होंने ऋणी के अज्ञान का अनुचित लाभ उठाया तथा कपट द्वारा अपन को पूँजीपति बनाया। यह आरोप इन पर किया जाता है, परन्तु एसा सभी बैंकर नही करते थे यह मानना पडेगा।

(५) **बैंकिंग के साथ अन्य व्यापार करना**—स्वदेशीय बैंकर बैंकिंग-नियाओं एव कार्य-पद्धति का पालन नही करते क्योंकि वे **बैंकिंग के साथ अन्य व्यापार तथा सट्टा भी करते हैं।** इससे उनको किसी भी प्रकार म हानि होने की दशा म निजी हानि तो होती ही है परन्तु साथ ही साथ उनके पास जिन व्यक्तियों के निक्षेप होते है उनकी भी हानि होती है। इससे जनता मे उनके प्रति अविश्वास हो गया है।

(६) **नये विनियोग साधनो की खोज नही की**—स्वदेशीय बैंकरो ने **विनियोगो के नये-नये स्रोतो की भी खोज नही की जो आधुनिक बैंकिंग का एक महत्वपूर्ण कार्य है।** य केवल अपन ही लाभ मे लगे रहे और आवश्यकतानुसार साख का प्रसार एव सकुचन करने मे भी असफल रह।

स्वदेशीय बैंकरो के सुधार के लिए सुझाव

इन दोषो के होते हुए भी आधुनिक ग्रामीण बैंकिंग व्यवस्था मे इनका विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। साथ ही इनका ग्रामीण साख की आवश्यकताओ तथा ग्राहको से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि आज भी बैंकिंग की किसी भी योजना मे इनका समावेश होना चाहिए, जिसस य किसी न किसी प्रकार से देश के अन्य बैंको के साथ सम्बन्धित हो सकें और इन पर नियन्त्रण करने म **रिजर्व बैंक** सफल हो। इनको अधिक उपयोगी बनाने के लिए निम्न सुझाव है—

---

[1] *Indigenous Banking in India* by Dr. L C Jain, pp 185-189

केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (१९२९)—यह समिति इनको जबरदस्ती नियन्त्रण में रखने के विरुद्ध थी। ३,१०,००० बैंकरों को (१९४१ में) जबरदस्ती नियन्त्रण में लाना एक तो सम्भव भी नहीं था। दूसरे अनिवार्य वैधानिक नियन्त्रण में आने के स्थान पर सम्भवतः ये व्यापार को ही छोड़ देते जिससे ग्रामीण एवं कृषि साख को भयंकर हानि होती। इसलिए समिति ने यह प्रस्ताव किया कि—

१ रिजर्व बैंक तथा व्यापारिक बैंक उनका उपयोग चैक एवं बिलों के संग्रहण के लिए उसी प्रकार करें जिस प्रकार सहकारी बैंक एवं अन्य संयुक्त स्कंध बैंकों का किया जाता है। इनको उसी प्रकार से राशि स्थानान्तरण, बिल और हुण्डियों की कटौती की सुविधाएँ भी दी जायें। इसलिए इन बैंकों पर अन्य व्यापार न करने का नियन्त्रण भी लगाया जाय जिससे मुद्रा-मण्डी में इनका स्थान महत्वपूर्ण होगा।

२ स्वदेशीय बैंकर, जो अन्य कोई भी व्यापार नहीं करते, रिजर्व बैंक से अपना सीधा सम्बन्ध स्थापित करें तथा उनका नाम 'स्वदेशीय बैंकरों की मान्य सूची' में लिखा जाय और उन्हें बिलों की कटौती की सुविधाएँ दी जायें।

३ स्वदेशीय बैंकर लेखा रखने की पुस्तकें तथा उनके अंकेक्षण (auditing) में सुधार करें तथा बिल एवं चैकों का उपयोग बढ़ायें।

४ स्वदेशीय बैंकर एवं संयुक्त स्कन्ध बैंकों का यथासम्भव एकीकरण किया जाय।

५ स्वदेशीय बैंकर अपना सहकारी बैंकिंग संघ बनायें जो अपने सदस्यों के बिलों की कटौती करें तथा पुनः कटौती की सुविधाएँ रिजर्व बैंक उन्हें दे।

६ स्वदेशीय बैंकर क्रमशः अपने व्यवसाय का रूपान्तर बिलों की दलाली में करें तथा मुद्रा मण्डी में भी यही कार्य करें जिससे बिल बाजार का विकास हो।

७ जो स्वदेशीय बैंकर रिजर्व बैंक के सदस्य हों वे अपने निक्षेपों के कुछ अनुपात में रिजर्व बैंक के पास निक्षेप रखें। किन्तु जिन बैंकरों के निक्षेप उनकी पूँजी से पाँच गुने नहीं हैं उन पर प्रथम पाँच वर्ष के लिए ऐसी कोई शर्त न हो। इससे रिजर्व बैंक साख नियन्त्रण अच्छी प्रकार से कर सकेगा।

८ देश की सभी बैंकिंग संस्थाओं में सहयोग बढ़ाने के लिए एक 'अखिल भारतीय बैंकिंग संघ' की स्थापना हो।

इसी प्रकार प्रान्तीय बैंकिंग जाँच समितियों ने भी निम्न सुझाव दिये थे—

१ रिजर्व बैंक स्वदेशी बैंकरों को अपना सदस्य बना ले तथा उन पर

कुछ व्यापारिक शर्तें लगा दें। साथ ही जिन स्थानों पर रिजर्व बैंक अथवा स्टेट बैंक की शाखा नहीं है वहाँ वे उनके अभिकर्ता का कार्य करें। इन सदस्यों को कुछ विशेष अधिकार एवं उत्तरदायित्व दिया जाय। **रिजर्व बैंक मे ये अपने निक्षेपों के अनुपात मे रोकड-निधि रखें जिसके बदले मे उन्हे बिलों के पुन. कटौती की सुविधाएँ मिलें।**

२ स्वदेशीय बैंकर जनता का विश्वास प्राप्त करने के लिए अपने व्यवसाय को **आधुनिक पद्धति पर सगठित करें तथा अपने लेखे भी आधुनिक ढङ्ग पर रखें** जिसका निरीक्षण करने का अधिकार रिजर्व बैंक को हो।

३. स्टेट बैंक तथा व्यापारिक बैंक स्वदेशीय बैंकरों के व्यापारिक बिलो की बिना शर्त कटौती करें।

४ आवश्यकतानुसार रिजर्व बैंक स्वदेशीय बैंकरो को अपना सदस्य बनाने के लिए कुछ शर्तो के साथ लाइसेंस दे। इन लाइसेंस प्राप्त बैंकरो को बिलो के पुन कटौती की अन्य सुविधाएँ दी जाये।

स्वदेशीय बैंकर तथा रिजर्व बैंक

रिजर्व बैंक अधिनियम की धारा ५५ (१) (अ) के अनुसार रिजर्व बैंक की जिम्मेदारी थी कि वह अधिनियम की उस धारा को, जो सूचीबद्ध बैंको के लिए है, ब्रिटिश भारत मे बैंकिंग करने वाली अन्य सस्थाओ पर लागू करे और इस सम्बन्ध मे अपनी रिपोर्ट गवर्नर-जनरल को तीन वर्ष मे दे।

इस धारा का सम्बन्ध और किसी भी बैंकिंग सस्था से न होते हुए केवल स्वदेशीय बैंकरो मे ही था। **रिजर्व बैंक ने १९३७ मे जो रिपोर्ट दी उसमे निम्न सुझाव है** —

१ रिजर्व बैंक मे सम्बन्धित होने के पूर्व देशी बैंकर अपनी क्रियाएँ भारतीय कम्पनी अधिनियम की **धारा २७७ (फ) तक ही सीमित** रखें तथा समुचित समय मे अन्य व्यापार का अन्त करें।

२ स्वदेशीय बैंकरो को अपने व्यापार का स्वरूप एव कार्य सयुक्त स्कध बैंको के समान ही रखना चाहिए, विशेषत निक्षेप-स्वीकृति के व्यवहार मे वृद्धि करनी चाहिए।

३ जिन स्वदेशीय बैंकरो की पूंजी २ लाख रुपए है वे ५ वर्ष मे अपनी पूंजी ५ लाख रुपए करें तथा रिजर्व बैंक की सदस्य-सूची मे सम्मिलित करने के लिए आवेदन दें।

४ स्वदेशीय बैंकरों के निक्षेप यदि उनकी पूंजी से ५ गुने हों तो निक्षेप का कुछ अनुपात रिजर्व बैंक के पास रखें।

५ उनको अपनी लेखा-पुस्तकें भली-भाँति रखकर विशेषज्ञों से निरीक्षण कराना चाहिए तथा रिजर्व बैंक को उन्हें देखने का अधिकार होना चाहिए।

६ अन्य सूचीबद्ध बैंकों की भाँति रिजर्व बैंक के पास समय-समय पर वे अपने कार्यों का आवश्यक विवरण भेजें तथा स्थिति-विवरण भी प्रकाशित करें।

इन शर्तों का पूरा करने पर स्वदेशीय बैंकर रिजर्व बैंक से मान्य होंगे एवं सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण प्राप्त कर सकेंगे। इसमें उन्हें सूचीबद्ध बैंकों की भाँति राशि-स्थानान्तरण की सुविधाएँ भी दी जायेंगी।

रिजर्व बैंक की यह योजना सफल न हो सकी तथा इस सम्बन्ध में स्वदेशीय बैंकरों की ओर से जो उत्तर दिये गये वे भी मनोरंजक हैं। श्री चुन्नीलाल मेहता ने बम्बई श्रॉफ संघ की ओर से लिखा था कि भारतीय अधिनियम की २७७ (फ) धारा के अन्तर्गत आने वाले अनेक कार्यों को वे अब भी कर रहे हैं तथा रिजर्व बैंक ने उन्हें अपना परम्परागत अन्य व्यवसाय छोड़ देने के लिए कहने के पूर्व उनसे व्यवहार आरम्भ करना चाहिए था। इसके बाद यह निश्चित किया होता कि अन्य व्यापार करने के कारण बैंकिंग व्यवसाय को क्षति होती है क्या ? यह देखने के उपरान्त उस व्यापार को छोड़ने के लिए कहा होता। इसी प्रकार एक मुल्तानी बैंकर ने लिखा था कि वे इस सुझाव से सहमत हैं कि स्वदेशीय बैंकर बैंकिंग के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय न करें परन्तु लेखों के निरीक्षण एवं अंकेक्षण (auditing) को उन्हें घोर विरोध है। दूसरे एक पत्र में यह भी लिखा गया था कि यदि रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक तथा अन्य बैंकों की भाँति स्वदेशीय बैंकरों से व्यापार करना चाहता है तो हम उसका स्वागत करते हैं। किन्तु जो शर्तें लगाई गई हैं उनके होते हुए कोई भी स्वाभिमानी बैंकर बिना की पुनः कठौती के लिए आपके दरवाजे नहीं आयेगा।[1]

अब यह समझ में नहीं आता कि रिजर्व बैंक निक्षेप बढ़ाने के लिए इन बैंकों पर क्या दबाव डालना है जब ये स्वयं ही देश की बैंकिंग प्रणाली में अपना स्थान उन्नत करना चाहते हैं। हाँ, समय की माँग के अनुसार स्वदेशीय बैंकर अपनी कार्य-प्रणाली में अवश्य परिवर्तन करें जिससे वे जनता का विश्वास प्राप्त कर सकें एवं मुद्रा-मण्डी के विभिन्न अंग संगठित हों। परन्तु इनको किसी अधिनियम से नियन्त्रित करके संगठित नहीं किया जा सकता और न

---

[1] *A Study of Indian Money* by Bimal C Ghosh, pp 153-154.

देश के बैंकिग-क्लेवर से इनको हटाया जा मकता है। अत इनका सगठन एव नियन्त्रण केवल तीन मार्गो से ही हो सकता है —

१ रिजर्व बैंक बिल-बाजार बढाये तथा बिलों की पुन कटौती की सुविधाएँ सभी स्वदेशीय बैंकरो कोदे, जो रिजर्व बैंक की सदस्यता स्वीकार करें, इससे बिल-बाजार का विकास हो सकेगा। इन सुविधाओं को देते समय ऐसे व्यापारिक बन्धन न लगाये जायें जो उनको अमान्य न हो।

२ रिजर्व बैंक इनके साथ सद्भावना का व्यवहार करे तथा अपने मेल-जोल से इनकी कार्य-प्रणाली नियत करे। इन्हे उसी प्रकार सब सुविधाएँ दे जो अन्य बैंकों को है और क्रमश इनके व्यापार को नियन्त्रण मे लाया जाय।

३ देश का बैंकिंग-क्लेवर इतना सगठित किया जाय जिससे जनता की सभी आवश्यकताओ की पूर्ति अविलम्ब एव बिना किसी औपचारिकता (formality) के पूर्ण हो सके, विशेषत कृषि साख की, जिससे स्वदेशीय बैंकरो की आवश्यकता ही न रहे।

रिजर्व बैंक से सम्बन्धित होने से लाभ

(१) रिजर्व बैंक एव स्वदेशीय बैंकरो के सम्बन्धित होने से देश की मुद्रा-मण्डी के विभिन्न अगो का सगठन हो जायगा एव वह साख-नियन्त्रण मे सफल हो सकेगा।

(२) सयुक्त स्कन्ध तथा सहकारी बैंको की प्रतिस्पर्द्धा के कारण स्वदेशीय बैंकरों की जो अवनति हो रही है एव व्यापार घट रहा है, वह इनके सम्बन्धित हो जाने पर नही होगा। अपितु इनको ग्रामीण परिस्थिति का विशेष ज्ञान होने के कारण, ग्रामीण क्षेत्र मे साख-निर्माण करने का एकाधिकार प्राप्त हो जायगा।

(३) इनको अन्य व्यापार करने की आवश्यकता भी प्रतीत नही होगी क्योंकि रिजर्व बैंक से सम्बन्धित होने के कारण इनका बैंकिग व्यापार बढेगा।

(४) रिजर्व बैंक से सम्बन्धित होने पर इन्हे राशि-स्थानान्तरण, पुन कटौती आदि की सुविधाएँ मिल सकेंगी तथा रिजर्व बैंक को भी इनसे कुछ विवरण, जो वे देने के लिए तैयार हैं, प्राप्त हो सकगे। इससे देश की बैंकिग प्रगति एव आर्थिक स्थिति का सही ज्ञान हो सकेगा।

(५) इस परस्पर सम्बन्ध मे वे जनता एव देश के अन्य बैंको का विश्वास प्राप्त कर सकगे, जिससे देश के बैंकिग क्लेवर मे इनका महत्त्वपूर्ण स्थान हो जायगा।

सारांश

इपीरियल बैंक (स्टेट बैंक), विनिमय बैंक, व्यापारिक बैंक एव सहकारी बैंकों को छोडकर जो हुण्डियो का व्यवहार करते हो, जनता से निक्षेप लेते हो एव ऋण देते हो वे स्वदेशीय बैंकर हैं। सामान्य ऋणदाता से स्वदेशीय बैंकरो मे भिन्नता है; क्योकि महाजन निक्षेप नहीं लेते, हुण्डियो मे व्यवहार नहीं करते ऋण देने के साथ अन्य व्यापार को प्राथमिकता देते हैं, केवल निजी धन से ही ऋण देते हैं तथा कृषिकार्यों के लिए ही विशेषत उपयोग के लिए ऋण देते हैं। महाजनो का कार्य कोई भी कर सकता है परन्तु स्वदेशीय बैंकिग केवल विशेष जातियो द्वारा ही किया जाता है।

सयुक्त स्कन्ध बैंक और स्वदेशीय बैंकर मे निम्न भेद है :—

संयुक्त स्कन्ध बैंक	स्वदेशीय बैंकर
१ भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तगत समामेलन अनिवार्य	१ समामेलन अनावश्यक
२ लेखो का प्रकाशन–अनिवार्य	२ लेखे गोपनीय
३ निक्षेप राशि को चक मे निकालने की सुविधा देते हैं	३ ऐसी सुविधा नही
४ व्यक्तिगत सपर्क का अभाव	४ व्यक्तिगत सम्पर्क घनिष्ठ
५ केवल अल्पकालीन ऋण प्रदाय	५ अल्पकालीन एव दीर्घकालीन ऋण प्रदाय
६ केवल बैंकिग व्यवसाय ही करते हैं	६ अन्य व्यवसाय भी बैंकिग के साथ करते हैं परन्तु बैंकिग की प्रधानता रहती हैं
७ ऋण की जमानत आवश्यक	७ जमानत लेना, न लेना इनकी इच्छा पर निर्भर
८ औपचारिकता अधिक	८ औपचारिकता नहीं कार्य प्रणाली सरल, ब्याज दर अधिक
९ केवल तरल सम्पत्ति की जमानत लेते हैं	९ चल एव अचल सम्पत्ति की जमानत मान्य करते हैं

कार्य प्रणाली—इनकी कार्य-प्रणाली सरल होती है तथा लेन-देन अपने घर पर ही करते हैं। ये जनता से निक्षेप लेते हैं, ऋण देते हैं, हुण्डियो मे व्यवहार करते हैं। इनका महत्व ग्रामीण कृषि-साख में अधिक है क्योकि ये लगभग ९०% ग्रामीण साख देते हैं। इसीलिए इनको बैंकिग विकास की किसी भी योजना से पृथक् नहीं किया जा सकता।

इनकी वर्तमान अवनति के कारण—(१) संयुक्त स्कंध व्यापारी बैंकों एवं सहकारी बैंको के साथ प्रतियोगिता, (२) आधुनिक बैंकिंग को न अपनाना, (३) अन्य व्यापार की ओर प्रवृत्ति, (४) वैधानिक अड़चनें (ऋण की वसूली मे)।

स्वदेशी बैंकरों के दोष—(१) परम्परागत कार्य पद्धति, (२) आपसी संगठन का अभाव (३) निक्षेप बैंकिंग न अपनाना, (४) ऋण देने की दोषपूर्ण पद्धति, (५) अधिक ब्याज दरें, (६) बैंकिंग के साथ अन्य व्यवसाय करना, (७) नये विनियोग साधनों की खोज नहीं की, इनके सुधार एवं रिजर्व बैंक से सम्बन्धित करने के लिए केन्द्रीय व राज्य बैंकिंग जाँच समितियों ने अनेक सुझाव दिये तथा रिजर्व बैंक ने भी इनको सम्बन्धित करने की योजना बनाई थी। इसकी शर्तें थीं कि –(१) ये केवल बैंकिंग व्यवसाय ही करें, (२) निक्षेपों मे वृद्धि करें, (३) पूंजी से पाँच गुने निक्षेप होने पर रिजर्व बैंक के पास उसका कुछ अनुपात रखें, (४) लेखा पुस्तकों का अंकेक्षण करायें तथा वे रिजर्व बैंक के परीक्षण के लिए खुली रहे, (५) रिजर्व बैंक के पास अन्य बैंको की भाँति सामयिक विवरण भेजें तथा स्थिति विवरण प्रकाशित करें। परन्तु इनको ये शर्तें मान्य न होने से ये अभी तक रिजर्व बैंक से सम्बन्धित नहीं हो सके हैं, जिससे मुद्रा-मण्डी का एक महत्वपूर्ण अंग अनियन्त्रित है।

अध्याय १६

व्यापारिक बैंक

व्यापारिक बैंक साधारणत उन संयुक्त स्कंध बैंको को कहते हैं जो भारतीय कम्पनी अधिनियम १९५६ के अनुसार भारत मे स्थापित किये गये है। संयुक्त स्कंध बैंक वास्तव में किसी भी बैंक को कहते है जो कम्पनी के रूप मे समायोजित हुआ हो फिर चाहे वह विनिमय बैंकिंग, कृषि बैंकिंग अथवा किसी भी प्रकार का बैंकिंग व्यवसाय क्यो न करे। परन्तु संयुक्त स्कंध बैंक विशेषत व्यापारिक बैंकिंग कार्य करते हैं अत इन्हे ही सर्वसाधारण रूप मे व्यापारिक बैंकिंग कहा जाता है। इनका कार्य जनता से माग पर देय अल्पकालीन निक्षेप स्वीकारना तथा व्यापारिक कार्यों के लिए अल्पकालीन ऋणो की पूर्ति करना है। इस प्रकार भारत मे स्टेट बैंक और रिजर्व बैंक को छोडकर जितने भी अन्य सीमित देनदारी वाले बैंक हैं वे सब व्यापारिक अथवा संयुक्त स्कंध बैंक है। स्टेट बैंक भी व्यापारिक बैंकिंग कार्य करता है परन्तु इसका निर्माण स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट से हुआ है अत यह इस सामान्य नियम का अपवाद है। इसी प्रकार विदेशी विनिमय बैंको का मुख्य कार्य विदेशी व्यापार को आर्थिक सहायता देना है परन्तु वे भी व्यापारिक बैंकिंग क्रियाएँ करते है तथा उनका समामेलन विदेशों मे हुआ है।

३१ मार्च १९५८ के अन्त मे भारत मे कुल सूची-बद्ध बैंको की सख्या ८६ तथा उनके कुल कार्यालयों की सख्या ३४५५ थी। उनके कुल निक्षेपो की राशि १ अप्रैल १९५९ को १०१६ ५६ करोड रुपये थी। इस प्रकार असूचीबद्ध बैंकों की सख्या १९५३ के अन्त मे ४३७ तथा उनके निक्षेपो की राशि ६३ ७६ करोड रुपये तथा कार्यालय सख्या १२६८ थी।

व्यापारिक बैंको का वर्गीकरण

साधारणत व्यापारिक बैंको को दो श्रेणिया मे हम बाट सकते है—

१ सूचीबद्ध बैंक (Scheduled Banks)—इनका समावेश रिजर्व बैंक एक्ट के अनुसार दूसरी सूची मे होता है। इस हेतु व्यापारिक बैंक को रिजर्व बैंक एक्ट की धारा ४२ (६) की शर्ते पूर्ण करनी पडती है, जो निम्न हैं —

(अ) जो बैंक भारतीय राज्यों मे व्यवसाय करता है ।

(आ) जिस बैंक की चुक्ता पूंजी एव निधि मिलाकर ५ लाख रुपये मे कम नही है ।

(इ) जिनको अपनी माँग एव समय देनदारी के क्रमश ५% व २% कोष रिजर्व बैंक के पास जमा करना पडता है ।

(ई) जिन बैंको के सम्बन्ध मे रिजर्व बैंक को विश्वास है कि उनकी क्रियाएँ निक्षपकर्त्ताओ के हित म हो रही है ।

२ **असूचीबद्ध बैंक** (Non-Scheduled Banks)—जिन व्यापारिक बैंको का समावेश रिजर्व बैंक की दूसरी सूची मे नही होता उन्हे असूचीबद्ध बैंक कहते है । इनका वर्गीकरण चुक्ता पूँजी एव निधि के अनुसार चार वर्गो मे होता है —

'अ' (a) श्रेणी—जिनकी चुकता पूंजी एव निधि मिलाकर ५ लाख रुपये से अधिक है ।

'ब' (b) श्रेणी—जिनकी चुक्ता पूंजी एव निधि मिलाकर १ लाख से ५ लाख रुपये तक है ।

'स' (c) श्रेणी—जिनकी चुक्ता पूंजी एव निधि मिलाकर ५०,००० रुपये से १ लाख रुपये तक है ।

'द' (d) श्रेणी -जिनकी चुकता पूंजी एव निधि मिलाकर ५०,००० रु० तक है ।

व्यापारिक बैंको की कार्य-प्रणाली

व्यापारिक बैंको के प्रमुख कार्य तीन होते हैं[१] —

(१) जनता से निक्षेप स्वीकार करना,

(२) साख-निर्माण तथा ऋण-प्रदाय द्वारा जनता की वित्त शक्ति का सचार करना, तथा

(३) अन्य कार्य, जैसे अभिकर्त्ता की सेवाएँ, ग्राहको को आभूषण, प्रलेख आदि की सुरक्षा के लिए सुविधाएँ देना, आदि ।

यहाँ केवल यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि व्यापारिक बैंक जनता से स्थायी, सचय तथा चल निक्षेप लेकर उसी धन से जनता की व्यापारिक एव औद्योगिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ऋण देते है जिससे व्यापारिक एव औद्योगिक प्रगति को गति मिलती है ।

---

१ देखिए अध्याय १ ।

ऋण देना—व्यापारिक बक दो प्रकार म ऋण दत है। एक तो केवल ऋणी की वैयक्तिक जमानत पर तथा दूसर ऋणी की वैयक्तिक जमानत के साथ ही अन्य दो व्यक्तियो तथा सहायक प्रतिभूतियो की जमानत पर। जो ऋण बिना किसी सहायक तथा अन्य व्यक्तियो की जमानत पर दिय जात ह और जिनम केवल ऋणी की ही वैयक्तिक जमानत होती है उनको अरक्षित ऋण, तथा जिन ऋणो के लिए बक सहायक प्रतिभूतियो की जमानत लता है उन्ह रक्षित ऋण कहत है। भारत म केवल ऋणो की जमानत पर विशेषत ऋण नही दिय जात। ऋणो की जमानत बैंक क कार्य क्षत्र पर निभर रहती है। यदि किसी बन्दरगाह म बैंक कार्यालय है तो उस स्थान का विशेषत विदेशी व्यापार होगा एव ऐसे स्थानो पर व्यापारियो को जो ऋण आदि दिय जायग वे वस्तुओ (goods) की जमानत पर अथवा जहाजी बिल्टी आदि की जमानत पर दिय जायग। परन्तु विशेषत विदेशी व्यापार क लिए ऋणो की सुविधाएँ दन का कार्य विदेशी विनिमय बक करत है। व्यापारिक बैंको को विनिमय बको जैसी सुविधाएँ न होन से यह कार्य व्यापारिक बक पूर्ण रीति म नही कर पात। जैसा कि केन्द्रीय बैंकिग जाच समिति न कहा है कि भारत के विदेशी व्यापार को आर्थिक सुविधाएँ दन म ब कोई भी प्रत्यक्ष कार्य नही करत—उस स्तर पर जहा बन्दरगाह म माल बाहर जाता ह अथवा जिस बन्दरगाह पर माल आता है। स्पष्ट है कि व्यापारिक बक कवल देशी व्यापार एव उद्योग की आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति करत है। जहा पर विनिमय स्कध के व्यवहार अधिक मात्रा म है वहा पर व्यापारिक बक स्कध विनिमय प्रतिभूतियो की जमानत पर ऋण देत है। इसी प्रकार कृषि क्षत्र मे, जहा इस प्रकार की प्रतिभूतिया नहीं होती वे कृषिज वस्तुओ (agricultural produce) की जमानत पर ऋण दत है। औद्योगिक अल्पकालीन साख की पूर्ति व या तो किसी प्रकार की विनयशील प्रतिभूतियो की जमानत पर अथवा कच्च माल की जमानत पर करत है।

भारतीय व्यापारिक बैंक केवल वैयक्तिक जमानत पर ऋण नही दत। बैंक तो कवल उन ग्राहको को जिनकी साख म उन्ह पूर्ण विश्वास है उनक प्रतिज्ञा पत्र पर अथवा बिल एव हुण्डियो पर ऋण दते है। परन्तु अपनी राशि की सुरक्षा क लिए वे अन्य दो मालदार व्यक्तियो को जमानत इनक रूप म विलेखो पर हस्ताक्षर करवा लत है।

य अधिविकर्ष एव रोक ऋण (cash credit) की भी सुविधाएँ देत है जिसकी जमानत के लिए व ग्राहको स बन्ध, अश ऋण पत्र अथवा अन्य प्रति

भूतियाँ लेते है। औद्योगिक आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति ये कभी-कभी करते हैं परन्तु यह कार्य ये बहुत ही कम मात्रा मे करते है क्योंकि इनके निक्षेप अल्पकालीन होने के कारण अल्पकालीन ऋणो की सुविधा देना इनके व्यापारिक स्वरूप के अनुसार आवश्यक होता है। यदि वे ऐसा न करे तो किसी भी समय उनकी आर्थिक स्थिति खतरनाक हो सकती है।

व्यापारिक बैंक प्रथम श्रेणी के व्यापारिक बिलो की कटौती भी करते है परन्तु हमारे यहाँ बिल-बाजार विकसित न होने से यह कार्य सीमित है। परन्तु आशा है कि भविष्य मे बिलो की कटौती अधिक परिमाण मे हो सकेगी।

व्यापारिक बैंक विशेषत कृषि को साख सुविधाएँ नही देते क्योंकि एक तो किसानो के पास जमानतो आदि का अभाव रहता है तथा उनकी भुगतान-शक्ति अनेक कारणो से सीमित रहती है। अत कृषि साख मे इनका स्थान महत्वपूर्ण नही है। हाँ, ये थोडी-सी साख की पूर्ति केवल कृषिज वस्तुओं की बिक्री (marketing) के लिए करते हैं जो विशेषत स्वदेशीय बैंको अथवा सहकारी बैंको के माध्यम से दी जाती है। ये कृषि-साख की पूर्ति कर सके, इसलिए यह आवश्यक है कि कृषिज-वस्तुओ की बिक्री-सगठन मे सुधार किया जाय क्योंकि देहातो मे लाइसेंसधारी भाण्डारो का तो अभाव ही है। इस दशा मे अब प्रयत्न हो रहे है।

सक्षेप मे व्यापारिक बैंको की क्रियाओं मे चल एव अन्य निक्षेप लेखो का रखना, बिलो की कटौती से व्यापार एव उद्योग को आर्थिक सहायता देना तथा साख खोलना एव इसी प्रकार के अन्य कार्यो का समावेश होता है। प्रो० गिलबर्ट के अनुसार व्यापारिक बैंको को निम्न कार्य नही करने चाहिए[1] —

(१) ग्राहकों को व्यापार सचालन के लिए पूँजी देना।

(२) स्थायी ऋण देना।

(३) एक ही ग्राहक को अधिक परिमाण मे ऋण देना।

अन्य कार्य—उक्त कार्यों के अतिरिक्त व्यापारिक बैंक अनेक सहायक कार्य करते है। ये ग्राहकों को राशि-स्थानान्तरण (remittance) की सुविधाओ के साथ आर्थिक एव व्यापारिक मामलो मे भी सलाह देते है। ग्राहकों की ओर से प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करते हैं तथा उनके चैक, हुण्डियाँ आदि का सग्रहण तथा उनकी बीमे की किश्त, आय-कर आदि का भुगतान करते है। अपने ग्राहको को अन्य ग्राहको के सम्बन्ध म आर्थिक जानकारी देते है तथा उनको आवश्यक साख-प्रदाय करते है।

---

1 *History and Principles of Banking* by Gilbert.

पांच महान् बैंक तथा सात महान् बैंक—भारत के वर्तमान सूची-बद्ध बैंकों में निम्न महत्वपूर्ण है, जो 'सात महान् बैंकों' में आते है एवं इनके निक्षेप २५ करोड़ रुपए से अधिक हैं —

	बैंक का नाम	स्थापना	कार्यालय एव शाखाएँ (१९४५ में)	कुल निक्षेप (१९४५) लाख रु०
*१	पंजाब नेशनल बैंक	१८९४	१९७	५१५२ ४६
*२	बैंक ऑफ इण्डिया	१९०६	३०	५९०१·५४
३	दी इण्डियन बैंक	१९०७	६३	?
*४	बैंक ऑफ बडौदा	१९०८	३३	२९९७ ६५
*५	सन्ट्रल बैंक आफ इण्डिया	१९११	२०९	१०५२३ ४१
६	बैंक ऑफ मैसूर लि०	१९१२	३१	?
*७	अलाहाबाद बैंक लि०	१९२३	७५	२८७४ ६०

उक्त बैंकों में जिन बैंकों पर * यह चिह्न हैं उनकी गणना "पाच महान् बैंकों" मे होती है। इनके अतिरिक्त युद्ध-काल में स्थापित युनाइटेड कमर्शियल बैंक (१९४३) की गणना भी वर्तमान महान् बैंकों में है। इसकी शाखाएँ ९२ हैं।

व्यापारिक बैंको की विदेशी शाखाएँ

भारतीय व्यापारिक बैंकों की शाखाएँ विदेशों में भी कार्य करती हैं तथा देश के व्यापारियों को कुछ हद तक विदेशी विनिमय की सुविधाएँ प्रदान करती हैं। इनकी शाखाएँ जिन देशों में हैं उन देशों के साथ विदेशी व्यापार के लिए आर्थिक सुविधाएँ भी देती हैं।

भारतीय व्यापारिक असूचीबद्ध एवं सूचीबद्ध बैंकों की १९४६ में क्रमश १८३ एवं ६२८ विदेशी शाखाएँ थी। ये शाखाएँ अब कम होती जा रही हैं।

	सूचीबद्ध बैंक	असूचीबद्ध बैंक
१९४६	६२८	१८३
१९४७	४६३	९८
१९४८	२२६	४६
१९४९	१४७	३१
१९५०	१२५	२२
१९५१	१११	१९

इन कायालया म पाकिस्तान का भी समावेश है। बका की विदशी शाखाओं की सख्या पाकिस्तान की शाखाएँ बन्द होने के कारण कम हुई है। १६४७ से १६५१ की अवधि म सूचीबद्ध एव असूचीबद्ध बका न अपन क्रमश ३५६ एव ५१ कार्यालय बन्द किय। य सभी कार्यालय पाकिस्तान म थ। इसके विपरीत अन्य दशो म नय कायालय खोल गय ह। इससे स्पष्ट है कि भारतीय व्यापारिक बक कुछ अश म विदशी विनिमय क्षत्र म अधिक हिस्सा लेन लग है। यह व्यापारिक बको का सुदढता का परिचय देती है।

व्यापारिक बको की प्रगति—जैसा कि हम देख चुके है व्यापारिक बका की शाखाए काय क्षत्र एव जनसख्या की दष्टि म अन्य देशा की अपेक्षा बहुत ही कम है। जो प्रगति द्वितीय महायुद्ध से हुई है वह केवल बडे बडे शहरो तक ही सीमित है। अन्य शहरा मे बको की शाखाएँ या तो है ही नही अथवा जहा है वहा अपर्याप्त है। चद तो बक शाखाओ के विस्तार की ओर न त्रखत हुए अपना अपना कायालय ठोस बनान मे प्रगतिशील है जो भविष्य मे किसी भी प्रकार के बैंकिंग सकट से बचने के लिए निस्सन्देह आवश्यक है। भारतीय बका की उन्नति न होन देन मे उनकी काय शली की अनक त्रुटिया है तथा अनेक बाह्य कठिनाइया बाधक है जिससे वे अपना काय क्षत्र न बढा सके।

काय शली की त्रुटिया—भारतीय व्यापारिक बका की काय शली की त्रुटिया निम्नलिखित है —

(१) सबसे पहला दोष इनकी काय पद्धति म यह है कि ये बक अधिकतर **पूजी का विनियोग सरकारी प्रतिभूतियो** मे करते हैं जिससे व्यापारिक बिला का अधिक प्रचार एव उपयाग नही हो सका।

(२) भारत मे **बक स्वीकृति बिलो** (bank acceptances) **का अभाव** है। बक व्यापारिया को इनकी सुविधा नही दते तथा व रोक ऋण की सुविधाएँ अधिक परिमाण म देते है जिसस प्रथम श्रेणी के व्यापारिक बिला का अभाव है। इसस बकिंग विकास मे बाधा होती है और उनकी निधि विनेपत इस प्रकार के ऋणो म ही समाप्त हो जाती है।

(३) भारतीय बक अपने ग्राहको को **व्यक्तिगत साख पर** ऋण **नही देते** जसा कि पाश्चात्य राष्ट्रो म होता है। इससे इनकी व्यापारिक प्रगति नही हो पाती। इसका प्रमुख कारण भारत मे पाश्चात्य दशा की तरह सड (seeds) डून्स (duns) आदि जसी सस्थाएँ नही हैं जो बका को उनके ग्राहको की आर्थिक स्थिति का पूरा-पूरा ज्ञान द।

(४) भारत मे **एक व्यक्ति एक बक प्रथा नहीं है** जो पाश्चात्य दशा

म है। इनसे बैंक एवं ग्राहकों के परस्पर सम्बन्ध में घनिष्टता नहीं आती। इतना ही नहीं अपितु पाश्चात्य देशों में ग्राहक अपने बैंक को अपनी आर्थिक स्थिति का पूरा विवरण भी सामयिक (periodically) भेजते रहते हैं। इससे बैंक उन्हें वैयक्तिक साख पर ऋण देता है। परन्तु भारतीय व्यापारी अपनी आर्थिक स्थिति की पूर्ण जानकारी बैंकों को भी देना पसन्द नहीं करते। इससे ऋणों की व्यक्तिगत साख पर ऋण देने की प्रथा यहाँ नहीं अपना पाते।

(५) भारतीय बैंकों ने विदेशी बैंकों की शान शौकत की झूठी नकल की परन्तु उनकी भांति कार्य शैली अपनाने का यत्न नहीं किया। इससे उनकी कार्यक्षमता न बढ़ते हुए कार्य व्यय अवश्य बढ़ गये जिससे वे अपने ग्राहकों को अधिक सुविधाएँ नहीं दे सके। इस कारण ग्राहक इनकी ओर आकर्षित न हुए और उन्होंने अपने रुपये उनसे अधिक कार्यक्षम विदेशी बैंकों में रखे। कुछ व्यक्ति ऐसे ग्राहकों पर अराष्ट्रीयता का दोष लगाते हैं परन्तु वास्तविक स्थिति नहीं देखते।

(६) भारतीय बैंकों ने बैंकिंग सिद्धान्तों का पूरा रूप से पालन नहीं किया। उन्होंने अपनी राशि ऐसे कार्यों में लगाई जिन कार्यों में उनको नहीं लगाना चाहिए थी जैसे चाँदी सोने का सट्टा आदि। इतना ही नहीं अपितु नये नये बैंकों ने अपनी आर्थिक परिस्थिति अच्छी एवं लाभप्रद बनाने की दृष्टि से शुरू शुरू में अच्छे लाभांश भी दिये तथा संचित निधि (reserve fund) का निर्माण नहीं किया। इससे लाभांश की दर स्थायी रखने में उन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। परिणामस्वरूप अनेक बैंकों का विलियन हुआ। इनके मुख्य दोष निम्न हैं —

(अ) निक्षेप के अनुपात में रोक निधि की कमी।

(ब) निक्षेपों को आकर्षित करने के लिए अधिक ब्याज देना।

(स) अधिकृत प्रार्थित एवं चुकता पूंजी में समुचित अनुपात न होना।

(७) कार्यक्षम कर्मचारियों योग्य संचालकों एवं व्यवस्थापकों का अभाव होने से ये अपने बैंक के प्रति जनता का विश्वास प्राप्त नहीं कर सके। जैसे त्रिलिंगम बैंक लिमिटेड का व्यवस्थापक जिसको लेखा-कर्म के सिद्धान्त तथा बैंकिंग का तनिक भी ज्ञान नहीं था और न वह यह जानता था कि विनिमय बिल किसे कहते हैं।

(८) बैंकों में परस्पर सहयोग का अभाव होने से उनमें गलाकाट प्रतिस्पर्द्धा होती है तथा प्रतियोगिता के कारण ब्याज दर भी अधिक होती है। इतना ही नहीं अपितु भिन्न भिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न ब्याज दर होती है

जिससे सकट-समय पर परस्पर सहायता का अभाव रहता है एव सगठित नीति का निर्माण नही हो सकता।

(६) देश म **अव्यवस्थित एव आवश्यक स्थानो पर बैंकों की शाखाएँ खोली गई हैं** तथा जहाँ पर साख-साधनों की अधिक आवश्यकता है वहाँ पर बैंकिग सुविधाएँ नही है। इससे ग्रामीण क्षेत्रों मे इन बैंको का विकास न होते हुए स्वदेशीय बैंकरा का स्थान महत्वपूर्ण बना रहा।

(१०) **बैंको का सम्पूर्ण व्यवहार अंग्रेजी मे** होता है जिसे भारत के १०% लोग भी कठिनाई मे जानते है। उदाहरणार्थ, चैंक, प्रतिज्ञा-पत्र आदि अँग्रेजी मे ही लिखे जाते है तथा बैंको की सारी क्रियाएँ भी अँग्रेजी मे ही होती है। इस कारण बैंकों का विकास ग्रामीण क्षेत्रो मे न हो सका।

वाहरी कठिनाइयाँ

(१) **बैंकिग-सकट**—पुन पुन बैंकिंग-सकट आने के कारण देश मे अनेक बैंको का विलियन हुआ, जिसमे बैंकिंग-व्यवसाय म साधारण जनता पूँजी का विनियोग करना समुचित नही समझती। इतना ही नही, अपितु आज भी बैंकों के अशा मे सट्टा होता है, जिससे जनता का विश्वास इनमे नही जम पाता।

(२) **जनता की सकुचित मनोवृत्ति**—भारतीय जनता स्वभावत ही अपने धन को अपने पास ही रखना अधिक सुरक्षित समझती है, उसका विनियोग करना पसन्द नही करती और न **विनियोग के लिए अच्छे साधन ही उपलब्ध होते हैं। इससे बैंको को निक्षेप रूप मे पर्याप्त मात्रा मे कार्यशील पूँजी** नही मिल पाती।

(३) **वैधानिक कठिनाइयाँ**—हमारे देश म हिन्दू और मुसलमान उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम ऐसे है जिनसे बैंको को ग्राहकों से ऋण भुगतान के समय अनेक कठिनाइयों का सामना करना पडता है। **रहन-सम्बन्धी भी अनेक वैधानिक अडचनें होती हैं** जिस कारण रहन पर ऋण देने के लिए बैंक सहज म तैयार नही होते।

(४) **सरकारी प्रोत्साहन का अभाव**—भारतीय बैंकों को देश मे राष्ट्रीय सरकार की स्थापना होने तक सरकार एव अर्द्ध-सरकारी सस्थाओ की ओर से किसी प्रकार का प्रोत्साहन नही मिला। यदि सरकारी एव अर्द्ध-सरकारी सस्थाएँ इन बैंको से लेन-देन करती तो इनकी साख बढती, व्यापारिक उन्नति होती तथा निक्षेप भी बढते। परन्तु देश की तत्कालीन विदेशी सरकार ने सदैव यूरोपीय बैंकों को ही अपने लेन-देन से प्रोत्साहित किया।

(५) **विनिमय एव यूरोपीय बैंकों की प्रतियोगिता**—विनिमय बक एव यूरोपीय बक देश म होन क कारण तथा सरकार की स्वतन्त्र व्यापारिक नीति होन के कारण देश का लाभकर व्यवसाय विनिमय बैंका क एकाधिकार म ही था। जो भारतीय बक विदेशी विनिमय व्यापार करना भी चाहत थ व इन बका की स्पद्धा म ठहर नहीं सकत थ अत इनकी उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई। क्योंकि विदशी बैंका की शाखाएँ ही भारत म थीं एव उनक प्रमुख कार्यालय विदेशों म थ। इस कारण उनक मात्र सम्बन्ध अन्य विदशी बैंका स अच्छे थ।

(६) **विनिमय बको द्वारा आन्तरिक व्यापार मे प्रतियोगिता**—(विनिमय बैंका का व्यापार केवल आयात निर्यात केन्द्रा तक ही सीमित न रहकर हुए देश के प्रमुख व्यापारिक केन्द्रा म भी उनकी शाखाए थीं। अत व आन्तरिक व्यापारिक सुविधाएँ देकर भारतीय बका की प्रतियोगिता करत थ।) विनिमय बक अधिक सगठित एव अच्छी आर्थिक स्थिति म होन स जनता का विश्वास शीघ्र प्राप्त कर लत थ जिसस उनके पास अधिक निक्षेप आत थ। इस प्रकार विनिमय बैंको की स्पर्द्धा म भारतीय बैंको के न टिक सकने क कारण उनका व्यापार क्षेत्र भी सीमित हो गया। **इतना ही नहीं अपितु विदेशी बैंकों के कर्मचारी भारतीय बैंका के विरुद्ध जनता मे भी अविश्वास उत्पन्न कर देते थे** जिससे नय बक पनपन नहीं पात थ और न पुरान बका का कार्य क्षेत्र ही बढ़ पाता था। साथ ही **विदेशी बको की समाशोधन गृहों मे अधिक सदस्यता होने के कारण वे भारतीय बको को समाशोधन-गृहों की सदस्यता से भी वचित रखते थे।** इन कारणों से भारतीय बैंका की प्रगति म अनक बाधाएँ थीं।

(७) **विदेशी व्यापारियों की पक्षपातपूर्ण नीति**—देश के व्यापार का अधिकांश भाग विदेशियों क हाथ म था तथा बहुत ही सीमित व्यापार भारतीयों क हाथ म रहन क कारण विदशी व्यापारी विदशी बका से ही अपना लेन-देन रखत थ जिसस भारतीय बक नहीं पनप सक।

(८) **इम्पीरियल बक और स्वदेशी बैंकरो की प्रतियोगिता**—भारतीय बका को एक ओर इम्पीरियल बैंक स तथा दूसरी ओर स्वदेशीय बैंकरों स प्रतियोगिता करनी पड़ती थी। इम्पीरियल बक को सरकार की ओर स अनक सुविधाएं थीं तथा अर्द्ध सरकारी सस्था होन क कारण उनक साधन भी असीमित थ जिसस उसे सहज म जनता का विश्वास प्राप्त था। अत उसकी प्रतियोगिता अन्य भारतीय बैंक नहीं कर सकत थ। दूसरी ओर **स्वदेशीय बैंकर अपनी निजी पूजी से जनता से लेन-देन करते हैं** एव उनस ऋण प्राप्त करने म

किमी भी प्रकार की औपचारिकता (formalities) नहीं करनी पडती । इमी प्रकार उनकी कार्य-पद्धति भी सरल होन से ग्रामीण क्षेत्रो मे उनका अधिक प्रभाव रहा। इससे व्यापारिक बैंको को ग्रामीण क्षेत्रो मे विकास के लिए असुविधा थी । इन असुविधाओ का उल्लेख **केन्द्रीय बैंक जांच समिति की रिपोर्ट** मे भी है

"एक ओर भारतीय व्यापारिक बैंको को स्वदेशीय बैंकरो से प्रतियोगिता करनी पडती है तो दूसरी ओर विनिमय बैंक एव इम्पीरियल बैंक से प्रतिस्पर्द्धा करनी पडती है जिसकी वजह से वे सकटमय एव सन्देहात्मक परिस्थिति तथा तीव्र प्रतियोगिता मे जीवन-यापन करते हैं ।"

(६) शाख बैंकिंग का अभाव—भारत मे अभी तक शाख बैंकिंग का अभाव रहा है तथा कमजोर बैंक किमी प्रकार अपना अस्तित्व बनाय रखने का प्रयत्न करते रहे किन्तु अन्त मे उनका विलियन हुआ । इसका अभाव हमारे बैंकिंग विकास पर बुरा पडा । द्वितीय युद्ध-काल म यह प्रवृत्ति इतनी अधिक हुई कि बैंको का अपनी अलाभकर शाखाएँ बन्द करनी पडी । किन्तु भारतीय बैंकिंग अधिनियम मे शाख बैंकिंग को बल मिला है ।

***(१०) केन्द्रीय बैंक एव समुचित बैंकिंग अधिनियम का अभाव*—भारत मे १९३५ तक केन्द्रीय बैंक नहीं था जो इन बैंको की गति-विधि को देखता तथा उन्हे प्रगति के लिए आवश्यक सलाह देता । इसी प्रकार १९४९ तक समुचित बैंकिंग अधिनियम न होने से बैंको पर प्रभावी वैधानिक नियन्त्रण नहीं था।** इससे इनकी क्रियाओ मे शिथिलता एव अव्यवस्था थी । फलत वे जनता का विश्वास सम्पादन करने म असमर्थ रहे, जो प्रगति एव विकास के लिए आवश्यक था ।

व्यापारिक बैंको की उन्नति के लिए सुझाव

देश के आर्थिक विकास के लिए बैंको का समुचित आधार पर विकास होना आवश्यक है । इस हेतु बैंकिंग कलेवर के उक्त दोषो का निवारण भी होना चाहिए । देश की राजनीतिक स्थिति मे परिवर्तन होने से अनेक दोषो का निवारण हो चुका है, जैसे १९४९ मे बैंकिंग अधिनियम स्वीकृत होना, १ जनवरी १९४९ का रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण होना । फिर कुछ बातो मे सुधार आवश्यक है *जिनकी ओर केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति* ने सकेत किया था —

(१) बैंकों को नई शाखाएं खोलने के हेतु प्रोत्साहन—बैंको को अपनी शाखाओ का विस्तार करने मे रिजर्व बैंक उनमे अपनी राशि जमा कर सक्रिय

प्रोत्साहन दे। जब ये बैंक कार्यक्षम हो जाये तब क्रमशः वह अपनी राशि निकाल ले। इसी प्रकार बैंको को सस्ती दरो पर राशि स्थानान्तरण तथा बिलो की कटौती की सुविधाएँ भी रिजर्व बैंक दे। ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति ने भी राशि स्थानान्तरण सुविधाएँ सस्ती दरो पर देने की सिफारिश की थी। यद्यपि राशि स्थानान्तरण शुल्क कम किया गया है फिर भी ये सुविधाएँ केवल उन्ही स्थानो पर मिलती है जहाँ बैंक का कार्यालय है। बिलबाजार-योजना के अन्तर्गत बिलो के कटौती की सुविधाएँ बैंको को उपलब्ध हो गई है। शाखाएँ खोलने मे स्टेट बैंक को जो सुविधाएँ दी जाती है, वे यदि सभी बैंको को दी जाय तो बैंकिंग विकास अधिक तेजी से हो सकेगा।[1] साथ ही नये बैंको की स्थापना की अपेक्षा वर्तमान बैंको की शाखाएँ खोलना ही अधिक लाभकर होगा क्योकि इससे उनके व्यापार एव लाभ मे वृद्धि होगी।[2]

(२) **वैधानिक कठिनाइयो का निवारण**—उत्तराधिकार नियमो तथा रहन-रेहन सम्बन्धी ऋण देने मे जो वैधानिक अड़चने व्यापारिक बैंको को उपस्थित होती है उनको दूर करने का शीघ्र प्रयत्न किया जाय।

(३) **'एक व्यक्ति एक बैंक' प्रथा को प्रोत्साहन**—बैंको को चाहिए कि वे "एक व्यक्ति—एक बैंक" प्रथा को प्रोत्साहन दे एव इसके लिए भावी ग्राहको को, **यदि उनका लेखा किसी अन्य बैंक मे है, ग्राहक न बनावें।** इस पद्धति के अपनाने मे वे ऋणी की वैयक्तिक साख पर ऋण दे सकेगे। इस प्रकार के ऋणो को अधिक प्रोत्साहित करना चाहिए। इसीके साथ बैंक रोक ऋण प्रथा को क्रमश कम करे तथा बिलो का उपयोग बढाने के लिए व्यापारिक बिलो की कटौती अधिक करे।

(४) **प्रान्तीय भाषाओ मे बैंक व्यवहार को प्रोत्साहन**—बैंकिंग विकास मे सबसे बडी बाधा अँग्रेजी भाषा की है। उसे दूर करने के लिए प्रान्तीय भाषाओ का उपयोग आरम्भ करना चाहिए तथा विदेशी व्यवहारो के लिए ही अँग्रेजी का उपयोग वे किया करे। इससे सामान्य जनता भी उनसे लेन-देन कर सकेगी तथा उनका व्यापारिक क्षेत्र बढेगा।

(५) **सरकार की ओर से प्रोत्साहन**—व्यापारिक बैंको के विकास के लिए भारत सरकार को चाहिए कि वह सरकारी बैंको की भाँति इनको

---

[1] भारतीय बैंक सघ के २० मार्च १९५९ के अधिवेशन मे श्री० सी० एच० भाभा का भाषण।

[2] *The Monetary Problems of India* by Dr L B Jain

प्रोत्साहन देने के लिए समुचित नीति अपनावें तथा इनसे लेन-देन सम्बन्ध प्रस्थापित करे। इसी प्रकार इन बैंकों को करो आदि की सुविधाएँ भी देनी चाहिए। अपने ऋण-कार्यो के कुछ भाग का सचालन भी इन बैंको के हाथ मे देना चाहिए जिससे वे अपनी उन्नति कर सके।

(६) **कार्यप्रणाली की त्रुटियो का निवारण**—बैंको को चाहिए कि वे अपनी कार्य-शैली की त्रुटियो का निवारण करे। वर्तमान स्थिति मे बैंक इस ओर प्रयत्नशील हैं। उनको चाहिए कि योग्य कर्मचारियो के निर्माण के लिए **उनकी शिक्षा की व्यवस्था का प्रबन्ध सार्वदेशिक बैंकिंग सघ द्वारा किया जाय।** ग्रामीण क्षेत्रों के विकास के लिए वे स्वदेशीय बैंकरो को अपना-अपना अभिकर्ता बना ले, जिससे स्वदेशीय बैंकरो के क्षेत्र मे भी इनका कार्य विस्तार सफल हो सकेगा।

(७) **औपचारिकता कम एवं अधिक सुविधाएँ**—बैंको को अपनी कार्य-शैली का औपचारिक भाग यथासम्भव टालना चाहिए तथा जनता को अधिकाधिक सुविधाएँ देने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे कृषि एव औद्योगिक आवश्यकताओं की उन्नति मे भी वे हाथ बटा सकेंगे। ग्रामीण क्षेत्रों की शाखाओ मे कार्यालय-समय भी जनता की दृष्टि से सुविधाजनक होना चाहिए। **कार्यक्षमता एव सुविधा की दृष्टि से स्वदेशीय बैंकर तथा स्टेट बैंक से आवश्यक शिक्षा लेनी चाहिए।**

(८) **बैंको मे परस्पर सहयोग की वृद्धि**—वर्तमान अखिल भारतीय बैंकिंग सघ को चाहिए कि वह देश के सब बैंकों को अपना सदस्य बनाये तथा उनमे पारस्परिक सहयोग एव सहकारिता की वृद्धि करे। इससे गलाकाट-प्रतिस्पर्द्धा का निवारण होकर बैंकिंग की समुचित उन्नति होगी। इस सघ को आवश्यकतानुसार अपनी शाखाएँ विभिन्न क्षेत्रो मे स्थापित करनी चाहिए तथा उनकी असुविधाओं का निवारण करने का प्रयत्न करना चाहिए। **सरकार को भी इस सघ को मान्यता देकर उसके सुझावो पर सहानुभूति से विचार करना चाहिए।**

(९) **व्यापारिक बैंको के प्रतिस्पर्द्धियों का नियन्त्रण**—व्यापारिक बैंकों के प्रतिस्पर्द्धियो का समुचित रूप से नियन्त्रण करना चाहिए जिससे **विनिमय बैंकों का कार्य-क्षेत्र केवल आयात-निर्यात केन्द्रों तक ही सीमित रहे।** इसी प्रकार स्वदेशीय बैंकरो का भी नियन्त्रण करने के लिए रिजर्व बैंक को प्रयत्न करना चाहिए जिससे ये प्रतिस्पर्द्धा न कर सके। विदेशी विनिमय बैंकों को अपनी शाखाएँ देश के अन्य भागो से हटाने के लिए तथा नयी शाखाएँ खोलने के लिए

प्रतिबन्ध लगाना चाहिए। इसी प्रकार की शर्तें व्यापारिक बैंकों की पारस्परिक स्पर्द्धा के निवारणार्थ भी होनी चाहिए। अच्छा हो, यदि रिजर्व बैंक इन बैंकों की निक्षेप-ब्याज-दर का नियमन करे जिससे अधिक निक्षेप आकर्षित करने के लिए ब्याज-दर का प्रलोभन न दिया जा सके। स्वदेशीय बैंकरों का नियन्त्रण इस सावधानी से होना चाहिए जिससे ग्रामीण साख-सुविधाओं में बाधा न हो। भारतीय बैंकिंग अधिनियम विनिमय बैंकों की क्रियाओं पर रिजर्व बैंक का नियन्त्रण हो गया है।

(१०) **निक्षेप बीमा प्रथा को लागू करना**—निक्षेप-कर्ताओं की सुरक्षा के लिए बैंकों को विशेष ध्यान देना चाहिए तथा निक्षेपों की सुरक्षा के लिए अमेरिका की भांति हमारे यहाँ निक्षेपों का बीमा एवं निक्षेप बीमा कम्पनियों की स्थापना होनी चाहिए जिससे बैंकिंग व्यवसाय की अवश्य ही अच्छी उन्नति होगी।[1] इससे दो प्रमुख लाभ होंगे —

(अ) बैंकों की ऋण नीति में समानता आयेगी, तथा

(ब) बीमा कम्पनियों द्वारा बैंकों की ऋण नीति पर कुछ अंश में प्रतिबन्ध रहेगा। इस देश के बैंकिंग संकटों का निवारण हो सकेगा। परन्तु अर्थ-सचिव ने २२ नवम्बर १९५० को संसद में कहा है कि "यह देखा गया कि इस योजना का उपयोग में लाना बहुत कठिन है जब तक कि देश के बैंकिंग स्तर में अधिक सुधार होकर उसकी असमानता कम नहीं होती, इसके बाद ही बीमे का भार देश के बैंकों में समान रूप से रहेगा।"[2] अतः निक्षेपों की सुरक्षा के लिए बैंकों में सहयोग होना ही आवश्यक है।

उपर्युक्त सुझावों के अतिरिक्त जनता भी समुचित बैंकिंग विकास एवं उन्नति में अपना सहयोग दे तथा बैंक योग्य एवं अनुभवी कर्मचारी एवं अधिकारी प्राप्त करने के लिए हिन्दुस्तान कॉमर्शियल बैंक की भाँति प्रशिक्षण योजना लागू करें। भारत की राजनीतिक परिस्थिति बदल जाने से गत वर्षों में बैंकिंग स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ है एवं हो रहा है। इसी प्रकार एकीकरण (amalgamation) एवं विलियन के लिए बैंकिंग अधिनियम में अधिक सुविधाएँ दी गई हैं। एकीकरण एवं शाखा-विस्तार के नियन्त्रण के लिए रिजर्व बैंक को भी अधिक अधिकार दिये गये हैं, जिससे वह व्यापारिक बैंकिंग की समुचित उन्नति की देख-रेख कर सकता है। रिजर्व बैंक बैंकों का परीक्षण करता

---

1 *Commerce*, 30-9-50

2 *Hindustan Times*, 24-11-50.

है तथा उनके सुधार के लिए आवश्यक सुझाव भी देता है। शाखाओ के समुचित विस्तार पर भी रिजर्व बैंक का नियन्त्रण है। अत हम कह सकते है कि ये बाते भारतीय बैंकिंग के उज्ज्वल भविष्य की परिचायक है।

साराश

व्यापारिक बैंक साधारणत. उन सयुक्त स्कन्ध बैंको को कहते हैं जो भारतीय कम्पनीज अधिनियम १९५६ के अन्तर्गत समामेलित हो तथा व्यापारिक बैंकिग क्रियाएँ करें। इन बैंको को साधारणत दो श्रेणियो मे बाँटते हैं—

(१) सूचीबद्ध बैंक—इनकी ये विशेषताएँ होती हैं : रिजर्व बैंक को दूसरी सूची मे समावेश, भारतीय क्षेत्र मे व्यवसाय, चुकता पूँजी एवं निधि ५ लाख रुपये से अधिक, इनके सम्बन्ध मे रिजर्व बैंक को विश्वास होना है कि निक्षेप-कर्त्ताओ के हित मे उनकी क्रियाएँ होरही है, तथा जो अपनी माँग एव समय देनदारी का ५% व २% रिजर्व बैंक के पास निक्षेप रखते हो।

(२) असूचीबद्ध बैंक—जिनका समावेश रिजर्व बैंक की दूसरी सूची मे नही होता वे असूचीबद्ध बैंक होते हैं। चुकता पूँजी एव निधि के अनुसार इनको चार श्रेणियाँ हैं—

'अ'	जिनकी चुकता पूँजी एव निधि		५ लाख रुपये से अधिक है।
'ब'	"	"	१ लाख से ५ लाख रुपये तक है।
'स'	"	"	५० हजार से १ लाख रुपये तक है।
'द	"	"	५० हजार से कम है।

व्यापारिक बैंक तीन प्रमुख काय करते है—(१) जनता से निक्षेप लेना, (२) साख निर्माण तथा ऋण प्रदाय द्वारा जनता की वित्त-शक्ति का सचार करना तथा (३) अन्य कार्य, जैसे अभिकर्ता की सेवाएँ, ग्राहको के आभूषण आदि की सुरक्षा।

ऋण देने का काय ये तीन प्रकार से करते हैं—ग्राहको वैयक्तिक साख पर अथवा वैयक्तिक तथा अन्य प्रतिभूतियो की जमानत पर ऋण देना, रोकऋण एव अधिविकर्ष देना, व्यापारिक बिलो की कटौती या क्रय द्वारा ऋण सुविधाएँ देना। ये सुविधाएँ देने मे व्यापारिक बैंक को निम्न कार्य नहीं करना चाहिए—(१) ग्राहको को व्यापार सचालन के लिए पूँजी देना, (२) स्थायी या दीर्घ-कालीन ऋण देना (३) एक ही ग्राहक को अधिक परिमाण मे ऋण देना।

अन्य कार्य—ग्राहको को राशि-स्थानान्तरण सुविधाएँ देना, आर्थिक स्थिति की जानकारी देना आदि।

व्यापारिक बैंक विदेशी शाखाओ द्वारा विदेशी विनिमय कार्य भी करते हैं। व्यापारिक बैंकों की शाखाएँ जनसंख्या की दृष्टि से बहुत ही कम हैं जिनकी संख्या ३४५५ ह। क्योंकि इनके विकास मे अनेक बाधाएँ हैं।

(अ) कार्यशैली व दोष—(१) अधिक पूँजी का सरकारी प्रतिभूतियो मे विनियोग, (२) बैंक स्वीकृति बिलो का अभाव (३) व्यक्तिगत साख पर ऋण न देना, (४) एक व्यक्ति एक बैंक प्रथा का अभाव, (५) विदेशी बैंको के शानशौकत की झूठी नकल, (६) बैंकिंग सिद्धान्तों का पूर्ण रूप से पालन न करना, (७) कुशल कर्मचारियों का अभाव, (८) बैंको मे परस्पर सहयोग का अभाव, (९) शाखाओं का अव्यवस्थित विकास, (१०) अंग्रेजी मे व्यवहार।

(आ) बाहरी कठिनाइयाँ—(१) बैंकिंग सकट, (२) जनता की सकुचित मनोवृत्ति, (३) वैधानिक अड़चनें, (४) सरकारी प्रोत्साहन का अभाव (५) विनिमय एव यूरोपीय बैंको की प्रतियोगिता, (६) विनिमय बैंको की आन्तरिक व्यापार मे स्पर्द्धा, (७) विदेशी व्यापारियो की पक्षपातपूर्ण नीति, (८) इम्पीरियल बैंक और स्वदेशी बैंकरो की प्रतियोगिता, (९) साख-बैंकिंग का अभाव, (१०) केन्द्रीय बैंक एव समुचित बैंकिंग अधिनियम का अभाव।

सुधार के लिए सुझाव—बैंको को नई शाखाएँ खोलने के लिए प्रोत्साहन, वैधानिक कठिनाइयों को दूर करना, 'एक व्यक्ति एक बैंक' प्रथा को प्रोत्साहन, बैंक व्यवहार मे प्रान्तीय भाषाओ को प्रोत्साहन, सरकारी प्रोत्साहन मिलना, बैंक कार्यशैली की त्रुटियो को दूर करें, औपचारिकता कम तथा सुविधाएँ अधिक दें, बैंको मे परस्पर सहयोग की वृद्धि हो व्यापारिक बैंको के प्रतियोगियों पर नियत्रण किया जाय तथा निक्षेप-बीमा योजना लागू की जाय।

देश मे राजनीतिक परिवर्तनों के साथ केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण, बैंकिंग अधिनियम का निर्माण, सुदृढ बैंकिंग कलेवर के हेतु एकीकरण की ओर प्रवृत्ति—ये सब बैंकिंग के सुदृढ विकास की ओर सकेत करती हैं।

अध्याय १७

विनिमय बैंक

स्टेट बैंक और रिजर्व बैंक को छोडकर आज भी भारत का बैंकिंग व्यवसाय विशेष रूप मे सूचीबद्ध तथा विनिमय बैंको के हाथ मे है। इतना ही नही अपितु विनिमय बैंकों की स्थापना भारतीय बैंको मे बहुत पहले होने के कारण वास्तव मे 'आधुनिक बैंकिंग के प्रणेता' विनिमय बैंक ही है। विदेशी *व्यापार को साख-सुविधाएँ एव आर्थिक सहायता देना इनका प्रमुख कार्य है।* परन्तु ये व्यापारिक बैंकिंग कार्य भी करते है, जिससे ये भारतीय सयुक्त स्कध बैंकों की प्रतियोगिता मे हैं। ये बैंक विदेशी है तथा इनके प्रमुख कार्यालय इगलैण्ड, पूर्वी एशिया अथवा अमेरिका (सयुक्त राज्य) मे है। इनकी प्रमुख कार्यशील पूंजी बाहर से ही आती है जिसके लिए ये अपने प्रमुख कार्यालयों मे *अधिक निक्षेप आकर्षित करने के लिए ब्याज भी अधिक देते है।* वैसे तो विनिमय बैंको का कार्य कुछ मात्रा मे भारतीय बैंक भी करते हैं, अत इनको विदेशी विनिमय बैंक कहना ही अधिक उचित होगा।

विकास—इनका उगम ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन-काल मे हुआ जिस समय विदेशी व्यापार की आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए भारत मे कुछ अभिकर्त्ता-गृहों की स्थापना की गयी। ये गृह विदेशी बिलों के लिखने, कटौती तथा स्वीकृति का कार्य करते थे तथा वे विनिमय बैंको की स्थापना के सदा विरोधी रहे। **१८३३ मे केवल एक ही विदेशी विनिमय बैंक था, परन्तु** ***१८५३ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन तथा विशेष विरोधी वातावरण*** **का अन्त होने पर** नये बैंकों की स्थापना होने लगी। अभिकर्त्ता-गृहों मे थॉमस कुक एण्ड सन्स का नाम उल्लेखनीय है जो आज भी यात्रियो (tourist) को आर्थिक सुविधाएँ देते है। **१८५३ मे चार्टर्ड बैंक ऑफ इण्डिया आस्ट्रेलिया एण्ड चायना एव मर्कण्टाइल बैंक की तथा १८६६ मे नेशनल बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई।** नेशनल बैंक ऑफ इण्डिया का प्रमुख कार्यालय आगे लन्दन मे ले जाया गया। १८५३ के पूर्व जो एकमेव विदेशी विनिमय बैंक था उसका नाम ओरिएण्टल बैंकिंग कार्पोरेशन था, जिसकी स्थापना १८४२ मे एव विलियन १८८४ मे हुआ। *इसके बाद अन्य देशों के बैंको की स्थापना भारत मे*

होने लगी जिनके साथ भारत के विदेशी व्यापार सम्बन्ध थे एवं हैं। केवल इटली और बेलजियम दो ऐसे देश है जहाँ के बैंक भारत मे नही है। भारत में १४ विदेशी विनिमय बैंक (१९५९ मे) है।

	प्रधान कार्यालय
१ चार्टर्ड बैंक ऑफ इण्डिया, आस्ट्रेलिया एण्ड चायना (१८५३)	लन्दन
२ ईस्टर्न बैंक लिमिटेट (१९०९)	,,
३ मर्केण्टाइल बैंक ऑफ इण्डिया लिमिटेड (१८५८)	,,
४ नेशनल बैंक ऑफ इण्डिया (१८६६)	,,
५ हॉंगकॉंग एण्ड शाघाय बैंकिंग कॉर्पोरेशन	हांगकांग
६ ग्रिण्डले एण्ड कम्पनी लिमिटड (नेशनल प्राविन्शियल बैंक के नियन्त्रण मे)	लन्दन
७ बैंक ऑफ चायना लिमिटेड	,,
८ नीदरलैण्ड्स इण्डियन कर्मशियल बैंक लि०	अमस्टर्डम
९ थॉमस कुक एण्ड सम (प्रवासगमन की सुविधाएँ देता है)	—
१०. नेशनल सिटी बैंक ऑफ न्यूयार्क	न्यूयार्क
११. नीदरलैण्ड्स ट्रेडिंग सोसाइटी	अमस्टर्डम
१२ अमरिकन एक्सप्रेस बैंक (प्रवासगमन की सुविधाएँ देती है)	न्यूयार्क
१३. लॉयड्स बैंक लिमिटेड	लन्दन
१४ कामटॉयर नेशनल डी एस्कॉम्प्टी (Escompte) ऑफ पेरिस	पेरिस

विदेशी विनिमय बैंको का वर्गीकरण

व्यापार की दृष्टि से वर्तमान विनिमय बैंक दो श्रेणियो के है—

(१) ऐसे बैंक जिनके प्रधान कार्यालय विदेश मे है और व्यवसाय भारत मे होता है एव जिनके कुल निक्षेपो का २५ प्रतिशत अथवा इससे अधिक भाग भारतीयो का है। उदाहरणार्थ, चार्टर्ड बैंक ऑफ इण्डिया आस्ट्रेलिया एण्ड चायना नेशनल बैंक ऑफ इण्डिया, मर्केण्टायल बैंक ऑफ इण्डिया लिमिटेड, ईस्टर्न बैंक लिमिटेड, थॉमस कुक एण्ड सन्स। इस श्रेणी के बैंक १९४६ मे केवल ३ ही रह गये।

(२) ऐसे बैंक जिनके प्रधान कार्यालय विदेशो मे हैं एवं वे भारत मे केवल उनके अभिकर्त्ता का कार्य करते हैं। इनका अधिकतर व्यापार विदेशो मे है तथा भारतीय निक्षेप राशि २५% से कम है। इस श्रेणी मे प्रथम श्रेणी के बैंकों को छोड़कर अन्य बैंकों का समावेश होता है। १९४६ मे ऐसे बैंकों की संख्या १२ थी।

इनकी वर्तमान स्थिति—विदेशी विनिमय बैंको के हाथ मे ही भारत के अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का अधिक भाग है। भारत के विभिन्न भागों मे इन बैंकों की **१६५६ मे ६६ शाखाएँ** थी। इनके निक्षेप भारत मे कितने है इस सम्बन्ध मे कोई विशेष जानकारी प्राप्त नही होती, और जो जानकारी मिलती भी है वह केवल रिजर्व बैंक के पास भेजे जाने वाले विवरण मे ही मिलती है। **उनकी कार्यशील पूंजी अधिकतर भारत से ही प्राप्त होती थी** तथा गत ३० वर्षों मे भारत की मुद्रा-मण्डी पर इनकी विशेष आर्थिक परिस्थिति तथा विदेशी मुद्रा मण्डियो मे प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहने के कारण बहुत अधिक प्रभाव रहा है। ये बैंक अभी तक **रिजर्व बैंक के पूर्ण नियन्त्रण मे नही आये हैं क्योकि इनके प्रधान कार्यालय विदेशो मे समामेलित होने के कारण बैंकिंग अधिनियम के सिवा भारत के कोई भी विधान लागू नहीं होते**। अत इनकी यहाँ की आर्थिक स्थिति सम्बन्धी कोई विशेष जानकारी नही मिलती। इनके निक्षेप भारतीय सूचीबद्ध बैंको की अपेक्षा अधिक है जो मार्च १६५६ मे २०१ करोड रुपए थे तथा अधिक निक्षेपों को आकर्षित करने के लिए ये **चल निक्षेपो पर भी ब्याज देते हैं**। इससे भारतीय बैंको के व्यापार पर प्रभाव पडता है तथा वे इनकी प्रतियोगिता करते है। इसी कारण **भारत के विदेशी व्यापार पर इन्हीं का एकाधिकार है**। रिजर्व बैंक के अनुसधान के अनुसार ये भारतीय आयात व्यापार को ६०% तथा निर्यात व्यापार को ७०% अधिक सहायता देते है।

भारतीय बैंको ने विदेशी व्यापार क्यो नही अपनाया ?

(१) भारतीय बैंको की कुछ शाखाएं विदेशो मे थी और वे विनिमय बैंकिंग करते थे। परन्तु विदेशो मे अपनी शाखाएँ खोलने के पहले उनको अडचनो का सामना करना पडता है जो अधिक एव गम्भीर स्वरूप की है। फिर दीर्घकालीन व्यापारिक सफलता मे आने वाली बाधाएँ और भी गम्भीर है। इस कथन मे सत्यांश भी है। **विदेशी बैंको की स्थापना पहले होने के कारण इनका मुद्रा-मण्डी पर अधिक प्रभाव** था तथा ये कार्यशील पूंजी के लिए आरम्भ विदेशी निक्षेपो पर निर्भर रहते थे।

(२) विदेशी होने के कारण इनका विदेशी मुद्रा-मण्डियों मे अधिक सम्पर्क था जिससे ये भारतीय बैंको की प्रतियोगिता म नही टिकने देते थे।

(३) विदेशी बैंको की कार्यशील पूंजी भी भारतीय बैंको की अपेक्षा अधिक थी तथा आर्थिक साधन भी बहुत थ। इससे भारतीय बैंक इनकी प्रतियोगिता नही कर सकते थे और न वे इस स्थिति म ही थे कि अपनी शाखाएँ विदेशो मे खोलते। न उनकी विदेशो मे शाखाएँ ही थी जिनके द्वारा वे

विदेशी व्यापार कर पाते। देश में केवल एक ही बैंक इम्पीरियल बैंक, ऐसा था जिसके आर्थिक साधन एवं कार्यशील पूँजी अधिक थी जो इस कार्य को कर सकता था। परन्तु १६३५ तक इसको यह कार्य करने की वैधानिक अनुमति नहीं थी अतएव यह कार्य नहीं कर सका। रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद विदेशी विनिमय व्यापार करने की इसे स्वतन्त्रता दी गई फिर भी इम्पीरियल बैंक ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। १६३६ में सेण्ट्रल बैंक आफ इण्डिया ने अपनी एक शाखा विदेशी विनिमय कार्य के लिए लन्दन में सेंट्रल एक्सचेंज बैंक आफ इण्डिया नाम से खोली थी परन्तु १६३८ में उसका समावेश बैंक में हो गया। १६४६ में बैंक आफ इण्डिया ने कार्य को आरम्भ किया तथा लन्दन में एक शाखा स्थापित की एवं १६५० में इसने अपनी एक शाखा जापान में खोली है। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय बैंकों के पास यह व्यापार केन्द्रित रहे जिससे लाखों रुपयों का अदृश्य आयात (invisible imports) रोका जा सके। इन कारणों के अतिरिक्त निम्न कारणों से भी भारतीय बैंक इस कार्य को न अपना सके —

(१) **कुशल कर्मचारियों की कमी**— विदेशी विनिमय कार्य करने के लिए **कुशल कर्मचारियों की आवश्यकता थी**। परन्तु जहाँ भारतीय व्यापार के लिए कुशल कर्मचारी उपलब्ध नहीं थे वहाँ विदेशी विनिमय के विशेषज्ञ भारत में प्राप्त होना असम्भव ही था।

(२) **विदेशी बैंकों की तुलना में कार्यक्षमता कम**—यदि भारतीय बैंक विदेशों में अपनी शाखाएँ खोलते भी तो वहाँ वे अपनी कार्यशील पूँजी के लिए **अधिक निक्षेप प्राप्त नहीं कर सकते थे**। क्योंकि भारतीय बैंकों की **कार्यक्षमता विदेशी बैंकों की तुलना में कम थी**। इसके अतिरिक्त विदेशियों में राष्ट्रीय भावना अधिक तीव्र होती है जिसका भारतीयों में आज भी अभाव है। साथ ही भारतीय बैंकों को विदेशों के पूर्व-स्थापित एवं बड़े बड़े बैंकों से प्रतियोगिता करनी पड़ती जिसके लिए वे पूर्ण रूप से तैयार नहीं थे।

(३) **विदेशी मुद्रा-मण्डियों के सम्पर्क का अभाव**—केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के अनुसार भारतीय बैंक अन्तराष्ट्रीय मुद्रा मण्डियों से सम्पर्क नहीं रख सकते थे क्योंकि उनके प्रधान कार्यालय भारत में थे। इस कारण उनको न तो अन्तराष्ट्रीय मुद्रा परिस्थिति का अद्यावधि ज्ञान ही हो सकता था और न उन्हें आयात निर्यात बिल ही संग्रहण के लिए मिल सकते थे। विदेशी बैंकों के प्रधान कार्यालय विदेशों में होने से उन्हें ये सुविधाएँ प्राप्त हैं।

(४) **सीमित आर्थिक साधन**—भारतीय बैंकों के आर्थिक साधन बहुत

कम थ तथा उनका व्यापार भेत्र अविक था, जिसस विदशी विनिमय व्यापार की अपक्षा उनक साधना का भारत म ही अधिक लाभदायक उपयाग हो सकता था। इसस भारतीय बैंको ने विदेशी विनिमय व्यापार की ओर दुलक्ष किया।

(५) **अधिक कायशील पूजी**—भारतीय वका को विदशा मे शाखाएँ स्थापित करन क लिए अधिक कायशील पूंजी की आवश्यकता था और है भी। इसके साथ ही वह शाखा कुछ वर्षों तक हानि हात हुए भी चालू रहनी चाहिए परन्तु एसा करन के लिए आज भी अधिकाश बैंको क पास पर्याप्त आर्थिक साधन नही हे। इस कारण भारतीय बक इस व्यापार को न अपना सक।

(६) **विदेशी वको की कट्टर प्रतियोगिता**—इनका सामना भी उन्ह करना पडता था।

(७) **समान सुविधाओ का अभाव**—भारतीय बैंका का विदशा मे वे सुविधाएँ उपलब्ध नही होनी थी जो वहा क वका को उनके दश के अधिनियम से मिलती थी। इतना ही नही अपितु अनक वैधानिक अडचन भी थी।

(८) **भारत सरकार की उपेक्षापूर्ण नीति**—भारत सरकार की एसी नीति रही जिसमे भारतीय बैंका का विदेशा म शाखाएँ खोलन क लिए प्रात्साहन नही मिलता था।

भारतीय बैंको की विदेशी विनिमय क्रियाए

भारतीय वकों ने कुछ हद तक विदेशी विनिमय क्रियाएँ की तथा भारतीय वकों की उन दशों म शाखाए थी जिनके साथ भारत क विदेशी व्यापारिक सम्बन्ध थ। १९४५ म भारतीय सूचीबद्ध एव असूचीवद्ध वका की शाखाएँ क्रमश ६२८ और १८३ थी। विभाजन क फलस्वरूप भारत की पाकिस्तान म स्थित शाखाएँ भी विदेशो मे ही गिनी जान लगी। देश के विभाजन क बाद भारतीय वका क विदेशी कार्यालयो की सख्या कम हाती गई जिसक आकडे निम्न ह —

	सूचीवद्ध वक	असूचीवद्ध वक
१९४६ म	६२८	१८३
१९४७ (अत म)	४६३	६८
१९४८	२२६	४५
१९४९	१४७	३१
१९५०	१२५	२२
१९५१	१११	१६

१९४८ के बाद भारतीय बैंकों की सख्या कम होने का मूल कारण यह है कि पाकिस्तान स्थित भारतीय बैंकों की शाखाएँ वहा की परिस्थिति के कारण बन्द हुई । १९४७ से १९५१ तक सूचीबद्ध तथा असूचीबद्ध बैंकों ने क्रमश अपनी ३५६ और ५७ शाखाएँ बन्द की, परन्तु दूसरी ओर अन्य देशों में नई शाखाएँ खोली गई —

	बैंक सख्या	कार्यालय	निक्षेप	सरकारी प्रतिभूतियाँ
श्रीलका (३०–४–५२)	१	२	८ करोड रु०	८ करोड
सयुक्त राज्य ,,	—	२	७ ,,	४ ,,
बर्मा ,,	५	८	८ ,,	३
मलाया	४	१०	४	—
फ्रैंच भारत	५[1]	६[1]	६१ लाख रु०	—
थाइलैंड	—	१	०.३ करोड रु०	—
जापान	—	१		—
हॉगकॉंग	—	१		
पाकिस्तान	३०[2]	८९	४८ करोड रु०	१८ करोड रु०

भारतीय बैंकों के विदेशी कार्यालयों की सम्पत्ति देनदारी एव विदेशी विनिमय क्रियाएँ पृष्ठ ५३६ पर दी हुई तालिका से स्पष्ट होती है।

भारतीय बैंकों का ध्यान इस व्यवसाय की ओर गत वर्षों में ही गया है। परन्तु इनका वर्तमान कार्यक्षेत्र विशेषत दक्षिण-पूर्व एशिया एव सुदूरपूर्व तक ही सीमित है। भारतीय बैंकिंग अधिनियम के कारण अब यह आशा है कि भारतीय बैंक इस व्यवसाय की ओर अधिक ध्यान देंगे।

विनिमय बैंकों के कार्य

(१) विदेशी व्यापार का विदेशी विनिमय बिलों के लेखन, स्वीकृति तथा कटौती द्वारा आर्थिक सहायता देना, जिससे भारतीय बन्दरगाहों से विदेशी बन्दरगाहों पर तथा विदेशी बन्दरगाहों से भारतीय बन्दरगाहों पर वस्तुओं का आयात-निर्यात हो सके।

(२) बन्दरगाहों से आन्तरिक शहरों एव व्यापार-केन्द्रों में माल पहुचाना तथा व्यापारिक केन्द्रों एव आन्तरिक शहरों से निर्यात के लिए बन्दरगाहों पर माल पहुचाने के लिए आर्थिक सुविधाएँ देना।

---

[1] इनमें १ असूचीबद्ध बैंक है।

[2] इनमें ६ असूचीबद्ध बैंक तथा उनके १२ कार्यालयों का समावेश है।

विदेश स्थित भारतीय बैंकों की सम्पत्ति एवं देनदारी[1] (लाख रुपयों में)

		१	२	३	४	५	६	७	८
	वर्ष	निक्षेप	रोकड़ शेष	२ का १ में प्रतिशत	क्रीत एवं कटौती बिल	ऋण एवं अग्रिम	ऋण अग्रिम एवं कटौती बिल (४ + ५)	६ का १ से प्रतिशत	कार्यालय संख्या
सूचीबद्ध बैंक	१९४६	१३८ ६३	३० ०७	२३ ६%	४८५	५४३६	५९२१	४३ ७%	६२८
	१९४७	११० ७५	२६ ०१	२३ ५%	१९३	४७०१	४८९४	४० ६%	४६३
	१९४८	१०६ ४३	२९ ९३	२८ १%	२१९	३४००	३६१९	३४ ०%	२२६
	१९४९	७३ २५	४२ ८१	५८ ४%	१९४	२१४८	२३४२	३२ ०%	१४७
	१९५०	५१ ११	१४ ८४	२८ ७%	३९६	२८५५	३२५१	५९ ०%	१२५
	१९५१	७८ ०७	२५ ६२	३२ ८%	८५२	२९००	३७५२	४८ १%	१११
असूचीबद्ध बैंक	१९४६	६८९	१९६	२८ ४%	८	४२२	४३०	६२ ४%	१८३
	१९४७	१११	४३	३८ ७%	१	१०३	१०४	९३ ७%	६८
	१९४८	१५१	३४८	२३० ५%	२	१५३	१५५	१०२ ६%	४६
	१९४९	१९८	१४	८ ३%	१	२५३	२५४	१२८ २%	३१
	१९५०	१४३	१३	९ १%	२	२१७	२१९	१५३ १%	२२
	१९५१	१४१	१४	९ ९%	२	१९४	१९६	१३९ ०%	१६

1 *Sources* *Commerce, 18 11 952, R B Bulletin 1952*

(३) अन्य बैंकिंग क्रियाएँ, जैसे विदेशों में राशि-स्थानान्तरण की सुविधाएँ देना, विदेशी बिलों की कटौती, निक्षेपों की स्वीकृति तथा आन्तरिक व्यापार की सुविधाएँ देना, स्वर्ण एवं चाँदी की खरीद बिक्री आदि।

इनकी कार्य पद्धति—इनमें पहले कार्य के अनुसार आर्थिक सुविधाएँ निम्न रीति से दी जाती हैं :—

१ विनयन विदेशी आयात-कर्ता अपने लन्दन बैंक से साख-सुविधाएं प्राप्त करता है जिसकी सूचना वह भारत स्थित विनिमय बैंक द्वारा निर्यात-कर्ता को देता है। इस साख पर निर्यात-कर्ता उस व्यापारी के नाम बिलों का लेखन करता है, जिसके साथ जहाजी बिल्टी बीमा लेख बीजक तथा कभी कभी पैकिंग नोट भी लगा देता है। ये बिल वह भारत स्थित विनिमय बैंक को बेच कर राशि प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार भारतीय व्यापारी को उनकी निर्यात वस्तुओं का मूल्य मिल जाता है।

इस प्रकार के बिल दर्शनी बिल होते हैं जिनकी अवधि ९० दिन की होती है तथा दो प्रकार से लिखे जाते हैं।

(अ) भुगतान बिल (documents against payments) तथा

(ब) स्वीकृति बिल (documents against acceptance)।

भुगतान बिल—इनकी राशि विनिमय बैंकों की लन्दन स्थित शाखाओं को व्यापारी से तत्काल ही मिल जाती है जिससे जो रुपया उन्होंने भारत में दिया उसका भुगतान इङ्गलैण्ड में स्टर्लिङ्ग में मिल जाता है। इन बिलों पर ब्याज दर कम लगती है।

स्वीकृति बिल (D A)—यदि स्वीकृति बिल हुआ तो भारतीय व्यापारी को तत्काल ही ब्याज आदि काटकर राशि दे दी जाती है। इस बिल को विनिमय बैंक अपनी लन्दन स्थित शाखा में भेज देता है जहाँ पर वह व्यापारी के बैंक द्वारा स्वीकृत करा लिया जाता है। इस प्रकार स्वीकृति प्राप्त करने पर उस बिल को लन्दन मुद्रा मण्डी में कटौती कराकर स्टर्लिंग में राशि मिल जायगी। ये बिल दो अथवा के हस्ताक्षर होने पर बैंक आफ इङ्गलैण्ड से भी भुनाये जा सकते हैं।

इस प्रकार दोनों दशाओं में विनिमय बैंकों को अपनी भारत में दी हुई राशि का भुगतान इङ्गलैण्ड में मिल जाता है। दूसरे प्रकार के बिलों पर ब्याज-दर अधिक होती है क्योंकि उनका भुगतान स्वीकृत होने के ९० दिन बाद मिलता है। अतः इस अवधि के लिए विनिमय बैंक ब्याज लेता है।

कभी-कभी जब इङ्गलैण्ड का आयात-कर्ता इङ्गलैण्ड के बैंक से अतिरिक्त-

नीय साख-पत्र (irrevocable letter of credit) प्राप्त नहीं करता तो निर्यात-कर्ता बिल का लेखन कर उसे विदेशी विनिमय बैंक के माध्यम से सग्रहण के लिए भेजता है। इससे व्यापारी को बिल की अवधि समाप्त होने तक राशि नहीं मिलती, यदि वह स्वीकृति प्रलेख है। परन्तु यह पद्धति विशेष चलन मे न होने हुए, इङ्गलैण्ड के सभी आयातकर्ता अनिरस्तनीय साख-पत्र (irrevocable credit) प्राप्त कर लते है। इन व्यवहारो के लिए आयात एव निर्यात केन्द्रो म विनिमय बैंका की शाखा होना आवश्यक है, जिससे इस प्रकार के व्यवहारो मे सुगमता हो।

२ (अ) जब कोई भारतीय व्यापारी इङ्गलैण्ड से माल आयात करता है ता उस दशा मे भी ६० दिन के भुगतान बिल (D/P) निर्यातकर्ता, भारतीय आयातकर्ता क नाम लिखता है तथा उसकी कटौती वह लन्दन के किसी ऐसे बैंक से करा लेता है जिसकी शाखा भारत मे है। इस बिल का 'विनिमय बैंक' के नाम से उपप्राधीयन (hypothecation) कराकर लन्दन बैंक इसे भारत स्थित विनिमय बैंक क पास भेज देता है। यदि यह भुगतान बिल है तो भारतीय आयातकर्ता से तुरन्त ही उस भुगतान मिल जायगा तथा भारतीय व्यापारी को माल मिल जायगा। परन्तु यदि स्वीकृति बिल हुआ ता स्वीकृति करने के बाद उसे मिल जायगा तथा पक्व तिथि पर विनिमय बैंक उससे राशि ले लेगा। ये बिल ६० दिन की अवधि के होने से भारतीय व्यापारी को भुगतान बिल का भुगतान करने क लिए ६० दिन की अवधि मिलती है जिसमे वह राशि की व्यवस्था कर सकता है। परन्तु यदि वह भुगतान करन के पूर्व माल लेना चाहता है तो उस दशा म उसे न्यास रसीद लिखकर विनिमय बैंक को देनी पडेगी जिससे भुगतान समय पर न होने पर वह व्यापारी के विरुद्ध वैधानिक कार्यवाही कर सकेगा। यह पद्धति भारतीय आयात-कर्ताओ मे विशेष रूप से प्रचलित है। इस सुविधा के लिए ब्याज देना पडता है।

(ब) यह पद्धति यूरोपीय फर्मो मे विशेष प्रचलित है। इस पद्धति के अनुसार यदि माल का आयात किसी ऐसी व्यापार-सस्था ने किया हो जिसकी शाखा इङ्गलैण्ड म भी है तो निर्यात-कर्ता लन्दन मुद्रा मण्डी अथवा लन्दन के किसी विनिमय बैंक पर बिल लिखेगा। इसकी स्वीकृति होने पर निर्यात-कर्ता बिल की कटौती करा कर निर्यात माल का मूल्य प्राप्त कर लेगा। जिस बैंक ने इस बिल को स्वीकार किया है वह बैंक उस बिल को अपनी भारतीय शाखा मे भेजेगा। यह शाखा इसकी राशि निर्यात कर्ता के भारतीय कार्यालय से प्राप्त कर लेगी। इस प्रकार इस पद्धति मे आयात-कर्ता को भुगतान के लिए ६०

दिन मिल जाते है तथा निर्यात-कर्ता को तत्काल राशि मिल जाती है। भारत स्थित विनिमय बैंक इस प्रकार सग्रहीत राशि को अपने लन्दन कार्यालय मे भेज देगा जिससे वह उस बिल का भुगतान पक्व तिथि पर कर सकेगा। इस प्रकार के व्यवहार तभी सम्भव होते है जब आयात-कर्ता और निर्यात-कर्ता फर्म एक ही हो, जैसे मैसर्स ग्रिफिन एण्ड टैटलार, लन्दन तथा ग्रिफिन एण्ड टैटलार, कलकत्ता।

बन्दरगाहो से आन्तरिक व्यापार केन्द्रो मे माल पहुँचाना तथा व्यापारिक केन्द्रो से बन्दरगाहो पर माल ले जाने मे आर्थिक सहायता देना।

इनका यह कार्य करना इसीलिए सम्भव होता है कि इन्होने अपनी शाखाएँ केवल बन्दरगाहो तथा आयात निर्यात केन्द्रो तक ही सीमित न रखते हुए देश के व्यापारिक केन्द्रो मे भी खोल रखी है। १९५१ मे विनिमय बैंको की भारत मे निम्न शाखाएँ थी —

लायड्स बैंक	१८ कार्यालय सख्या
ग्रिण्डले बैंक	१४ ,, ,,
नेशनल बैंक आफ इण्डिया	११ ,, ,,
चार्टर्ड बैंक ऑफ इण्डिया	६ ,, ,,
मर्केण्टायल बैंक	८ ,,
अन्य विनिमय बैंक	९ ,,

इसके अतिरिक्त कुछ विदेशी विनिमय बैंको ने भारतीय बैंको के अश खरीद कर उन पर भी अपना प्रभुत्व एव नियन्त्रण कर रखा है। जैसे चार्टर्ड बैंक आफ इण्डिया, आस्ट्रेलिया एण्ड चायना ने इलाहाबाद बैंक के अधिकाश अश खरीद लिए है जिनकी सख्या केन्द्रीय बैंकिंग जाच-समिति की रिपोर्ट के अनुसार १९२७ मे १,९६,०२६ थी जबकि कुल अशो की सख्या २ ९६ ४१६ थी। इससे देश के आन्तरिक व्यापार का भी बहुत-सा भाग उनको मिल जाता है।

अब मान लीजिए कि कानपुर का कोई व्यापारी लन्दन से आयात करता है तो उसके नाम लिखा हुआ बिल चार्टर्ड बैंक की कानपुर शाखा को भेज दिया जायगा जहाँ पर उसे जहाजी बिल्टी आदि मिल जायगे तथा वह भुगतान भी कर देगा। इसी प्रकार यदि उसे निर्यात करना है तो वह अपना लन्दन के व्यापारी अथवा बैंक पर लिखा हुआ बिल स्थानीय शाखा को देकर अपना भुगतान वही पर प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार इनकी शाखाएँ होने से व्यापारी को आयात निर्यात मे व्यय भी कम होता है तथा सुगमता भी होती है,

क्योंकि उनको वही रहते हुए आयात-निर्यात एव विदेशी विनिमय की सुविधाएँ प्राप्त हो जाती है और बन्दरगाहो तक जाने की आवश्यकता नही पडती।

३　*अन्य बैंकिग क्रियाएँ*—*इन कार्यों के अतिरिक्त ये भारतीय जनता से* माँग पर दिये जाने वाले निक्षेप भी लेते है तथा इन पर ब्याज देते है। अभिवर्तृत्व सुविधाएँ देते है तथा भारतीय व्यापारियों को ऋण आदि की सुविधाएँ देते है। आन्तरिक व्यापार को भी ये आर्थिक सहायता देते है जिससे ये भारतीय बैंको के प्रतियोगी बन बैठे है तथा इनके आर्थिक साधन अधिक सुदृढ होने से भारतीय बैंक इनकी प्रतिस्पर्द्धा नही कर सकते। यही कारण है कि इनके निक्षेप भारतीय बैंको की अपेक्षा बहुत अधिक है, क्योंकि भारतीय जनता का विश्वास आज भी इनमे बहुत अधिक है। ये स्वर्ण चाँदी का क्रय-विक्रय करते है तथा आन्तरिक बिलो की कटौती करते है और अन्य सभी कार्य करते है जो भारतीय सयुक्त स्कन्ध बैंको के है। इन्होने कई व्यापारो को तो आर्थिक सहायता देने का एकाधिकार सा स्थापित कर लिया है जो इनको विदेशी विनिमय व्यापार मे भी अधिक लाभदायक होता है, जैसे दिल्ली तथा अमृतसर का वस्त्र व्यवसाय, कानपुर का चमडा व्यवसाय आदि।

विनिमय बैंको के कार्य पद्धति की त्रुटियाँ—इनकी कार्य पद्धति एव क्रियाओ के विरुद्ध अनेक आक्षेप है जो भारतीय दृष्टि से अहितकर है। उन्होने अपना व्यापार केवल विदेशी विनिमय तक ही सीमित न रखते हुए अन्य बैंकिंग कार्यों को भी अपनाया। इससे भारतीय बैंक पनप नही सके। इतना ही नही, अपितु इन्होंने भारतीय बैंको की कट्टर प्रतियोगिता की। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति[1] के सामने जो भारतीय व्यापारियो एव बैंको की गवाही हुई उससे उनकी कार्य पद्धति एव दोषो पर प्रकाश पडता है। ये त्रुटियाँ निम्न है —

(१) विदेशी विनिमय बैंको के प्रधान कार्यालय विदेशो मे है जहाँ से उनकी नीति का सचलन होता है, जो भारतीयो के हित मे कभी नही हो सकती और न उसमे भारत का विदेशी व्यापार ही पनपने पाया है। क्योंकि ये **भारतीय परिस्थिति से सदा अनभिज्ञ** बने रहे। इनकी नीति-निर्धारण मे भारतीयो का कोई हाथ न रहा।

(२) इनकी रजिस्ट्री एव समामेलन विदेशो मे होने से उनकी शाखाएँ स्वतन्त्र रूप से यहा काम करती है तथा उन पर **भारतीय अधिनियम के कोई भी नियन्त्रण लागू नही** होते थे।

---

[1] pp 320-324.

( ) भारतीयों को उनकी आर्थिक स्थिति का पूरा पूरा विवरण भी प्राप्त नहीं होता क्योंकि उनका भारत के कार्य सम्बन्धी कोई भी अलग स्थिति विवरण आदि प्रकाशित नहीं होता । इससे भारतीय निक्षेपकर्ताओं की पूर्ण सुरक्षा नहीं हो सकती ।

(४) आयात निर्यात बिलों का लेखन स्टर्लिंग अथवा विदेशी मुद्रा में होने से उनकी कटौती केवल विदेशी मण्डियों में ही होती है । इससे भारत की मुद्रा मण्डी को इन बिलों से किसी भी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं मिलता और न बिल-बाजार का ही विकास होता है । यदि ये बिल भारतीय मुद्रा में लिखे जायें तो भारतीय आयात-कर्ताओं को अवश्य ही लाभ होगा जो आजकल केवल विदेशियों को ही मिलता है ।

(५) विदेशी विनिमय बैंक भारतीय आयात-कर्ताओं को विशेष सुविधा नहीं देते क्योंकि इनके ऊपर लिखे जाने वाले बिल भुगतान बिल होते हैं । परन्तु विदेशियों पर लिखे जाने वाले बिल स्वीकृति बिल होते हैं । हां यह बात अवश्य है कि भारतीय आयात-कर्ताओं को प्रन्यास रसीद लिख देने पर तत्काल मिल जाता है । इस प्रकार की रसीद में वस्तुओं पर वैधानिक अधिकार विनिमय बैंकों का ही रहता है क्योंकि इस रसीद के आधार पर वे वैधानिक कार्यवाही कर सकते हैं । इससे उनको लाभ रहता है ।

( ) विनिमय बैंक भारतीयों को साखपत्र की सुविधाएं नहीं देते और यदि देते भी हैं तो उन्हें जिस राशि की सुविधाएं दी जाती हैं उसकी १५ से २५% राशि विनिमय बैंकों के पास जमा करनी पड़ती है । क्योंकि विनिमय बैंकों की दृष्टि में इनके आर्थिक साधन पर्याप्त नहीं होते । परन्तु यह बात विदेशी आयात-कर्ताओं के लिए लागू नहीं है ।

(७) केन्द्रीय बैंकिंग जांच-समिति को ऐसे प्रमाण भी दिये गये हैं कि विनिमय बैंक भारतीय व्यापारियों के साख का सत्य एवं पूर्ण विवरण नहीं देते । इतना ही नहीं अपितु भारतीयों की आर्थिक स्थिति के विषय में विरोधी आर्थिक दशा बताते हैं तथा विदेशियों का विवरण सही-सही देते हैं । इससे भारतीय व्यापारियों को विदेशी व्यापार में अनेक असुविधाएँ होती हैं जिसका बुरा प्रभाव भारत के विदेशी-व्यापार पर पड़ता है ।

(८) विनिमय बैंकों ने विदेशी व्यापार को भारतीयों के हाथ से निकाल

---

1 *An Outline of Banking System in India* by M V Subbarao

कर विदेशियो को देने मे भी अनेक अनुचित कार्यों का उपयोग किया, जिससे विदेशी व्यापार मे भारतीयो का भाग केवल १५% ही रहा।

(९) विनिमय बैंकों की कार्य-पद्धति ऐसी रही जिससे भारतीय जहाजी उद्योग तथा बीमा कम्पनियो को इन्होने प्रगति नही होने दी तथा विदेशी कम्पनियो को प्रोत्साहित किया। क्योंकि जो भारतीय इनसे आर्थिक व्यवहार करते है उनको ये बाध्य करते है कि वे अपना माल विदेशी जहाजो द्वारा भेजे तथा बीमा भी विदेशी बीमा-कम्पनियो से करवाय। इसमे भारतीय बीमा कम्पनियो को होने वाली हानि २ से ३ करोड तक आंकी गई है।[1]

(१०) विनिमय बैंक भारतीयों से अधिक परिमाण मे निक्षेप लेते है जिसमे वे विदेशी व्यापार करते है। इसमे भारतीय सयुक्त स्कन्ध बैंको को व्यापारिक हानि तो होती ही है, इसके अतिरिक्त उससे होन वाला लाभ विदेशियो को मिलता है। इसका बुरा प्रभाव भारतीय भुगतान-सन्तुलन पर पड़ता है।

(११) इन्होंने भारतीय मुद्रा-मण्डी को भी दो भागो मे विभाजित किया है जिससे विदेशी विनिमय बैंको का विदेशी भाग पर अत्यधिक प्रभाव रहा। इनका विदेशी मुद्रा-मण्डियो से सम्पर्क होने से ऋण राशि का भी कभी अभाव नही रहा। इसमे मुद्रा-मण्डी के इस अग पर रिजर्व बैंक का विशेष प्रभाव न होने से मुद्रा-मण्डी का सगठन एव नियन्त्रण न हो सका।

(१२) विदेशी बैंक भारतीयो की निक्षेप राशि से विदेशी व्यापार कर विदेशियो को आर्थिक प्रोत्साहन देते रहते है जिससे देशी उद्योग व्यवसाय को हानि होती है तथा देशी पूंजी विदेशियों के हाथ मे जाती है।

(१३) विदेशी विनिमय बैंक पिछली एक शताब्दी से यहा काम करते है परन्तु इन्होंने भारतीयो को उच्च पदो पर नियुक्ति नहीं की और भारतीयों को विदेशी विनिमय-व्यापार की शिक्षा प्राप्त करन की सुविधाएँ नही दी। इसमे भारतीय बैंक इस व्यापार को अपनाने से हमेशा कार्यक्षम कर्मचारियों को प्राप्त न कर सके। इसम भारत की असीमित हानि हुई।

(१४) भारतीय व्यापारी जब विदेशों को माल निर्यात करते है तो उनके बिलो की कटौती बिना किसी पर्याप्त जमानत लिए विदेशी विनिमय बैंक नहीं करते। परन्तु विदेशीय निर्यातकों से इस प्रकार की जमानत न लेते हुए उनके बिलो की कटौती करते है।

(१५) विदेशी विनिमय बैंको की भारतीय समाशोधन-गृहो मे अधिक सदस्यता होने मे अधिक प्रभाव रहता है जिसमे वे भारतीय बैंकों को सदस्यता

मे वंचित करने का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार "विनिमय बैंक संघ" (Exchange Banks Association) **की सदस्यता भी भारतीयों को नहीं मिलती।** इस संघ के नियमों में भारतीय व्यापारियों के परामर्श बिना परिवर्तन करते रहते हैं, तथा ये नियम विशेषतः ऐसे होते हैं जिससे भारतीय व्यापारियों को विशेष असुविधाएँ होती हैं।

(१०) विदेशी विनिमय बैंक भारत में व्यापारिक केन्द्रों में अपनी शाखाएँ खोल कर संयुक्त स्कंध बैंकों की प्रतियोगिता करते हैं। इससे भारत को आर्थिक हानि होती है तथा बैंकिंग विकास समुचित रूप से नहीं हो पाता। इससे भारतीय व्यापारियों एवं बैंकों ने इनके विरुद्ध अनेक आक्षेप किये हैं।

विदेशी विनिमय बैंकों की भारत को देन

इन आक्षेपों के होते हुए भी मानना पड़ेगा कि इन्होंने ही भारत में आधुनिक बैंकिंग पद्धति का बीज बोया, भारतीयों में बैंकिंग प्रवृत्ति का निर्माण कर बैंकों में जनता का विश्वास निर्माण किया। इन्होंने प्रथम महायुद्ध तक एवं प्रथम युद्ध-काल में अपनी विशेष स्थिति के कारण विदेशी विनिमय सुविधाएँ दीं तथा भारत का अन्तर्राष्ट्रीय एवं विदेशी व्यापार बढ़ाने में प्रोत्साहन दिया। यह ऐसी विषम एवं विरोधी परिस्थितियों में किया, जब देश में न तो कोई भारतीय बैंक ही थे, न जनता का बैंकों में विश्वास ही था और न विदेशी व्यापार के लिए विशेष आर्थिक सुविधाएँ ही थीं।

किन्तु १९०५ से स्थिति बदल चुकी है। देश में अनेक बैंकिंग संस्थाएँ स्थापित हो चुकी हैं तथा उनमें कई तो विदेशी-विनिमय व्यापार करने के लिए पूर्णतः समर्थ हैं। परन्तु यह काम तभी हो सकता है जब विदेशी विनिमय बैंकों की प्रतियोगिता से भारतीय बैंकों को बचाया जाय तथा विनिमय-व्यापार के लिए अधिक सुविधाएँ मिलें। भारतीयों में राष्ट्रीय जागरण हो जिससे वे विदेशियों की अपेक्षा भारतीय व्यापारियों तथा भारतीय बैंकों को प्रोत्साहन देने के लिए उनके पास ही अपने निक्षेप रखकर, उनके आर्थिक साधन सुदृढ़ बनायें।

विदेशी विनिमय बैंकों का नियन्त्रण—देश की स्वतन्त्रता एवं रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण हो जाने से यह आशा थी कि भारत स्थित विदेशी विनिमय बैंकों पर कुछ वैधानिक नियन्त्रण लगाये जायेंगे परन्तु खेद है कि ऐसा १९४९ तक न हुआ।

इस प्रतियोगिता को नियन्त्रित करने के लिए केवल दो ही मार्ग हैं—

(१) वर्तमान विदेशी विनिमय बैंकों के व्यापारिक कार्यों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये जायें।

(२) भारतीयो को विदेशी विनिमय क्षेत्र मे लाने के लिए अधिक प्रोत्साहन मिले ।

इस हेतु केन्द्रीय बैंकिंग जांच समिति ने मुक्त व्यापार नीति (free trade policy) का परित्याग करने के लिए सुझाव रखा था जिससे कोई भी विदेशी बैंक अपनी शाखा भारत मे न खोल सके । दूसरे, भारत स्थित विदेशी बैंको को केन्द्रीय बैंक से जर्मनी, इटली, कनाडा आदि देशो की भाति लाइसेंस प्राप्त किये बिना व्यापार करने की स्वतन्त्रता नही होनी चाहिए । यह लाइसेंस देने का अधिकार भी केन्द्रीय बैंक को होना चाहिए । **इस सम्बन्ध मे समिति का मत था कि ऐसा करने से विदेशो मे भारतीय बैंकों के साथ परस्पर अच्छा व्यवहार होगा, निक्षेपको का हित होगा तथा रिजर्व बैंक को देश के विनिमय बैंको पर नियन्त्रण करने का अधिकार मिलेगा ।**[1] कुछ गवाहो का कहना था कि विदेशी बैंको का व्यापारिक क्षेत्र सीमित कर देना चाहिए जिससे वे भारतीयो के निक्षेप न ले सके परन्तु समिति इस सुझाव के विरुद्ध थी । इसके अतिरिक्त अधिकाश सदस्यो का मत था कि वर्तमान बैंको को लाइसेंस दे देना चाहिए तथा उनको भविष्य मे शाखा खोलने के लिए नियन्त्रित कर देना चाहिए । इन सुझावो का विरोध विदेशी विशेषज्ञो तथा इम्पीरियल बैंक के प्रतिनिधियो ने किया, क्योकि उनका कहना था कि विदेशी बैंको के पास पर्याप्त साधन होने से उनको इस विषय म पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए । दूसरे, समिति भी इस विचार से सहमत नही थी क्योकि इसका प्रभाव विदेश स्थित भारतीय बैंको पर भी पडता, जो उस समय तक इस क्षेत्र मे नही थे । इस समिति के अन्य सुझाव निम्न है —

(१) विनिमय बैंक एव भारतीय बीमा कम्पनियों का समझौता—भारतीय बीमा कम्पनियों को प्रोत्साहन देने के लिए विनिमय बैंक भारतीय बीमा कम्पनियो के साथ समझौता कर ले जिससे उनके बीमा लेख वे मान्य किया करें तथा उनकी आर्थिक परिस्थिति की जॉच-पडताल के लिए उनसे स्थिति-विवरण अथवा अन्य किसी प्रकार के सामयिक विवरण लिया करे ।

(२) अधिकार पदो पर भारतीयो की नियुक्ति— विदेशी बैंको का उच्च अधिकारियों के पदो पर भारतीयो की नियुक्ति करनी चाहिए तथा इस व्यवसाय की शिक्षा के लिए भारतीयो को पर्याप्त सुविधाएँ देनी चाहिए । इससे उनका भारतीयो के साथ अच्छा सम्बन्ध हो सकता है ।

---

1 *C B E Report*, pp 329-30

(३) **इन्हे भारतीय बैंको के साथ भी समझौता** कर लेना चाहिए जिससे भारतीय बैंक इस व्यापार को कर सके। ऐसी दशा मे विनिमय व्यापार से होने वाला लाभ विदेशी एव देशी बैंको मे बाँट लिया जाय जिससे परस्पर सहयोग बढ़ेगा।

(४) विदेशी विनिमय बैंको की शाखाओ पर **एक 'स्थानीय सलाहकार समिति' हो जो इन बैंकों की ऋण नीति निश्चित करे** तथा उन्हे भारतीय आवश्यकताओ को दृष्टि मे रखते हुए सलाह दिया करे। यह आवश्यक नही है कि सलाहकार समिति की सलाह बैंको को मान्य ही हो। इस प्रकार की स्थानीय समितियो मे भारतीय व्यापारियो के साथ उनके अच्छे सम्बन्ध हो सकते है।

(५) **'विनिमय बैंक सघ' की सदस्यता भारतीय बैंको के लिए खुली रहे** तथा सघ के नियमो का परिवर्तन अथवा सशोधन भारतीय व्यापारियो के परामर्श से हो। इससे भारतीयो को उनकी सूचना मिलती रहेगी और भारतीय आवश्यकताओ को ध्यान मे भी रखा जा सकेगा। इन नियमो की पूर्ति करने मे भारतीय व्यापारियो को जानकारी होने की वजह से सुविधा होगी।

(६) **विदेशी बैंक अपनी कार्य-पद्धति मे भारतीयो को अधिक सुविधाएँ दें** अर्थात् वे भारतीयो का उनकी इच्छानुसार निर्यातकर्ताओ को देशी मुद्रा मे बिल लिखने की सुविधाएँ दे जिनकी भारत मे कटौती हो सके। इससे भारतीय बिल-बाजार का विकास हो सकेगा। इसी प्रकार आयात व्यापारियो के बिल खरीदने के स्थान पर स्वीकृत किया कर जिससे उनकी कटौती लन्दन मुद्रा-मण्डी मे हो सके तथा भारतीयो को वहाँ की सस्ते ब्याज दरो का लाभ प्राप्त हो सके। इतना ही नही, अपितु इस प्रकार की स्वीकृति एव सुविधाएँ भारतीय व्यापारियो को बिना किसी प्रकार की जमानत के देनी चाहिए।

विदेशी-विनिमय बैंको पर नियन्त्रण

भारतीय बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम १६४९ के अनुसार विदेशी विनिमय बैंको पर निम्न नियन्त्रण लगाये गये हैं :—

(१) यह अधिनियम भारत-स्थित सभी बैंको पर लागू होगा, जिससे अब इन बैंको पर भी नियन्त्रण रहेगा।

(२) भारत स्थित सभी बैंकों को रिजर्व बैंक से लाइसेंस लेना अनिवार्य होगा। इसी प्रकार शाखाएँ खोलने के लिए भी पूर्व अनुमति लेनी होगी। यह निम्न शर्तों पर दी जायगी—

(अ) बैंक अपने निक्षेपकों के निक्षेप भुगतान करने योग्य है एव उसकी व्यवस्था उनके हित में हो रही है।

(ब) जिन देशो मे बैंक का समामेलन हुआ है उस देश मे भारतीय बैंकों के विरुद्ध किसी प्रकार के वैधानिक प्रतिबन्ध नही है।

(स) वह बैंक इस विधान की धाराओं का पालन करता है।

यह लाइसेंस प्राप्त करने पर यदि कोई विदेशी बैंक इन शर्तों का पालन नही करता तो रिजर्व बैंक उसका लाइसेंस निरस्त करने का अधिकारी है।

(३) प्रत्येक विदेशी विनिमय बैंक को, जो बम्बई तथा कलकत्ता के अलावा *अन्य स्थान पर व्यवसाय करता है,* **उसकी चुकता पूंजी एव सचित निधि कम से कम १५ लाख रुपये रखनी होगी।** यदि उसका व्यवसाय **बम्बई अथवा कलकत्ता अथवा दोनो शहरो मे हो तो उसकी चुकता पूंजी एव सचित निधि कम से कम २० लाख रुपए होनी चाहिए।**

(४) प्रत्येक विदेशी बैंक को भारत-स्थित शाखाओ के **निक्षेपो की ७५% सम्पत्ति भारत मे रखनी होगी।** इसी प्रकार माँग एव काल निक्षेपों की ५% एव २% राशि रिजर्व बैंक के पास रखनी होगी।

(५) इनको अपना वार्षिक स्थिति-विवरण एव लाभ-हानि खातो का योग्य अकेक्षको से अकेक्षण कराना होगा एव उसे उनकी रिपोर्ट सहित अपने प्रमुख एव अन्य कार्यालयो मे दूसरे स्थिति विवरण के प्रकाशन तक प्रदर्शित करना होगा। यह स्थिति विवरण भारतीय मुद्रा मे होना चाहिए।

(६) *निश्चित विवरणो के अतिरिक्त अन्य आवश्यक विवरण भी रिजर्व बैंक* इनसे माँग सकता है।

इस अधिनियम मे रिजर्व बैंक को जो अधिकार मिले है उनसे रिजर्व बैंक इन पर अच्छा नियन्त्रण रख सकता है। **इस अधिकार का उपयोग रिजर्व बैंक ने १९५२ मे सर्वप्रथम किया।** (भारतीय बैंक को गोआ (Goa) मे कार्यालय खोलने की अनुमति वहाँ की सरकार ने नही दी। इस कारण रिजर्व बैंक ने 'बैंको नेशनल अल्ट्रामरिनो, बम्बई' का लाइसेंस निरस्त किया।) रिजर्व बैंक द्वारा अपने अधिकार के उपयोग के कारण रिजर्व बैंक की धाक अब विदेशी विनिमय बैंको पर भली-भाँति जम गई है।

भारतीय विनिमय बैंक

भारतीय व्यापारियो की असुविधाओ एव भारतीय विदेशी व्यापार की *उन्नति की दृष्टि से केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने* यह सुझाव भी किया कि जो भारतीय बैंक अच्छी स्थिति मे है उन्हे विदेशो मे शाखाएँ खोलनी चाहिए।

यदि वे अपनी शाखाएँ न खोल सके तो विदेश स्थित बैंकों से अपने सम्बन्ध स्थापित कर लेने चाहिए जिससे वे अपने ग्राहकों को विदेशी व्यापार की सुविधाएँ दे सकें तथा नई शाखाएँ खोलने में जो प्रारम्भिक व्यय होता है वह भी न हो। उन्होंने यह भी सुझाव रखा कि रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद इम्पीरियल बैंक लन्दन में शाखा होने से यह कार्य कर सकता है, अतः उसे इस व्यापार की ओर ध्यान देना चाहिए तथा रिजर्व बैंक इस कार्य में उसे आवश्यक सहायता एवं सहयोग दे। कुछ सदस्यों का यह भी मत था कि भारतीय तथा विदेशी मिलकर संयुक्त विनिमय बैंकों की स्थापना करें, जिनकी पूँजी सम्मिलित हो तथा लाभ-वितरण भी समान हो। इसके अतिरिक्त कुछ सदस्यों का यह मत था कि विदेशी बैंकों की प्रतियोगिता भारतीय विनिमय बैंक नहीं कर सकते, इसलिए सरकार ही इस कार्य को अपनाये तथा एक भारतीय विनिमय बैंक की स्थापना करे जिसकी पूँजी तीन करोड हो तथा यह तीन वर्षों में भारतीय बैंकों से प्राप्त की जाय।

परन्तु इस प्रकार अनेक सुझावों के होते हुए भी इस दिशा में प्रत्यक्ष कार्य नहीं हो सका है, अपितु विदेशी विनिमय बैंकों का आज भी देश के बैंकिंग व्यवसाय पर पूर्ण प्रभाव है। विदेशी बैंकों ने भी इस सुझाव की ओर न तो कोई ध्यान दिया है और न कार्य-प्रणाली में ही परिवर्तन किया है। हाँ बैंकिंग अधिनियम के अनुसार विदेशी बैंकों को अब रिजर्व बैंक से धारा २२ के अनुसार लाइसेंस प्राप्त करना होगा तथा यह उन्हें तभी प्राप्त हो सकता है जब वे इसका पूर्णतः पालन करें। स्टेट बैंक ने भी अभी तक इस व्यवसाय को नहीं अपनाया है। गत कुछ वर्षों में भारतीय बैंकों ने विदेशी बैंकों से समझौते कर सम्बन्ध प्रस्थापित कर लिये हैं, जैसे बैंक ऑफ मैसूर ने ईस्टर्न बैंक से पंजाब नेशनल बैंक ने मिडलैंड बैंक से आदि। अतः रिजर्व बैंक और राष्ट्रीय सरकार को इस ओर भविष्य में ध्यान देना आवश्यक है।

सारांश

विदेशी व्यापार के लिए विदेशी विनिमय की साख एवं आर्थिक सुविधाएँ देने वाले बैंकों को विनिमय बैंक कहते हैं। परन्तु भारत में जो विनिमय बैंक हैं उनके प्रमुख कार्यालय विदेशों में होने से इन्हें विदेशी विनिमय बैंक कहना उचित होगा क्योंकि आजकल भारतीय बैंक भी इस कार्य को करने लगे हैं। इनका विकास १९५३ के बाद हुआ तथा मार्च १९५९ में ऐसे १५ बैंक भारत में थे जिनकी ६९ शाखाएँ थीं। निक्षेपों के अनुसार विदेशी विनिमय बैंक दो प्रकार के हैं :—

(१) वे बैंक जिनके प्रधान कार्यालय विदेशों मे हैं परन्तु उनके कुल निक्षेपों के २५% से अधिक भाग भारतीयो का है। (२) वे बैंक जो अपने विदेश स्थित प्रमुख कार्यालय के अभिकर्ता का कार्य करते हैं एवं जिनके भारतीय निक्षेप २५% से कम हैं।

विदेशी विनिमय बैंकों के कुल निक्षेपो की राशि ३१ मार्च १९५६ को २०१ करोड़ रु० तथा ऋणो एवं अग्रिमो की राशि १६६ करोड़ रु० थी। रिजर्व बैंक के अनुसंधान के अनुसार भारतीय आयात व्यापार के ६०% तथा निर्यात व्यापार के ७०% भाग को ये आर्थिक सुविधाएँ देते हैं।

भारतीय बैंकों द्वारा विदेशी विनिमय बैंकिंग न अपनाने के कारण थे—विदेशी मुद्रा मण्डियों पर विदेशी बैंकों का अधिक प्रभाव विदेशी बैंकों की कार्यशील पूँजी अधिक थी तथा विदेशो मे शाखाएँ खोलने मे बाधाएँ थीं, कुशल कर्मचारियों की कमी, अधिक निक्षेप प्राप्त करने मे कठिनाई, विदेशी मुद्रा-मण्डियो से सम्पर्क का अभाव, सीमित आर्थिक साधन, विदेशी बैंको की कट्टर प्रतियोगिता समान सुविधाओं का अभाव तथा भारत सरकार की उपेक्षापूर्ण नीति।

भारतीय बैंकों ने कुछ सीमा तक विदेशी विनिमय क्रियाएँ की तथा विदेशो मे शाखाएँ भी हैं। १९५१ के अन्त मे भारतीय बैंको की विदेशी शाखाएँ १२७ थीं। परन्तु इनका कार्यक्षेत्र विशेषत दक्षिणपूर्व एशिया एव सुदूरपूर्व तक ही सीमित है।

विनिमय बैंक तीन काय करते है—(१) विदेशी व्यापार को आर्थिक सुविधाएँ देना, (२) बन्दरगाहो से आन्तरिक व्यापारिक केन्द्रो मे माल पहुँचाने के लिए तथा आन्तरिक व्यापारिक केन्द्रो से बन्दरगाहों तक माल पहुँचाने के लिए आर्थिक सुविधाएँ देना, (३) अन्य व्यापारिक बैंकिंग क्रियाएँ करना।

विनिमय बैंको की काय पद्धति के दोष—(१) भारतीय स्थिति का अज्ञान, (२) भारतीय अधिनियमो का नियन्त्रण नही (३) उनके आर्थिक स्थिति का विवरण भारतीयों को नहीं मिलता, (४) विदेशी मुद्राओ मे बिलो का लिखना, (५) भारतीय आयातकर्ताओ को सुविधा नहीं देते (६) भारतीयो को साखपत्र की सुविधाएँ नही देते, (७) भारतीय व्यापारियो के साख का सत्य एव पूर्ण विवरण न देना (८) विदेशी व्यापार मे भारतीयो की उपेक्षा, (९) भारतीय जहाजरानी एव बीमा उद्योग को प्रोत्साहन न देना, (१०) भारतीय निक्षेप अधिक परिमाण मे लेना, (११) भारतीय मुद्रा-मण्डी का दो भागो मे विभाजन, (१२) भारतीय निक्षेपो मे विदेशियो को आर्थिक प्रोत्साहन (१३) भारतीयों की उच्च स्थानो पर नियुक्ति न करना, (१४) भारतीयो के बिलो की कटौती बिना जमानत

के नहीं करते, (१५) समाशोधन-गृहो की सदस्यता से भारतीय बैंको को वंचित रखना, (१६) संयुक्त स्कन्ध बैंको से प्रतियोगिता। इन दोषो के होते हुए भी इन्होने भारतीयों में बैंकिंग प्रवृत्ति का निर्माण कर बैंकिंग मे जनता का विश्वास स्थापित किया—विशेषतः उस स्थिति में जब भारत मे आधुनिक बैंक भी न थे।

• विदेशी विनिमय बैंको पर दो प्रकार से नियन्त्रण हो सकता है—(१) उनकी क्रियाओ पर प्रतिबन्ध लगाने से, तथा (२) भारतीय बैंको को विदेशी विनिमय बैंकिंग के लिए अधिक प्रोत्साहन देकर। इस हेतु केन्द्रीय जाँच समिति की प्रमुख सिफारिशे हैं —

(अ) विनिमय बैंक भारतीय बीमा कम्पनियो के साथ समझौता कर उन्हे प्रोत्साहन दे, (आ) अधिकार-पदो पर भारतीयो की नियुक्ति करें, (इ) भारतीय बैंको के साथ मे विदेशी विनिमय बैंकिंग सम्बन्धी समझौता करें, (ई) विदेशी विनिमय बैंको की स्थानीय सलाहकार समिति हो जो उनकी ऋण-नीति निर्धारित करे, (उ) विनिमय बैंक सघ की सदस्यता भारतीय बैंको के लिए खुली रहे, (ऊ) विदेशी बैंक अपनी कार्य-प्रणाली मे भारतीयो को अधिक सुविधाएँ दें।

भारतीय बैंकिंग अधिनियम से विदेशी विनिमय बैंको पर निम्न नियन्त्रण लगाये गये हैं —

(अ) रिजर्व बैंक से लाइसेंस लेना अनिवार्य होगा।

(आ) पूँजी सम्बन्धी नियन्त्रण—बम्बई तथा कलकत्ते के सिवा अन्य स्थान पर शाखा होने पर न्यूनतम चुकता पूँजी एवं निधि १५ लाख रुपए अन्यथा २० लाख रुपए।

(इ) भारत स्थित शाखाओं के निक्षेपो की ७५% सम्पत्ति भारत में रखना अनिवार्य।

(ई) माँग एवं समय देनदारी के ५% व २% राशि रिजर्व बैंक के पास जमा करनी होगी।

(उ) रिजर्व बैंक के पास सामयिक विवरण भेजने होगे तथा रिजर्व बैंक द्वारा माँगी गई अन्य जानकारी या विवरण भी भेजने होंगे।

भारतीय विनिमय बैंक की कमी को दूर करने के लिए रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक तथा भारत सरकार को सामूहिक कार्यवाही करनी चाहिए जिससे अन्य बैंको को इस दिशा मे प्रोत्साहन मिले।

अध्याय १८

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया

प्रथम युद्ध-काल (१९१४-१९१९) मे विश्व के समस्त राष्ट्रा द्वारा स्वर्णमान का त्याग हो चुका था, अत स्वर्णमान के पुन सस्थापन के लिए एक *अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-परिषद् ब्रुसेल्स मे १९२० म हुई। इसमे "जिन देशों मे* केन्द्रीय बैंक नही है वहाँ पर शीघ्र ही केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जाय" यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, जिसका सब देशो ने समर्थन किया। कुछ अश मे स्वर्णमान की योजना को सफल बनाने एव केन्द्रीय बैंक का अभाव दूर करने के लिए ही भारत म १९२० मे इम्पीरियल बैंक की स्थापना हुई। परन्तु यह बैंक इस कार्य को नही कर सका और न कर ही सकता था। इस हेतु केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। वैसे तो चेम्बरलेन समिति (१९१३) की रिपोर्ट के साथ ही प्रो० कीन्स की केन्द्रीय बैंक योजना प्रकाशित हुई थी। किन्तु *हमारी विदेशी सरकार ने उस ओर दुर्लक्ष किया। इसीकी* पुनरावृत्ति १९२७ मे हिल्टन यग समिति न की तथा उन्होंने सिफारिश की कि चलन एव साख का समुचित नियन्त्रण करने के लिए शीघ्रातिशीघ्र केन्द्रीय बैंक की स्थापना होनी चाहिए। अधिकाश भारतीय अर्थशास्त्रियों का यह विचार था कि बैंक एव साख-व्यवस्था के सुसचालन के लिए ऐसे बैंक की आवश्यकता है।

रिजर्व बैंक की स्थापना क्यो ?

१ **रुपये के अन्तर्बाह्य मूल्य मे स्थायित्व**—यह कार्य केवल रिजर्व बैंक ही कर सकता था क्योंकि रुपये के मूल्य मे आन्तरिक परिवर्तन होने का कारण मुद्रा का आवश्यकतानुसार सकुचन एव प्रसार न होना था, जिसकी आवश्यकतानुसार पूर्ति अथवा सकुचन रिजर्व बैंक पत्र-मुद्रा-चलन एव सरकारी प्रतिभूतियों के *क्रय विक्रय का एकमात्र अधिकारी होने के रूप मे कर सकता था।*

इसी प्रकार रुपये की आन्तरिक मूल्य-स्थिरता पर उसका बाह्य मूल्य निर्भर रहता है तथा मुद्रा की माँग एव पूर्ति पर भी। अत विदेशी विनिमय की माँग एव पूर्ति का आवश्यकतानुसार मिलान एव स्वर्ण का विदेशो मे क्रय विक्रय करने का एकाधिकार रिजर्व बैंक को दिया जाने से यह कार्य वह कर सकता था। *परिणामत रुपये के अन्तर्बाह्य मूल्य मे स्थायित्व रहता।*

२ भिन्न-भिन्न बैंको की निधि का केन्द्रीकरण—रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व भिन्न भिन्न बैंको को अपने पास कुछ रोकड निधि रखनी पडती थी जो निष्क्रिय थी अथवा जिसका अन्य बैंको द्वारा उपयोग नहीं हो सकता था, क्योंकि उनमे पारस्परिक सहयोग नहीं था। किन्तु रिजर्व बैंक की स्थापना से भिन्न भिन्न बैंक अपनी निधि रिजर्व बैंक के पास रखेंगे तथा उनको अपने पास नही रखनी पडेगी जिससे रोकड निधि का केन्द्रीकरण होगा। इसका उपयोग रिजर्व बैंक अन्य बैंको को सहायता देने मे करेगा जिससे निष्क्रिय धन का अधिकतम उपयोग होकर देश की मुद्रा एवं साख पद्धति लोचदार एवं गतिशील होगी। इससे हमारे बैंकिंग-व्यवसाय मे भी सुव्यवस्था का निर्माण होगा।

३ देश मे मुद्रा एव साख-नीति का न्यायपूर्ण एव समुचित प्रबन्ध—यह बैंक व्यापारिक आवश्यकताओ के अनुसार देश की मुद्रा एवं साख का मिलान करेगा, जिससे व्यापारिक तथा आर्थिक क्षेत्र एव मुद्रा मण्डी मे समुचित सन्तुलन स्थापित हो सकेगा। यह कार्य अभी तक नहीं हो रहा था क्योकि मुद्रा का नियन्त्रण सरकार करती थी और साख का नियन्त्रण इम्पीरियल बैंक। इस दुहरे नियन्त्रण के कारण देश की मुद्रा एव साख-व्यवस्था मे समुचित सम्बन्ध नहीं था। इसी कार्य के लिए रिजर्व बैंक को साख एव मुद्रा नियन्त्रण का एकाधिकार मिलना था, जिससे

(अ) मुद्रा का चलन का एकाधिकार मिलना था

(ब) अन्य बैंको की निधि (२ अनुसार) इसके पास रहती

(स) बैंक दर खुले बाजार की क्रियाओ आदि द्वारा साख नियन्त्रण का अधिकार मिलना था जिससे वह बिना की कटौती सरकारो लेन देन एव लेने की व्यवस्था, सरकारी प्रतिभूतियो का क्रय विक्रय आदि कार्य समुचित रीति से कर सके।

४ सरकार के बैंकर का कार्य—सरकार की ओर से जन ऋण (public debts) की व्यवस्था, सरकार के बैंकर का कार्य एव सरकार को आवश्यकता के समय आर्थिक सहायता देने का कार्य करने के उद्देश्य से एव सरकार की मुद्रा एव आर्थिक नीति पर सलाह देने के लिए इस बैंक की आवश्यकता थी। क्योंकि अभी तक सरकार की ओर से विदेशी लेन-देन विदेशी विनिमय-व्यवहार करने वाली कोई भी अधिकृत संस्था नहीं थी। इनमे से कतिपय कार्य इम्पीरियल बैंक करता था परन्तु उसको दिये गये विशेष अधिकार देश एव जनता के हित मे न थे।

५ कृषि-साख—भारतीय कृषि की आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति करने

के लिए भी इसकी आवश्यकता थी इसीलिए इस बैंक में कृषि-साख विभाग (agricultural credit department) खोला गया। कृषि साख की पूर्ति के लिए उसके आवश्यक अंगों—अर्थात सहकारी एवं स्वदेशीय बैंकों—का नियन्त्रण कर समुचित आर्थिक सहायता देने की जिम्मेदारी इस पर होगी।

६ **बैंकिंग प्रणाली का नियन्त्रण**—देश की बैंकिंग प्रणाली के समुचित नियन्त्रण तथा भारतीय मुद्रा मण्डी के विभिन्न अङ्गों के सगठन के लिए भी इस बैंक की आवश्यकता थी जिससे बैंकिंग व्यवस्था का सुदृढ़ सगठन सम्भव हो। *भारतीय मुद्रा मण्डी के विभिन्न अंगों में परस्पर सहयोग के अभाव में तथा* स्वदेशीय बैंकर अनियन्त्रित होने से बैंकिंग सुधार एवं विकास के सही-सही आँकड़े (statistics) जनता को उपलब्ध नहीं थे। इसीलिए मुद्रा-मण्डी के विभिन्न अंगों को नियन्त्रित कर उनमें पारस्परिक सहयोग निर्माण कर देश की मुद्रा साख एवं बैंकिंग व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए भी इस बैंक की आवश्यकता थी।

७ **मौद्रिक सम्पर्क एवं व्यवसाय**—अन्य राष्ट्रों के साथ मौद्रिक सम्पर्क बनाने एवं मौद्रिक व्यवसाय सचालन के लिए भी इस बैंक की आवश्यकता थी। विशेषतः इसलिए कि सब देशों में केन्द्रीय बैंक स्थापित हो चुके थे जिनसे मौद्रिक सम्पर्क बनाने के लिए भी इसकी अधिक आवश्यकता थी।

इन उद्देश्यों को लेकर इसकी स्थापना के लिए १९२७ में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया विधेयक विधान-सभा में रखा गया किन्तु उस समय विधान सभा के अध्यक्ष (President) द्वारा इसको प्रस्तुत करने की आज्ञा न देने से यह विधेयक वापिस ले लिया गया। १९३४ में जब प्रान्तीय स्वायत्तता (provincial autonomy) सब प्रान्तों को १९३५ में मिलने वाली थी उस समय केन्द्रीय बैंक की अनिवार्य आवश्यकता थी जिससे विभिन्न प्रान्तों की आर्थिक नीति का नियन्त्रण सघ के हित में किया जा सके। इसलिए १९३४ में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया विधेयक स्वीकृत हुआ तथा १ अप्रैल १९३५ को इसकी स्थापना की गई।

अंशधारियों का बैंक अथवा सरकारी बैंक ?

विधेयक की स्वीकृति के पहले यह अंशधारियों का बैंक हो अथवा सरकारी बैंक हो इसकी चर्चा हुई जिसमें दोनों पक्षों ने अपनी अपनी दलील पेश की। इनमें से कुछ नीचे दी गई हैं —

सरकारी बैंक के पक्ष में—(१) पत्र-मुद्रा आदि के सचालन से होने वाला लाभ जनता के हित में ही उपयोग में आना चाहिए और यह तभी हो सकता है जब केन्द्रीय बैंक सरकार का हो।

(२) अंशधारियों का बैंक सदैव अधिकाधिक लाभ कमाने के लिए प्रयत्नशील होगा। इस विशेषाधिकार प्राप्त होने के कारण इसका व्यक्तिगत नियन्त्रण होने में जनता का हित न होगा और न यही सम्भव है कि सदैव राष्ट्र के हित में इसकी नीति रहेगी।

(३) भारत में यूरोपीय पूँजी अधिक है तथा इसके अधिकतर अंश यूरोपीय खरीदेंगे। इससे इस पर उनका प्रभुत्व रहेगा एवं सञ्चालन नीति भी वही अपनायेंगे जो उन्हें एवं उनके देश के हित में होगी जिससे देश हित की हानि होगी।

(४) अन्य देशों के केन्द्रीय बैंक अंशधारियों के होते हुए भी सरकारी नियन्त्रण में होते हैं तथा उनका गवर्नर एवं उप-गवर्नर सरकार नियुक्त करती है जिसको बैंक की नीति निर्धारण के असीमित अधिकार होते हैं। अतः हिस्सेदारों का बैंक होना अथवा न होना एक-सा ही है इसलिए सरकारी बैंक ही स्थापित किया जाय।

(५) जब रेलवे, टाकघर आदि जन हित व्यवसायों का नियन्त्रण एवं सञ्चालन सरकार कर रही है तब इस महत्वपूर्ण बैंक का सञ्चालन भी सरकार को करना चाहिए क्योंकि जनता का उस पर अधिक विश्वास है।

उपर्युक्त दलीलों और केन्द्रीय बैंकों के अधिकार एवं उत्तरदायित्व को देखते हुए उसका नियन्त्रण सरकार द्वारा होना चाहिए क्योंकि "सरकार का केन्द्रीय बैंक की कार्यक्षमता में अत्यन्त महत्वपूर्ण सम्बन्ध होता है तथा उसकी नीति की ओर वह दुर्लक्ष नहीं कर सकती।"[1] विशेषतः युद्ध-काल में उसका केन्द्रीय बैंक पर पूर्ण नियन्त्रण होता है।

अंशधारियों के बैंक के पक्ष में—(१) देश में आर्थिक हित की दृष्टि से यह बैंक किसी भी राजनीतिक प्रभाव से दूर होना आवश्यक है जिससे वह अबाधित रूप से अपना महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व निभा सके। अतः वह सरकार का बैंक होगा तो राजनीतिक प्रभाव रहेगा जिससे उसकी कार्यक्षमता में राजनीतिक पक्ष भेद के कारण बाधा होगी।

(२) विश्व के विभिन्न देशों के बैंक अधिकतर अंशधारियों के हैं और जहाँ भी सरकारी नियन्त्रण में है एसे नियन्त्रण सीमित हैं, जिससे देश का अधिकाधिक हित हो। अतः अंशधारियों का बैंक ही हो।

( ) अंशधारियों के बैंक में भिन्न भिन्न हितों का प्रतिनिधित्व हो सकता

---

[1] *Kisch and Elkin on ' Central Banks''*

है तथा उसकी नीति एव अशधारियो की सुरक्षा का दायित्व सचालको पर होता है। इनकी कार्यक्षमता अधिक होती है जो सरकारी बैंक मे सम्भव नही होती।

(४) जहाँ तक यूरोपीय पूँजीपतियों अथवा अन्य पूँजीपतियों के प्रभाव का भय है—प्रत्येक अशधारी के लिए अधिकतम अश-मर्यादा विधान से निश्चित कर देना चाहिए जिसमे यह भय न रहे। उसी प्रकार अशधारियों के लिए अधिकतम लाभाश सीमित कर देना चाहिए, जिससे अधिक लाभ होने पर वह सरकारी आय मे जमा किया जाय।

उपर्युक्त दलीलो मे उस समय यह निर्णय किया गया कि कोई भी मुद्रा सम्बन्धी सस्था या बैंक राजनीतिक हस्तक्षेप से दूर रहना चाहिए। इस दलील ने प्रभावी कार्य किया एव रिजर्व बैंक अशधारियो का बैंक बनाया गया जो ३१ दिसम्बर १९४८ तक रहा। १ जनवरी १९४९ मे उसका राष्ट्रीयकरण हो गया है।

रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि आरम्भ मे ही उसके राष्ट्रीयकरण मे एक पक्ष था, परन्तु उस समय इसका राष्ट्रीयकरण न होने हुए अशधारियों के बैंक के रूप मे यह प्रकाश आया। परन्तु १९४७-४८ के बजट की बहस के समय इस बात का प्रभावी प्रतिपादन किया गया कि देश मे स्वतन्त्रता एव राष्ट्रीय सरकार के होते हुए ऐसी महत्वपूर्ण सस्था का शीघ्र राष्ट्रीयकरण होना चाहिए। इसके पश्चात् १९४८ मे रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण विधेयक भारतीय ससद मे प्रस्तुत किया गया, जो ३ सितम्बर १९४८ को स्वीकृत हुआ। फलत १ जनवरी १९४९ से रिजर्व बैंक राष्ट्रीय व्यवस्था मे आया तथा उसके सारे अश सरकार ने ११८॥≈) प्रति १०० रु० के अश के खरीद लिये है।

राष्ट्रीयकरण क्यो ?—(१) युद्धोत्तर पुनर्निर्माण एव आर्थिक योजनाओं की सफलता के लिए आवश्यक था कि केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण हो। क्योंकि केन्द्रीय सरकार के अधिकार मे जो थोडे से कार्य है उनको छोडकर अन्य कार्यों के लिए प्रान्तो को पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। अत प्रान्तीय सरकारें अपनी स्वतन्त्र आर्थिक-नीति अपना सकती थी जिससे यह सम्भव था कि केन्द्रीय सरकार की आर्थिक योजनाएँ सफल न हो पाती। केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण होने से उनकी एव केन्द्रीय सरकार की नीति मे समानता रहती जिससे आर्थिक योजनाओ की सफलता मे बाधा न आती।

(२) **सन्तोषजनक मुद्रा नीति की व्यवस्था**—रिजर्व बैंक के ऊपर यह

आक्षेप था कि उसकी मुद्रा नीति सन्तोषप्रद नहीं रही, विशेषत युद्धकाल में, जिससे पत्र-मुद्रा का चलन अधिक हुआ तथा मूल्यस्तर बढ़ गया। इसे स्थिर रखने के लिए रिजर्व बैंक ने कोई प्रयत्न नहीं किया। अत रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण होने से यह दोष दूर हो सकता था। इसके अतिरिक्त कोई भी संस्था जो साख एवं मुद्रा का नियन्त्रण करती है उसका राष्ट्रीयकरण होना देश-हित में होता है।

(३) आर्थिक नीति एवं राजनीति में समानता—किसी भी देश की अर्थ-व्यवस्था का राजनीति से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है क्योंकि आर्थिक परिस्थिति के अनुसार राजनीति में आवश्यक परिवर्तन होते हैं। उसी प्रकार राजनीतिक दृष्टिकोण के अनुसार अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन किये जाते हैं। देश में स्वतन्त्र सरकार की स्थापना से इस बात की अधिक आवश्यकता थी कि इन दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध हो जिससे आर्थिक नीति राजनीति से विलग न हो। इसलिए रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण होना आवश्यक था।

(४) सरकारी आर्थिक नीति का संचालन—अन्य देशों में, विशेषत इंगलैण्ड में बैंक ऑफ इंगलैण्ड का राष्ट्रीयकरण हो चुका था, जहाँ सरकार की मौद्रिक एवं आर्थिक नीति का केन्द्रीय बैंक ही कार्यान्वित करता था। भारत के लिए यह तभी सम्भव होता यदि रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण होता।

(५) सरकार एवं केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति में समानता—केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति से देश का रोजगार प्रभावित होता है। युद्ध के बाद बेकारी की समस्या बहुत तीव्र हो गई थी। इसका समुचित हल तभी हो सकता था, जब देश की केन्द्रीय सरकार के इच्छानुरूप केन्द्रीय बैंक की मुद्रा-नीति होती। इसलिए रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण आवश्यक समझा गया।

(६) आर्थिक विषमता का निवारण—भारत में सामान्य जनता के वर्तमान जीवन-स्तर को ऊँचा करने के लिए आर्थिक विषमता का निवारण, आय-वृद्धि तथा उत्पादन-वृद्धि की आवश्यकता थी। इसलिए सरकारी अर्थ-नीति एवं मौद्रिक-नीति के अनुसार केन्द्रीय बैंक की नीति होना आवश्यक था।

(७) अन्तरराष्ट्रीय सहयोग—युद्ध के कारण सभी देशों के आर्थिक-कलेवर अस्त-व्यस्त हो गये थे तथा प्रत्येक देश के सामने नई-नई आर्थिक समस्याएँ थीं। उदाहरणार्थ, विदेशी व्यापार की स्थिरता विनिमय-दर की स्थिरता भुगतान का सन्तुलन आदि। इनका समुचित हल करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में देश की आगामी आर्थिक नीति निर्धारित होना आवश्यक था। अत रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण आवश्यक था। इसीके साथ-साथ

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष अन्तर्राष्ट्रीय बैंक में किसी भी देश के व्यवहार केन्द्रीय बैंक द्वारा ही होते हैं। इन व्यवहारों का देश की आर्थिक नीति से सम्बन्ध होने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो।

(८) **बैंकिंग कलेवर में विश्वास निर्माण करने के लिए**—देश के बैंकिंग स्तर को सुधारने के लिए देश के उपलब्ध गुणों (talents) का समुचित उपयोग होकर कार्यक्षमता में वृद्धि तभी सम्भव थी, जब रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण होता। इसके साथ ही भारतीय जनता का स्वयं की सरकार में अधिक विश्वास होने के कारण बैंकों में अधिक विश्वास उत्पन्न होने एवं बैंकिंग विकास के लिए भी रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण आवश्यक था।

(९) **मुद्रा-मण्डी एवं बैंकिंग के संगठन के लिए**—रिजर्व बैंक अपने १४ वर्ष के जीवन में भारतीय मुद्रा-मण्डी को न तो संगठित ही कर सका, न बिल-बाजार की स्थापना में सफल रहा और विशेषतः स्वदेशीय बैंकरों को तो वह अपनी अनेक योजनाओं में भी नियन्त्रित न कर सका। इसलिए ऐसा कहा जाता है *कि रिजर्व बैंक को इन कार्यों की पूर्ति के लिए बड़े निर्बन्धों में कार्य करना* पड़ता था। अतः कार्यों के संगठन के लिए सुधार एवं उन्नति के लिए, रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण होना आवश्यक था।

(१०) **रिजर्व बैंक को देश की बैंकिंग-स्थिति का समुचित एवं सही ज्ञान** होने के लिए उसे अन्य बैंकों से—जो नियन्त्रित नहीं थे—आवश्यक विवरण प्राप्त करने में अनेक असुविधाएँ थीं, इसलिए रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण आवश्यक था।

रिजर्व बैंक का विधान

१ जनवरी १९४९ को रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण होने से रिजर्व बैंक विधान में आवश्यक परिवर्तन हो गये हैं —

पूँजी—रिजर्व बैंक की पूँजी ५ करोड़ रु० थी जो १०० रु० के अंशों में विभाजित थी तथा अभी तक अंशधारियों की थी, उसका हस्तान्तरण केन्द्रीय सरकार को हो गया। इसके बदले में अंशधारियों को प्रत्येक १०० रु० के अंश के बदले ११८ रु० १० आने मिले। इस राशि का १८ रु० १० आ० भुगतान नकद तथा शेष १०० रु० के बदले इन्हें ३% ब्याज देने वाले ऋण-प्रतिज्ञापत्र (प्रथम विकास-ऋण (first development loans) बन्ध) दिये गये। इनका भुगतान १५ अक्टूबर १९७० अथवा १९७५ में सरकार की इच्छानुसार तीन मास की पूर्व-सूचना के बाद होगा।

प्रबन्ध—रिजर्व बैंक के प्रबन्ध के लिए केन्द्रीय सरकार बैंक के गवर्नर की

सम्मति से राष्ट्रीय एव जन हित में उसे आदेश देती रहती है। इन आदेशों के अनुसार केन्द्रीय सभा कार्य करती है। गवर्नर को केन्द्रीय सभा के आदेशों का पालन करना पड़ता है, जिसके साथ ही वह बैंक की व्यवस्था भी करता है। वर्तमान केन्द्रीय सभा के १५ सदस्य हैं, जो भिन्न-भिन्न हितों के अनुसार केन्द्रीय सरकार मनोनीत करती है—

(अ) एक गवर्नर तथा तीन उप-गवर्नर—इनकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार करती है तथा ये वेतन प्राप्त कर्मचारी होते हैं। अवधि तथा मतदान सम्बन्धी अधिकार पूर्ववत् ही है। वर्तमान गवर्नर सर बी० रामाराव है। [धारा ८ (१) (a)]

(ब) चार सचालक—जिनको केन्द्रीय सरकार चार स्थानीय सभा के सदस्यों में से प्रत्येक स्थान से एक के हिसाब से मनोनीत करती है। इनकी अवधि इनकी स्थानीय सभा की सदस्यता से सम्बन्धित है। [धारा ८ (१) (b)]

(स) छ सचालक—केन्द्रीय सरकार मनोनीत करती है। इनकी अवधि ४ वर्ष की होती है। इनमे से दो सचालक क्रमश अवकाश (retire) ग्रहण करते हैं। [धारा ८ (१) (c)]

(द) एक सरकारी अधिकारी—इसे केन्द्रीय सरकार मनोनीत करती है। यह केन्द्रीय सरकार की इच्छानुसार किसी भी समय तक काम कर सकता है। इसका मतदान का अधिकार नहीं रहता। [धारा ८ (१) (d)]

स्थानीय प्रबन्ध के लिए चार स्थानीय सभाएँ क्रमश बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तथा नई दिल्ली म हैं जो केन्द्रीय सभा के आदेशानुसार प्रबन्ध करती है तथा पूछे जाने पर आवश्यक मामलो पर सलाह देती हैं। प्रत्येक स्थानीय सभा के पाँच सदस्य हैं जिनकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार यथासम्भव प्रादेशिक आर्थिक, स्वदेशी बैंकर एव सरकारी बैंकों के हितो की दृष्टि से करती है।

केन्द्रीय सभा की एक वर्ष में ६ सभाएँ होनी चाहिए, परन्तु तीन महीने म एक सभा अवश्य होनी चाहिए। गवर्नर को यह अधिकार है कि वह केन्द्रीय सभा की सभा बुलाये, उसी प्रकार कोई भी तीन सचालक गवर्नर से सभा बुलाने के लिए निवेदन कर सकते है।

आन्तरिक सगठन एव व्यवस्था[1]—केन्द्रीय सचालक सभा का सभापति तथा बैंक का प्रमुख अधिकारी गवर्नर है जिसकी अनुपस्थिति में उसके द्वारा मनोनीत उप गवर्नर कार्य करता है। गवर्नर बैंक के सम्पूर्ण अधिकारों का उपयोग करता

[1] *Reserve Bank of India Functions & Working*, 1958 ed , p 5

है परन्तु उसको केन्द्रीय सभा के निर्देशो का पालन करना पडता है। गवर्नर की सहायता के लिए तीन उप गवर्नर है जो पृथक् कार्यो के लिए जिम्मेदार हैं। गवर्नर तथा उप गवर्नर अधिकतम ५ वर्ष के लिए (अथवा जिस अवधि के लिए सरकार नियुक्त करे) नियुक्त होते है जिसके बाद उनकी पुन नियुक्त हो सकती है।

बैंक का केन्द्रीय कार्यालय बम्बई मे है। देश के विभिन्न भागो मे सन्तोष जनक रीति से काय करने की सुविधा के लिए इसके स्थानीय कार्यालय शाखाएँ बगलोर, बम्बई, कलकत्ता, कानपुर मद्रास नागपुर तथा नई दिल्ली मे है। अन्य स्थानो पर इसका प्रतिनिधित्व स्टट बैंक आँफ इण्डिया स्टेट बैंक आँफ हैदराबाद बैंक आँफ मैसूर करत हैं। इसके सिवा रिजर्व बैंक के बैंकिंग विभाग की एक शाखा लदन म है।

राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से रिजर्व बैंक किसी भी स्थान पर अपनी शाखा खोल सकता है।

रिजर्व बैंक का कार्य **आठ विभागों** म विभाजित है—

१ **चलन विभाग**—इसका प्रमुख काय पत्रमुद्रा चलाना है। यह विभाग पत्रमुद्राओं का प्रधान अथवा गौण मुद्राओ मे परिवर्तन भी करता है। सर्व प्रथम इसी विभाग ने काय करना आरम्भ किया जिससे सरकारी चलन की व्यवस्था का भार इस मिला। इसी प्रकार इसे स्वर्ण निधि का हस्तान्तरण भी भी हुआ जो आजकल चलन विभाग की सम्पत्ति म है।[1]

२ **बैंकिंग विभाग**—यह १ जुलाई १९३५ को खोला गया। इसी तिथि से सूचीबद्ध बैंको न अपनी माँग एव समय देनदारी का वैधानिक अनुपात ५% तथा २% इसम निक्षेप म रखना आरम्भ किया। **इसी दिन से समाशोधन-गृहों का कार्य भी इम्पीरियल बैंक से इसको मिला।** इसके अतिरिक्त सरकारी व्यवहारो का लेन-देन, सरकार की ओर से राशि-स्थानान्तरण करना, एव सरकार का राशि स्थानान्तरण की सुविधाएँ तथा अन्य आर्थिक सहायता देने का काय यह विभाग करता है।

३ **कृषि-साख विभाग**—यह विभाग केन्द्रीय एव राज्य सरकारो तथा सहकारी सस्थाओ को कृषि-साख सम्बन्धी सुविधाएँ देने के लिए खोला गया है।

1 "The main functions of the Bank is to regulate the issue of bank-notes and the keeping of reserves with a *view to secur ing* monetary stability in India and generally to operate the currency and credit-system of the country to its advan tage"—*Ibid*, p 7

इसमें कृषि-साख के विशेषज्ञ कार्य करते हैं तथा बैंकों राज्य सरकारों तथा सहकारी संस्थाओं को आवश्यक सलाह देते हैं।

४ **सांख्यिकी एवं खोज विभाग** इसका कार्य मुद्रा, कृषि, उत्पादन, व्यापार आदि विभिन्न विषयों सम्बन्धी अनुसंधान करना तथा उनके आँकड़े प्रकाशित करना है।

५ **विनिमय नियंत्रण विभाग**—विदेशी विनिमय-दर स्थिर रखने के लिए विदेशी विनिमय का निश्चित दरों पर क्रय-विक्रय करने का कार्य यह विभाग करता है। द्वितीय महायुद्ध-काल में यह विभाग स्वतन्त्र रूप से खोला गया था जिससे विदेशी विनिमय क्रियाओं पर देशहित में नियंत्रण रखा जा सके।

६ **बैंकिंग क्रियाएँ-विभाग**—यह विभाग १९४९ में बैंकिंग अधिनियम पास होने पर बनाया गया। १९४९ के बैंकिंग अधिनियम में रिजर्व बैंक को जो अधिकार मिले हैं उनका उपयोग करने एवं देश की बैंकिंग पद्धति का समुचित नियन्त्रण करने का कार्य यह विभाग करता है।

७ **बैंकिंग विकास विभाग**—ग्रामीण बैंकिंग की समस्याओं का अध्ययन करने एवं ग्रामीण बैंकिंग का विकास करने के लिए १९५० में यह विभाग खोला गया।

८ **औद्योगिक वित्त विभाग**—एक ओर औद्योगीकरण की आवश्यकता तथा दूसरी ओर देशी पूँजी बाजार में पर्याप्त सुविधाओं के अभाव के कारण रिजर्व बैंक को अपनी क्रियाओं का विस्तार करना पड़ा जिससे औद्योगिक क्षेत्र की मध्यकालीन एवं दीर्घकालीन साख आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। इस हेतु आवश्यक संस्थाओं की स्थापना तथा सामंजस्य रखने तथा उनको सलाह देने का कार्य यह विभाग करता है।

रिजर्व बैंक के कार्य

कुछ कार्य ऐसे हैं जो रिजर्व बैंक विधान की धारा १७ वी के अनुसार करना है तथा कुछ कार्य देश का केन्द्रीय बैंक होने के नाते करता है। अतः रिजर्व बैंक के ये कार्य दो भागों में बाँटे जा सकते हैं—

(अ) केन्द्रीय बैंकिंग कार्य, तथा (ब) सामान्य बैंकिंग कार्य।

(अ) **केन्द्रीय बैंकिंग कार्य**—१ **पत्र मुद्रा चलन**—देश की साख एवं मुद्रा का नियन्त्रण करने के लिए इसे अन्य केन्द्रीय बैंकों की भाँति पत्र-मुद्रा-चलन का एकाधिकार है (धारा २२)। यह कार्य पत्र-चलन-विभाग करता है जो बैंकिंग विभाग से अलग है। इसका स्थिति-विवरण बैंकिंग विभाग से अलग बनाया

जाता है जो साप्ताहिक प्रकाशित होता है। चलन विभाग की सम्पत्ति स्वर्ण मुद्रा, स्वर्ण अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के सदस्य देशों की प्रतिभूतियाँ, रुपये के सिक्के तथा रुपये की प्रतिभूतियो मे रखी जाती है। इसे पत्र-मुद्रा-कोष कहते हैं, जो धारा ३३ के अनुसार रिजर्व बैंक के चलन विभाग मे होना अनिवार्य है। मूल अधिनियम के अनुसार कुल नोट चलन का ४०% भाग स्वर्ण मुद्राएँ तथा विदेशी प्रतिभूतियो मे होना अनिवार्य था, परन्तु किसी भी दशा मे स्वर्ण एव स्वर्ण मुद्राएँ दोनो मिलाकर ४० करोड रु० से कम मूल्य की नही होनी चाहिए थी। शेष ६०% भाग रुपय मे, सरकारी प्रतिभूतियाँ, ट्रेजरी बिल तथा देश मे भुगतान होने वाले ऐसे विनिमय बिला एव प्रतिज्ञापत्रो मे रखा जाता था जिन्हे रिजर्व बैंक खरीद सकता था। स्वर्ण का मूल्याकन ८ ४७५१२ ग्रेन प्रति रुपया अथवा २१ २४ रु० प्रति तोले की दर मे होना था। यह पद्धति २० वर्ष तक चालू रही जो भूतकालीन अवशेष था। केन्द्रीय बैंकिग को युद्धकालीन एव युद्धोत्तरकालीन प्रवृत्ति नोट चलन से विदेशी कोषो को असम्बद्ध करने की रही। क्योकि यह मान्य हो चुका है कि विदेशी कोष भुगतान सतुलन की प्रतिकूलता के निवारण के हेतु ही रखे जाते है। अत विकास योजनाओ के अन्तर्गत भारत मे जो तीव्र गति से होने वाली आर्थिक प्रगति एव अर्थव्यवस्था के मौद्रिक क्षेत्र के विस्तार के कारण चलन के अधिक विस्तार की आवश्यकता थी। इसलिए ६-१० १९५६ के सशोधन से भारत मे अनुपातिक निधि पद्धति के स्थान पर न्यूनतम काप पद्धति अपनाई गई। इस पद्धति के अनुसार रिजर्व बैंक के नोट चलन विभाग मे ४०० करोड रु० की विदेशी प्रतिभूतियाँ तथा ११५ करोड रु० का स्वर्ण एव स्वर्णमुद्राएँ अथवा दोनो मिलाकर ५१५ करोड रु० का कोष रखना अनिवार्य हो गया। इस हेतु स्वर्ण का मूल्याकन २ ८८ ग्रेन प्रति रुपया अथवा ६२ ५० रु० प्रति तोले की दर से किया गया। फलस्वरूप नोट चलन विभाग के स्वर्ण का (७१ लाख औंस) मूल्य ४०'०२ करोड रु० से ११७ ७६ करोड रुपये हो गया। ३१ अक्तूबर १९५७ को इसमे पुन सशोधन किया गया। इसके अनुसार रिजर्व बैंक के चलन विभाग म स्वर्ण, स्वर्णमुद्राएँ एव विदेशी प्रतिभूतिया का कुल मूल्य किसी भी समय २०० करोड रु० से कम नही होना चाहिए तथा इसमे स्वर्ण एव स्वर्णमुद्राएँ न्यूनतम ११५ करोड रु० की होना चाहिए। अर्थात् रिजर्व बैंक के नोट चलन विभाग मे ११५ करोड रु० का स्वर्ण एव स्वर्णमुद्राएँ तथा ८५ करोड रु० की विदेशी प्रतिभूतिया रहना अनिवार्य है। परन्तु किसी भी समय केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति से विदेशी प्रतिभूतियो को धारने (holdings) सम्बन्धी शर्त से मुक्त हो सकता है। अर्थात् नोट चलन

विभाग में केवल ११५ करोड रु० स्वर्ण रखना होगा। इसमे नोट-चलन-पद्धति मे लोच आगई है।

रिजर्व बैंक को २ ५, १०, ५०, १००, १०००, ५००० तथा १०,००० रु० की पत्र-मुद्राएँ चलाने का अधिकार (धारा २४) है। सन १९४६ मे १००० तथा १०००० की पत्र-मुद्राएँ बन्द कर दी गई है। रिजर्व बैंक अधिनियम की इस धारा मे सशोधन हो गया है जिससे रिजर्व बैंक को ५००० रु० की पत्र-मुद्रा चलाने का अधिकार मिल गया है। इसी प्रकार १९४६ म बडी राशि की पत्र-मुद्राएँ बन्द कर दी गई थी, उन राशियो की पत्र-मुद्राएँ चलाने का अधिकार रहेगा।

१९३८ मे रिजर्व बैंक न अपनी पत्र-मुद्राएँ चलाई। इससे पहले केन्द्रीय सरकार की पत्र मुद्राएँ एक विशेष समझौते के अनुसार चलन मे थी।

रिजर्व बैंक के चलन-विभाग की सम्पत्ति मे निम्न विदेशी प्रतिभूतियो का समावेश है—

१ वे प्रतिभूतियाँ जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सदस्य देशो की केन्द्रीय बैंक द्वारा चलन विभाग की सम्पत्ति की जमानत पर चालू की गई हो अथवा उस देश के किसी अन्य बैंक द्वारा चालू की गई हो।

२ व बिल जिनका भुगतान अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सभासद देशो मे होने वाला हो, जिन पर दो अच्छे हस्ताक्षर हो तथा उनकी पक्व तिथि ९० दिन के अन्दर हो।

३ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सभासद देशो की सरकार द्वारा चालू प्रतिभूतियाँ जिनकी अवधि ५ वर्ष हो।

२. बैंकों का बैंकर—(क) देश की बैंकिंग पद्धति का नियमन करने का उत्तरदायित्व रिजर्व बैंक पर है। रिजर्व बैंक के पास सूची-बद्ध बैंको को अपनी कुल माँग देनदारी का ५% तथा समय-देनदारी का २% रखना पडता है। बैंकिंग अधिनियम के अनुसार प्रत्येक बैंक को, जो सूचीबद्ध बैंक नही है अपने पास अथवा रिजर्व बैंक के पास इस प्रकार नगद कोष रखना अनिवार्य है (धारा १८)। सकट काल मे यह राशि रिजर्व बैंक स्वतन्त्रता पूर्वक अन्य बैंको की सहायता या ऋण देने के लिए उपयोग कर सकता है। अर्थात जिस प्रकार व्यापारिक बैंक जनता मे निक्षेप लेकर उनको ऋण आदि देते हैं, उसी प्रकार रिजर्व बैंक अन्य बैंकों से उक्त निक्षेप लेकर उन्हे सकट-काल मे ऋण आदि देकर सहायता करता है। रिजर्व बैंक का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उन सब बैंको से रहता है जिनकी पूँजी तथा निधि मिलाकर ५ लाख रुपये से अधिक है तथा जिनका समावेश रिजर्व बैंक

की दूसरी सूची मे है। ऐसे बैंकों को सूची बद्ध बैंक कहते हैं। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक का बैंकिंग एक्ट के अनुसार जो अधिकार मिले हैं, उनका भी वह उपयोग करता है।

इन बैंकों को सकट-काल मे रिजर्व बैंक से सहायता मिलती रहती है जिससे देश को बैंकिंग सकट से बचाकर देश की बैंकिंग व्यवस्था को सगठित एव नियमित किया जा सकता है।

(ख) इन निक्षेपों का उपयोग रिजर्व बैंक को साख नियन्त्रण करने मे सहायक होता है, जिससे आवश्यकता पडने पर वैधानिक अनुपात मे परिवर्तन कर साख को घटाया अथवा बढाया जा सकता है। यह अधिकार रिजर्व बैंक को हाल ही मे मिला है।

(ग) इसी प्रकार साख का नियन्त्रण खुले बाजार की क्रियाओं तथा बैंक-दर एव अन्य मार्गों से भी किया जाता है।

३. **विनिमय-दर सम्बन्धी उत्तरदायित्व**—रिजर्व बैंक की यह जिम्मेदारी है कि वह रुपये के विदेशी मूल्य म स्थिरता रखे। इसलिए निश्चित दरो पर विदेशी विनिमय *का क्रय विक्रय करने* का भार इस पर है (धारा ४०)। मूलत इस पर स्टर्लिङ्ग का बचन एव खरीदने की जिम्मेदारी थी जिसकी दर १ शि० ५$\frac{४९}{६४}$ पेस या १ शि० ६$\frac{३}{१६}$ पस म अधिक या कम नही होना चाहिए। परन्तु १९४७ म भारत अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष का सभासद होने से इसमे आवश्यक परिवर्तन कर दिया है। अब रिजर्व बैंक विदेशी विनिमय का क्रय विक्रय अधिकृत व्यक्तियो का ऐसी दरो पर कर सकता है, जो सरकार अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष के साथ निश्चित करे। इस प्रकार का क्रय विक्रय १ लाख रुपये से कम का नही होगा तथा उन्ही व्यक्तियो से य व्यवहार हो सकते हैं जिन्हे *विदेशी विनिमय नियन्त्रण अधिनियम, १९४७ के अनुसार विदेशी विनिमय* के क्रय विक्रय का अधिकार है। रिजर्व बैंक अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष की निर्धारित दरो पर कोष के सभी सदस्य देशो की मुद्राओं का क्रय विक्रय अधिकृत व्यक्तियो को कर सकता है। इस प्रकार विदेशी मुद्राओं का क्रय विक्रय बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तथा दिल्ली के कार्यालयो मे होता है।

४ *सरकार का बैंकर*—*धारा २० के अनुसार* रिजर्व बैंक केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो के निक्षेप स्वीकार करता है तथा उनके लेखे पर, उनकी जमा राशि तक भुगतान कर सकता है। इसी प्रकार उनके विदेशी विनिमय व्यवहार, राशि-स्थानान्तरण एव जन ऋण का प्रबन्ध तथा अन्य क्रियाएँ

करने का उत्तरदायित्व रिजर्व बैंक पर है। यह बैंक सरकारी कोष की व्यवस्था भी करता है।

सरकारी निक्षेप पर रिजर्व बैंक किसी भी प्रकार का ब्याज नहीं देता। सरकार को मौद्रिक एवं आर्थिक नीति सम्बन्धी सलाह समय-समय पर देता रहता है। रिजर्व बैंक सरकारी कार्य बिल जन ऋण आदि अन्य ऋण एवं विनियोग पत्रों के चालन व अधिकृत अभिकर्ता का कार्य भी करता है। रिजर्व बैंक केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों को अल्पकालीन ऋण देने का कार्य भी करता है।

५ अन्य केन्द्रीय बैंकिंग कार्य—रिजर्व बैंक देश का शीर्ष (apex) बैंक होने से अन्य केन्द्रीय बैंकिंग कार्य भी करता है जिनमें विभिन्न प्रकार के चलन की पूर्ति राशि स्थानान्तरण की सुविधाएं देना समाशोधन गृहों का प्रबन्ध आर्थिक मामलों पर सलाह देना तथा बैंकिंग सम्बन्धी आंकड़े (statistics) एकत्रित एवं प्रकाशित करने का कार्य करता है।[1] सरकारी कोषों का एकमात्र प्रबन्धक तथा अभिकर्ता होने के कारण देश के अन्य बैंकों एवं जनता को राशि स्थानान्तरण की सुविधाएं यह दे सकता है। धारा ५८ के अन्तर्गत समाशोधन गृहों का प्रबन्ध भी यह करता है। इसके अतिरिक्त यह देश की सरकार को तथा देश के बैंकों को आर्थिक एवं बैंकिंग सम्बन्धी सलाह समय-समय पर देता रहता है। देश की बैंकिंग स्थिति की तालिकाएं आदि सरकार को भेजने का एवं उनके प्रकाशन का दायित्व भी विधान की धारा ५ ५ (२) तथा ४२ के अनुसार रिजर्व बैंक पर है जिससे जनता को भी देश की आर्थिक एवं बैंकिंग स्थिति की जानकारी हो सके।

(ब) सामान्य बैंकिंग कार्य—केन्द्रीय बैंकिंग कार्यों के अतिरिक्त रिजर्व बैंक निम्न क्रियाएं करता है जिनका उल्लेख विधान की १७ वीं धारा में किया गया है —

(१) केन्द्र राज्य तथा स्थानीय सरकारों से बैंकों से तथा अन्य व्यक्तियों से बिना ब्याज के निक्षेप स्वीकार करना तथा बिना ब्याज के निक्षेप-लेख खोलना।

( ) (अ व्यापारिक एवं वाणिज्य व्यवहारों के बिलों एवं प्रतिज्ञा-पत्रों का क्रय विक्रय एवं कटौती करना। ये बिल ९० दिन की अवधि से अधिक के न

---

[1] *Function and Working of the Reserve Bank of India* by J B Taylor pp 11 13

हो तथा उन पर दो अन्य अच्छे हस्ताक्षर हो, जिनमे से एक हस्ताक्षर किसी सूची-बद्ध बैंक का हो।

(ब) कृषि-कार्यों तथा फसल को बेचने के हेतु जिन बिलों अथवा प्रतिज्ञा-पत्रों को लिखा गया हो, ऐसे बिलो का क्रय-विक्रय तथा कटौती करना। ऐसे बिलो तथा प्रतिज्ञा-पत्रों का भुगतान भारत मे हो, १५ महीने की अवधि के हों तथा इन पर दो अच्छे हस्ताक्षर हो, जिनमें मे एक हस्ताक्षर सूची-बद्ध अथवा *राज्य सहकारी बैंक के हो।*

(स) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सभासद देशो मे भुगतान होने वाले ९० दिन अवधि के बिलों का क्रय-विक्रय तथा कटौती केवल सूची-बद्ध बैंकों के साथ ही कर सकता है।

(द) केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करना। *इसमें अवधि सम्बन्धी शर्त नहीं है।*

(य) किसी भी विदेशी सरकार की प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करना, जिसकी अवधि १० वर्ष से अधिक न हो।

(३) स्वर्ण मुद्रा, स्वर्ण तथा विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करना एवं सूची-बद्ध बैंकों को विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करना, जिनका न्यूनतम *मूल्य १,०० ००० रुपया हो।*

(४) (अ) केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों का अधिकतम ९० दिन के लिए ऋण देना।

(ब) सूची-बद्ध एवं राज्य सहकारी बैंकों एवं स्थानीय सरकारों को मान्य प्रतिभूतियों की जमानत पर ९० दिन के लिए ऋण अथवा अग्रिम देना। इस *प्रकार के ऋण माँग पर अथवा किसी निश्चित अवधि के बाद* भुगतान होने वाले हों परन्तु इनकी अवधि ९० दिन से अधिक न हो।

(५) धन, प्रतिभूतियों, आभूषण आदि सुरक्षा के लिए स्वीकृत करना, एवं ऐसी सुरक्षा के लिए प्राप्त प्रतिभूतियों के ब्याज अथवा लाभांश का संग्रहण करना।

(६) ऐसी *किसी भी चल अथवा अचल सम्पत्ति का*, जो बैंक के अधिकार मे ऋणों के भुगतान स्वरूप आई हो, विक्रय करना और मूल्य वसूल करना।

(७) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य देशो के केन्द्रीय बैंक म लेखा खोलना, अभिकर्तृत्व (agency) समझौता करना एवं अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के साथ लेन-देन करना।

(८) अपने व्यापारिक कार्यों की आवश्यकता के लिए देश के किसी भी

सूची-बद्ध बैंक अथवा किसी भी अन्य देश के केन्द्रीय बैंक से अधिकतम १ मास के लिए ऋण लेना। इन ऋणों की राशि बैंक की पूँजी से अधिक नहीं होनी चाहिए। इसलिए रिजर्व बैंक अपनी सम्पत्ति रहन रख सकता है।

(६) स्थानीय, राज्य एवं केन्द्रीय सरकार के अभिकर्ता का कार्य करना तथा उनकी ओर से स्वर्ण, बिल, चाँदी एवं प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय करना, प्रतिभूतियों तथा अंशों का ब्याज अथवा लाभांश एकत्र करना, जन ऋण चालू करना तथा अन्य कार्य करना जो बैंकिंग अधिनियम १९४९ तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के अनुसार वह कर सकता है।

(१०) अपने कार्यालयों पर तथा अभिकर्ताओं द्वारा भुगतान होने वाले माँग विकर्षों (demand drafts) का निर्गमन करना।

(११) मुद्रा तथा बैंकिंग सम्बन्धी अनुसन्धान एवं आँकड़ों का संग्रह करना तथा उन्हें प्रकाशित करना।

रिजर्व बैंक के निषिद्ध कार्य

(१) किसी व्यापार का करना अथवा किसी व्यवसाय अथवा उद्योग में विशेष रुचि रखना अथवा भाग लेना।

(२) किसी भी बैंक अथवा कम्पनी के अंश खरीदना अथवा उनकी जमानत पर ऋण देना।

(३) अचल सम्पत्ति की रहन पर ऋण देना अथवा अपने कार्यालयों के लिए आवश्यक सम्पत्ति को छोड़कर किसी प्रकार की अचल सम्पत्ति खरीदना।

(४) १७ वीं धारा के (जो ऊपर बताये गये हैं) अतिरिक्त अन्य किसी भी स्थिति में ऋण अथवा अग्रिम देना।

(५) निक्षेप तथा चल-लेखा पर ब्याज देना।

(६) माँग पर भुगतान होने वाले बिलों के सिवा अन्य बिलों को लिखना अथवा स्वीकार करना।

रिजर्व बैंक द्वारा साख-नियन्त्रण

रिजर्व बैंक देश हित के लिए मुद्रा एवं साख का समुचित नियन्त्रण कर सके इसलिए सूची-बद्ध बैंकों को उनके पास अपने माँग एवं समय-देनदारी के ५% एवं २% रोकड़ निधि रखनी पड़ती है। इसी प्रकार असूची बद्ध बैंकों को बैंकिंग अधिनियम के अनुसार अपने पास अथवा रिजर्व बैंक के पास इसी प्रकार रोकड़ निधि रखना अनिवार्य है। इसी के साथ मान्य बिलों की कटौती क्रय एवं पुनः कटौती सम्बन्धी अपनी बैंक-दर समय-समय पर प्रकाशित करता है।

तथा इस दर से मुद्रा-मण्डी की ब्याज-दरों का भी नियमन होता है। रिजर्व बैंक साख एवं मुद्रा का नियन्त्रण रिजर्व बैंक अधिनियम तथा बैंकिंग अधिनियम के अन्तर्गत करता है। पहिले के अनुसार रिजर्व बैंक को अन्य केन्द्रीय बैंकों की भाँति सामान्य अधिकार हैं जो दूसरे के अनुसार व्यापारिक बैंकों की क्रियाओं के प्रत्यक्ष नियमन के लिए विशेष अधिकार हैं।

बैंक दर—साख नियन्त्रण के लिए बैंक-दर का मार्ग सबसे प्रथम इस देश में इम्पीरियल बैंक द्वारा ही अपनाया गया था। परन्तु इम्पीरियल बैंक की संयुक्त स्कन्ध बैंकों के साथ प्रतियोगिता होने तथा भारतीय मुद्रा-मण्डी के विभिन्न अंगों में परस्पर असहयोग, प्रतियोगिता तथा असंगठन के कारण साख-नियन्त्रण में बैंक-दर अप्रभावी रही। दूसरे, इस दर के अप्रभावी रहने का कारण यह था कि इम्पीरियल बैंक अपने लाभ की दृष्टि से इस दर का अधिक उपयोग करता है। तीसरे विनिमय बैंकों का अन्य देशों की मुद्रा-*मण्डियों में प्रत्यक्ष सम्बन्ध होने के कारण वे अपनी मौद्रिक आवश्यकताओं की* पूर्ति विदेशी बाजारों से कर लेते थे तथा इम्पीरियल बैंक पर कम निर्भर थे। चौथे, मुद्रा एवं साख-नियन्त्रण का उत्तरदायित्व विभाजित था अर्थात् सरकार मुद्रा का नियन्त्रण करती थी और साख का नियन्त्रण इम्पीरियल बैंक।

किन्तु रिजर्व बैंक की स्थापना होने से यह दुहरा नियन्त्रण अब नहीं रहा। फिर भी रिजर्व बैंक की बैंक-दर प्रभावी रूप से काम नहीं कर सकती। क्योंकि किसी भी केन्द्रीय बैंक की साख-नियन्त्रण शक्ति दो बातों पर निर्भर रहती है—(१) माँग करने वाले अपनी आवश्यकताओं के लिए बैंकों पर कहाँ तक निर्भर हैं, तथा (२) बैंक केन्द्रीय बैंक एवं अपने निजी साधनों पर कहाँ तक निर्भर हैं। परन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं, यहाँ बैंकों को रिजर्व बैंक के पास जो वैधानिक रक्षित निधि रखनी पड़ती है वह भारतीय आर्थिक परिस्थिति के अनुसार बहुत कम है। इससे साख-निर्माण के लिए अधिकतर बैंक अपने निजी साधनों पर ही निर्भर रहते हैं। तथा इसकी स्थापना के बाद अभी तक ऐसा प्रसंग भी नहीं आया कि इसकी साख-नियन्त्रण की परीक्षा हो सके। बाजार *की स्थिति अच्छी रहने के कारण बैंक इसके पास अपनी आवश्यकता की* पूर्ति के लिए भी बहुत कम आये। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि रिजर्व बैंक की स्थापना से मुद्रा-मण्डी में मौसमी मुद्रा की दुर्लभता के समय ब्याज-दर में जो परिवर्तन होते थे, वे नहीं हुए तथा बैंक-दर भी एक-सी रही—जो इस का प्रमाण है कि मुद्रा-मण्डी पर रिजर्व बैंक का प्रभाव रहा।

रिजर्व बैंक द्वारा बैंक दर में वृद्धि

रिजर्व बैंक ने १८ नवम्बर १९५१ को बैंक दर ३% से ३½% कर दी जिससे द्वितीय विश्व युद्ध काल में जो सुलभ मुद्रानीति अपनाई गई थी उसका अन्त हो गया। रिजर्व बैंक की स्थापना से १६ वर्ष में बैंक दर में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ था। द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने ही सभी देशों के आर्थिक-कलेवर में परिवर्तन हो गये थे फिर भी वहाँ के बैंक-अधिकारियों की इच्छा सुलभ मुद्रानीति बनाये रखने की हो थी जिससे न भारत और न इगलैण्ड पीछे रहा। सुलभ मुद्रानीति से सरकारी ऋण लेने में सुविधा रहती है दूसरे युद्धोपरान्त आने वाली मन्दी एवं बेकारी की समस्या का निवारण इससे हो सकता था तथा तीसरे युद्ध ध्वस्त राष्ट्रों के आर्थिक विकास एवं पुनर्निमाण की योजनाओं को पूरा करने में सहायक होती। ये तो इस नीति से लाभ थे परन्तु इसका दूसरा पहलू भी था। सुलभ मुद्रानीति से राष्ट्र की पूंजी निमाण शक्ति बीमा-व्यवसाय आदि पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

बैंक दर मे वृद्धि क्यों —(१) **विदेशी पूंजी प्राप्त करना**—भारत के लिए इस समय औद्योगीकरण एवं पंचवर्षीय योजनाओं को पूरा करने के लिए धन की आवश्यकता तो थी ही। अतएव यह अधिक पूंजी देश की पूंजी निमाण शक्ति बढ़ाकर तथा कुछ विदेशों से प्राप्त करना था। विदेशी पूंजी भारत में आ सके इस लिए विदेशियों को ऊंचे ब्याज दर का प्रलोभन देना आवश्यक था।

(२) **मुद्रास्फीति की रोकथाम**—भारत में मुद्रास्फीति की तीव्रता के कारण जनता त्राहि त्राहि कर रही थी जिससे अन्य उपायों के होते हुए भी कुछ अन्तर नहीं पड़ा था।

(३) **व्यापार सन्तुलन की प्रतिकूलता का निवारण**—१९५१ में विदेशी व्यापार सन्तुलन में विषमता आ रही थी जिसका निवारण करना भी आवश्यक था।

(४) **साख-नियन्त्रण**—विगत वर्षों से बैंकों ने असीमित ऋण दिये थे तथा साख का प्रसार किया था जिसको देश हित के लिए नियन्त्रित करना आवश्यक था।

(५) **नये ऋण लेने के लिए**—सरकारी प्रतिभूतियों के भाव जो १९४९-५० में १०१.२% थे (१९२८ का औसत १००) वे अब इधर नीचे चल रहे थे। इस अवस्था में सरकार को बिना ब्याज-दर बढ़ाये नये ऋण लेना सम्भव न था।

(६) **अन्य देशों में बैंक दर वृद्धि**—विश्व के सभी देशों में मुद्रा मण्डी की यही अवस्था रही जिससे विश्व के उन्नत देशों में भी (जैसे कनाडा

स्वीडन अमरिका फ्रास इगलड आदि म) १९४९ स बक दर बढाई जान लगी। इन कारणा से विवश हाकर उनका दूर करने के लिए रिजव बक ने १४ नवम्बर १९५१ को ब्याज दर ३% स ३½% कर दी।

किन्तु यदि बक दर न बढाई जाती ता क्या होता ? हमका यह ध्यान म रखना होगा कि सुलभ मुद्रानीति सम्बन्धी श्री की म का सिद्धान्त पिछडे देशा म पूणत लागू नही हो सकता। क्याकि इन देशा म केन्द्राय बकिग प्रणाली पूणता पर नही पहुची है और न केन्द्रीय बैंक का मुद्रा मण्डिया पर पूण प्रभाव ह जिसम आर्थिक प्रभाव की व्यापकता नहा है। **दूसरे** पिछडे देशों म पूजी एव आर्थिक (financial) साधन अभी विघटित अवस्था म है। इसलिए इन देशों मे उन्नत एव उद्योग प्रधान देशा की तरह सुलभ मुद्रानीति का उपयाग उसी प्रकार अनिश्चित काल क लिए हाना सम्भव नही होता। इसलिए बक दर का बढाना आवश्यक हो गया। परन्तु यह दुलभ मुद्रानीति (dear money policy) यदि युद्धोत्तर काल म क्रमश अपनाई जाती ता व्यापारिक प्रतिभतिया के मूल्य गिर जात जिससे रक्षा करन के लिए युद्ध काल क असीमित लाभ का जो भाग उद्योगा न कोष म रखा था वह काफी हाता। **दूसरे** बक दर बढन स उद्योगों को जो निराशा का सामना करना पडा वह न करना पडता। कारण व उद्योगों म अधिक विनियोग नही करते। **तीसरे** युद्धोपरात मुद्रास्फीति को सुलभ मुद्रानाति से जो बल मिला वह न मिलता क्योकि व्यापारियों एव उद्योगपतिया के हाथ म पजी कम रहती। परन्तु इगलण्ड म बक दर बढन के साथ भारत मे रिजव बक की दर बढाई गई जिससे आम जनता की यही धारण हुई कि भारत इगलण्ड क कदमो पर ही चल रहा है जो वास्तव मे सही नही है। इस सम्बन्ध म श्री चिन्तामणि दशमुख ने पहल ही सूचना दे रखी थी। यह दर १६ मई १९५७ स ३½% से ४% की गई है।

(१) **बक दर वृद्धि की प्रतिक्रियाए**—बक-दर बढत हा तत्कालीन प्रतिक्रिया से दो विचारधाराए बन गइ। एक मत था कि बक दर के बढन से ब्याज क आम दर बढग जिसस उत्पादन व्यय व्यापारिक व्यय आदि बढ जायगे और इससे मुद्रास्फीति को बल मिलेगा। दूसरी विचारधारा क अनुसार बक दर बढने से साहूकार स्वदेशीय बक (indigenous) आदि अपनी ब्याज दर बढायगे जिसस कृषि-साख महगी होगी। इससे कृषि वस्तुओ का उत्पादन व्यय उनका स्थानान्तरण एव क्रय व्यय आदि बढगा जिससे निर्मित वस्तुओ का उत्पादन व्यय भी बढकर मुद्रा स्फीति का बल मिलेगा। य दोनों ही विचार धाराए अथशास्त्र क मान्य सिद्धान्त क विपरीत है क्योकि उत्पादन-व्यय मे

ब्याज दर का अनुपात नगण्य (insignificant) होता है जो वर्तमान स्थिति में $\frac{1}{2}$% से $\frac{3}{4}$% तक होगा। परन्तु केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा की पूर्ति का परिमाण कितना होगा इसको निश्चित करने में बैंक दर का महत्त्वपूर्ण योग होता है। कारण ऋण लेकर माल संग्रह करने वालों की ऋण लेने की शक्ति सीमित हो जाती है तथा उनका लाभ का अनुपात ब्याज दर बढ़ने से घट जाता है। लाभ का अनुपात घटने से वे ऋण लेकर माल संग्रह कम करते हैं तथा संग्रहीत माल को बेचते हैं। फलतः माल की गति बढ़ जाती है उसकी पूर्ति अधिक हो जाती है और कीमतें गिरने लगती हैं। यही बात मन्दी के विषय में होती है जिसमें ऋणी ऋण का भुगतान करते हैं तथा ऋण कम लेते हैं जिससे मुद्रा मण्डी में मुद्रा की पूर्ति भी घट जाती है। इसीलिए ऊँची बैंक दर अपस्फीति (dis inflation) का साधन माना जाती है। दूसरे सरकारी एवं अन्य प्रतिभूतियों के मूल्यों में बैंक-दर की वृद्धि में गिरावट आती है जिसमें बैंक आदि संस्थाएँ अपनी प्रतिभूतियों को बेचना नहीं चाहती जिससे साख एवं मुद्रा की पूर्ति कम हो जाती है। इस प्रकार बैंक दर की वृद्धि का प्रभाव अपस्फीति (dis inflationary) का होता है।

बैंक-दर में वृद्धि की प्रतिक्रिया बाजार में तुरन्त ही हुई। इसमें मुद्रा मण्डी में मुद्रा की पूर्ति कम हो गई ऋण लेना कम हुआ एवं लिये गये ऋण वापिस किये गये। इधर प्रतिभूतियों के मूल्य भी बाजार में गिरे जिससे बैंकों ने अपने ऋण एवं अपने जमानत का अन्तर (margin) कायम रखने के लिए ऋणियों से अधिक जमानत मांगना एवं ऋण का भुगतान लेना शुरू किया। फलतः बाजार में मन्दी आ गई तथा अनेक व्यापारियों की जिनकी आर्थिक स्थिति कमजोर थी अपने दरवाजे बन्द करने पड़े। दूसरे साख प्रदायक संस्थाएँ जो प्रतिभूतियों में अपना अधिक रुपया लगाते हैं उनकी प्रतिभूतियों के अवमूल्यन से रक्षा करने का प्रश्न उपस्थित हुआ। उनके लिए रिजर्व बैंक ने २४ दिसम्बर १६५१ को एक सूचना द्वारा प्रतिभूतियों के औसत मूल्य स्थिति विवरण में बनाने के लिए अनुमति दे दी। वास्तव में बैंक बीमा संस्थाओं आदि को इनके अवमूल्यन से हानि नहीं हुई क्योंकि ये प्रतिभूतियाँ बेचने की दृष्टि से नहीं खरीदते। परन्तु प्रतिभूतियाँ बेचने के लिए, जिन्होंने खरीदी थीं उनको इससे हानि हुई। वस्तुओं के मूल्य गिरने से सामान्य निर्देशांक भी गिरने लगे जिससे उपभोक्ताओं को भी लाभ हुआ।

बैंक दर को प्रभावी बनाने के लिए रिजर्व बैंक ने अपनी खुले बाजार की क्रियाओं सम्बन्धी नीति भी बदली। इस नीति के अनुसार रिजर्व बैंक मूल

बाजार म बैंको की सहायता के लिए प्रतिभूतियो का क्रय केवल विशेष परिस्थिति म करेगा। परन्तु इन प्रतिभूतियो की जमानत पर वह ३½% की दर स ऋण देगी। इस नीति म बैंको को अपना ऋण प्रदाय कम करना पडा। इसके साथ ही रिजर्व बैंक न विवेचक (selective) साख नियन्त्रण नीति अपनाई जिसम केवल व्यापारिक कार्यो के लिए ही ऋण दिय जाने लगे। सरकारी प्रतिभूतियो का अवमूल्यन सीमित रखने के लिए उनको बल देना आरम्भ किया। फलस्वरूप परम-प्रतिभूतियो (gilt edged security) म स्थिरता आ गई। इस प्रकार इस नई मुद्रा नीति के फलस्वरूप देश की बैंकिंग पद्धति पर रिजर्व बैंक का पर्याप्त नियन्त्रण हो गया है, जो देश के लिए हितकर है।

(२) **खुले बाजार की क्रियाएँ**—बैंक-दर को अधिक प्रभावी करने के लिए रिजर्व बैंक स्कन्ध विनिमय बाजार म मान्य प्रतिभूतियो का क्रय विक्रय कर सकता है। परन्तु उसकी यह क्रय विक्रय शक्ति भी सीमित है क्योंकि रिजर्व बैंक केवल मान्य प्रतिभूतियो एव बिलो का ही क्रय विक्रय कर सकता है। भारत म बिल बाजार का अभी विकास हो रहा है और फिर यहा पर ऐसे स्कन्ध विनिमय भी नही है जैसे अमेरिका, इङ्गलैण्ड आदि देशो म हैं। इससे इन क्रियाओ का मुद्रा मण्डी पर इतना अधिक प्रभाव नही पडता।

खुले बाजार की क्रियाओ द्वारा रिजर्व बैंक आवश्यकतानुसार मुद्रा एव साख का सकोच एव प्रसार कर सकता है। जब रिजर्व बैंक मुद्रा मण्डी म प्रतिभूतियो बेचेगा तब बाजार में जो अतिरिक्त क्रय शक्ति है वह रिजर्व बैंक के पास आ जाने म मुद्रा का सकुचन हो जायगा। और मुद्रा कम होने ही बैंको की साख निर्माण शक्ति भी कम हो जायगी। इसी प्रकार जब रिजर्व बैंक प्रतिभूतियो को खरीदेगा तो जनता एव बैंको के पास अधिक मुद्राएँ आयगी अर्थात् मुद्रा मण्डी म मुद्रा की अधिकता हो जायगी। इसम बैंको की साख निर्माण शक्ति भी बढेगी और साख की पूर्ति अधिक होगी। इस प्रकार रिजर्व बैंक इन क्रियाओ द्वारा साख का सकोच एव प्रसार करता है। साख के प्रसार एव सकोच का व्यापारिक स्थिति रोजगार एव उद्योग पर वही प्रभाव होता है जो बैंक दर द्वारा साख का नियमन (regulation) करने स होते हैं।

विशेषत आजकल जब बैंक दर प्रभावी रूप म इच्छित परिणाम नही देती, खुले बाजार की क्रियाओ द्वारा मुद्रा मण्डी पर नियन्त्रण किया जाता है जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण १५ नवम्बर १९५१ म रिजर्व बैंक के बैंक-दर एव खुले

बाजार की क्रियाओं की नीति के परिवर्तन का है जिससे उसने बाजार में मन्दी का वातावरण पैदा कर दिया।

(३) वैधानिक रोकड़ निधि में परिवर्तन —प्रत्येक सूची-बद्ध बैंक को रिजर्व बैंक के पास तथा अमूचीबद्ध बैंक को रिजर्व बैंक या अपने पास अपनी माँग देनदारी का ५% तथा समय देनदारी का २% रोकड़ निधि रखना अनिवार्य है। इस वैधानिक अनुपात में परिवर्तन करने का अधिकार रिजर्व बैंक को १९५६ के संशोधन से मिल गया है। इसके अन्तर्गत रिजर्व बैंक माँग देनदारी रोकड़ निधि में ५% से २०% तथा समय देनदारी में रोकड़ निधि में २% से ८% तक परिवर्तन कर सकता है। इस पद्धति को लोचदार बनाने के लिए रिजर्व बैंक को यह अधिकार भी है कि वह सूचीबद्ध बैंकों को उनके पास अतिरिक्त रोकड़ निधि रखने का आदेश दे यदि उनके माँग एवं समय निक्षेप एक प्रापित तिथि के निक्षेपों से अधिक हों। परन्तु किसी भी दशा में वैधानिक रोकड़ निधि माँग देनदारी के २०% तथा समय देनदारी के ८% से अधिक नहीं होना चाहिए। इस साधन का अभी तक उपयोग नहीं किया गया है।

इस नीति से रिजर्व बैंक आवश्यकतानुसार परिवर्तन करता है तथा ऐसे परिवर्तन नवम्बर १९६० एवं नवम्बर १९६३ में किये गये हैं।

(४) निर्वाचक (selective) एवं प्रत्यक्ष नियन्त्रण —उक्त साधन साख नियन्त्रण के मात्रात्मक अथवा सख्यात्मक साधन हैं जिनसे रिजर्व बैंक बैंक-साख की कुल मात्रा को नियन्त्रित करता है न कि आर्थिक क्रियाओं के विशेष क्षेत्रों को दी जाने वाली साख सुविधाओं को। जब विशेष हेतु अथवा आर्थिक क्रियाओं के विशेष क्षेत्र को दी जाने वाली साख सुविधाओं का नियन्त्रण होना है तब उसे निर्वाचक अथवा गुणात्मक (qualitative) साख नियन्त्रण कहते हैं। इसका हेतु वांछनीय आर्थिक क्रियाओं को प्रोत्साहन देना तथा अवांछनीय प्रवृत्तियों को निरुत्साहित करना है। ये साधन निम्न हैं —

(अ) बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम धारा २१ के अन्तर्गत बैंकों की ऋण नीति निर्धारित करना। इसके अनुसार रिजर्व बैंक सभी बैंकों की अथवा किसी बैंक विशेष की ऋण-नीति निर्धारित कर सकता है जो संविधान बैंकों को पालन करना होगा।

(आ) उक्त धारा के अन्तर्गत रिजर्व बैंक सभी बैंकों अथवा किसी बैंक विशेष को ऋण देने का हेतु ऋण एवं जमानत में अन्तर, ऋणों पर ब्याज की दर आदि सम्बन्धी आदेश दे सकता है जो संविधान बैंकों को मान्य करना होगा।

(इ) बैंकिग अधिनियम धारा २० के अनुसार रिजर्व बैंक किसी भी बैंक का अरक्षित ऋण दन स राक सकता है अथवा अन्य आवश्यक शत लगा सकता है।

(ई) बैंकिग अधिनियम, धारा ३५ (१) (a) क अनुसार रिजर्व बैंक सभी बैंका अथवा किसी बैंक विशेष को किसी विशेष सौदा का अथवा किसी विशेष श्रेणी के सौद करने पर राक लगा सकता ह तथा किसी बैंकिग कम्पनी का सलाह द सकता है।

(उ) **नैतिक प्रभाव**—रिजर्व बैंक दश की बैकिग सस्थाआ पर अपन प्रभाव स उनकी ऋणनीति म मार्गदशन कर सकता ह जिसम वह दशहित म हो। इसक अन्तगत रिजर्व बैंक का गवनर देश के प्रमुख बैंको के प्रतिनिधियो की सभा आयाजित कर उनकी ऋणनीति सम्बन्धी मार्गदशन करता है। इसका उपयोग अवमूल्यन क समय सितम्बर १९४९ म तथा जून १९५७ म किया गया था जिसम रिजर्व बैंक सफल रहा।

इसके सिवा रिजर्व बैंक का बैंकिग अधिनियम के अन्तगत लाइसस देने, निरस्त करने बैंका का परीक्षण करन आदि के असीमित अधिकार थ जिसम रिजर्व बैंक की धाक बैंको पर अच्छी जम गई है। इसस व रिजर्व बैंक की नीति क विरुद्ध काय नही कर सकते।

रिजर्व बैंक का कृषि-साख विभाग

कार्य—(१) कृषि साख सम्बन्धी समस्याओ क अध्ययन क लिए कृषि-साख विशेषज्ञ रखना तथा समय-समय पर केन्द्र तथा राज्य सरकारा एव राज्य सहकारी बैंको का तथा अन्य बैंकिग सस्थाओ को सलाह देना तथा उनका मार्ग दशन करना।

(२) अपनी क्रियाआ का कृषि साख स सम्बन्धित रखना तथा उन क्रियाओ द्वारा राज्य सहकारी बैंको तथा कृषि सम्बन्धित अन्य बैंका एव सस्थाओ को सगठित करना एव सामजस्य रखना।

हमारे देश का सबस बडा एव महत्त्वपूण व्यवसाय कृषि होते हुए भी रिजर्व बैंक कृषि-साख सुविधाएँ देने मे किसी प्रकार की प्रत्यक्ष सहायता नही कर सकता। यह सहायता वह केवल राज्य सहकारी बैंको एव सूची बद्ध बैंका के माध्यम स ही दे सकता है। इसी प्रकार कृषि साख का क्षत्र भी सीमित है क्योकि यह केवल उन्ही कृषि बिला की कटौती अथवा क्रय कर सकता है जो मौसमी साख की पूर्ति के लिए अथवा फसल को बेचने के लिए लिखे गये हो तथा जिनकी अवधि १५ मास से अधिक न हो। इन शर्तों के कारण रिजर्व बैंक

कृषि को पर्याप्त साख-सुविधाएँ देने मे तथा उन्हे महाजनो के चंगुल मे छुड़ाने मे सफल नही हो सका है।

रिजर्व बैंक का कृषि-विभाग तीन उप-विभागो म विभाजित है —

(अ) कृषि-साख उप-विभाग—ग्रामीण साख समस्याओ का (विशेषत सहकारी आन्दोलन) अध्ययन करता है तथा ग्रामीण ऋणग्रस्तता के सम्बन्ध मे विधान का अध्ययन करता है।

(ब) बैंकिंग विभाग—इस विभाग के अधिकारी सहकारी आन्दोलन के सम्पर्क मे रह कर तथा भारत के विभिन्न भागो म सहकारी आन्दोलन की विशेषताओं की कार्य-प्रणाली का उन स्थानो पर जाकर अध्ययन एव अनुसन्धान करते है। इस अध्ययन एव अनुसन्धान का परिणाम प्रकाशित करते है।

(स) आँकडा तथा अनुसधान—इस विभाग के अधिकारी अपनी सेवाएँ राज्य तथा केन्द्रीय सरकारो को, सहकारी बैंको को तथा कृषि-साख सुविधा देने वाले अन्य बैंको को देते है, यदि वे इस विभाग म कृषि-साख सम्बन्धी सम्मति ले।

इस प्रकार इस विभाग ने कृषि-साख समस्याओ सम्बन्धी अधिक अनुसन्धान किया तथा अन्य देशो से भी इस विषय की आवश्यक सामग्री एकत्रित की है। इसने समय-समय पर प्रकाशित होने वाली रिपोर्टों मे सरकार के सामने कृषि-साख-सुविधाएँ देने के लिए स्वदेशीय बैंकरो के नियन्त्रण तथा सहकारिता आन्दोलन के पुनर्गठन सम्बन्धी अनेक सुझाव भी रखे। वर्तमान दशा मे स्वदेशीय साहूकार तथा महाजन ही ९० प्रतिशत कृषि-साख की पूर्ति करते हैं परन्तु अभी तक ये रिजर्व बैंक के नियन्त्रण मे नही आ सके है। इसी प्रकार जैसा कि हम अभी देख चुके है, रिजर्व बैंक के हाथ कटे हुए होने के कारण वह कृषि-साख की पूर्ति प्रत्यक्ष नही कर सकता।

इस सम्बन्ध म रिजर्व बैंक ने स्वदेशीय बैंकरो तथा सहकारी बैंको द्वारा कृषि-साख सुविधाएँ पहुँचाने का प्रयत्न किया, परन्तु कोई परिणाम न निकला। रिजर्व बैंक ने १८ मई १९३८ को सहकारी बैंको की मार्फत कृषि-साख की सुविधाएँ देने के लिए कार्य-क्रम एव पद्धति बनाई, जिससे राज्य सहकारी बैंको को रिजर्व बैंक से कृषि-साख सम्बन्धी अधिक सुविधाएँ मिल सकती थी। परन्तु इस योजना से राज्य सहकारी बैंको ने पूरा लाभ नहीं उठाया। इसी वर्ष जनवरी मे महाजनो के माध्यम से कृषि-साख सुविधाएँ देने की भी एक योजना बनाई गई थी, जिसके अनुसार कृषि-उपज की जमानत पर लिखे गये बिलो की कटौती सूची-बद्ध बैंको से २% की दर से करने की सुविधाएँ दी जाने वाली थी तथा इस सुविधा के अनुसार स्वदेशीय बैंकर एव महाजन किसानो से ४%

मे अधिक व्याज नही ले सकते थे, परन्तु सूची-बद्ध बैंकों के विरोध के कारण यह योजना कार्यान्वित न हो सकी।

इसके बाद सहकारी बैंका को कृषि-साख सुविधाएँ देने के हेतु १९४२ मे रिजर्व बैंक ने धारा १७ (२) (ब) तथा धारा १७ (४) (क) के अनुसार एक योजना बनाई। इस योजना के अनुसार फसल के बेचने के लिए कृषि साख सुविधाओं के लिए सहकारी बैंक बैंक दर से १% कम पर रिजर्व बैंक से राशि प्राप्त कर सकते थ। इसके साथ यह शर्त थी कि व्याज की इस छूट का लाभ कृषक-ऋणियो को प्राप्त हो। परन्तु इस योजना से जो आशाएँ थीं वे पूरी न हो सकी क्योंकि केवल एक राज्य सहकारी बैंक ने इस योजना के अन्तर्गत २% दर से राशि प्राप्त की और वह भी उसने कृषकों को ५% व्याज की दर से दी। इससे कृषको को इस कम दर का वास्तव मे कोई लाभ न मिल सका। १९४४ नवम्बर मे इस योजना के विकास के हेतु बिलो तथा प्रतिज्ञा-पत्रो की कटौती पर भी रिजर्व बैंक ने १% छूट (rebate) देना प्रारम्भ किया। परन्तु ये बिल केवल कृषि साख की मौसमी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ही हो। १९४५ मे १% से १½% तक छूट दी जाने लगी। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश के राज्य सहकारी बैंको के लिए तो रिजर्व बैंक ने १½% की विशेष छूट देना स्वीकार किया, जो उन्हे १९४६ मार्च तक मिल सकती थी। परन्तु केवल एक राज्य सहकारी बैंक ने इस योजना के अन्तर्गत १९४७ दिसम्बर तक केवल ३५५ हजार रुपए की सहायता ली। भारतीय स्वतन्त्रता एव रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो जाने से अधिकाधिक कृषि साख सुविधाएँ देने के लिए रिजर्व बैंक सहकारी बैंको को अधिक सुविधाएँ देने लगा है। इनमे कुछ सुविधाएँ ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति की सिफारिशो के अनुसार दी गई है। वे ये हैं —

(१) रिजर्व बैंक विधान की धारा १७ (२) (ब) एव धारा १७ (४) (क) के अनुसार रिजर्व बैंक सहकारी बैंको के मार्फत सहकारी सस्थाओं को **मौसमी कृषि-कार्यों के लिए एव कृषिज वस्तुओं को बेचने के लिए** अरक्षित **ऋण दे सकता है।** उसी प्रकार धारा १७ (४) (अ) के अन्तर्गत रक्षित ऋण (secured advances) सरकारी प्रतिभूतियो एव भू-रहन बैंको के ऋण-पत्रो की रहन पर दे सकता है। इन धाराओ के अनुसार रिजर्व बैंक ने १९४७-४८ के सहकारी सस्थाओ को इन सुविधाओ को प्राप्त करने मे काफी छूट दी है तथा ऋण लेने की पद्धति म भी सरलता लाई गई है जिससे सहकारी सस्थाएँ इनमे अधिकतम लाभ उठा सके। फलस्वरूप रिजर्व बैंक से इन सस्थाओं ने काफी ऋण लिये जिसका लाभ भारतीय कृषक-समाज को मिला।

(२) रिजर्व बैंक विधान की १७ वी धारा मे भी सशोधन कर दिया गया है जिससे सरकारी सस्थाओ को कृषिज-वस्तुओ के क्रय एव कृषि-कार्यो की मौसमी आवश्यकताओ के लिए धारा १७ (२) (ब) के अन्तर्गत ९ मास की जगह १५ मास के लिए ऋण मिल सकते है। परन्तु वास्तव मे ऋण केवल १२ मास के लिए ही दिये जाते है।

(३) धारा १७ (२) (अ) के अन्तर्गत व्यापारिक बिलो की पुन कटौती की जो सुविधाएँ सूची-उद्ध बैंको को थी वे सुविधाएँ सहकारी बैंको को भी मिल सकती हैं। ये बिल ९० दिन से अधिक अवधि के नही होने चाहिए।

(४) रिजर्व बैंक से प्राप्त किये हुए ऋण राज्य बैंक केवल 'अ' एव 'ब' श्रेणी की सहकारी सस्थाओ को ही ऋण दे सकते थे। परन्तु अब 'स' वर्ग की सहकारी सस्थाएँ भी राज्य बैंक के माध्यम से ऋण प्राप्त कर सकती है, यदि राज्य सहकारी रजिस्ट्रार उनकी आर्थिक मजबूती के विषय मे छानबीन कर उनकी सिफारिश कर। आर्थिक सुदृढता की दृष्टि से सहकारी बैंको एव समितियो का वर्गीकरण सब राज्यो मे समान आधार पर करने की दृष्टि से रिजर्व बैंक ने एक योजना बनाई थी, जिसे सभी राज्यो ने स्वीकार कर लिया है।

(५) रिजर्व बैंक ने स्वीकृत ऋणा का उपयोग ऋण की अवधि मे स्वीकृत राशि तक करने की सुविधा सहकारी बैंको को दे दी है। यह वास्तव म उन्हे रोक-ऋण (cash credit) की भाति सुविधा मिल गई है।

(६) ऋणो के आवेदन-पत्रो मे जो बाते (data) देना आवश्यक है उनका प्रमापीकरण कृषि-साख-विभाग न कर दिया है। यदि इन बातो का स्पष्ट करते हुए सहकारी सस्थाएँ ऋणा के लिए राज्य सहकारिता रजिस्ट्रार की सिफारिश के साथ आवेदन-पत्र भेजगी तो उनकी ऋण-मर्यादा शीघ्र ही निश्चित की जा सकेगी एव उन्हे एक सप्ताह म ऋण स्वीकार हो जायेगे।

(७) जो ब्याज-दर की छूट रिजर्व बैंक द्वारा सहकारी सस्थाओ को १९४२ से दी जा रही थी व सुविधाएँ उनको नवम्बर १९५१ म बैंक-दर ४% करने के बावजूद भी मिलती रहगी, अर्थात् उन्हे बैंक-दर से अब २% की छूट ब्याज म मिलेगी।

(८) सहकारी बैंको को मिलने वाली **राशि-स्थानान्तरण की सुविधाएँ भी अधिक सुलभ कर दी गई हैं।** जिन राज्य सहकारी बैंका ने रिजर्व बैंक की "राज्य सहकारी बैंको की राशि-स्थानान्तरण सुविधा विकास' योजना को मान लिया है, उनके राशि-स्थानान्तरण सुविधाओ के अतिरिक्त कुछ प्रतिबन्ध भी हटा दिये गये है, जो निम्न है —

(अ) रिजर्व बैंक के अभिकर्त्ता के पास खाता होना।

(ब) रिजर्व बैंक के कार्यालयों में १०,००० अथवा इसके गुणक (multiple) में ही राशि-स्थानान्तरित किया जाना। अब १,००० के गुणक (multiple) में वे राशि-स्थानान्तरण कर सकते हैं परन्तु न्यूनतम राशि १०,००० होना चाहिए।

(स) राशि-स्थानान्तरण मुख्य खाते में होना अथवा रिजर्व बैंक एवं उसके अभिकर्त्ता का जहाँ कार्यालय है वहाँ पर कार्यालय होना, यह शर्त भी हटा दी गई है। अब सहकारी बैंक का कार्यालय अथवा शाखा किसी भी स्थान से जहाँ रिजर्व बैंक का अभिकर्त्ता है, रिजर्व बैंक के पास अपने किसी भी खाते में भेज सकता है।

(द) राशि-स्थानान्तरण केवल रिजर्व बैंक के पास जो प्रमुख खाता (principle account) है उसी में होना चाहिए। यह प्रतिबन्ध हटा दिया गया है।

राशि-स्थानान्तरण ५,००० रु० तक $\frac{1}{32}\%$ दर से एवं ५,००० से अधिक राशि का स्थानान्तरण $\frac{1}{64}\%$ की दर से हुआ करेगा।

(६) सहकारी शिक्षा का आयोजन भी रिजर्व बैंक द्वारा पूना तथा बम्बई में किया गया है।

(१०) १९५३ के संशोधन से रिजर्व बैंक कृषि-कार्यों के अधिकतम ५ वर्ष के लिए ५ करोड़ रु० तक ऋण दे सकता है। यह ऋण राज्य सरकारों की गारन्टी पर दिया जायगा। इस पर रिजर्व बैंक ३% ब्याज लेगा जिससे राज्य सहकारी बैंक इससे अधिकतम लाभ उठायें। परन्तु वे कृषकों से $6\frac{1}{4}\%$ से अधिक ब्याज नहीं ले सकेंगे।

(११) ग्रामीण साख सर्वे समिति की सिफारिश के अनुसार **१९५५ रिजर्व बैंक एक्ट में पुनः संशोधन हुआ है जिससे धाराएँ** ४६ (अ) व ४६ (ब) नई जोड़ी गई हैं, जिसके अनुसार **दो नये कोषों की स्थापना की गई है** —

(अ) राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष।

(ब) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष।

राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष ३० जून १९५६ को १० करोड़ रुपये जमा करके स्थापित हुआ है। इसमें रिजर्व बैंक आगामी ५ वर्षों में न्यूनतम ५ करोड़ रुपये वार्षिक जमा करेगा। यह कोष निम्न कार्यों के लिए है —

(अ) राज्य सरकारो को सहकारी समितियो की पूंजी मे योग देने के लिए अधिकतम २० वर्ष के लिए ऋण एव अग्रिम देना।

(ब) केन्द्रीय भूमि बधक बैंको को अधिकतम २० वर्ष की अवधि के दीर्घ कालीन ऋण देना।

(स) रिजर्व बैंक द्वारा केन्द्रीय भूमि बधक बैंको के ऋण-पत्र खरीदने के लिए राशि उपलब्ध करना।

(द) राज्य सरकारी बैंको को कृषि कार्यो के लिए १५ माह से ५ वर्ष अवधि के मध्यकालीन ऋण देना।

इसका प्रमुख उद्देश्य सहकारी बैंको को मध्यकालीन तथा भू-रहन बैंको को दीर्घकालीन आर्थिक सुविधाएँ देना है। जून १९५८ के अन्त मे इस कोष की राशि २५ करोड रु० थी।

राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष—इसका निर्माण १ जुलाई १९५६ को रिजर्व बैंक ने १ करोड रुपया जमा करके किया है जिसमे ३० जून १९६१ वर्षान्त तक वार्षिक १ करोड रु० राशि जमा करना होगी। इसका उद्देश्य राज्य सहकारी बैंको को मध्यकालीन ऋण सुविधाएँ देना है, जिससे वे आवश्यकता के समय अल्पकालीन ऋणो का मध्यकालीन ऋण मे बदल सकें। इन ऋणो की अवधि १५ मास से ५ वर्ष तक होगी तथा राज्य सरकार इनकी गारन्टी देगी।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि कृषि-साख के विकास के हेतु केन्द्रीय सरकार एव रिजर्व बैंक काफी प्रयत्नशील हैं। परन्तु राज्य सरकारी बैंको ने इनका पूर्ण लाभ नही उठाया। रिजर्व बैंक एक्ट की धारा १७ (४) (१) के अन्तर्गत रिजर्व बैंक तब तक कृषि-साख सुविधाएं नही दे सकता जब तक देश मे लाइसेंस-प्राप्त गोदामो की स्थापना न हो। अब देश मे ग्रामीण साख सर्वे समिति की सिफारिश के अनुसार राष्ट्रीय सहकारी विकास एव गोदाम सभा (National Co-operative Development and Warehousing Board) की स्थापना की गई है जिसस भविष्य म रिजर्व बैंक इसके अन्तर्गत सुविधाएँ दे सकेगा, यह निश्चित है।

रिजर्व बैंक तथा सूची-बद्ध बैंक

रिजर्व बैंक की स्थापना ने देश के सयुक्त स्कध का विभाजन सूची-बद्ध तथा असूची-बद्ध बैंको मे कर दिया है।

सूची-बद्ध बैंक—उन सयुक्त स्कन्ध बैंको को कहते हैं जिनका समावेश रिजर्व बैंक विधान के अनुसार दूसरी सूची मे किया गया है। जो बैंक धारा ४२ (६)

मे दी हुई सब शर्तों की पूर्ति करती है उनका नाम इस सूची मे लिखा जाता है। ये शर्ते निम्न है—

(अ) जो बैंक भारतीय प्रान्तो मे अपना व्यवसाय करते हो,

(ब) जिन बैंको की चुकता पूँजी एव निधि मिलाकर ५००,००० रुपए से कम न हो, तथा

(स) जिनके विषय मे रिजर्व बैंक का यह विश्वास हो कि वे अपने निक्षपको के हिता मे व्यापार कर रहे है।

जिन बैंको का समावेश इस सूची म नही है, उन्हे असूची-बद्ध बैंक कहते है। सूची बद्ध बैंको का रिजव बैंक से जा सुविधाएँ उपलब्ध है वे उन्हे कुछ शर्तों की पूर्ति के बाद ही मिल सकती है। ये शर्त निम्न है—

१ प्रत्येक सूची बद्ध बैंक को अपनी माँग देनदारी की ५% तथा काल-देनदारी की २% राशि रिजर्व बैंक के पास निक्षप म रखना होगी।

[धारा ४२ (१)]

२ प्रत्येक सूची-बद्ध बैंक को निम्न बाता के सम्बन्ध मे केन्द्रीय सरकार तथा रिजर्व बैंक के पास साप्ताहिक विवरण भेजना आवश्यक होना है।

[धारा ४२ (२)]

(अ) माँग तथा काल-देनदारी की राशि

(ब) पत्र मुद्रा तथा सरकारी पत्र-मुद्राओं की राशि जो भारत मे है,

(स) बैंक के पास भारत मे कितने रुपये तथा कितनी अन्य मुद्राएँ है,

(द) अग्रिम, ऋण तथा कटौती किय गये बिलो की राशि,

(य) बैंक के पास रोकड कितनी है।

इस पर बैंक के दो सचालको के व्यवस्थापको के अथवा अन्य उत्तरदायी *अधिकारियो के हस्ताक्षर होना अनिवार्य है।*

जो बैंक अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण साप्ताहिक विवरण नही भेज सकते उन्हे रिजर्व बैंक इस आशय का मासिक विवरण भेजने की अनुमति दे सकता है। इन्ही विवरणो के आधार पर रिजर्व बैंक धारा ४३ के अनुसार सूची बद्ध बैंको का एकत्रित विवरण प्रकाशित करता है।

यह विवरण न भेजने पर बैंक के सचालको अथवा दोषी अधिकारियो पर विवरण न भेजने की तिथि तक १०० रु० प्रति दिन के हिसाब से दण्ड हो सकता है। दूसरे, जो बैंक अपनी माँग एव काल देनदारी की क्रमश ५% व २% राशि रिजर्व बैंक म नही रख पाते उनसे कमी पर धारा ४२ (३) के अनुसार बैंक दर से कुछ अधिक ब्याज रिजर्व बैंक वसूल कर सकता है, उनको

निक्षेप स्वीकार करने में रोक सकता है, अथवा उनके सचालकों को दण्ड दे सकता है। इसके अतिरिक्त अन्य विवरण जो बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम के अनुसार भेजना आवश्यक है वे भी भेजने होंगे।

इन शर्तों की पूर्ति के बदले सूची-बद्ध बैंकों को रिजर्व बैंक से कुछ विशेष सुविधाएँ मिलती हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण सुविधा उनको बिलों आदि की कटौती की तथा अन्य मान्य प्रतिभूतियों की जमानत पर ऋण प्राप्त करने की है। साथ ही बिलों के क्रय-विक्रय की भी सुविधाएँ मिलती हैं। किन्तु ऋण आदि की सुविधाएँ देने के पूर्व रिजर्व बैंक यह देख लेता है कि बैंक की ऋण-नीति कैसी है तथा किन कार्यों में ऋणों का उपयोग होगा? केवल जमानत की अच्छाई पर ही ऋण नहीं देता क्योंकि इन ऋणों का दुरुपयोग न हो इसकी जिम्मेदारी बैंकिंग विकास की दृष्टि से रिजर्व बैंक की है। रिजर्व बैंक बिना किसी कारण के किसी भी सूची-बद्ध बैंक को ऋण देने से रोक सकता है। सूची-बद्ध बैंकों को राशि-स्थानान्तरण की सुविधाएँ भी प्राप्त होती हैं।

किसी भी बैंक की चुकता पूंजी तथा निधि मिलाकर ५ लाख रुपए से कम हो, उसकी क्रियाएँ देश हित में न हों, जिसने बैंकिंग व्यवसाय करना बन्द कर दिया हो अथवा जिसके परीक्षण से रिजर्व बैंक को सन्तोष न हो तो रिजर्व बैंक उसे इस सूची से अलग कर सकता है।

रिजर्व बैंक का असूची-बद्ध बैंकों से सम्बन्ध—असूची-बद्ध बैंकों को हम दो श्रेणियों में रख सकते हैं—एक तो वे जिनकी चुकता-पूंजी एवं निधि मिलाकर ५०,००० रुपए से अधिक हो, तथा दूसरे वे जिनकी पूंजी एवं निधि इस राशि से कम हो। इनमें से रिजर्व बैंक केवल पहले प्रकार के बैंकों से, जो भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत रजिस्टर्ड हों तथा बैंकिंग विधान के अनुसार बैंकिंग व्यापार करते हों, सम्बन्ध रखता है। उन्हें समय-समय पर आवश्यक सलाह देता है तथा उनके कार्यों का परीक्षण भी करता है। इन बैंकों को रिजर्व बैंक से राशि-स्थानान्तरण की सुविधाएँ प्राप्त होती हैं जो १ अक्टूबर १९४० से दी गई हैं जिससे रिजर्व बैंक का इनसे सम्बन्ध हो सके। इस सम्बन्ध को और भी बढ़ाने के लिए १९४५ से असूची-बद्ध बैंक भी रिजर्व बैंक में अपने लेखे खोल सकते हैं, परन्तु उनके निक्षेप १०,००० रु० से कम न होने चाहिए और ये लेखे चल-लेखे न होते हुए केवल परस्पर भुगतान का कार्य कर सकते।

रिजर्व बैंक का भारतीय मुद्रा-मण्डी पर प्रभाव—हमारी मुद्रा-मण्डी असङ्गठित है तथा उसके विभिन्न अङ्गों में पारस्परिक सहयोग न होने के कारण रिजर्व बैंक की साख-नियन्त्रण क्रियाओं का अन्य पाश्चात्य देशों की भाँति

प्रभाव नही पडता, जैसा कि हम देख चुके है। अत रिजर्व बैंक को मुद्रा-मण्डी के सगठन की ओर प्रयत्नशील होना चाहिए जिससे वह भली-भांति देश हित मे साख नियन्त्रण करने मे सफल हो सके।

रिजर्व बैंक द्वारा विनिमय-नियन्त्रण—द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होते ही भारत सुरक्षा नियम के अनुसार रिजर्व बैंक को विनिमय नियन्त्रण करने का अधिकार प्राप्त हुआ। इसलिए रिजर्व बैंक ने विनिमय नियन्त्रण विभाग खोला। कोई भी व्यक्ति रिजर्व बैंक से लाइसेंस लिए बिना विदेशी विनिमय-व्यवहार नही कर सकता एव किन कार्यों के लिए विदेशी विनिमय प्राप्त हो सकता था इस सम्बन्ध मे भी नियन्त्रण लगाये गये थे जो ३१ मार्च १९४७ तक रहे। विनिमय-नियन्त्रण मे अब ढिलाई कर दी गई है फिर भी भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का सदस्य होने से अब स्टर्लिङ्ग से रुपये का सम्बन्ध विच्छेद हो चुका है। भारतीय रुपया किसी भी देश की मुद्रा के साथ--जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सदस्य है, परिवर्तित हो सकता है। अत रिजर्व बैंक विधान की धाराएँ ४० व ४१ मे आवश्यक सशोधन हो गया है, जिसके अनुसार रिजर्व बैंक विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित दरों पर कर सकता है। विनिमय-नियन्त्रण के लिए २५ मार्च १९४७ को विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम स्वीकृत हुआ एव १ अप्रैल से लागू हुआ। इसका उद्देश्य विनिमय के सट्टों को रोकना तथा केवल अधिकृत बैंकों को ही विदेशी विनिमय के व्यवहार करने देना है जिसमे विदेशी विनिमय तथा कुछ सयुक्त स्कध बैंकों का समावेश है। यह विनिमय-नियन्त्रण किस अश तक रहेगा यह भुगतान सन्तुलन तथा भारत सरकार के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्रति उत्तरदायित्व पर निर्भर रहेगा।[1] *अर्थात् सरकार द्वारा निर्धारित आयात-निर्यात नीति के अनुसार* विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय होगा। अधिकृत बैंकों को विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय का सामाजिक लेखा भी देना पडता है जिसमे विदेशी विनिमय की प्राप्ति एव भुगतान की पूर्ण जानकारी रिजर्व बैंक को रहे।

रिजर्व बैंक का साप्ताहिक विवरण—रिजर्व बैंक को अधिनियम की धारा ५३ के अनुसार चलन एव बैंकिंग विभाग का पृथक्-पृथक् साप्ताहिक विवरण प्रकाशित करना पडता है जिसमे इन विभागों की सम्पत्ति एव देनदारियों का विवरण होता है। इस विवरण से मुद्रा पूर्ति, बैंक साख, सरकार की बजट क्रियाएँ तथा भुगतान सतुलन की गति से देश की आर्थिक अवस्था का परिचय मिलता है। चलन विभाग केवल पत्रमुद्रा तथा उसके परिवर्तन मे तथा बैंकिंग

---

1 Report of the Reserve Bank of India on "Currency & Finance 1946-47".

विभाग बैंकिंग क्रियाओं एवं साख नियन्त्रण से सम्बन्धित होता है। ये साप्ताहिक विवरण प्रमुख पत्रिकाओं एवं शासकीय गजट में प्रकाशित होते हैं। इनकी पूर्ण कल्पना निम्न विवरणों से होगी—

चलन विभाग (४ अप्रेल १९५८) [हजार रुपयों में]

देनदारियां		सम्पत्ति		
बैंकिंग विभाग में पत्र मुद्रा	३९४४-	(अ) स्वर्ण मुद्रा एवं स्वर्ण		
		(i) भारत में	११७३६०३	
चलन में पत्र-मुद्रा	१६११९६८८२	(ii) भारत के बाहर विदेशी प्रतिभूतियाँ	२१६०६९३	८८३८२९६
कुल पत्र मुद्रा-चलन	१६२७-२२५	(ब) रुपये की मुद्रा		१२७५०३८
		रुपये की सरकारी प्रतिभूतियां		११६-२२९१
		आंतरिक विनिमय बिल एवं अन्य व्यापारिक पत्र		—
		योग		१६२७६३२५

बैंकिंग विभाग (४ अप्रेल १९५८)

देनदारियां		सम्पत्ति	
चुकता पूंजी	५००,००,	पत्र मुद्रा	७२४,४३
संचित कोष	८०,०० ००	रुपये की मुद्रा	३,९८
राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन क्रियाएँ) कोष	२०,०० ००,	सहायक मुद्राएँ	२,७२
		खरीद एवं घटौती किए हुए बिल	
राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष	२,०० ००	(अ) आंतरिक	—
		(ब) विदेशी	—
निक्षेप		(क) सरकारी कोष बिल	१२७१,७४
(अ) सरकारी		विदेशों में शेष[1]	६८,३४,२९
(i) केन्द्र सरकार	५५,२७,५२	सरकार को ऋण एवं अग्रिम[2]	२७,६३ ०८
(ii) अन्य सरकारें	७ २३ ८८		
(ब) बैंक	८१ ०५ ८६	अन्य ऋण एवं अग्रिम	७३,६३,२५
(स) अन्य	११६,३२,४६	विनियोग	-१८,११,०९
देय बिल (बी पी)	२५ ६६,०९	अन्य सम्पत्ति	१६,१८,८९
अन्य देनदारियां	४०,२७ ०६		
	५३२ ९२,५८		४३२,९२,५८

[1] इसमें नगद राशि एवं अल्पकालीन प्रतिभूतियां सम्मिलित हैं।
[2] इसमें राज्य सरकारों के अस्थायी अधिविकर्ष सम्मिलित हैं।

रिजर्व बैंक से आशाएँ—रिजर्व बैंक की स्थापना से यह आशाएँ थी कि वह व्यापारिक बैंकों का नियन्त्रण एवं मार्ग-दर्शन कर देश की बैंकिंग व्यवस्था को ऊँचे स्तर पर लायेगा। इसलिए रोकड निधि रखने सम्बन्धी विशेष वैधानिक अधिकार भी उसे प्राप्त था। रिजर्व बैंक मुद्रा मण्डी के विभिन्न अङ्गों को नियन्त्रित कर उसे सङ्गठित करेगा तथा व्यापारिक एवं अन्य बैंकों में परस्पर सहयोग निर्माण करेगा। देश में मौसमी मांग एवं मुद्रा की दुर्लभता को दूर कर देश हित में सफलता से साख-नियन्त्रण करेगा जिसके लिए उसे पत्र चलन का एकाधिकार बैंक दर खुले बाजार की क्रियाओं के उपयोग तथा वैधानिक रोकड निधि में परिवर्तन का अधिकार है।

किन्तु रिजर्व बैंक ये आशाएँ पूरी न कर सका। अतः इसके विरुद्ध अनेक आक्षेप भी लगाये जाते हैं कि यह न तो मुद्रा मण्डी को सगठित कर सका न बिल बाजार के विकास बैंक-दर एवं खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा साख नियन्त्रण कर सका। साथ ही इसने रुपये के बाह्य मूल्य की स्थिरता रखने का अविरत प्रयत्न किया परन्तु आन्तरिक मूल्य स्थिर रखने का प्रयत्न नहीं किया जिससे देश की अधिक हानि हुई। कृषि साख की व्यवस्था भी यह समुचित रूप से आवश्यकतानुसार करने में असफल रहा जिसकी वैधानिक जिम्मेदारी इस पर थी। परन्तु अब राष्ट्रीयकरण के उपरान्त रिजर्व बैंक ने कृषि साख सुविधाएँ देने में अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। यह देश की पूंजी को गतिशील बनाकर भूमिगत द्रव्य को बाहर निकाल कर विनियोग कार्यों में लगाने में भी सफल नहीं रहा जिससे देश की औद्योगिक प्रगति न हो सकी।

परन्तु यदि निष्पक्षता से १९४९ तक के कार्यों का अध्ययन करें तो स्पष्ट होगा कि रिजर्व बैंक से जो आशाएँ थी उनको पूर्ण न कर सकने का दोष केवल बैंक का ही नहीं है अपितु उस स्थिति का भी है जिसमें रिजर्व बैंक को कार्य करना पड़ा। दूसरे रिजर्व बैंक का अधिकार विधान से सीमित थे जिस कारण *वह अनेक कार्य करने में असफल रहा। तीसरे १९४६ तक विदेशी सरकार थी* जिसकी नीति भारत की सम्पत्ति का विदोहन कर इंगलैंड के व्यवसाय एवं उद्योगों को पुष्ट एवं उन्नत करना थी।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए हम देखें तो मालूम होगा कि मुद्रा-मण्डी में उसके द्वारा साख नियन्त्रण का जहाँ तक प्रश्न उठता है साख की दुर्लभता निवारण करने में रिजर्व बैंक सफल रहा। परन्तु नियन्त्रण पूर्ण न कर सकने के कारण अनेक थे —

(१) वैधानिक रोकड निधि जो सूची बद्ध बैंकों को रिजर्व बैंक के पास

रखनी पडती थी वह बहुत थोडी थी। इसलिए अतिरिक्त राशि बैंको की निजी निधि म होन क कारण उनको रिजव बक क पास आर्थिक सहायता के लिए जान की आवश्यकता नही हुई। रिजव बैंक को आवश्यकतानुसार वैधानिक निधि म परिवर्तन करन का अधिकार भी १९५० तक नही था अथात् विधान की त्रुटि के कारण रिजव बैंक साख नियन्त्रण म असफल रहा।

(२) स्वदेशीय बैंकर तथा महाजन जो विगपन ९०% साख की सुविधाएँ दत है, उन्ह रिजव बैंक नियन्त्रण म न ला सका। इसका प्रमुख कारण ह कि इनका दन म इतना विस्तार ह कि साख व्यवस्था का अस्त-व्यस्त किय बिना उनको नियन्त्रित करना सम्भव नही। और साख-व्यवस्था यदि अस्त व्यस्त होती तो देश की कृषि एव व्यवसायो को अपरिमित हानि होती। जैसा कि हम बता चुके है रिजव बैंक न प्रयत्न किय योजनाएँ बनाइ परन्तु वह सफल न हो सका यह अवश्य उसका दोष माना जा सकता है। इस दोष की वजह स भी साख नियन्त्रण करन म असफल रहा तथा उसकी बैंक दर अप्रभावी रही।

(३) स्वदेशीय बैंकर विशेषत अपनी सम्पत्ति म ही बैंकिंग व्यापार करत हैं तथा निक्षेपो पर कम निभर रहत है। इसी प्रकार बिना किसी जमानत पर ऋण सुविधाएँ देत ह एव मनचाहा ब्याज वसूल करत है। इसस भिन भिन स्थानो क ब्याज दरो म भिनता रहती है परन्तु रिजव बैंक इन पर तब तक नियन्त्रण नही कर सकता जब तक उसका इनस प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित न हो। इसलिए वह ब्याज दरो मे समानता लाने मे भी असफल रहा। परन्तु यह बात माननी पडगी कि रिजव बैंक की स्थापना के पूव ब्याज दरो म जो अधिकता थी उसको कम करन म वह सफल रहा। साथ ही बैंक दर क साथ मुद्रा मण्डी की विभिन्न ब्याज दरो का सम्बन्ध प्रस्थापित हो गया है।

(४) मुद्रा मण्डी म सगठन एव सुदृढता लाने म रिजव बक असफल रहा। इसका प्रमुख कारण यह था कि इसका नियन्त्रण न तो स्वदशीय बैंकरो पर था और न असूची-बद्ध बैंको पर। असूची-बद्ध बैंक भी कुछ मात्रा म ही १९४० की योजना क अनुसार इसके नियन्त्रण म आ सक है परन्तु य सब बिलो की पुन कटौती की सुविधाओ क लिए न तो रिजव बैंक पर ही निभर है और न अन्य बैंको पर। इसस य अग पूणत अपन कार्यों म स्वतन्त्र रह। इसक अतिरिक्त बैंको म परस्पर लन दन होता है, जिसम उनको रिजव बैंक स सहायता की क्वचित ही आवश्यकता पडती है। इस कारण रिजव बैंक मुद्रा-मण्डी म सगठन एव सुदृढता न ला सका। इस सुदृढता एव सगठन के लिए कि असूची-बद्ध बैंको को भी मान्य बैंको की सूची म समावेश होना आवश्यक

है जो कार्य परीक्षण-योजना (inspection scheme) से अब सम्भव हो गया है।

(५) रुपये का आन्तरिक मूल्य स्थिर रखने मे रिजर्व बैंक असफल रहा क्योंकि उसने विशेषत १९३९ के बाद स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के आधार पर पत्र-मुद्रा देना शुरू किया जिसमे मुद्रा-स्फीति हुई एव देश की हानि हुई। यह दोष उसका नही था अपितु विदेशी सरकार के प्रभाव म उसे यह कार्य असाधारण स्थिति मे करना पडा।

(६) जहाँ तक बैंक-दर एव खुले बाजार की क्रियाओ का सम्बन्ध है हम देख चुके है कि आजकल बैंक-दर विश्व के किसी भी देश मे प्रभावशाली नही है। हाँ, यह मानना पडेगा कि उन देशो मे आज भी ब्याज की भिन्न भिन्न दरो का उतार-चढाव बैंक-दर के अनुसार होता है। परन्तु भारत मे ऐसा नही होता अपितु ब्याज-दर समान रहने हुए भी भिन्न भिन्न दरे समय समय पर बदलती रहती है। इसका एकमात्र दोष स्वदेशीय बैंकरो, महाजनो तथा उनकी क्रियाओ पर है जो नियमबद्ध न होने से बैंक-दर को प्रभावी नही होने देते।

(७) खुले बाजार की क्रियाओ के सम्बन्ध म भी हम देख चुके है कि रिजर्व बैंक केवल कुछ विशेष प्रकार की प्रतिभूतियो का ही क्रय-विक्रय कर सकता है, जिनके लिए देश का स्कध-विनिमय विकसित नही है। अत आवश्यकता यह है कि रिजर्व बैंक अधिनियम मे कुछ सशोधन किये जायँ जिससे रिजर्व बैंक वस्तु-अधिकार-प्रलेखों आदि पर ऋण तथा अग्रिम दे सके। तभी खुले बाजार की क्रियाएँ यशस्वी हो सकती है। परन्तु यह कार्य वह अन्य बैंको की प्रतियोगिता मे न करते हुए केवल आवश्यकता के समय ही राष्ट्र एव जन-हित की दृष्टि से करे।

(८) कृषि-साख के सम्बन्ध मे हम देख चुके है कि रिजर्व बैंक ने विधान के अन्तर्गत सुविधाएँ देने के अनक प्रयत्न किये परन्तु उन सुविधाओ से लाभ न उठाया गया। अत इसका दोष रिजर्व बैंक का न होते हुए उनका है जिन्होने इन योजनाओ से समुचित लाभ न उठाया। ऐसा भी आक्षेप किया जाता है कि यह लाभ इसीलिए नही उठाया गया कि उसमे रिजर्व बैंक द्वारा अनेक शर्ते लगाई जाती थी। परन्तु यह न भूलना चाहिए कि रिजर्व बैंक अधिनियम के अनुसार बिना निर्बन्धो के वह भी तो कृषि-साख सुविधाएं नही दे सकता था। परन्तु राष्ट्रीयकरण के बाद रिजर्व बैंक अधिनियम मे भारतीय कृषि को देखते हुए काफी सशोधन किये हुए है।

फिर भी रिजर्व बैंक ने बैंक-स्तर को ऊँचा करने एव बैंकिग सगठन को

दृट करने का प्रयत्न किया। अनेको बैंको को वितयन से बचाने मे भी उसने विभाजन के समय सहायता की। परन्तु कुछ बैंक ऐसे भी थे कि उस स्थिति मे उन्हे विधान के अनुसार सहायता नही दी जा सकती थी। उसके पूर्व इम्पीरियल बैंक की बैंक-दर, जो अस्थायी रहती थी उसको इसने स्थायी किया। इससे विभिन्न दरो म समानता तो नही आई, फिर भी उनके उतार-चढाव बहुत अश मे न होने हुए वे ब्याज दर नीची हुई तथा उनमे जो अन्तर था उसमे भी कमी हुई। राज्य एव केन्द्र सरकारो के ऋणो का निर्गमन भी इसने बडी कुशलता से किया तथा कम ब्याज-दरो पर ऋण प्राप्त करने मे सहायता प्रदान की। देश मे बैंकिग-विकास की प्रगति हुई तथा बैंकिग सुविधाएँ भी बढी। अनेक कठिनाइयो के होते हुए भी इसने यह कार्य सफलता-पूर्वक किया जिससे १९३५ मे भारत के आर्थिक विकास म एक नये बैंकिग-युग का विकास हुआ। इसके साथ ही इसने मुद्रा मण्डी म जो मौसमी मुद्रा की दुर्लभता रहती थी उसका निवारण किया, इसका भी प्रभाव विभिन्न ब्याज-दरो को नीचे लाने म ही हुआ।

राष्ट्रीयकरण के बाद

१९४९ मे रिजर्व बैंक का राष्ट्रीकरण हुआ तथा भारत की सरकार भी स्वतन्त्रता के कारण उत्पन्न होने वाली समस्याओ म मुक्त हुई। इसके बाद हम यह देखते है कि देश मे नवीन मौद्रिक नीति का विकास हो रहा है —

(१) देश के बैंकिग स्तर को उन्नत करने एव सुदृढ बनाने के लिए देश म पृथक बैंकिग अधिनियम का निर्माण हो चुका है जिसमे रिजर्व बैंक को अनेक अधिकार मिले है। इस कारण रिजर्व बैंक बैंकिग सस्थाओ पर-देशी एव विदेशी—नियन्त्रण करने म तथा सहयोग स्थापित करने म काफी सफल रहा।

(२) १५ नवम्बर १९५१ को रिजर्व बैंक ने बैंक-दर मे वृद्धि कर सुलभ मुद्रा-नीति का त्याग किया। इसके साथ ही खुले बाजार की क्रियाओ की नीति म परिवर्तन किया जिससे वह साख-नियन्त्रण मे सफल रहा। क्योकि जहा इङ्गलैंड के केन्द्रीय बैंक ने चार बार बैंक-दर बदली, वहा भारतीय केन्द्रीय बैंक ने केवल एक बार ही बैंक-दर मे परिवर्तन किया।

(३) जनवरी १९५२ मे रिजर्व बैंक ने बिल-बाजार को विकसित करने के लिए बिल-बाजार योजना लागू की है। साथ ही जुलाई १९५४ से इसको और सुगम बना दिया है। अब कोई भी सूची-बद्ध बैंक १० लाख रु० तक के बिलो की कटौनी करा सकता है। परन्तु प्रत्येक बिल की राशि ५०,०००

रु० होना चाहिए। पहिले यही सीमाएँ क्रमश: २५ लाख रु० और १ लाख रु० की थी। इसके साथ बिल-योजना के लाभ पहिले केवल वे सूची-बद्ध बैंक ही ले सकते थे जिनके निक्षेप न्यूनतम ५ करोड रु० के थे परन्तु अब यह शर्त नही है।

(४) रिजर्व बैंक कृषि-उपज के विक्रय के लिए न्यूनतम १५ मास से ५ साल तक की अवधि की आर्थिक सहायता सहकारी बैंकों के माध्यम से देता है। इससे कृषि को मध्यकालीन एव अल्पकालीन साख मिल सकेगी।

(५) ३० जून १९५६ को रिजर्व बैंक ने राष्ट्रीय कृषि-साख (दीर्घकालीन क्रियाएँ) कोष तथा राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष का निर्माण किया है जिससे वह कृषि का भू-रहन बैंको के माध्यम से दीर्घकालीन साख सुविधाएँ दे सकेगा तथा सहकारी आन्दोलन का विकास होगा।

(६) रिजर्व बैंक ने औद्योगिक साख सुविधाएँ देने के हेतु राज्य तथा भारतीय औद्योगिक अर्थ नियमो (Industrial Finance Corporations) की स्थापना मे सहयोग दिया है। इस हेतु रिजर्व बैंक मे एक पृथक् विभाग भी है।

(७) रिजर्व बैंक ने सितम्बर १९५४ को बैंको के निरीक्षक (supervising) कर्मचारियो की सुविधा के लिए बम्बई मे स्टाफ ट्रेनिंग कॉलेज की स्थापना की है। इससे कुशल कर्मचारियो का अभाव दूर होगा।

(८) द्वितीय पचवर्षीय योजना की पूर्ति के लिए अनुमानित हीनार्थ-प्रबन्धन करना वर्तमान पत्र-मुद्रा प्रणाली मे असम्भव था। इस हेतु जुलाई १९५६ से नई मौद्रिक नीति अपनाने के लिए रिजर्व बैंक एक्ट मे सशोधन किये गये है। इससे पत्र मुद्रा-चलन की आनुपातिक पद्धति की जगह न्यूनतम निधि पद्धति (minimum reserve method) अपनाई गई है। फलस्वरूप रिजर्व बैंक किसी भी परिमाण मे पत्र-मुद्रा चला सकता है।

(९) बढती हुई कीमतो को रोकने के लिए रिजर्व बैंक ने माँग-ऋणो की व्याज-दर ३½% से ४% कर दी है तथा १६ मई १९५७ से बैंक दर भी ४% कर दी गई है।

इससे स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक से प्रारम्भिक अवस्था मे जो आशाएँ थी उनकी पूर्ति की ओर रिजर्व बैंक दृढता से अग्रसर हो रहा है तथा उसकी क्रियाएँ देश-हित मे हो रही है।

साराश

प्रथम विश्वयुद्धोत्तर काल मे स्वर्णमान के पुन. सस्थापन के लिए केन्द्रीय बैंक की स्थापना की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। अतः इस हेतु १९२० मे

प्रेसीडेन्सी बैंको के एकीकरण से इम्पीरियल बैंक का निर्माण किया गया। परन्तु यह केन्द्रीय बैंक की कमी को पूरा नही कर सकता था। इसलिए १६२० मे हिल्टन यग कमीशन ने केन्द्रीय बैंक की स्थापना की सिफारिश की।

रिजर्व बैंक की आवश्यकता के निम्न कारण थ—(१) रुपए के अन्तर्बाह्य मूल्य मे स्थायित्व रखना, (२) भिन्न-भिन्न बैंको के निधि का केन्द्रीकरण करना, (३) देश मे मुद्रा एव साखनीति का न्यायपूर्ण एव समुचित प्रबन्ध (४) सरकार के बैंकर का कार्य, (५) कृषिसाख का प्रबन्ध (६) बैंकिंग प्रणाली का नियन्त्रण (७) मौद्रिक सम्पर्क एव काय। इन उद्देश्यो के लिए १६२७ मे रिजर्व बैंक विधेयक ससद मे रखा गया परन्तु वह पास न हो सका। १६३४ के राजनीतिक सुधारो के अन्तगत रिजव बैंक की स्थापना आवश्यक हो गई तदनुसार १६३४ मे रिजर्व बैंक आफ इण्डिया स्वीकृत होकर १ ४-१६३५ को रिजर्व बैंक की स्थापना होगई।

रिजर्व बैंक की स्थापना के समय यह प्रश्न उठा कि यह अशधारियो का बैंक हो अथवा सरकारी बैंक। सरकारी बैंक के पक्ष मे एव विपक्ष मे अनेक तर्क उपस्थित किये गये। अन्त मे यह निर्णय लिया गया कि कोई भी मुद्रा सम्बन्धी सस्था या बैंक राजनीतिक हस्तक्षेप से दूर रहना चाहिए। फलस्वरूप इसकी स्थापना अशधारियो के बैंक के रूप मे हुई किन्तु १ जनवरी १६४६ को इसका राष्ट्रीयकरण हो गया।

रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण निम्न उद्देश्यो से किया गया—(१) युद्धोत्तर पुनर्निर्माण एव आर्थिक योजनाओ की सफलता, (२) सतोषजनक मुद्रा नीति की व्यवस्था, (३) आर्थिक नीति एव राजनीति मे समानता, (४) सरकारी आर्थिक नीति का सचालन, (५) सरकार एव केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति मे समानता, (६) आर्थिक विषमता का निवारण, (७) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग (८) बैंकिंग कलेवर मे विश्वास निर्माण करना, (६) मुद्रा मण्डी एव बैंकिंग के समुचित सगठन के लिए, (१०) बैंकिंग स्थिति के सही एव समुचित ज्ञान के लिए।

विधान—रिजव बैंक की कुल पूँजी ५ करोड रुपए थी जो १०० रुपए के अशो मे विभाजित थी। राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप अब सम्पूर्ण पूजी सरकार ने ११८॥=) प्रति अश क दर से खरीद ली है। रिजव बैंक का प्रबन्ध १५ सदस्यो की केन्द्रीय सभा करती है जो केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत होते है। इनमे एक गवर्नर, तीन उपगवनर, चार स्थानीय सभाओ मे से प्रत्येक का एक एक सचालक, छै सचालक तथा एक सरकारी अधिकारी। स्थानीय प्रबन्ध के हेतु

बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तथा नई दिल्ली मे स्थानीय सभाएँ हैं जो केन्द्रीय सभा के आदेशानुसार कार्य करती हैं तथा पूछे जाने पर आवश्यक मामलो मे सलाह देती हैं। केन्द्रीय सभा की वर्ष मे ६ सभाएं होनी चाहिए परन्तु तीन माह मे एक सभा अवश्य होनी चाहिए।

आन्तरिक सगठन एव व्यवस्था—बैंक का केन्द्रीय कार्यालय बम्बई मे तथा स्थानीय शाखाएँ बगलोर, बम्बई, कानपुर, नागपुर मद्रास तथा नई दिल्ली मे है। अन्य स्थानो पर इसका प्रतिनिधित्व स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, स्टेट बैंक *ऑफ हैदराबाद तथा बैंक ऑफ मैसूर करते है।*

रिजर्व बैंक की क्रियाएँ ८ विभागो मे विभाजित है—(१) चलन विभाग, (२) बैंकिग विभाग, (३) कृषि साख विभाग, (४) सांख्यिकी एव खोज विभाग, (५) विनिमय नियन्त्रण विभाग, (६) बैंकिग क्रियाएँ विभाग, (७) बैंकिग विकास विभाग, (८) औद्योगिक वित्त विभाग। प्रत्येक विभाग अपने-अपने कार्य के लिए उत्तरदायी हैं।

रिजर्व बैंक दो प्रकार के कार्य करता है—(१) केन्द्रीय बैंकिग कार्य, (२) सामान्य बैंकिग कार्य।

केन्द्रीय बैंकिग कार्य—पत्र-मुद्रा चलन बैंको का बैंकर, विनिमय दर को स्थिर रखना, सरकारी बैंकर का कार्य, समाशोधन गृहो का प्रबन्ध तथा अन्य केन्द्रीय बैंकिग क्रियाएँ करता है।

सामान्य बैंकिग कार्य—केन्द्र, राज्य, स्थानीय सरकार, बैंक तथा अन्य व्यक्तियो से बिना ब्याज के निक्षेप स्वीकारना, व्यापारिक व्यवहारो के बिलो एव प्रतिज्ञापत्रों का क्रय-विक्रय एव कटौती, कृषि कार्यो तथा फसल बेचने के लिए लिखे गये बिल एव प्रतिज्ञापत्रो का क्रय-विक्रय एव कटौती करना, प्रतिभूतियो का क्रय विक्रय, स्वर्ण, विदेशी विनिमय एव स्वर्ण-मुद्राओ का क्रय-विक्रय, केन्द्र एव राज्य सरकारो को ९० दिन अवधि के ऋण देना आदि। रिजर्व बैंक को अधिनियम के अन्तगत विशेषाधिकार होने के कारण इसकी क्रियाओं पर कुछ प्रतिबन्ध भी हैं।

रिजर्व बैंक द्वारा साख नियन्त्रण—रिजर्व बैंक के साख नियन्त्रण के निम्न साधन है—(१) बैंक दर, (२) खुले बाजार की क्रियाएँ, (३) वैधानिक रोकड निधि मे परिवर्तन, (४) निर्वाचक एव प्रत्यक्ष नियन्त्रण—जो रिजर्व बैंक बैंकिग अधिनियम की धारा २१, २०, ३६ (I) (क) के अन्तर्गत करता है, (५) नैतिक प्रभाव।

रिजर्व बैंक का कृषि साख विभाग—कृषि के लिए आवश्यक आर्थिक

सुविधाएं सहकारी एवं सूचीबद्ध बैंकों के माध्यम से देता है। ग्रामीण साख सर्वे समिति की सिफारिश के अनुसार रिजर्व बैंक ने १९५६ में दो कोषों का निर्माण किया गया है—(१) राष्ट्रीय कृषिसाख दीर्घकालीन कोष, (२) राष्ट्रीय कृषिसाख स्थिरीकरण कोष। ये दोनों कोष कृषि को दीर्घकालीन एवं मध्यकालीन आर्थिक सुविधाएँ देने के लिए बनाये गये हैं।

रिजर्व बैंक और सूचीबद्ध बैंक—सूचीबद्ध बैंक वे हैं जिनका समावेश रिजर्व बैंक अधिनियम के अनुसार दूसरी अनुसूची में होता है। इस हेतु बैंक को निम्न शर्तें पूर्ण करनी होती हैं—(१) भारतीय राज्यों में व्यवसाय (२) चुकता पूंजी एवं निधि मिलाकर न्यूनतम ५ लाख रुपए हो, (३) रिजर्व बैंक को उनके सम्बन्ध में यह विश्वास हो कि उनका कार्य निक्षेपकों के हित में है। इन बैंकों को रिजर्व बैंक निम्न शर्तों की पूर्ति पर राशि स्थानान्तरण, ऋण आदि की सुविधाएं देता है। रिजर्व बैंक के पास मॉग एवं समय देनदारी के क्रमशः ५% व २% राशि जमा करना तथा धारा ४२ (क) के अंतर्गत साप्ताहिक विवरण भेजना।

सूचीबद्ध बैंकों के अलावा अन्य बैंक असूचीबद्ध बैंक कहलाते हैं। रिजर्व बैंक केवल ऐसे असूचीबद्ध बैंकों से सम्बन्ध रखता है जिनकी चुकता पूँजी एवं निधि ५०,००० रुपये से कम न हो, जो भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत रजिस्टर्ड हो तथा बैंकिंग अधिनियम के अनुसार बैंकिंग व्यवसाय करते हों। ये बैंक रिजर्व बैंक के पास अपने लेखे खोल सकते हैं परन्तु उनके निक्षेप १०,००० रुपये से कम न होने चाहिए तथा ऐसे लेखे केवल परस्पर भुगतान का कार्य कर सकेंगे।

रिजर्व बैंक का भारतीय मुद्रा मण्डी पर प्रभाव अन्य उन्नत देशों की भाँति नहीं होता क्योंकि भारतीय मुद्रा मण्डी असंगठित है। अतः इस ओर उसे प्रयत्नशील होना चाहिए। दूसरे युद्ध के आरम्भ से भारत में विदेशी विनिमय के क्रय विक्रय पर नियन्त्रण लगाये गये तथा इस हेतु विदेशी विनिमय नियन्त्रण विभाग रिजर्व बैंक में खोला गया। ये नियन्त्रण ३१ मार्च १९४७ तक रहे तथा बाद में परिस्थिति के अनुसार उनमें हेर-फेर होते रहते हैं।

रिजर्व बैंक से आशाएँ थीं कि (१) वह बैंकिंगस्तर उन्नत करेगा। (२) मुद्रा मण्डी के विभिन्न अंगों का संगठन करेगा। (३) देश के बैंकों में सहयोग निर्माण करेगा। (४) देश हित में साख नियन्त्रण कर मौसमी साख की दुर्लभता का निवारण करेगा। परन्तु इसमें रिजर्व बैंक को वांछित सफलता नहीं मिली क्योंकि रिजर्व बैंक को निम्न बाधाएँ थीं—(१) वैधानिक रोक

निधि की मात्रा कम थी तथा उसमे परिवर्तन करने का अधिकार उसे १६५६ तक न था। (२) स्वदेशी बैंक और महाजनों को नियन्त्रण मे लाना तब तक सम्भव नहीं जब तक उनका अभाव सहकारी आन्दोलन दूर न कर सके। (३) स्वदेशी बैंकर अपनी पूंजी से व्यापार करते हैं तथा निक्षेपों पर कम निर्भर हैं। फिर भी रिजर्व बैंक ब्याज दरो की अधिकता कम करने मे सफल रहा। (४) मुद्रा मण्डी के दो प्रमुख अगो पर स्वदेशी बैंकर, विदेशी विनिमय बैंकों पर रिजर्व बैंक का कोई नियन्त्रण न था और देश के अन्य बैंक रिजर्व बैंक पर कम निर्भर थे। (५) आतरिक मूल्य स्थिरता रखने मे असफल होने का प्रमुख कारण यह था कि विदेशी सरकार के प्रभाव मे उसे मुद्रा प्रसार करना पडा। (६) देश मे १६४६ तक बैंकिंग विधान का अभाव रहा।

फिर भी रिजर्व बैंक ने बैंको को सकट के समय सहायता दी तथा एकीकरण ग्रादि योजनाग्रो से बैंकिंग कलेवर को उन्नत किया। राष्ट्रीयकरण एव बैंकिंग अधिनियम के पास होने से रिजर्व बैंक निश्चित एव सुदृढ नीति से देश-हित मे कार्य करने मे सफलता की ओर बढ रहा है।

अध्याय १६

स्टेट बैंक और इम्पीरियल बैंक

(१) इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपनी व्यापारिक सुविधाओं के लिए बंगाल, बम्बई तथा मद्रास राज्यों में क्रमशः १८०६, १८४० तथा १८४३ में बैंक ऑफ बंगाल, बैंक ऑफ बाम्बे तथा बैंक ऑफ मद्रास नाम से तीन बैंक स्थापित किये। इनकी स्थापना इसी उद्देश्य से की गई थी कि ये बिना किसी प्रकार की हानि के जनता को बैंकिंग सुविधाएँ दें तथा आवश्यकता के समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भी आर्थिक सहायता दें। सरकारी कार्य एवं सरकार की ओर से लेन देन करना भी इनका एकाधिकार था। इनकी पूंजी विदेशी थी तथा $\frac{1}{5}$ भाग ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी दिया था, जिसके बदले उसे संचालक-सभा में कुछ संचालक नियुक्त करने का अधिकार था। १८२३ में बैंक ऑफ बंगाल को पत्रमुद्रा चलन, १८३९ में शाखाएँ खोलने एवं भारतीय विनिमय कार्य करने की आज्ञा दी गई। पत्रमुद्रा चलन का अधिकार १८६२ में इन बैंकों से सरकार ने ले लिया। किन्तु विदेशी विनिमय व्यापार करना तथा ६ मास से अधिक काल के लिए ऋण देना निषिद्ध था।

१८६८ में, जब रुई के सट्टे के कारण बैंक ऑफ बॉम्बे को बहुत हानि हुई, तो उसकी समाप्ति कर १ करोड़ रुपये की पूंजी से इसी नाम का दूसरा बैंक खोल दिया गया। इस स्थिति से सरकार ने इन बैंकों में अपने जो अंश थे वे सब बेच दिये जिससे उसका संचालक चुनने का अधिकार जाता रहा। १८७६ में एक प्रेसीडेंसी बैंक एक्ट स्वीकृत हुआ, जिसके अनुसार प्रेसीडेंसी बैंकों के कार्य पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये गये। इनकी कार्य शैली में अनेक दोष होने से इनके एकीकरण से अखिल भारतीय बैंक बनाने की माँग क्रमशः १८६० तथा १८७६ में रखी गई। इनके मुख्य दोष थे —

१ इन्होंने केवल उन्हीं स्थानों पर अपनी शाखाएँ खोलीं जहाँ अधिक लाभ मिल सकता था।

२ ये पूंजी की कमी की वजह से भारतीय व्यापारिक एवं आर्थिक आव-

श्यकताओ की पूर्ति नही कर सकते थे। इस कारण देश मे मुद्रा तथा साख की कमी रहती थी और ब्याज-दर भिन्न-भिन्न रहती थी। इनको पत्र-मुद्रा चलन का अधिकार न होने से साख एव मुद्रा का परस्पर सम्बन्ध भी नही था, जो आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है।

३ भारतीय बैंकिंग विकास मे इन्होंने कुछ भी सन्तोषप्रद कार्य नही किया। एकीकरण की इस माँग पर कोई विचार नही किया गया। फिर १८९८ मे फाउलर समिति तथा १९१३ मे चेम्बरलेन समिति ने केन्द्रीय बैंक की आवश्यकताओं को बताया। परन्तु उस समय भी इस दिशा मे कुछ नही हुआ और न किया गया। परन्तु देश के १९१३-१७ के बैंकिंग सकट से बैंकिंग पद्धति के सुसचालन एव मजबूती के लिए इसकी आवश्यकता सिद्ध हुई। फलस्वरूप १९२० मे इम्पीरियल बैंक एक्ट स्वीकृत हुआ तथा इम्पीरियल बैंक ने २७ जनवरी १९२१ से कार्यारम्भ किया।

स्थापना के उद्देश्य

१ सरकार के बैंकर का काय करना एव राशि-स्थानान्तरण सुविधाएँ देना,

२ कुछ अश म केन्द्रीय बैंक के कार्य करना अर्थात् बैंको के बैंकर का कार्य करना, तथा

३ देश की बैंकिंग सुविधाओ मे वृद्धि करना एव देश के बैंको की सुदृढता की देख-रेख करना।

इम्पीरियल बैंक ही केन्द्रीय बैंक क्यो नही ?

(१) इम्पीरियल बैंक व्यापारिक बैंकिंग कार्य करता था, तथा उस पर ५ वष मे १०० शाखाएँ खोलकर बैंकिंग सुविधाएँ बढाने का वैधानिक दायित्व था जिसे उसने पूरा किया। यही एक बात ऐसी थी जो इसे केन्द्रीय बैंक न बनाने के लिए पर्याप्त थी। केन्द्रीय बैंक देश के अन्य बैंको का सहयोगी होता है प्रतियोगी नही और इम्पीरियल बैंक अन्य बैंको का प्रतियोगी ही बना रहा।

(२) यदि इसे केन्द्रीय बैंक बनाया जाता तो उसका व्यापारिक स्वरूप नष्ट होने की आवश्यकता थी। अर्थात् उसकी शाखाएँ बन्द करनी पडती जिससे देश के बैंकिंग विकास को ऐसे समय धक्का लगता जब देश मे अधिकाधिक बैंको की आवश्यकता थी।

(३) इसके लाभाश का नियन्त्रण होना भी आवश्यक था, जो इसके अशधारी कभी पसन्द नही करते।

(४) (अ) इसने केन्द्रीय बैंक के अभाव को दूर करने का उत्तरदायित्व नही

निभाया। अन्य व्यापारिक बैंकों का प्रतियोगी होने से यह बैंकों का बैंकर नहीं बन सका। इतना ही नहीं, अपितु अन्य बैंक ऋण की आवश्यकता के समय इम्पीरियल बैंक के दरवाजे खटखटाने में मानहानि समझते थे और जब कभी वे गये भी तो उन्होंने बिलों की कटौती से राशि प्राप्त करने की अपेक्षा सरकारी प्रतिभूतियों की जमानत पर ऋण लिया। (ब) केन्द्रीय बैंक को पत्र-मुद्रा-चलन का एकाधिकार होता है, वह भी इसे नहीं था। (स) इम्पीरियल बैंक की बैंक-दर भी प्रभावी नहीं थी और न देश के अधिकांश बैंक अपनी राशि ही इम्पीरियल बैंक के पास रखते थे। इससे न तो यह बैंकों का ही नियन्त्रण कर सकता था और न मुद्रा मण्डी का ही, जो केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य होता है। (द) इसकी सरकारी राशि की व्यवस्था आदि की सुविधाएं केवल भारत के लिए ही उपलब्ध थी तथा यह भारत सरकार की ओर से विदेशों में राशि-स्थानान्तरण नहीं कर सकता था, जो केन्द्रीय बैंक करते हैं। इस प्रकार यह केन्द्रीय बैंक के रूप में सफल न होते हुए केवल व्यापारिक बैंक के रूप में ही कार्य कर सकता था।

(५) इम्पीरियल बैंक अपनी अराष्ट्रीय नीति से भारतीयों की सहानुभूति प्राप्त न कर सका। इसकी नीति सदैव ऐसी ही रही जिससे भारत एवं भारतीयों की अपेक्षा इङ्गलैण्ड एवं अंग्रेजों का ही हित हो। इसका सचालन भी प्रारम्भ से ही अंग्रेजों के हाथ में रहा तथा उन्होंने वही नीति अपनाई जो इनके आकाओं की—प्रेसीडेंसी बैंकों की—थी। इसके अँग्रेज सचालक देश की आवश्यकताओं को भी न समझ सकते थे और न समझ कर काम ही करते थे, विशेषतः जब उनके देश की ऐसे कार्यों से हानि की सम्भावना थी। इतना ही नहीं, हिल्टन-यंग समिति के सामने इस बात के प्रमाण भी दिए गये थे कि साख पत्रों के होते हुए भी इसने भारतीयों को ऋण नहीं दिया किन्तु दूसरी ओर विदेशियों को ऋण दिया।

इम्पीरियल बैंक का सगठन

१९३४ में, जिस समय रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना का विधेयक स्वीकृत हुआ, उसी समय इम्पीरियल बैंक अधिनियम में भी सशोधन किया गया। इसमें उसके व्यापारिक बैंकिंग सम्बन्धी प्रतिबन्ध हटाकर उसे पूर्णतः व्यापारिक बैंक बना दिया गया।

पूंजी—इसकी अधिकृत पूंजी ११,२५ लाख रुपए थी जो ५०० रु० के २२५,००० अंशों में विभाजित थी। अधिकृत पूंजी की ५०% चुकता पूंजी तथा शेष सचित देय थी। इसकी सचित निधि की राशि ६३५ लाख रु० थी।

इसने १९२० से १९३१ तक १६%, १९३१ में १४%, १९३२ से १९५० तक १२% तथा १९५१ में १६% लाभांश वितरण किया।

प्रबन्ध—बैंक का प्रबन्ध-सचालक तथा उप-प्रबन्ध सचालक द्वारा होता था। इसका निर्वाचन केन्द्रीय सचालकों द्वारा ५ वर्ष की न्यूनतम अवधि के लिए होता था। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सभा के निम्न सदस्य होते थे —

(अ) प्रत्येक स्थानीय सभा (बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता) का अध्यक्ष, उपाध्यक्ष तथा कार्यवाह—६,

(ब) प्रत्येक स्थानीय सभा के सदस्यों से निर्वाचित एक-एक सदस्य—३,

(स) सरकार द्वारा मनोनीत गैर-सरकारी व्यक्ति (non-officials)—२।

यदि नया स्थानीय कार्यालय खोला जाय तो उस दशा में उस सभा के प्रतिनिधित्व के लिए केन्द्रीय सभा में स्थान दिया जायगा, जिसकी संख्या का निर्णय केन्द्रीय सभा द्वारा होगा।

इस प्रकार केन्द्रीय सभा के १६ सदस्य थे। इसके अतिरिक्त सरकार एक और अधिकारी मनोनीत कर सकती थी जो केन्द्रीय सभा की सभाओं में भाग लेता था किन्तु उसे मतदान का अधिकार नहीं होता था। केन्द्रीय सभा बैंक की नीति निश्चित करने का काम, जैसे ब्याज की दर आदि, तथा साप्ताहिक विवरण की देख-रेख करती थी। केन्द्रीय सभा की सभाएँ क्रमश: बम्बई, कलकत्ता, मद्रास में तीन मास में एक बार होना अनिवार्य था। केन्द्रीय सभा की सभाएँ बार-बार न होने के कारण प्रबन्ध सभा इसका प्रबन्ध करती थी जिसके दो सदस्य होते थे। इस प्रकार केन्द्रीय सचालक-सभा इम्पीरियल बैंक का प्रबन्ध करती थी। केन्द्रीय सभा की बैठकों में स्थानीय सभाओं के मंत्री, उप-प्रबन्ध सचालक तथा सरकारी अधिकारी भाग ले सकते थे, परन्तु इनको मतदान का अधिकार नहीं था।

इसकी **स्थानीय सभाएँ** बम्बई, कलकत्ता, मद्रास में थीं जिनके सदस्य उस कार्यालय क्षेत्र के अंशधारियों द्वारा चुने जाते थे। स्थानीय कार्यालयों का प्रबन्ध स्थानीय अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष द्वारा होता था। स्थानीय सभा के ७ सदस्य होते थे एवं ये सभाएँ स्थानीय कार्यों की देख रेख करती थीं।

कार्य-क्षेत्र—१९३५ के संशोधन से इम्पीरियल बैंक का कार्य-क्षेत्र भी विस्तृत हो गया तथा उसे व्यापारिक बैंकिंग करने की पूर्ण स्वतन्त्रता मिली। परन्तु फिर भी रिजर्व बैंक का एकमात्र अभिकर्ता होने के कारण उसके कार्यों पर कुछ प्रतिबन्ध थे।

इम्पीरियल बैंक के कार्य

१ कहीं भी अपनी शाखाएँ खोलना अथवा अपने अभिकर्त्ता रखना।

२ किसी भी क्षेत्र में स्थानीय प्रमुख कार्यालय खोल सकता है अथवा नई स्थानीय-सभाएँ बना सकता है। अब उसे सरकार को किसी प्रकार की औपचारिक सूचनाएँ देने की आवश्यकता नहीं रही।

रेलवे प्रतिभूतियाँ, स्थानीय सरकारों के ऋण पत्रों तथा अन्य प्रतिभूतियाँ सीमित कम्पनियों के ऋण-पत्रों पूर्ण दत्त अंशों स्वीकृत बिलों पर तथा प्रतिज्ञा पत्रों पर इम्पीरियल बैंक ऋण दे सकता है तथा ऋण पत्र एवं प्रतिभूतियों को बेच सकता है। वस्तु अधिकार प्रलेखों तथा भारत सरकार को स्वीकृति प्राप्त ऋण-पत्रों की जमानत पर ऋण दे सकता था। ऐसे ऋण व्यापारिक कार्यों के लिए केवल ६ मास तथा कृषि कार्यों के लिए ९ मास की अवधि तक ही दे सकता है।

४ यह देश के बाहर भी जनता से निक्षेप एवं ऋणों का लेन-देन कर सकता है। इसी प्रकार अपनी सम्पत्ति पर ऋण लेने की तथा अन्य बैंकिंग कार्य करने की भी उसे पूर्ण स्वतन्त्रता दी गई है।

५ विनिमय बिलों का लिखना स्वीकार करना कटौती एवं क्रय विक्रय विदेशी बिलों का क्रय विक्रय स्वर्ण एवं चाँदी का क्रय विक्रय यह कर सकता है। यह क्रियाएँ वह देश में एवं विदेशों में भी कर सकता है।

गुप्त निक्षेप स्वीकार कर सकता है।

७ रिजर्व बैंक के अंशों की जमानत पर रोक ऋण तथा अन्य ऋण लेना तथा अधिनियम में मान्य अन्य कार्य कर सकता है। इसी प्रकार उपपाधीयित (hypothecated) वस्तुओं की जमानत पर ऋण दे सकता है।

८ लन्दन स्थित कार्यालय भी सब प्रकार के बैंकिंग व्यवहार कर सकता है। लन्दन के अतिरिक्त अन्य देशों में भी यह शाखाएँ खोल सकता है।

९ कृषि माल का मौसमी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कृषि पत्रों की जमानत पर ९ महीने की अवधि के ऋण दे सकता है।

रिजर्व बैंक एवं इम्पीरियल बैंक

१९३४ के संशोधित अधिनियम के अनुसार यह रिजर्व बैंक के एकमात्र अभिकर्ता का काम करता है। इसी के साथ वह अपने अन्य व्यापारिक कार्य भी करता है। इम्पीरियल बैंक में रिजर्व बैंक अधिनियम की ४५ वीं धारा के अनुसार समझौता हो गया जिसकी अवधि १० वर्ष की थी। समझौते का

शर्तें रिजर्व बैंक अधिनियम की तीसरी अनुसूची मे दी हुई हैं। इस समझौते का नवकरण, अवधि की पूर्ति पर होता है।

इस समझौते से जहाँ रिजर्व बैंक की शाखाएँ नही हैं किन्तु इम्पीरियल बैंक की शाखाएँ हैं वहाँ इम्पीरियल बैंक सरकारी कोषो को रखेगा सरकार की ओर से लेन देन करेगा राशि-स्थानान्तरण कार्य तथा केन्द्रीय बैंक के अन्य कार्य करेगा। इसके बदले इम्पीरियल बैंक को कमीशन मिलेगा।

इस समझौते से इम्पीरियल बैंक रिजर्व बैंक का अभिकर्ता होने के कारण सरकारी लेखे की व्यवस्था, लेन-देन, राशि-स्थानान्तरण आदि कार्य करता था। इसलिए उसके कार्यों पर निम्न प्रतिबन्ध थे —

१ यह अपने अशो पर ऋण नही दे सकता।

२ कृषि तथा अन्य कार्यों के लिए क्रमश ९ तथा ६ मास की अवधि से अधिक ऋण नही दे सकता।

३ कोर्ट ऑफ वॉर्ड्स तथा उसकी व्यवस्था में जो रियासत हैं उनको यह बिना स्थानीय सरकार की स्वीकृति के तथा उनकी अचल सम्पत्ति की जमानत पर अथवा उनके द्वारा स्वीकृत निर्गमित विलेखो की जमानत पर ऋण नही दे सकता।

इम्पीरियल बैंक की क्रियाएँ

इम्पीरियल बैंक १९३५ तक एक व्यापारिक तथा सरकारी बैंक था, जो व्यापारिक कार्यों के साथ साथ सरकारी शेषो का स्थानान्तरण, सचालन, लेन देन आदि करता था। इसके प्रारम्भ म जनता एव सरकार को इससे बडी-बडी आशाएँ थी तथा यह भी सोचा गया था कि आगे यह केन्द्रीय बैंक हो जायगा। परन्तु उसकी कार्य शैली मे ये आशाएँ पूरी न हो सकी एव पृथक् केन्द्रीय बैंक की स्थापना करनी पडी।

इस बैंक से आशाएँ थी कि (१) यह अनेक नई-नई शाखाएँ खोलकर देश म बैंकिंग का प्रसार करेगा तथा भारतीयो को बैंकिंग की शिक्षा मिलेगी।

(२) सरकारी राशि प्राप्त होने के कारण मुद्रा मण्डी मे मुद्रा एव साख की मौसमी कमी दूर हो जायगी तथा साख एव मुद्रा का समुचित नियन्त्रण होकर ब्याज दर कम होगी जिससे देश की कृषि एव उद्योग एव अर्थ व्यवस्था की उन्नति होगी।

(३) इम्पीरियल बैंक देश के अन्य बैंको का मार्ग दर्शन करेगा एव सकट काल मे सहायक होगा तथा सरकार को एव उन्हे भी राशि स्थानान्तरण की सुविधाएँ मिलेंगी। सरकार, ग्राहको एव बैंका की इस प्रकार की कुछ आशाएँ,

की पूर्ति इनन की तथा कुछ की पूर्ति वह नहीं कर सका। इतना ही नहीं अपितु इसकी कार्य शैली यूरोपीय व्यवस्था म होने से भारतीयों की दृष्टि से सदोष रही।

इम्पीरियल बैंक ने पहली आशा कुछ अंश म पूरी की तथा उसने अधिनियम के अनुसार प्रथम पांच वर्ष में १०० शाखाएँ खोली तथा देश में बैंकिंग सुविधाएँ बढ़ाने की ओर प्रयत्नशील रहा। प्रा० पाणदीकर के अनुसार[1] इम्पीरियल बैंक की ८ वर्षों में ही १५० से अधिक शाखाएँ हो गई जो विनिमय बैंकों की समस्त शाखाओं के दुगुने से भी अधिक थी। इस बैंक की शाखाएँ १९४५ में ४०३ थी। परन्तु जहां तक भारतीयों की बैंकिंग शिक्षा का सम्बन्ध है इम्पीरियल बैंक के कर्मचारी यूरोपीय रहे जिससे इम्पीरियल बैंक द्वारा भारतीयों को बैंकिंग शिक्षा मिलने में सार्वत्रिक निराशा हुई। हां हम यह कह सकते हैं कि इम्पीरियल बैंक को कर्मचारियों की आवश्यकता होने के कारण कुछ अंश में हमारी बेकारी का निवारण हुआ।

जहां तक ग्राहकों का सम्बन्ध है यह कहा जा सकता है कि इम्पीरियल बैंक से ग्राहकों को ऋण सुविधाएँ प्राप्त हुई तथा कुछ अंश में मौसमी मुद्रा तथा साख की आवश्यकता की पूर्ति हुई। इस प्रकार विदेशी विनियोक्ताओं ने इस बैंक से पूर्ण लाभ उठाया। विनिमय बैंकों की भी इसने जी खोलकर सहायता की। इसी प्रकार अँग्रेज व्यापारियों की आर्थिक स्थिति का ज्ञान भी यह अपने ग्राहकों को देता रहा क्योंकि इसकी शाखा लन्दन में होने के कारण इसका लन्दन मुद्रा मण्डी से प्रत्यक्ष सम्बन्ध था किन्तु इसके सब कार्य सीमित ही रहे। यह पूर्ण रूप से न तो मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही कर सका और न इसने अपनी पक्षपातपूर्ण नीति के कारण भारतीयों को ही ऋण की पूर्ण सुविधाएँ दी जितनी वह अपने यूरोपीय ग्राहकों तथा फर्मों को देता था। इस कारण इसकी तीव्र आलोचना भी हुई।

मुद्रा मण्डी के विभिन्न अंगों का संगठन करने में यह सफल न रहा और न इसने स्वदेशीय बैंकरों को ही अपने नियन्त्रण में लाने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार ब्याज दर में भी न समानता रही और न कमी हुई। हां मौसमी आवश्यकताओं के समय ब्याज की दर जो अधिक ऊँची हो जाती थी उसे इसने ऊँचा न होने दिया।

बैंकों के मार्ग दर्शन एवं सहायता सम्बन्धी आशा को कुछ हद तक इसने

---

[1] *Banking in India*, pp 273-75

पूण किया। क्योंकि जब अलायस बैंक शिमला, टाटा इण्डस्ट्रिल बैंक और बगाल नशनल बैंक पर सकट आया तब इसने उस दूर करन का भरसक प्रयत्न किया। परन्तु परिस्थिति की भीषणता स इनको विलियन म न बचाया जा सका। इसी प्रकार १६२६ म कलकत्ता एव बम्बई स्थित सेंट्रल बैंक आफ इण्डिया क कार्यालय भी सकट म थ तब उस दूर करन म इम्पीरियल बैंक सफल रहा। इसने बैंको को राशि स्थानान्तरण की सुविधाएँ दी। इसके लिए १०,००० एव इससे अधिक रुपया क स्थानान्तरण क लिए जहा उन बैंको की शाखाएँ नहीं थी अधिकाश शुल्क $\frac{1}{16}$% प्रतिशत था। किन्तु बैंको की अपनी एक शाखा स दूसरी शाखा के लिए राशि स्थानान्तरण शुल्क इसका आधा अर्थात $\frac{1}{32}$% प्रतिशत अथवा $\frac{1}{2}$ आना प्रति सैकडा था। केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति तथा ग्रामीण बकिंग जाँच समिति क अनुसार यह शुल्क अधिक है।

इस प्रकार इम्पीरियल बैंक न अधिकतर आशाएँ पूण की। फलत रिजव बैंक क होत हुए भी इसका स्थान देश म अत्यन्त महत्वपूण रहा। यह सहकारी बैंको को भी अत्यन्त उदारतापूवक ऋण आदि देकर सहायता करता था तथा आवश्यकता के समय उनके निक्षपो से अधिक राशि निकालने दता था जिससे इन दोनो का सम्बन्ध भी अच्छा ही रहा। इसी प्रकार सरकार को कोषा के व्यय से भा इसन बचाया क्योकि जिन स्थानो पर इम्पीरियल बैंक की शाखाए थी वहा सरकारी कोषो का काय यही करता था। इसलिए जहाँ इम्पीरियल बक की शाखाए थी वहा क सरकारी खजाने बन्द कर दिय गय। इसने अपनी कायक्षम काय शैली के कारण जनता का विश्वास सम्पादन किया जिससे इसके निक्षेप सबसे अधिक थ। रिजव बैंक के अभिकर्ता का एकाधिकार होने के कारण उसको यही विश्वास प्राप्त रहा। इसकी शाखाएँ देश के किसी भी बैंक से अधिक थीं जिनकी सख्या १६४५ तथा १६४७ क बीच ४३३ स बढकर ४८४ हो गइ। यह साप्ताहिक विवरण प्रकाशित करता था जिसमें इसकी साख बढती थी।

इम्पीरियल बैंक के विरुद्ध आक्षेप

१ **देश के व्यापारिक बैंकों का प्रतियोगी**—केवल एक ही व्यापारिक बैंक को, जिसकी आर्थिक स्थिति अन्य बैंको की अपेक्षा सुदृढ है—रिजव बैंक के अभिकर्ता होने के कारण सरकारी कोष एव राशि सम्बन्धी लेन दन का एकाधिकार है। यह न तो देश के हित मे ही है और न देश के अन्य बैंको और जनता के ही हित मे है। इन सुविधाओ के कारण वह देश के अन्य व्यापारिक बैंको का प्रतियोगी हो गया है जिससे वे अपनी उन्नति नही कर सके। हा, इस

प्रतियोगिता म जनता को कुछ अश म लाभ अवश्य हुआ है क्योंकि उन्हे सस्ती ब्याज-दर पर ऋण मिल जाता है।

२ **यूरोपीय प्रबन्ध**—इम्पीरियल बैंक की पूजी विदेशी थी तथा इनका प्रबन्ध भी यूरोपीय सचालकों के हाथ म था। इससे उसकी व्यवस्था म न तो भारतीयों का हाथ ही है और न यह भारतीयों को बैंकिंग व्यवसाय की शिक्षा ही दे रहा है। यद्यपि गत कुछ वर्षों से विदेशी पूजी क्रमश कम होकर भारतीयों के हाथों म आ रही है फिर भी विदेशियों का इसकी व्यवस्था म अधिक प्रभाव रहा। सन्तोष यही है कि केन्द्रीय सभा के लिए सरकार की ओर से निर्वाचन आरम्भ कर दिया गया है।

३ **पक्षपात पूर्णनीति**—यूरोपीय प्रबन्ध होने के कारण इसके यूरोपीय अधिकारी देश की आवश्यकताओं को नहीं समझ सके तथा इनकी नीति पक्षपाती रही है। इसने भारतीय धन से भारतीय औद्योगिक उन्नति की अपेक्षा यह विदेशियों को ऋण देकर विदेशी व्यवसायों की उन्नति करता है। इसी प्रकार भारतीय अधिकारी भी नियुक्ति नहीं करता।

४ **मुद्रा-मण्डी की उन्नति न कर सका**—यह मुद्रा मण्डी की भी उल्लेखनीय उन्नति नहीं कर सका क्योंकि बिलों के उपयोग एव कटौती को प्रोत्साहन देने की अपेक्षा यह रोकने का ही अधिक देता है।

५ **अधिक प्रबन्ध व्यय**—यूरोपीय प्रबन्ध होने के कारण इसका प्रबन्ध व्यय बहुत अधिक है तथा इसकी अनेक शाखाएं ऐसे स्थानों पर हैं जो अलाभकर हैं।

६ **नौकरशाही का बोलबाला**—इम्पीरियल बैंक एक्ट की द्वितीय अनुसूची के नियम ५१ के अनुसार बैंक के व्यवस्थापक अंशधारियों की ओर से मत दे सकते हैं। यह अधिकार इसके व्यवस्थापकों के लिए महत्वपूर्ण है एव सचालकों का निर्वाचन कुछ विशेष व्यक्तियों के हाथ म रहता है जिसमे व्यवस्था सम्बन्धी वयक्तिक केन्द्रीकरण होता है। ऐसा होने म नौकरशाही पद्धति का अवलम्ब हो सकता है जो देश एव जनता के हित की दृष्टि से अवाछनीय है।

७ **व्यापार का केन्द्रीकरण**—इम्पीरियल बैंक ने व्यापार का अधिक केन्द्रीकरण कर लिया है तथा अविकसित क्षेत्रों म बैंकिंग सुविधाएँ देने के लिए इच्छुक नहीं हैं जो सुविधाएँ भारत जैसे विशाल देश के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

८ **पत्र मुद्राओं के वर्गीकरण मे असुविधाएँ**—इसकी व्यवस्था के विरुद्ध बैंकों का यह भी आक्षेप है कि इम्पीरियल बैंक के मुफस्सिल क्षेत्र के कार्यालयों

एव सरकारी खजानों मे कम मूल्यों की पत्र-मुद्राएँ स्थानान्तरण अथवा अन्य कार्यों के लिए स्वतन्त्रता से नही ली जाती। इतना ही नहीं अपितु कही-कही तो ऐसी पत्र-मुद्राएँ सप्ताह मे केवल कुछ निश्चित दिनो मे ही ली जाती है। इससे व्यापारिक बैंको को राशि-स्थानान्तरण, पत्र-मुद्राओ के वर्गीकरण आदि मे अधिक सुविधाएँ होती है।

इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण

गत वर्षो से, विशेषत भारतीय स्वतन्त्रता के साथ, उपर्युक्त दोषो के निवारणार्थ इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न उपस्थित हुआ। इस प्रश्न का रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण करते समय १९४८ मे पुन उपस्थित किया गया था। तत्कालीन अर्थ मन्त्री श्री जान मथाई ने कहा था कि "तान्त्रिक समस्याओ के परीक्षण की दृष्टि से एव विनियोग-बाजार तथा तत्कालीन अव्यवस्थित आर्थिक परिस्थिति पर राष्ट्रीयकरण के जा दुष्परिणाम होंगे उनको देखते हुए वर्तमान परिस्थिति मे सरकार इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करना कुछ ठीक नही समझती।" नवम्बर १९५० म **बैंकिंग कम्पनीज सशोधन विधेयक** (१९५०) की बहस मे पुन राष्ट्रीयकरण का प्रश्न दुहराया गया। उस समय अर्थ मन्त्री श्री चिन्तामणि देशमुख ने कहा कि "इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रयत्न देश के आर्थिक हितो मे न होगा।" उन्होंने यह भी कहा कि "इम्पीरियल बैंक की बहुत-सी अश-पूँजी भारतीयों के अधिकार म है तथा उसके कर्मचारियो का राष्ट्रीयकरण हो रहा है तथा कुछ वर्षो मे ही इम्पीरियल बक हमारे नियन्त्रण म आ रहा है। अत हमारे निजी हिता की दृष्टि से ऐसा कोई भी कार्य जो शीघ्रतापूर्वक किया जायगा, अहितकर होगा तथा उससे इस माध्यम के उपयोग को भी हानि होगी। "हमारे बैंकिंग कलेवर मे इम्पीरियल बैंक एक आवश्यक अङ्ग है तथा ऐसा कोई भी कार्य नही होना चाहिए जिसमे उसकी उपयोगिता मे हानि हो, विशेषकर उस परिस्थिति मे जब हम नये बैंकिंग विधान द्वारा अपने बैंकिंग कलेवर का सगठन समुचित भित्ति पर कर रहे है।"[1]

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया

इम्पीरियल बैंक के सुधार के हेतु ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति (१९४९) ने अपनी रिपोर्ट (१९५०) मे सुझाव दिये थे जिनमे निम्न प्रमुख थे —

(१) इम्पीरियल बैंक को विशेषाधिकार होने के कारण वह व्यापारिक

---

[1] *Hindustan Times*, Nov. 24, 1950.

बैंकों का स्पर्धा करता है। अतः उस पर सरकार का कठोर नियन्त्रण हो परन्तु वह दैनिक क्रियाओं में हस्तक्षेप न करे।

(२) इम्पीरियल बैंक एक्ट की तालिका २ नियम ५१ के अनुसार मताधिकारों को अंशधारियों की ओर से मतदान का अधिकार है उसे निरस्त किया जाय तथा बैंकिंग एक्ट की धारा १२ को लागू किया जाय। इससे प्रत्येक अंशधारी कुल मतों के ५% से अधिक मत न दे सकेगा।

(३) बैंक के उच्च पदों का भारतीयकरण हो।

(४) बैंक राशि-स्थानान्तरण शुल्क को वर्तमान शुल्क से आधा करे।

(५) बैंक अपने कार्यालयों की संख्या में वृद्धि करे।

उक्त सिफारिशों के अनुसार १ सितम्बर १९५ में स्थानान्तरण शुल्क आधा किया गया तथा सुविधाएँ भी बढ़ाई गई। साथ ही इम्पीरियल बैंक ने ३० जून १९५३ तक तत्कालीन कोष भुगतान कार्यालयों (Treasur pa offices) को शाखाओं में परिवर्तन करना तथा ० नई शाखाएँ खोलना स्वीकार किया था। इसमें ३० जून १९५३ तक उसने १२ नई शाखाएँ खोली तथा २२ कोष भुगतान कार्यालयों को शाखाओं में बदला। १ जुलाई १९५१ से ५ वर्ष में इम्पीरियल बैंक को ११४ कार्यालय खोलने थे जिसमें जून १९५५ तक उसने केवल ६ कार्यालय खोले। यह कार्य सन्तोषप्रद नहीं था।

ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति की सिफारिश के अनुसार ग्रामीण बैंकिंग सुविधाओं की जाँच करने एवं उनके विकास हेतु सिफारिश करने के लिए १९५१ में रिजर्व बैंक ने ग्रामीण साख सर्वे समिति नियुक्ति की। इसकी रिपोर्ट १९५४ में प्रकाशित हुई। इसमें उन्होंने कहा कि देश के व्यापारिक बैंक कृषि-साख में बहुत कम रुचि लेते हैं तथा उन्होंने ग्रामीण क्षेत्रों में शाखाओं का विस्तार भी नहीं किया। अतः समिति ने सिफारिश की कि सरकारी साझे में व्यापारिक बैंकिंग संस्था के रूप में शक्तिशाली स्टेट बैंक की स्थापना की जाय जो देश भर में बैंकिंग विकास को बढ़ाने, देश के सहकारी एवं अन्य बैंकों को विस्तृत राशि-स्थानान्तरण सुविधाएँ देने के लिए अपनी शाखाएँ खोले तथा सुदृढ़ बैंकिंग सिद्धान्तों एवं राष्ट्रीय नीति के अनुसार अपनी प्रभावी नीति रखे।

इस सिफारिश के अनुसार २० दिसम्बर १९५४ को इम्पीरियल बैंक पर उचित एवं प्रभावी सरकारी नियन्त्रण होगा यह घोषणा अर्थमन्त्री ने की। तदनुसार १ अप्रैल १९५५ को स्टेट बैंक आफ इण्डिया विषयक लोकसभा में

[1] R B I Report on Currency and Finance 1954-55 p 41

रखा गया जो दोनों ही सदनों में पास हो गया तथा ८ मई १९५५ को राष्ट्रपति ने इस पर स्वीकृति की मुहर लगाई।

स्टेट बैंक का संगठन

इस अधिनियम के अनुसार १ जुलाई १९५५ से इम्पीरियल बैंक के भारत स्थित कार्यालय, एजेन्सियाँ तथा शाखाएँ स्टेट बैंक को हस्तान्तरित हो गई हैं। इनमें से कोई भी रिजर्व बैंक की स्वीकृति बिना बन्द नहीं की जा सकती। *इस समय स्टेट बैंक का केन्द्रीय कार्यालय बम्बई, तथा स्थानीय कार्यालय बम्बई,* कलकत्ता तथा मद्रास में हैं। आवश्यकता के समय केन्द्रीय सरकार बैंक की केन्द्रीय सभा की सलाह से स्थानीय कार्यालयों को खोल सकती है।

१ जुलाई १९५५ से आरम्भ होने वाले आगामी ५ वर्षों में ४०० नई शाखाएँ खोलने की जिम्मेदारी स्टेट बैंक पर है। केन्द्रीय सरकार आवश्यक समझे तो इस अवधि को बढ़ा सकती है। ये शाखाएँ ऐसे स्थानों पर खोली जायगी जो *केन्द्रीय सरकार रिजर्व बैंक एवं स्टेट बैंक मिलकर निश्चित करें। परन्तु ऐसी* नई आरम्भ की हुई शाखा रिजर्व बैंक की पूर्व-अनुमति बिना बन्द नहीं होगी।

पूँजी—इसकी अधिकृत पूँजी २० करोड रु० है जो १०० रु० के २० लाख अंशों में विभाजित है। इसकी निर्गमित एवं चुकता पूँजी ५६२ ५० लाख रु० ५,६२,५०० पूर्ण दत्त अंशों में है। चुकता पूँजी के ४५% अंश निजी अंशधारियों को दिये जा सकते हैं और शेष ५५% सदैव रिजर्व बैंक के पास रहेंगे। *अधिकृत पूँजी बढ़ाने या कम करने का अधिकार भारत सरकार को है।* परन्तु स्टेट बैंक का केन्द्रीय बोर्ड अपनी निर्गमित पूँजी १२ ५० करोड रु० तक बढ़ा सकता है यदि इससे अधिक बढ़ाना हो तो केन्द्रीय सरकार की अनुमति लेना अनिवार्य है। किसी भी दशा में रिजर्व बैंक को स्टेट बैंक की निर्गमित पूँजी का ५५% भाग रखना अनिवार्य है।

अंशधारियों के अधिकार—रिजर्व बैंक के ५५% अंशों के सिवा शेष ४५% *अंशों के हस्तान्तरण पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। परन्तु कोई भी व्यक्ति* अपने नाम या सम्मिलित नाम से २०० से अधिक अंश नहीं ले सकता। यह नियम निम्न संस्थाओं पर लागू नहीं है—

(अ) रिजर्व बैंक।

(आ) कॉरपोरेशन्स।

(इ) बीमा संस्थाएँ।

(ई) स्थानीय अधिकारी।

(उ) सहकारी संस्थाएँ।

(ऊ) निजी या सार्वजनिक सम्पत्ति अथवा धार्मिक सम्पत्ति के प्रन्यासी।

उक्त संस्थाएँ, रिजर्व बैंक को छोडकर, निर्गमित पूंजी के 1% से अधिक अंश पर मत नहीं दे सकती। स्टेट बैंक के अंश को समावेश मान्य प्रतिभूतियों में होता है।

क्षति पूर्ति—इम्पीरियल बैंक के पुराने अंशधारियों को प्रत्येक पूर्णदत्त अंश के लिए १७६५ ०० रु० तथा आंशिक चुकता अंश के लिए ४३१ ३० रु० क्षति पूर्ति के मिला। यह क्षति पूर्ति उन्हें सरकारी प्रतिभूतियों में अथवा अंशधारी चाहे तो स्टेट बैंक के अंशों में दी जायगी। जिन अंशधारियों के नाम १६ दिसम्बर १९५४ को इम्पीरियल बैंक के अंश रजिस्टर में थे उन्हें आवेदन देने पर १०,००० रु० तक क्षति पूर्ति की राशि नगद मिलगी।

प्रबन्ध—स्टेट बैंक का प्रबन्ध केन्द्रीय सभा करती है जिसमें २० सदस्य हैं —

(१) **सभापति एवं उप सभापति**—इनकी नियुक्ति रिजर्व बैंक के परामर्श से केन्द्रीय सरकार करती है।

(२) **अधिकतम दो प्रबन्ध संचालक**—इनकी नियुक्ति बैंक की केन्द्रीय सभा केन्द्रीय सरकार की अनुमति से करती है।

(३) **६ संचालक**—रिजर्व बैंक को छोड़कर अन्य अंशधारियों द्वारा निर्वाचित ३० जून १९५७ के बाद से क्रमश दो दो के हिसाब से प्रति वर्ष निवृत्त होंगे।

(४) **८ संचालक**—रिजर्व बैंक की सलाह से केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत होंगे। ये प्रादेशिक एवं आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व करेंगे। इनमें से ३० जून १९५७ के बाद प्रति वर्ष दो-दो संचालक क्रमशः निवृत्त होंगे।

(५) **१ संचालक**—केन्द्रीय सरकार नियुक्त करेगी। इसके लिए समय की सीमा नहीं है।

(६) **१ संचालक**—रिजर्व बैंक मनोनीत करेगा। यह किसी भी अवधि तक रह सकता है।

प्रारम्भिक अवस्था में बैंक की शाखाओं पर अंशधारियों की सूची न होने से उनके संचालकों की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार ने की थी। अतः सभापति, उप-सभापति तथा प्रबन्ध-संचालकों को छोड़कर अन्य संचालक ३० जून १९५७ को निवृत्त होंगे। सभापति, उप सभापति तथा प्रबन्ध-संचालकों की नियुक्ति ५ वर्ष के लिए है जिसके बाद उनकी नियुक्ति पुन हो सकती है।

स्थानीय सभाएँ—स्टेट बैंक के स्थानीय कार्यालयो का कार्य स्थानीय सभाएँ करेंगी, जिनमें—

(अ) केन्द्रीय सभा के वे सचालक जो अशधारियों द्वारा निर्वाचित तथा उक्त ४ के अनुसार केन्द्रीय सरकार ने मनोनीत किये हों। परन्तु इनमे वे ही सचालक होग जो उस क्षेत्र के निवासी हों।

(आ) प्रत्येक स्थानीय कार्यालय की अशधारियों की सूची के सदस्यो द्वारा चुने गय अधिकतम ४ सदस्य।

सामान्य व्यवसायिक सुविधा के लिए केन्द्रीय सभा स्थानीय समितिया बना सकती है जिसकी सदस्य-सख्या का निर्णय केन्द्रीय सभा करेगी।

स्थानीय सभा एव समितियाँ वही कार्य करेंगी जो केन्द्रीय सभा निर्धारित करे।

बैंक के कार्यों को करते समय केन्द्रीय सभा व्यवसायिक सिद्धान्तो का पालन करते हुए जनहित की ओर ध्यान देगी।

स्टेट बैंक के कार्य

(अ) **रिजर्व बैंक का एजेन्ट**—स्टेट बैंक उन सब स्थानो मे, जहाँ इसकी शाखाएँ है किन्तु रिजर्व बैंक के बैंकिंग-विभाग की शाखाएँ नही है, रिजर्व बैंक के एजन्ट का काम करता है। एजेन्ट की हैसियत से यह बैंक सरकार (केन्द्र, राज्य तथा स्थानीय) की राशि जमा करता है, उसके लेखे पर राशि का भुगतान, सग्रहण तथा स्थानान्तरण करता है और सरकार के लेखे पर धातु (सोना, चादी) व सिक्यूरिटिया का लेन देन करता है। इसके अतिरिक्त यह वे सब काम कर सकता है, जो रिजर्व बैंक समय समय पर उसे सौंपे। इस काम के लिए रिजर्व बैंक और स्टेट बैंक म समझौता होना आवश्यक है, जिसमे एजेन्सी की शर्तो का उल्लेख हो और स्टेट बैंक को मिलने वाली राशि निर्धारित की गई हो। किसी समय समझौते सम्बन्धी किसी विषय पर रिजर्व बैंक और स्टेट बैंक मे विवाद व झगडा होने पर केन्द्रीय सरकार का निर्णय अन्तिम निर्णय होगा।

(ब) **अन्य क्रियाएँ**—(१) ऋण व अग्रिम देना तथा रोकड-साख (cash credit) के आधार पर राशि स्वीकृत करना। इस प्रकार के ऋण व अग्रिम निम्न जमानता पर दे सकता है—

(अ) उन स्कन्ध (stock), कोष (fund) तथा प्रतिभूतिया की जमानत पर, जिनमे प्रन्यासी (trustee) भारतीय अधिनियम व अन्य किसी वैदेशिक नियम के अनुसार, जहाँ स्टेट बैंक की शाखा हो, प्रन्यास की राशि विनियोग कर सकता हो,

(ब) देश तथा अन्य किसी ऐसे देश में जहां बैंक की शाखा हो नगरपालिका, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड तथा अन्य किसी स्थानीय अधिकारी द्वारा निर्गमित ऋण-पत्रों एवं अन्य ऐसी ही प्रतिभूतियों की जमानत पर

(स) भारत में रजिस्टर्ड तथा बैंक के केन्द्रीय बोर्ड द्वारा मान्य किसी सीमित स्कन्ध कम्पनी के ऋण पत्रों तथा केन्द्रीय बोर्ड द्वारा मान्य देशों की कम्पनियों के ऋण पत्रों की जमानत पर

(द) भारत स्थित कार्पोरेशनों के अंश एवं ऋण पत्रों की जमानत पर

(य) माल तथा माल के अधिकार पत्रों की जमानत पर जो ऋण के बदले में बैंक के पास जमा किये गये हों या उसके नाम बेचान किये गये हों

(फ) केन्द्रीय बोर्ड के आदेशानुसार उस माल की जमानत पर जो सम्बन्धित ऋण अग्रिम व रोकड़ साख के बदले में बैंक के नाम उपप्राधियित (hypothecate) किये गये हों

(ज) स्वीकृत विनिमय बिलों आदाता (payee) द्वारा बेचान किये गये प्रतिज्ञा पत्रों तथा सम्मिलित एवं व्यक्तिगत प्रतिज्ञा पत्रों की जमानत पर जो दो या दो से अधिक ऐसे व्यक्तियों ने लिखे हों जिनमें किसी प्रकार की सामान्य साझेदारी न हो

(ह) सीमित कम्पनियों के चलता अंशों या अचल सम्पत्ति या उनके अधिकार पत्रों की सहायक प्रतिभूतियों की जमानत पर

(स्टेट बैंक सहायक प्रतिभूतियों की जमानत पर तभी ऋण दे सकता है जब उनकी मूल जमानत उक्त पदों में (अ) से (य) तक हो या (फ) तथा (ज) की हों।)

यदि भारत सरकार किसी विदेशी सरकार स्थानीय अधिकारी या राज्य सरकार को इस कार्य के लिए मान्यता दे तो बैंक का केन्द्रीय बोर्ड उन्हें बिना किसी उक्त जमानत या अन्य विशेष जमानत (specific security) के भी ऋण तथा अग्रिम दे सकता है।

(२) यदि किसी ऋणी ने बैंक से ऋण अग्रिम तथा रोकड़-साख लेते समय जमानत के रूप में कोई ऋण पत्र प्रतिज्ञा-पत्र स्कन्ध रसीद (stock receipt) बौण्ड्स वार्षिकी (annuities) अंश स्कन्ध (stock) प्रतिभूतियां माल या माल के अधिकार-पत्र जमा किये हों हस्तान्तरित किये हों अधिकृत किये हों और फिर समय समाप्त होने पर भी ऋण चुकाकर वापस न लिये हों तो स्टेट बैंक ऐसे पत्रों माल व जमानतों को बेच सकता है और बकाया राशि वसूल कर सकता है

(३) विनिमय-बिलों तथा अन्य बेचानसाध्य विलेखों का लिखना, स्वीकारना कटौती करना एवं क्रय-विक्रय करना,

(४) अपने कोष का उक्त (१) में लिखित (अ) से (द) तक की प्रतिभूतियों में विनियोग करना और फिर उन्हें आवश्यकतानुसार रोकड़ में परिवर्तित करना,

(५) अपने कार्यालयों, शाखाओं तथा एजेंसियों द्वारा भुगतान किये जाने वाले माँग-विकर्ष, टेलीग्राफिक ट्रान्सफर तथा अन्य प्रकार के राशि स्थानान्तरण-पत्र खरीदना और आदेश तथा वाहक परिसाख-पत्र लिखना, निर्गमित करना तथा प्रचलित करना,

(६) सोना, चाँदी तथा सोने-चाँदी के सिक्के खरीदना व बेचना,

(७) जनता से जमा राशि लेना तथा अन्य प्रकार से रोकड़ लेखे खोलकर राशि स्वीकारना,

(८) सब प्रकार के बौण्ड्स (bonds), अंश-पत्र, अधिकार-पत्र तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ व कागजात सुरक्षा के लिए स्वीकारना,

(९) ऋण के बदले में प्राप्त हुई अथवा डूबी हुई चल और अचल सम्पत्ति को बेचना और बेचकर उसकी राशि वसूल करना,

(१०) सहकारी समिति एक्ट, १९१२ के अन्तर्गत रजिस्टर्ड सहकारी समितियों के एजेन्ट की हैसियत से काम करना,

(११) उक्त धारा (४) के अन्तर्गत अधिकृत अंशों, स्कन्धों, ऋण-पत्रों तथा अन्य प्रतिभूतियों का अभिगोपन करना,

(१२) कमीशन लेकर एजेन्ट की हैसियत से काम करना तथा क्षति-पूर्ति जमानती (suretyship) तथा गारण्टी के अनुबन्ध करना,

(१३) अकेले या सम्मिलित रूप से प्रन्यासी के रूप में काम करना तथा किसी बैंकिंग कम्पनी के निस्तारक (liquidator) के रूप में काम करना,

(अ) सार्वजनिक कम्पनी के अंश तथा अन्य प्रकार की प्रतिभूतियों के क्रय विक्रय, हस्तान्तरण तथा स्वामित्व प्राप्त करने के लिए,

(ब) अंशों व अन्य किसी भी प्रकार की प्रतिभूतियों की मूलराशि, ब्याज व लाभांश वसूल करने के लिए,

(स) उक्त राशि को भारत के अन्तर्गत व भारत के बाहर विनिमय बिलों द्वारा भेजने के लिए,

(१४) विदेशों में भुगतान होने वाले विनिमय बिल व परिसाख पत्र लिखना,

(१५) मौसमी कृषि-कार्यों के हेतु लिखे गये तथा विदेशों म चुकाये जाने वाले विनिमय-बिलों का अधिक से अधिक १५ महीने की अवधि के लिए खरीदना तथा अन्य कार्यों के हेतु लिखे गये बिलों को अधिक से अधिक ६ माह के लिए खरीदना,

(१६) अपने निर्धारित व्यवसाय के लिए राशि उधार लेना तथा उसकी जमानत में अपनी सम्पत्ति रखना,

(१७) यदि किसी सीमित स्कन्ध कम्पनी या सहकारी समिति का विलियन होने वाला हो तो उसे टालने के लिए उन्हें उधार राशि देना, अग्रिम देना तथा उनका रोकड़-लेखा खोलना, तथा विलियन के लिए उन्हें राशि की सुविधाएँ देना,

(१८) कोर्ट ऑफ वार्ड्स को उनके सम्पत्ति की जमानत पर ऋण तथा अग्रिम देना, (पर ये ऋण तथा अग्रिम राज्य सरकार की आज्ञा बिना नहीं जा सकते।)

(१९) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्वीकृति से किसी अन्य बैंक के अंश प्राप्त करना, खरीदना, लेना तथा बेचना, तथा कोई बैंक स्थापित करके उसे अपनी सहायक कम्पनी के रूप में चलाना;

(२०) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट की धारा ८ म उल्लिखित पेंशन-कोष में समय-समय पर राशि देकर सहायता करना।

(२१) अन्य कोई भी व्यवसाय करना, जिसे केन्द्रीय सरकार बैंक के केन्द्रीय बोर्ड की सिफारिश पर रिजर्व बैंक की सलाह से निर्धारित कर दे।

(२२) स्टट बैंक आफ इण्डिया एक्ट की अन्य धाराओं में निर्धारित व उन धाराओं से सम्बन्धित कोई भी कार्य करना।

(२३) उक्त व्यवसाय से सम्बन्धित तथा उसके परिपूरक कोई भी कार्य करना एवम् विदेशी विनिमय सम्बन्धी व्यवसाय भी करना।

(स) अन्य बैंकों का व्यवसाय प्राप्त करने का विशेषाधिकार—स्टेट बैंक केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से या केन्द्रीय सरकार और रिजर्व बैंक के आदेश पर अन्य किसी बैंकिंग संस्था का व्यवसाय (सम्पत्ति एव देनदारी) अपने अधिकार म ले सकता है। इसकी निम्न पद्धति होगी —

जिन शर्तों पर स्टेट बैंक प्रस्तावित बैंकिंग संस्था को लेना चाहता हो, वे शर्तें स्टेट बैंक के केन्द्रीय बोर्ड, प्रस्तावित बैंकिंग संस्था की संचालक-सभा तथा रिजर्व बैंक द्वारा स्वीकृत होनी चाहिए। फिर उन्हें केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करना चाहिए। यदि केन्द्रीय सरकार उचित समझे

तो अपनी लिखित स्वीकृति देगी। तब वे शर्तें स्टेट बैंक एव प्रस्तावित बैंकिंग संस्था के अंशधारी व ऋणदाताओं को अनिवार्य रूप से मान्य होंगी।

इस प्रकार उस बैंकिंग संस्था का व्यवसाय व उसकी लेनदारी तथा देनदारी प्राप्त करने के बदले में स्टेट बैंक उसका प्रतिफल (मूल्य) चाहे तो रोकड़ में, अथवा कुछ रोकड़ और शेष राशि के अंश देकर चुका सकता है। अपने अंश देने के लिए, यदि आवश्यक हो तो, स्टेट बैंक अपनी निर्गमित पूँजी बढ़ा भी सकता है। ऐसी बैंकिंग संस्था का व्यवसाय चलाने का पूर्ण अधिकार स्टेट बैंक को होगा।

स्टेट बैंक की निषिद्ध क्रियाएँ

(१) स्टेट बैंक सामान्यतः ६ मास से अधिक अवधि के ऋण तथा अग्रिम नहीं दे सकता।

(२) अपने ही अंशों तथा स्कन्ध की जमानत पर ऋण तथा अग्रिम नहीं दे सकता।

(३) सामान्यतः अचल सम्पत्ति व उसके अधिकार-पत्र की जमानत पर ऋण तथा अग्रिम नहीं दे सकता।

(४) व्यक्ति विशेष या किसी फर्म को किसी एक समय में कुल मिलाकर एक निश्चित मात्रा से अधिक ऋण नहीं दे सकता। निश्चित मात्रा वह स्वयं ही नियत कर सकता है। इसके कुछ अपवाद भी हैं जहाँ वह निर्धारित राशि से अधिक भी दे सकता है—ऐसा वह अपने एक्ट की धारा ३३ (1) (a) से (e) के अन्तर्गत कर सकता है।

(५) बैंक किसी व्यक्ति विशेष या फर्म के उन बेचानसाध्य विलेखों की कटौती नहीं कर सकता, न उन्हें खरीद सकता है और न उनकी जमानत पर ऋण एवं अग्रिम ही दे सकता है, जिनके प्रति कम से कम ऐसे दो व्यक्तियों या फर्मों का अलग अलग दायित्व न हो, जो एक दूसरे से सामान्य साझीदारी के अर्थों में बिलकुल अलग अलग न हों—ऐसे व्यक्तियों तथा फर्मों में किसी प्रकार की साझीदारी नहीं होनी चाहिए।

(६) बैंक निम्न प्रकार के बेचानसाध्य विलेखों की न कटौती कर सकता है और न उनकी जमानत पर ऋण, अग्रिम, पर रोक-ऋण दे सकता है—

(अ) जो विलेख यदि मौसमी कृषि कार्यों के लिए लिखे गये हैं जो १५ महीने, तथा अन्य कार्यों के निमित्त हैं तो ६ माह से अधिक अवधि के लिए हों और कटौती कराने, ऋण तथा अग्रिम लेने या रोक-ऋण स्वीकृत कराने समय जिनकी अवधि उक्त १५ महीने और ६ महीने से अधिक के लिए शेष हो।

(व) विनिमय-बिल आरम्भ में ही मौलिक रूप में यदि मौसमी कृषि कार्यों के लिए है तो १५ मास से अधिक, तथा अन्य कार्यों के लिए हों तो ६ मास से अधिक अवधि के लिए लिखे गये हो।

(७) बैंक अपने व्यवसाय, अधिकारियों और कर्मचारियों के निवास के लिए आवश्यक भूगृहादि तथा धारा ३३ के अन्तर्गत दिये हुए ऋणों के डूब जाने के बदले म प्राप्त हुई सम्पत्ति को छोड अन्य किसी प्रकार की अचल सम्पत्ति नही रख सकता, न खरीद सकता है और न ऐसी किसी सम्पत्ति मे अपना कोई भाग (अश) रख सकता है। पर यदि उसके पास आरम्भ मे ही ऐसी कोई अचल सम्पत्ति हो, जिसका वह तुरन्त उस समय उक्त कार्यों म उपयोग न कर पा रहा हो तो वह उसे किराये पर दे सकता है।

यदि किसी व्यक्ति का स्टेट बैंक म लेखा हो तो वह उस लेखे पर बैंक द्वारा निर्धारित राशि अधिक राशि का अधिविकर्ष (overdraft) ले सकता है। उस समय उस पर निषिद्ध क्रियाओ की उक्त धारा (४) लागू नहीं होगी।

बैंक के कोष

बैंक की जिम्मेदारी है कि वह अपने पास दो कोष रखे —

(१) सामजस्य एव विकास-कोष (Integration and Development Fund), और

(२) सचित कोष (Reserve Fund)।

विकास-कोष बनाने के लिए बैंक को निम्न राशि जमा करनी आवश्यक होगी—

(अ) रिजर्व बैंक को स्टेट बैंक की निगमित पूंजी के ५५% अश पर मिलने वाला लाभाश।

(ब) रिजर्व बैंक या केन्द्र सरकार द्वारा समय-समय पर दी गई अनुदान राशि।

विकास कोष का उपयोग केवल निम्न उद्देश्यो के लिए किया जा सकता है—

(अ) अगले पाँच वर्षो म ४०० नई शाखाएँ खोलने और उन्हे चलाने मे जो अधिक व्यय होगा और उन पर जो हानि होगी उसकी पूर्ति के लिए।

(ब) अन्य हानियो और खर्चों की पूर्ति के लिए जिनकी स्वीकृति केन्द्र सरकार ने रिजर्व बैंक की सलाह से दी हो।

विकास-कोष मे जमा राशि रिजर्व बैंक की सम्पत्ति मानी जाती है

और उस पर स्टेट बैंक के अशधारियों या अन्य किसी व्यक्ति का अधिकार नहीं हो सकता।

सचित कोष मे बैंक को निम्न राशि जमा करनी होगी —

(अ) वह सचित कोष जो १ जुलाई, १९५५ को इम्पीरियल बैंक के पास था।

(ब) वह राशि जो स्टेट बैंक प्रति वर्ष लाभाश घोषित करने से पूर्व अपने शुद्ध लाभ मे से इस कोष मे जमा करे।

स्टेट बैंक एक्ट म व्यवस्था की गई है कि बैंक की कार्य-प्रणाली एव व्यवसायिक क्रिया कलापो की जाँच के लिए वर्ष मे अशधारियों की एक सामान्य सभा होगी। सामान्यत यह सभा उन्ही स्थानो पर होगी, जहाँ बैंक के स्थानीय कार्यालय हो और इसकी सूचना पहले से ही दी जायेगी।

स्टेट बैंक एक्ट मे सशोधन

परन्तु इम्पीरियल बैंक की विदेशी सम्पत्ति एव देनदारियों का स्टेट बैंक को हस्तान्तरण होने मे कुछ वैधानिक अडचनें थी। अत १९५५ मे स्टेट बैंक एक्ट मे एक अध्यादेश (ordinance) द्वारा सशोधन किया गया है। इससे यह व्यवस्था हो गई है कि विदेश-स्थित लेनदारी एव देनदारियो का स्टेट बैंक को हस्तान्तरण करने म यदि इम्पीरियल बैंक को वहाँ के कानूनो के कारण कोई कठिनाई हो तो इम्पीरियल बैंक उन कानूनो के अनुसार ऐसी व्यवस्था करेगी जिससे वहाँ का व्यवसाय स्टेट बैंक को मिल सके। और यदि इम्पीरियल बैंक चाहे तो उन देशो मे अपनी सम्पत्ति को वसूल करे तथा देनदारिया का भुगतान कर जो राशि शेष बचे उसका हस्तान्तरण स्टेट बैंक को करे।

स्टेट बैंक की क्रियाएँ

स्टेट बैंक ने १ जुलाई १९५९ को चार वर्ष पूरे किये। इस अवधि मे बैंक ने शाखा विस्तार की ओर अधिक ध्यान दिया। स्टेट बैंक एक्ट के अन्तर्गत इस बैंक को ५ वर्ष म ४०० शाखाएँ खोलना है। इसके सिवाय इम्पीरियल बैंक ने पिछले कार्य-क्रम के अनुसार ११४ शाखाओ मे से १ जुलाई १९५५ तक ६३ शाखाएँ खोली अत बची हुई ५१ शाखाओं की जिम्मेदारी स्टेट बैंक ने ली है। सरकार ने स्टेट बैंक को १८३ शाखाओ के स्थान बता दिये है। तदनुसार स्टेट बैंक न चार वर्ष मे १८४ शाखाएँ खोली है जिनमे से ३० जून १९५७ तक ७०२ शाखाएँ खोली गई थी, ३० जून १९५७ एव १९५९ को समाप्त होने वाले वर्ष मे क्रमश १३ एव ६९ शाखाएँ नई खोली गई। इससे स्पष्ट है कि

जिस जिम्मेदारी के साथ स्टेट बैंक कार्य कर रहा है उससे उसके निर्माण का हेतु निश्चय ही सफल होगा। [स्थिति-विवरण अगले पृष्ठ पर देखिए।]

३० जून १६५६ को समाप्त होने वाले वर्ष में सूचीबद्ध बैंकों की कुल संख्या ६३ तथा उनके कार्यालयों की संख्या ३,७०७ हो गई।

दूसरे, इस अवधि में स्टेट बैंक के निक्षेपों में भी आश्चर्यजनक रीति से वृद्धि हुई है। इससे स्पष्ट है कि जिस जिम्मेदारी के साथ स्टेट बैंक कार्य कर रहा है उससे उसके निर्माण के हेतु निश्चय ही सफल होगा। [स्थिति विवरण देखिए।]

स्टेट बैंक की आलोचना

(१) स्टेट बैंक को सरकार का विशेष आश्रय प्राप्त है। इस कारण उसके निक्षेपों में आश्चर्य जनक गति से वृद्धि हुई है। इस सम्बन्ध में उसकी स्थिति अन्य सूचीबद्ध बैंकों से अधिक सुविधापूर्ण है। उदाहरणार्थ भारत और अमरीका के पब्लिक लॉ ४८० के अन्तर्गत प्राप्त होने वाली राशि स्टेट बैंक में जमा की जाती है जो ३०० करोड़ रु० होने का अनुमान है।[1] इससे बैंक को दुहरा लाभ होता है। एक तो बिना किसी प्रयास के अधिक निक्षेप मिल जाते हैं। दूसरे उसे इन पर मुद्रामण्डी की सामान्य ब्याज दर से कम ब्याज देना पड़ता है। अतः उक्त राशि का कुछ अंश देश के सूचीबद्ध बैंकों को भी दिया जाना चाहिए।

(२) स्टेट बैंक को अन्य बैंकों की अपेक्षा शाखाएँ खोलने की अनुमति अन्य बैंकों की अपेक्षा जल्दी मिल जाती है। साथ ही इस हेतु स्टेट बैंक को अनेक विशेष सुविधाएँ दी जाती हैं जैसे कर्मचारियों को कर मुक्त ग्रेच्युइटी, जो अन्य बैंकों का नहीं है। फिर भी स्टेट बैंक ने प्रथम दो वर्षों में केवल १०२, तीसरे में १३ तथा चौथे वर्ष में ३६ शाखाएँ खोली हैं। समझ में नहीं आता कि ५ वर्ष में वह अपनी ४०० शाखाएँ खोलने की जिम्मेदारी कैसे पूर्ण करेगा जबकि अभी तक केवल १८४ शाखाएँ खोली हैं।

(३) स्टेट बैंक की ६०% नई शाखाएँ उन्हीं स्थानों पर हैं जहाँ पहले से ही बैंकिंग सुविधाएँ थी। ऐसी स्थिति में भारतीय अर्थ व्यवस्था को अथवा ग्रामीण बैंकिंग विकास को कौन-सा लाभ हुआ? अतः नई शाखाएँ ऐसे स्थानों पर खोली जाना चाहिए जहाँ बैंकिंग सुविधाएँ नहीं हैं तभी इसको दी जाने वाली विशेष सुविधाओं का लाभ देश को हो सकेगा।

---

[1] Presidential address of Shri C H Bhabha at the 15th Annual Conference of the Indian Bankers Association on 3rd April, 1959.

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया स्थिति विवरण दिनांक ११ सितम्बर १९५९

पूंजी एवं देनदारियाँ			लेनदारियाँ एवं सम्पत्ति		
अधिकृत पूंजी २० लाख अंश, प्रत्येक १०० रु० का	२०,००,०००,०००		रोकड़ हस्ते एवं रिजर्व बैंक में		२८,६८,९९,०००
निर्गमित, प्रार्थित एवं चुकता पूंजी—			अन्य बैंकों में शेष		१,९९,१९,०००
५६२५०० अंश प्रत्येक १०० रु० का	५६२,५०,०००	५६२,५०,०००	मॉंग एवं अल्पकालीन सूचना वाले ऋण विनियोग—		३ ३३,३३,०००
संचित कोष एवं अन्य कोष		७००,००,०००	सरकारी एवं अन्य प्रन्यासी प्रतिभूतियाँ	३६५,८९,६०,०००	
निक्षेप एवं अन्य लेखे		५६७,०६,२७,०००	अन्य अधिकृत विनियोग	१०२७,२७,०००	३७१,७३,८७,०००
अन्य बैंकों एवं एजेन्टों आदि से ऋण		— —	अग्रिम—		
देय बिल		१०,२३,८०,०००	ऋण, रोक ऋण, अधिविकर्ष आदि	१५३,२२,०६,०००	
संग्रहण के लिए बिल (प्रति प्रविष्ट १)		१८३,७३,०००	क्रय एवं कटौती बिल	९०९,७२,०००	१६२,२८,७८,०००
स्वीकृति, बेचान एवं अन्य उत्तरदायित्व (प्रति प्रविष्ट २)		१४६ २०,०००	प्राप्य बिल (प्रति प्रविष्ट १)		१८३,७३,०००
अन्य देनदारियाँ		११०५,३६,०००	स्वीकृति, बेचान आदि पर ग्राहकों का दायित्व प्रति प्रविष्ट (२)		१४६,२०,०००
			भवन (घिसावट कम करने के बाद)		१२४,१८,०००
			फर्नीचर फिक्स्चर्स (,, ,,)		११४,६३,०००
			अन्य सम्पत्ति		२६,५७,६७,०००
		६०४,३०,८७,०००			६०४,३०,८७,०००

अतः केन्द्र सरकार को रिजर्व बैंक और स्टेट बैंक के इन दोषों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे देश की बैंकिंग व्यवस्था विकसित होकर ग्रामीण क्षेत्रों को बैंकिंग सुविधाएँ उपलब्ध हो सके।

साराश

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने आर्थिक सहायता प्राप्त करने एवं जनता को बैंकिंग सुविधाएँ देने के लिए बगाल, बम्बई तथा मद्रास मे क्रमश १८०६, १८४० तथा १८४३ मे प्रेसीडेंसी बैंको की स्थापना की। इनको सरकार की ओर से लेन देन करने का एकाधिकार था तथा १८६२ तक पत्रमुद्रा चलाने का भी अधिकार था। १८६८ मे रुई के सट्टे मे बैंक ऑफ बॉम्बे को भारी हानि हुई इसलिए उसका विलियन कर १ करोड रुपये की पूँजी से इसी नाम की दूसरी बैंक खोली गयी। इसलिए १८७६ मे प्रेसीडेंसी बैंक एक्ट द्वारा इनकी क्रियाओं पर प्रतिबन्ध लगाये गये।

इनमे अनेक दोष थे इसलिए १८६० तथा १८७६ मे इनके एकीकरण से एक अखिल भारतीय बैंक बनाने की माँग की गई। ये दोष थे—(१) केवल लाभकर स्थानो मे शाखाएँ खोलना। (२) पूँजी की कमी के कारण आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति न करना। (३) भारतीय बैंकिंग विकास मे सन्तोषप्रद काय न करना। इसके बाद १८९८ तथा १९१३ मे काउन्टर और चेम्बरलेन समिति ने केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता पर जोर दिया, फलस्वरूप १९२० मे इम्पीरियल बैंक एक्ट स्वीकृत हुआ और १९२१ मे इम्पीरिल बैंक की स्थापना हुई। इसकी स्थापना के तीन हेतु थे—सरकारी एवं केन्द्रीय बैंकर के नाते काम करना तथा देश मे बैंकिंग सुविधाओं का विकास करना। इसलिए इस पर प्रथम ५ वर्ष मे १०० शाखाएँ खोलने की जिम्मेवारी थी।

इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक न बनाने के कारण—(१) व्यापारिक बैंकिंग कार्य करना, (२) केन्द्रीय बैंक बनाया जाता तो इसे अपनी शाखाएँ बन्द करनी पडतीं, (३) लाभ-नियन्त्रण होना आवश्यक था जिसे अशधारी नहीं मानते, (४) केन्द्रीय बैंक की कमी को दूर करने की जिम्मेवारी भी पूरी नही की, (५) इसकी नीति देश हित मे न थी।

इम्पीरियल बैंक का सगठन—बम्बई, मद्रास तथा बगाल इन तीनों प्रेसीडेंसी बैंको के एकीकरण से हुआ। इसकी अधिकृत पूँजी ११ २५ करोड रु० तथा चुकता पूँजी ५६२ ५ लाख रुपए थी। इसका प्रबन्ध केन्द्रीय सभा करती थी जिसके १६ सदस्य थे तथा एक अतिरिक्त सदस्य केन्द्रीय सरकार मनोनीत

करती थी। इसके सिवा बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ते मे स्थानीय सभाएँ भी थी जिनके ७ सदस्य थे।

१६३५ मे रिजर्व बैंक की स्थापना से इसका कार्य क्षेत्र विस्तृत हो गया तथा यह वही क्रियाएँ करता था जो वर्तमान स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया करता है। इम्पीरिल बैंक की क्रियाओ मे अनेक दोष थे—(१) देश मे बैंकिंग विकास एव बैंकिग शिक्षा का आयोजन होगा जो यह न कर सका, (२) मुद्रा-मण्डी मे मौसमी साख की कमी को दूर कर सकेगा, (३) बैंको का यह मार्ग दर्शन न कर सका अपितु उनका प्रतियोगी रहा, (४) इसकी नीति भारतीय हितो के विरोध मे रही।

फिर भी इम्पीरियल बैंक ने कुछ दिशाओ में निश्चित प्रगति की। उसने स्थापना के प्रथम ५ वर्षों मे १०० तथा १६४५ तक ४३३ शाखाएँ खोलीं। कर्मचारियों की उसे आवश्यकता होने के कारण कुछ अश मे बेकारी का निवारण हुआ तथा ग्राहको को मूल सुविधाएं देकर आशिक रूप मे मौसमी मुद्रा एव साख आवश्यकताओ की पूर्ति की। ब्याज दर को मौसमी आवश्यकताओं के समय ऊँची न होने देने के लिए भी इसने प्रयत्न किया। फिर भी इसके विरुद्ध निम्न आक्षेप रहे—(१) देश के बैंको का प्रतियोगी, (२) यूरोपीय प्रबन्ध, (३) पक्षपात पूर्ण नीति, (४) मुद्रा मण्डी की उन्नति न कर सका, (५) अधिक प्रबन्ध व्यय, (६) नौकरशाही का बोलबाला, (७) व्यापार का केन्द्रीकरण, (८) पत्रमुद्राओ के वर्गीकरण मे असुविधाएँ।

इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण—इन आक्षेपो के कारण इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण की मांग समय-समय पर की गई थी। ग्रामीण बैंकिग जाँच समिति ने भी इस पर सरकार के कठोर नियन्त्रण का सुझाव दिया था। १६५४ मे ग्रामीणसाख सर्वेक्षण समिति ने अपनी रिपोर्ट मे "सरकारी साझे मे व्यापारिक बैंक के रूप मे स्टेट बैंक के निर्माण" की सिफारिश की थी। तदनुसार ८ मई १६५५ को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया विधेयक स्वीकृत हुआ और १ जुलाई १६५५ से स्टेट बैंक ने कार्यारम्भ किया।

स्टेट बैंक—की अधिकृत पूँजी २० करोड़ रु० १०० रु० के अशो मे है। निर्गमित एव चुकता पूँजी ५६२ ५० लाख रु० है जिसकी ५५% सदैव रिजर्व बैंक के पास रहेगी तथा शेष निजी अशधारियो द्वारा दी गई है। स्टेट बैंक अपनी निर्गमित पूँजी १२ ५० करोड रु० तक बढा सकेगा, किन्तु इससे अधिक बढाने के लिए केन्द्रीय सरकार की अनुमति आवश्यक है। कोई भी व्यक्ति स्टेट बैंक के २०० से अधिक अश अपने नाम या सम्मिलित नाम न ले सकेगा। इसके

लिए रिजर्व बैंक कॉरपोरेशन्स, बीमा एव सहकारी सस्थाएँ, स्थानीय अधिकारी तथा निजी सार्वजनिक या धार्मिक सम्पत्ति के प्रन्यासी अपवाद हैं। इसके अशो का समावेश "मान्य प्रतिभूतियो" की सूची मे किया गया है। स्टेट बैंक का प्रबन्ध केन्द्रीय सभा करेगी जिसके २० सदस्य हैं जिनमे से ६ निजी अशधारियो द्वारा, १३ केन्द्रीय सरकार तथा १ रिजर्व बैंक मनोनीत करता है। इनकी अवधि ५ वर्ष है परन्तु केन्द्रीय सरकार एव रिजर्व बैंक द्वारा नियुक्त एक-एक सचालक की अवधि सम्बन्धी शर्त नही है।

स्टेट बैंक के स्थानीय कार्यालयो का काय स्थानीय सभाएँ करती हैं।

स्टेट बैंक क कार्य —(१) रिजर्व बैंक के एजेन्ट का कार्य करना है जिसके लिए अनुबन्ध के अनुसार उसे कमीशन मिलता है, (२) व्यापारिक बैंकिंग क्रियाएँ, (३) केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति अथवा रिजर्व बैंक या केन्द्र सरकार के आदेश से इसे अन्य बैंको का व्यवसाय प्राप्त करने का विशेषाधिकार है। परन्तु स्टेट बैंक निम्न कार्य नही करेगा—(१) ६ मास से अधिक समय के ऋण पर अग्रिम देना, (२) अपने अशो या स्कधों की जमानत पर ऋण देना, (३) अचल सम्पत्ति या उसके अधिकार-पत्र की जमानत पर ऋण या अग्रिम देना, (४) किसी व्यक्ति या फर्म को एक ही समय एक नियत मात्रा से अधिक राशि के ऋण देना, (५) कुछ शर्तों की पूर्ति बिना बेचानसाध्य विलेखों की कटौती करना या खरीदना, (६) निजी व्यवसाय पर कर्मचारियो के निवास के सिवा अन्य कोई अचल सम्पत्ति खरीदना। स्टेट बैंक पर दो कोष रखने की वैधानिक जिम्मेवारी है -(१) सामजस्य एव विकास कोष, (२) सचित कोष।

इसके सिवा १ जुलाई १९६० तक के ५ वर्षों मे इस पर ४०० नई शाखाएँ खोलने की जिम्मेवारी है। स्टेट बैंक ने ३० जून १९५९ को ४ वर्ष पूरे किये। इस अवधि मे उसके निक्षेपो मे आश्चर्यजनक गति से वृद्धि हुई है तथा इसने प्रथम २ वर्षों मे १०२, तीसरे वर्ष मे १३ तथा चौथे वप मे ६९ नई शाखाएँ खोली हैं। यह प्रगति सन्तोषजनक नही है क्योंकि—(१) इसे सरकार का विशेष आश्रय प्राप्त है। (२) स्टेट बैंक को अन्य बैंको की अपेक्षा शाखाएँ खोलने की अनुमति जल्दी मिल जाती है। (३) स्टेट बैंक की शाखाएँ उन्हीं स्थानों पर हैं जहाँ बैंकिग सुविधाएँ पहिले से ही हैं। अत. स्टेट बैंक को इन दोषों का निवारण करना चाहिए।

अध्याय २०

औद्योगिक अर्थ-प्रबन्धन

देश में उपलब्ध साधनों का पर्याप्त एवं समुचित उपयोग करने एवं देश की अर्थ व्यवस्था की उन्नति के लिए देश का औद्योगीकरण होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। परन्तु भारत की वर्तमान स्थिति में जो उद्योग-धन्धे हैं उनको पर्याप्त आर्थिक सुविधाएँ नहीं मिलती जिससे नैसर्गिक साधनों की बहुलता होते हुए भी भारत का औद्योगिक विकास पूर्ण रूप से नहीं हो सका है। औद्योगिक आयोग तथा बैंकिंग जाँच-समिति ने भी इस बात पर जोर दिया है कि यहाँ के उद्योगों को पर्याप्त आर्थिक सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं, अतः देश में औद्योगिक बैंकों की स्थापना हो।

औद्योगिक बैंकों की आवश्यकता

१ **स्थायी पूँजी**—(Fixed Capital)--स्थायी पूँजी की आवश्यकता विशेषतः नये उद्योगों को होती है जिनको अपने यन्त्र, सामग्री, भू-गृहादि स्थायी सम्पत्ति खरीदने के लिए धन की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार जो उद्योग पहले से ही स्थापित हैं उनको अपनी जीर्ण सम्पत्ति के विस्थापन अथवा उद्योग के विस्तार के लिए पूँजी की आवश्यकता होती है।

२ **कार्यशील पूँजी**—कार्यशील पूँजी उद्योगों की दिन-प्रति-दिन की आवश्यकताओं उत्पादन व विक्रय, कच्चा माल आदि खरीदने के लिए होती है। इस प्रकार उद्योगों की आर्थिक आवश्यकताएँ दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन होती हैं।

अल्पकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति तो व्यापारिक बैंक कर सकते हैं एवं करते भी हैं, परन्तु दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देश में १९४९ तक कोई भी विशेष संस्था नहीं थी। इससे उद्योगों की प्रगति जैसी होनी चाहिए एवं जिस प्रकार से उपलब्ध साधनों का उपयोग होना चाहिए वह नहीं हो रहा है। अतः देश के औद्योगिक विकास एवं प्रगति के लिए देश में औद्योगिक बैंकों की अतीव आवश्यकता है।

औद्योगिक बैंक

ये वे बैंक हैं जो दीर्घकालीन आर्थिक सहायता देकर, उद्योगों की स्थापना एवं विकास के लिए स्थायी पूँजी की पूर्ति करते हैं। इस कार्य के लिए वे स्थायी तथा दीर्घकालीन निक्षेप स्वीकारते हैं। इस प्रकार के बैंक नई नई कम्पनियों के अंशों अथवा ऋण-पत्रों का अभिगोपन भी करते हैं।

प्रारम्भिक स्थिति—(अ) प्रबन्ध अभिकर्ता—हमारे औद्योगिक विकास के इतिहास से यह स्पष्ट है कि भारत की वर्तमान औद्योगिक प्रगति का श्रेय विदेशियों का ही है जिन्होंने यहाँ प्रारम्भिक अवस्था में बड़े बड़े कारखाने जैसे कपड़े, जूट, ऊनी वस्त्र आदि के खोले। उसके बाद हमारे भारतीय भी इन उद्योगों में अपनी पूँजी विनियोग करने लगे तब इन व्यक्तियों अथवा परिवारों ने अपनी लगाई हुई पूँजी हमारे जनता को बेच डाली। इस तरह हमारे देश में सीमित कम्पनियों की स्थापना हुई। जिन व्यक्तियों ने यह कार्य प्रारम्भ किया था उन्होंने इनके साथ व्यवस्था सम्बन्धी समझौते किये। इस प्रकार प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली का उगम हुआ तथा विनियोग इन्हीं लोगों तथा अभिकर्ताओं ने अपनी संचित राशि से उद्योगों की सहायता की जिससे कम्पनियों एवं अंशधारियों को अनेक हानियाँ थीं —

१ प्रबन्ध अभिकर्ताओं का कम्पनियों के ऊपर पूर्ण नियन्त्रण रहता था जिससे तान्त्रिक बातों (technical matters) की ओर पूर्ण दुर्लक्ष होता था तथा लाभ की ही वे अधिक चिन्ता करते थे जिससे यन्त्रादि की घिसावट शीघ्र होकर उत्पादनाधिक्य भी हो जाता है।

२ इनका प्रभुत्व होने से कम्पनियों का संचालन गिने ही कुछ व्यक्तियों द्वारा होता है जो केवल धनी हैं परन्तु जिनमें औद्योगिक कार्यक्षमता का अभाव है। प्रबन्ध अभिकर्ता के अनेक कम्पनियों का प्रबन्धक होने से एक कम्पनी पर होने वाले बुरे परिणामों का फल अन्य कम्पनियों को भी भोगना पड़ता है।

४ इनका अधिक प्रभुत्व होने के कारण भारत में पूँजी एवं उद्योगों का केन्द्रीयकरण कुछ इने गिने व्यक्तियों के हाथों में ही हो गया है जिससे धन का समान वितरण नहीं होता और न अन्य व्यक्ति जिनमें औद्योगिक योग्यता है उद्योग प्रारम्भ कर सकते हैं।[1] जैसे भारत के सब महान् उद्योगों का स्वामित्व एवं प्रबन्ध केवल १० व्यक्तियों के हाथ में है।

इन बुराइयों से आजकल साधारण जन मत यही है कि इस पद्धति का

1 *Who Owns India* by Ashok Mehta

शीघ्रातिशीघ्र अन्त हो जाना चाहिए। नवीन कम्पनी अधिनियम से प्रबन्ध अभिकर्ताओं का अन्त १९६० में हो जायगा।

(ब) **स्वदेशीय बैंकर**—उद्योगों को ऋण देने में इनका हाथ बहुत कम है। अभी गत कुछ वर्षों से ये अहमदाबाद-बम्बई की वस्त्र-निर्माणियों को ऋण देने लगे हैं। परन्तु फिर भी ऋण देने की अपेक्षा ये उनके पास स्थायी निक्षेप रखना ही अधिक पसन्द करते हैं। इनसे ऋण भी कम राशि के प्राप्त होते हैं जिससे औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती तथा ब्याज-दर भी अधिक होती है।

(स) **जनता के निक्षेप**—इसके बाद जब इनकी व्यवस्था तथा सुदृढ़ता में जनता का विश्वास हो गया तब ये कम्पनियाँ जनता के स्थायी निक्षेप भी लेती थीं, जिसमें बहुतांश में इनकी कार्यशील पूँजी का भाग भी पूर्ण हो जाता था तथा कुछ हद तक इनकी स्थायी पूँजी की आवश्यकताएँ भी पूर्ण होती थीं। इस प्रणाली का प्रचार बम्बई एवं अहमदाबाद के वस्त्र उद्योग में विशेष रूप से है। परन्तु वर्तमान अवस्था में उद्योग इन पर निर्भर नहीं रह सकते क्योंकि देश में अब बैंकिंग विकास अच्छा हो रहा है तथा बैंकों में जनता का विश्वास भी अधिक जम रहा है, जिससे भविष्य में औद्योगिक कम्पनियों के पास निक्षेप नहीं जायगा।

(द) **अंश एवं ऋण-पत्र**—औद्योगिक कम्पनियों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति अंशों तथा ऋण-पत्रों के निर्गमन से पूर्ण होती है, जो भिन्न-भिन्न श्रेणी के विनियोग-कर्ताओं द्वारा खरीदे जाते हैं। प्रारम्भिक स्थायी पूँजी के लिए उद्योग इन अंशों एवं ऋण पत्रों पर निर्भर रहते हैं तथा कम्पनी के प्रारम्भ होने के बाद भी इन दो साधनों पर निर्भर रहते हैं। परन्तु पूँजी बाजार के समुचित विकास के अभाव में इस स्रोत से पर्याप्त पूँजी प्राप्त नहीं होती है।

(य) **व्यापारिक बैंक**—उद्योगों को व्यापारिक बैंकों से कोई विशेष सहायता नहीं मिली तथा उनके द्वारा दी जाने वाली सुविधाएँ अल्पकालीन एवं अपर्याप्त थीं। क्योंकि ये अपने व्यापारिक स्वरूप के कारण औद्योगिक सुविधाएँ दे भी नहीं सकते थे, जिसके निम्न कारण हैं —

(१) व्यापारिक बैंकों के **निक्षेप** अल्पकालीन होते हैं जिससे वे उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण सुविधाएँ नहीं दे सकते। उन्हें हमेशा अपनी सम्पत्ति तरल रखनी पड़ती है क्योंकि उनके निक्षेप अधिकतर माँग पर देय होते हैं।

(२) व्यापारिक बैंक कम्पनियों के अंश, ऋण-पत्रादि खरीदकर उनको सहायता दे सकते थे तथा इन ऋण-पत्रों एवं अंशों को वे क्रमश हस्तान्तरित

कर सकते थे। परन्तु व्यापारिक बैंकों ने अपने व्यापारिक स्वरूप को देखकर यह नहीं किया। इतना ही नहीं, अपितु उन्होंने अंशों, ऋणपत्रों आदि का अभिगोपन तक नहीं किया जो वे बिना किसी प्रकार के विशेष खतरे के कर सकते थे। विदेशों में व्यापारिक बैंक यह कार्य करते भी हैं। इसका कारण यह है कि भारत में अभी तक विकसित पूंजी बाजार नहीं है जिसमें उनको सुगमता से बेचा जा सके।

(३) इम्पीरियल बैंक भी इस कार्य को नहीं कर सकता था क्योंकि अधिनियम के अनुसार यह ६ मास से अधिक अवधि के लिए ऋण नहीं दे सकता था। इसका अनुकरण अन्य व्यापारिक बैंकों ने भी किया।

(४) व्यापारिक बैंक हमारे देश में व्यक्तिगत जमानत पर ऋण नहीं देते और किसी मनुष्य की जमानत देना भारतीय उद्योगपति मान हानि समझते थे। इसलिए भी व्यापारिक बैंक उद्योगों को आर्थिक सुविधाएँ न दे सके और जो भी सुविधाएँ उन्होंने दी वे केवल अल्पकालीन थीं।

(५) व्यापारिक बैंक अपने ऋणों के लिए तरल जमानत चाहते हैं जो उद्योगों के पास नहीं थी तथा स्थायी सम्पत्ति की जमानत में उस सम्पत्ति का समुचित मूल्यांकन होना आवश्यक होता है जिसमें जमानत एवं ऋण में पर्याप्त अंतर (margin) रखा जा सके। इस प्रकार मूल्यांकन करने के लिए भारतीय बैंकों के पास विशेषज्ञ नहीं थे। जो कुछ भी सहायता उन्होंने दी वह केवल कच्चे माल की जमानत तथा अल्पकालीन निक्षेपों के आधार पर की, जिनका नवकरण करना रोकड़ निधि तथा निक्षेप राशि पर निर्भर रहता है। इसमें ये ऋणों का नवकरण नहीं कर सकते थे। इस कारण इनकी ऋण राशि में अनिश्चितता रहती थी। इसके सिवा अनेक बैंक तो ऐसे थे जो उद्योगों को ऋण देना अपने अस्तित्व को खतरे में डालना समझते थे। इससे ये उद्योगों को पर्याप्त आर्थिक सुविधाएँ न दे सके।

(६) केन्द्रीय बैंकिंग जाँच-समिति के सामने इस बात की भी शिकायत की गई थी कि इम्पीरियल बैंक के अधिकारी विशेषतः यूरोपीय होने के कारण यूरोपीय फर्मों एवं कम्पनियों को ही राशि देते थे तथा भारतीय उद्योगों के साथ पक्षपात से काम करते थे।

केवल दो ही मार्ग—अतः उद्योगों को आर्थिक सुविधाएँ देने में भारतीय व्यापारिक बैंक असमर्थ थे। परन्तु इसका दोष केवल व्यापारिक बैंकों पर ही नहीं डाला जा सकता क्योंकि भारत की परिस्थिति ही कुछ ऐसी है जिसमें उनको यह सावधानी रखनी पड़ती है। यहाँ की जनता का विश्वास छोटे से छोटे

कारण से भी हिल जाता है जैसा कि पीपुल्स बैंक के विलियन के समय हुआ। अतः इस कमी को दूर करने के लिए केवल दो ही मार्ग है—

(१) देश के व्यापारिक बैंकों मे ही ऐसा परिवर्तन किया जाय जिसमे वे औद्योगिक सहायता कर सकें, तथा

(२) उद्योगो को दीर्घकालीन अर्थ-सुविधाएँ देने के लिए अन्य देशो की भांति औद्योगिक बैंकों की स्थापना हो।

व्यापारिक बैंकों की पद्धति मे परिवर्तन—(अ) व्यापारिक बैंक जर्मनी के व्यापारिक बैंको की तरह उद्योगो की आर्थिक सहायता कर उन्हे स्थायी पूंजी दे सकते है। जर्मनी के बैंको की पद्धति इस प्रकार है —

(i) किसी भी उद्योग के चल-लेखा खोलने पर उसका सन्तुलन दैनिक न होकर मासिक होता है। जो भी लेन-देन बैंक और ग्राहक मे होना है वह सब इसी लेखे मे लिखा जाता है। अर्थात् ऋण आदि की राशि तथा निक्षेप की प्रविष्टियाँ भी इसी लेखे मे होगी, जिसमे दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति होगी। अथवा,

(ii) जर्मनी के व्यापारिक बैंक उद्योगो को प्रारम्भिक पूंजी देने की दृष्टि से उनके अश खरीद लेते है जिससे उद्योगो को प्रारम्भिक पूंजी मिल जाती है। इसके बाद ये अश जनता को बेच दिये जाते है। सम्भाव्य हानि के खतरे से बचने के लिए 'कन्सोर्टियम' पद्धति (consortium model) पर अनेक बैंक मिलकर भी उद्योगो को आर्थिक सहायता दे सकते है तथा इस कार्य को करने, तान्त्रिक सलाह देने एव औद्योगिक सम्पत्ति का मूल्याकन करने के लिए विशेषज्ञों की नियुक्ति भी कर सकते हैं। ऐसे कन्सोर्टियम के निर्माण की सिफारिश श्रॉफ समिति ने भी की थी।

(iii) उद्योगो के साथ अधिक घनिष्ट सम्पर्क स्थापित करने के लिए बैंक अपने प्रबन्धक अथवा अन्य प्रतिनिधि को औद्योगिक कम्पनी की सचालक समिति मे भेजता है। इससे अनेक कार्यों का नियन्त्रण होता है तथा ऋण देने वाले बैंकों को भी निश्चिन्तता होती है कि उनकी ऋण-राशि का अपव्यय नही हो रहा है।

(ब) बैंक कुछ निश्चित राशि के अशों का निर्गमन करें, जिसकी पूंजी से केवल उद्योगों ही को आर्थिक सुविधाएँ दी जायँ।

(स) बैंकों को चाहिए कि वे औद्योगिक कम्पनियों की वैयक्तिक साख पर आर्थिक सुविधाएँ दिया करें जिससे उनको कार्यशील पूंजी मिलती रहे क्योंकि ये तरल सम्पत्ति की जमानत नहीं दे सकते।

(द) उद्योगों की स्थायी सम्पत्ति तथा पुनःस्थापन के समय अच्छी कम्पनियों द्वारा निर्गमित अंशों अथवा ऋण-पत्रों का अभिगोपन भी करे। परन्तु इसमें इस सावधानी की आवश्यकता है कि व्यापारिक बैंक ये कार्य सट्टे की दृष्टि से न करें, क्योंकि उनको सर्वप्रथम अपने निक्षेपकों की सुरक्षा की ओर दृष्टि रखनी पड़ती है।

(२) **औद्योगिक बैंकों की स्थापना करना**—यह दूसरा मार्ग है। उपर्युक्त सुझाव यदि कार्यान्वित हो जायँ तब भी व्यापारिक बैंक औद्योगिक अर्थ-सुविधाएँ पूर्ण रूप से नहीं दे सकते क्योंकि

(१) उनका औद्योगिक क्षेत्र का ज्ञान सीमित होता है तथा भिन्न भिन्न उद्योगों की स्थिति में अन्तर होता है।

(२) औद्योगिक सुविधाएँ देने के लिए बड़ी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता है, जो स्थायी हो अथवा उनकी निजी पूँजी ही इतनी हो कि वे यह कार्य कर सकें।

(३) अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ऋणों की समस्याएँ भिन्न होने से कार्य-क्षमता की दृष्टि से यही अच्छा होगा कि "औद्योगिक बैंकों" की स्थापना की जाय। इस समय देश में केवल बनारस इण्डस्ट्रियल एण्ड बैंकिंग सिण्डिकेट लि०, उदीपी एक संस्था है जो गत ३० वर्षों से काम कर रही है। परन्तु केवल एक बैंक से काम नहीं चल सकता, अतः नई बैंकों की स्थापना आवश्यक है। ये बैंक ऐसे हों जिनके पास दीर्घकालीन विनियोग के लिए पर्याप्त साधन हों। अतः औद्योगिक बैंकों को अंश-पूँजी तथा ऋण-पत्रों के निर्गमन से पर्याप्त साधन प्राप्त करने चाहिए तथा इसके अतिरिक्त दीर्घकालीन निक्षेपों से भी। इन बैंकों को केवल औद्योगिक अर्थ-सुविधाएँ ही देनी चाहिए, जिससे व्यापारिक बैंकिंग तथा औद्योगिक बैंकिंग-क्षेत्र भिन्न रहें।

इनको अपने विनियोग एक ही उद्योग में न करते हुए भिन्न-भिन्न उद्योगों में करने चाहिए, जिससे एक उद्योग के डूबने से उनकी राशि न डूब जाय। अतः हानि की सम्भावना विभिन्न उद्योगों में राशि विनियोग करने से कम हो सकती है। इस कार्य को ठीक रीति से एवं देश-हित के लिए सचालन करने के हेतु उन्हें अपनी संचालक-सभा में ऐसे संचालक नियुक्त करने चाहिए जिनको देश के विभिन्न उद्योगों का समुचित ज्ञान हो, जिससे उनकी ऋण-नीति सुदृढ़ होकर हानि की सम्भावना कम रहेगी। इस कार्य के लिए उन्हें विभिन्न उद्योगों की जाँच पड़ताल के लिए विशेषज्ञ रखने चाहिए अथवा उनकी सहायता लेनी

चाहिए। परन्तु हमारे देश मे जब तक तान्त्रिक सलाह देने वाली स्वतन्त्र सस्थाएँ नही है तब तक उन्हे ऐसे विशेषज्ञो की नियुक्ति करनी ही होगी।

इसके साथ ही देश की भूमिगत एव निष्क्रिय पूंजी को निकाल कर उसको विनियोग मे लगाने का एव नये नये विनियोग साधन निर्माण करने का कार्य भी इन्ही बैंको को करना होगा जिससे भारतीय पूंजी गतिशील हो सके। औद्योगिक अर्थ-प्रदाय की कमी को दूर करने के लिए हमारी राष्ट्रीय सरकार ने अनेक सस्थाओ का निर्माण किया है जिससे उद्योगो को काफी बल मिला है।

साराश

देश के उपलब्ध साधनो के समुचित उपयोग के लिए औद्योगीकरण होना चाहिए, जिन्हे पर्याप्त आर्थिक सुविधाएँ उपलब्ध होना चाहिए। इनको स्थायी पूंजी एव कार्यशील पूंजी की आवश्यकता होती है। कार्यशील पूंजी व्यापारिक बैंको से मिल जाती है परन्तु दीर्घकालीन पूंजी देने वाली सस्थाओ की भारत मे कमी है। अत औद्योगिक बैंको की आवश्यकता है।

प्रारम्भिक स्थिति मे उद्योगो को पूंजी प्राप्त करने के निम्न साधन थे—(१) प्रबन्ध अभिकर्ता, (२) देशी बैंकर, (३) जनता के निक्षेप, (४) अश एव ऋणपत्र, (५) व्यापारिक बैंक। परन्तु प्रबन्ध अभिकर्ताओ का आर्थिक प्रभुत्व, देशी बैंकरो की अधिक ब्याज दर एव सीमित साधन, जनता के निक्षेपों की अविश्वासनीयता एव व्यापारिक बैंको के स्वरूप के कारण ये औद्योगिक दीर्घ-कालीन साख की पूर्ति नहीं कर सकती। इसलिए इस कमी को दूर करने के दो भाग है—(१) औद्योगिक बैंक की स्थापना तथा (२) व्यापारिक बैंको की कार्य प्रणाली मे ऐसे परिवर्तन करना जिससे वे उद्योगो को दीर्घ-कालीन आर्थिक सुविधाएँ दे सकें। इस हेतु श्रॉफ समिति ने बैंको और बीमा कम्पनियो का कनसोर्टियम बनाने की सिफारिश की थी। स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रीय सरकार ने इस कमी को औद्योगिक वित्त प्रमण्डलों की स्थापना से पूरा किया है।

अध्याय २१

औद्योगिक अर्थ-प्रबन्धन-विशेष संस्थाएँ

(१) भारतीय औद्योगिक अर्थ-प्रमण्डल

केन्द्रीय बैंकिंग समिति ने एक अखिल भारतीय औद्योगिक प्रमण्डल स्थापित करने का प्रस्ताव किया था क्योंकि राज्य औद्योगिक अर्थ प्रमण्डल उद्योगों की आर्थिक सहायता का कार्य ठीक रीति से नहीं कर सकते। इसलिए देश की निष्क्रिय पूंजी को गतिशील बनाकर देश के उद्योगों की उन्नति के लिए अखिल भारतीय संस्था का होना आवश्यक है जो राज्य अर्थ प्रमण्डलों के साथ सहयोग करे। इसलिए १९४६ में 'औद्योगिक अर्थ प्रमण्डल विधेयक' विधान सभा में रखा गया जो फरवरी १९४८ में स्वीकृत हो गया तथा १ जुलाई १९४८ से यह औद्योगिक अर्थ प्रमण्डल कार्य कर रहा है।

(उद्देश्य—इसका प्रमुख उद्देश्य भारतीय औद्योगिक संस्थाओं को दीर्घ कालीन तथा मध्यकालीन आर्थिक सहायता देना है विशेषतः उस स्थिति में जब उनको साधारण बैंकिंग सुविधाएँ अपर्याप्त हों तथा पूंजी प्राप्त करने के अन्य साधन दुर्लभ हों।)

पूंजी—प्रमण्डल की अधिकृत पूंजी १० करोड़ रुपए है जो ५ हजार रुपए के २० हजार अंशों में है। अंशों की मूल राशि तथा न्यूनतम २½% वार्षिक लाभांश की गारन्टी केन्द्रीय सरकार ने दी है। इनमें से केवल १०००० अंशों का निर्गमन हुआ है जो निम्न रीति से खरीदने के लिए निर्धारित किए गये थे—

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया	१ करोड़ रुपया	२००० अंश
भारत सरकार	१ ,, ,,	२००० ,,
सूची बद्ध बैंक	१.२५ ,, ,,	२५०० ,,
बीमा कम्पनी	१.२५ ,, ,,	२५०० ,,
सहकारी बैंक	०.५० ,, ,,	१००० ,,
योग	५.०० करोड़ रु०	१०,००० अंश

इनमें से सब पूंजी बीमा कम्पनियों ने खरीदी परन्तु सहकारी बैंक ने

खरीद सके। इसलिए उनके कोटे के ७६ अंश रिजर्व बैंक तथा भारत सरकार ने खरीदे। इसके विपरीत सूची-बद्ध बैंकों से अंशों के लिए ३०८५ प्रार्थना-पत्र आये परन्तु उनको केवल २,५०० अंश ही दिये गये।

(औद्योगिक अर्थ-प्रमण्डल अधिनियम की धारा ५ के अन्तर्गत उपर्युक्त संस्थाओं तथा प्रन्यास एवं अन्य आर्थिक संस्थाओं के बीच अंशों के हस्तान्तरण पर रोक है।)

अर्थ प्रमण्डल को अपने आर्थिक साधन बढ़ाने के लिए बंध (bonds) बेचने का अधिकार है। तदनुसार इसने जून १६५७ तक ७.७० करोड़ रु० के ३½% ब्याज देने वाले बंध बेचे। इसी प्रकार नवम्बर १६५७ तथा १६५८ में क्रमशः ४.५० तथा १६५८ में ४.३८ करोड़ रु० के ४½% बंध बेचे। जिससे निगम का बंधों सम्बन्धी दायित्व ३० जून १६५६ के अन्त में १६.७५ करोड़ रु० हो गया। अक्टूबर १६५६ में निगम ने ५ करोड़ रु० के ४% बंध पुनः *निर्गमित किये जिनके लिए ६.५३ करोड़ रु० के प्रार्थना पत्र आये।*

निगम ने इन बंधों की राशि से रिजर्व बैंक से लिया हुआ २.७६ करोड़ रु० का तथा केन्द्र सरकार से प्राप्त ५ करोड़ रु० ऋण का भुगतान किया। फिर भी अर्थ-प्रमण्डल ने केन्द्र सरकार से ३ करोड़ रु० का ऋण लिया जिससे ३० जून १६५६ केन्द्र सरकार से प्राप्त ऋण की राशि १३ करोड़ रु० हो गई। अर्थ-प्रमण्डल ने अक्टूबर १६५६ में ५ करोड़ रु० के ४% बारह वर्षीय बंध निर्गमित किये जिनके लिए ६.५३ करोड़ रु० के प्रार्थना पत्र आए। इन बंधों की राशि से अर्थ प्रमण्डल केन्द्र सरकार के ऋण के कुल भाग का भुगतान करेगा जिससे अर्थ-प्रमण्डल का ब्याज की बचत होगी। इन बंधों के मूलधन एवं ब्याज के भुगतान की गारन्टी केन्द्र सरकार ने दी है। १६५७ में भारतीय अर्थ-प्रमण्डल अधिनियम में संशोधन हुआ जिससे वह अपनी चुकता पूँजी एवं निधि के १० गुनी राशि तक ऋण ले सकेगा।

इस प्रमण्डल के बम्बई, कलकत्ता तथा दिल्ली में तीन कार्यालय हैं एवं एक शाखा मद्रास में है। अन्य स्थानों पर केन्द्रीय सरकार की आज्ञा प्राप्त करने पर शाखाएँ खोली जा सकती है। इसका प्रधान कार्यालय दिल्ली में है।

प्रबन्ध—प्रमण्डल के कार्य का संचालन एवं प्रबन्ध संचालक सभा करती है जिसके १२ संचालक हैं। ३ संचालक तथा १ प्रबन्ध-संचालक की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार तथा २ संचालकों की नियुक्ति रिजर्व बैंक करता है। शेष ६ संचालकों का चुनाव वैधानिक अंशधारियों (constitutional shareholders) द्वारा होता है। संचालक सभा की सहायता के लिए एक केन्द्रीय समिति है, जिसके ५ सदस्य हैं। इसमें २ सदस्य केन्द्रीय सरकार तथा रिजर्व बैंक के

मनोनीत संचालकों द्वारा अंशधारियों के संचालकों द्वारा चुने जाते हैं। संचालक-सभा का सभापति सामयीय समिति का सभापति होता है जो इसका ५वां सदस्य है। प्रमण्डल की सामान्य नीति का संचालन केन्द्रीय सरकार के आदेशानुसार होता है। यदि संचालक-सभा इस नीति के अनुसार कार्य नहीं करती तो केन्द्रीय सरकार इस सभा के बदले नई सभा की नियुक्ति कर सकती है। संचालक सभा को प्रमण्डल की सफलता के लिए विभिन्न प्रश्नों पर विचार करने के लिए सलाहकार-समितियां नियुक्त करने का अधिकार है।

प्रबन्ध में १९५५ में संशोधन हुआ है जिसके अनुसार वर्तमान अवैतनिक सभापति और स्थायी प्रबन्ध-संचालक के स्थान पर वैतनिक सभापति और जनरल मैनेजर नियुक्त होगा।

सरकार एवं रिजर्व बैंक के संचालक किसी भी अवधि तक रह सकते हैं। परन्तु अंशधारियों द्वारा चुने हुए संचालकों की अवधि ४ वर्ष है। प्रबन्ध संचालक की नियुक्ति ४ वर्ष के लिए होती है परन्तु उसे फिर नियुक्त किया जा सकता है।

प्रमण्डल के कार्य—१ प्रमण्डल सार्वजनिक औद्योगिक कम्पनियां तथा सहकारी समितियां को अधिकतम २५ वर्ष के लिए ऋण दे सकता है। इसमें जहाजी कम्पनियां भी समावेश है।

२ प्रमण्डल औद्योगिक कम्पनियां तथा जहाजी कम्पनियां के अंश तथा ऋण पत्रादि का अभिगोपन कर सकता है तथा अभिगोपन उत्तरदायित्व के कारण रहने वाले अंश एवं ऋण पत्रादि इसकी सम्पत्ति का एक भाग हो सकते हैं। परन्तु इन ऋण-पत्रों तथा अंशों को ७ वर्ष के अन्दर उनको बेच देना होगा। इससे अधिक अवधि के लिए कार्पोरेशन इन्हें केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति से रख सकता है।

३ प्रमण्डल ऋण-पत्रों के ब्याज तथा मूल राशि की गारन्टी दे सकता है। यदि ऋण-पत्र तथा ऋणों के भुगतान की अवधि २५ वर्ष से अधिक न हो। इस गारन्टी के लिए वह कमीशन लेने का अधिकारी होगा।

४ प्रमण्डल को ऋणी उद्योगों की संचालक-सभा में अपना प्रतिनिधि मनोनीत करने अथवा ऋण की शर्तों का उल्लंघन करने पर उस उद्योग को अपने कब्जे में लेने का अधिकार है।

५ प्रमण्डल जनता से ५ वर्ष की न्यूनतम अवधि के निक्षेप स्वीकार कर सकता है परन्तु कभी भी निक्षेप उसकी चुकता पूंजी के दून से अधिक नहीं होना चाहिए।

६ प्रमण्डल किसी ऋणी औद्योगिक कम्पनी को तान्त्रिक सलाह देने के लिए सलाहकार समितियाँ नियुक्त कर सकता है।

७ अर्थ-प्रमण्डल किसी भी वर्ष मे ५% से अधिक लाभांश का वितरण नहीं कर सकता। इससे अधिक जो लाभ होगा वह केन्द्रीय सरकार को मिलेगा।

८ अर्थ-प्रमण्डल को अन्य प्रमण्डलों की तरह आय-कर तथा अतिरिक्त-कर (super-tax) देना होगा। परन्तु केन्द्रीय सरकार से लाभांश की गारन्टी के कारण मिलने वाली राशि इन करो से मुक्त रहेगी। केन्द्रीय सरकार की अनुमति बिना अर्थ-प्रमण्डल का समापन (winding-up) नहीं हो सकता।

९ अर्थ-प्रमण्डल रिजर्व बैंक से सरकारी प्रतिभूतियों की जमानत पर अधिकतम ९० दिन के लिए ऋण ले सकता है। इसी प्रकार वह अपने ऋण-पत्रों एवं बॉडों अथवा अन्य प्रतिभूतियों की (जो रिजर्व बैंक चाहे) जमानत पर रिजर्व बैंक से अधिकतम १८ मास के लिए ३ करोड रु० तक का ऋण ले सकता है।

१० अर्थ प्रमण्डल किसी एक उद्योग को अधिकतम १ करोड रु० ऋण दे सकता है। परन्तु इससे अधिक ऋण केन्द्रीय सरकार की जमानत प्राप्त करने पर दिया जा सकता है जिसके लिए कार्पोरेशन द्वारा ऋण की स्वीकृति की सिफारिश आवश्यक है।

११ अर्थ-प्रमण्डल सरकार अथवा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक द्वारा भारतीय उद्योगों को दिये हुए ऋणो के निरीक्षण के लिए उनका प्रतिनिधित्व कर सकता है।

१२ यदि किसी उद्योग को विदेशी मुद्रा मे ऋण की आवश्यकता हो तो अर्थ-प्रमण्डल केन्द्रीय सरकार की आज्ञा प्राप्त करने के बाद अन्तर्राष्ट्रीय बैंक अथवा अन्य स्रोतों से ऋण ले सकता है। ऐसे ऋणो की गारन्टी केन्द्रीय सरकार देगी तथा ऐसे विनिमय व्यवहारो मे अर्थ-प्रमण्डल को जो हानि होगी उसकी पूर्ति केन्द्रीय सरकार करेगी।

१३ रिजर्व बैंक की सलाह से अर्थ-प्रमण्डल अपनी राशि किसी सूचीबद्ध या सहकारी बैंक के पास निक्षेप मे रख सकता है। इस संशोधन से अर्थ प्रमण्डल को अपनी राशि सहकारी प्रतिभूतियों मे ही विनियोजित करना आवश्यक नहीं है।

१४ (अ) अर्थ-प्रमण्डल जिस ऋणी उद्योग पर अधिकार करेगा उसकी संचालक सभा पर वह अपने संचालकों की नियुक्ति करेगा तथा ऐसी नियुक्ति होने पर पहिले संचालक अपना पद-त्याग करेंगे।

(ब) ऐसे उद्योगों का प्रबन्ध अभिकर्त्ता के साथ जो समझौता होगा उसका बिना किसी हानि-पूर्ति के अन्त हो जायगा।

(स) अंशधारियों व मनोनीत संचालकों की नियुक्ति स्वयं निरस्त हो जायगी।

(द) अंशधारियों द्वारा स्वीकृत कोई भी प्रस्ताव अर्थ-प्रमण्डल की अनुमति बिना कार्यान्वित नहीं होगा।

(य) ऐसे उद्योग का समापन अर्थ प्रमण्डल की अनुमति बिना नहीं हो सकेगा।

१५ अर्थ प्रमण्डल अपनी शोधनीय पूँजी के हेतु उसकी चुकता पूँजी एवं संचित निधि के १० गुने तक ऋण ले सकता है।

१६ अर्थ प्रमण्डल आयातकर्त्ताओं के स्थगित भुगतान के लिए गारन्टी दे सकता है, यदि आयातकर्त्ताओं ने विदेशी निर्माताओं के साथ ऐसी व्यवस्था की है।

१७ अर्थ प्रमण्डल को केन्द्रीय सरकार से ऋण लेने का अधिकार है। इसी प्रकार उसके पास रहन रखी हुई सम्पत्ति को अर्थ प्रमण्डल सट्टे पर दे सकेगा।

ऋण देने की शर्तें—औद्योगिक अर्थ प्रमण्डल किसी सीमित सार्वजनिक कम्पनी जहाजी कम्पनी तथा सहकारी समितियों को जो वस्तुओं का निर्माण अथवा वस्तुओं के क्रिया कलाप (processing) करती है खनिज उद्योग करती है अथवा विद्युत का निर्माण एवं वितरण तथा अन्य किसी प्रकार की शक्ति का निर्माण एवं वितरण करती हो तथा जिनका कार्य-क्षेत्र औद्योगिक अर्थ-प्रमण्डल विधान द्वारा प्रस्तावित क्षेत्र में हो—ऋण दे सकता है। ऋण देने की शर्तें निम्न हैं :—

(अ) ऋण विशेषतः स्थायी एवं अचल सम्पत्ति खरीदने के लिए ही, एवं अचल सम्पत्ति की, जैसे भूगृहादि, यन्त्रसयन्त्र आदि के प्रथम रहन पर दिया जाता है। नियमानुसार यह प्रमण्डल कच्चे या पक्के माल के उप प्रावीयन (hypothecation) पर कार्यशील पूँजी के लिए ऋण नहीं देता। क्योंकि यह कार्य व्यापारिक बैंकों का है, जिनसे यह प्रतियोगिता नहीं करना चाहता।

(ब) दिये हुए ऋण का समुचित प्रबन्ध तथा व्यय हो इस हेतु ऋणों की व्यक्तिगत तथा सामूहिक गारन्टी औद्योगिक संस्था के संचालकों से उनकी वैयक्तिक स्थिति में ली जाती है।

(म) अर्थ-प्रमण्डल ऋणी उद्योग की सचालक-सभा मे दो सचालको की नियुक्ति कर सकता है जिससे उद्योग के प्रबन्ध का निरीक्षण करे तथा देखे कि अर्थ-प्रमण्डल के हित मे ही उसकी व्यवस्था हो रही है।

(द) ऋणी औद्योगिक-प्रमण्डल उन्नतिशील वर्षों मे होने वाले लाभ का लाभाश देने मे ही वितरण न करे, इसलिए जब तक ऋण का भुगतान नही हो जाता तब तक वह ६% से अधिक वार्षिक लाभाश नही दे सकेगा। परन्तु इस दर मे दोनो की सम्मति से परिवर्तन हो सकता है।

(य) ऋण-भुगतान की अवधि सामान्यत १२ वर्ष है, परन्तु अधिकतम १५ वर्ष के लिए ऋण दिये गय है। ऋण-भुगतान की अवधि ऋणी कम्पनी के व्यापारिक स्वरूप एव उसके भविष्य के अनुसार निश्चित की जाती है।

(फ) ऋणो का भुगतान सामान्यत समान किश्तों मे होना चाहिए, परन्तु किश्ते कितनी होगी यह दोनो की सम्मति मे निश्चित होता है।

(ग) रहन-सम्पत्ति की, जिस पर ऋण प्राप्त किया जाता है, अग्नि, साम्प्रदायिक कलहो, विद्रोह आदि से सुरक्षा के लिए किसी अच्छे बीमा कम्पनी से बीमा कराना अनिवार्य है।

(ह) अर्थ-प्रमण्डल जब ऋण राशि उद्योग को दे देता है तब यह देखने के लिए कि ऋण-राशि जिन कार्यों के लिए ली गई है उन्ही के लिए उसका उपयोग हो रहा है, आवश्यक कदम उठाता है। इस हेतु उद्योग की योजनाओ का सामयिक निरीक्षण भी किया जाता है।

प्रमण्डल की क्रियाएँ

भारतीय औद्योगिक अर्थ प्रमण्डल ने ३० जून १९५९ को ११ वर्ष पूरे किये। इस अवधि मे अर्थ प्रमण्डल न विभिन्न उद्योगो को ६६ ६९ करोड रु० के ऋण स्वीकृत किये। ३० जून १९५९ को समाप्त होने वाले वर्ष में ११ १६ करोड रु० ऋण के लिए २६ आवेदन आये जिनमे से ११ आवेदको को ३ ७९ करोड रु० के ऋण स्वीकृत किये गये जब कि १९५७-५८ वर्ष मे १४ ८८ करोड रु० ऋण के लिए ४८ आवेदनो म से २२ आवेदको को ७ ७८ करोड रु० के ऋण स्वीकृत किये गये थ। कुल स्वीकृत ऋणो मे से ४२ ३२ करोड रु० के ऋणो का वितरण ३० जून १९५९ तक किया गया था। १९५८-५९ वर्ष म ७ ४८ करोड रु० की ऋण राशि का वास्तविक वितरण हुआ जब कि १९५७-५८ मे ८ ३३ करोड रु० का वितरण हुआ था। इस वर्ष कालगत (lapsed) अथवा वापिस किये गये आवेदनो की सख्या अधिक रही तथा ११ ७१ करोड रु० ऋण के आवेदन वर्ष के अन्त मे विचारार्थ थे। निगम मे प्रमुख क्रिया म इस त्रुटि का कारण ऋण प्रदायक राशि का अभाव न होने हुए विदेशो से पूंजीगत एव अन्य माल के आयात पर कठोर नियन्त्रण होना है। गत वर्षों की भाँति

इस वर्ष भी अर्थ प्रमण्डल ने अधिकांश ऋण नये उद्योगों को स्वीकृत किये, जिनकी राशि ~८ करोड़ रु० है जब कि नए ७.५५ करोड़ पूर्व स्थापित उद्योगों को दिये गये।

ऋणों के औद्योगिक वितरण की कल्पना निम्न तालिका में होगी —

उद्योग	स्वीकृत ऋण (लाख रुपयों में)		
	३० जून १९५८ तक	~० जून १९५९ को समाप्त होने वाले वर्ष में	योग
खाद्य (Food) पदार्थ को छोड़कर	१९-७ ००	१४५ ००	२०७२ ००
टेक्सटाइल	६०७ ३५	६५ ००	६७२ ७५
बनावटी रेशम	११० ००	—	११० ००
लकड़ी और काक	३० ००	—	३० ००
कागज और कागजी उत्पादन	५७१ ५०	—	५७१ ५०
रबर उत्पादन	५० ५०	—	५० ५०
आधारभूत औद्योगिक रसायन	७६६ ००	—	७६६ ००
वनस्पति एवं पशु तेल तथा चरबी	११ ००	—	११ ००
विविध रसायनिक उत्पादन	७७ ~५	—	७७ २५
काच एवं काच उत्पादन	१२७ ५०	—	१२७ ५०
पाटरी चीनी एवं चीनी के बर्तन	६४ ~५	—	६४ २५
सीमेंट	५०३ ००	११० ००	६१३ ००
लोहा एवं इस्पात	२३ ००	—	२३ ००
अलौह धातु	११७ ००	—	११७ ००
धातु उत्पादन	२५३ ५०	~३ ~०	२८७ ५०
यंत्र (विद्युत यंत्र छोड़कर)	१४२ ५०	—	१४२ ५०
विद्युत यन्त्र एवं औजार आदि	१७५ ७०	६ ००	१८१ ७०
इलेक्ट्रानिक सामग्री	५० ००	~० ००	७० ००
मोटर गाड़ियाँ आदि	१ ८ ००	—	१६८ ००
साइकिल	८० ५०	—	८० ५०
विविध निर्माण उद्योग	४३ ३०	—	४३ ३०
विद्युत प्रकाश एवं शक्ति	८ ~५	—	८२ ३५
योग	~२८० ०~	३७८ ००	६~६६ ००

सहकारी समितियों को विशेषतः शक्कर सहकारी समितियों को अर्थ-प्रमण्डल ने विशेष सुविधाएँ दीं। इस वर्ष के कुल ऋणों में १ ७० करोड़ रु० के ६ ऋण सहकारी समितियों को दिये गये जिनमें से १ ६५ करोड़ रु० के ८ ऋण शक्कर समितियों को तथा २५ लाख रु० का १ ऋण बुनकर सहकारी समिति को दिया गया। इस प्रकार ३० जून १९५९ तक शक्कर सहकारी समितियों को १४ ८ करोड़ रु० के ऋण दिये गये। इन ऋणों की गारन्टी सम्बन्धित राज्य सरकारों ने दी है।

अर्थ-प्रमण्डल ने दिसम्बर १९५७ मे औद्योगिक सस्थाओ की ओर से पूँजीगत माल के विदेशी निर्माताओ को स्थगित भुगतान की गारन्टी देने का नया क्षेत्र अपनाया है। इस हेतु निगम के पास पहिले ६ मास मे ५ ७४ करोड रु० के लिए आवेदन आये, जिनमे ३ ९६ करोड रु० के आवेदन स्वीकृत किये। इसी हेतु ३० जून १९५९ को समाप्त होने वाले वर्ष मे १६ ५१ करोड रु० की गारन्टी के लिए आवेदन आये जिनमे से ३५ लाख रु० के स्वीकृत किये गये। ५ १४ करोड रु० के आवेदन पत्र वापिस लिये गये या व्यतीत (lapsed) हुए तथा १२ ३० करोड रु० के विचारार्थ थे। इसके लिए प्रमुख कारण विदेशी विनिमय की दुर्लभता के कारण कठोर आयात नियन्त्रण है।

निगम ने १९५७-५८ वर्ष म प्रतिभूतिया का अभिगोपन करना भी आरम्भ किया, जब उसने अपनी ऋणी कम्पनी के १ ६० करोड रु० के ६½% ऋणपत्रो का अभिगोपन किया। फलस्वरूप इस सम्बन्ध मे अर्थ प्रमण्डल का उत्तरदायित्व ७५ लाख रु० का है। ३० जून १९५९ को समाप्त होने वाले वर्ष मे अर्थ-प्रमण्डल ने ५० लाख रुपय के पूर्वाधिकार अशो का अभिगोपन किया, फलस्वरूप निगम का अभिगोपन उत्तरदायित्व ३७ ५० लाख रुपए का था। परन्तु कॉर्पोरेशन को इन अशो का कोई भाग नही लेना पडा। इसी वर्ष मे ५० लाख रुपए के पूर्वाधिकार अशो का दूसरा अभिगोपन कॉर्पोरेशन ने किया। इनमे से पहिला अभिगोपन औद्योगिक साख एव विनियोग निगम, जीवन बीमा निगम एव अर्थ-प्रमण्डल ने सयुक्त रूप से किया था। इस प्रकार कॉर्पोरेशन ने अभी तक १ ६२ करोड रु० के अशो का अभिगोपन किया।

ऋणो का प्रान्तीय वितरण

राज्य	३० जून १९५८ तक इकाइयो की सख्या	राशि (लाख रु०)	३० जून १९५९ तक इकाइयो की सख्या	राशि (लाख रु०)
बम्बई	५८	१८६९ ६५	५९	१९४९·६५
मद्रास	१९	८५७ ००	२२	९४७·००
प० बगाल	२७	६३३ ५०	२७	६३३ ५०
उत्तर प्रदेश	१४	५०० ६०	१५	५६० ६०
मैसूर	१७	४८० ००	१७	५०६ ००
बिहार	१२	४७७ ७५	१२	४६७ ७५
केरल	६	४२७ ५०	६	४२७ ५०
उडीसा	५	२९४ ००	५	३७७ ००
आंध्र	१०	३१० ५०	१०	३१० ५०
पजाब	११	२९५ ५०	११	३०१ ८०
राजस्थान	३	७४ ५०	३	७४ ५०
आसाम	१	४५ ००	१	६० ००
दिल्ली	१	२० ००	१	२० ००
मध्यप्रदेश	१	३ ५०	१	३ ५०
योग	१८५	६२९० ००	१९०	६६६६ ००

आर्थिक परिणाम

इस वर्ष में निगम को ७३ ०८ लाख रुपए का लाभ हुआ जो गत वर्ष की अपेक्षा १४ ८३ लाख रु० अधिक रहा। इससे स्पष्ट है कि निगम की आर्थिक स्थिति मजबूत हो रही है। गत ४ वर्षों के आर्थिक परिणामों से इसकी कल्पना होगी —

(लाख रुपये में)

	३० जून को समाप्त होने वाले वर्ष में			
	१९५६	१९५७	१९५८	१९५९
अर्जित ब्याज	६३ १६	६५ ६३	१५४ ३९	२०० ०५
अन्य आय	० ४२	० ८०	० ५४	३ ८३
ब्याज दिया	२६ ६०	४८ १७	८६ ८५	११५ ७५
अन्य व्यय	८ ८२	८ ०६	९ ६८	१० २६
अवमूल्यन	० १२	० १३	० १४	० १८
लाभ	३२ ६८	४३ ०	५८ २५	७३ ०८
आयोजित—आय कर के हेतु	१० १८	८ ५	२८ २१	३७ ७१
संदिग्ध ऋणों के लिए	२२ ५०	१ २८	—	—
अर्धनिश्चित छूट तथा दलाली (बधों के निर्गमन पर)	—	—	४ ८३	४ ६४
संयोगिक कोष	—	१ ००	—	—
संचित कोष	—	—	११ ५०	१४ १२
सरकार से प्राप्त सहायता	११ २५	—	—	—
सहायता राशि की वापसी	—	—	५ ४५	१० ००
लाभांश	११ २५	११ २८	११ २५	११ २५
	(२$\frac{1}{4}$%)	(२$\frac{1}{4}$%)	(२$\frac{1}{4}$%)	(२$\frac{1}{4}$%)
प्रार्थनापत्रों की ऋणराशि	२७७० ०२	२१३६ २५	१४८८ ५०	११९६ ५७
स्वीकृत ऋणराशि	१५१३ ००	११९० ७५	७७८ ५०	३७६ ००
वितरित ऋणराशि	२२० २२	६७७ ५०	८३३ ३५	७८७ ७१

अर्थ प्रमण्डल की आलोचना—अर्थ प्रमण्डल ने यद्यपि देश के उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण प्रदान करके देश के औद्योगिक कलेवर की एक बहुत बड़ी कमी को दूर किया है, फिर भी इसके विरोध में कुछ आक्षेप हैं —

(१) अर्थ प्रमण्डल की ब्याज दर ऊँची है।

अर्थ प्रमण्डल फरवरी १९५२ तक ५$\frac{1}{2}$% ब्याज लेता था। १९५१ में बैंक दर बढ़ जाने से अर्थ प्रमण्डल ने अपनी ब्याज-दर ६% की। १९५२-५४ में ब्याज की दर ६$\frac{1}{2}$% तथा २३ अप्रैल १९५७ से ७% की। परन्तु विरत

गव ब्याज का समयानुकूल भुगतान होने पर अथ प्रमण्डल इस दर म १% की छूट देता है।

वास्तव म देखा जाय तो ब्याज दर मुद्रा मण्डी की स्थिति पर निभर रहती है। आजकल जब रिजव बैंक साख पर नियन्त्रण कर रहा है एसी दशा म ब्याज दर वास्तव म देखा जाय तो अधिक नहीं है।

(२) अथ प्रमण्डल कायशील पूजी की अपेक्षा अधिक राशि के ऋण स्वीकार करता है। यह आर्थिक सिद्धान्तो के विरुद्ध है जिसमे अथ प्रमण्डल किसी भी समय खतरे मे पड सकता है।

(३) स्वीकृत ऋणो की लगभग ३०% राशि ऋणी उद्योगो ने नही ली। इससे अथ प्रमण्डल को ब्याज की हानि होती है।

किन्तु अब अथ प्रमण्डल को रिजव बैंक म ऋण लेने का अधिकार है जिससे उसको स्वीकृत ऋणो का भुगतान करने के लिए अधिक रोकड रखने की आवश्यकता नही रही।

(४) अथ प्रमण्डल की ऋण नीति पक्षपातपूर्ण है क्योकि अथ प्रमण्डल ने बम्बई राज्य को सबसे अधिक ऋण दिये है। वास्तव म भारत म न उद्योगो का और न पूजी का एक ही राज्य म केन्द्रीकरण होना चाहिए अपितु इनका सम्पूर्ण देश म समान रूप से वितरण होना चाहिए। आशा है कि भविष्य मे अथ प्रमण्डल इन त्रुटियो का निवारण करेगा।

(५) यह भी आक्षेप लगाया जाता है कि ऋण स्वीकार करने मे अथ प्रमण्डल बहुत समय लेता है।

अत इस शिकायत को दूर करने के लिए अथ प्रमण्डल ने १९५७ मे वधानिक शाखा खोली है जिससे ऋणो के वितरण एव स्वीकार करने मे विलम्ब न होगा।

(६) ऋण को स्वीकार करने के पूव अथ प्रमण्डल प्रबन्ध अभिकर्ता अथवा सचालको की व्यक्तिगत जमानत मागता है।

परन्तु वास्तव म यह इसलिए किया जाता है जिससे ऋणो का समुचित उपयोग औद्योगिक विकास के लिए हो।

अथ प्रमण्डल की कठिनाइया—प्रारम्भिक वर्षो म अथ प्रमण्डल को अपनी क्रियाओ म भारत के दोषपूर्ण औद्योगिक कलेवर के कारण अनेक बाधाए रही। ये कठिनाइया निम्न थी।

(१) अथ प्रमण्डल को आवेदन पत्रो पर विचार करने के लिए उद्योगो

की भावी याजनाओ का पूर्ण विवरण आवश्यक होता है जो अनेक उद्योगो द्वारा नही दिया जाता ।

(२) अनेक कम्पनियो की स्थायी सम्पत्ति के रहन म कठिनाइयाँ उपस्थित होती है ।

(३) अनेक आवेदनो के साथ जो याजनाए आती है वे पूर्ण एव समुचित तान्त्रिक सलाह से नही बनाई जाती और यन्त्र आदि की अनुमानित कीमत तथा याजना की पूर्ति के आवश्यक साधन नही दिये जाते ।

(४) अनेक कम्पनियो के पास पर्याप्त कार्यशील पूजी नही होती जिससे उनके पास भावी याजनाओ की पूर्ति के लिए पर्याप्त साधन नहीं होते ।

(५) ऐसे अनेक उद्योग है जो ऋण स्वीकृत हो जाने पर भी वैधानिक कार्यवाहियो की पूर्ति नही करते जैसे यन्त्र आदि के आयात के लिए लाइसेंस अथवा नियन्त्रित वस्तुओ के परमिट लेना आदि ।

(६) कुछ दशाओ म सरकार उद्योगो को प्रत्यक्ष ऋण देती है । ऐसा होने से अथ प्रमण्डल को कठिनाइ होती है ।

अत उद्योगो को इन कठिनाइयो के निवारण के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए जिससे अथ प्रमण्डल उनके लिए अधिक उपयोगी हो सके । राज्य अथ प्रमण्डल और भारतीय अथ प्रमण्डल की क्रियाएँ प्रतियोगी न होने के उद्देश्य से दोनो का कार्यक्षेत्र पृथक किया गया है जिसके अनुसार राज्य अथ प्रमण्डल अधिकतम १० लाख रु० अथवा अपनी चुकता पूजी के १०% तक ऋणो के आवेदन स्वीकृत कर सकेगा ।

(२) राज्य औद्योगिक अर्थ-प्रमण्डल

भारतीय औद्योगिक अथ प्रमण्डल (I F C) विशेषत बडे-बडे उद्योगो को आर्थिक सहायता देता है और वह केवल लाइसेंसित कम्पनियो को ही ऋण देता है । किन्तु बहुमुखी औद्योगिक प्रगति के लिए यह आवश्यक था कि साझेदारी निजी कम्पनियाँ तथा अन्य छोटे एव मध्यम उद्योगो को आर्थिक सहायता मिलने का पर्याप्त प्रबन्ध हो । इसी हेतु सन् १९५१ म प्रान्तीय औद्योगिक अथ प्रमण्डल विधेयक ससद म प्रस्तुत हुआ जो अक्टूबर १९५१ म स्वीकृत हो गया है । यह अधिनियम केवल उन्ही राज्यो को लागू होगा जिनके नाम भारत सरकार की सूचना म प्रकाशित होगे । अर्थात् कोई भी राज्य जिसका नाम सरकारी सूचना म प्रकाशित हो जाता है और औद्योगिक आर्थिक आवश्यकताओ का विचार करने पर उस राज्य को यह विश्वास होता है कि

वहाँ अर्थ-प्रमण्डल की स्थापना हो, तो वहाँ स्थापना हो सकती है। इसकी पूंजी एव कार्य अधिनियम के अनुसार निम्न है —

पूंजी—राज्य अर्थ-प्रमण्डल की पूंजी ५०,००० रु० से ५ करोड़ रु० तक होगी। यह पूंजी राज्य सरकार, रिजर्व बैंक, सूचीबद्ध बैंक, बीमा-कम्पनी, विनियोग प्रन्यास (Investment trusts), सहकारी बैंक एव अन्य आर्थिक सस्थाओं द्वारा दी जायगी। पूंजी का २५% भाग केन्द्रीय सरकार की पूर्व-अनुमति से जनता को निर्गमित किया जा सकता है एव इसका हस्तान्तरण स्वतन्त्रता से हो सकेगा। शेष ७५% भाग का हस्तान्तरण उपरोक्त आर्थिक सस्थाओं तक ही सीमित रहेगा। पूंजी एव लाभाश की गारन्टी राज्य सरकार देगी।

प्रबन्ध—इनका प्रबन्ध सचालक सभा द्वारा होगा जिसकी नियुक्ति निम्नवत् होगी —

(१) प्रान्तीय सरकार के मनोनीत सचालक ··· ३
(२) रिजर्व बैंक के मनोनीत सचालक ··· १
(३) भारतीय औद्योगिक अर्थ-प्रमण्डल का मनोनीत सचालक १
(४) अशधारी आर्थिक सस्थाओं द्वारा चुने हुए सचालक ३
(इनमे से १ सूची बद्ध बैंको तथा १ सहकारी बैंको द्वारा चुना जायगा)
(५) अशधारी जनता द्वारा निर्वाचित सचालक ·· १
(६) प्रबन्ध सचालक (इसकी नियुक्ति सचालक सभा १
की अनुमति से राज्य सरकार करेगी)

प्रत्येक चुने हुए सचालक की अवधि ४ वर्ष होगी। सचालक-सभा की सहायता के लिए एक शासकीय समिति (executive committee) होगी जिसका सभापति प्रबन्ध-सचालक होगा तथा तीन और सदस्य होंगे। इनमे से दो सदस्य मनोनीत सचालकों द्वारा चुने जायेंगे तथा एक चुने हुए सचालकों द्वारा। सचालक सभा को कार्य की सुविधा के लिए सलाहकार समितियाँ नियुक्त करने का अधिकार है।

प्रमण्डल के कार्य—(१) औद्योगिक सस्थाओं द्वारा जनता के लिए गये अधिकतम २० वर्ष के ऋणों की जमानत देना।

(२) औद्योगिक सस्थाओं के निर्गमित अशो एव ऋण-पत्रों का अभिगोपन करना।

(३) अभिगोपन अनुबन्धों के कारण जो ऋण-पत्र अथवा अश जनता को न बिक सके उनको अधिकतम ७ वर्ष मे बेचना।

(४) औद्योगिक संस्थाओं को अधिकतम २० वर्ष के लिए ऋण देना एवं उनके २० वर्ष में देय ऋण-पत्रों को खरीदना।

(५) ये अर्थ प्रमण्डल उपरोक्त कार्यों के अन्तर्गत तब तक ऋण नहीं दे सकते जब तक उन ऋणों के लिए सरकारी अथवा अन्य प्रतिभूतियां स्वर्ण चल अथवा अचल सम्पत्ति जमानत के लिए बन्धक अथवा रहन न की जाय।

निषिद्ध कार्य—(१) किसी भी औद्योगिक प्रमण्डल को १० लाख रुपये से अधिक ऋण देना।

(२) किसी भी औद्योगिक प्रमण्डल की प्रतिभूतियों को खरीदना।

(३) जनता से पांच वर्ष से कम अवधि के निक्षेप जमा लेना।

(४) अपने अंशों की जमानत पर ऋण देना।

राज्य अर्थ प्रमण्डलों की क्रियाओं की कल्पना अगले पृष्ठ की तालिका से होगी।

(३) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास-निगम

(National Industrial Development Corporation)

भारत में बहुत दिनों से इस निगम के स्थापना की चर्चा हो रही थी। उसकी स्थापना दिल्ली में २० अक्टूबर १९५४ को हो गई है। यह निगम पूर्ण रूप से सरकारी स्वामित्व एवं नियन्त्रण में है परन्तु इसकी रजिस्ट्री भारतीय प्रमण्डल अधिनियम के अन्तर्गत की गई है। यह निगम औद्योगिक विकास, आधारभूत एवं प्रमुख सहायक उद्योगों की स्थापना के हेतु आवश्यक तान्त्रिक एवं इन्जीनियरिंग अनुभव प्राप्त करने में निजी उपक्रमियों की सहायता लेगा। यह सहकारिता इसी दृष्टि से प्राप्त की जा रही है क्योंकि देश के औद्योगिक विकास की तीव्र आवश्यकता है और उपभोक्ता उद्योगों में निजी उपक्रमियों ने बहुत कुछ कार्य किया है एवं वे देश की भावी मांग को भी सफलता से पूर्ण कर सकते हैं। परन्तु आधारभूत एवं प्रमुख सहायक उद्योगों में अलग दृष्टिकोण आवश्यक होता है जिसमें निजी उपक्रमी सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकते अपितु अपने अनुभव से सहयोग दे सकते हैं। अतः ऐसे उद्योगों की स्थापना का कार्य यह निगम करेगा जिसमें तान्त्रिक इंजीनियरिंग एवं औद्योगिक अनुभव का लाभ लेने के लिए निजी उपक्रमियों का सहयोग आवश्यक होगा।

पूँजी—औद्योगिक विकास निगम की अधिकृत पूँजी १ करोड़ रुपए है तथा चुकता पूँजी १० लाख रुपए है, जो केन्द्रीय सरकार द्वारा दी गई है। इस निगम का प्रमुख कार्यालय दिल्ली में है तथा यह भारतीय प्रमण्डल अधि

प्रान्तीय औद्योगिक अर्थ-प्रमण्डलो की क्रियाएँ (३१-३-५७ तक)

नाम	स्थापना तिथि	चुकता पूँजी [लाख रु०]	३१ ३ ५७ को अप्राप्य ऋण	कुल लाभ	शासकीय व्यय	शुद्ध लाभ	गारंटीड लाभांश देने हेतु प्राप्त सरकारी सहायता	कुल सरकारी सहायता
१ वेस्ट बंगाल फिनांशल कार्पोरेशन	१- ३ ५४	१००	३४६६१०२	४१०५६७	१२५६०२	२९३२६५	२११०३५	५८६१५५
२ पंजाब	१ २ ५३	१००	५६७७६४०	५०३९७१	१३३५१०	३७०४६१	१२९५३०	८४२०६६
३ बाम्बे स्टेट[1]	३० ११ ५३	२००	१५१०२५००	९२६५५८	१८८४०४	७३८१३४	३४१२८१	३३४८८१
४ आंध्र प्रदेश स्टेट[2]	१३ २ ५६	१५०	४०४३०८१	५५२३६७	११९६४३	४३०७२४	७९५४७६	७०३७४९
५ आसाम	१९- ४ ५४	१००	२९४८९९८	४४८१४३	८०१६८	३६७९७५	१८७०२५	४५१३४०
६ दी करल	२३-११-५३	१००	८३९०२३१	५४६५१८	५७३०४	४८८८१४	९९३८१	३९४०२९
७ राजस्थान	१७- १ ५५	१००	९०५०००	३७९२१७	६२२७६	३१६९४१	१८८०५९	३६८०१३
८ बिहार	२ ११-५४	५०	२३८६०००	१९९६८८	९३४४२	१०६२४६	१४३०००	३०७४४४
९ उत्तर प्रदेश	२१- ८ ५६	१००	१७९६०२४	३१३४८६	९०७६१	२२३२२१	२३५२९६	३७४०४२
१० मध्य प्रदेश	२६- १ ५५	१००	५५००००	३०१८४२	६७७९९	२३४१४३	२१५८१४	२४९७३३

१ राज्यो के पुनर्गठन के कारण बम्बई और सौराष्ट्र के प्रान्तीय अर्थ प्रमण्डलों का एकीकरण हो गया है।

२ आंध्र और हैदराबाद राज्य के दोनों प्रान्तीय प्रमण्डलों के एकीकरण से निर्मित।

नियम के अन्तर्गत रजिस्टर्ड है। इस निगम को अपनी क्रियाओं के लिए जो अन्य राशि आवश्यक होगी वह केन्द्रीय सरकार निम्न रीति से देगी—

(क) औद्योगिक योजनाओं का अध्ययन, अनुसंधान एवं औद्योगिक निर्माण के लिए तथा ऐसी ही अन्य औद्योगिक योजनाओं की पूर्ति के लिए देश में आवश्यक तान्त्रिक एवं प्रशासकीय व्यक्तियों का दल (corps) तैयार करने के हेतु वार्षिक अनुदान (grants) द्वारा अनुदान की राशि का आयोजन वार्षिक बजट में होगा। १९५४-५५ के पूरक बजट में ५ करोड़ रुपए का आयोजन था।

(ख) औद्योगिक विकास निगम की प्रस्तावित औद्योगिक योजनाओं की पूर्ति के लिए आवश्यकता के समय ऋण देकर।

(ग) इसके सिवा निगम को अपनी कार्यशील पूँजी बढ़ाने के लिए अंश एवं ऋण-पत्रों के निर्गमन का अधिकार है।[1]

बम्बई राज्य द्वारा नया कदम

बम्बई राज्य ने बम्बई राज्य अर्थ-प्रमण्डल के साथ एक नया समझौता किया है जिसके अन्तर्गत राज्य अर्थ-प्रमण्डल १०,००० रु० से ७५,००० रु० तक के ऋण दे सकता है एवं उनका वितरण कर सकता है। अर्थ-प्रमण्डल अपवादात्मक दशाओं में एक ही औद्योगिक इकाई को १ लाख रु० तक ऋण दे सकेगा। राज्य अर्थ-प्रमण्डल द्वारा ये ऋण राज्य-औद्योगिक सहायता अधिनियम के अन्तर्गत दिए जायेंगे। इस हेतु सरकार अर्थ-प्रमण्डल के लिए एक समय में ५ लाख रु० की राशि का आयोजन करेगी जिसके वितरण के बाद उसका विस्थापन पुनः होगा। परन्तु किसी भी दशा में बजट में आयोजित राशि से अधिक राशि इस हेतु उपलब्ध न हो सकेगी। इन ऋणों की स्वीकृति एवं वितरण में बम्बई राज्य निगम लघु उद्योगों को आर्थिक सहायता देने के सम्बन्ध में सरकारी नियमों एवं सिद्धान्तों का पालन करेगा।

ऋण आवेदनों पर विचार करते समय अर्थ-प्रमण्डल निम्न आधार पर प्राथमिकता देगा —

१ ४०,००० रु० से कम राशि के ऋण-आवेदन।

२ अहमदाबाद तथा वृहत् बम्बई के औद्योगीकृत क्षेत्र के बाहर के आवेदन।

३ ऐसे पक्षों के आवेदन जिन्हें तुलनात्मक आधार पर ऋण की अधिक आवश्यकता है तथा जिनके साधन कम हैं।

४ प्रमुखतः निश्चित सम्पत्ति का निर्माण करने के हेतु प्राप्त ऋण आवेदन।

---

[1] Report of R. B. I. on Currency & Finance, 1954-55.

५ ऐसे पक्षो के ऋण-आवेदन जो अल्पविधि मे लगाई गई शर्तों की पूर्ति कर सकते हों।

बम्बई राज्य अर्थ-प्रमण्डल इन ऋणों की १०,००० से ५०,००० रु० राशि तक ३$^{0}_{0}$ तथा ५०,००० से १ लाख रु० के ऋणों पर ५% ब्याज लेगा। समझौते की शर्तों के अनुसार ऋणों के वापिसी की जिम्मेवारी कॉर्पोरेशन पर होगी किन्तु मुफस्सिल क्षत्रो म ऋणी सरकारी खजानो मे ऋणों की किश्त देकर चालान कॉर्पोरेशन को भेज सकेगे। अर्थ-प्रमण्डल पर बम्बई राज्य द्वारा वितरित ८,७५,००० तथा इस वर्ष वितरित होने वाले १३ लाख रु० ऋण के वसूली की जिम्मेवारी भी है। इस समझौते के अन्तर्गत बम्बई राज्य अर्थ-प्रमण्डल बम्बई राज्य शासन के अभिकर्ता का कार्य करेगा।[1]

इसी प्रकार की नीति यदि अन्य राज्य भी अपनावे तो निश्चय ही राज्य अर्थ-प्रमण्डलो की उपयोगिता बढगी तथा क्रियाओ का दुहरापन न रहेगा।

इस प्रकार औद्योगिक विकास के लिए ऋण एव अनुदान द्वारा आवश्यक राशि सरकार देगी, जिससे यह निगम बिना आर्थिक रुकावटो के अपना कार्य कर सकेगा। अभी तक देश के औद्योगीकरण के मार्ग मे प्रमुख बाधाएँ आर्थिक ही रही है।

उद्देश्य—(१) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम का प्रमुख उद्देश्य देश की औद्योगिक उन्नति के लिए आवश्यक यन्त्र-मयन्त्र, औजार आदि प्रदान करना तथा आधारभूत एव प्रमुख सहायक उद्योगों के प्रवर्तन एव स्थापन मे प्राथमिकता देना है।

(२) देश के औद्योगिक विकास मे सहायक वर्तमान निजी उद्योगों को तान्त्रिक एव इजीनियरिंग सेवाओ की सुविधा देना, तथा यदि आवश्यक हो तो पूंजी देना, फिर वह उद्योग भले ही निजी उपक्रमियो के नियन्त्रण मे हो।

(३) सरकार द्वारा स्वीकृत निजी उपक्रमियो की औद्योगिक योजनाओ की पूर्ति के लिए आवश्यक तात्रिक, इजीनियरिंग, आर्थिक अथवा अन्य सुविधाएँ प्रदान करना।

(४) प्रस्तावित औद्योगिक योजनाओ की पूर्ति के लिए

(क) आवश्यक अध्ययन एव अनुसधान करना,

(ख) उनको तान्त्रिक, इजीनियरिंग एव अन्य सुविधाएँ प्रदान करना, तथा

(ग) उनकी पूर्ति के लिए विनियोग राशि देना।

---

1 *Commerce*, Nov 21, 1959

इस प्रकार औद्योगिक विकास निगम का हेतु देश के सुदृढ़ औद्योगिक कलेवर के निर्माण में सरकार के साधन या अभिकर्ता के रूप में कार्य करना है जिससे देश का औद्योगिक विकास शीघ्र गति से हो सके।

प्रबन्ध—राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम का प्रबन्ध एक संचालक सभा करेगी। इसके २० सदस्य हैं तथा सभापति वाणिज्य एवं उद्योग मन्त्री हैं। संचालकों को मनोनीत करने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को है। औद्योगिक अनुभव, तान्त्रिक एवं इञ्जीनियरिंग कार्यक्षमता की दृष्टि से संचालक-सभा में १० उद्योगपति, ५ अधिकारी (officials) तथा ४ इञ्जीनियर हैं। इस प्रकार इसका प्रबन्ध प्रबन्ध अभिकर्ता द्वारा न होते हुए संचालक सभा द्वारा होता है।[1]

क्रियाएँ[2]—२२ अक्तूबर १९५४ को निगम की संचालक सभा की प्रथम बैठक हुई जिसमें निम्न उद्योगों का विशेष अध्ययन करने का निर्णय किया गया—

(१) जूट, रुई, वस्त्र, शक्कर, कागज, सीमेंट, रसायन, लकड़ी, खान निर्माण एवं यान्त्रिक आवागमन आदि उद्योगों के लिए आवश्यक आधारभूत यन्त्र सामग्री का निर्माण एवं उत्पादन।

(२) कुछ विशेष उद्योगों का अध्ययन।

(३) वर्तमान समय में जो आधारभूत उद्योग निजी उपक्रम में हैं, उनमें यह निगम कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा और न उनके साथ प्रतियोगिता ही करेगा। उदाहरणार्थ अल्यूमिनियम, फरो मैंगनीज, खाद।

(४) संचालक सभा ने इस तथ्य को भी स्वीकार किया कि देश में औद्योगिक विकास के लिए इञ्जीनियरों तथा तान्त्रिक विशेषज्ञों का अभाव है। इसलिए एक विदेशी इञ्जीनियरिंग फर्म (consulting engineers) का कार्यालय यहाँ स्थापित किया जाय जो उद्योगों को तान्त्रिक सलाह देने का कार्य करे।

(५) औद्योगिक विकास निगम को तान्त्रिक एवं इञ्जीनियरिंग योजनाओं के डिजाइन, नीलपत्र आदि के सम्बन्ध में सलाह देने के लिए ३४

---

[1] *Modern Review*, November 1954.

[2] देखिए—औद्योगिक संगठन, लेखक पी० एस० लोकनाथन।

[3] ये उद्योग हैं—मिश्र-धातु, मैंगनीज, फरोक्रोम, अल्यूमिनियम, ताँबा, जस्ता, लोहा, धातु, डीजल और एंजिन, जनरेटर, भारी रसायन, खाद, कोयला और कोलतार, सल्फोनेट एवं फार्मेल्डिहाइड, कार्बन ब्लैक, कागज निर्माण के लिए लकड़ी की लुगदी, टैनिंग, ब्वाइलर्स, सिरामिक्स एवं इलेक्ट्रोड, एक्स-रे और डाक्टरी सामान, हार्डबोर्ड, इस्पात की ढलाई आदि।

इंजीनियरों की नियुक्ति हो। ये इंजीनियर भावी इंजीनियरों का दल निर्माण करने का कार्य करेंगे।

१९५४-५५ में औद्योगिक विकास निगम ने औद्योगिक उत्पादन की अनेक योजनाओं को मान्यता दी।[1] इन योजनाओं के सम्बन्ध में विदेशी फर्म एवं विशेषज्ञों की सहकारिता में विस्तृत अनुसंधान हो रहा है। यह भी निर्णय किया गया कि पटसन तथा वस्त्र-उद्योगों के आधुनिकीकरण एवं पुनर्वास के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये जाने वाले विशेष ऋण इसी निगम के माध्यम से दिये जायँगे। इस हेतु इन उद्योगों के आवेदनों की जाँच के लिए औद्योगिक विकास निगम ने दो समितियों की नियुक्ति की है।

इस निगम ने १९५७ में निम्न योजनाओं के विकास के हेतु अध्ययन किया, भारी मशीनों का निर्माण, सिनेमा और एक्सरे फिल्म, ऑप्थेल्मिक एवं चश्मे के काँच, अल्यूमिनियम, आधारभूत ऑरगेनिक रसायन, अखबारी कागज, सिंथेटिक रबर, रसायन उद्योग के माध्यम (intermediates for chemical industries)। इसके सिवा १९५८ में जिन योजनाओं के सम्बन्ध में प्राथमिक अध्ययन किया गया था उनमें काफी प्रगति की गई है तथा इस वर्ष में भारी मशीन निर्माण, खान मशीन योजना तथा फाउण्ड्री फोर्ज योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए एक नये निगम की स्थापना की गई है। चश्मे के काँच बनाने की योजना की विस्तृत रूपरेखा तैयार की जा रही है। इन सभी योजनाओं के लिए आवश्यक विदेशी विनिमय की पूर्ति के लिए सन्तोषप्रद व्यवस्था भी कॉर्पोरेशन ने कर ली है।

रंग एवं दवाई उद्योग के लिए आवश्यक माध्यमिक रसायनों के निर्माण की व्यवस्था पूर्णता पर है। अल्यूमिनियम सिंथटिक रबर तथा टंगस्टन कार्बाइड योजनाओं का अध्ययन निजी क्षेत्र में सौंपा गया है जिन्होंने नवीन कारखानों तथा पुराने कारखानों के विस्तार के लिए प्रस्ताव दिये हैं। फिल्म बनाने के उद्योग की स्थापना के लिए भी कॉर्पोरेशन वार्ता कर रहा है।

इस वर्ष कॉर्पोरेशन ने वस्त्र एवं जूट उद्योग के पुनर्वास के लिए क्रमशः २.५ एवं २.३२ करोड़ रु० के ऋण स्वीकृत किये जिनमें से क्रमशः ८६.५ लाख तथा १.६७ करोड़ रु० का वितरण किया जा चुका है।

---

[1] ये उद्योग हैं—Steel foundries, forges and fabrication of steel structurals, intermediates for dye stuffs, wood pulp, carbon black, sulphur from pyrites, printing-machinery, air-compressors and fractional horse-power motors and refractories.

इस प्रकार यह निगम देश के औद्योगिक क्षेत्र की कमी को दूर करने के लिए सफलता से कार्य कर रहा है। निगम की महत्वपूर्ण विशेषता है कि यह सरकारी पूँजी से जिन उद्योगों की स्थापना करता है, उस पूँजी की विनियोग के लिए आवश्यकता होने पर ऐसा उद्योग निजी उपक्रमियों को बेच दिया जायगा। वास्तव में यह बात १९५६ की औद्योगिक नीति से असंगत है, परन्तु वर्तमान समय में औद्योगिक विकास की आवश्यकता तथा विनियोग पूँजी की कमी को देखते हुए यह व्यावहारिक कदम है। यह निगम भावी औद्योगिक विकास एवं प्रवर्तन में प्रबन्ध-अभिकर्ताओं का महत्त्व कम करेगा जिससे उनका उन्मूलन खटकेगा नहीं, जो वांछनीय है।

(४) औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम

(Industrial Credit and Investment Corporation)

भारत में अभी तक विशेषत निजी क्षेत्र में औद्योगिक विकास के लिए विनियोग करने वाली संस्थाओं का अभाव था। इसको दूर करने के लिए ही अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के तत्वावधान में "औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम" की स्थापना बम्बई में **५ जनवरी, १९५५** को की गई। यह निगम भारतीय प्रमण्डल अधिनियम के अन्तर्गत रजिस्टर्ड है। यह निगम एक निजी संस्था है जो निजी क्षेत्र के उद्योगों को सहायता देगी।

सन् १९५३ में निजी क्षेत्रों में विनियोग बाजार का विकास करने के हेतु एक केन्द्रीय संस्था की स्थापना की सिफारिश **थॉक समिति** ने भी की थी। इस सिफारिश के अनुसार ही भारत सरकार की संयुक्त राष्ट्र के फॉरेन ऑपरेशन्स एडमिनिस्ट्रेशन (U S A Foreign Operations Administration) तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के साथ इस सम्बन्ध में चर्चाएँ हुई। इन्हीं चर्चाओं का अन्तिम रूप "औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम" है।

यह निगम केवल निजी क्षेत्रों के औद्योगिक विकास के लिए देशी एवं विदेशी निजी विनियोग पूँजी की सहकारिता का विकास तथा औद्योगिक विनियोग के निजी स्वामित्व एवं विनियोग बाजार का विस्तार करेगा। अपनी पूँजी को औद्योगिक विनियोगों में लगायेगा तथा एक उद्योग की विनियोगित पूँजी को यथाशीघ्र अन्य उद्योगों में विनियोग करेगा।

पूँजी एवं आर्थिक साधन—औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम की अधिकृत पूँजी २५ करोड़ रुपए है जो १०० रुपए के २५ लाख अंशों में विभाजित है। इसकी वर्तमान निर्गमित एवं चुकता पूँजी ५ करोड़ रुपए है जो निम्न रीति से ली गई है—

(अ) भारतीय बैंक, बीमा प्रमण्डल, तथा इस निगम के सचालकों एव उनके मित्रो ने	...	२ ०० करोड रु०
(आ) अमेरिका के निवासी एव निगमों ने	...	० ५० ,,
(इ) सयुक्त राज्य (U K) के बैंको एव बीमा कम्पनियो ने	...	१ ०० ,,
(ई) भारतीय जनता ने		१ ५० ,,

यह निगम अपनी सदस्यता का वितरण विस्तारपूर्वक रखने के लिए आवश्यक कार्यवाही करेगा, जिससे नियन्त्रण शक्ति का अवाछनीय केन्द्रीयकरण न हो।

केन्द्रीय सरकार ने मार्च, १९५५ मे निगम को ७½ करोड रुपए का व्याज मुक्त ऋण दिया है। इसका भुगतान १५ वर्ष बाद आरम्भ होगा तथा १५ वार्षिक किश्तो मे होगा। परन्तु निगम इस ऋण का भुगतान तभी कर सकेगा जब वह अपने अन्य ऋणो एव लेनदारियो को चुका देगा।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने इस निगम को आयात की हुई सामग्री तथा सेवाओ के क्रय के लिए १० मिलियन डॉलर का ऋण स्वीकृत किया है। यह ऋण साख-निगम किसी भी देश की मुद्राओ मे ले सकेगा। इस ऋण की अवधि १५ वर्ष है तथा इस पर विश्व बैंक ४$\frac{5}{8}$% व्याज लेगा। केन्द्रीय सरकार ने इस ऋण की मूल राशि तथा व्याज के भुगतान की जमानत दी है।

उद्देश्य—इस निगम का प्रमुख हेतु निजी क्षेत्र के औद्योगिक उपक्रमो को सहायता देना है। यह निम्न प्रकार से दी जायेगी—

१ ऐसे उपक्रमो के निर्माण विस्तार एव आधुनिकीकरण मे सहायता देना,

२ ऐसे उपक्रमो मे देशी एव विदेशी निजी पूँजी के विनियोग को प्रोत्साहन एव बढावा देना,

३ विनियोग बाजार को विस्तृत करना एव औद्योगिक विनियोगो के व्यक्तिगत स्वामित्व को प्रोत्साहन देना,

४ निजी क्षेत्र के उपक्रमो को मध्यकालीन एव दीर्घकालीन ऋण अथवा उनके समता अशों (equity shares) को खरीदकर आर्थिक सुविधाएँ देना,

५ नये प्रमण्डलों के अशों एव प्रतिभूतियों का अभिगोपन करना,

६ व्यक्तिगत उपक्रमो द्वारा निजी विनियोग स्रोतो से लिये गये ऋणो की निजी जमानत देना,

७ चक्रित (revolving) विनियोग द्वारा यथाशीघ्र पुन विनियोग के लिए उपक्रमो को राशि प्रदान करना, तथा

८ व्यक्तिगत उपक्रमों को प्रबन्ध सम्बन्धी तान्त्रिक एवं नामकीय सलाह देना तथा इस कार्य के लिए आवश्यक विशेषज्ञ प्राप्त करने में सहायता देना।

प्रबन्ध—इस निगम का प्रबन्ध संचालक-सभा करेगी जिसमें ११ संचालक तथा १ प्रमुख व्यवस्थापक हैं। इन संचालकों में ७ भारतीय, २ अंग्रेज, १ अमेरिकन तथा १ संचालक वाणिज्य एवं उद्योग मंत्रालय की ओर से है। इसके प्रमुख व्यवस्थापक श्री पी० एम० बील हैं। केन्द्रीय सरकार के ऋण का भुगतान जब तक नहीं होता, तब तक केन्द्रीय सरकार को एक संचालक नियुक्त करने का अधिकार है।

अधिकार एवं दायित्व—यह निगम अपनी कार्यशील पूँजी बढ़ाने के लिए ऋण ले सकेगा। परन्तु किसी भी दशा में ऋण एवं जमानत दिये हुए ऋणों की कुल राशि निगम की अनिर्गमित (unimpaired) पूँजी, संचित कोष, केन्द्रीय सरकार का ऋण तथा अतिरिक्त राशि (surplus) के योग के तिगुने से अधिक नहीं होनी चाहिए।

स्थापना तिथि से ५ वर्ष पूर्ण होने पर इस निगम को प्रति वर्ष अपने-अपने लाभ का २५% भाग एक संचित कोष में हस्तान्तरित करना होगा, जब तक ऐसे कोष की राशि केन्द्रीय सरकार की ऋण-राशि के बराबर न हो। यह कोष सयोगिक तथा निगम के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उपयोगी होगा।

क्रियाएँ—इस निगम ने ३१ दिसम्बर १९५८ को चार वर्ष पूर्ण किये। इस अवधि में निगम ने उद्योगों को १३३७ लाख रुपए की आर्थिक सहायता दी। यह निम्न प्रकार से दी गई —

३१-१२-१९५८ वर्ष		३१-१२-५७ वर्ष	
क्रियाओं की संख्या	स्वीकृत राशि (लाख रु०)	संख्या	राशि (लाख रु०)
११ ऋण (भारतीय मुद्रा में)	३४८	९	३२३
९ ऋण (विदेशी मुद्राओं में)	३१६	५	२२१
१८ सामान्य एवं पूर्वाधिकार अंश तथा ऋण पत्रों का अभिगोपन	५५०	१६	५२५
१४ सामान्य एवं पूर्वाधिकार अंशों में प्रत्यक्ष अभिदान (subscriptions)	१२३	११	८६
योग	१३३७	—	११६५

इस निगम को १९५७ वर्ष में ७५ २२ लाख रु० का शुद्ध व्यय हुआ जब कि १९५७ वर्ष में २३ ०३ लाख रु० लाभ रहा। इन दोनों ही वर्षों में निगम

ने ४% वार्षिक लाभाश का वितरण किया तथा ५ लाख रु० प्रतिवर्ष सचित कोष मे स्थानान्तरित किये। इस प्रकार यह निगम निजी उद्योग क्षेत्र मे अपनी उपयोगिता का परिचय दे रहा है।

(५) पुर्नवित्त निगम

(Re-Finance Corporation)

उद्योगो को अल्पकालीन ऋण व्यापारिक बैंको से प्राप्त होता है तथा दीर्घ कालीन ऋण प्रदाय के लिए भारतीय एव राज्य औद्योगिक अर्थ-निगम तथा राष्ट्रीय-निगम कार्य कर रहे है। परन्तु उद्योगो को मध्यकालीन ऋण देने वाली सस्थाओ का भारत म अभाव था। भारत की बैंकिंग पद्धति इस कार्य के लिए उपयुक्त है क्योकि भारतीय बैंको की शाखाएँ देश मे बिखरी हुई है तथा उन्हे ऋण प्रापकों की साख की भी अच्छी जानकारी है। परन्तु वे अल्पकालीन निक्षेपो के आधार पर प्रारम्भिक अवस्था मे मध्यकालीन ऋण नही दे सकते। अत एक रिफाइनास कॉर्पोरेशन की स्थापना की गई है। यह निगम सूचीबद्ध बैंको द्वारा उद्योगो को दिये गये मध्यकालीन ऋणो का पुन अर्थ-प्रबन्धन (refinance) करेगा।

विचारधारा का उदय—भारत और अमरीकी सरकार के बीच जो कृषि-वस्तु-समझौता (agricultural commodities agreement) अगस्त १९५६ मे हुआ था उस समझौते के अनुसार ५५ मिलियन डॉलर या २६ करोड रु० निजी उद्योगों की आर्थिक सहायता के लिए थे। ऐसी आर्थिक सहायता स्थापित बैंको के माध्य मे दी जायगी। इसी हेतु रिफाइनास कॉर्पोरेशन की स्थापना हुई।

कॉर्पोरेशन का सगठन—यह कॉर्पोरेशन भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तगत ५ जून १९५८ को निजी कम्पनी के रूप मे रजिस्टर्ड किया गया है। इसकी अधिकृत प्रारम्भिक पूँजी १२ ५ करोड रु० है जो निम्न रीति से प्राप्त की गई है —

रिजव बैंक ऑफ इण्डिया	५ करोड
स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया	२ ५० ,,
जीवन बीमा निगम	२ ५० ,,
१४ सूचीबद्ध बैंको द्वारा[१]	२ ५० ,,

[१] सेंट्रल बैंक, पजाब नेशनल बैंक, बैंक ऑफ इण्डिया, बैंक ऑफ बडौदा, नेशनल ओव्हरसीज एण्ड ग्रिंडलेज बैंक, लॉयडस बैंक, युनाइटेड कॉमर्शियल बैंक, अलाहाबाद बैंक, चार्टर्ड बैंक, इण्डियन बैंक, युनाइटेड बैंक आफ इण्डिया, मर्केटाइल बैंक, देवकरन नानजी बैंकिंग कार्पोरेशन तथा स्टेट बैंक ऑफ हैदराबाद।

इसके सिवा अमरीकी समझौते के अनुसार मिलने वाले २६ करोड रु० रि-फाइनांस कॉर्पोरेशन के पास ४० वर्ष के लिए ऋण के रूप मे रहेंगे। इस पर भारत सरकार ब्याज लेगी। इस प्रकार कॉर्पोरेशन के पास कुल ३८ ५ करोड रुपये रहेंगे।

प्रबन्ध—इस कॉर्पोरेशन का प्रबन्ध सचालन-सभा करती है जिसके ७ सदस्य है जिसम रिजर्व बैंक के गवर्नर का समावेश है जो सचालक सभा का सभापति है। इसके सिवा रिजर्व बैंक का १ उपगवर्नर, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का सभापति, जीवन बीमा निगम का सभापति तथा १४ सूचीबद्ध बैंको के तीन प्रतिनिधिक सचालक है।

उद्देश्य—इस निगम का उद्देश्य निजी क्षेत्र के मध्यम उद्योगो के मध्य-कालीन आर्थिक सुविधाएँ देना है जिसकी अवधि ३ से ७ वर्ष होगी। किसी एक औद्योगिक इकाई को ५० लाख रु० से अधिक का ऋण नही दिया जायगा तथा य सुविधाएँ केवल उन्ही उद्योगों को मिलेंगी जिनकी चुकता पूँजी एव निधि मिलाकर २½ करोड रु० से अधिक नही है। इस हेतु निधि मे आय-कर कोष तथा सामान्य घिसावट कोष का समावेश नही होगा। य ऋण प्राथ-मिक रूप मे उत्पादन वृद्धि के लिए विशेषत ऐसे उद्योगो को दिये जायेंगे जिनका समावेश दूसरी एव आगामी योजनाओ मे होगा।

इसका प्रमुख हेतु उद्योगों को व्यापारिक बैंको से प्राप्त ऋण सुविधाओ मे विस्तार करना एव उनको प्रोत्साहन देना है। सदस्य बैंक ऋणों के पुन अर्थ-प्रबन्धन के लिए इस निगम से आर्थिक सहायता ले सकेंगे।

जून १९५८ के अन्तिम सप्ताह मे निगम के सचालक सभा की प्रथम बैठक हुई जिसमे दूसरी निर्गमित पूँजी १२ ५ करोड रु० हागी जो १ लाख रु० के १२५० अशो मे विभक्त होगी, यह निर्णय लिया गया।

३० अप्रैल १९५९ तक इस निगम के पास चार बैंको से २७० ५० लाख रु० ऋण के लिए १० आवेदन आये जिनमे से ८ प्रार्थियो का २४३ रु० के ऋण स्वीकृत हुए तथा २ आवेदन विचारार्थ हैं। स्वीकृत ऋणों म से ५० लाख रु० का वितरण हुआ है।

ब्याज आदि—कॉर्पोरेशन द्वारा बैंकों से तथा बैंको द्वारा ऋणियो से ली जाने वाली ब्याज-दर मे न्यूनतम १½% का अन्तर होगा। परन्तु कॉर्पोरेशन को हस्तान्तरित किये हुए ऋणों के लिए ऋण-प्रदायक बैंक ही जिम्मेदार होंगे।

(६) अन्तरराष्ट्रीय अर्थ-प्रमण्डल[1]

(International Finance Corporation)

अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र मे विश्व बैंक के सहयोगी के नाते विभिन्न अविकसित देशों के निजी उद्योगों को आर्थिक सहायता देने के लिए गत ४-५ वर्षो से अन्तरराष्ट्रीय अर्थ-प्रमण्डल (IFC) की स्थापना पर विचार हो रहा था। इस सस्था के निर्माण करने का निर्णय गत वर्ष सयुक्त राष्ट्र सघ मे लिया गया। फलस्वरूप २५ जुलाई, १९५६ को अन्तरराष्ट्रीय अर्थ-प्रमण्डल की स्थापना की गई। इसके प्रथम एव वर्तमान अध्यक्ष श्री रॉबर्ट एल० गार्नर है।

पूंजी—अन्तरराष्ट्रीय अर्थ-प्रमण्डल की अधिकृत पूंजी १० करोड डॉलर है जिसका अभिदान (subscription) ५७ राष्ट्रो ने दिया है। इस प्रकार प्रार्थित एव चुक्ता पूंजी की राशि ७८४ करोड डॉलर है। इसकी पूंजी मे प्रमुख देशो का भाग इस प्रकार है—

सयुक्त राष्ट्र अमेरिका	३५,१६८,००० डालर
सयुक्त राज्य (U K.)	१४,४००,००० ,,
फ्रास	५,८१५,००० ,,
भारत	४,४३१,००० ,,
फेडरल रिपब्लिक जर्मनी	३,६५५,००० ,,

इसके सिवा आस्ट्रेलिया, कनाडा, जापान, पाकिस्तान तथा स्वीडन ने १०-१० करोड डालर का अभिदान दिया है।

अन्य सदस्य देशों मे बोलीविया, श्रीलका, कोलम्बिया, कोस्टारिका, डेन्मार्क, डोमीनियन रिपब्लिक, ईक्वेडर, मिस्र, एल-साल्वेडर, इथोपिया, फिनलेंड, ग्वाटेमाला, हेटी, होण्डुरास, आइसलैंड, जोर्डन, मेक्सिको, निकारागुआ, नार्वे, पनामा तथा पेरू है।

उद्देश्य—इस अर्थ प्रमण्डल का प्रमुख उद्देश्य सदस्य देशो के, विशेषत कम विकसित क्षेत्रो के, आर्थिक विकास को निजी उद्योगों के माध्यम से प्रोत्साहन देना है।

अन्तरराष्ट्रीय अर्थ-प्रमण्डल यह कार्य विशेषतः विनियोगो के लिए अनुकूल वातावरण के निर्माण तथा विनियोग अवसर, अनुभवी प्रबन्ध एव सम्भावित (potential) देशी एव विदेशी विनियोक्ताओ को एकत्र लाकर करेगा।

---

[1] R. B I. Bulletin, October, 1956 and American Economy, U S I S and International Finance Corpn Washington, 25 D C U.S A

अन्तरराष्ट्रीय अर्थ-प्रमण्डल के अध्यक्ष के अनुसार "यह निगम एक विनियोग-अभिकर्ता (investing agency) के नाते कार्य करेगा तथा निजी उद्योगों को सरकारी जमानत के बिना ऋण देगा।"

विनियोग प्रस्तावों की योग्यता एवं स्वरूप—उक्त उद्देश्यों के अनुसार अर्थ-प्रमण्डल विशेषतः निजी उपक्रमों के आने वाले प्रस्तावों पर विचार करेगा तथा सीमान्त रूप से आर्थिक सहायता देगा, यदि उसे यह विश्वास होता है कि उस उद्योग को अन्य स्रोत उपलब्ध नहीं है। परन्तु सरकारी क्षेत्र के ऐसे उपक्रमियों के प्रस्तावों पर भी विचार करेगा, यदि प्रमुखता से उनका निजी स्वरूप (essentially private character) हो।

साधारणतः उद्योगों के ऐसे विनियोग प्रस्तावों पर विचार होगा, जिनमें न्यूनतम ५ लाख डॉलर का विनियोग होता हो अथवा अर्थ-प्रमण्डल को न्यूनतम १ लाख डॉलर के विनियोग करने का प्रस्ताव हो।

अर्थ-प्रमण्डल अपनी राशि का विनियोग किसी भी प्रकार से कर सकता है, परन्तु वह पूंजी-स्कंध (capital stock) या अंशों में विनियोग नहीं कर सकता।

यह अर्थ-प्रमण्डल साधारणतः ५ से १५ वर्ष के लिए ऋण देगा।

अर्थ-प्रमण्डल आर्थिक सहायता केवल उसी दशा में देगा जब उसको सम्बन्धित उद्योग के सम्बन्ध में पूर्ण सन्तोष हो। इस हेतु वह उद्योग को अनुभवी प्रबन्धक भी दे सकेगा परन्तु स्वयं किसी उद्योग का प्रबन्ध नहीं कर सकता। इसके साथ ही अर्थ-प्रमण्डल को सम्बन्धित उद्योग की संचालक-सभा पर अपने हितों का प्रतिनिधित्व करने के हेतु संचालक नियुक्त करने का अधिकार है।

इस प्रकार 'यह अर्थ-प्रमण्डल अन्तरराष्ट्रीय ढंग पर निजी उद्योगों को प्रोत्साहन देने वाली पहली विनियोग संस्था है। मेरा विश्वास है कि राष्ट्रों के आर्थिक विकास में निजी उपक्रम अत्यन्त प्रभावी एवं गतिशील शक्ति है और यह विश्वास है कि अविकसित एवं विकसित देशों के लिए यह अत्यन्त लाभकर होगी।" **(रॉबर्ट एल० गार्नर)**

(७) राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम

(National Small Scale Industries Corporation Ltd.)

लघु उद्योगों को आर्थिक सहायता देने के सम्बन्ध में श्रॉफ समिति ने यह सिफारिश की थी कि लघु उद्योगों को प्राप्त आर्थिक स्रोतों को प्रोत्साहन देने के

लिए एक पृथक् विकास-निगम की स्थापना की जाय। ऐसा निगम लघु उद्योगों के समुचित सगठन, उनके उत्पादन का प्रमापीकरण, सगठित विनय, वितरण एव विज्ञापन तथा कच्चे माल का संयुक्त अथवा सहकारी पद्धति पर क्रय करने में सहायता देने के लिए एक पृथक् एव स्वतन्त्र विभाग का आयोजन करे। यह लघु उद्योगों को तान्त्रिक एव प्रबन्ध सम्बन्धी सेवाएँ उपलब्ध करावे तथा यदि सम्भव हो तो प्रशिक्षण केन्द्र खोले। इसी प्रकार की सिफारिश फोर्ड फाउण्डेशन तान्त्रिक दल ने भी की थी।

उक्त सिफारिश के अनुसार भारत सरकार ने फरवरी, १९५५ में 'राष्ट्रीय लघु उद्योग विकास निगम' की स्थापना की है। इसका प्रमुख हेतु भारतीय लघु उद्योगों को प्रोत्साहन, सरक्षण, आर्थिक तथा अन्य सहायता देना है।

पूँजी—यह निगम निजी सीमित प्रमण्डल के रूप में भारतीय प्रमण्डल अधिनियम के अन्तर्गत रजिस्टर्ड है। इसकी अधिकृत पूँजी ५० लाख रुपए है जिस में से ४० लाख रु० चुकता पूँजी है। केन्द्रीय सरकार ने निगम की सम्पूर्ण पूँजी ली है तथा इसकी कार्यशील पूँजी बढ़ाने के लिए समुचित ऋण भी देगी।

कार्य—यह निगम ऐसे उद्योगों को जिनमें ५० से कम व्यक्ति काम करते हों तथा विद्युत या अन्य शक्ति से काम होता हो, अथवा जिनमें १०० से कम व्यक्ति काम करते हों किन्तु विद्युत या अन्य शक्ति का प्रयोग न होता हो, जिनकी पूँजीगत सम्पत्ति ५ लाख रुपए से अधिक न हो, सहायता देगा—

(१) लघु उद्योगों को सरकारी आदेशों का समुचित भाग दिलाना।

(२) जिन लघु उद्योगों को ऐसे सरकारी आदेश प्राप्त हैं उन्हें इन आदेशों की पूर्ति के लिए—

(क) ऋण देना,

(ख) तान्त्रिक सहायता देना,

(ग) आवश्यक प्रमाप एव किस्म की वस्तुओं के निर्माण में सहायता देना।

(३) लघु उद्योग एव बहुप्रमाण उद्योगों में ऐसा सामजस्य लाना, जिससे लघु उद्योग बहुप्रमाण उद्योगों के लिए आवश्यक सहायक वस्तुएँ तथा अन्य वस्तुएँ बनाने योग्य हों।

(४) लघु उद्योगों को बैंक अथवा अन्य आर्थिक सस्थाओं द्वारा दिये गये ऋणों का अभिगोपन करना एव गारटी देना।

क्रियाएँ[1]—इस निगम ने सितम्बर, १९५५ से अपना कार्य आरम्भ किया

---

[1] R. B. Report on Currency & Finance, 1955-56

तथा लघु उद्योगों को आवश्यक यन्त्र एवं सामग्री सुविधाजनक किश्तों तथा क्रयावक्रय (hire-purchase) पद्धति पर देने के लिए एक योजना लागू की। प्रारम्भिक निक्षेप (deposits) २०–४० प्रतिशत हैं एवं दो किश्तों में देय है तथा इस पर कॉर्पोरेशन की ब्याज-दर ४½ प्रतिशत है।

३१ मार्च १६५६ तक इस कॉर्पोरेशन के पास क्रयावक्रय पद्धति पर ६,२६,६७,६८६ रु० लागत की ८,४३१ मशीनों की खरीद के लिए ७,१०१ आवेदन पत्र स्वीकृत किये गये। इनमें से १८४,०६४१३ रु० लागत की २,२३४ मशीन आवेदकों को क्रयावक्रय आधार पर दी गई।

कॉर्पोरेशन के माध्यम से लघु उद्योगों को ३,२४,१४,४०४ रु० के अनुबन्ध[1] प्राप्त हुए। कार्पोरेशन अपने थोक-भंडारों में 'जनसेवक' मार्के की लघु उद्योगों की निम्न वस्तुओं का विक्रय करता है, चमड़े के जूते, रंग, सूती एवं ऊनी होजरी, काँच के मणी, पॉटरी आदि। कार्पोरेशन की देख-रेख में ओखला एवं नैनी की औद्योगिक बस्तियां पूर्ण की गई हैं जिनमें क्रमशः ३५ एवं ३८ कारखाने हैं। इसके सिवा यह निगम राजकोट एवं ओखला में प० जर्मनी सरकार एवं अमरीकी तान्त्रिक सहयोग मिशन की सहकारिता से प्रोटोटाइप मशीन एवं प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना कर रहा है जहां लघु औद्योगिक इकाइयों द्वारा प्रोटोटाइप मशीनों का व्यापारिक उत्पादन होगा एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था होगी।

सारांश

१ औद्योगिक अर्थ-प्रमण्डल—यह एक वैधानिक निगम है जो १६४८ में उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण सुविधाएँ देने के लिए बनाया गया है। इसकी अधिकृत पूँजी १० करोड़ एवं चुकता पूँजी ५ करोड़ रु० है जो रिजर्व बैंक, केन्द्र सरकार सूचीबद्ध बैंक, बीमा कम्पनी तथा सहकारी बैंकों द्वारा ली गई है। इस निगम के कलकत्ता, बम्बई तथा दिल्ली में कार्यालय एवं मद्रास में शाखा है। इसका प्रबन्ध संचालक सभा करती है जिसके १२ संचालक हैं एवं दैनिक कार्यों की देखभाल केन्द्रीय समिति करती है।

अपनी कार्यशील पूँजी बढ़ाने के लिए निगम बंध बेच सकता है। ऐसे बंधों को निगम ने बेचा है जिनकी प्रदत्त राशि ३० जून १६५६ को १६.७५ करोड़ रु० थी।

यह निगम अधिकतम २५ वर्ष की अवधि के ऋण दे सकेगा तथा इसी अवधि

[1] Contracts from D G. S & D.

मे देय ऋणपत्रो एव अशो आदि का अभिगोपन करता है। कार्यशील पूंजी के लिए रिजर्व बैंक एव केन्द्र सरकार से ऋण ले सकेगा। परन्तु किसी भी दशा मे यह अपनी चुकता पूंजी एव निधि के १० गुने से अधिक राशि के ऋण नही ले सकता।

निगम ने ३० जून १९५६ तक ६६ ६६ करोड रु० के ऋण स्वीकृत किये हैं जिनमे से ४२ ३२ करोड रु० के ऋणो का वितरण किया गया। निगम देशी उद्योगो से आयातित पूंजी गत एव अन्य माल के स्थगित भुगतान की गारन्टी देता है। ३० जून १९५६ तक निगम ने ४ ५१ करोड रु० के स्थगित भुगतान की गारन्टी दी है। १९५७-५८ वर्ष से निगम ने अभिगोपन कार्य आरम्भ किया तथा १ ६० करोड रु० के ६½ ऋणपत्रो का अभिगोपन किया। १९५८-५६ वर्ष मे १०० लाख रु० के पूर्वाधिकार अशो का अभिगोपन किया। इस सम्बन्ध मे निगम की कुल जिम्मेदारी १ ६२ करोड रु० की है।

निगम की क्रियाओ पर निम्न आक्षेप है, अधिक ब्याज-दर, ऋणो के प्रान्तीय वितरण मे असमानता, कार्यशील पूंजी की अपेक्षा अधिक राशि के ऋण स्वीकार करना, ऋण स्वीकृति मे विलम्ब तथा सचालको एव प्रबन्ध अभिकर्ताओ की व्यक्तिगत जमानत।

२ राज्य औद्योगिक अर्थ-प्रमण्डल—उक्त प्रमण्डल सीमित कम्पनियो को ही ऋण देते हैं अत निजी कम्पनियो, साझेदारी तथा लघु उद्योगों के ऋण देने के लिए १९५१ मे राज्य अर्थ-प्रमण्डल अधिनियम बनाया गया। इसके अनुसार इन प्रमण्डलो की पूंजी ५०००० रु० से ५ करोड रु० तक हो सकती है। तथा २५% पूंजी जनता को निर्गमित हो सकेगी और शेष पूंजी का अविदान राज्य सरकार, रिजर्व बैंक, बीमा कम्पनियाँ आदि आर्थिक सस्थाएँ ही दे सकेंगी।

यह उक्त औद्योगिक सस्थाओ को २० वर्ष के लिए ऋण या ऋणो की गारन्टी या ऋण-पत्रो का अभिगोपन करेगा। इन प्रमण्डलो के अप्राप्त ऋणो की राशि ३१ मार्च १९५७ को ४६२ ६५ लाख रु० थी। इस समय भारत मे १० राज्यो मे राज्य अर्थ-निगम काम कर रहे हैं। बम्बई राज्य ने बम्बई राज्य निगम के स्टेट एड टु इण्डस्ट्रीज अधिनियम के अन्तर्गत उद्योगो को सहायता देने के लिए अपना एजेन्ट नियुक्त किया है। यदि अन्य राज्य भी ऐसा करें तो क्रियाओ का दुहरापन समाप्त होकर राज्य अर्थ निगमो की उपयोगिता बढेगी।

३. राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम—२० अक्टूबर १९५४ को स्थापित यह निगम औद्योगिक विकास, आधारभूत एव प्रमुख सहायक उद्योगो की

स्थापना के हेतु आवश्यक तान्त्रिक एव इजीनियरिंग अनुभव प्राप्त करने मे निजी उपक्रमियो को सहायता देगा। इसकी अधिकृत पूँजी १ करोड रु० तथा चुकता पूँजी १० लाख रु० है जो भारत सरकार ने दी है। निगम को अपनी क्रियाओ के हेतु जो अतिरिक्त राशि लगेगी उसकी पूर्ति केन्द्रीय सरकार बजट से ऋण देकर करेगी। निगम को भी कार्यशील पूँजी बढाने के लिए ऋण पत्र चालू करने का अधिकार है।

उद्देश्य—

(१) औद्योगिक विकास के लिए आधारभूत एव प्रमुख सहायक उद्योगो की स्थापना एव प्रवर्तन।

(२) औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक यन्त्र सयन्त्र, औजार आदि प्रदान करना।

(३) औद्योगिक विकास मे सहायक निजी उद्योगो को तान्त्रिक एव इजीनियरिंग सुविधाएँ और आवश्यक हो तो ऋण देना।

(४) सरकार द्वारा स्वीकृत निजी उपक्रमियो को औद्योगिक योजनाओ की पूर्ति के लिए आवश्यक तान्त्रिक, आर्थिक, इजीनियरिंग एव अन्य सुविधाएँ देना।

(५) प्रस्तावित औद्योगिक योजनाओ की पूर्ति के लिए—(अ) अध्ययन एव अनुसधान करना, (ब) उक्त सुविधाएँ देना

इसका प्रबन्ध २० सदस्यो की प्रबन्धकारिणी करती है एव इसके सभापति वाणिज्य एव उद्योगमन्त्री हैं।

क्रियाएँ—इस निगम ने ३१ दिसम्बर १९५८ तक अनेक योजनाओ के सम्बन्ध मे अध्ययन चालू किया है तथा भारी मशीन निर्माण, फाउण्ड्री फोर्ज तथा खान-मशीन योजना को कार्यान्वित करने के लिए एक कॉर्पोरेशन की स्थापना की है एव अन्य अध्ययन कार्य चालू हैं। कॉर्पोरेशन के माध्यम से वस्त्र एव जूट उद्योग के पुनर्वास के लिए क्रमश २.५ एव २.३२ करोड रु० के ऋण दिये गये हैं।

८ औद्योगिक साख एव विनियोग निगम—५ जनवरी १९५५ को स्थापित इस निगम का उद्देश्य निजी क्षेत्र के औद्योगिक उपक्रमो के लिए देशी एव विदेशी विनियोग पूजी की सहकारिता का विकास, औद्योगिक विनियोगो के निजी स्वामित्व एव विनियोग बाजार का विस्तार करना है। इसकी अधिकृत पूँजी २५ करोड रु० है तथा चुकता पूँजी ५ करोड रु० है जो भारतीय बैंक, बीमा कम्पनी आदि से २ करोड रु०, अमरीका के निवासी एव निगमों से

$\frac{1}{2}$ करोड रु०, सयुक्त राज्य के बीमा कम्पनियो एव बैंकों से १ करोड र० तथा भारतीय जनता से १$\frac{1}{2}$ करोड रु० ली गई है।

निगम के आर्थिक साधन बढाने के लिए भारत सरकार ने ७ ५ रु० का ऋण दिया है जिसका भुगतान १५ वर्ष बाद आरम्भ होगा तथा आयातित सामग्री एव सेवाओं के हेतु अन्तरराष्ट्रीय बैंक ने १ करोड डॉलर ऋण दिया है।

निगम का प्रबन्ध सचालक सभा करेगी जिसमे ११ सचालक हैं। इस निगम ने ३१ दिसम्बर १६५८ तक उद्योगो को १३ ३७ करोड रु० की सहायता विभिन्न रूप से दी है।

५ पुनर्वित्त निगम—स्थापित बकों के माध्यम से निजी क्षेत्र के मध्यम उद्योगो को मध्यकालीन आर्थिक सहायता देने के लिए इस निगम की स्थापना जून १६५८ मे की गई है। इसकी अधिकृत पूँजी १२ ५ करोड रु० है जो पूर्ण निर्गमित है तथा रिजव बैंक, स्टेट बैंक, जीवन बीमा निगम एव १४ सूचीबद्ध बैंको से प्राप्त की जायगी। इसके सिवा अमरीका से कृषि-वस्तु समझौते के अन्तगत प्राप्त २६ करोड रु० की राशि इस निगम के पास ४० वष के लिए ऋण के रूप मे रहेगी। इस पर भारत सरकार ब्याज लेगी।

इस निगम का प्रबन्ध सचालक सभा करती है जिसके ७ सदस्य है। इसका सभापति रिजर्व बैंक का गवर्नर है।

३० अप्रैल १६५६ तक निगम के पास ४ बैंको मे २७० ५० लाख रु० के ऋण के लिए १० आवेदन आये जिनमे से २४३ लाख रु० के ८ आवेदन पत्र स्वीकृत किये गये तथा २ विचाराथ है। स्वीकृत ऋणो मे से ५० लाख रु० के ऋण वितरित किये गये हैं।

६ अन्तरराष्ट्रीय अथ प्रमण्डल—इसकी अधिकृत पूँजी १० करोड डॉलर है जिसका अभिदान ५७ देशों ने दिया है। इसमे भारत का कोटा ४४३१ हजार डालर है। इसका उद्देश्य सदस्य देशो के आर्थिक विकास के हेतु निजी उद्योगों के माध्यम से प्रोत्साहन देना है। यह साधारणत ५ से १५ वर्ष के लिए ऋण देगा अथवा विनियोग करेगा।

७ राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम—इसकी अधिकृत एव चुकता पूँजी क्रमश ५० एव ४० लाख रुपए है जो पूर्ण रूप से भारत सरकार ने दी है। यह निगम लघु उद्योगो को सरकारी आदेशो का समुचित भाग दिलाने मे तथा ऐसे आदेशो की पूर्ति के लिए ऋण, तान्त्रिक सहायता, आवश्यक प्रमाप एव किस्म की वस्तुओ के निर्माण मे सहायता देगा। साथ ही लघु उद्योग एव बहुप्रमाण उद्योगों मे सामजस्य स्थापित करेगा जिससे लघु उद्योग उन्हे पूरक हों।

३१ मार्च १९५६ तक कॉरपोरेशन ने लघु उद्योग इकाइयों को क्रयावक्रय आधार पर १,८४,०६,४१३ रु० की २,२३४ मशीनों का प्रदाय किया तथा ३,२४,१४,४०४ रु० के माल की पूर्ति के आदेश दिलवाये। निगम राजकोट एव ओखला मे एक-एक प्रोटोटाइप मशीन उत्पादन एव प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना कर रहा है।

अध्याय २२

सहकारी बैंक

सहकारी बैंकों का उगम भारत मे सर्वप्रथम कृषकों की ऋणग्रस्तता के निवारण तथा उन्हे सस्ती ब्याज दरो पर आर्थिक सहायता देने एव महाजनो के चगुल से छुडाने के लिए किया गया। इसका श्रेय मद्रास प्रान्त तथा उसके प्रणेता श्री फ्रेडरिक निकलसन को है। इन्होने ही सर्वप्रथम १८९५-९७ की अपनी रिपोर्ट मे सहकारी साख-समिति की स्थापना का सुझाव रखा जिससे "कृषक को जिस प्रकार की लोचयुक्त एव स्थायी साख की आवश्यकता है वह प्राप्त हो सके।" इस रिपोर्ट के परिणामस्वरूप लॉर्ड कर्जन ने सर एडवर्ड लॉ की अध्यक्षता मे एक समिति नियुक्त की। इस समिति के सुझाव के अनुसार ही १९०४ मे सहकारी साख-समिति अधिनियम स्वीकृत किया गया।

सहकारिकता का मूल मन्त्र "एक के लिए सब तथा सब के लिए एक" है अर्थात् यह एक ऐसा सगठन है जिसमे सब व्यक्ति समान अधिकारो के साथ अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामुदायिक रूप से काम करते हैं। इससे निर्धनो एव निर्बलो मे भी स्वावलम्बन, आत्म विश्वास, बचत तथा विनियोग के सिद्धान्तो का प्रसार होता है।

सहकारी बैंक भी, जैसा कि हम आगे देखेंगे, जनता से लेन-देन करते हैं परन्तु इनकी तथा व्यापारिक बैंको की कार्य प्रणाली मे भेद है। व्यापारिक बैंक केवल लाभ की दृष्टि से कार्य करते है परन्तु सहकारी बैंक परस्पर आर्थिक सहायता एव सेवा-भाव के उद्देश्य से कार्य करते है। इससे साधनहीन गरीबों की सहायता होती है तथा वे अपनी आर्थिक उन्नति कर सकते है। इनके सगठन की विशेषता यही है कि एक स्थान के कुछ साधनहीन व्यक्ति कुछ चन्दा करके तथा अश खरीद कर, अन्य लोगों से निक्षेप लेकर तथा उधार लेकर अपनी कार्यशील पूँजी प्राप्त करते हैं जिससे वे अपने सदस्यों को आवश्यकता के समय ऋण देते है। इसके प्रमुख लाभ निम्न है—

(१) परस्पर सहयोग से काम करने के कारण नागरिकता की भावना बढती है तथा आत्म-विश्वास भी जाग्रत होता है।

(२) इनकी कार्यशील पूँजी छोटे-छोटे स्रोतों से आती है जिनके पास देश के अन्य बैंकों की पहुँच नहीं होती। इससे देश की निष्क्रिय पूँजी का उपयोग होकर मुद्रा एवं साख की गतिशीलता बढ़ती है तथा चहुँमुखी आर्थिक उन्नति होती है।

(३) जिनके पास साधनों की कमी है उन्हें सस्ते दरों पर ऋण मिलता है।

(४) सदस्य इनके लेखे किसी समय भी देख सकते हैं इसलिए महाजनी पद्धति की भाँति ये फँसाये भी नहीं जाते।

(५) इनके साथ ही ग्रामीण जनता में बचत की भावना जाग्रत होती है।

इसी उद्देश्य से भारत में सहकारी संस्थाओं का विकास हुआ। ये सहकारी बैंक तथा साख-संस्थाएँ केवल कृषकों की साख-आवश्यकताओं की पूर्ति करने के उद्देश्य से ही बनाई गई थीं, तथा इनका संगठन भी ग्रामीण साख की आवश्यकतानुसार ही किया गया है। साख-वितरण एवं अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से हम सहकारी बैंकों को तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं, जो कृषकों एवं ग्रामीण जनता की मध्यकालीन एवं अल्पकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं —

(१) **प्राथमिक सहकारी साख-समितियाँ—ये दो प्रकार की होती हैं—**
   (अ) कृषि (ग्रामीण) सहकारी साख-समितियाँ,
   (ब) गैर-कृषि (नगर) साख-समितियाँ।

(२) **केन्द्रीय सहकारी बैंक।**

(३) **राज्य सहकारी बैंक।**

सहकारी तथा व्यापारिक बैंक की तुलना

(१) सहकारी बैंक तथा व्यापारिक बैंक दोनों ही निक्षेप स्वीकारते हैं परन्तु व्यापारिक बैंक केवल ऐसे ही व्यक्तियों को ऋण देते हैं जो उनका महत्तम उपयोग कर सकें, न केवल उन लोगों को जिनकी राशि उनके पास निक्षेप में होती है। इसके विपरीत, सहकारी बैंक केवल अपने सदस्यों को ही ऋण देते हैं। इस प्रकार व्यापारिक बैंक विनियोक्ता तथा विनियोग-प्रापकों को एकत्र लाने का कार्य करते हैं। परन्तु सहकारी बैंक व्यापार की उन्नति की अपेक्षा अपने सदस्यों की आर्थिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

(२) व्यापारिक बैंकों का अपने ग्राहकों के साथ विशेष सम्पर्क नहीं रहता। परन्तु सहकारी बैंकों का ग्राहकों के साथ घनिष्ट सम्पर्क रहता है क्योंकि सदस्य ही विशेषतः उनके ग्राहक होते हैं।

(३) व्यापारिक बैंक अच्छी जमानत पर ही ऋण देते हैं, जो केवल वे ही

दे सकते हैं जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी है। इससे धनी व्यक्ति अधिक धनी तथा निर्धन अधिक निर्धन होता है अर्थात् धन के समान वितरण की भावना व्यापारिक बैंकों में नहीं होती। परन्तु सहकारी बैंक साधनहीन व्यक्तियों की आर्थिक सहायता के लिए ही होते हैं जिससे जनता में स्वावलम्बन एवं बचत की जागृति होती है तथा वे अपनी आर्थिक उन्नति में सफल होते हैं। इतना ही नहीं अपितु सहकारी बैंकों की ऋणनीति प्रजातन्त्रीय होने से वे ग्रामवासियों एवं नागरिकों में प्रजातन्त्रात्मक ढङ्ग पर सङ्गठन करने की भावना भरते हैं। इससे सभी व्यक्तियों को कार्य करने के लिए समान अवसर प्राप्त होते हैं।

(४) सहकारी बैंक अपने ग्राहकों का होता है तथा विशेषत उत्पादन-कार्यों के लिए ही ऋण देता है, न कि उपभोग एवं सामाजिक आवश्यकताओं के लिए। इनके द्वारा दिये गये ऋणों पर ब्याज की दर भी कम होती है तथा यह अपने कार्य-क्षेत्र की जनता की बचत को केन्द्रित करता है। परन्तु व्यापारिक बैंक ऋण किस कार्य के लिए लिया जा रहा है यह न देखते हुए केवल यही देखते हैं कि उनकी जमानत तरल है अथवा नहीं।

(५) व्यापारिक बैंकों का सचालन, समामेलन आदि भारतीय कम्पनी अधिनियम तथा भारतीय बैंकिंग कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत होता है, परन्तु सहकारी बैंकों का सचालन भारतीय सहकारिता अधिनियम के अन्तर्गत होता है।

(६) सहकारी बैंकों के अशधारी तथा सदस्य ही बैंक की कार्य-प्रणाली का सचालन आदि करते हैं। परन्तु व्यापारिक बैंकों का प्रबन्ध अशधारी न करते हुए सचालक एवं प्रबन्धक करते हैं जो अशधारियों के प्रतिनिधि होते हैं।

इस प्रकार व्यापारिक बैंक एवं सहकारी बैंक में सबसे महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि सहकारी बैंक का प्रत्येक सदस्य, प्रत्येक अशधारी उस बैंक का स्वामी होता है, वही उधार लेने वाला होता है तथा ऋण देने वाला भी होता है। इसलिए वह अपने उत्तरदायित्व को समझ कर कार्य करता है तथा प्रत्येक व्यक्ति को वही कार्य सौंपा जाता है जिसके लिए वह योग्य है। वह सदैव इस बात के लिए प्रयत्नशील रहता है कि उसके ऋणों का सदस्यों की आर्थिक उन्नति के लिए समुचित उपयोग हो।

प्राथमिक सहकारी साख-समितियाँ

सहकारी आन्दोलन १९०४ के सहकारी-साख समिति विधान १९०४ से हुआ तथा गत ५५ वर्षों से वे देश में कार्य कर रही हैं। ये सहकारी समितियाँ १९०४ के अधिनियम के अन्तर्गत रजिस्टर होती हैं तथा उनका कार्य-क्षेत्र उसी

गाँव अथवा नगर तक सीमित रहता है, जिसमें उनका कार्यालय है। कार्य के अनुसार ये समितियाँ दो प्रकार की होती हैं—

(अ) ग्रामीण अथवा कृषि सहकारी साख-समितियाँ, तथा

(ब) नगर अथवा गैर-कृषि सहकारी साख-समितियाँ।

ग्रामीण सहकारी साख-समितियाँ

संगठन—ये समितियाँ जर्मनी की रेफीसन (Raiffeissen) समितियों के नमूने पर बनाई जाती हैं तथा इनका कार्य-क्षेत्र किसी ग्राम विशेष अथवा विशेष ग्राम-समूह तक ही सीमित रहता है। एक ग्राम के कोई भी दस अथवा दस से अधिक व्यक्ति मिलकर ऐसी समिति बना सकते हैं तथा उस गाँव का अथवा ग्राम-समूह का कोई भी व्यक्ति इनका सदस्य हो सकता है।

पूँजी—इनकी पूँजी सदस्यों के प्रवेश-शुल्क से अंश-पूँजी बेचकर तथा निक्षेप लेकर प्राप्त की जाती है। सदस्य तथा गैर-सदस्य दोनों से निक्षेप लिये जाते हैं। इनके पास निक्षेप अधिक मात्रा में नहीं आते। यद्यपि निक्षेप आकर्षित करने के लिए ही इनकी स्थापना की गई थी परन्तु इसमें बहुतायत समितियों को सफलता नहीं मिली। इनकी अंश-पूँजी भी अधिक नहीं होती क्योंकि जिस क्षेत्र में ये कार्य करती हैं, वहाँ की बचत पर्याप्त नहीं होती, जिसे वे विनियोग कर सकें। क्योंकि साधारणतः भारतीय किसान गरीब होता है, अतः इनको ऋण आदि देने के लिए कार्यशील पूँजी केन्द्रीय सहकारी बैंकों अथवा राज्य सरकार से ऋण लेकर प्राप्त होती है।

समिति के सब सदस्य विशेष ग्राम अथवा ग्राम-समूह के निवासी होते हैं तथा इन समितियों के ७५% सदस्य कृषक होना आवश्यक है। सदस्यों का दायित्व असीमित होता है।

ऋण-नीति एवं कार्य—ये समितियाँ केवल अपने सदस्यों को ही ऋण देती हैं। ऋण केवल कुएँ बनवाने, पुराने ऋणों के भुगतान, कृषिजन्य आवश्यकताओं की पूर्ति अथवा अन्य उपयोगी एवं उत्पादक कार्यों के लिए ही दिये जाते हैं। परन्तु यह बात सदैव सम्भव नहीं होती क्योंकि हो सकता है कि अन्य आवश्यकताओं के लिए किसान महाजनों के पास से ऋण ले तथा उनके चंगुल में फँस जायें। इसलिए समिति आवश्यकतानुसार सामाजिक कार्यों एवं उपभोग के लिए भी ऋण देती है। परन्तु अनुत्पादक ऋणों के लिए अधिकतम मर्यादा प्रति व्यक्ति १०० रुपए है। इस शर्त से फिजूलखर्ची को रोका जाता है। ऋण विशेषतः अचल सम्पत्ति के रहन अथवा एक या दो अन्य सदस्यों की जमानत पर दिये जाते हैं। परन्तु आजकल समितियों के भण्डारों में रखे हुए

उत्पाद (produce) की जमानत पर भी ऋण दिये जाते हैं। कभी-कभी सदस्य की वैयक्तिक साख पर भी ऋण दिये जाते हैं। ऋणों का भुगतान सुविधाजनक किश्तों में किया जाता है। ऋण की अवधि १ से ३ वर्ष तक की होती है, परन्तु विशेष परिस्थिति में ५ वर्ष तक की अवधि भी दी जाती है। ऋणों के व्याज की दर भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न होती है, जो विशेषत ६½ से १२ प्रतिशत तक होती है।

प्रबन्ध—समिति का प्रबन्ध सदस्यों द्वारा निर्वाचित सामान्य समिति करती है जिसमे एक अध्यक्ष तथा एक कार्यवाह होता है। समिति मे यदि अशधारी नही है तो समिति का सम्पूर्ण लाभ सचित-कोष मे रखना आवश्यक होता है। इस लाभ का कुछ प्रतिशत भाग जन-हित कार्यों मे व्यय किया जाता है परन्तु इसके लिए रजिस्ट्रार से आज्ञा लेनी पडती है। समितियों को अपने हिसाब-किताब पूर्ण रखने पडते है, जिनका निरीक्षण रजिस्ट्रार द्वारा नियुक्त अकेक्षक करता है तथा इन पर रजिस्ट्रार का पूर्ण नियन्त्रण रहता है।

३० जून १९५७ को कृषि साख-समितियों की सख्या, सदस्यता तथा कार्यशील पूंजी क्रमश १,६१,५१०, ७७,९२,०००, ९८ ३० करोड रु० थी। इसी वर्ष इन्होने ६७ ३३ करोड रु० के ऋण दिये।

नगर सहकारी बैंक (समितियाँ)

सगठन—नगर सहकारी बैंक जर्मनी के शुल्फे-डीलिट्ट्श (Schulze-Delitzsch) तथा इटली के लुजाटी (Luzatti) बैंकों के नमूने पर बनाई जाती हैं। इनका कार्य-क्षेत्र एक नगर (कस्बा) तक सीमित रहता है। इसके सदस्यो का दायित्व सीमित होता है, किन्तु समिति के सदस्यों की इच्छानुसार ये असीमित दायित्व वाली भी बनाई जा सकती है। इनके सदस्यो मे से ७५ प्रतिशत सदस्य कृषक नही होते। कोई भी १० अथवा इससे अधिक व्यक्ति मिलकर इसका सगठन कर सकते है।

पूंजी—इनकी पूंजी विशेषत अश बेचकर प्राप्त की जाती है जिनका मूल्य विशेषत ५ से १० रु० तक होता है। प्रत्येक सदस्य को एक मत देने का अधिकार होता है। इनकी कार्यशील पूँजी विशेषत सदस्यो एव गैर-सदस्यो के निक्षेपों से ही प्राप्त होती है। ये अपनी कार्यशील पूँजी के लिए सरकार अथवा केन्द्रीय सहकारी बैंको पर बहुत कम निर्भर रहती है। इतना ही नही अपितु इनके पास अधिक पूँजी रहती है, जिसको वे केन्द्रीय बैंको के पास निक्षेप मे रखते हैं अथवा सरकारी प्रतिभूतियो तथा कम्पनियो के अशों म विनियोग करते है।

लाभ वितरण एव प्रबन्ध—समिति को लाभ का ¼ भाग सचित कोष मे रखना अनिवार्य होता है। शेष का, विशेषत १० से १५ प्रतिशत, जनहित कार्यों के लिए उपयोग मे लिया जाता है और शेष लाभाश के रूप मे सदस्यो को बाँटा जाता है।

समिति का प्रबन्ध एक सचालक-सभा करती है जिसमे एक अध्यक्ष, एक कार्यवाह तथा एक खजाची होता है। सभी सचालकों की नियुक्ति सदस्यो द्वारा की जाती है। सब सचालको की सभा को साधारण समिति कहते है जो समिति की नीति का निर्धारण तथा लाभाश का वितरण करती है। कार्यवाह अध्यक्ष एव खजाची प्रबन्ध-समिति के सदस्य होते हैं तथा प्रबन्ध का उत्तरदायित्व इन्ही पर होता है।

ऋण-नीति—ये साधारणत केवल उत्पादन-कार्यों के लिए ही ऋण देते हैं तथा ऋण उन्ही कार्यों के लिए दिये जाते है जिनके लिए ग्रामीण सहकारी समितियाँ देती है। ऋण की अवधि सामान्यत २ वर्ष होती है परन्तु विशेष स्थिति मे ३ से ५ वर्ष तक के लिए भी ऋण दिया जाता है। इनमे प्रति-भूतियो आदि सम्बन्धी शर्ते ग्रामीण सहकारी साख-समितियो की भाँति ही हैं। आजकल कुछ नगर सहकारी बैंक अपने सदस्यो को आधुनिक बैंको की भाति रोकड़-ऋण तथा बिल एव चैको के सग्रहण की सुविधाएँ भी देने लगे हैं।

सहकारी समिति अधिनियम के अनुसार दोनो ही प्रकार की समितियो पर रजिस्ट्रार का पूर्ण नियन्त्रण रहता है तथा अकेक्षण करने के लिए वह समि-तियो के अकेक्षक की नियुक्ति करता है। अकेक्षण प्रति वर्ष होता है जिससे समितियों की आर्थिक स्थिति की जानकारी हो सके। इसके साथ ही समितियों की आर्थिक स्थिति क अनुसार उनको अ, ब, स तथा द, इन चार वर्गों मे बाँटा जाता है। जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नही होती, उन्हे 'ई' वर्ग मे निकाल कर विलियन कर दिया जाता है।

गैर-कृषि साख-समितियो की सख्या एव सदस्यता ३० जून १९५७ को क्रमश १०१५० और २२ ३६ लाख तथा इनकी कार्यशील पूँजी १००·४१ करोड रु० थी। इन्होने ३० जून १९५७ तक ८२ ०७ करोड रु० के ऋण दिये जो गत वर्ष की अपेक्षा १० ०१ करोड रु० से अधिक थे।

प्राथमिक सहकारी समितियों की प्रगति—प्राथमिक सहकारी साख-समि-तियों की प्रगति १९२९ तक अबाधित रूप से होती गई। परन्तु १९२९ की आर्थिक मदी का इन पर बुरा प्रभाव पडा तथा अनेक समितियो की स्थिति विलियन तक आ पहुँची थी क्योंकि अधिकतर सदस्य ऋणो का भुगतान करने

मे असमर्थ थे। १९२९-३० से १९३९-४० तक समितियो की ऋण देने की शक्ति कुंठित हो गई जिससे ऋणो मे कमी हो गई तथा बीतकाल ऋणो की राशि १९३८-३९ मे लगभग ११ करोड रुपए थी। परन्तु द्वितीय महायुद्ध ने परिस्थिति बदल दी। इससे कृषि-वस्तुओ की कीमतें बढने लगी तथा कृषको के पास धन की बहुतायत हो गई जिससे १९४५-४६ मे बीतकाल ऋणो की राशि ६ २३ करोड रुपए रह गई। इसके बाद क्रमश समिति की सख्या एव सदस्यता मे भी वृद्धि होती गई। साथ ही समिति की पूँजी एक ओर तो बढती गई और दूसरी ओर कृषको को धन की आवश्यकता अधिक नही हुई। बीत-कालीन ऋणा का भुगतान होते रहने से आर्थिक स्थिति मे सुधार हुआ। कृषको की इस समृद्धि से सहकारी साख-समितियाँ साख के साथ अन्य उत्पादन एव वितरण कार्यों मे भी भाग लेने लगी। परन्तु फिर ग्रामीण जनता एव सहकारी समितियो का आज भी साख से घनिष्ट सम्बन्ध है। सहकारी समितियाँ भावी ग्रामीण बैंकिग विकास मे अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं, यदि इनका सचालन समुचित रीति से हो और रिजर्व बैंक उनका पर्याप्त मार्ग-दर्शन करे। इस सम्बन्ध म राज्य सहकारिता इन्स्टीट्यूट, बम्बई के अवैतानिक कार्य-वाह ने जो परिपत्र राज्य की सहकारी-सस्थाओं को भेजा वह उल्लेखनीय है—

"सहकारिता आन्दोलन बचत एव निजी सहायता पर आधारित है। कोई भी सहकारिता कार्य तब तक सफल नही हो सकता जब तक उसके सदस्य अपनी राशि का कुछ भाग निजी-सहायता (self-help) से प्राप्त न करें। कृषि साख-सगठन का प्रान्त के पूर्ण भाग म ५ वर्ष मे ऐसा विकास करना है जिससे कि प्रत्येक ग्राम मे एक साख-समिति हो, जो सहकारी बैंकिंग विकास की निर्देशक हो।" परन्तु "बैंकिंग केवल ऋण देने मे ही नही है अपितु उसके साथ ही निक्षेप आकर्षित करने की योग्यता भी होनी चाहिए। यदि निक्षेप आकर्षित न किये गय तो सारी योजना ही अस्त-व्यस्त हो जायगी। अत यह आवश्यक है कि सहकारी समितिया एव सहकारी बैंको को सदस्यो की बचत एकत्र करने का आन्दोलन करना चाहिए जिससे सगठन के लिए आवश्यक धन निजी राशि स ही प्राप्त हो सके।"

केन्द्रीय सहकारी बैंक

प्राथमिक सहकारी साख-समितियों के साधन उनकी आवश्यकताओं की अपेक्षा बहुत कम होते हैं। इनकी सहायता के लिए ही केन्द्रीय सहकारी बैंकों का सगठन किया गया। केन्द्रीय सहकारी बैंक किसी विशेष क्षेत्र अथवा जिले की सहकारी साख-समितियों के ऊपर होता है जिसका प्रमुख कार्यालय सुविधा-

नुसार नगर विशेष में स्थापित किया जाता है तथा वह अपनी शाखाएँ अपने क्षेत्र में खोलता है। मैकलेगन समिति की रिपोर्ट में इनका वर्गीकरण तीन वर्गों में किया गया है—

(अ) जिनकी सदस्यता केवल वैयक्तिक ही होती है,

(ब) जिनकी केवल सहकारी समितियाँ ही सदस्य होती है, तथा

(स) जिनकी सदस्यता मे व्यक्ति एव समितियाँ दोनो ही होते हैं।

समिति ने यह भी सुझाव दिया था कि पहले वर्ग के बैंको को प्रोत्साहन न दिया जाय क्योंकि उनमें कृषि-साख सम्बन्धी वही बुराइयाँ आ सकती हैं जो सयुक्त स्कध बैंको मे होती हैं। इस प्रकार के बैंक आजकल नही है। वर्तमान बैंको मे दूसरे एव तीसरे प्रकार के ही बैंक पाये जाते है जिनको क्रमश सहकारी बैंकिंग सघ तथा सहकारी केन्द्रीय बैंक कहते है। इस प्रकार की पहली बैंक मद्रास मे १६०७ मे स्थापित हुई तथा १६११ मे बम्बई में। परन्तु अधिकतर केन्द्रीय बैंकों की स्थापना सहकारिता अधिनियम १६१२ के बाद ही हुई तथा बम्बई का केन्द्रीय बैंक, जो १६११ मे स्थापित हुआ था, राज्य सहकारी बैंक हो गया।

केन्द्रीय बैंको का कार्य-क्षेत्र भिन्न राज्यो मे नगर या तहसील, तालुका अथवा जिले तक सीमित रहता है तथा अधिकतर बैंक तीसरे वर्ग के हैं।

कार्य—सहकारी बैंकिंग सघो की सदस्यता केवल सहकारी साख-समितियो तक ही सीमित रहती है तथा इनका प्रबन्ध सदस्यो द्वारा निर्वाचित सचालकों द्वारा किया जाता है। यह सघ अपने सदस्यों के कार्य का निरीक्षण करता है, उनकी राशि निक्षेप मे रखता है तथा उन्हे आवश्यकता पडने पर सहायता देता है। इसी प्रकार केन्द्रीय सहकारी बैंक भी सदस्य समितियो के कार्यों की देख-भाल करते है, निक्षेप लेते हैं तथा समितियों एव सदस्यो को आर्थिक सहायता देते हैं। इस प्रकार केन्द्रीय सहकारी बैंक दुहरे कार्य करते है—एक तो अपने सदस्यो की शेष निधि रखना तथा उन्हे आवश्यकता के समय आर्थिक सहायता देना। ये जनता से निक्षेप भी स्वीकार करते हैं। कुछ प्रान्तों में, विशेषत. मद्रास में, स्थानीय अधिकारियो को अपनी राशि या तो सरकारी प्रतिभूतियो मे विनियोग करनी पडती है या अनिवार्यत केन्द्रीय बैंक मे जमा करनी पडती है। इसके अतिरिक्त ये बैंक अन्य बैंकिंग क्रियाएँ भी करते हैं; जैसे जनता के सब प्रकार के निक्षेप लेना, बिल, चैक आदि का सग्रहण, विकर्षों का निर्गमन, प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय, आभूषणादि की सुरक्षा आदि। कुछ राज्यों मे अचल सम्पत्ति की जमानत पर ऋण देने का कार्य भी ये बैंक करते हैं।

पूंजी—इनकी पूंजी अश-विक्रय से, सदस्य समितियो के सचित कोप तथा अन्य कोप, जनता तथा स्थानीय अधिकारियो के निक्षेप से प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त ये प्रान्तीय सहकारी बैंक तथा सयुक्त स्कध बैंको से ऋण एव निक्षेप लेते है। स्टेट बैंक से इनको रोकड-ऋण भी मिलता है। सदस्य समितियो को ऋण देने के पूर्व ये बैंक अपने अकेक्षकों द्वारा उनकी आर्थिक स्थिति का निरीक्षण करा लेते है। ये निक्षेप लेते है अत उसके भुगतान के लिए इनको अपने पास सम्पत्ति भी रखनी पडती है।

इसके अतिरिक्त कुछ राज्यो मे केन्द्रीय सहकारी बैंक सहकारी समितियो के विकास के लिए प्रचार तथा सहकारिता-शिक्षा का प्रबन्ध करते है।

लाभ नियोजन—इनको अपने व्यय आदि का भुगतान करने के बाद जो शुद्ध लाभ होता है उसका उपयोग सचित-कोप बढाने तथा लाभाश वितरण मे करते है। इनके लाभाश की दर विभिन्न राज्यो मे ३% मे ६% होती है परन्तु सामान्यत ५% से अधिक वार्षिक लाभाश नही दिया जाता। विशेषत मद्रास राज्य मे तो वैधानिक शर्त है कि ये ५% मे अधिक लाभाश न दे क्योकि अधिक लाभाश का वितरण सहकारिता-तत्त्व—लाभ की अपेक्षा सेवा-दान—के विरुद्ध है। इनके सम्बन्ध मे "मद्रास सहकारिता समिति" ने लिखा था कि उन्होने "सहकारिता तत्त्वो पर कृषि साख सङ्गठन मे मौलिक कार्य किया है तथा ग्रामीण विकास एव सहकारिता-शिक्षा की योजनाओ मे विशेष रूप से प्रगति की है।"

द्वितीय महायुद्ध का परिणाम इनकी प्रगति पर बडा ही अच्छा हुआ है, जिससे इनकी सख्या मे वृद्धि न होते हुए आर्थिक सङ्गठन अच्छा हो गया है। युद्ध-काल मे कृषि-वस्तुओ के मूल्य बढने से कृषको को ऋण की आवश्यकता न रही, जिससे समितिया द्वारा लिए एव दिए जाने वाले ऋणो मे भी कमी हो गई। इससे केन्द्रीय बैंको के पास जमा राशि बढती गई, जिसका उन्होने अन्य बैंकिंग क्रियाओ मे उपयोग किया। युद्धोत्तर काल मे भी इनकी प्रगति अच्छी रही।

३० जून १९५७ को इनकी सख्या ४५१ तथा सदस्य-सख्या ३ ११ लाख थी। इसी तिथि को इनकी कार्यशील पूंजी ११० २६ करोड रु०, चुकता पूंजी एव निधि १८ ४५ करोड रु० थी।

राज्य सहकारी बैंक

राज्य सहकारी बैंक देश की सहकारिता-सगठन के शीर्ष (apex) बैंक है जो राज्य के सहकारी बैंको का सगठन, नेतृत्व एव कार्यो का निरीक्षण करते

है। राज्य सहकारी बैंकों की आवश्यकता पर १९१५ में मैकलेगन समिति ने जोर दिया था जिससे ये राज्य के सहकारी बैंक एवं समितियों का सगठन एवं नेतृत्व करें तथा केन्द्रीय सहकारी बैंकों पर नियन्त्रण रखें। इसी हेतु राज्य सहकारी बैंकों की स्थापना की गई। जून १९५७ के अन्त में इनकी संख्या २३ थी, जिनकी चुकता पूँजी एवं निधि ८.७८ करोड रु० तथा कार्यशील पूँजी ७९.५४ करोड रु० थी।

इनका सगठन विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न प्रकार है, जैसे बगाल तथा पजाब मे राज्य बैंकों की सदस्यता व्यक्तियों तथा सहकारी समितियों दोनों की है, बिहार एवं मद्रास में केवल केन्द्रीय सहकारी बैंक ही सदस्य हैं, अन्य कुछ राज्यों में केवल सहकारी समितियाँ ही सदस्य हैं तथा कहीं-कहीं सहकारी समितियाँ तथा केन्द्रीय सहकारी बैंक भी सदस्य है। राज्य बैंकों की स्थापना का श्रेय मैकलेगन समिति को है। इसने सहकारी समितियों का आपसी लेन-देन रोकने तथा आन्दोलन को सुदृढ बनाने के लिए इन बैंकों की स्थापना का सुझाव दिया, जिससे केन्द्रीय सहकारी बैंकों का नियन्त्रण हो सके तथा उनके साथ इसका सम्बन्ध होकर राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में केन्द्रीय बैंक सफल हो। इस प्रकार राज्य बैंक सहकारी आन्दोलन की धुरी हैं।

राज्य बैंक अश-विक्रय से, निक्षेप-स्वीकृति से, व्यापारिक बैंकों से तथा स्टेट बैंक से कार्यशील पूजी प्राप्त करते हैं। इनके पास केन्द्रीय बैंकों की अतिरिक्त राशि भी निक्षेप में रहती है। साख-समितियों को यदि ऋण की आवश्यकता होती है तो उन्हें केन्द्रीय बैंकों के माध्यम से राज्य बैंक ऋण देते हैं। इस प्रकार ऋण देने का कार्य चार सीढ़ियों में होता है —

(अ) व्यक्तियों को सहकारी साख-समितियाँ ऋण देती है,

(ब) सहकारी साख समितियों को केन्द्रीय सहकारी बैंक ऋण देते हैं,

(स) केन्द्रीय सहकारी बैंकों को राज्य सहकारी बैंक ऋण देते है, तथा

(द) राज्य सहकारी बैंक, स्टेट बैंक तथा व्यापारिक बैंकों से ऋण लेते हैं।

राज्य सहकारी बैंक केन्द्रीय सहकारी बैंकों को ऋण देते हैं। ये साख-समितियों से प्रत्यक्ष लेन-देन नहीं करते, परन्तु जिन राज्यों में राज्य बैंक नहीं हैं, वहाँ ये उनसे प्रत्यक्ष लेन-देन भी करते हैं। इस प्रकार सहकारिता आन्दोलन को आर्थिक शक्ति बढाने एवं उसका आर्थिक सगठन करने में इनकी अधिक उपयोगिता है क्योंकि सहकारी साख-समितियों के कुल ऋणों के ५०% ऋण केन्द्रीय तथा राज्य बैंकों के दिये हुए है। अर्थात् ये एक प्रकार से ग्राम की सहकारी साख-समितियों तथा मुद्रा-मण्डी के बीच मध्यस्थ का कार्य कर उनका

सम्बन्ध प्रस्थापित करते है। इन्होने सहकारी आन्दोलन को आर्थिक शक्ति प्रदान की है जिससे बैंकिंग सिद्धान्त का प्रयोग इस आन्दोलन मे हो सका है। इसके अतिरिक्त ये विशेष प्रकार की सहकारी समितियो की स्थापना एव विकास मे भी सहयोग देते हैं, जैसे गृह-निर्माण-समिति, विक्रय-समिति आदि। मैक्लेगन समिति ने एक अखिल भारतीय सहकारी बैंक की स्थापना का भी प्रस्ताव किया था जो राज्य-बैंको का शीर्ष बैंक हो। परन्तु रिजर्व बैंक की स्थापना से इसकी आवश्यकता नही रही क्योकि रिजर्व बैंक अब इनको अपने कृषि-साख-विभाग के माध्यम से विशेष सहायता करता है।[1]

द्वितीय महायुद्ध का राज्य सहकारी बैंको पर प्रगतिजनक प्रभाव हुआ है क्योकि एक ओर तो इनके निक्षेप बढते गये तथा दूसरी ओर ऋण-प्रदाय स्थायी रहा तथा अदत्त ऋणो का भुगतान भी सन्तोषजनक होता रहा। परिणामस्वरूप इनके विनियोग बढते गये जो युद्धकालीन प्रगति का एक विशेष लक्षण है।

सहकारी आन्दोलन एवं समितियो की सिफारिशे

ग्रामीण बैंकिंग जॉच समिति ने ग्रामीण बैंकिंग सुविधाओ के विकास के लिए सहकारी आन्दोलन की सुदृढता पर जोर दिया था। इसके साथ ही इनको अधिक राशि-स्थानान्तरण की सुविधाएँ देने की सिफारिश की थी। गोदामो (warehouses) के विकास के लिए इस समिति ने गोदाम विकास सभा की स्थापना की भी सिफारिश की थी।

ग्रामीण साख सर्वे समिति ने अपनी रिपोर्ट मे सकेत किया था कि सहकारी आन्दोलन अब ग्रामीण साख का केवल ३ १% भाग देते है। यह इस आन्दोलन की असफलता का परिचायक है। इसलिए इस समिति ने निम्न सुझाव दिये है—

(१) सहकारी आन्दोलन के प्रत्येक स्तर पर राज्य सरकार की साझेदारी हो,

(२) सहकारी आन्दोलन की साख एव अन्य आर्थिक क्रियाओ मे पूर्ण सामजस्य हो, विशेषत विक्रय एव क्रिया-कलापो मे (Marketing & Processing),

(३) कृषि साख कलेवर के आधार-रूप मे प्राथमिक सहकारी समितियो का विकास बडी आर्थिक इकाई के रूप मे सीमित देनदारी सिद्धान्त पर हो,

(४) कृषि-वस्तुओ के समुचित विक्रय द्वारा कृषको को सहायता देने के लिए राष्ट्रीय एव राज्य गोदाम सङ्गठनो (national and state warehousing organisations) के माध्यम से गोदामो का जाल बिछाया जाय,

---

[1] देखिए "रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया"—कृषि-साख-विभाग।

(५) सहकारी आन्दोलन के सभी स्तर के कर्मचारियों की शिक्षा के लिए उचित सस्थाओं की स्थापना की जाय,

(६) सहकारी समितियों को सुलभ राशि-स्थानान्तरण की सुविधाएँ देने के लिए स्टेट बैंक की स्थापना हो जो शाखाओं का ग्रामीण क्षेत्रों मे विस्तार करे। इस बैंक की स्थापना १ जुलाई १९५५ को हो गई है जिसने चार वर्ष की अवधि मे १७९ शाखाएँ खोली है।

इन सिफारिशो के अनुसार (१) राज्य सरकार सहकारी आन्दोलन मे सक्रिय भाग दे सके, इस हेतु फरवरी १९५६ मे राष्ट्रीय कृषि-साख (दीर्घकालीन) कोष की स्थापना १० करोड रु० से रिजर्व बैंक ने की है। इसमे १९५५-५६ से १९५८-५९ के वर्षो म ५ करोड रुपए वार्षिक जमा किय गय। इस निधि का निम्न उपयोग है—

(अ) सहकारी साख सस्थाओ की पूँजी मे हिस्सा दन के हेतु राज्य सरकारो को दीर्घकालीन ऋण देना,

(ब) केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंको को दीर्घकालीन ऋण देना,

(स) मध्यकालीन कृषि-ऋणो का प्रदान करना, तथा

(द) केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंको के ऋण पत्र खरीदना।

(२) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष की स्थापना भी १ करोड रु० से फरवरी १९५६ मे रिजर्व बैंक ने की है तथा इसमे १९५६-५७ तथा १९५७-५८ वर्ष मे वार्षिक १ करोड रु० का अभिदान दिया है। इस कोष का उपयोग राज्य सहकारी बैंको को मध्यकालीन ऋण देने मे होगा जिससे व आवश्यकता के समय अल्पकालीन ऋणो को मध्यकालीन ऋणो मे बदल सके।

पहिले कोष मे से १९५७-५८ मे व १९५८-५९ मे १४ राज्यो को ६ ०४ व ५·९२ करोड रु० के ऋण दिये गय हैं जिससे वे सहकारी साख समितियों की अश पूँजी मे भाग ले सकें, इसमे से ३० जून १९५९ तक क्रमश ५ ८३ व ५ ७४ करोड रु० का उपयोग राज्य सरकारो ने किया है। दूसरे कोष का उपयोग करने का अवसर अभी तक नही आया।

(३) राष्ट्रीय सहकारिता-विकास एव गोदाम सभा की स्थापना १ सितम्बर १९५६ को की गई है तथा १० करोड रु० की पूँजी म केन्द्रीय गोदाम निगम की स्थापना की गई है। इसने ९ गोदामो का निर्माण किया है।

(४) सहकारी प्रशिक्षण के लिए "केन्द्रीय सहकारी प्रशिक्षण समिति" की स्थापना की है जिसने सभी स्तर के सहकारी कर्मचारियो की शिक्षा की योजना बनाई है। इस योजना के अनुसार अखिल भारतीय सहकारी शिक्षा-केन्द्र पूना

मे है जहाँ उच्च अधिकारियो की शिक्षा का प्रबन्ध है। पाँच प्रादेशिक शिक्षा-केन्द्र है जहाँ मध्य-स्तरीय कर्मचारियो को शिक्षा दी जाती है। सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तार-खण्डो मे ८ इस्टीट्यूट है जिनमे सहकारी अधिकारियो को शिक्षा मिलती है। इसके सिवा प्रत्यक राज्य मे निम्न स्तरीय कर्मचारियो की शिक्षा के लिए प्रशिक्षण विद्यालय है। इनमे से एक प्रादेशिक केन्द्र पर भूमि-बधक बैंकिंग की शिक्षा के लिए विशेष पाठ्क्रम भी है।

द्वितीय पचवर्षीय योजना मे—इस योजना अवधि मे सहकारी आन्दोलन का विकास साख के साथ की अन्य आर्थिक क्षत्रा मे किया जायगा। योजना म अल्पकालीन साख के लिए १५० करोड रु०, मध्यकालीन साख के लिए ५० करोड रु० तथा दीर्घकालीन साख के लिए २५ करोड रु० का प्रबन्ध है, जो सहकारी सस्थाओ के माध्यम स कृषको को दी जायगी। इसके सिवा योजना मे १०,४०० बडी समितिया, १ ८०० प्राथमिक विक्रय (Marketing) समितियाँ, ३५ सहकारी शक्कर कारखाने, ४८ रुई साफ करने के कारखाने, ११८ सहकारी प्रोसेसिंग समितियो की स्थापना होगी। इसके सिवा केन्द्रीय एव राज्य गोदाम निगम विक्रय समितियो के लिए १५०० गोदामो का तथा बडी प्राथमिक कृषि साख ममितियो के लिए ४००० गोदामो का निमाण करगे। विकास की आवश्यकतानुसार इन आकडो मे परिवतन हो सकता है।

रिजर्व बैंक और सहकारी आन्दोलन[1]—(१) रिजव बैंक अपने कृषि साख विभाग के माध्यम से सहकारी आन्दोलन के लिए प्रयत्नशील है।[2] रिजर्व बैंक सहकारी आन्दोलन को राज्य सहकारी बैंको के माध्यम से २% बैंक दर की छूट से ऋण सहायता देता है। विभिन्न वर्षो मे राज्य सहकारी बैंको को दी गई ऋण सहायता निम्न है —

वर्ष	राज्य सहकारी बैंका की सख्या	मौसमी कृषि आवश्यकता के लिए ऋण (करोड रुपयो म)	राज्य सहकारी बैंको की सख्या	मध्यकालीन ऋण-राशि (करोड रुपयो मे)
१९५४-५५	१५	२१ २१	—	—
१९५५ ५६	१९	१९ ६४	१०	१ ४०
१९५६ ५७	१७	३५ २५	६	१ ६७
१९५७-५८	१८	४८ २४	१२	७ ७२
१९५८ ५९	—	६८ ४३	—	४ ५२

---

[1] *Commerce*, September 19, 1959 & India 1959

[2] देखिए 'रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया"।

मध्यकालीन ऋणों की अन्तिम तीन वर्ष की राशि अब कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष से दी जाती है। इसी कोष से रिजर्व बैंक ने केरल सहकारी केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक को बैंक दर पर १६.४७ लाख रु० का १ वर्ष के लिए ऋण दिया जिससे वह त्रावनकोर क्रेडिट बैंक के ऋणपत्र धारियों का भुगतान कर सके। क्योंकि इस बैंक को केरल केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक ने खरीदा है।

(२) रिजर्व बैंक भूमि बन्धक बैंकों के १०% ऋण पत्र खरीद सकता है यदि उनके मूलधन एवं ब्याज के भुगतान की गारन्टी राज्य सरकार ने दी हो। १९५० से इस सीमा को २०% कर दिया गया है। इसके सिवा केन्द्रीय सरकार भी पंचवार्षिक योजनाओं की दीर्घकालीन सहकारिता साख की राशि से १ करोड रु० तक के भूमि बन्धक बैंकों के ऋण पत्र ले सकती है। अत. केन्द्रीय सरकार की सलाह से रिजर्व बैंक ने भूमि-बन्धक बैंकों द्वारा निर्गमित ऋण पत्रों का ४०% भाग खरीदना मान्य किया है, यदि वे जनता पूर्ण नहीं खरीदती। इसके अन्तर्गत रिजर्व बैंक ने केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों के ऋण पत्रों में निम्न अभिदान दिया—[1]

	(लाख रुपयों में)		(लाख रुपयों में)
१९४९-५०	४.१५	१९५२-५३	१८.८६
१९५०-५१	२०.००	१९५३-५४	१५.५६
१९५१-५२	१३.००	१९५७-५८	१४.८४

इसी प्रकार ३० जून १९५९ को समाप्त होने वाले वर्ष में रिजर्व बैंक ने सौराष्ट्र, आंध्र एवं उड़ीसा के केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंकों द्वारा निर्गमित क्रमशः ५०, ३५ और ५ लाख रु० के ऋण पत्रों में से क्रमशः २४, १८.५ तथा ५ लाख रुपए के ऋण पत्र खरीदे। क्योंकि वे जनता द्वारा न खरीदे जा सके।

(३) **क्षेत्रीय अध्ययन**—नगर सहकारी बैंकों के वर्तमान स्थानों के कलेवर का अध्ययन करने के लिए रिजर्व बैंक के कृषि साख, आर्थिक एवं सांख्यिकी विभाग ने संयुक्त रूप से १० राज्यों के १०० नगर बैंकों की क्रियाओं का अध्ययन मार्च १९५९ में पूर्ण किया। इसकी रिपोर्ट तैयार हो रही है। इसी प्रकार केरल के कॉयर उद्योग, आगरे के चर्म उद्योग की साख-आवश्यकताओं का अध्ययन कार्य रिजर्व बैंक कर रहा है। १९५७-५८ में बम्बई, केरल एवं मद्रास के मत्स्य उद्योग तथा मद्रास के चर्म-उद्योग की साख-आवश्यकताओं का अध्ययन किया था जिसकी रिपोर्ट तैयार हो रही है।

---

[1] *Modern Review*, October 1954.

(४) **सहकारी बैंको का परीक्षण**—सहकारी आन्दोलन की सुदृढता के लिए रिजव बैंक सहकारी बैंको का परीक्षण भी करता है। इस प्रकार १९५४ ५५ से १९५८ ५९ के पाच वर्षो म क्रमश ३५ ४४ १०४, २४० और १७८ बैंको का परीक्षण रिजव बैंक ने किया। इस प्रकार ३० जून १९५९ तक कुल ६१८ बैंको का परीक्षण किया गया जिनमे ५४५ केन्द्रीय सहकारी बैंक थे। इस हतु कृषि साख विभाग के चार नय प्रादेशिक कायालय १९५८ ५९ म क्रमश इन्दौर, पटना, लखनऊ तथा बगलौर म खोले गय जिसस एसे कायालयो की सख्या ८ हो गई है। न कायालय अपने प्रदश के सहकारी बैंको का परीक्षण करते हैं तथा प्रत्येक प्रदश क राज्य सहकारी बैंको का वार्षिक तथा केन्द्रीय सहकारी बैंको का द्विवार्षिक परीक्षण करते ह।

प्रशिक्षण—प्रशिक्षण सुविधाओ का उल्लेख पृष्ठ ६०२ पर किया गया है। इन प्रशिक्षण कन्द्रो मे इस वप ८३ उच्च अधिकारी २१५ सहकारी विक्रय अधिकारी तथा ८० भूमि बन्धक बैंको के अधिकारी प्रशिक्षित किये गय। इसके सिवा राज्यो के इन्स्टीटयूटो मे ४८४६ जूनियर सहकारी अधिकारियो को प्रशिक्षित किया गया।

सहकारी आन्दोलन की त्रुटिया

सर माल्काम डार्लिङ्ग के विचार—कोलम्बो योजना के सलाहकार श्री डार्लिंग को भारत सरकार ने सहकारी क्षत्र के आधुनिक विकासो की जाच द्वितीय योजनाओ के सम्बन्ध म कायक्रमो की जाच राज्य सहकारी विभागो के सगठन की सुदृढता सहकारी कमचारियो के प्रशिक्षण तथा जिला स्तर एव इसके नीचे सहकारी आ दोलन के सगठन के सम्बन्ध मे सुझाव दने के लिए बुलाया था। इनके रिपोट की प्रमुख बात निम्न है—

(१) द्वितीय योजना क निधारित लक्ष्य आ दोलन के सुदृढ विकास की दृष्टि से बहुत अधिक है। क्योकि वतमान म जो ध्यान नई समितियो के सगठन की ओर दिया जा रहा है उतना ही यदि पुरानी साख समितियो की मजबूती और पुनर्जीवन के लिए दिया जाय तो असफलता का खतरा नही रहेगा।

(२) समितियो का निरीक्षण एव माग दशन ऐसे व्यक्तियो द्वारा होता है जिनमे सहकारिता म निहित मानवी सम्बन्धो के कठिन क्षत्र की सफलता के लिए आवश्यक अनुभव नही है। और यह बात उच्च स्तर पर और भी अधिक लागू होती है जहा विभागीय अधिकारी सहकारिता के बाहर के क्षत्रो मे होते है तथा उनका स्थानान्तरण होता रहता है।

(३) जिस प्रकार स लक्ष्यो का निधारण हुआ है उनकी पूर्ति का अधि-

कारी प्रयत्न करते हैं जिससे उनके 'आका' खुश हों। इससे यह प्रवृत्ति होती है कि "कृषक लक्ष्यों के लिए है न कि लक्ष्य कृषकों के लिए।"

(४) आन्दोलन में सरकार का अत्यधिक भाग जो ग्रामीण सर्वे समिति की सिफारिश के अनुरूप है, उसमें आन्दोलन की मूलशक्ति आत्म-निर्भरता एवं स्वतन्त्रता को ठेस पहुँचती है। इसे गम्भीरता से सोचने की आवश्यकता है।

(५) वृहद् समितियों की स्थापना यद्यपि सदस्यों में सहकारी-भावना निर्माण करने में असफल रहेगी फिर भी वे आन्दोलन के लिए प्रश्नात्मक सम्पत्ति (questionable asset) हो सकती है। श्री डालिंग के अनुसार इन बड़ी समितियों द्वारा की जाने वाली ऋण प्रदाय में नियोजित वृद्धि कृषक की साख-योग्यता को पर्याप्त रीति से देखते हुए न हो, ऐसी शंका है। साथ ही ऋण लेने के स्रोतों को मजबूत और विस्तृत करने पर जितना ध्यान दिया गया है उतना ध्यान बचत और मितव्ययिता को प्रोत्साहन देने पर नहीं दिया गया है।

(६) आन्दोलन ने गत वर्षों में बहुत ही धीमी प्रगति की है। विशेषतः केन्द्रीय साख सहकारिता एवं प्राथमिक साख सहकारिता ने कार्यशील पूँजी के अनुपात में निजी पूँजी अथवा निक्षेप बढ़ाने में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं की है। दूसरे, इनके कालातीत (overdue) ऋणों की राशि में कोई सुधार नहीं हुआ है। तीसरे, प्राप्य ब्याज की राशि जो १६५०-५१ में २६% थी, वह सन् १६५४-५५ में ४२% हो गई है। चौथे ६ बड़े राज्यों में से ५ राज्यों की समितियाँ हानि पर कार्य कर रही है।

(७) कृषक को सबसे अधिक साख-सुविधाएँ बम्बई राज्य में दी जाती है परन्तु इसमें ऋणों के भुगतान की अधिकता न होते हुए अदत्त ऋणों की राशि में वृद्धि हो रही है। अतः भविष्य में साख सुविधाएँ देने में सावधानी की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में श्री डालिंग ने सहकारी आन्दोलन की मूढ़ता में विस्तृत प्रादेशिक अन्तरों की ओर आँख मूँदने के प्रवृत्ति की निन्दा की है। राज्यों की कृषि समितियों में यह अन्तर उनके आकार, सदस्य-संख्या, प्रति व्यक्ति औसत ऋण राशि और विशेषतः समितियों के वर्गीकरण की पद्धति में है।

(८) केन्द्रीय बैंक एवं प्राथमिक समितियों की कार्य-प्रणाली सन्तोषजनक नहीं है। प्राथमिक समितियाँ केन्द्रीय बैंकों के एजेन्ट की भाँति कार्य करती हैं और केन्द्रीय बैंक प्राथमिक समितियों की आन्तरिक व्यवस्था में हस्तक्षेप करती हैं जो उनकी स्वतन्त्रता के लिए खतरनाक है। साथ ही ऋण देने की पद्धति में अनावश्यक विलम्ब होता है और प्राथमिक समितियों पर जिम्मेवारी नहीं

रहती। प्राथमिक समितियों का सचित-कोष जब तक उनकी चुकता पूंजी के बराबर नहीं होता तब तक वे उसका विनियोग अपने व्यवसाय में नहीं कर सकती। ये रुकावटें समितियों की स्वतन्त्रता में बाधक हैं।

(६) सामुदायिक एवं राष्ट्रीय विस्तार सेवा योजनाओं के अन्तर्गत सहकारिता के क्षेत्र में कुशल मार्ग दर्शन का अभाव है, विस्तार अधिकारियों की अनुपस्थिति है और जहाँ ऐसे अधिकारी हैं भी वहाँ उनको क्षेत्रीय अनुभव (field experience) नहीं है।

विभिन्न क्षेत्रों के उक्त दोषों के निवारण तथा सहकारी आन्दोलन की मजबूती के लिए सर माल्कम डार्लिंग ने निम्न सुझाव दिये हैं —

१ दूसरी योजना में सहकारी आन्दोलन के विकास की गति बहुत तेज है तथा सम्पूर्ण भारत में समानता के विस्तार का जो लक्ष्य अपेक्षित है वह बम्बई, मद्रास और आन्ध्र के लिए भी अधिक है जहाँ का आन्दोलन सब राज्यों से अधिक सुदृढ है। इसलिए जिन राज्यों में आन्दोलन कमजोर है वहाँ विकास की गति धीमी करनी चाहिए और जहाँ आन्दोलन अत्यधिक कमजोर है वहाँ अपेक्षित लक्ष्यों के पूर्ति की अवधि १० वर्ष होनी चाहिए।

२ (अ) आधुनिक समय का अनुभव एवं बीतकालीन ऋणों की अधिकता को देखते हुए इन ऋणों के भुगतान के लक्ष्य निर्धारित करना आवश्यक है।

(आ) योजना के लक्ष्यों के सम्बन्ध में श्री डार्लिंग का मत है कि योजनाकार इतने लक्ष्य प्रवृत्त (target minded) हो गये हैं कि वे लक्ष्यों को साधन न समझते हुए उनको ही साध्य समझते हैं। इसलिए उनका सुझाव है कि एक उच्चाधिकारी की नियुक्ति केन्द्र में हो जो राज्यों के सहकारी आन्दोलन का सूक्ष्म अवलोकन करे एवं "गति की वेदी पर सुदृढता का बलिदान नहीं हो रहा है एवं लक्ष्यों पर ध्यान दिया जा रहा है, उनकी पूजा नहीं हो रही है" इस सम्बन्ध में सतर्क रहे।

३ (अ) ग्रामीण साख सर्वे समिति के अनुसार वृहत् समितियों का निर्माण होगा, जिनका कार्य क्षेत्र बडा होगा—सभवत २० गाँवों का। इससे सहकारी समितियों का मूल आधार अर्थात् 'परस्पर सहायता एवं परस्पर सूझ' से सदस्य वंचित हो जायेंगे।

(आ) "समिति देनदारी" का सिद्धान्त सम्पन्न कृषकों को आकर्षित करेगा परन्तु निर्धन कृषकों को आकर्षित न कर सकेगा जिनके लाभ के लिए इन समितियों का निर्माण होना है।

(इ) बडी समितियों में मेलजोल का वातावरण नहीं रहेगा तथा बडा क्षेत्र

होने से समिति तक पहुँच होने मे समय भी अधिक लगेगा, अधिक दूरी भी होगी—जो सहकारी सिद्धान्त के लिए भारक होगी।

(ई) समिति की '५००' सदस्य सख्या अधिक है। अत उनका सुभाव है कि ऐसी समितियो का निर्माण तीन प्रकार से हो और उनके परिणाम ३-४ वर्षो मे देखे जायें—

(अ) अश एव सदस्यो मे सरकार का भाग,

(ब) अशो मे सरकार का भाग किन्तु सदस्यता मे नहीं,

(स) न अशो और न सदस्यता मे ही सरकार का भाग हो।

बडी समितियो का कार्यक्षेत्र २ मील मे अधिक न हो। उनकी सदस्य सख्या ३०० से ५०० तक रहे तथा इनका त्रैमासिक अथवा एकीभूत (concrurent) अकेक्षण हो। इनमें व्यापारिक एव बैंकिंग क्रियाओ का सम्मेलन हो और ऐसी समितिया बनाने के लिए छोटी समितियो का एकीकरण उनके सदस्यो के बहुमत के बिना न हो। इसके साथ ही किसी सभा पर सरकारी प्रतिनिधि के नाते उसी व्यक्ति को चुना जाय जो सहकारिता मे सक्रिय रुचि रखते हैं। अत तीनो पद्धतियो के प्रयोगात्मक परिणामो का परीक्षण समितियो के आकार, कार्यक्षेत्र, सरकारी भाग तथा मार्गदर्शन, ऋण एव उनका भुगतान, वीतकाल ऋण, ऋण लेने मे अवधि, उत्पादक एव अनुत्पादक ऋण के सम्बन्ध मे किया जाय। सक्षेप मे सदस्यो के समिति के साथ के सभी प्रकार के सम्बन्धो का परीक्षण हो।

४ छोटी समितियो को अधिक प्रोत्साहन देने के विशेष प्रयत्न किये जायें क्योंकि आन्दोलन की मजबूती बचत एव साख समितियों की अधिकता पर निर्भर हैं। इसलिए सदस्य सख्या मे वृद्धि, मोरीबन्द समितियो की समाप्ति, लघु-समितियो का एकीकरण, निष्क्रिय समितियो का पुनर्जीवन तथा प्रत्येक समिति मे प्रशिक्षित मित्रता का आयोजन—इन साधनो को अपनाया जाय।

५ सहकारी समितियो म सरकार के अशधारी होने से समितियो की स्वतन्त्रता को हानि होगी। इसलिए इसकी बुराइयो के निवारण के लिए समितियों की सभा पर तीन से अधिक प्रतिनिधि सरकार मनोनीत न करे। ऐसे प्रतिनिधियो को सहकारिता का व्यावहारिक एव सैद्धान्तिक ज्ञान हो। साथ ही इन प्रतिनिधियो मे स्टेट बैंक का प्रतिनिधि न हो।

६ समितियो के अकेक्षण की जिम्मेवारी सहकारी-रजिस्ट्रार की ही हो जो आन्दोलन का निरीक्षण भी करे। क्योंकि ऐसे अकेक्षण का उद्देश्य सुदृढ व्यापारिक प्रणाली की गारटी के साथ ही सहकारी सिद्धान्तो का पालन हो रहा है इसका भी प्रमाण हो।

७ प्रत्येक स्तर के सहकारी अधिकारियो एव कर्मचारियो के प्रशिक्षण की व्यवस्था हो तथा रजिस्ट्रार का स्थानान्तरण न किया जाय क्योकि इसका स्थान एव कार्य महत्त्वपूर्ण होता है। प्रशिक्षण मे सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक प्रशिक्षण का समावेश हो। प्रशिक्षण मे भाषणो (lectures) की सख्या कम की जाय तथा सेमिनार-पद्धति का उपयोग किया जाय, जिससे प्रशिक्षार्थी अधिक अध्ययन एव मनन कर सके। इस हेतु प्रत्येक प्रशिक्षण केन्द्र का पुस्तकालय सुसज्जित हो।

८ सामुदायिक विकास योजना एव राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्डो मे बी० डी० ओ० का स्थान महत्त्वपूर्ण होता है जिसको सहकारी प्रशिक्षण दिया जाय तथा सामुदायिक विकास सीढी की पूर्णता तक बी० डी० ओ० का स्थानान्तरण न किया जाय।[1]

उक्त सुझाव वास्तव म महत्त्वपूर्ण और योजनाओ की आँखें खोलने वाले हैं, जो वास्तविक स्थिति को आँख बन्द कर लक्ष्य-प्रवृत्त हो गये है। इन सिफा-रिशो को कार्यान्वित करने पर निश्चय ही सहकारी आन्दोलन का कलेवर सुदृढ हो सकेगा।

भूमि-बन्धक बैंक

कृषि-व्यवसाय का सगठन औद्योगिक सगठन से भिन्न होने से कृपको को आर्थिक सहायता देने के लिए सभी देशो मे कृषि-साख की समुचित व्यवस्था की गई है। कृषि-साख सुविधाएँ देने के लिए हमारे देश मे भी सहकारी आन्दो-लन सरकारी नीति का एक भाग ही है। सहकारी समितियाँ कृपको को केवल अल्पकाली एव मध्यकालीन ऋण देती है। परन्तु कृषको को चाहे वे विश्व के किसी भी कोने मे हो, दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकता होती है जिससे वे अपने पुराने ऋणो का भुगतान कर अपनी भूमि का स्थायी सुधार कर सक तथा आवश्यकतानुसार नई भूमि भी खरीद सके। किसानो को दीर्घकालीन ऋण की पूर्ति भूमि-बन्धक बैंक करते है।

परिभाषा—भूमि-बन्धक बैंक उन्हे कहते है जो "कृपको की भूमि के रहन पर उन्ह दीर्घकालीन ऋण देते है।" साधारणत अमेरिका, इगलैंड आदि देशो मे दीर्घकालीन ऋणो की अवधि ३० से ७५ वर्ष होती है, परन्तु भारत मे अधिकतम २० वर्ष के लिए ऋण दिये जाते है।

प्रकार—भूमि-बन्धक बैंको की स्थापना तीन प्रकार से की जाती है—

---

1 *Reserve Bank of India Bulletin* March 1958, pp. 268-272.

(१) **सहकारी भूमि-बन्धक बैंक**—ऐसे बैंक केवल रहन रखी हुई भूमि पर बन्ध (bonds) बेचकर राशि प्राप्त करते हैं जिसमें वे केवल अपने सदस्यों को ही ऋण-सुविधाएँ देते हैं। इनमें कभी कभी बाहर के व्यक्तियों को भी सदस्य बना लिया जाता है जिससे अधिक पूंजी प्राप्त हो सके एवं अच्छे प्रबन्धक, सचालक अथवा कर्मचारी मिल सकें। ये बैंक लाभ के उद्देश्य से काम नहीं करते अपितु दीर्घकालीन ऋणों पर ब्याज की दर कम करना इनका एकमात्र लक्ष्य होता है।

(२) **संयुक्त स्कध भूमि-बन्धक बैंक**—ये व्यापारिक बैंकों की भाँति सीमित देनदारी वाले होते हैं तथा इन पर सरकार का नियन्त्रण होता है। इनकी पूंजी अंश ऋण पत्र तथा रहन बन्धों के विक्रय से प्राप्त होती है। भारत में इस प्रकार के बैंक नहीं हैं।

(३) **अर्ध सहकारी भूमि-बन्धक बैंक**—ये बैंक उन व्यक्तियों के एक संघ के रूप में होते हैं **जिनको ऋण की आवश्यकता होती** है तथा जिनकी पूंजी अंशों के विक्रय से प्राप्त की जाती है। इनके सदस्यों की देनदारी सीमित होती है किन्तु अधिकतर कार्यशील पूंजी ऋण पत्रों के निर्गमन से प्राप्त की जाती है। भारत में इस प्रकार के बैंक ही अधिकतर हैं।

उद्गम तथा विकास—भारत में भूमि बन्धक बैंकों की स्थापना का प्रथम प्रयत्न १८८३ में हुआ था जिस समय फ्रेंच क्रेडिट फांसियर के नमूने पर एक बैंक की स्थापना हुई जिसने लगभग २० वर्ष काम किया परन्तु बाद में विलीन हो गया। इसके बाद १९२० में भी कई प्रयत्न हुए परन्तु झङ्ग में ही स्थापना हो सकी जो अल्पकालीन रहा। इन सब बैंकों के विलियन का प्रमुख कारण यही रहा कि ये बड़े-बड़े जमींदारों को ही सुविधाएँ देते रहे। परन्तु सबसे सफल प्रयत्न मद्रास में हुआ जब १९२९ में प्रारम्भिक बैंकों के संगठन के हेतु केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक की स्थापना की गई। इसके बाद मैसूर (१९२९), बम्बई (१९३५), उड़ीसा (१९३८) तथा त्रावनकोर (१९३५) में इनकी स्थापना की गई। मध्य प्रदेश में राज्य सहकारी बैंक ही प्रारम्भिक भूमि-बन्धक बैंकों की सहायता करते हैं। "इसके अतिरिक्त भूमि बन्धक बैंक अथवा समितियाँ पश्चिमी बङ्गाल, आसाम, उत्तर प्रदेश तथा अजमेर मेरवाडा आदि में भी हैं परन्तु उनकी प्रगति विशेष उल्लेखनीय नहीं है।"[1] बम्बई में भी इस क्षेत्र में अच्छी प्रगति हुई है जहाँ १९४७-४८ में एक राज्य भूमि-बन्धक बैंक तथा १५ प्रारम्भिक

[1] *Review of the Co operative Movement in India*, 1946-1948

भूमि-बन्धक बैंक थे। भारत जैसे कृषि-प्रधान देश मे भी इनका अभाव होना खेदजनक है क्योंकि इसी से ही कृषक महाजना पर निर्भर रहे तथा ऋण-भार बढता ही गया तथा इनको जहाँ थे वहाँ भी अधिक सफलता नही मिली। इस सम्बन्ध मे रिजर्व बैंक की पिछली समीक्षा मे लिखा है कि "इतनी अधिक ग्रामीण जन-संख्या के होने हुए भी भारत मे भूमि-बन्धक बैंको को अधिक सफलता नही मिली। पजाब म, जहाँ सबसे पहले ऐसे बैंक का निर्माण हुआ, कोई उन्नति नही हुई। अन्य राज्यो मे भी जैसे उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, अजमेर, उडीसा तथा बगाल म भी भूमि-बन्धक बैंको का कार्य सन्तोषप्रद नही रहा। **केवल मद्रास ही मे इन बैंको ने उन्नति की है।**"[1]

प्रथम युग—इनका विकास १९२९ से प्रारम्भ होता है जब मद्रास तथा मैसूर मे केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंको की स्थापना हुई। १९२९ से आर्थिक मन्दी का काल था जब कृषि-वस्तुओ के मूल्य गिर रहे थे, भूमि का मूल्य भी कम हो गया था तथा किसानो को अपनी भूमि ऋणो के भुगतान के लिए बेचने की नौबत आ गई थी। ऐसे सकट काल मे भूमि-बन्धक बैंको की स्थापना ने कृषको को अमूल्य सहायता की तथा उनको भूमि की रहन पर ऋण देकर भूमि को महाजनो के हाथ बिकने से बचाया। परन्तु १९३९ से परिस्थिति ने पलटा खाया क्योंकि युद्ध के कारण निर्यात बढने लगे और कृषि-पदार्थों का मूल्य बढने लगा। फलत कृषको के पास धन आने लगा और उन्होने अपने ऋणो का अवधि के पूर्व ही भुगतान कर दिया। इससे दीर्घकालीन ऋणों की प्राप्ति के लिए कृषकों को इनकी उपयुक्तता अब उतनी नही रही है फिर भी ये स्थायी भूमि सुधार के लिए ऋण देकर भूमि की उत्पादन-क्षमता बढा कर वर्तमान खाद्य-सकट का निवारण करने मे अधिक सहायक हो सकते हैं। अत इनको अब इस दिशा मे प्रचार एव प्रयत्न भी करना चाहिए।

१९५८ ५९ मे केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंको की संख्या १२ तथा प्राथमिक भूमि-बन्धक बैंको की संख्या ३२६ थी। इन्होने इसी वर्ष क्रमश ३·८० तथा २ ०५ करोड रुपए के ऋण दिये। एव इनकी सदस्य संख्या क्रमश ११७ एव ३३४ हजार थी।

कार्यशील तथा अन्य पूँजी—इनकी कार्यशील पूँजी अश बेचकर, निक्षेप की स्वीकृति से, ऋण पत्र तथा बन्ध बेचकर प्राप्त की जाती है परन्तु विशेषत अधिकाश भाग ऋण पत्रो के विक्रय से प्राप्त होता है। इनके ऋण पत्रो की

1 *Review of the Co-operative Movement in India*, 1939-1946

मूल राशि तथा व्याज के भुगतान की गारन्टी सरकार देती है एवं ये ऋण-पत्र प्रन्यास-प्रतिभूतियों की श्रेणी के होते हैं।

कार्य—ये दीर्घकालीन अवधि के लिए—सामान्यतः २० वर्ष के लिए—पुराने ऋणों के भुगतान के लिए ऋण देते हैं परन्तु अधिकतम ४० **वर्ष** के लिए ऋण दे सकते है। भारतीय बैंकों ने यह कार्य अभी हाल ही में शुरू किया है। ऋण केवल सदस्यों को उनकी भूमि के रहन पर दिये जाते है तथा प्रत्येक सदस्य को दिये जाने वाले ऋण की अधिकतम राशि सामान्यतः १०,००० रु० अथवा **रहन-सम्पत्ति** के मूल्य के ५० **प्रतिशत होती** हैं। सबसे पहले ऋण-प्रापक प्राथमिक भूमि-बन्धक बैंक को आवेदन देता है। यह रहन के लिए जो सम्पत्ति है उसका मूल्य-निर्धारण, स्वत्व आदि की जाँच करता है तथा उसके बाद ऋण दिये जाते हैं। इस प्रकार की रहन-सम्पत्ति केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक को हस्तान्तरित होती है, जिसकी जमानत पर वे आवश्यकता पडने पर नये ऋण-पत्र निर्गमित करते हैं। ऋणों पर व्याज की दर ६% से ६½% ली जाती है तथा निक्षेपों पर २½% से ६% तक व्याज देते हैं।

प्रबन्ध—इसका प्रबन्ध संचालक-सभा करती है जो इसकी सामान्य नीति को निश्चित करती है। इसके अतिरिक्त भूमि आदि का समुचित मूल्यांकन करने एवं वैधानिक सलाह के लिए विशेषज्ञ रहते हैं। ये विशेषज्ञ प्रार्थना-पत्रों पर विचार करते हैं एवं अपनी सलाह के साथ संचालक-सभा में उन्हें विचारार्थ रखते है। संचालक-सभा ऋण देने अथवा न देने के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय देती है।

लाभांश—इनको होने वाला लाभ लाभांश के रूप में सदस्यों को वितरित किया जाता है। परन्तु लाभांश ५%से अधिक नहीं दिया जाता, तथा लाभांश चुकता पूँजी पर ही दिया जाता है। दूसरे, ये बैंक अपने लाभ को लाभांश के रूप में तब तक नहीं बाँट सकते जब तक इनका संचित कोष एक निश्चित राशि तक न आ जाय। मद्रास एवं बम्बई के भूमि-बंधक बैंकों को लाभ का क्रमशः ४०% एवं ५०% संचित कोष में प्रति वर्ष देना पडता है।

इस प्रकार भूमि-बन्धक बैंकों की सफलता रहन-सम्पत्ति के सही-सही मूल्यांकन तथा किश्तों के नियमित भुगतान पर निर्भर है। इन बैंकों ने ग्रामीण ऋण के निवारण में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है।

विकास-क्षेत्र—भारत में आज भी इनके विकास के लिए पर्याप्त क्षेत्र है क्योंकि यह एक कृषि प्रधान देश है जिसमें कृषकों को अपनी भूमि के सुधार के लिए सदैव ही दीर्घकालीन ऋणों की आवश्यकता रहेगी। इनके विकास एवं

प्रगति के लिए प्रान्तीय तथा केन्द्रीय बैंकिंग जांच-समितियो ने निम्न सिफारिशे की है —

भूमि-बन्धक बैंको की स्थापना केवल सहकारी तत्वों पर ही होनी चाहिए तथा इनका कार्य-क्षेत्र इतना विस्तृत न हो जिससे इनका सम्बन्ध ऋणियो से न रहे। भूमि बन्धक बैंकों को अपनी आर्थिक सुदृढ़ता के लिए संचित कोष का निर्माण करना चाहिए तथा लाभांश का वितरण तब तक न हो जब तक उनकी संचित कोष पर्याप्त न हो जाय। कार्यशील पूँजी अंशों तथा ऋण पत्रों द्वारा, विशेषतः ऋण-पत्रों के निर्गमन से ही प्राप्त करनी चाहिए जिनकी गारन्टी सरकार दे। परन्तु ऋण-पत्रों की गारन्टी के सम्बन्ध मे लिखते हुए रिजर्व बैंक ने अपनी रिपोर्ट मे लिखा है कि "सरकारी गारन्टी की आवश्यकता प्रारम्भिक अवस्था मे अवश्य हुई होगी, परन्तु वर्तमान स्थिति इसकी अवधि अधिक नही बढानी चाहिए और न सीमित राशि ही। एक स्थिति ऐसी आ जानी चाहिए जब भूमि बन्धक बैंक अपने ही पैरों पर खडे रह तथा अपनी साख पर ही ऋण-पत्रों का निर्गमन करे। क्योंकि य सस्थाएँ कृषकों को दीर्घकालीन ऋण देने वाली स्थायी संस्थाएँ है—अस्थायी नही।"[1] भूमि-बन्धक बैंकों को निक्षेप रखने की आज्ञा नही होनी चाहिए और यदि दी जाती है तो निक्षेपों की अवधि अधिक होनी चाहिए। ऋणो की ब्याज-दर तथा अवधि ऋणी की आर्थिक स्थिति पर निर्भर रहनी चाहिए क्योंकि भारत मे २० वर्ष की अधिकतम अवधि अन्य देशो की अपेक्षा बहुत ही कम है। जैसे फिनलैंड मे ३० वर्ष, चिली मे ३३ वर्ष न्यूजीलेंड मे ३६½ वर्ष, आस्ट्रेलिया मे ४२ वर्ष, इटली तथा जापान मे ५० वर्ष, स्विट्जरलैंड मे ७५ वर्ष, डेनमार्क मे ६० वर्ष, हंगरी मे ६३ वर्ष, आयरलैंड मे ६८½ वर्ष तथा फ्रांस मे ७५ वर्ष है। ऋण केवल आर्थिक कार्यों के लिए ही दिये जायें तथा उनका समुचित उपयोग न होता हो तो उन्हे तत्काल ही वापिस लिया जाय। इसके साथ ही भूमि बन्धक बैंको को यह अधिकार हो कि वे न्यायालय की सहायता बिना रहन-भूमि को बेचकर अपनी ऋण-राशि प्राप्त कर सकें। अतएव सम्बन्धित सन्नियमो मे आवश्यक संशोधन करना चाहिए।

भविष्य—इन सुधारो के साथ भूमि-बन्धक बैंक अधिक सफलता से कार्य कर सकते है जिनकी वर्तमान समय म तथा भविष्य मे भी तीव्र आवश्यकता रहेगी। अब उनको भूमि-सुधार के लिए अधिकाधिक मात्रा मे ऋण देना

---

1 *Review of Movement in India* (1946 48) R. B I.

चाहिए जिससे वे अधिक सफलता से अपनी अतिरिक्त पूंजी का उपयोग कर सकते है। दूसरे, विभिन्न राज्यों मे अनत्र ऋणग्रस्तता सम्बन्धी जो अधिनियम स्वीकृत हो चुके है उनसे महाजनो द्वारा दी जाने वाली साख भी कम हो गई है तथा कृषक इन बैंको पर अधिक निर्भर रहने लगे है।

ऋणो की बढती मॉग के केवल दो ही कारण प्रतीत होते है। प्रथम तो बढता हुआ जीवन-मूल्य तथा कृषि-यन्त्र, खाद, बैलो आदि की बढी हुई कीमतें। दूसरे, महाजनो से साख-प्राप्ति का स्थान बन्द होना, जिससे उनकी निर्भरता बैंको पर अधिक हो गई है। केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंको ने १९४७-४८, १९४८-४९, एव १९४९-५० म क्रमश ७७ ५९, १०२ ६० एव १०१ ०८ लाख रुपए के ऋण इन तीन वर्षो म दिय। य ऋण विशेषत पुराने ऋणो के भुगतान के लिए ही दिये गये हैं जिससे यह स्पष्ट है कि आज भी इनकी उपयोगिता अधिक है। विशेषत जब देश की योजनाओ के अन्तर्गत कृषको को सहकारी बैंको के माध्यम म ही साख प्रदाय होगा—यह सिद्धान्त मान लिया गया है।

यदि विभिन्न सरकारी विभागो का सहयोग प्राप्त किया गया तो भूमि-बन्धक बैंक देश के कृषको को भूमि का उत्पादन बढाने मे तथा देश को खाद्यान्न मे स्वय पूर्ण बनाने म महत्त्वपूर्ण तथा समुचित कार्य करेंगे। अत मद्रास के सहकारी-सचिव श्री ए बी शेट्टी न जैसा २५वी भूमि-बन्धक बैंक वार्षिक परिषद् म कहा है 'उनको भूमि सुधार पर उत्पादन के लिए ऋण देने पर अधिक ध्यान देना चाहिए।' उन्होंने यह भी कहा कि भूमि-बन्धक बैंक रिजर्व बैंक के निम्न सुझावो पर अधिक ध्यान दे—

(१) भूमि सुधार, भूमि सफाई एव विकास, कृषि-यन्त्रो के क्रय के लिए ऋणो को प्राथमिकता द,

(२) बडी सिंचाई-योजनाओ से लाभान्वित क्षेत्रा सामुदायिक विकास-क्षेत्रो तथा राष्ट्रीय विस्तार-खण्डो के अन्तर्गत आने वाली योजनाओ को ऋण दे,

(३) कार्यान्वित कृषि योजना क्षेत्र की नियोजित साख-योजना से भूमि-बन्धक अपने ऋणो को सम्बन्धित करे।

सहकारी आन्दोलन एव सरकार

विभिन्न राज्य सरकार सहकारी आन्दोलन की सफलता के लिए दो प्रकार से सहायता करती है। एक तो अधिनियम बनाकर जिससे इनका विकास समुचित हो। दूसरे, अपनी राशि सहकारी बैंको मे निक्षेप के रूप मे रखकर तथा इनको ऋण देकर आर्थिक सहायता देना। तीसरे, कृषि साख सर्वे समिति की सिफारिश के अनुसार सहकारी सस्थाओ की अश पूँजी मे योग देना।

इस प्रकार रिजर्व वैक, राज्य सरकारे तथा केन्द्रीय सरकार सहकारी आन्दोलन को जन-जीवन का एक अग वनाने म प्रयत्नशील हैं, जो आन्दोलन के ज्योतिर्मय प्रकाश की ओर सकेत है।

(१) सहकारी समितियों मे राज्य सरकारों द्वारा पूंजी-योग (लाख रु० मे)[1]

राज्य	राज्य सहकारी वैक	केन्द्रीय सहकारी वैक	प्राथमिक कृपि समितियाँ	केन्द्रीय भूमि वन्धक वैक
आध्र	४ २६	६ ००	८ २४	१ ००
आसाम	१५ ००	० ५०	—	४ ००
विहार	४० ००	२० ००	—	—
वम्बई	५६ ४०	३६ १०	१६० ७४	१० ००
जम्मू एव काश्मीर	१२ ६०	—	—	—
केरल	५ ००	—	२ ७८	१ ५०
मध्य-प्रदेश	१४ ६०	३२ ००	१३ ८३	—
मद्रास	८ ००	—	२ २०	—
मैसूर	५ ००	—	—	—
उडीसा	४ ००	६ ८५	१७ ६७	२ २५
पजाव	१८ ००	१३ ६०	८७ ७५	—
राजस्थान	८ ९३	७ ९२	४ ७०	—
उत्तर प्रदेश	५ ००	—	—	—
प० वगाल	१५ ००	—	—	—
हिमाचल प्रदश	८ ००	—	—	—
योग	२२० १२	१२६ २७	३२८ २१	१८ ७५

(२) सहकारिता आन्दोलन—एक दृष्टि मे[2]

समिति का प्रकार	सख्या	सदस्यता (हजार)	ऋण दिय लाख रु०	कायशील पूजी (लाख रु० मे)
(अ) सब समितिया	२४४ ७६६	१६३,७२	१७३,१६	५६७,६७
(ब) राज्य एव केन्द्रीय समितिया				
राज्य सहकारी वैक	२३	३३	१२३,७१	७६,५४
केन्द्रीय सहकारी वैक	४५१	३११	१००,८०	११०,२६
केन्द्रीय भूमि बन्धक वैक	१२	११७	३८०	२१,३२
(स) प्राथमिक समितियाँ				
कृपि साख समितियाँ	१६१,५१०	६१,१७	६७,३३	६८,३०
प्राथमिक भूमि वन्धक वैंक	३२६	३३४	२०५	१२,७०
गैर कृपि साख समितियाँ	१०१५०	३२,२६	८२,०७	१००,४१

१ *Times of India Year Book* 1959 60

२ प्राथमिक समितिया की ।

साराश

भारत मे सहकारी बैंको का उगम कृषको की ऋणग्रस्तता के निवारण तथा उन्हे सस्ते ब्याज दर पर आर्थिक सहायता देने के लिए हुआ। इसका श्रेय मद्रास राज्य तथा श्री फ्रेडरिक निकलसन को है। सहकारिता का मूल मन्त्र "एक के लिए सब तथा सब के लिए एक" है। सहकारी बैंक जनता से लेनदेन करते हैं परन्तु इनकी कार्यप्रणाली व्यापारिक बैंको से भिन्न हैं। इनके लाभ हैं :—

(१) नागरिकता की भावना तथा आत्मविश्वास का निर्माण, (२) पूंजी छोटे स्रोतों से आती है जिनके पास अन्य बैंको की पहुँच नहीं होती, (३) साधन-हीन व्यक्तियो को सस्ते ब्याज-दर पर ऋण-सुविधा (४) जालसाजी की गुजाइश नहीं, (५) ग्रामीण जनता मे बचत की भावना का निर्माण।

सहकारी बैंक एव व्यापारिक बैंको मे मुख्य साम्य-भेद निम्न हैं —

(१) दोनो ही निक्षेप स्वीकारते हैं परन्तु व्यापारिक बैंक ऐसे व्यक्तियो को ऋण देते हैं जो महत्तम उपयोग कर सकें। इसके विपरीत सहकारी बैंक केवल सदस्यो को ऋण देते हैं।

(२) व्यापारिक बैंक विनियोक्ता एव विनियोग प्रापको को एकत्रित करते हैं तो सहकारी बैंक सदस्यो की आर्थिक उन्नति के लिए प्रयत्न करते हैं।

(३) व्यापारिक बैंको का ग्राहको के साथ घनिष्ठ सम्पर्क नही होता जो सहकारी बैंको का होता है।

(४) व्यापारिक बैंकों की ऋणनीति तरलता पर आधारित होती है जबकि सहकारी बैंको की नीति प्रजातन्त्रात्मक होती है।

(५) व्यापारिक बैंक ऋण के हेतु की अपेक्षा सुरक्षा की ओर अधिक ध्यान देते हैं परन्तु सहकारी बैंक विशेषत उत्पादन कार्यों के लिए ही ऋण देते हैं।

(६) व्यापारिक बैंक भारतीय कम्पनी अधिनियम एव बैंकिंग कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत होते हैं तो सहकारी बैंक सहकारिता अधिनियम के अन्तर्गत होते हैं।

(७) सहकारी बैंको के अशधारी ही बैंक का सचालन करते हैं। किन्तु व्यापारिक बैंको का सचालन अशधारियों के प्रतिनिधिक सचालक ही करते हैं।

प्राथमिक साख-समितियाँ—सहकारी साख-समितियो का निर्माण १६०४ के सहकारिता अधिनियम के बाद होने लगा। इनका कार्य-क्षेत्र गांव या कस्बे

तक सीमित रहता है। एक गांव के कोई भी दस या दस से अधिक व्यक्ति मिलकर ऐसी समिति बना सकते हैं। ये दो प्रकार की होती हैं—सहकारी कृषि साख-समितियां—जिनके ७५% से अधिक सदस्य कृषक होते हैं तथा सहकारी गैर कृषि साख-समितियां—इनके ७५% सदस्य कृषक नही होते। ३० जून १९५७ को दोनो प्रकार की क्रमश १६१,५१० तथा १०,१५० थीं। प्राथमिक समितियों की प्रगति १९२९ तक अवाधित होती रही परन्तु १९२९ की आर्थिक मन्दी का प्रभाव इन पर बुरा हुआ जिससे इनकी स्थिति विलोपन तक आ पहुँची। १९२९-३० से १९३९-४० तक समितियों की ऋण देने की शक्ति कुण्ठित हो गई थी। परन्तु द्वितीय महायुद्ध ने परिस्थिति बदल दी जिससे समितियों की सख्या एव सदस्यता मे वृद्धि होती गई। इस समृद्धि से समितियाँ साख के साथ ही उत्पादन एव वितरण कार्यों मे भी भाग लेने लगीं।

केन्द्रीय सहकारी बैंक—ये प्राथमिक साख समितियो की आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं तथा किसी विशेष क्षेत्र या जिले की सहकारी साख समितियो के ऊपर होते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं :—

(अ) जिनके सदस्य केवल व्यक्ति होते हैं, (आ) जिनकी सदस्यता केवल सहकारी साख समितियों तक ही सीमित होती है तथा (ई) जिनकी सदस्यता मे व्यक्ति एव सहकारी साख समितियाँ दोनो ही होती हैं। मंकलेगन समिति ने पहिले वर्ग की समितियो को निरुत्साहित करने का सुझाव दिया था। इस प्रकार की पहिली बैंक १९०७ मे स्थापित हुई तथा ३० जून १९५७ को इनकी सख्या ४५१, सदस्यता ३ ११ लाख तथा कार्यशील पूँजी ११० २६ लाख रु० थी।

राज्य सहकारी बैंक—ये सहकारी सगठन के प्रमुख बैंक है तथा राज्य के सहकारी सगठन, निरीक्षण एव मार्गदर्शन के लिए जिम्मेवार होते हैं। ३० जून, १९५७ को इनकी सख्या २३, चुकता पूँजी एव कोष ८ ७८ करोड रु० तथा कार्यशील पूँजी ७९·५४ करोड रु० थी।

सहकारी सगठन मे अनेक दोष हैं जिनके निवारण के लिए ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति, कृषि साख सर्वे समिति तथा सर माल्कम डार्लिंग ने अनेक सुझाव दिये हैं। कृषि साख सर्वे समिति की सिफारिशो के अनुसार रिजर्व बैंक ने राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष तथा राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष की स्थापना की है जिससे सहकारी साख सस्थाओ की पूँजी मे राज्य सरकारें हिस्सा ले सकें, केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंको को दीर्घकालीन ऋण दिये जा सकें तथा उनके ऋण पत्र खरीदे जा सकें। दूसरे कोष का उपभोग

राज्य सहकारी बैंको को मध्यकालीन ऋण देने मे होगा जिससे वे अपने अल्प-कालीन ऋणों को आवश्यकता के समय मध्यकालीन ऋणो मे बदल सकें। सहकारी गोदामो की स्थापना के लिए केन्द्रीय गोदाम कॉर्पोरेशन की स्थापना हो चुकी है तथा ऐसे ही निगम राज्यो मे भी स्थापित होगे। सहकारी प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई है।

रिजर्व बैंक का कृषि साख विभाग राज्य सहकारी बैंकों के माध्यम से पर्याप्त सहायता देता है। यह सहायता बैंक दर से २% छूट पर ऋण देकर भूमि-बन्धक बैंको के ऋणपत्र खरीदकर, सहकारी प्रशिक्षण की व्यवस्था द्वारा देता है।

वर्तमान सुविधाओं का अध्ययन कर दूसरी योजना के लक्ष्यों के सम्बन्ध मे अपना प्रतिवेदन देने के लिए भारत सरकार ने कोलम्बो योजना के सलाह-कार सर मालकम डार्लिंग को निमन्त्रित किया था जिन्होंने सहकारी आन्दोलन की सुदृढता के लिए अनेक महत्वपूर्ण सुभाव दिये हैं।

अध्याय २५

भारतीय बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम

समुचित एव सुव्यवस्थित बैंकिग अधिनियम की आवश्यकता भारत मे बहुत पहले से अनुभव की जा रही थी क्योकि देश मे बैंकिग के नियन्त्रण के लिए वेचान-साध्य विलेख विधान (१८८१) तथा भारतीय कम्पनी अधिनियम के अतिरिक्त अन्य विधान न था। इस आवश्यकता पर सर्वप्रथम केन्द्रीय बैंकिग जॉच-समिति ने १९३१ मे ध्यान दिलाया था। परन्तु उस समय अलग विधान न बनाते हुए केवल कम्पनी अधिनियम मे ही सशोधन किया गया। १९३६ का भारतीय कम्पनीज (सशोधन) अधिनियम आया जिसमे बैंकिग कम्पनियो सम्बन्धी विशेष धाराएँ जोडी गई। इसके बाद १९३९ मे रिजर्व बैंक ने भारत सरकार को तत्कालीन विधान की त्रुटियाँ बताकर नये विधान की आवश्यकता का महत्त्व समझाया। क्योकि देश के अनेक बैंक उस अधिनियम की "बैंक" की परिभाषा मे ही नही आते थे। परन्तु उस समय भारत सरकार के द्वितीय महायुद्ध मे उलझे हुए होने के कारण कुछ न हो सका।

इसके बाद बैंकिग कम्पनीज विधेयक (१९४५) बनाया गया किन्तु तत्कालीन केन्द्रीय विधान सभा के विलियन के कारण कुछ न हुआ। १९४६ मे दूसरा "बैंकिग कम्पनीज विधेयक (१९४६)" बना, जिसमे प्रवर समिति (select committee) द्वारा कुछ सशोधन होने के बाद वह जनवरी १९४८ मे वापिस ले लिया गया। परन्तु २२ फरवरी १९४८ को तीसरा अधिनियम विधेयक पुनः प्रस्तुत किया गया जो फरवरी १७, १९४९ को स्वीकृत होकर १६ मार्च १९४९ से "भारतीय बैंकिग कम्पनीज अधिनियम (१९४९)" के नाम से लागू हुआ। इसकी कुल ५६ धाराएँ हैं। इसके लागू होने से देश के निक्षेपकों की सुरक्षा होगी और बैंकिग सकट का भय भी न रहेगा।

अधिनियम से लाभ—(१) समुचित बैंकिग अधिनियम देश के निक्षेपकर्ताओ की बैंकों की बेईमानी तथा असावधानी से होने वाली हानि से रक्षा होगी तथा ऐसे बैंको के विरुद्ध वैधानिक कार्यवाही कर उन्हे दण्डित किया जा सकेगा।

(२) अभी तक जो बैंकिंग सकट आते रहे, उनसे यह स्पष्ट है कि बैंकिंग विधान का अभाव होने से उन पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नही था, जिससे बैंको के विलियन से देश की पूंजी की असीमित हानि होती रही। इस अधिनियम से इस हानि का निवारण होगा एव बैंकिंग-कलेवर सुदृढ बनगा। इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि अच्छे बैंक अच्छे नियमो से नही बनते अपितु अच्छे बैंकरो से बनते हैं। परन्तु फिर भी नियम-उल्लघन का भय सीधी राह अपनाने के लिए बाध्य तो करता ही है।

(३) बैंक समाज-सेवा करने वाली सस्थाएँ हैं, इनका नियन्त्रण समाज-हित के लिए नियमित रूप से हो सकेगा।

(४) बैंक की शाखाओ के अव्यवस्थित विकास पर प्रतिबन्ध रहगा।

इस प्रकार बैंकिंग अधिनियम बन जाने से भारत के बैंकिंग इतिहास मे एक नये युग का प्रादुर्भाव हुआ है जिनमें अभी तक जो दोष थे उनका निवारण हो गया है।

परिभाषा—यह अधिनियम भारत के समस्त राज्यो मे लागू होता है अर्थात् धारा ३ के अनुसार सहकारी बैंकों को छोड कर भारत के सभी बैंको पर लागू होता है। अभी तक बैंकिंग सम्बन्धी कोई भी समुचित एव स्पष्ट परिभाषा नही थी जिसका इसम स्पष्टीकरण है। धारा ५ ब के अनुसार 'बैंकिंग' उसे कहते हैं 'जिसम जनता स उधार देन अथवा विनियोग के लिए निक्षप स्वीकार किय जायें तथा जो चैक, विकर्ष अथवा आदेश अथवा अन्य प्रकार से निकाले जा सक एव माँग पर भुगताय जायें। कोई भी कम्पनी इस व्यवसाय को तब तक नहीं कर सकती जब तक वह बैंक, बैंकर अथवा बैंकिंग इन शब्दो का प्रयोग अपने नाम के साथ न करे (धारा ७)। इसी प्रकार कोई भी बैंकिंग कम्पनी किसी भी प्रकार का व्यापार, क्रय-विक्रय न अपने नाम से और न दूसरो के नाम से कर सकता है (धारा ८)। बैंकिंग कार्यों की सूची धारा ६ म दी गई है।

प्रबन्ध धारा १०—कोई भी बैंकिंग कम्पनी प्रबन्ध-अभिकर्ता की नियुक्ति नही करेगी और न एस व्यक्ति की नियुक्ति करेगी जो दिवालिया हो, जो कम्पनी से किसी भी प्रकार के कमीशन अथवा लाभ के रूप म पारिश्रमिक लेता हो, जो किसी अन्य कम्पनी का प्रबन्धक या सचालक हो अथवा जिसकी नियुक्ति प्रबन्धक के नाते ५ वर्ष से अधिक समय के लिए अनुबन्ध द्वारा की गई हो अथवा जो किसी अन्य प्रकार का व्यापार करता हो।

न्यूनतम निधि एव चुकता पूँजी—इस अधिनियम द्वारा बैंको की न्यूनतम

पूंजी तथा सचित कोष के सम्बन्ध मे कुछ शर्ते लगाई गई है। ये शर्ते भौगोलिक कार्य-क्षेत्र के अनुसार भिन्न-भिन्न है और केवल उन्ही बैंको पर लागू है जो भारत मे रजिस्टर्ड है (धारा ११)। ये शर्ते निम्न है—

(१) जो बैंक एक से अधिक राज्य मे व्यवसाय करते हो उनकी चुकता पूंजी तथा निधि मिलाकर ५ लाख रु० होगी।

(२) परन्तु यदि उनका व्यवसाय बम्बई अथवा कलकत्ता मे, अथवा दोनो मे होगा, तो उनकी चुकता पूजी एव सचित कोष दोनो मिलाकर न्यूनतम १० लाख रुपए होना चाहिए।

(३) यदि कोई बैंक केवल एक ही राज्य मे व्यवसाय करता है किन्तु कलकत्ता एव बम्बई मे उसका व्यवसाय नही है तो उस बैंक के प्रमुख कार्यालय की चुकता पूंजी एव कोष मिलाकर न्यूनतम १ लाख रु० होना चाहिए। यदि उसकी शाखाएँ उसी जिले मे है तो उसकी प्रत्येक शाखा की यही राशि १० हजार रु० किन्तु उसकी शाखाएँ पृथक्-पृथक् जिलो मे होने पर यही राशि २५ हजार रु० होनी चाहिए।

(४) जब किसी बैंक के समस्त कार्यालय एक ही राज्य मे हो किन्तु उसकी शाखाएँ बम्बई या कलकत्ते मे हो तब उसकी पूंजी एव निधि मिलाकर न्यूनतम ५ लाख रु० तथा कलकत्ता एव बम्बई के बाहर की प्रत्येक शाखा की यही राशि २५ हजार रु० होना अनिवार्य है।

(५) जिस बैंक मे केवल एक ही कार्यालय एक ही स्थान पर हो तो उसकी चुकता पूंजी एव कोष मिलाकर न्यूनतम ५० हजार रुपए होना चाहिए।

(६) अन्य देश के रजिस्टर्ड बैंक यदि भारत मे बम्बई और कलकत्ता को छोडकर अन्य किसी स्थान मे व्यवसाय कर तो उनको न्यूनतम पूंजी एव निधि १५ लाख रुपए रखनी होगी। किन्तु यदि उनका व्यवसाय बम्बई तथा कलकत्ते मे अथवा किसी भी एक स्थान पर हो तो उन्हे २० लाख रुपए पूंजी एव निधि रखनी होगी।

चुकता, प्रार्थित एव अधिकृत पूंजी तथा मतदान (धारा १२)—किसी बैंक की प्रार्थित पूंजी उसकी अधिकृत पूंजी के ५०% से कम नही होनी चाहिए और न उसकी चुकता पूंजी प्रार्थित पूंजी के ५०% से कम होनी चाहिए। यदि पूंजी बढाई भी जाय यो वह इस नियमानुसार ही दो वर्ष की अवधि मे होना चाहिए। इस हेतु उसे रिजर्व बैंक की अनुमति लेनी होगी।

बैंक की पूंजी केवल सामान्य अशो मे ही होनी चाहिए। अथवा सामान्य

अंशो में तथा १ जुलाई १९४४ के पहले बेचे गये पूर्वाधिकार अंशों में हो सकती है।

प्रत्येक अंशधारी को अपने अंशो के अनुपात में मतदान का अधिकार है परन्तु कोई भी एक अंशधारी सम्पूर्ण अंशधारियों के मतों के ५% से अधिक मत नही दे सकता।

रोकड निधि— प्रत्येक सूची-बद्ध बैंक को अपनी माँग देनदारी का ५% तथा समय देनदारी का २% रिजर्व बैंक के पास निक्षेप में रखना पड़ेगा (R B I Act, Sec 42)। इसी प्रकार प्रत्येक असूची-बद्ध बैंक को माँग एवं काल-देनदारी का ५% एवं २% रोकड निधि रिजर्व बैंक के अथवा अपने पास, अथवा कुछ रिजर्व बैंक के एवं कुछ अपने पास रखनी होगी (धारा १८)। इस सम्बन्ध का गत मास के अन्तिम शुक्रवार का विवरण, समय तथा माँग देनदारी की राशि के साथ रिजर्व बैंक के पास प्रत्येक मास की १५ तारीख के पूर्व तीन प्रतियों में भेजना होगा।

लाइसेंस (धारा २२)—रिजर्व बैंक से लाइसेंस प्राप्त किये बिना कोई भी बैंक भारत में व्यवसाय नही कर सकता। यह लाइसेंस अधिनियम के लागू होने के ६ मास में प्राप्त करना अनिवार्य है। नये बैंकों को भारत के किसी भी राज्य में व्यवसाय करने के पूर्व रिजर्व बैंक को लिखित आवेदन-पत्र भेजकर लाइसेंस प्राप्त करना आवश्यक है। रिजर्व बैंक यह लाइसेंस देने के पूर्व किसी भी बैंक के लेखापुस्तकों की जांच कर सकता है अथवा निम्न विषय में सन्तुष्टि कर सकता है —

(१) बैंक अपने निक्षेपकर्ताओं के निक्षेपों का भुगतान करने योग्य है अथवा नही,

(२) बैंक का प्रबन्ध निक्षेपकर्ताओं के हित में है अथवा नही, तथा

(३) जो बैंक भारतीय राज्यों के अतिरिक्त अन्य स्थानों में रजिस्टर्ड है, तो उस देश में भारतीय बैंकों के विरुद्ध किसी प्रकार की वैधानिक शर्तें तो नहीं हैं तथा वह इस अधिनियम की जो धाराएँ लागू हैं उनका पालन करता है अथवा नहीं।

उपर्युक्त बातों की जाँच होने पर यदि रिजर्व बैंक को सन्तोष होता है तो वह लाइसेंस देगा। परन्तु लाइसेंस प्राप्त कर लेने पर भविष्य में भी यदि कोई बैंक इन शर्तों का पालन न करे तो रिजर्व बैंक उसका लाइसेंस निरस्त कर सकता है।

शाखाएँ—कोई भी बैंक रिजर्व बैंक से लिखित स्वीकृत प्राप्त किये बिना किसी नई जगह मे शाखा नही खोल सकता और न शाखा का स्थानान्तरण (उस शहर, नगर या गाँव के अतिरिक्त) अन्य स्थानो पर कर सकता है (धारा २३)। ऐसे स्थानान्तरण अथवा नई शाखा खोलने की अनुमति देने के पूर्व रिजर्व बैंक उस बैंक की आर्थिक स्थिति, गत इतिहास, सामान्य व्यवस्था, व्यवसाय, कमाने की शक्ति तथा जनता के हित की दृष्टि से बैंक का निरीक्षण कर सकता है तथा इससे सन्तोष होने पर ही ऐसी अनुमति देगा।

वैधानिक कोष (धारा १७)—प्रत्येक बैंक को अपनी चुकता पूँजी के बराबर सचित कोष रखना अनिवार्य है। जिन बैंकों का सचित कोष चुकता पूँजी के बराबर नही है उनके लाभाश बाँटने के पूर्व प्रतिवर्ष शुद्ध लाभ का २०% भाग सचित कोष मे स्थानान्तर करना अनिवार्य है।

बैंकिंग कम्पनियो की सम्पत्ति

(१) **धारा २४**—प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को अधिनियम लागू होने के २ वर्ष के अन्त मे कुल माँग एव समय देनदारी के २०% सम्पत्ति भारत मे रोकड, स्वर्ण तथा मान्य प्रतिभूतियो मे प्रत्येक व्यापारिक दिन के अन्त मे रखनी होगी। इसका मासिक विवरण प्रत्येक बैंक रिजर्व बैंक के पास भेजेगा।

(२) **धारा २५**—किसी बैंकिंग कम्पनी को प्रत्येक तिमाही के अन्तिम दिन अपनी कुल समय एव माँग देनदारी के ७५% सम्पत्ति भारत मे अथवा भारत के बाहर रखनी होगी। सम्पत्ति मे उन्ही प्रतिभूतियो, प्रतिज्ञा-पत्रो तथा बिलो का समावेश होगा जो रिजर्व बैंक कटौती अथवा क्रय-विक्रय कर सकता है अथवा जिनकी जमानत पर वह ऋण देता है तथा आयात एव निर्यात बिल जो भारत म अथवा भारत पर लिखे गये एव भारत मे देय हो एव उन मुद्राओ मे हो जिनकी मान्यता रिजर्व बैंक समय-समय पर सूचित करता है। इसका त्रैमासिक विवरण प्रत्येक बैंक रिजर्व बैंक के पास भेजेगा।

बैंकिंग कम्पनियो पर अन्य प्रतिबन्ध

धारा १४—कोई भी बैंकिंग कम्पनी अपनी पूँजी पर उनकी जमानत आदि देकर प्रभार निर्माण नही कर सकती, अर्थात् अपनी अयाचित पूँजी की जमानत पर ऋण आदि नहीं ले सकती।

धारा १५—कोई भी बैंक अपनी अश पूँजी पर तब तक लाभाश नही दे सकती जब तक पूँजी व्ययों का—जिसमे प्रारम्भिक व्यय, सगठन व्यय, अश विक्रय पर कमीशन, दलाली, किसी भी प्रकार की हानि, राशि अथवा मूर्त

सम्पत्ति पर किया हुआ किसी प्रकार का अन्य व्यय आदि सम्मिलित हैं—विलोपन (write-off) न हो जाय।

धारा १६—कोई भी बैंक ऐसे व्यक्ति की सचालक पद पर नियुक्ति नही कर सकती जो किसी अन्य बैंकिंग कम्पनी का सचालक हो।

धारा १६—कोई बैंकिंग कम्पनी प्रन्यास काय रिक्थ साधक काय, सुरक्षा निक्षेप व्यवस्था (safe deposit vaults) तथा रिजव बैंक की पूर्व अनुमति से बैंकिंग कार्य के लिए आवश्यक कार्यों के अतिरिक्त सहायक कम्पनी (subsidiary company) की स्थापना नही कर सकती।

धारा २०—कोई भी बैंक न तो अपने अशो की जमानत पर तथा अपने सचालको को बिना जमानत के ऋण नही दे सकती। इसी प्रकार यह ऐसे किसी भी फर्म अथवा निजी कम्पनी को ऋण नही दे सकती जिसम उसका कोई भी सचालक साभेदार, प्रबन्ध-अभिकर्ता अथवा ऋणा की प्राप्ति के लिए जमानतदार हो।

धारा २३—रिजर्व बैंक की अनुमति बिना कोई बैंक न नई शाखा खाल सकता है और न वर्तमान शाखा का किसी अन्य स्थान पर स्थानान्तरण ही कर सकता है। यह नियम भारतीय बैंको की विदेशी शाखाओ पर भी लागू होता है।

धारा ४४—कोई भी बैंकिंग कम्पनी रिजर्व बैंक से लिखित प्रमाण-पत्र प्राप्त किये बिना अपनी इच्छा से अपना व्यापार बन्द नही कर सकती। यह अनुमति उसे तभी प्राप्त होगी जब रिजर्व बैंक को यह विश्वास होगा कि वह अपने ऋणदाताओ का भुगतान करने योग्य है।

धारा ४५—बैंकिंग कम्पनियो की किसी भी प्रकार की एकीकरण योजना को न्यायालय तब तक स्वीकार नही कर सकता जब तक उन्हे रिजर्व बैंक इस आशय का प्रमाण-पत्र न दे कि वह एकीकरण निक्षेपकर्ताओ के हित के लिए हानिकारक नही है'। इसी प्रकार कोई भी बैंकिंग कम्पनी किसी भी अन्य बैंकिंग कम्पनी के साथ एकीकरण की व्यवस्था नही करेगी अथवा एकीकरण म सहभागी न हो सकेगी जब तक वह रिजर्व बैंक से लिखित आज्ञा प्राप्त न कर ले। एकीकरण की योजनाओ के सम्बन्ध म अन्तिम निर्णय देने का अधिकार रिजर्व बैंक को है जो सम्बन्धित बैंको को मान्य करना होगा [धारा ४४-(A)]।

रिजर्व बैंक के अधिनियम द्वारा प्राप्त अधिकार

देश की बैंकिंग व्यवस्था का सगठित एव नियन्त्रित करने के लिए रिजर्व बैंक को सूची-बद्ध तथा असूची बद्ध बैंको के सम्बन्ध म विशेष अधिकार दिये गये हैं—

धारा १८—रिजर्व बैंक सभी बैंकों की माँग एव समय लेनदारी का ५% तथा २% अपने पास जमा रख सकता है। गत मास के अन्तिम शुक्रवार का रोकड-निधि का निवारण सभी बैंकों को प्रत्येक मास की १५ तारीख तक इसे भेजना पडेगा।

धारा २१—रिजर्व बैंक को बैंकिंग कम्पनियों के दिये जाने वाले ऋणों को नियन्त्रित करने का अधिकार है। यदि रिजर्व बैंक को यह ज्ञात हो जाय कि बैंक की ऋण-नीति देश के हित म नही है तो वह किसी भी बैंक अथवा सभी बैंकों की ऋण-नीति निर्धारित कर सकता है। रिजर्व बैंक किसी भी बैंक विशेष को अथवा सभी बैंकों को यह आदेश दे सकता है कि किन कार्यों के लिए ऋण दिये जायँ अथवा कितने ब्याज पर ऋण दिये जायँ अथवा जमानत एव ऋणों मे कितना अन्तर (margin) रखा जाय। इस प्रकार का दिया हुआ आदेश सभी बैंकों को पालन करना होगा।

धारा २२—कोई भी बैंक रिजर्व बैंक से **लाइसेंस लिये बिना बैंकिंग व्यवसाय नहीं कर** सकता, जो सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकार है। इस धारा के अन्तर्गत नये बैंकों को भी, चाहे वे देशी हो अथवा विदेशी, व्यवसाय करने के पूर्व तथा वर्तमान बैंकों को अधिनियम लागू होते ही ६ मास मे लाइसेंस लेना आवश्यक है। इसी प्रकार यदि जिन शर्तों पर लाइसेंस लिया गया है उनका पूर्ण पालन न किया जाय तो उसे रद्द करने का अधिकार भी रिजर्व बैंक को है।

धारा २३—नई शाखाएँ खोलने अथवा वर्तमान शाखाओं के स्थानान्तरण के पूर्व रिजर्व बैंक को लिखित अनुमति प्रत्येक बैंक को प्राप्त करनी होगी।

धारा २७—प्रत्येक बैंक को वैधानिक रूप (form) मे सम्पत्ति एव देनदारी का स्थिति-विवरण तथा अन्य आवश्यक विवरण रिजर्व बैंक को समय-समय पर भेजने होंगे। परन्तु यदि किसी सूचना की रिजर्व बैंक को आवश्यकता हो तो वह लिखित सूचना देने पर निश्चित अवधि किसी भी बैंक से प्राप्त कर सकता है तथा जन-हित मे प्रकाशित भी कर सकता है।

धारा ३५—रिजर्व बैंक किसी भी समय अपनी इच्छा से अथवा केन्द्रीय सरकार की आज्ञा से किसी बैंक की लेखा-पुस्तकों तथा अन्य सम्बन्धित विवरणों का परीक्षण कर सकता है। ऐसे परीक्षण के रिपोर्ट की एक प्रति परीक्षित बैंक को देनी होगी। परीक्षण किए जाने वाले बैंक के सचालकों एव प्रबन्धकों का यह कर्त्तव्य होगा कि वे परीक्षकों के समक्ष सभी प्रकार की लेखा-पुस्तकें अथवा अन्य सम्बन्धित पत्र आदि प्रस्तुत करें। यदि इस प्रकार के परीक्षण से रिजर्व बैंक को इस बात का सन्तोष न हो कि उसका प्रबन्ध निक्षेप-कर्त्ताओं

के हित मे हो रहा है तो वह केन्द्रीय सरकार के आदेश से उसे अपना व्यापार बन्द करने की आज्ञा दे सकता है अथवा उसे निक्षेप लेने से रोक सकता है।

धारा ३६ के अन्तर्गत रिजर्व बैंक—

(अ) किसी भी बैंक अथवा सभी बैंकों को किसी व्यवहार-विशेष अथवा विशेष व्यवहारो को करने से रोक सकता है अथवा उन्हे अन्य किसी प्रकार की सलाह दे सकता है।

(ब) सम्बन्धित बैंको की प्रार्थना पर धारा ४५ के अनुसार होने वाले एकीकरण मे मध्यस्थ बन कर अथवा अन्य किसी प्रकार से एकीकरण मे सहायता कर सकता है।

(स) रिजर्व बैंक विधान धारा १५ (१) (३) के अनुसार किसी भी बैंकिंग कम्पनी का ऋण अथवा अग्रिम देकर सहायता कर सकता है।

(द) धारा ३५ के अन्तर्गत होने वाले परीक्षण-काल मे अथवा परीक्षण के बाद उस बैंक को लिखित आदेश दे सकता है कि—

(१) बैंक के सचालक रिजर्व बैंक की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए सभा का आयोजन करे।

(२) आदेश मे दी हुई अवधि मे रिपोर्ट मे दिये गये सुझावों का पालन करे।

अन्य अधिकार

इन अधिकारों के साथ ही रिजर्व बैंक को समय-समय पर विवरण, स्थिति-विवरण तथा अन्य विशेष प्रकार की आवश्यक जानकारी प्राप्त करने के हेतु निम्न अधिकार हैं —

१. प्रत्येक सूची-बद्ध बैंकों को प्रत्येक मास की १५ तारीख तक ऐसा विवरण भेजना होगा जिसमे गत मास के अन्तिम शुक्रवार के दिन उसकी कुल माँग देनदारी, समय देनदारी तथा रोक-निधि की राशि होगी [धारा १७]।

२ प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को रिजर्व बैंक के पास नियत रूप मे एक ऐसा विवरण भेजना पड़ेगा जिसम सम्पूर्ण रक्षित ऋणों तथा अग्रिमों की राशि होगी, जो ऐसी कम्पनियों को दिये गये हैं जिनमे बैंकिंग कम्पनी के सचालक अथवा बैंकिग कम्पनी का किसी न किसी प्रकार का हित हो [धारा २० (२)]।

३ प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को रिजर्व बैंक के पास प्रत्येक मास की १५ तारीख तक ऐसा विवरण भेजना होगा जिसमे धारा २४ (१) के अनुसार उसकी माँग एव समय देनदारी तथा २५% सम्पत्ति किस प्रकार रखी गई है, इसका विवरण होगा [धारा २४ (३)]।

४ प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को एक ऐसा त्रैमासिक विवरण भेजना होगा जिसमे धारा २४ (१) के अनुसार माँग एव काल देनदारी की ७५% सम्पत्ति भारत मे किस प्रकार रखी गई है, इसका विवरण होगा [(धारा २५ (२)]। इस सम्बन्ध मे २० अप्रैल १६५१ से सशोधन किया गया है। इसके अनुसार प्रतिभूतियो की सूची, जो "भारत स्थित सम्पत्ति" मे आती है, रिजर्व बैंक प्रकाशित करेगा।

५ प्रत्येक बैंक को वर्ष के अन्त मे एक ऐसा विवरण भेजना होगा जिसमे ऐसे लेखो का वर्णन हो जिनमे गत १० वर्षों मे कोई लेन देन न हुआ हो तथा उनमे प्रत्येक लेखे मे कितनी राशि है [धारा २६]।

६ प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को धारा ८६ के अनुसार स्थिति-विवरण एव हानि लाभ के लेखे तीन प्रतियाँ अंकेक्षक की रिपोर्ट के साथ एव जिस प्रकार से प्रकाशित की गई हो, रिजर्व बैंक के पास भेजनी होगी [धारा ३१]।

७. बैंकिंग कम्पनियो की पूंजी एव कोष के मूल्यांकन मे यदि किसी भी प्रकार की अव्यवस्था हो तो इस सम्बन्ध मे रिजर्व बैंक का निर्णय अन्तिम होगा।

८ **बैंकिंग कम्पनियों के विलियन** (liquidation) मे यदि धारा ३६ के अनुसार रिजर्व बैंक शासकीय निस्तारक (official liquidator) नही है बल्कि कोई अन्य है और न्यायालय उसे किसी विषय पर रिजर्व बैंक से सलाह लेने का आदेश दे तो रिजर्व बैंक को अधिकार है कि वह निस्तारण सम्बन्धी किन्ही भी लेखो का परीक्षण करे एव उचित सलाह दे। इसके साथ ही दोषी व्यक्तियों को दण्ड देने तथा शीघ्रता से निस्तारण सम्भव बनाने का अधिकार रिजर्व बैंक को है।

बैंकिंग कम्पनीज (सशोधन) अधिनियम (१६५१)

उक्त धाराएँ बैंकिंग अधिनियम १६४६ तथा १६५० के सशोधन के अनुसार है। परन्तु १६५१ मे रिजर्व बैंक अधिनियम का सशोधन होने से बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम मे निम्न परिवर्तन हुए हैं जो २० अप्रैल १६५१ से लागू हुए—

(१) बैंकिंग अधिनियम की धारा ३१ की पूर्ति के लिए बैंक अपना स्थिति-विवरण, लाभ हानि लेखा तथा अंकेक्षक की रिपोर्ट दैनिक समाचार-पत्रो के साथ ही अन्य व्यापारिक, आर्थिक एव बैंकिंग पत्रिकाओ मे प्रकाशित कर सकते है।

(२) बैंको को वैधानिक निधि एव अन्य विशेष कोषों को पृथक् पृथक् दिखाने की शर्त हटा दी गई है।

(३) "खरीदे हुए एव कटौती किये हुए बिल" स्थिति विवरण मे 'अग्रिम'

(advances) शीर्षक में मिलाये गये हैं। परन्तु इस पद में "ऋण, रोकड़ ऋण एवं अधिविकर्ष" तथा "खरीदे हुए एवं कटौती किये हुए बिलों" की राशि चिट्ठे में पृथक् पृथक् दिखानी होगी।

बैंकिंग कम्पनीज (संशोधन) अधिनियम (१९५३)

बैंकों का निस्तारण सुविधाजनक बनाने तथा छोटे निक्षेपकर्त्ताओं की सुरक्षा के लिए बैंक-निस्तारण विधि-समिति की सिफारिशों के अनुसार अक्टूबर १९५३ में एक अध्यादेश लागू किया था जिसका समावेश बैंकिंग अधिनियम में दिसम्बर १९५३ के संशोधन से हो गया है। ये संशोधन निम्न हैं —

(१) हाईकोर्ट का क्षेत्र बढ़ा दिया गया है जिससे निस्तारक को ऋणियों के लिए भिन्न भिन्न न्यायालयों में न जाना पड़े।

(२) बैंकिंग कम्पनियों के संचालकों के विरुद्ध दावों के सम्बन्ध में विशेष अवधि की सीमा हाईकोर्ट निश्चित कर सकता है।

(३) संचालकों की देनदारी का शीघ्र निपटारा करने के हेतु बैंकिंग कम्पनियों के व्यवहारों के सम्बन्ध में उनकी अनिवार्य सार्वजनिक परीक्षा।

(४) निस्तारक द्वारा वाह्य प्रमाण देने पर बैंकिंग कम्पनी के प्रवर्तक, अधिकारी, संचालक, निस्तारक अथवा व्यवस्थापक से बैंक की राशि अथवा सम्पत्ति का भुगतान प्राप्त करने के लिए हाईकोर्ट को विशेष अधिकार है।

(५) केन्द्रीय सरकार को बैंकिंग कम्पनियों के न्यायालयीन निस्तारक की नियुक्ति करने का अधिकार है।

(६) बैंकिंग कम्पनियों के ऋणियों के विरुद्ध आदेश अथवा कुर्की का शीघ्र ही कार्यान्वित होना।

(७) उच्च न्यायालय अथवा केन्द्रीय सरकार के निर्देश पर रिजर्व बैंक को निस्तारक बैंक के परीक्षण का, उससे विवरण अथवा सूचनाएँ माँगने का अधिकार है। यह अधिकार उन बैंकों के सम्बन्ध में भी है जो किसी योजना के अनुसार कार्य कर रही हैं परन्तु जो नये निक्षेप नहीं स्वीकार कर सकतीं।

(८) बचत और चल खाता में जिन लोगों की कम राशि होगी उन्हें एक निश्चित रकम तक के भुगतान में प्राथमिकता।

(९) बैंक को व्यापार बन्द करने की तिथि से ६ मास में निस्तारक को अपने ऐसे ऋणियों की सूची देना होगी जिनका निपटारा हाईकोर्ट को करना होगा।

वैंकिंग कम्पनीज (सशोधन) अधिनियम (१९५६)

रिजर्व बैंक को वैंकिंग कम्पनियों के नियन्त्रण के अधिकार विस्तृत करने के उद्देश्य से दिसम्बर १९५६ मे वैंकिंग अधिनियम मे पुनः सशोधन हुआ। यह सशोधित अधिनियम १४ जनवरी १९५७ से लागू हुआ। इसके अनुसार—

(१) जन-हित अथवा वैंकिंग सस्थाओ के हितो को प्रभावित करने वाली शासकीय अथवा अन्य नीतियो के सम्बन्ध मे रिजर्व बैंक बैंकिंग कम्पनियो अथवा बैंको को आदेश दे सकता है।

(२) बैंक के प्रमुख शासकीय अधिकारियों एव प्रबन्ध-सचालकों की नियुक्ति तथा नियुक्ति की शर्तों के सम्बन्ध मे रिजर्व की पूर्व स्वीकृति लेना बैंको को अनिवार्य है।

(३) किसी भी बैंक की सचालक-सभा अथवा अन्य समिति अथवा अन्य सङ्गठित सभा की कार्य पद्धति की जाँच के लिए रिजर्व बैंक अपने अधिकारियों को भेज सकता है अथवा इसी कार्य के लिए एव बैंक की स्थिति की रिपोर्ट देने के लिए अपने निरीक्षक (observers) नियुक्त कर सकता है।

इन सशोधनो से बैंको की कार्य पद्धति मे सुधार होगा तथा उनकी कार्य-क्षमता बढ़ेगी।

वैंकिंग कम्पनीज (सशोधन) विधेयक (१९५९)[1]

१२ अगस्त १९५९ को भारतीय लोकसभा मे यह विधेयक स्वीकृत हो गया। इसका उद्देश्य रिजर्व बैंक को वैंकिंग सस्थाओ पर कठोर नियन्त्रण दिलाना है। इसकी प्रमुख बाते निम्न है—

बैंक-शाखा—(१) धारा ३५ के अन्तर्गत परीक्षण के अलावा अन्य सब बातो के सम्बन्ध मे बैंक की शाखा की परिभाषा केवल उसी स्थान तक सीमित कर दी गई है जहाँ निक्षेप लिये जाते हो, चैकों का भुगतान होता हो अथवा ऋण दिये जाते हों।

(२) प्रबन्ध—किसी वैंकिंग कम्पनी का प्रबन्ध ऐसा कोई व्यक्ति नही कर सकेगा जो किसी ऐसी कम्पनी का सचालक है जो—

(अ) वैंकिंग कम्पनी की सहायक कम्पनी नही है, अथवा

(आ) भारतीय कम्पनी अधिनियम १९५६ की धारा २५ के अन्तर्गत रजिस्टर्ड नही है।

परन्तु ये प्रतिबन्ध ऐसे किसी अस्थायी सचालक को लागू नही होंगे जो

---

1 *Commerce*, August 22, 1959

अधिकतम ३ मास के लिए अथवा रिजर्व बैंक की सम्मति से जिसकी अवधि अधिकतम ६ मास के लिए और बढ़ाई गई हो।

(३) **सभापति आदि को हटाना**—यदि बैंकिंग कम्पनी का प्रमुख शासकीय अधिकारी, व्यवस्थापक, सचालक अथवा सभापति ऐसा व्यक्ति है जो किसी न्यायाधिकरण (tribunal) अथवा अन्य अधिकारी द्वारा सन्नियमों का उल्लंघन करते पाया गया हो तथा रिजर्व बैंक को यह सन्तोष हो कि ऐसे व्यक्ति से बैंकिंग कम्पनी का सम्बन्ध अवांछनीय है तो रिजर्व बैंक उसे उस पद से हटा सकेगा।

(४) **लाभांश की घोषणा**—बैंक अपने विनियोग, ऋणपत्र एवं बन्धकों के अवमूल्यन अथवा डूबते ऋण मे होने वाली हानि को अपलिखित किये बिना लाभांश की घोषणा कर सकेंगे, यदि अंकेक्षक इस बात से सन्तुष्ट है कि इन हानियों के लिए पर्याप्त आयोजन किया गया है। (इससे अंकेक्षक की जिम्मेवारी बढ़ गई है।)

(५) **सचालक का पारिश्रमिक एवं नियुक्ति**—पूर्णकालीन अथवा प्रबन्ध सचालक सामान्य अथवा अंशकालीन सचालक की नियुक्ति एवं पारिश्रमिक निश्चित करने के पूर्व रिजर्व बैंक की अनुमति लेना अनिवार्य है।

(६). **समापन**—रिजर्व बैंक को यह अधिकार दिया गया है कि यदि वह आवश्यक समझे तो वह बैंकिंग कम्पनी के समापन के लिए न्यायालय को आवेदन दे सकेगा।

(७) **अधिनियम का उल्लघन करने पर दण्ड**—इस अधिनियम की किसी धारा का उल्लंघन करने अथवा आवश्यक विवरण, स्थिति विवरण एवं अन्य प्रलेख न भेजने पर सम्बन्धित बैंक के सभी अधिकारी दण्डनीय होंगे।

समालोचनात्मक अध्ययन—इस प्रकार रिजर्व बैंक को बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम से बैंकों के सङ्गठन एवं सचालन के लिए असीमित अधिकार दिये गये हैं। इस विधान से हमारे देश का अभी तक जो अव्यवस्थित बैंकिंग विकास हो रहा था, वह नियन्त्रित होगा तथा शाखाएँ जो कुछ व्यापारिक केन्द्रों में ही केन्द्रित हो रही थी उन पर प्रतिबन्ध रहेगा। पूँजी विषयक धाराओं से बैंकों का आर्थिक सङ्गठन अच्छा होगा तथा कमजोर बैंकों की स्थापना भी न हो सकेगी। इसी प्रकार रिजर्व बैंक को परीक्षण सम्बन्धी जो अधिकार हैं उनसे बैंक कोई भी ऐसा कार्य न कर सकेंगे जो जनहित एवं निक्षेपकर्ताओं के हितों मे न हो।

परन्तु फिर भी इस अधिनियम में सशोधन के बाद भी कतिपय त्रुटियाँ रह गई हैं क्योंकि ऐसे छोटे-छोटे बैंक, जिनकी पूँजी एवं निधि ५ लाख रु०

से कम है उन पर एवं स्वदेशीय बैंको पर यह विधान लागू नही होता, जो देश की लगभग ७५ प्रतिशत आवश्यकताओं की तथा लगभग ९० प्रतिशत ग्रामीण साख की पूर्ति करते है। जिससे इस विधान के होते हुए भी भारतीय मुद्रा-मण्डी के एक महत्त्वपूर्ण अग पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नही है। अत आवश्यकता इस बात की है कि देश की साख-व्यवस्था को किसी भी प्रकार हानि न होते हुए इन पर किसी न किसी प्रकार का वैधानिक नियन्त्रण लगाया जाय, जो देश के बैंकिग-विकास, मुद्रा-मण्डी क सगठन, तथा साख एव मुद्रा के सन्तुलित नियन्त्रण के लिए आवश्यक है।

(२) छोटी-छोटी बैंकिग कम्पनियो पर वैधानिक नियन्त्रण होना भी वाञ्छनीय है, विशेषत उस स्थिति मे जब कि हमारा बैंकिग-कलेवर अभी अभी कुछ सँभल पाया है, क्योकि इनके पास न तो पर्याप्त पूंजी ही होती है और न योग्य एव अनुभवी कर्मचारी ही है। ऐसी अवस्था मे बैंकिग-विकास केवल एक ही अग से नियन्त्रण के समुचित एव सुदृढ नही हो सकता। अतः समस्त अव्यवस्थित एव विभक्त अगो का एक सूत्र मे नियन्त्रण होना अनिवार्य है, अन्यथा नियन्त्रित एव सुव्यवस्थित बैंकिग कम्पनियो का कार्य क्षेत्र प्रभावित होने की सम्भावना है, जो देश के लिए हितकर नही है।

(३) यह विधान (धारा ३) सहकारी बैंको पर भी लागू नही होता, विशेषत जब सहकारी बैंक भी व्यापारिक बैंको की प्रतियोगिता करने लगे। अत आवश्यक है कि व्यापारिक एव सहकारी बैंको को समानता से नियन्त्रित किया जाय। हा, यह बात ठीक है कि सहकारी भूमि-बन्धक बैंको के लिये अलग विधान हो क्योकि वे दीर्घकालीन आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति करते है। यदि यह नही हो सकता तो सहकारी बैंको का कार्य-क्षेत्र पूर्णरूपेण वैधानिक रीति से सीमित किया जाय।

(४) विधान से यह स्पष्ट है कि एकाधिकोष पद्धति का ही विशेष रूप से पालन किया गया है परन्तु भारत जैसे महान् देश के लिए, जिसमे २५०० नगरो मे से केवल ४०० नगरो में ही बैंक अथवा उनकी शाखाएँ है, अधिक बैंकिग-विकास की आवश्यकता है। अत साख बैंकिंग के लिए समुचित नियोजन होना आवश्यक है जिससे देश की विभिन्न ब्याज दरों मे समानता आ सके तथा सम्भाव्य हानियो का समुचित वितरण हो व्यवस्था-व्यय कम हो एव बैंकिंग कार्य-क्षमता भी बढे। विशेषत अब तो इसके प्रोत्साहन की और भी अधिक आवश्यकता है जब कि ग्रामीण बैंकिंग विकास की नई योजनाएँ कार्यान्वित हो रही है।

(५) सम्पत्ति का देनदारी के साथ अनुपात निश्चित न करते हुए यह आवश्यक था कि किसी विशेष प्रकार की सम्पत्ति ही बैंक अपने पास रखे जिससे संकट के समय रिजर्व बैंक उनकी जमानत पर आर्थिक सहायता कर सकता है। क्योंकि बैंकों के विलियन का कारण पर्याप्त सम्पत्ति का अभाव न होते हुए सम्पत्ति की तरलता का अभाव था, इसलिए सम्पत्ति के अनुपात की अपेक्षा यदि तरलता के लिए विशेष नियोजन किये जाते तथा वैधानिक प्रतिबन्ध लगाये जाते तो अधिक हितकर होता।[1]

(६) इसके सिवा और भी त्रुटियाँ है, जैसे संचित कोष की स्पष्ट परिभाषा न होना, रिजर्व बैंक का संकट-काल में विशेष सहायता देने के लिए अधिनियम की धारा ४ में विशेष आयोजन नही है।

फिर भी रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण एवं स्टेट बैंक पर सरकारी नियन्त्रण होने से हमें विश्वास है कि रिजर्व बैंक अपने अनुभव के आधार पर इन त्रुटियों का निवारण करेगा जैसा कि अधिनियम के गत संशोधनों से स्पष्ट है। रिजर्व बैंक ने इस अधिनियम के अन्तर्गत प्राप्त अधिकारों का उपयोग अत्यन्त दूरदर्शिता से किया है जिससे बैंकिंग कलेवर मजबूत और कार्यक्षम हो गया है। साथ ही बैंकों का विलियन भी कम हो गया है और रिजर्व बैंक की नीति शाखा बैंकिंग की ही रही है। क्योंकि यद्यपि बैंकों की संख्या कम हो गई है फिर भी बैंकों की शाखाओं में वृद्धि हो रही है। इससे यह स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक अपने अधिकारों का उपयोग देश एवं जनता के हित में ही कर रहा है।

सारांश

भारत में समुचित बैंकिंग विधान की आवश्यकता बहुत पहिले से थी, क्योंकि देश में बैंकिंग के नियन्त्रण के लिए भारतीय कम्पनी अधिनियम तथा बेचानसाध्य विलेख अधिनियम के सिवा अन्य कोई अधिनियम न था। इस हेतु पहिला प्रयास १९४५ में बैंकिंग विधेयक बनने से हुआ, किन्तु उस समय केन्द्रीय सभा के भंग होने से कुछ न हो सका। फिर २२ फरवरी १९४८ को दूसरा विधेयक संसद में रखा गया जो १७ फरवरी १९४९ को स्वीकृत होकर १६ मार्च १९४९ से लागू हो गया।

इस अधिनियम से प्रमुख लाभ निम्न हैं—

(१) बैंकिंग कलेवर सुदृढ होगा, (२) निक्षेपकर्ताओं को सुरक्षा होगी,

---

[1] *Commerce*, November 20, 1948

(३) बैंको का नियन्त्रण देशहित मे हो सकेगा, (४) शाखाओं के अव्यवस्थित विकास पर रोक रहेगी।

अधिनियम की प्रमुख धाराएँ निम्न बातो से सम्बन्धित हैं—

(१) बैंक की परिभाषा एव कार्य, (२) प्रबन्ध, (३) न्यूनतम निधि एव चुकता पूँजी की राशि, (४) चुकता, प्रार्थित तथा अधिकृत पूँजी का अनुमान तथा मतदान के अधिकार, (५) रोकड-निधि, (६) लाइसेंस की प्राप्ति एव निरस्ती, (७) बैंकिंग कम्पनियों की सम्पत्ति तथा (८) बैंकिंग कम्पनियो की क्रियाओ पर प्रतिबन्ध।

बैंकिंग अधिनियम से रिजर्व बैंक को निम्न अधिकार हैं—

(१) माँग एव समय देनदारी के ५% तथा २% निक्षेप तथा इस सम्बन्ध का साप्ताहिक विवरण बैंकों से लेना, (२) बैंको द्वारा दिये जाने वाले ऋणो को नियन्त्रित करना, (३) रिजर्व बैंक को लाइसेंस देने एव निरस्त करने का अधिकार, (४) नई शाखाएँ खोलने एव वर्तमान शाखाओ के स्थानान्तरण की अनुमति देने सम्बन्धी अधिकार, (५) बैंकों का वार्षिक चिट्ठा एव लाभ-हानि लेखा लेना तथा प्रकाशित करना, (६) अपनी इच्छा से अथवा केन्द्रीय सरकार की आज्ञा से किसी बैंक की लेखा पुस्तकों एव अन्य सम्बन्धित विवरणो का परीक्षण करना एव उसकी रिपोर्ट देना, (७) किसी बैंक अथवा सभी बैंको के विशेष व्यवहारों पर रोक लगाना, (८) बैंकों के एकीकरण मे सहायक होना, (९) अधिनियम के अन्तर्गत विवरणों एव अन्य आवश्यक सूचनाओ को बैंक से प्राप्त करना तथा (१०) बैंकिंग कम्पनियो के विलीयन मे निस्तारक का कार्य करना।

रिजर्व बैंक को अधिनियम लागू होने के बाद इस सम्बन्ध मे जो भी अनुभव आये, उन अनुभवो के आधार पर इस अधिनियम मे १९५०, १९५१, १९५३ तथा १९५६ मे सशोधन किये गये। इसी प्रकार १९५९ मे रिजर्व बैंक को बैंकिग कलेवर के कठोर नियन्त्रण सम्बन्धी अधिकार देने के लिए एक विधेयक प्रस्तुत किया गया है।

आलोचना—यद्यपि इस अधिनियम से बैंकिग कलेवर के अनेक दोषो का निवारण हो सकेगा फिर भी इसमे कुछ दोष रह गये है—

(१) जिन बैंकों की पूँजी ५ लाख रु० से कम है उन पर तथा स्वदेशी बैंकरो पर यह अधिनियम लागू नहीं होगा। इससे मुद्रा मण्डी का एक आवश्यक अग नियन्त्रित रहेगा।

(२) सहकारी बैंको पर अधिनियम नहीं लागू होगा।

(३) एक अधिकोष पद्धति का ही पालन विशेष रूप से किया गया है, यह अधिनियम से स्पष्ट है ।

(४) सम्पत्ति का अनुपात निर्धारित करने की अपेक्षा अधिनियम में सम्पत्ति की तरलता पर अधिक ध्यान देना वाञ्छनीय था ।

(५) संचित कोष की स्पष्ट परिभाषा अधिनियम मे कहीं नहीं है ।

सम्भवत जैसे-जैसे अनुभव होता जायगा वैसे-वैसे इन त्रुटियों का निवारण होगा, ऐसी आशा है ।

परिशिष्ट १

रिजर्व बैंक एक्ट मे सशोधन (१९५७)

(१) १९५७ के सशोधन से रिजर्व बैंक, मध्यकालीन ऋण-सुविधाएँ देने के लिए जो *आर्थिक सस्थाएँ स्थापित होंगी उनकी पूँजी मे अभिदान* (conrtibution) दे सकेगा।

(२) इस सशोधन से रिजर्व बैंक अभी तक भुनाई गई पत्र-मुद्राओ (जिनका विमुद्रीकरण १९४६ म हुआ था) की देनदारी से मुक्त कर दिया गया है।

(३) रिजर्व बैंक एक्ट की धारा ४२ मे सशोधन किया गया है जिससे रिजर्व बैंक की दूसरी सूची मे ऐसी सस्था का समावेश किया जायगा जिसकी अधिसूचना केन्द्रीय सरकार इस हेतु प्रकाशित करे।

स्टेट बैंक एक्ट मे सशोधन (१९५७)

(१) इससे स्टेट बैंक केन्द्रीय सरकार द्वारा अधिसूचना मे प्रकाशित किसी आर्थिक सस्था के अश या ऋण पत्र खरीद सकता है अथवा रख सकता है। परन्तु इस हेतु उसे रिजर्व बैंक से परामर्श तथा केन्द्रीय सभा के निर्देश प्राप्त करने होंगे।

(२) स्टेट बैंक ऐसी सस्थाओं को ६ मास से ७ वर्ष की अवधि के लिए ऋण स्वीकृत कर सकता है।

(३) केन्द्रीय सभा के आदेशानुसार स्टेट बैंक क्रय-विक्रय (hire-purchase) पद्धति पर कार्य करने वाली फर्मों एव कम्पनियों को उनके ऋणों (book-debts) की जमानत पर ऋण दे सकेगा।

(४) स्टेट बैंक केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार अथवा किसी कॉर्पोरेशन के *गृह-निर्माण को आर्थिक सुविधाएँ देने की योजनाओं म अभिकर्त्ता हो* सकता है तथा अभिकर्त्ता के नाते उस राशि से ऋण दे सकता है जो कॉर्पोरेशन अथवा सरकार इस हेतु से इसके पास रखे। ये ऋण अचल सम्पत्ति की जमानत पर भी दिये जा सकते है।

विदेशी विनिमय बैंक—परिशिष्ट २

भारतीय बैंकों के विदेशी कार्यालय[1]

सूची-बद्ध बैंक

१	अलाहाबाद बैंक	३	१३	न्यू बैंक ऑफ इण्डिया	१
२	बैंक ऑफ बडौदा	४	१४	ओरिएन्टल बैंक ऑफ कॉमर्स	१
३	बैंक ऑफ इण्डिया	११	१५	प्रभात बैंक	१
४	कनारा बैंक	१	१६	पंजाब एण्ड सिंध बैंक	१
५	सेन्ट्रल बैंक ऑफ इंडिया	१४	१७	पंजाब कोआपरेटिव बैंक	१
६	हिन्द बैंक	१	१८	पंजाब नेशनल बैंक	३
७	हिन्दुस्तान कमर्शियल बैंक	१	१९	सदर्न बैंक	१
८	इण्डियन बैंक	५	२०	स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया	८
९	इण्डियन ओवरसीज बैंक	६	२१	ट्रेडर्स बैंक	१
१०	लक्ष्मी कमर्शियल बैंक	१	२२	युनाइटेड बैंक ऑफ इण्डिया	१५
११	मेट्रोपोलिटन बैंक	१	२३	युनाइटेड कमर्शियल बैंक	१२
१२	नेशनल बैंक ऑफ लाहौर	१	२४	युनाइटेड इण्डस्ट्रियल बैंक	१
				कुल	९८

असूची बद्ध बैंक

१	कमर्शियल बैंक ऑफ इण्डिया	१
२	फ्रन्टियर बैंक	१
३	महालक्ष्मी बैंक	३
४	नेशनल सिटी बैंक	१
५	न्यू बंगाल बैंक	१
६	प्रवर्तक बैंक	१
	कुल	८

विभिन्न देशों में भारतीय बैंकों के कार्यालय

१	अदन	१	६.	जापान	२
२	ब्रिटिश ईस्ट अफ्रीका	६	७	मलाया	१३
३	बर्मा	६	८	पाकिस्तान	६२
४	श्रीलंका	३	९	थाईलैण्ड	१
५	हाँगकाँग	२	१०.	संयुक्त राज्य	४

[1] *R B I Bulletin*, September 1957.

विदेशी विनिमय बैंक—परिशिष्ट ३

भारतीय सूची-बद्ध बैंको की विदेशी कार्यालयों की सम्पत्ति एव देनदारी (अं तिम शुक्रवार को)

[लाख रुपयो म]

		१९५५	१९५६
	रिपोट देन वाले बैंको की सख्या	३०	३०
	कार्यालय सख्या	१०८	१०६
	देनदारी		
१	माग निक्षप	४८,१२	४७ ९१
२	समय निक्षेप	१६,०८	१७,२९
३	कुल निक्षप	६४,२०	६५ २०
४	अन्य बैंको को देनी	१,६१	४,४६
५	शाख समायोजन (Branch Adjustment)	१२,९६	१६ ८१
६	अन्य देनदारी	६,९९	७ ६७
७	योग	८५ ७७	९४,१५
	सम्पत्ति		
८	रोकड	१,९३	२ ०८
९	अन्य बैंको म	१३ ९७	९,८१
१०	माग एव अल्पकालीन ऋण	—	३,९५
११	८ ९ व १० का ३ से अनुपात	२४ ८%	२४ ३%
१२	सरकारी प्रतिभूतियो मे विनियोग	१९ ५३	२१,२३
१३	अन्य विनियोग	१ ७९	२,३०
१४	१२ व १३ का ३ स प्रतिशत	३३ २%	३६ १%
१५	खरीदे एव कटौती किय हुए बिल	१४,५९	२०,०३
१६	ऋण एव अग्रिम	२२,३५	२३,६१
१७	१५ व १६ का ३ स प्रतिशत	५७ ५%	६६ ९%
१८	साख समायोजन	४ २७	४ १४
१९	अन्य सम्पत्ति	७,३४	७ ००
२०	योग	८५,७६	९४,१५

स्रोत रिजव बैंक बुलेटिन सितम्बर १९५७।

हिन्दी-अँग्रेजी प्रतिशब्दो की आवश्यक सूची

अग्र Forward
अग्र विनिमय Forward Exchange
अग्रिम Advance
ऋणी Debtor
अनुपात Proportion
अन्तरपणन व्यवहार Arbitrage dealing
अन्तरराष्ट्रीय International
अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष International Monetary Fund
वट्टा Discount
अपूर्ण धातुमान Limping Standard
अप्रतिबन्धित Unrestricted
अप्रतिबन्धित (मुक्त) टंकण Free Coinage
अरक्षित Fiduciary
अवमूल्यन Devaluation
अवैध Illegal
असीमित Unlimited
असीमित विधिग्राह्य Unlimited Legal Tender
टिकाऊपन Durability
आन्तरिक Internal Intrinsic
आन्तरिक मूल्य Intrinsic Value
आयात Import
आयातकर्ता Importer
आर्थिक Financial
आलोचना Criticism
उतार चढाव Fluctuation
उत्क्रान्ति Evolution
लेनदार Creditor
उत्पाद-कर Excise Duty
लोच Elasticity
उपयोगिता Utility
ऋण Debt
एक धातुमान Mono-metallism
एकाधिकार Monopoly
एकान्तरपणन Simple Arbitrage
औद्योगिक Industrial
औसत Average
काय Function
कीमत Price
केन्द्रीय Central
केन्द्रीय अधिकोष Central Bank
कोष Treasury
कोष बिल Treasury Bill
क्रयशक्ति Purchasing Power
क्रयशक्ति-समता Purchasing Power Parity
खाद्यान्न वितरण Food Rationing
गति Velocity
गति-सामर्थ्य Mobility
ग्राह्य Acceptable
ग्राह्यता Acceptability
गौण मुद्रा Token Money

घटक Factor

चलन Currency

चल-लेखा Current Account

चलनाधिक्य Over-issue

टक, टकशाला, टकसाल Mint

टक-समता Mint Par

टकण Minting, Coinage

टकण-शुल्क Brassage

टकण-लाभ Seigniorage

तत्स्थान-दर Spot Rate

तत्स्थान-विनिमय Spot Exchange

तार-प्रेषण-दर T T Rate

दाशमिक Decimal

दाशमिक मुद्रा प्रणाली Decimal System of Coinage

द्विधातुमान Bi metallism

दुर्लभ मुद्रा Hard Currency

धातु-निधि Metallic Reserve

धातु-मुद्रा Metallic Money

धातु-मूल्य Intrinsic Value

नि शुल्क Gratuitous

निधि Reserve, Pool

नियम Law, Rule

नियमन Regulation

नियमन करना Regulate

निराकाम्य-कर Custom Duty

निर्देशाङ्क Index Number

निर्यात Export

पक्ष मे Favourable

पत्र Note

पत्र-मुद्रा Paper Money

पत्र-चलन-निधि Paper Currency Reserve

पद्धति Method

सट्टा Speculation

परिकल्पित, परिकल्पनिक Speculative

परिवर्तनीय Convertible

परिषद Conference

परिषद बिल Council Bills

पुनर्मूल्यन Revaluation

पुन सस्थापन Restoration

पुनर्निर्माण Reconstruction

पुनर्गठन Reorganisation

पूर्ति Supply

पौंड-पावने Sterling Balances

कोष Fund

प्रतिकूल Unfavourable

प्रतिज्ञा-पत्र Promissory Note

प्रतिनिधिक Representative

प्रति-परिषद-बिल Reverse Council Bills

प्रतिबन्धित Restricted

प्रतीक मुद्रा Token Money

प्रत्यक्ष Direct

प्रत्यक्ष विनिमय Direct Exchange

प्रधान मुद्रा, प्रमाणित मुद्रा Standard Money

डाकघर Post office

बहु-अन्तरपणन Compound Arbitrage

भृत्ति Wages

मजदूरी Wages

मन्दी Depression
मात्रा Quantity
माध्यम Medium
मान Standard
मान्यता Acceptability
माप, मापक Measure
मितव्ययिता Economy
मिश्रित-धातुमान Symetallism
मुद्रा Money
मुद्राक Stamp
मुद्राक-कर Stamp Duty
मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त Quantity Theory of Money
मुद्रा-बाजार Money Market
मुद्रा-सकोच Deflation
मुद्रा-स्फीति Inflation
मूल्य-स्तर Price Level
मौद्रिक Monetary
राजस्व Finance
रौप्य Silver
रौप्यमान Silver Standard
लेखा Account
लोच Elasticity
वर्गीकरण Classification
वर्तन *Commission*
वस्तु-विनिमय Barter
विक्रय Sale
विकास *Development*
विधान Act
विधिग्राह्य Lagal Tender
विधि-मूल्य Face Value
विनिमय Exchange
विनिमय-बिल Bill of Exchange
विनियोग Investment
विनियोग किया हुआ भाग Invested Portion
विनियोगकर्ता (विनियोक्ता) Investor
बाजार Market
विपक्ष में *Unfavourable*
व्यवहार Transaction
विषमता Disequilibrium
शुल्क Fee, Charge
शेष Balance
शोधन (भुगतान) Payment
सक्रमण-काल Transition Period
समता Parity
समानान्तर Parallel
समानान्तर मान Parallel Standard
समायोजन मिलान Adjustment
समायोजित डालर Compensated Dollar
समाशोधन Clearing
समाशोधन-गृह *Clearing House*
सर्वग्राह्यता Acceptability
साख्यिकी Statistics
साख Credit
साख-पत्र Credit Note
तालिका Table
सारणी-मान Tabular Standard
सिक्का Coin
सिद्धान्त Theory
सीमित Limited

सुज्ञेयता Cognisibility
सुरक्षा *Security*
वहनीयता Portability
सुविभाज्यता Divisibility
स्कन्ध Stock
स्कन्ध-विनिमय Stock Exchange
स्टर्लिङ्ग क्षेत्र Sterling Area
स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र डालर निधि Sterling Area Dollar Pool
स्तर Level
स्थायी (स्थिर) लेखा Fixed Account
स्थिरता Stability
स्वयपूर्ण कार्यशीलता Automatic Working
स्वर्णमान Gold Standard
स्वर्ण-खण्ड-मान *Gold Bullion* Standard
स्वर्ण-चलन-मान Gold Currency Standard
स्वर्ण-विनिमय-मान Gold Exchange Standard
स्वर्णमान निधि Gold Standard Reserve
हानिपूरक डॉलर Compensated Dollar
हानिपूर्ति Compensation